

॥ वन्दे श्री गुरु तारणम् ॥

आचार्य प्रवर श्रीमद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्य महाराज द्वारा रचित

श्री उपदेश शुद्ध सार जी

साधक संजीवनी - टीका



स्वामी ज्ञानानंद

॥ नमामि गुरु तारणम् ॥

आचार्य प्रवर श्रीमद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्य महाराज द्वारा रचित

श्री उपदेश शुद्ध सार जी

साधक संजीवनी - टीका

अध्यात्म शिरोमणी पूज्य श्री ज्ञानानंद जी महाराज

: संपादक :

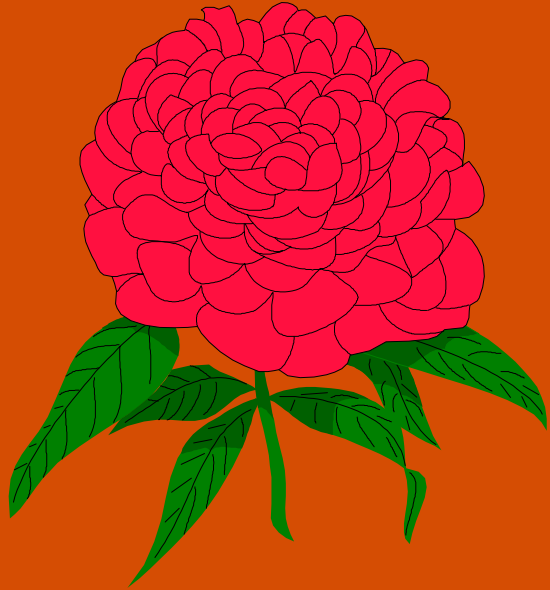
अध्यात्म रत्न प.पू.श्री बसन्त जी महाराज

: प्राप्ति स्थल :

ब्रह्मानंद आश्रम संत तारण तरण मार्ग पिपरिया
(होशंगाबाद) म.प्र.

: प्रकाशक :

श्री तारण तरण अध्यात्म प्रचार योजना केन्द्र,
६१, मंगलवारा भोपाल म.प्र. ४६२ ००२



मूल्य ६९/-

प्रकाशकीय

परम वीतरागी तीर्थकर भगवन्तों की आध्यात्मिक शाश्वत परम्परा में अनेकों ज्ञानी ध्यानी, जिनवर वाणी के ज्ञाता महापुरुष हुए हैं। उनकी विशुद्ध आम्नाय में श्री गुरु तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज आत्म साधना के मार्ग में निरंतर अग्रणी रहने वाले आध्यात्मिक ज्ञान पुंज के धनी, विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न वीतरागी अध्यात्म योगी ज्ञानी संत थे। आत्म स्वरूप के अनुभव पूर्वक पूज्य गुरुदेव ने वीतराग मार्ग पर चलकर स्वयं अपना आत्म कल्याण करते हुए जाति-पांति से परे लाखों जीवों के कल्याण का पथ प्रशस्त किया।

श्री गुरु महाराज द्वारा बताये हुए मार्ग पर चलकर अपना आत्म कल्याण करना इसी में मानव जीवन की सार्थकता है। तारण तरण श्री संघ के पूज्य साधक जन, ब्रह्मचारिणी बहिनें एवं विद्वत्जन स्वयं आत्म कल्याण के मार्ग पर चलते हुए श्री गुरु की वाणी के प्रचार-प्रसार में संलग्न हैं यह हमारे लिये महान सौभाग्य की बात है।

अध्यात्म शिरोमणी पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज के आशीर्वाद से वर्तमान समय में गुरुवाणी की प्रभावना हो रही है। पूज्य श्री ने आचार्य श्रीजिन तारण स्वामी द्वारा रचित चौदह ग्रंथों में से श्री मालारोहण जी, श्री पण्डित पूजा जी, श्री कमल बत्तीसी जी, श्री तारण तरण श्रावकाचार जी, श्री उपदेश शुद्धसार जी, श्री त्रिभंगीसार जी एवं श्री ममलपाहुड़ जी ग्रंथ की १६ फूलनाओं की टीकायें करके गुरुवाणी के यथार्थ भावों को अपनी भाषा में प्रगटकर हमें आत्महित का मार्ग बताकर महान उपकार किया है।

तारण तरण जैन समाज भोपाल को गुरुवाणी के प्रचार-प्रसार करने का सौभाग्य मिला और यहाँ तारण तरण अध्यात्म प्रचार योजना केन्द्र की स्थापना ३१ मार्च सन् १९९९ को हुई तथा अल्प समय में ही साहित्य प्रचार में गतिशीलता आई। अध्यात्म रत्न बाल ब्र. पूज्य श्री बसन्त जी महाराज के मार्गदर्शन में यह कार्य व्यवस्थितरूप से चल रहा है। सम्पूर्ण देश के कोने-कोने में तथा विदेशों में भी तारण साहित्य भेजा जा रहा है, इस कार्य से सर्वत्र महती प्रभावना हो रही है। साहित्य प्रकाशन के इस कार्य को आगे बढ़ाने में भोपाल एवं अन्य स्थानों के अनेक समाज बन्धुओं ने अपना अमूल्य सहयोग देकर आध्यात्मिक साहित्य के प्रचार-प्रसार में विशेष योगदान दिया है। इस महान कार्य के लिये हम सभी के शुभ भावों की हृदय से अनुमोदना करते हैं।

श्री उपदेश शुद्धसार जी ग्रंथाधिराज की प्रस्तुत साधक संजीवनी टीका

अध्यात्म साधना की अनुभूतियों से परिपूर्ण है। ज्ञानमार्ग पर चलने वाले मोक्षमार्गी साधक को आत्म साधना के मार्ग में कौन-कौन सी बाधाएँ आती हैं और उन्हें कैसे दूर किया जाये तथा अध्यात्म साधना की सफलता को किस प्रकार उपलब्ध किया जाये यह सम्पूर्ण मार्गदर्शन पूज्य गुरुदेव श्रीमद् जिन तारण स्वामी द्वारा रचित एवं पूज्य श्री द्वारा अनूदित इन टीका ग्रंथों से प्राप्त होता है। यह चौदह ग्रंथ रत्न युगों-युगों तक भव्य आत्माओं को प्रकाश स्तंभ की तरह आत्म साधना में निमित्त बने रहेंगे।

प्रसन्नता का विषय है कि अध्यात्म प्रचार योजना केन्द्र की गतिविधियों में भोपाल नगर स्थित तीनों चैत्यालय के पदाधिकारी, तारण तरण जैन जागृति मंडल, तारण तरण नवयुवक मंडल, तारण तरण नवक्रांति मंडल, तारण लेक सिटी संस्थान एवं युवा परिषद् का विशेष सहयोग रहता है। वर्तमान समय के अनुरूप इस साहित्य प्रकाशन से सम्पूर्ण देश में गुरुवाणी की महती प्रभावना हो रही है। साहित्य समाज का दर्पण होता है, यह इस प्रचार-प्रसार से सिद्ध हो गया है। वर्तमान समय की अनिवार्य आवश्यकता थी साहित्य सृजन की, इस दिशा में यह एक सार्थक पहल हुई है, जो सभी के लिये प्रसन्नता और गौरव का विषय है।

अध्यात्म शिरोमणी पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज के प्रति हम हृदय से कृतज्ञ हैं। उनके समाधिस्थ होने के पश्चात् भी उनके द्वारा दिया हुआ ज्ञान हमारा पथ प्रशस्त करता रहेगा। अध्यात्म रत्न बाल ब्र. पूज्य श्री बसन्त जी महाराज एवं तारण तरण श्री संघ के सभी साधक जन ब्र. बहिनें और विद्वत्जनों का गुरुवाणी की प्रभावना में हमें निरंतर मार्गदर्शन प्राप्त हो रहा है इससे हम गौरवान्वित हैं तथा सकल तारण तरण जैन समाज के लिये भी यह गौरव का विषय है। सभी भव्य जीव इन टीका ग्रंथों का स्वाध्याय चिंतन-मनन करके अपने आत्म कल्याण का मार्ग बनायें यही पवित्र भावना है।

विनीत

छोटेला जैन, आनन्द तारण (संरक्षक)

आर.सी.जैन (अध्यक्ष)

प्रवीण जैन (मंत्री)

एवं समस्त पदाधिकारीगण

दिनांक : २५ अप्रैल २००२

महावीर जयंती महोत्सव

श्री तारण तरण अध्यात्म प्रचार योजना केन्द्र

६१ मंगलवार, भोपाल (म.प्र.)

सम्पादकीय

भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक क्षितिज पर विक्रम संवत् १९०५ की मिति अगहन सुदी सप्तमी को एक महान क्रांतिकारी ज्ञान रवि के रूप में आध्यात्मिक शुद्धात्मवादी संत श्रीमद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज का उदय हुआ। बचपन से ही पूर्व संस्कार संयुक्त होने से विलक्षण प्रतिभा संपन्न श्री जिन तारण तरण, पुण्य संपृक्त अपनी बाल सुलभ चेष्टाओं के द्वारा सभी को सुखद अनुभव कराते हुए दूज के चन्द्रमा की भाँति वृद्धि को प्राप्त होने लगे। वे जब पाँच वर्ष के थे तब राज्य में क्रांति, कोषालय में आग लगना तथा तारण स्वामी द्वारा पुनः कागजात तैयार करवा देना उनके “बाल्यकालादिति प्राज्ञः” होने का बोध कराता है। कागजात तैयार कराने का कारण यह कि उनके पिता श्री गढ़ाशाह जी पुष्पावती नगरी के राजा के यहाँ कोषाधीश पद पर कार्यरत थे।

“मिथ्याविली वर्ष ग्यारह” श्री छद्मस्थ वाणी जी ग्रंथ के इस सूत्रानुसार (१/१७) उन्हें ग्यारह वर्ष की बालवय में आत्म स्वरूप के अनुभव प्रमाण बोध पूर्वक मिथ्यात्व का विलय और सम्यक्त्व की प्रगटता हुई, जैसा कि सम्यक्त्व का महात्म्य आचार्य प्रणीत ग्रंथों में उपलब्ध होता है कि सम्यक्त्व रूपी अनुभव संपन्न सूर्य के उदय होने पर मिथ्यादर्शन रूपी रात्रि विलय को प्राप्त होती है, सम्यक्त्व के प्रकाश में मिथ्यात्व आदि विकार टिकते नहीं हैं। आत्म अनुभव के जाग्रत होने पर अनादि कालीन अज्ञान अंधकार का अभाव हो जाता है तथा संसार, शरीर, भोगों से सहज वैराग्य होता है। यह सब श्री तारण स्वामी के जीवन में हुआ और आत्मबल की वृद्धि होने के साथ-साथ वैराग्य भाव की वृद्धि भी होने लगी इसी के परिणाम स्वरूप उन्होंने इक्कीस वर्ष की किशोरावस्था में बाल ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने का संकल्प कर लिया और सेमरखेड़ी वन, जो विदिशा जिले में सिरोंज के निकट स्थित है, की गुफाओं में आत्म साधना करने लगे।

माँ की ममता और पिता का प्यार भी उनकी आध्यात्मिक गति को बाधा नहीं पहुँचा सका और निरंतर वृद्धिगत होते हुए वैराग्य के परिणाम स्वरूप श्री तारण स्वामी ने तीस वर्ष की युवावस्था में सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमा के व्रतों को पालन करने की दीक्षा ग्रहण की।

श्री गुरु तारण स्वामी की संयम साधना और आध्यात्मिक क्रान्ति के बारे में उल्लेख करते हुए सिद्धांतशास्त्री स्व. पं. श्री फूलचंद जी ने ज्ञान समुच्चय सार ग्रंथ की भूमिका में लिखा है कि “जैसा कि हम पहले बतला आए हैं अपने जन्म समय से लेकर पिछले तीस वर्ष स्वामी जी को शिक्षा और दूसरे प्रकार अपनी

आवश्यक तैयारी में लगे। इस बीच उन्होंने यह भी अच्छी तरह जान लिया कि मूल संघ कुन्दकुन्द आम्नाय के भट्टारक भी किस गलत मार्ग से समाज पर अपना वर्चस्व स्थापित करते हैं। उसमें उन्हें मार्ग विरुद्ध क्रियाकाण्ड की भी प्रतीति हुई अतः उन्होंने ऐसे मार्ग पर चलने का निर्णय लिया जिस पर चलकर भट्टारकों के पूजा आदि संबंधी क्रियाकाण्ड की अयथार्थता को समाज हृदयंगम कर सके; किन्तु इसके लिए उनकी अब तक जितनी तैयारी हुई थी उसे उन्होंने पर्याप्त नहीं समझा। उन्होंने अनुभव किया कि जब तक मैं अपने वर्तमान जीवन को संयम से पुष्ट नहीं करता, तब तक समाज को दिशादान करना संभव नहीं है। यही कारण है कि तीस वर्ष की उम्र में सर्वप्रथम वे स्वयं को व्रती बनाने के लिए अग्रसर हुए।”

उनकी आत्म साधना पूर्वक निरंतर वृद्धिगत होती हुई वीतरागता, सेमरखेड़ी के निर्जन वन की पंचगुफाओं में ममल स्वभाव की साधना उन्हें एक ओर अपने आत्मकल्याण और मुक्त होने के लक्ष्य की ओर अग्रसर होने में प्रबल साधन बन रही थी, वहीं दूसरी ओर उनके सातिशय पुण्य के योग से सत्य धर्म, अध्यात्म मार्ग की प्रभावना हो रही थी और लाखों जिज्ञासु आपके अनुयायी बन रहे थे, जिसमें जाति-पांति का कोई भेदभाव नहीं था। इस मार्ग को स्वीकार करने का आधार था-सात व्यसन का त्याग और अठारह क्रियाओं का पालन करना।

अनेक भव्य जीवों का जागरण, निष्पक्ष भाव से हो रही धर्म प्रभावना, आध्यात्मिक क्रांति का रूप धारण कर रही थी। यह सब, भट्टारक और धर्म के ठेकेदारों को रुचिकर नहीं लगा फलतः योजनाबद्ध ढंग से श्री तारण स्वामी को जहर पिलाया गया और बेतवा नदी में डुबाया गया किन्तु इन घटनाओं से भी वे विचलित नहीं हुए बल्कि यह सब होने के पश्चात् तारण पंथ का अस्तित्व पूर्ण रूपेण व्यक्त और व्यवस्थित हो गया तथा वट वृक्ष की तरह विराट् स्वरूप धारण कर लिया। प्रभावना आदि का विशेष योग होते हुए भी श्री गुरु तारण स्वामी का बाह्य राग और प्रपंचों से कोई संबंध नहीं था। उनकी वीतराग भावना इतनी उत्कृष्ट होती गई कि साठ वर्ष की उम्र में उन्होंने निर्ग्रन्थ दिगम्बर जिन दीक्षा धारण कर ली। श्री गुरुदेव १९११ मण्डलों के प्रमुख आचार्य होने से मण्डलाचार्य पद से अलंकृत हुए। उनके श्री संघ में ७ निर्ग्रन्थ मुनिराज (साधु), और ३६ आर्यिकायें अपनी आत्म साधना में रत थीं, जिनके नाम इस प्रकार हैं-

तारण तरण श्री संघ के ७ साधु -

१. श्री हेमनन्दि जी महाराज
२. श्री चंद्रगुप्त जी महाराज
३. श्री समंतभद्र जी महाराज
४. श्री चित्रगुप्त जी महाराज

१. श्री समाधि गुप्त जी महाराज ६. श्री जयकीर्ति जी महाराज
७. श्री भुवनन्द जी महाराज ।

३६ आर्यिका माताजी के नाम -

१. कमल श्री	२. चरन श्री	३. करन श्री	४. हंस श्री
५. सुवन श्री	६. औकास श्री	७. दिप्ति श्री	८. स्वयं दिप्ति श्री
९. अभय श्री	१०. स्वर्क श्री	११. सर्वार्थ श्री	१२. विक्त श्री
१३. आनन्द श्री	१४. समय श्री	१५. हिय उत्पन्न श्री	१६. हिय रमन श्री
१७. अलष श्री	१८. अगम श्री	१९. सहयार श्री	२०. उवन श्री
२१. रमन श्री	२२. उत्पन्न श्री	२३. षिपन श्री	२४. ममल श्री
२५. विन्द श्री	२६. समय श्री	२७. सुन्न सुनन्द श्री	२८. हियार श्री
२९. जान श्री	३०. श्रेणि श्री	३१. जैन श्री	३२. लवन श्री
३३. लीन श्री	३४. भद्र श्री	३५. उवन श्री	३६. पय उवन श्री

इस प्रकार श्री गुरु तारण तरण मंडलाचार्य जी महाराज के श्री संघ में ७ साधु, ३६ आर्यिका माताजी के साथ-साथ २३१ ब्रह्मचारिणी (सुवनी) बहिनें तथा ६० ब्रह्मचारी व्रती श्रावक एवं १८ क्रियाओं का पालन करने वाले सद्ग्रहस्थ श्रावक लाखों की संख्या में थे। उनके शिष्यों की कुल संख्या ४३४५३३१ थी। यह संपूर्ण विवरण श्री नाममाला ग्रंथ में उपलब्ध है।

श्री गुरुदेव तारण स्वामी साधु पद पर ६ वर्ष, ५ माह, १५ दिन तक प्रतिष्ठित रहे, पश्चात् विक्रम संवत् १५७२ की ज्येष्ठ वदी छठ को समाधि धारण कर सर्वार्थ सिद्धि को प्राप्त हुए।

उन्होंने पाँच मतों में चौदह ग्रंथों की रचना की जो इस प्रकार हैं -
विचार मत में - श्री मालारोहण, पण्डितपूजा, कमलबत्तीसी जी।

आचार मत में - श्री श्रावकाचार जी।

सार मत में - श्री ज्ञान समुच्चय सार, उपदेश शुद्ध सार, त्रिभंगी सार जी।

ममलमत में - श्री चौबीस ठाणा, ममल पाहुड़ जी।

केवल मत में - श्री खातिका विशेष, सिद्ध स्वभाव, सुन्न स्वभाव, छद्मस्थवाणी तथा नाममाला ग्रंथ हैं।

इन पाँच मतों में विचारमत में-साध्य, आचारमत में-साधन, सारमत में - साधना, ममलमत में-सम्हाल (सावधानी) और केवल मत में-सिद्धि का मार्ग प्रशस्त किया है। इसके लिये आधार दिया है क्रमशः भेदज्ञान, तत्त्वनिर्णय, वस्तुस्वरूप, द्रव्य दृष्टि और ममलस्वभाव का, जिनसे उपरोक्त साध्य आदि की सिद्धि होती है।

यह अध्यात्म ज्ञान मार्ग अपने शुद्धात्म स्वरूप के आश्रय से ही प्रशस्त होता है। इसमें पर पर्याय, कर्मादि संयोग, शरीर या बाह्य क्रियाकाण्ड यहाँ तक

कि परमात्मा भी पर हैं, इनकी तरफ दृष्टि भी इस मार्ग में बाधा है, इसलिये श्री जिन तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज पर की समस्त पराधीनता के लिये वज्रपात थे। वे समस्त बंधनों से परे होकर चले तथा वीतराग जिन धर्म के अनाद्यनन्त सिद्धांत वस्तु स्वातंत्र्य और पुरुषार्थ से मुक्ति की प्राप्ति का, स्वयं परमात्मा होने के विधान का शंखनाद किया। उनका जीवन गौरवपूर्ण था, वे छल-प्रपंच से बहुत दूर सत्य निष्ठ थे, भय का उनके जीवन में कहीं नाम-निशान भी नहीं था। उनके द्वारा की गई अध्यात्म क्रांति उनकी वीतरागता, निस्पृहता, निर्भयता और जन-जन को धर्म और पूजा के नाम पर फैल रहे आडम्बर, जड़वाद, पाखण्डवाद से मुक्त कर सत्य अध्यात्म धर्म में स्थिर कर देने की भावना का परिणाम थी। उनकी विशुद्ध आध्यात्मिक परंपरा में ज्ञान मार्ग पर निरंतर अग्रणी, आत्म साधना के सतत् प्रहरी, अध्यात्म शिरोमणि पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज अहर्निश अपने आत्म चिंतन साधना में रत रहते हुए हम सभी भव्यात्माओं के आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते रहे हैं, यह हमारा महान सौभाग्य है। श्री गुरु तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज द्वारा विरचित चौदह ग्रंथों में से पूज्य श्री द्वारा अनूदित श्री मालारोहण ग्रंथ की अध्यात्म दर्शन टीका, श्री पण्डित पूजा ग्रंथ की अध्यात्म सूर्य टीका और श्री कमलबत्तीसी ग्रंथ की अध्यात्म कमल टीका का प्रकाशन हुआ, साथ ही अध्यात्म अमृत (चौदह ग्रंथ जयमाल एवं भजन), अध्यात्म आराधना, अध्यात्म भावना तथा चौपड़ा (महाराष्ट्र) से अध्यात्म धर्म (धम्म आयरन फूलना-सार्थ) का प्रकाशन हुआ, जिससे समाज में स्वाध्याय की रुचि और भावनाएं जाग्रत हुई हैं। स्वाध्याय का एक व्यवस्थित क्रम बना है। इसके साथ ही देश के कोने-कोने में दिगम्बर-श्वेताम्बर जैन तथा जैनेतर बंधु भी लगन पूर्वक इन ग्रंथों का स्वाध्याय मनन कर अपने आपको सौभाग्यशाली समझ रहे हैं। इस साहित्य से देश के लोगों में श्री गुरुदेव को और उनकी वाणी को जानने की जिज्ञासाएं प्रबल हुई हैं जो हमारे लिए प्रसन्नता और गौरव का विषय है।

पूज्य श्री महाराज जी ने सन् १९९१-९२ में मौन साधना कर विशेष अनुभव रत्न उपलब्ध किये थे, यह टीकायें भी उसी साधना के अंतर्गत सहज ही लिपिबद्ध हो गईं, जो आज हमारे लिये मार्गदर्शक सिद्ध हो रही हैं।

प्रस्तुत श्री उपदेश शुद्ध सार जी ग्रंथ पूज्य गुरुदेव श्री मद् जिन तारण स्वामी द्वारा विरचित आत्म साधना एवं अंतर शोधन के मार्ग को प्रशस्त करने वाला अनुपम ग्रंथ है।

सर्व प्रथम मंगलाचरण में देवों के देव सिद्ध स्वरूपी परमात्म स्वरूप को नमस्कार करके जिनेन्द्र भगवान की दिव्य ध्वनि के प्रमाण से अपने आत्म स्वरूप की महिमा और तीर्थंकर भगवंतों के उपदेश का शुद्ध सार स्पष्ट करते

हुए कहा है कि आत्मा अनादि काल से शुद्ध है, यही तीर्थकर जिनेन्द्र परमात्माओं ने भव्य जीवों को उपदेश दिया है। अपने शुद्धात्म स्वभाव के आश्रय से ही संसार का जन्म-मरण छूटता है, कर्म क्षय होते हैं और मुक्ति की प्राप्ति होती है। संसार चक्र से मुक्त होकर सिद्ध परमपद को प्राप्त करना ही उपदेश का शुद्ध सार है। जिन भव्य जीवों की काल लब्धि पकती है, होनहार भली होती है वे जिनेन्द्र भगवान के वचनोपदेश रूप मणि रत्न को कर्ण रूपी चोंच में दबाकर उड़ जाते हैं अर्थात् उपदेश का श्रवण मनन करके आत्मानुभवन को उपलब्ध हो जाते हैं।

श्री गुरुदेव ने साधक को सावधान करते हुए कहा है कि धर्म रत्न की प्राप्ति होने के पश्चात् यदि जीव मन की वैभाविक वृत्तियों में आसक्त होता है तो कुमति उत्पन्न होती है और नीच आचरण के कारण धर्म रूपी मणि रत्न छूट भी जाता है किन्तु जो पुरुषार्थी नर मन को अपने ज्ञान स्वभाव में लय कर देते हैं वे रत्नत्रय स्वरूप में रमण करते हैं। सत्य का संग करना ही सत्संग है और क्षणभंगुर असत् नाशवान संयोगों के संकल्प-विकल्प रूप मन का संग करना कुसंग है। मोक्षमार्गी ज्ञानी साधक असत् पदार्थों से दृष्टि हटाकर सत्स्वरूप शुद्धात्मा की साधना आराधना करता है, इसी से वह कर्मों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त करता है। आत्म साधना का मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म है इसमें सर्व प्रथम अपने आत्म स्वरूप का अनुभव प्रमाण बोध होना अनिवार्य है क्योंकि इसी के आधार पर साधक साधना के पथ पर अग्रसर होता है। इस मार्ग में भेदज्ञान तत्त्वनिर्णय पूर्वक अंतर शोधन की विशेषता रहती है। संस्कारों को तोड़ने का नाम ही साधना है और यह ज्ञान की दृढ़ता, स्वरूप के लक्ष्य से ही सम्भव होता है। श्री गुरु महाराज स्वयं आत्म साधना के मार्ग के पथिक थे, साधक को साधना करते हुए किस-किस प्रकार की बाधाएँ आती हैं और उनका निराकरण किस प्रकार किया जाये यह सम्पूर्ण विधि विधान श्री गुरु ने इस ग्रंथ में स्पष्ट किया है।

जनरंजन राग, कलरंजन दोष और मनरंजन गारव साधना में आने वाली ऐसी सूक्ष्म बाधाएँ हैं जिनका निवारण बहुत सावधानी और दृढ़ता पूर्वक होता है। जनरंजन राग के नौ भेदों का उल्लेख करते हुए श्री गुरु महाराज ने उनका स्वरूप और जनरंजन से छूटकर जिनरंजन और जिनरंजन से निरंजन होने का पथ प्रशस्त किया है।

पाक्षिक राग (सांसारिक पक्षपात), शरीर राग (शरीर का राग), कुलराग (कुल का राग), सहकार राग (अज्ञान शल्य आदि का सहकार करना), परिणाम राग (अज्ञान भाव पर पर्याय में जुड़ना), रागस्थ राग (विकथा व्यसन अब्रह्म आदि की चर्चा करना), अन्मोय राग (अनुमोदना का राग), प्रकृति राग

(कर्म प्रकृति का राग), अवयास राग (अभ्यास करने का राग), यह नौ भेद रूप जनरंजन राग संसार परिभ्रमण का कारण है।

पर्याय दृष्टि ही जनरंजन राग आदि की उत्पत्ति में कारण है, इसी से अर्थात् पर्याय दृष्टि से ही कलरंजन दोष और मनरंजन गारव पैदा होते हैं। एक मात्र ज्ञान घन स्वरूप शुद्धात्म स्वभाव के आश्रय से इन रागादि भावों को क्षय किया जाता है। साधना के मार्ग में राग की संधि सबसे बड़ी बाधा है, यही संधि साधक के जीवन में मायाचार जैसे विकारों को जन्म देती है। सद्गुरु तारण स्वामी इस बात को जोर देकर कहते हैं कि यदि राग ही करना है तो जिनेन्द्र परमात्मा के कहे अनुसार मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ इसकी अनुमोदना करो, शुद्ध स्वभाव को स्वीकार करो, इसी में परम प्रीति और संतुष्टि का भाव रखो तो स्वभाव के प्रति यह अनुराग संसार के परिभ्रमण से छूटने और मुक्ति को प्राप्त करने में साधन बनेगा।

स्वभाव दृष्टि ही मोक्षमार्ग है और पर्याय दृष्टि संसार मार्ग है। श्री गुरु तारण स्वामी ने श्री ममलपाहुड़ जी ग्रंथ के दर्शन चौविहि फूलना में कहा है -

पर्जय रत्तउ मूढ़ मई, उववंन न्यान विलयंतु।

पर्याय में रत होना ही मूढ़ता है, इस मूढ़ता पूर्ण बुद्धि को ही मूढ़ मति कहते हैं। ज्ञान स्वभाव के उत्पन्न होने पर यह मूढ़ता विला जाती है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव भी यही बात कहते हैं कि जो जीव अपने रत्नत्रय स्वरूप में स्थित है वह स्व समय है और जो कर्मादि पुद्गल प्रदेश में स्थित है वह पर समय है। उन्होंने भी पज्जय मूढ़ा पर समया, पर्याय मूढ़ को पर समय कहा है। वस्तुतः संसार और मोक्ष में दृष्टि की ही विशेषता है। पर दृष्टि, पर्याय दृष्टि संसार है और स्व दृष्टि, स्वभाव दृष्टि ही मोक्ष है। अनादि काल से परोन्मुखी दृष्टि होने के कारण ही जीव संसार में रुल रहा है, जन्म-मरण कर रहा है। चार गति चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण रूप संसार का कारण एक मात्र मिथ्यात्व अज्ञान है।

सम्यक्दृष्टि ज्ञानी को सत्-असत् का, आत्मा-अनात्मा का विवेक होता है, वह स्वभाव पर्याय के भेद को जानता है और पर्याय से दृष्टि हटाकर स्वभाव की साधना में रत रहता है, वह सच्चे देव गुरु शास्त्र, सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र, संसार शरीर भोग आदि के स्वरूप को सम्यक्पने जानता है किन्तु दर्शन मोहांध अज्ञानी जीव सच्चे देव गुरु शास्त्र को यथार्थतया स्वीकार न करके रागी-द्वेषी कुदेव, जड़ अचैतन्य अदेव को देव मानता है, कुगुरु अगुरु को गुरु और कुशास्त्र अशास्त्र को शास्त्र मानता है। सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र के स्वरूप को भी यथार्थ नहीं जानता, संसार शरीर भोगों को सुखकारी मानता है, इस प्रकार दर्शन मोहांध जीव दृष्टि की विपरीतता होने से संसार में भटकता है,

जबकि सम्यक्दृष्टि ज्ञानी ज्ञान दृष्टि के बल से स्वभाव का आश्रय लेकर पर्याय दृष्टि से तो मुक्त होता ही है, साथ ही समस्त अज्ञान जनित भेद विकल्पों की परिधि से ऊपर उठकर अभेद स्वरूपस्थ दशा को उपलब्ध होता है। वह ज्ञानी जानता है कि दृष्टि का स्वरूप सन्मुख रहना, स्वभाव की स्मृति सुरत रहना संयम है और स्वरूप में लीन रहना तप है। यही कारण है कि ज्ञानी मन और इंद्रियों के विस्तार से अपनी दृष्टि को हटाकर स्वभाव की साधना में ही लीन रहता है।

सम्पूर्ण जगत कहता है कि मन बहुत चंचल है किन्तु मन की चंचलता का मूल कारण क्या है इसे कोई नहीं जानता। सद्गुरु तारण स्वामी ने इस रहस्य को स्पष्ट किया है कि मन अपने आप चंचल नहीं होता बल्कि जीव की दृष्टि परोन्मुखी होने से मन चंचल होता है। दृष्टि पर से हटाकर परमतत्त्व परमात्म स्वरूप में लीन कर दें तो फिर मन का अस्तित्व ही कहाँ रहेगा? ज्ञानी साधकों की दृष्टि स्वरूप की ओर होती है इसलिये उनका मन शांत और इंद्रियाँ वश में रहती हैं, साधना के मार्ग में यही वास्तविक संयम कहलाता है। मोक्षमार्गी साधक बाह्य किसी प्रपंच में पड़ना नहीं चाहता, वह अपनी अंतरंग स्थिति से पूरी तरह परिचित होता है और जो-जो भी बाधक कारण उसके जानने में आते हैं उन्हें पुरुषार्थ पूर्वक दूर करता है तभी साध्य की सिद्धि को प्राप्त करता है।

पांच इंद्रियों में रसना इंद्रिय को छोड़कर सभी इंद्रियों के एक-एक कार्य हैं जबकि रसना इंद्रिय के दो कार्य हैं- स्वाद लेना और बोलना। यह दोनों कार्य राग के सद्भाव पर निर्भर रहते हैं, इनसे जब तक पूर्ण विरक्ति नहीं होती तब तक स्वरूप लीनता रूप सम्यक्चारित्र नहीं हो पाता। वीतरागी मार्ग के पथिक सम्यक्दृष्टि ज्ञानी को चिदानन्द चैतन्य स्वभाव का बहुमान होता है, इसी स्वभाव में लीन होने पर सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरा होती है। जिस प्रकार सिंह को देखकर हाथियों के समूह तितर-वितर हो जाते हैं, गरुड़ पक्षी की आवाज सुनकर चंदन के वृक्ष पर लिपटे हुए सर्प भाग जाते हैं, इसी प्रकार चिदानन्द चैतन्य स्वभाव की दृष्टि, ज्ञान विज्ञान घन शुद्ध स्वभाव का स्वानुभूति पूर्ण शंखनाद होने पर आत्मा के संयोग में रहने वाले सम्पूर्ण कर्म निर्जरित क्षय हो जाते हैं, समस्त विकार गल जाते हैं। आत्मा अपने अक्षर, स्वर, व्यंजन, पद और अर्थ के रूप में प्रगट होता है। अक्षर अर्थात् कभी क्षरण न होने वाला अक्षय केवलज्ञान स्वभाव, स्वर अर्थात् सूर्य के समान पूर्ण दैदीप्यमान ममलह ममल स्वभाव, व्यंजन अर्थात् अनादि अनंत एक रूप रहने वाला ज्ञान-विज्ञान स्वभाव, पद अर्थात् परमतत्त्व परमेष्ठी स्वरूप शुद्धात्म स्वभाव, अर्थ अर्थात् प्रयोजनीय सिद्ध स्वरूप, यह सब अंतर के रहस्य चिदानन्द चैतन्य स्वभाव की साधना से ही प्रगट होते हैं। इसी साधना से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय

और अंतराय इन चार घातिया कर्मों का अभाव होकर अनंत चतुष्टय की प्रगटता होती है। अंत में नाम, आयु, गोत्र और वेदनीय इन चार अघातिया कर्मों का क्षय होने पर अनंत काल तक परम आनंदमय एक रस रूप सिद्ध पद प्राप्त होता है।

सिद्ध परमात्मा कर्म रहित शुद्ध स्वरूप में लीन निर्विकार परमानंद स्वरूप हैं, उनके समान ही मैं आत्मा स्वभाव से सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा हूँ, ऐसे अपने शुद्ध स्वभाव के आश्रय, ममल स्वभाव में रहने से ज्ञानी साधक के भी कर्मोदय जनित विकार गल जाते हैं-

आवरणं नहु पिच्छई, ममल सहावेन कम्म संषिपनं ।

आवरण को मत देखो, ममल स्वभाव में रहने से सभी कर्म क्षय हो जाते हैं।

ज्ञानी की यही विशुद्ध दृष्टि अंतर में सुख, सत्ता, बोध, चेतना इन चार प्राणों की प्रगटता में सहायक होती है। आत्म साधना के इस लक्ष्य को पूर्ण करने के लिये सम्यक्दर्शन के आठ अंगों का अपूर्व विवेचन करते हुए श्री गुरु महाराज ने सिद्ध परमात्मा के स्वरूप का निर्णय करते हुए अपने सिद्ध स्वरूप का आश्रय लेने की प्रेरणा दी है। जैसे सिद्ध परमात्मा द्रव्य गुण पर्याय से शुद्ध हैं, कर्म रहित हैं, उनके समान ही स्वभाव से मैं आत्मा सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा अजर-अमर अविनाशी ज्ञान घन स्वरूप हूँ। यही स्वभाव साधना परम तत्त्व परमेष्ठी पद को प्रगट कराने वाली है।

श्री गुरु तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज द्वारा विरचित चौदह ग्रंथों को विगत पाँच सौ वर्षों से हमारे पूर्वजों ने सुरक्षित रूप से सम्हाल कर रखा। अतीत में हुए अनेक ज्ञानी साधकों एवं विद्वानों ने कतिपय ग्रंथों पर लेखनी चलाई है और पूज्य गुरुदेव के भावों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। अध्यात्म शिरोमणी पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज ऐसे विरले सत्पुरुष हुए, जिन्होंने पूज्य गुरुदेव द्वारा अनुभूत अध्यात्म ज्ञान मार्ग को स्वयं के अनुभव पूर्वक जाना और निश्चय-व्यवहार से समन्वित जीवन बनाकर आत्म कल्याण का पथ प्रशस्त किया। बरेली में छह-छह माह की मौन साधना, तीर्थ क्षेत्रों पर वर्षावास और आत्म साधना तथा विभिन्न स्थानों पर रहकर चिंतन और अनुभव के अनमोल रत्न प्राप्त किये, उनका यही ज्ञानानुभवन श्री गुरु महाराज द्वारा विरचित ग्रंथों के साधना परक मूल अभिप्राय को पकड़ने में प्रमुख साधन बना। इसी आधार पर पूज्य श्री ने श्री मालारोहण जी, पंडित पूजा जी, कमल बत्तीसी जी, श्रावकाचार जी, त्रिभंगीसार जी, उपदेश शुद्ध सार जी तथा ममल पाहुड़ जी ग्रंथ के ५६ फूलनाओं की सहज सरल भाषा में गुरुवाणी के रहस्यों को यथावत् प्रगट करने वाली अपूर्व टीकायें लिखीं।

श्री उपदेश शुद्ध सार जी आचार्य प्रवर श्री मद जिन तारण स्वामी जी

द्वारा रचित ५८९ गाथाओं में निबद्ध साधक की साधना को आध्यात्मिक शिखर की उँचाइयों पर ले जाने वाला अलौकिक ग्रंथ है, यही कारण है कि पूज्य श्री ने इस ग्रंथ की टीका साधक संजीवनी नाम से की है। ग्रंथ की गाथाओं के भाव के अनुरूप आत्म साधना की प्रमुखता से पूज्य श्री ने सम्पूर्ण विषय वस्तु को सहज सरल भाषा में स्पष्ट किया है। विषय क्रम को सहजता पूर्वक समझने के लिये टीका में आगम अध्यात्म और साधना सम्बंधी प्रश्नोत्तरों का समावेश किया गया है।

साधना के मार्ग में आगे बढ़ने वाले साधक को सद्गुरु का मार्गदर्शन बहुत बड़ा साधन होता है, अंतर में आने वाली बाधाओं को वह इसी आधार पर दूर कर पाता है। स्वभाव में शांति है विभाव में अशांति है, स्वभाव शाश्वत है विभाव अशाश्वत है, स्वभाव अविनाशी है विभाव उत्पन्न ध्वंसी है, स्वभाव कर्म रहित है विभाव कर्म सहित है। स्वभाव का आश्रय लेकर चलने वाले ज्ञानी साधक को कर्मोदय के निमित्त से रागादि विभाव परिणाम होते हैं किन्तु स्वभाव के आश्रय से साधक सभी विभाव और कर्मों पर विजय प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार के उपाय साधक को अमृत स्वरूप होते हैं, उनका उल्लेख इस टीका ग्रंथ में किया गया है अतः साधक को अमृतत्व प्रदान करने वाली इस टीका का नाम साधक संजीवनी स्वतः सिद्ध है।

जिनेन्द्र भगवान के उपदेश का शुद्ध सार क्या है ? यह सार तत्त्व बताते हुए श्री गुरु तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज इसी ग्रंथ की ५२७ वीं गाथा में कहते हैं-

उवएस सुद्ध सारं, उवइट्टं परम जिनवर मएन ।

विलयं च कम्म मलयं, न्यान सहावेन उवएसनं तं पि ॥

परम जिनेन्द्र परमात्मा ने भव्य जीवों को यही उपदेश दिया है कि अपने ज्ञान स्वभाव में लीन रहने से सम्पूर्ण कर्म मल क्षय हो जाते हैं, सिद्धि और मुक्ति की प्राप्ति होती है यही उपदेश सार भूत है, उपदेश शुद्धसार भी यही है।

पूज्य श्री ने इस ग्रंथ की टीका के सार स्वरूप उपदेश शुद्ध सार का हार्द स्पष्ट करते हुए कहा है “भगवान ने दिव्यध्वनि में कहा है कि आत्मा में अखंड आनंद स्वभाव भरा है, जिसमें ज्ञानादि अनंत स्वभाव भरे हैं, ऐसे चैतन्य मूर्ति निज आत्मा की श्रद्धा करें, उसमें लीनता करें तो उसमें से केवलज्ञान का पूर्ण प्रकाश अवश्य प्रगट होता है।

स्वरूप में लीनता के समय पर्याय में भी शांति और स्वभाव में भी शांति, आत्मा के आनंद रस में शांति ही शांति, अतीन्द्रिय आनंद होता है। इसी का एक-एक मुहूर्त स्थिर होना केवलज्ञान प्रगट करता है। समस्त कर्मों का क्षय होने पर सिद्ध पद होता है, यही उपदेश शुद्ध सार है। अनेक शास्त्रों का सार

इसमें भरा है, जिन शासन का यह स्तंभ है, साधक को संजीवनी है, कल्पवृक्ष है, द्वादशांग का सार इसमें समाया हुआ है।

साधक जीव को ज्ञानमात्र भाव रूप परिणामन में एक साथ अनंत शक्तियां उल्लसित होती हैं, जो स्व-पर प्रकाशक ज्ञान में ज्ञात होती हैं। ज्ञान में ज्ञान मात्र का वेदन होना ही अंतर्मुखता है। निज ज्ञान वेदन के काल में राग तथा पर के वेदन का उसमें अभाव है।

श्री गुरु तारण स्वामी कहते हैं कि इस ग्रन्थ उपदेश शुद्ध सार में वही आत्मानुभव का मार्ग बताया है, जिससे कर्मों की निर्जरा पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति हो तथा यह उपदेश परम जिनेन्द्र परमात्मा भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट किया गया है कि अपने ज्ञान स्वभाव में लीन होने से ही कर्मों का क्षय होता है। पर पर्याय के आश्रय से कभी मुक्ति होने वाली नहीं है।

जो साधक अपने परम पारिणामिक भाव ध्रुव स्वभाव का आश्रय लेकर एक शुद्ध आत्मा की बारम्बार भावना करता है, वह वीतराग निर्ग्रन्थ साधु होकर क्षापक श्रेणी पर चढ़कर अंतर्मुहूर्त में चार घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञानी हो जाता है ; फिर चार अघातिया कर्मों का क्षय होने पर संसार से पूर्ण मुक्त शुद्ध सिद्ध परमात्मा हो जाता है, यही उपदेश शुद्ध सार और मुक्तिमार्ग है।”

आत्म कल्याण हेतु सद्गुरुओं के द्वारा बताये हुए इस मार्ग पर स्वयं चलना, रत्नत्रयमय जीवन बनाना और अजर अमर अविनाशी शाश्वत सिद्ध पद प्राप्त करना यही उपदेश शुद्ध सार का सार है।

इस टीका ग्रंथ का प्रकाशन अध्यात्म शिरोमणी पूज्य श्री ज्ञानानंद जी महाराज के मंगलमय सानिध्य में होना था किन्तु नियति और होनहार की बात ही कुछ और होती है। यह प्रकाशन यद्यपि पूज्य श्री के समाधिस्थ होने के पश्चात् हो रहा है फिर भी उनके द्वारा प्रदत्त यह ज्ञान सभी साधकों के साथ निरन्तर वर्त रहा है।

सभी भव्य जीव श्री उपदेश शुद्ध सार जी ग्रंथ की इस आध्यात्मिक साधक संजीवनी टीका ग्रंथ का स्वाध्याय चिंतन मनन कर साधनामय जीवन बनायें और अपने आत्म कल्याण का पथ प्रशस्त करें यही मंगल भावना है।

साधना स्थली

शांतानन्द ध्रुव धाम पिपरिया

दिनांक : ५.३.२००२

ब. बसन्त

जिस समय सम्यक्ज्ञान रूपी दीपक से भोगों की निर्गुणता जानने में आती है
अर्थात् भोग नरा भी गुणकारी नहीं हैं यह बात अचल रूप से हृदय पर
अंकित हो जाती है उस समय भोग और संसार से वैराग्य होता है।

साहित्य : समाज का दर्पण

परम वीतरागी तीर्थकर भगवन्तों की आध्यात्मिक शाश्वत परम्परा में अनेकों ज्ञानी ध्यानी, जिनवर वाणी के ज्ञाता महापुरुष हुए हैं। उनकी विशुद्ध आम्नाय में श्री गुरु तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज आत्म साधना के मार्ग में निरंतर अग्रणी रहने वाले आध्यात्मिक ज्ञान पुंज के धनी, विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न वीतरागी अध्यात्म योगी ज्ञानी संत थे। आत्म स्वरूप के अनुभव पूर्वक पूज्य गुरुदेव ने वीतराग मार्ग पर चलकर स्वयं अपना आत्म कल्याण करते हुए जाति-पांति से परे लाखों जीवों के कल्याण का पथ प्रशस्त किया।

उनके द्वारा विरचित चौदह ग्रंथ अध्यात्म साधना की अनुभूतियों से परिपूर्ण हैं। ज्ञानमार्ग पर चलने वाले मोक्षमार्गी साधक को आत्म साधना के मार्ग में कौन-कौन सी बाधाएँ आती हैं और उन्हें कैसे दूर किया जाये तथा अध्यात्म साधना की सफलता को किस प्रकार उपलब्ध किया जाये यह सम्पूर्ण मार्गदर्शन पूज्य गुरुदेव श्रीमद् जिन तारण स्वामी के ग्रंथों से प्राप्त होता है। यह चौदह ग्रंथ रत्न युगों-युगों तक भव्य आत्माओं को प्रकाश स्तंभ की तरह आत्म साधना में निमित्त बने रहेंगे। इन ग्रंथों में अन्तर्निहित रहस्यों को अतीत में हुए अनेक ज्ञानी विद्वानों ने प्रगट करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। इसी श्रंखला में अध्यात्म शिरोमणी पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज का मंगलमय सानिध्य हमारे महान सौभाग्य से प्राप्त हुआ। उन्होंने सद्गुरु तारण स्वामी के मार्ग को मात्र जाना ही नहीं; बल्कि स्वयं भी उस मार्ग पर चले और चौदह ग्रंथों में से श्री मालारोहण जी, पंडितपूजा जी, कमलबत्तीसी जी, तारण तरण श्रावकाचार जी, त्रिभंगीसार जी, उपदेश शुद्ध सार जी एवं ममल पाहुड़ जी ग्रंथ की ५६ फूलनाओं की अपूर्व टीकायें की हैं, जो गुरु महाराज के भावों को स्पष्ट करने वाली हैं। श्री तारण तरण अध्यात्म प्रचार योजना केन्द्र भोपाल को सकल तारण समाज के सहयोग पूर्वक गुरुवाणी के प्रचार-प्रसार का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वर्तमान समय के अनुरूप इस साहित्य प्रकाशन से सम्पूर्ण देश में गुरुवाणी की महती प्रभावना हो रही है। साहित्य समाज का दर्पण होता है, यह इस प्रचार-प्रसार से सिद्ध हो गया है।

अध्यात्म शिरोमणी पूज्य श्री ज्ञानानन्द जी महाराज के प्रति हम हृदय से कृतज्ञ हैं। उनके समाधिस्थ होने के पश्चात् भी उनके द्वारा दिया हुआ ज्ञान हमारा पथ प्रशस्त करता रहेगा। अध्यात्म रत्न बाल ब्र. पूज्य श्री बसन्त जी महाराज एवं तारण तरण श्री संघ के सभी साधक जन ब्र. बहिनें और विद्वत्जनों का गुरुवाणी की प्रभावना में हमें निरंतर मार्गदर्शन प्राप्त हो रहा है इससे हम गौरवान्वित हैं तथा सकल तारण तरण जैन समाज के लिये भी यह गौरव का विषय है। सभी भव्य जीव इन टीका ग्रंथों का स्वाध्याय चिंतन-मनन करके अपने आत्म कल्याण का मार्ग बनायें यही पवित्र भावना है।

दिनीत

दिनांक : ७.४.२००२

फाग फूलना महोत्सव

छोटेला जैन, आनन्द तारण (संरक्षक)

एवं समस्त पदाधिकारीगण

श्री तारण तरण अध्यात्म प्रचार योजना केन्द्र, ६१ मंगलवारा, भोपाल (म.प्र.)

स्वाध्याय और आत्मज्ञान आवश्यक क्यों ?

१. तारण पंथ (मुक्ति का मार्ग) क्या है ? यह जानने के लिये।
२. आनंद परमानंद मय जीवन बनाने तथा आत्म कल्याण करने के लिये।
३. ज्ञान का विकास और गहराई में उतरने के लिये।
४. आगम और अध्यात्म के रहस्यों को समझने के लिये।
५. निश्चय-व्यवहार से समन्वित मुक्ति मार्ग प्राप्त कर संसार से छूटने और मुक्ति की प्राप्ति करने के लिये, इन चौदह ग्रंथों का स्वाध्याय करना और अपने आपको जानना बहुत आवश्यक है।

ज्ञानदान स्वाध्याय हेतु उपलब्ध सत्साहित्य

श्री उपदेशशुद्धसार जी (साधक संजीवनी टीका)	- ६५ रुपया
श्री श्रावकाचार जी (अध्यात्म जागरण टीका)	- ६० रुपया
श्री मालारोहण जी (अध्यात्म दर्शन टीका) (तृतीय संस्करण)	- ३० रुपया
श्री पंडितपूजा जी (अध्यात्म सूर्य टीका)	- १५ रुपया
श्री कमलबत्तीसी जी (अध्यात्म कमल टीका)	- २५ रुपया
श्री त्रिभंगीसार जी (अध्यात्म प्रबोध टीका)	- ३० रुपया
अध्यात्म अमृत (जयमाल, भजन)	- १० रुपया
अध्यात्म किरण (जैनागम १००८ प्रश्नोत्तर)	- १० रुपया
अध्यात्म भावना	- ८ रुपया
अध्यात्म आराधना (देव गुरु शारत्र पूजा)	- ६ रुपया
ज्ञान दीपिका भाग- १, २, ३ (प्रत्येक)	- ५ रुपया

प्राप्ति स्थल-

१. ब्रह्मानन्द आश्रम, संत तारण तरण मार्ग, पिपरिया, जिला- होशंगाबाद (म. प्र.) ४६१७७५
२. श्री तारण तरण अध्यात्म प्रचार योजना केन्द्र, ६१ मंगलवारा, भोपाल (म. प्र.) ४६२००१

संपर्क सूत्र- फोन- पिपरिया (०७५७६) २२५३०, २४०१३

भोपाल- (०७५५) ७०५८०१, ७४१५८६

अपनी बात

श्री उपदेश शुद्ध सार जी ग्रंथ सद्गुरु वीतरागी संत श्री जिन तारण स्वामी द्वारा विरचित है। मुक्ति मार्ग के पथिक सम्यक्दृष्टि ज्ञानी साधक की जीवन चर्या निश्चय-व्यवहार के समन्वय पूर्वक होती है। जीव के साथ पूर्व कर्म बंधोदय परिणामन चलता है। इससे कैसे छूटा जाये, इसका पूरा समाधान, अंतरंग में चलने वाले परिणाम, बाह्य शरीरादि क्रियारूप परिणामन और कर्मोदय जन्य अशुद्ध पर्याय, इनका किस प्रकार कैसा परिणामन चलता है, कैसा-कैसा क्या-क्या होता है? सद्गुरु ने अपने अनुभव से आगम प्रमाण सिद्ध कर मार्ग बतलाया है। यह ग्रन्थ साधक के लिये संजीवनी है, इसमें जो रहस्य भरे हैं, वह साधक ही अपने अनुभव प्रमाण सिद्ध कर सकता है।

मेरा परम सौभाग्य है कि सद्गुरु के ग्रंथों को पढ़ने समझने का शुभयोग मिला और उसी क्रम में यह साधक संजीवनी टीका लिखने का भाव हुआ। श्री उपदेश शुद्ध सार जी ग्रंथ का वांचन पिपरिया वर्षावास, बरेली मौन साधना के समय एवं अमरवाड़ा वर्षावास में आद्योपांत हुआ, इससे एक प्रेरणा मिली और स्वयं की साधना में जो बाधाएँ विकल्प आ रहे थे, उनका समाधान प्राप्त करने के लिये इस ग्रंथ की टीका दिनांक १.६.९१ से प्रारंभ की जो आज दि. २९.६.९२ को पूरी हुई।

वर्तमान में ऐसे साधक सद्गुरुओं का सुयोग नहीं मिल रहा है, जो अंतरंग की समस्या को सुलझा सकें, इस ग्रंथ की टीका करने से मुझे अपूर्व लाभ मिला है। समय का सदुपयोग ज्ञानोपयोग में हुआ है और अपनी बहुत सी ग्रंथियां सुलझ गईं। ज्ञान का क्षयोपशम न होने से विशेष स्पष्ट समझ में नहीं आया फिर भी अपनी समझ से और अपने को ही समझने के लिये यह टीका लिखी है, अन्य साधक बंधुओं को लाभ मिले यह उनकी पात्रता की बात है। ज्ञानी साधक अपने अनुभव से जो इसमें कमी रह गई हो वह पूरी करें और जो गलती हो उसके लिये उत्तम क्षमा भाव पूर्वक ठीक कर अवगत करायें।

एक वर्ष में बरेली, अमरवाड़ा, जबलपुर और सिलवानी में रहते हुए यह कार्य संपन्न हुआ, सभी सहयोगी जनों का आभारी हूँ। सद्गुरु शरण...

बरेली

दिनांक: २९.६.१९९२

ज्ञानानन्द

भूमिका

जीवों को जगाने के लिये समय-समय पर भगवान, तीर्थंकर महात्मा, संत, ज्ञानी महापुरुष हुए हैं। सबने मनुष्य को अपना आत्म कल्याण करने, संसार के चारगति चौरासी लाख योनियों के जन्म-मरण के चक्र से छूटने, सुख शांति आनंद में रहने तथा मुक्त होने का उपदेश दिया है। इसके लिये नाना प्रकार के उपाय, विधि विधान, व्यवस्था, साधन, देश, काल परिस्थिति तथा जीव की पात्रतानुसार बताये हैं।

मूल उद्देश्य तो सबका एक ही है कि यह जीव अपने सत् स्वरूप को जान ले क्योंकि अनादि से यह जीव अपने अज्ञान मिथ्यात्व के कारण यह शरीर ही मैं हूँ, यह शरीरादि मेरे हैं और मैं इन सबका कर्ता भोक्ता हूँ, ऐसा मानता हुआ माया मोह में विमोहित, सुखी-दुःखी होता, जन्म-मरण करता चला आ रहा है; जबकि वास्तव में यह जीवात्मा स्वयं ब्रह्मस्वरूपी शुद्धात्मा, परमात्मा है। इसका बोध जगाने के लिये जीव की पात्रता परिस्थिति देश काल के अनुसार साधन भिन्न-भिन्न अनेक प्रकार के बताये हैं। यथार्थ तत्त्व ज्ञान न होने से मूल वस्तुस्वरूप तो पकड़ में आया नहीं, साधन एवं व्यवहारिक आचरण पकड़ लिया और उसको लेकर जाति सम्प्रदाय के रूप में धर्म के नाम पर धंधा शुरू हो गया और अपना-अपना मठ-मंदिर, पूजा, उपासना पद्धति को लेकर धर्म के नाम पर विवाद होने लगा, जिसके कारण मनुष्य धर्म के सत्य स्वरूप से विमुख होकर जाति-पांति सम्प्रदाय के व्यवहार आचरण क्रियाकांड में ऐसा उलझ गया कि धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, भले-बुरे का, हिंसा-अहिंसा का हित-अहित का भी विवेक खो बैठा।

संत ज्ञानी महापुरुषों का अवतरण तो होता ही रहा है और होता रहेगा। धर्म की स्थापना करना भी प्रकृति की व्यवस्था है। इसी परम्परा में सोलहवीं शताब्दी में अध्यात्मवादी वीतरागी संत श्री मद् जिन तारण स्वामी हुए, जिन्होंने श्रमण संस्कृति, जिनदर्शन के अनुसार शुद्ध अध्यात्मवाद, अपना आत्म कल्याण करने की बात जन-जन के लिये कही है। जब उनका अध्यात्म जन जागरण अभियान चल रहा था, उसमें मानव मात्र के लिये आत्मकल्याण करने, मुक्त होने का संदेश दिया जा रहा था, जिसमें न जाति-पांति का बंधन, न कोई क्रियाकांड है; केवल सत्य वस्तु स्वरूप समझने, अपनी दृष्टि पलटने, मान्यता बदलने, अपने आपको पहिचानने की बात बताई जा रही थी कि हे भव्य! तू स्वयं भगवान है, अपनी स्वसत्ता शक्ति को देख, तू चैतन्य ज्योति परमात्म स्वरूप है। यह शरीरादि संयोग तू नहीं है, यह कोई भी कुछ भी तेरा नहीं है, तू मात्र ज्ञाता दृष्टा, ज्ञायक स्वभावी है।

मनुष्य जन्म से नहीं कर्म से महान बनता है। धर्म साधन, आत्महित करने में हर व्यक्ति स्वतंत्र है। जब यह सब अभियान चल रहा था तब उनके प्रमुख अनुयायियों ने प्रश्न किया कि गुरुदेव! वास्तविक सत्य धर्म मुक्ति का मार्ग क्या है और जिनेन्द्र भगवान आदि महापुरुषों के उपदेश का शुद्ध सार क्या है? किस क्रम से, किस साधना पद्धति से चलकर वास्तविक मुक्ति परमानंद दशा परमात्म पद मिलता है, इसको बताने की कृपा करें?

सभी भव्य जनों के समाधान हेतु और अपनी साधना के प्रमुख लक्ष्य से यह श्री उपदेश शुद्ध सार ग्रन्थ प्रगट हुआ है, जो मुक्ति मार्ग के साधक मुमुक्षु जीवों के लिये साधक संजीवनी है। इसका निष्पक्ष भाव से स्वाध्याय मनन करने, तद्विरूप आचरण करने से परमानंद दशा परमात्म पद तथा मुक्ति की प्राप्ति होती है।

विषयानुक्रम

प्रथम-ज्ञान अधिकार

क्र.	विषय वस्तु	पृष्ठ	गाथा
१.	उपदेश शुद्ध सार का मूल आधार	१३-१८	१-३
२.	उपदेश ग्रहण करने में बाधक कारण मनुष्य का मन	१८-२६	४-९
३.	देव का स्वरूप	२६-३०	१०-१४
४.	गुरु का स्वरूप	३१-३६	१५-२४
५.	धर्म का स्वरूप	३७-३९	२५-२७
६.	जिनवाणी के ज्ञाता पंडित का स्वरूप	४०-४७	२८-३३
७.	जिनवाणी की महिमा	४८-५०	३४-३८
८.	आत्मज्ञान प्राप्ति का उपाय और फल	५१-६५	३९-६१
९.	केवलज्ञान की महिमा	६५-६७	६२-६५
१०.	केवलज्ञान परमात्म पद प्राप्त करने का उपाय	६७-७१	६६-८९
	सम्यक्त्व की शुद्धि	७२-७३	७६-७९
	ज्ञान की शुद्धि	७४-७८	८०-८९

द्वितीय-राग मोहांध अधिकार

११.	संसार का कारण-राग भाव	७९-१२१	९०-१७०
	जनरंजन राग -	७९-९७	९१-१२२
	कलरंजन दोष -	९७-११३	१२३-१५६
	मनरंजन गारव -	११३-१२३	१५७-१७०
१२.	दर्शन मोहांध	१२३-१६१	१७१-२५९
	सच्चे देव के स्थान पर अदेव कुदेवादि की मान्यता -	१२४-१२८	१७३-१८१
	सच्चे गुरु के स्थान पर अगुरु कुगुरु की मान्यता -	१२८-१३२	१८२-१९०
	सच्चे शास्त्र के स्थान पर अशास्त्र कुशास्त्र की मान्यता -	१३२-१३४	१९१-१९५
	सम्यक्दर्शन के स्वरूप के प्रति विपरीत मान्यता -	१३४-१३७	१९६-२०२
	सम्यक्ज्ञान के स्वरूप के प्रति विपरीत मान्यता -	१३७-१४५	२०३-२२२
	सम्यक्चारित्र के स्वरूप के प्रति विपरीत मान्यता -	१४५-१५०	२२३-२३३
	सम्यक्तप के स्वरूप के प्रति विपरीत मान्यता -	१५०-१५२	२३४-२३७
	दर्शन मोहांध की दृष्टि में संसार शरीर भोग,		
	संसार परिभ्रमण का कारण -	१५२-१६१	२३८-२५९
	(संसार, शरीर, भोग, मन, इन्द्रिय)		

तृतीय-दृष्टि अधिकार

क्र.	विषय वस्तु	पृष्ठ	गाथा
१३.	दृष्टि का कार्य गुण-दोष	१६२-१६४	२६०-२६६
१४.	शब्द सहकार दृष्टि	१६४-१७१	२६७-२८३
१५.	काय दृष्टि	१७१-१७६	२८४-२९४
१६.	संसार और कर्म परम्परा से छूटने का उपाय		
	चिदानन्द दृष्टि	१७६-१८३	२९५-३१०
१७.	कर्म गलने का उपाय	१८३-१८७	३११-३१९
	(स्वोन्मुखी दृष्टि से कर्माश्रव नहीं होता)		
१८.	कर्म विलाने का उपाय	१८७-१९०	३२०-३२६
	(ममल स्वभाव में रहने से पूर्व कर्म बंध विला जाते हैं)		
१९.	ज्ञानावरणादि घातिया कर्म क्या करते हैं		
	इनसे छूटने का उपाय	१९०-२०४	३२७-३५६
	(ज्ञानोपयोग और ज्ञानावरण का स्वरूप)		
	(अक्षर, स्वर, व्यंजन, पद, अर्थ रूप ज्ञान)		
२०.	दर्शनोपयोग और दर्शनावरण कर्म का स्वरूप	२०४-२११	३५७-३७२
	(चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवलदर्शन)		
२१.	मोहनीय कर्म का स्वरूप	२११-२१५	३७३-३७९
२२.	अंतराय कर्म का स्वरूप	२१५-२२४	३८०-३९१

चतुर्थ-ममल स्वभाव अधिकार

२३.	ममल स्वभाव की महिमा	२२४-२२८	३९२-४००
२४.	भावक भाव आवरण (५७)	२२८-२५५	४०१-४५९
१.	संसार सरणि	२. ज्ञानावरण	३. परभाव
४.	पर्याय	५. नो कर्म	६. भाव कर्म
७.	द्रव्य कर्म	८. आर्त ध्यान	९. रौद्र ध्यान
१०.	मिथ्यात्व	११. अब्रह्म	१२. अज्ञान
१३.	अनिष्ट भाव	१४. कर्मोदय जन्य क्रिया	१५. राग का राग
१६.	दोष	१७. मन	१८. वचन
१९.	कृत	२०. कारित	२१. अनुमति
२२.	भोग	२३. उपभोग	२४. असत् भाव
२५.	माया	२६. कषाय	२७. पर्यायी भाव
२८.	शल्य	२९. लोभ	३०. क्रोध
३१.	मान	३२. माया	३३. मोह

क्र. विषय वस्तु

पृष्ठ गाथा

३४. व्यसन	३५. विकथा	३६. इन्द्रिय
३७. रसना	३८. स्पर्शन	३९. घ्राण
४०. चक्षु	४१. कर्ण	४२. शरीर
४३. संज्ञा	४४. आहार	४५. खाद्य-स्वाद-पेय-लेह्य
४६. निद्रा	४७. भय	४८. मैथुन
४९. आसा	५०. स्नेह	५१. लाज
५२. लोभ	५३. भय	५४. मनरंजन गारव
५५. आलस	५६. प्रपंच	५७. विभ्रम

२५.	चौदह प्राण रूप परमात्म दशा की अनुभूति	२५५-२५८	४६०-४६८
२६.	सम्यक्दर्शन के अष्ट अंग प्रगट होना	२५९-२६७	४६९-४८८

पंचम-मोक्षमार्ग अधिकार

२७.	मुक्ति मार्ग का विधान आत्म भावना	२६८-२६९	४८९-४९१
२८.	आत्मा ही आत्मा को तारने वाला है	२६९-२७०	४९२-४९३
२९.	आत्म पुरुषार्थ ही मोक्षमार्ग है	२७०-२७१	४९४-४९५
३०.	आत्मा स्वयं तारण तरण समर्थ है	२७१-२७२	४९६
३१.	भाव शक्ति जाग्रत करो - ४७ भाव शक्ति	२७२-२८७	४९७-५२०

१. दर्शति	२. इच्छंति	३. षिपिऊन	४. चेतन्ति
५. रुचितं	६. उत्तं	७. परषे	८. बोलंतो
९. धरयंति	१०. पीओसि	११. रहिओ	१२. दिष्टंति
१३. जिनियं	१४. लेतं	१५. कलियंति	१६. लष्यंतु
१७. अन्मोय	१८. जानंति	१९. कहंतु	२०. अमडेइ
२१. साहंति	२२. पोषंतु	२३. सिद्धंतु	२४. गमं
२५. सुनियं	२६. अनुभवंति	२७. लीन	२८. गहियं
२९. जोयंतो	३०. मानंतु	३१. रचयंति	३२. परिनइ
३३. पूरंति	३४. साधंतु	३५. त्रितंति	३६. सुद्धं
३७. अवयास	३८. इष्टं	३९. गंजंतु	४०. दमनं
४१. गलंतु	४२. विरयं	४३. तिक्तंतु	४४. विन्यान
४५. अनन्त	४६. तरंति	४७. सिद्धं	

३२.	सिद्ध स्वरूप की विशेषता	२८७-२९०	५२१-५२९
३३.	कमल स्वभाव - ज्ञायक भाव	२९०-२९४	५३०-५३९
३४.	आत्म शक्ति जाग्रत करो	२९४-३०६	५४०-५७८
३५.	अज्ञान संसार मार्ग है सम्यक्ज्ञान मोक्षमार्ग है	३०६-३०९	५७९-५८४
३६.	उपदेश शुद्ध सार - अन्तिम प्रशस्ति	३०९-३१२	५८५-५८९

साधक

सम्यक्दृष्टि ज्ञानी हो, जो ममल भाव में रहता है।
ध्रुवतत्त्व शुद्धात्म हूँ मैं, सिद्धोहं ही कहता है ॥
ज्ञान ध्यान की साधना करता, जपता आत्म राम है।
शुद्ध दृष्टि समभाव में रहना, साधक का यह काम है ॥

पर पर्याय का लक्ष्य नहीं है, ध्रुव तत्त्व पर दृष्टि है।
भेद ज्ञान तत्त्व निर्णय करता, बदल गई सब सृष्टि है ॥
विषय कषाये छूट गई हैं, छूट गया धन धाम है।
शुद्ध दृष्टि समभाव में रहना, साधक का यह काम है ॥

वस्तु स्वरूप को जान लिया है, अभय अडोल अकंप है।
त्रिकालवर्ती पर्याय क्रमबद्ध, इसमें जरा न शंक है ॥
ध्रुवधाम में बैठ गया है, जग से मिला विराम है।
शुद्ध दृष्टि समभाव में रहना, साधक का यह काम है ॥

सभी जीव भगवान आत्मा, सब स्वतंत्र सत्ताधारी।
पुद्गल द्रव्य शुद्ध परमाणु, उसकी सत्ता भी न्यायी ॥
द्रव्य दृष्टि से देखता सबको, अपने में निष्काम है।
शुद्ध दृष्टि समभाव में रहना, साधक का यह काम है ॥

सिद्ध स्वरूप का ध्यान लगाता, निजानंद में रहता है।
तत् समय की योग्यता देखता, किसी से कुछ न कहता है ॥
सत्पुरुषार्थ बढ़ाता अपना, अपने में सावधान है।
शुद्ध दृष्टि समभाव में रहना, साधक का यह काम है ॥

जग का ही अस्तित्व मिटाता, सब माया भ्रमजाल है।
सत्ता एक शून्य विन्द का, रखता सदा खयाल है ॥
तन-धन-जन से काम रहा नहीं, मन का भी विश्राम है।
शुद्ध दृष्टि समभाव में रहना, साधक का यह काम है ॥

ज्ञेय भाव सब ही भ्रांति है, भावक भाव भ्रमजाल है।
त्रिगुणात्मक माया का, फैला सब जंजाल है ॥
निज स्वरूप सत्य शाश्वत है, सहजानंद सुखधाम है।
शुद्ध दृष्टि समभाव में रहना, साधक का यह काम है ॥

श्री उपदेश शुद्ध सार जी

जयमाल

- १ -

मैं आतम शुद्धातम हूँ, परमातम सिद्ध समान हूँ ।
ज्ञायक ज्ञान स्वभावी चेतन, चिदानंद भगवान हूँ ॥
अपना भ्रम अज्ञान ही अब तक, बना हुआ संसार है ।
सिद्ध परम पद पाना ही, उपदेश शुद्ध का सार है ॥

- २ -

सद्गुरु तारण तरण के द्वारा, वस्तु स्वरूप को जाना है ।
भेदज्ञान तत्त्वनिर्णय करके, निज स्वरूप पहिचाना है ॥
भूल स्वयं को भटक रहा था, अब भ्रमना बेकार है ।
सिद्ध परम पद पाना ही, उपदेश शुद्ध का सार है ॥

- ३ -

खुद के मोह राग के कारण, कर्म बंध यह होते हैं ।
निज स्वभाव में लीन रहो तो, सारे कर्म यह खोते हैं ॥
धर्म कर्म का मर्म अब जाना, जाना क्या हितकार है ।
सिद्ध परम पद पाना ही, उपदेश शुद्ध का सार है ॥

- ४ -

जन्मे मरे बहुत दुःख भोगे, चारों गति में भ्रमण किया ।
जिनको हमने अपना माना, किसी ने कुछ न साथ दिया ॥
सबको तजकर निज को भजना, यही मुक्ति का द्वार है ।
सिद्ध परम पद पाना ही, उपदेश शुद्ध का सार है ॥

- ५ -

धन, शरीर परिवार सभी यह, मोह माया का जाल है ।
कर्ता बनकर मरना ही तो, खुद जी का जंजाल है ॥
धूल का ढेर जगत यह सारा, सब ही तो निस्सार है ।
सिद्ध परम पद पाना ही, उपदेश शुद्ध का सार है ॥

- ६ -

मति श्रुत ज्ञान की शुद्धि करना, बुद्धि का यह काम है ।
अब संसार में नहीं रहना है, चलना निज ध्रुव धाम है ॥
ध्रुव तत्त्व की धूम मचाना, करना जय जयकार है ।
सिद्ध परम पद पाना ही, उपदेश शुद्ध का सार है ॥

- ७ -

द्रव्य भाव नोकर्मों से, यह चेतन सदा न्यारा है ।
टंकोत्कीर्ण अप्पा ममल स्वभावी, परमब्रह्म प्रभु प्यारा है ॥
एक अखंड अभेद आत्मा, निज सत्ता स्वीकार है ।
सिद्ध परम पद पाना ही, उपदेश शुद्ध का सार है ॥

- ८ -

निज को जान लिया अब हमने, पर का भ्रम सब टूट गया ।
धर्म कर्म में कोई न साथी, मोह राग सब छूट गया ॥
ज्ञानानंद निजानंद रहना, सहजानंद सुख सार है ।
सिद्ध परम पद पाना ही, उपदेश शुद्ध का सार है ॥

- ९ -

जिनवाणी मां जगा रही है, अब तो हम भी जाग गये ।
निज सत्ता स्वरूप पहिचाना, भ्रम अज्ञान भी भाग गये ॥
दृढ़ निश्चय श्रद्धान यही है, अब न मायाचार है ।
सिद्ध परम पद पाना ही, उपदेश शुद्ध का सार है ॥

- १० -

वीतराग साधु बन करके, आतम ध्यान लगायेंगे ।
चिदानंद चैतन्य प्रभु की, जय जयकार मचायेंगे ॥
मुक्ति श्री का वरण करेंगे, कहते यह शत बार हैं ।
सिद्ध परम पद पाना ही, उपदेश शुद्ध का सार है ॥

दोहा

जन्म-मरण से छूटना, उपदेश शुद्ध का सार ।
जिनवर की यह देशना, करो इसे स्वीकार ॥
छोड़ो भ्रम अज्ञान को, दृढ़ता से लो काम ।
आतम ही परमात्मा, बैठो निज ध्रुव धाम ॥

ॐ नमः सिद्धं

श्री उपदेश शुद्ध सार जी

साधक संजीवनी - टीका

मंगलाचरण

(दोहा)

आतम शुद्धातम ममल, परमातम अविकार ।
सिद्ध स्वरूपी आत्मा, स्वयं समय का सार ॥
जिनवाणी श्रद्धान से, मिट जाते सब क्लेश ।
सम्यक्ज्ञान प्रकाश से, प्रगटे पद परमेश ॥
उपदेश शुद्ध का सार यह, जिनवाणी अनुसार ।
भव्यों के सम्बोधित, दर्शाया गुरु तार ॥
आदिनाथ महावीर तक, तीर्थकर भगवान ।
सबकी है यह देशना, तुम हो सिद्ध समान ॥
ज्ञानानन्द स्वभाव है, सब ही जीव समान ।
द्रव्य दृष्टि धारण करो, पाओ पद निर्वाण ॥

प्रथम - ज्ञान अधिकार

उपदेश शुद्ध सार का मूल आधार और सत्य वस्तु स्वरूप को बताने वाला
मंगलाचरण -

अप्पानं सुद्धप्पानं, परमप्पा विमल निम्मलं सरूवं ।

सिद्ध सरूवं पिच्छदि, नमामिहं देवदेवस्य ॥ १ ॥

अन्वयार्थ - (अप्पानं) आत्मा ही, समस्त जीव आत्मा (सुद्धप्पानं) शुद्धात्मा है (परमप्पा) परमात्मा (विमल) समस्त मल से रहित (निम्मलं) स्वच्छ, निर्मल, पवित्र शुद्ध (सरूवं) स्वरूप है (सिद्ध सरूवं) सिद्ध स्वरूप को (पिच्छदि) पहिचानकर, अनुभूति, श्रद्धान कर (नमामिहं) मैं नमस्कार करता हूँ (देवदेवस्य) देवों के देव परमदेव परमात्मा को ।

विशेषार्थ - आत्मा ही शुद्धात्मा है, यही परमात्मा विमल निर्मल स्वरूपी है, ऐसे सिद्ध स्वरूप को अनुभूतियुत श्रद्धानकर देवों के देव, परम देव परमात्मा, निज सिद्ध स्वरूप को मैं नमस्कार करता हूँ ।

सिद्धांत का सार, उपदेश का शुद्ध सार, अध्यात्म का पूर्ण रहस्य इस मंगलाचरण में भर दिया है । मैं आत्मा, शुद्धात्मा, परमात्मा, विमल, निर्मल, स्वरूपी पूर्ण शुद्ध मुक्त हूँ, ऐसे अपने सिद्ध स्वरूप को पहिचान कर, अनुभूतिकर, देवों के परमदेव, परमात्म स्वरूप निज शुद्धात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ तथा जगत के समस्त जीवात्मा भी स्वभाव से शुद्धात्मा, परमात्मा, विमल, निर्मल स्वरूपी सिद्ध के समान हैं, ऐसा श्रद्धान ज्ञान होना ही शुद्ध दृष्टि है । जिससे समस्त जीवों के प्रति मोह, राग-द्वेष का अभाव होकर समभाव प्रगट होता है ।

इस मंगलाचरण में श्री तारण स्वामी ने शुद्ध निश्चयनय से आत्मा के सत्स्वरूप को प्रगट किया है कि आत्मा निरंजन, निर्विकार, शुद्ध वीतराग, अनंत चतुष्टय का धारी, अरिहंत, सर्वज्ञ परमात्मा तथा सारे कर्म मलादि से रहित है । अशरीरी, अविकारी सिद्ध स्वरूपी परमात्मा है, ऐसे अपने सिद्ध स्वरूप की अनुभूति करता हुआ मैं नमस्कार करता हूँ ।

जैन सिद्धांत में दो नय बताये हैं - व्यवहार नय और निश्चय नय । व्यवहार नय भेदरूप या अशुद्ध रूप वस्तु को बताता है, इससे शुद्धात्मा का बोध नहीं हो सकता । निश्चय नय आत्मा के शुद्ध स्वरूप को बताता है, निश्चयनय से वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है । जब निश्चय नय के द्वारा मनन करते हुए आत्मा आत्मस्थ हो जाता है और स्वानुभव पैदा होता है तब ही सच्चे परमात्म स्वरूप का अनुभव होता है । स्वानुभव ही मोक्षमार्ग है, इसकी साधना से केवलज्ञान का प्रकाश होता है, सिद्ध पद प्रगट होता है ।

तीनकाल और तीनलोक में शुद्ध निश्चय से ज्ञान स्वभावी मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ ऐसी दृष्टि ही आत्म भावना है, मैं ऐसा हूँ तथा सब जीव भी शुद्ध स्वरूपी परमात्मा हैं, द्रव्य दृष्टि से सब जीव सिद्ध समान हैं । मैं स्वयं सिद्ध हूँ, ऐसे आत्मा का अनुभव होना, इसका नाम सम्यक्दर्शन ज्ञान है और अपने सत् स्वरूप में स्थिर होना सम्यक्चारित्र है । निश्चय मोक्षमार्ग तो निर्विकल्प समाधि है । उससे उत्पन्न हुए अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव जिसका लक्षण है ऐसा स्वसंवेदन ज्ञान ही "ज्ञान" है । शास्त्राध्ययन मात्र ज्ञान नहीं ; परन्तु निर्विकल्प स्वसंवेदन ही ज्ञान है । सुखानुभूति मात्र लक्षणरूप स्वसंवेदन ज्ञान से ही आत्मा जानने

योग्य है। वह अन्य प्रकार जानने में आवे ऐसा नहीं है, निर्विकारी स्वसंवेदन ज्ञान से ही जाना जाता है और समस्त आत्मार्य भी अपने स्वसंवेदन ज्ञान से अपने में आप ही जानने में आते हैं, ऐसा ही वस्तु स्वरूप है।

आगम का निरूपण अनंत पुद्गलकर्म, विकारी अशुद्ध पर्याय है। अध्यात्म का निरूपण एक मात्र आत्मा है। दोनों का पूर्ण स्वरूप तो सर्वथा प्रकार से केवली गम्य ही है। सम्यक् मति श्रुत ज्ञान में मात्र अंश ही ग्राह्य है।

अध्यात्म अर्थात् शुद्ध आत्मा, उसका जिसे भान नहीं है, उसे आगम का ही पता नहीं है। द्रव्य, गुण तो अनादि से शुद्ध रूप ही चले आते हैं तथा पर्याय में अनादि से विकार करता आ रहा है, जिसे यह समझ नहीं है वह अध्यात्मी भी नहीं है और आगमी भी नहीं है। ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव भले ही शास्त्राध्ययन द्वारा आगम व अध्यात्म के स्वरूप का उपदेश करे परंतु अंतरंग में उसे उनके मूलभाव का भासन नहीं है तो उसका उपदेश भी यथार्थ नहीं है। जो जीव शुद्ध स्वरूप का अनुभव करता है उसके ज्ञान में सकल पदार्थ प्रकाशित होते हैं।

सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी में वस्तु स्वरूप की ऐसी परिपूर्णता उपदिष्ट हुई है कि प्रत्येक आत्मा अपने स्वभाव से पूर्ण परमेश्वर परमात्मा है, उसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है।

प्रश्न - आत्मा, शुद्धात्मा परमात्मा है, स्वयं सिद्ध है ; परंतु वर्तमान में तो यह संसारी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हो रहा है, यह सब क्या है ?

समाधान - आत्मा स्वभाव से अभी भी सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा है। अपने ऐसे सत् स्वरूप को न जानने के कारण पर्याय से विकारी, संसारी हो रहा है। शुद्ध दृष्टि शुद्ध निश्चय नय से देखें तो यह आत्मा अभी भी अपने स्वरूप से शुद्ध परमात्मा है।

प्रश्न - शुद्ध निश्चय नय क्या कार्यकारी है, जब तक पर्याय में शुद्धि न होवे ?

समाधान - शुद्ध स्वभाव, शुद्ध निश्चय नय के आश्रय से ही पर्याय में शुद्धि होती है, पर्याय के आश्रय से पर्याय कभी शुद्ध हो ही नहीं सकती। जैसे- स्वर्णकार शुद्ध सोने का स्वरूप और उसकी परख जानता है तो कितना ही सुन्दर आभूषण बना हो, वह उसमें शुद्ध सोने की कीमत करता है तथा उसकी पर्याय को गलाकर शुद्ध सोना प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार शुद्ध निश्चयनय के आश्रय से ही पर्याय में शुद्धि आती है।

प्रश्न - अभी संसार में पाप विषय कषाय में रत हैं और मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ, ऐसा कहने से क्या लाभ है ?

समाधान - ऐसा कहने से कोई लाभ नहीं है परन्तु भेदज्ञान पूर्वक ऐसा अनुभव करना कि "मैं आत्मा शुद्धात्मा हूँ" यही सम्यक्दर्शन मुक्ति का मार्ग है और ऐसा अनुभव ज्ञान होने पर यह सब संसार पाप, विषय-कषाय छूट जाते हैं।

प्रश्न - जब आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा है तो ऐसे चक्कर में फंसा क्यों है ?

समाधान - अनादि से अपने सत्स्वरूप को भूला हुआ अज्ञान मिथ्यात्व के कारण इस चक्कर में फंसा है।

प्रश्न - इन सबसे छूटने मुक्त होने का उपाय क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

आद्यं अनादि सुद्धं, उवइट्टं जिनवरेहि सेसानं ।

संसार सरनि विरयं, कम्म षय मुक्ति कारनं सुद्धं ॥ २ ॥

अन्वयार्थ - (आद्यं) आत्मा को (अनादि) जिसका कोई आदि नहीं ऐसे अनादि काल से (सुद्धं) शुद्ध है (उवइट्टं) उपदिष्ट, कहा गया है (जिनवरेहि) जिनेन्द्र परमात्मा ने (सेसानं) शिष्यों को, भव्य जीवों को (संसार सरनि) संसार के परिभ्रमण, जन्म-मरण के चक्र (विरयं) विरक्त होने, छूटने (कम्म षय) कर्मों के क्षय होने (मुक्ति) मुक्त होने, मोक्ष पाने (कारनं सुद्धं) शुद्ध कारण है।

विशेषार्थ - जिनेन्द्र परमात्मा ने समस्त भव्य जीवों को कहा है कि हे भव्य जीवो ! अपने शुद्ध स्वरूप को पहिचानो। आत्मा अनादि से शुद्ध है, चैतन्य स्वरूप शुद्धात्मा में रागादिमल, कर्मादि संयोग न कभी थे, न होंगे, न हैं, न हो सकते। आत्मा परिपूर्ण शुद्ध है ऐसे अपने शुद्ध स्वभाव का सत्य श्रद्धान करो और शुद्ध स्वभाव में रहो, यह शुभाशुभ विकारी भावों को अपना मत मानो, इनमें न रमो। आत्मा मात्र परम पारिणामिक भाव वाला शुद्ध चैतन्य है, इसके श्रद्धान से ही संसार परिभ्रमण जन्म-मरण के चक्र से छूटोगे। इसी के आश्रय अज्ञान जन्य पूर्व कर्म बंधोदय क्षय होंगे। मुक्ति का एक मात्र शुद्ध कारण अपना परम पारिणामिक भाव, सिद्ध स्वरूप, शुद्धात्मा ही है।

संसार परिभ्रमण से छूटने, कर्मों के क्षय होने और मुक्ति की प्राप्ति में शुद्ध कारण निज शुद्धात्मा का श्रद्धान ज्ञान आचरण है।

“आद्यं अनादि सुद्धं” यह आत्मा अनादि काल से शुद्ध है, शुद्ध था और शुद्ध रहेगा। आत्मा ही परमात्मा है, यही ग्रहण करने योग्य है। मोक्ष का उपाय एक शुद्धात्मा का ज्ञान है।

यह आत्मा शब्दों से समझ में नहीं आता, मन से विचार में नहीं आता। शब्द तो क्रम-क्रम से एक-एक गुण व पर्याय को कहते हैं। मन भी क्रम से एक-एक गुण व पर्याय का विचार करता है। आत्मा तो अनंत गुण व पर्यायों का एक अखंड पिंड है, इसका सच्चा बोध तब ही होगा, जब सब शास्त्रीय चर्चाओं को छोड़कर, गुणस्थान व मार्गणाओं के विचार को विराम देकर तथा सर्व कर्म बंध व मोक्ष के उपायों के प्रपंच को त्यागकर, सर्व कामनाओं को दूर करके, पांचों इंद्रियों के विषयों से परे हो करके, मन के द्वारा उठने वाले विचारों से हटकर बिल्कुल असंग होकर अपने ही आत्मा को अपने ही आत्मा द्वारा ग्रहण किया जायेगा, तब अपने शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार होगा। वह आत्म तत्त्व शुद्धात्मा निर्विकल्प है, अभेद है, शुद्ध है, सिद्ध है, इसलिये निर्विकल्प होने से ही आत्मा अनुभव में आता है। जब तक रंच मात्र भी माया, मिथ्या, निदान की शल्य भीतर रहेगी, कोई प्रकार की कामना रहेगी व कोई मिथ्यात्व की गंध रहेगी, तब तक आत्मा का दर्शन नहीं होगा। यही कारण है जो ग्यारह अंग नौ पूर्व के धारी द्रव्यलिंगी मुनि शास्त्रों का ज्ञान रखते हुए, घोर तपश्चरण करते हुए भी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि रहते हैं क्योंकि वे शुद्धात्मा की श्रद्धा, अनुभूति, ज्ञान तथा अनुभव से शून्य हैं। उनके भीतर कोई ऐसी मिथ्यात्वादि की सूक्ष्म शल्य रह जाती है, जिसको केवलज्ञानी ही जानते हैं।

शास्त्रों का ज्ञान आत्मा के स्वरूप को समझने के लिये जरूरी है। जानने के बाद व्यवहार नय का आश्रय छोड़कर शुद्ध निश्चयनय के द्वारा अपने आत्मा का मनन करें। मनन करते समय भी मन आलंबन है। मनन करते-करते जब मनन बंद होगा व उपयोग स्वयं स्थिर हो जायेगा तब स्वानुभव होगा तब ही आत्मा का परमात्म रूप दर्शन होगा व परमानंद का स्वाद आयेगा, अतीन्द्रिय आनंद की अनुभूति होगी फिर “मैं परमात्मा हूँ” ऐसा विकल्प न करते हुए भी परमात्मपने का अनुभव होगा। जिनेन्द्र परमात्मा कहते हैं कि ऐसे शुद्ध आत्मा का सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ही मोक्षमार्ग है। इसी से संसार परिभ्रमण छूटता है, पूर्व कर्म क्षय होते हैं, नवीन कर्मों का आश्रव बंध नहीं होता, यही शुद्ध मुक्ति का कारण है।

मैं सिद्ध के समान परम निश्चल हूँ, योग की चंचलता से रहित हूँ, मन वचन काय के पंद्रह योगों से शून्य हूँ। मैं कर्म तथा नोकर्म का आकर्षण करने वाला नहीं। न मेरे में अजीव तत्त्व है, न आस्रव तत्त्व है, न बंध तत्त्व है, न संवर तत्त्व है, न निर्जरा तत्त्व है न मोक्ष तत्त्व है। मैं तो सदा ही शुद्ध जीवत्व का धारी एक जीव हूँ। सुख, सत्ता, चैतन्य, बोध यह चार ही मेरे निज प्राण हैं, जिनसे मैं सदा जीवित हूँ। इस तरह जो योगी निरंतर अनुभव करता है वही मोक्ष का साधक है।

तीर्थकरों, जिनेन्द्र परमात्मा के द्वारा जो दिव्य ध्वनि प्रगट होती है वही सिद्धांत का मूलस्रोत है, कि मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा ही हूँ। सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव ने जिस आत्मा को ध्रुव कहा है, उसका जो जीव अवलंबन ले उसे उस ध्रुव स्वभाव में से शुद्धता प्रगट होती है, कर्म क्षय होते हैं। ध्रुव स्वभाव को लक्ष्य में लेने से पर्याय में ध्रुव स्वभाव दिखता है और इससे अज्ञान मिथ्यात्व संसार परिभ्रमण छूटता है।

भगवान संत ज्ञानी महापुरुष कहते हैं कि आत्मा में शरीर संसार या रागादि हैं ही नहीं। आत्मा ममल स्वभावी, टंकोत्कीर्ण अप्पा ध्रुवतत्त्व है, सर्व प्रथम ऐसा निर्णय स्वीकार कर निज शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव करना और अपने में दृढ़ अटल रहना ही मुक्ति मार्ग है।

प्रश्न - हम इसके लिये प्रयत्न तो बहुत करते हैं, पूरा जोर लगाते हैं, पर इस स्थिति में रहते नहीं हैं, इसके लिये क्या उपाय है ?

समाधान - बार-बार इसी का चिंतन-मनन अभ्यास करना कि “इस शरीरादि से भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी चेतन तत्त्व भगवान आत्मा हूँ यह शरीरादि मैं नहीं और यह मेरे नहीं।” सबका परिणामन स्वतंत्र अपने में अपने क्रम से चल रहा है, मेरा किसी से कोई संबंध नहीं है। “मैं ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा, सिद्ध स्वरूपी, परमब्रह्म परमात्मा हूँ” बस इस सत्य श्रद्धान पर दृढ़ रहना, फिर कुछ भी कैसा ही होता रहे, किसी से डरना नहीं, किसी की परवाह नहीं करना, किसी को महत्त्व नहीं देना, कुछ भी अच्छा बुरा न मानना, अपने ज्ञान स्वभाव में दृढ़ स्थित रहना ही एक मात्र उपाय है, इससे दृढ़ स्थिति बनती है। अभयपना ही मुक्ति है।

प्रश्न - इतना जानने समझने के बाद भी अभी भय, शल्य, शंकायें होती हैं, पूर्ण अभयपना नहीं हो रहा, इसका क्या कारण है ?

समाधान - अपने ज्ञान श्रद्धान में कचाहट, कमजोरी है। वस्तु स्वरूप पर दृढ़ अटल श्रद्धान विश्वास नहीं हो रहा कि मैं ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा हूँ और एक-एक समय की पर्याय जगत (सब जीव, सब द्रव्यों) का परिणमन त्रिकालवर्ती क्रमबद्ध निश्चित अटल है। जैसा सर्वज्ञ परमात्मा के केवलज्ञान में झलका है वैसा ही सब हुआ, हो रहा है और होगा, इससे अपना कोई संबंध नहीं है। ऐसा सत्श्रद्धान, विश्वास न होने के कारण ही यह भय शल्य शंकायें होती हैं।

प्रश्न - इस कमजोरी कचाहट को दूर करने का क्या उपाय है ?

समाधान - क्षायिक सम्यक्दर्शन और वीतरागता। जब तक यह पूर्ण शुद्ध न होंगे तब तक आंशिक कमजोरी, भयभीतपना रहेगा। इसमें जीव की पात्रता, पुरुषार्थ, होनहार की बात भी गर्भित है। पूर्व कर्म बंधोदय निमित्त भी सहकारी है। इन सब बातों का ज्ञान करके अपना पूरा पुरुषार्थ लगाना, आत्मबल जगाना और अपने ज्ञानानंद निजानंद सहजानंद में रहना, यही सहज उपाय है।

प्रश्न - क्षायिक सम्यक्दर्शन इस काल में होता नहीं है, सामान्य सम्यक्दर्शन भी दुर्लभ है, ऐसा आगम में बताया है, इसके लिये क्या किया जाये ?

समाधान - आगम में किस अपेक्षा क्या कहा है, पहले यह जानना चाहिये, किसी बात को कहीं से सुनकर पढ़कर वैसी धारणा नहीं बनाना चाहिये, उस पर विचार चिन्तन करना चाहिये तथा अपने को देखना चाहिये कि अभी हम कहाँ, किस भूमिका, किस स्थिति में हैं। बिना आत्मज्ञान अनुभव के आगमज्ञान भ्रम पैदा करता है। वर्तमान में जो विषय चल रहा है, जैनागम का सार, जिनेन्द्र परमात्मा के उपदेश का शुद्ध सार क्या है ? इस पर ध्यान रखना चाहिये, रुचि पूर्वक सुनना चाहिये। मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ, ऐसे परमात्म स्वरूप के लक्ष्य से जो जीव सुनता है, उसे सुनते हुए उस जीव को अपने आत्मा परमात्मा का ही लक्ष्य रहता है। उसे चिंतवन में भी ऐसा जोर रहता है कि मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ उस जीव को सम्यक् सन्मुखता रहती है। मन्थन में भी शुद्ध स्वरूप का ही लक्ष्य रहता है, ऐसे जीव को ऐसी लगन लगती है उत्साह बहुमान आता है कि मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ। अंतर में ऐसे दृढ़ संस्कार पड़ जायें कि जो फिर न बदलें, जैसे सम्यक्दर्शन होने पर अप्रतिहत भाव बतलाया है वैसे ही सम्यक् सन्मुखता में ऐसे दृढ़ संस्कार पड़ते हैं कि उस जीव को सम्यक्दर्शन की प्राप्ति निश्चित है और इसी का दृढ़, अटल, श्रद्धान विश्वास क्षायिक सम्यक्दर्शन है।

प्रश्न - उपदेश शुद्ध सार क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

उवएस सुद्ध सारं, सारं संसार सरनि मुक्तस्य ।

सारं तिलोय मइओ, उवइहुं परम जिनवरेदेहि ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ - (उवएस) उपदेश (सुद्ध सारं) शुद्ध सार है (सारं) सार है (संसार सरनि) संसार परिभ्रमण, जन्म मरण के चक्र (मुक्तस्य) मुक्त होना, छूटना (सारं) सार (तिलोय) तीन लोक (मइओ) सहित, श्रेष्ठ (उवइहुं) उपदिष्ट किया, उपदेश दिया (परम जिनवरेदेहि) परम जिनेन्द्र देवों ने।

विशेषार्थ - संसार के परिभ्रमण, जन्म-मरण के चक्र से छूटना, मुक्त होना ही उपदेश शुद्ध सार है। परम जिनेन्द्र परमात्माओं द्वारा उपदिष्ट तीन लोक में सारभूत एक ही बात है कि हे आत्मन्, हे भव्य जीवो ! इस संसार के परिभ्रमण से छूटो, मुक्त होओ। आत्मा शुद्धात्मा, परमात्मा, जिन जिनवर भगवान है।

जिनेन्द्र परमात्मा सर्वज्ञ देव कहते हैं कि आत्मा से शरीर, संसार या रागादि भावों का कोई संबंध है ही नहीं, प्रथम ऐसा निर्णय कर, इनसे मुक्त हो यही उपदेश शुद्ध सार है।

काल का चक्र अनादि से चला आ रहा है। भूत, भविष्य, वर्तमान यह तीन काल हैं। ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, मध्यलोक, यह तीन लोक हैं जिनमें ऊर्ध्वलोक में सोलह स्वर्ग, देवगति के जीवों का निवास स्थान है। अधोलोक में सात नरक हैं, जिनमें नारकी जीव रहते हैं। मध्यलोक में मनुष्य और तिर्यच रहते हैं। इस प्रकार तीन काल, तीन लोक चारगतिरूप संसार परिभ्रमण अनादि अनंत है। इसमें अज्ञानी संसारी जीव अनादि से संसार में पाप-पुण्य को भोगता हुआ भ्रमण कर रहा है।

कभी यह जीव शुद्ध था, फिर अशुद्ध हुआ ऐसा नहीं है। कार्माण और तैजस शरीरों का संयोग अनादि से है, यद्यपि उनमें नये स्कंध मिलते हैं, पुराने स्कंध छूटते हैं इसलिये संसारी जीवों का भ्रमण रूप संसार भी अनादि है तथा यदि इसी तरह जीव कर्म बंध करता हुआ भ्रमण करता रहा तो यह संसार इस मोही अज्ञानी जीव के लिये अनंतकाल तक रहेगा। जीव अपने सच्चे स्वरूप को भूला है और अज्ञान मिथ्यात्व के कारण संसारी बना है, जिससे यह जीव जिस शरीर को पाता है उसमें ही एकत्व मान लेता है। शरीर के जन्म को अपना जन्म,

शरीर के मरण को अपना मरण, शरीर की स्थिति को अपनी स्थिति मान रहा है। शरीर से भिन्न मैं चैतन्य प्रभु हूँ, आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ, यह खबर इसे बिल्कुल नहीं है। कर्मों के उदय से जो भावों में क्रोध, मान, माया, लोभ या राग-द्वेष, मोह होते हैं उन भावों को अपना मानता है, अपने को उनका कर्ता मानता है। इसी तरह पाप-पुण्य के उदय से शरीर की अच्छी या बुरी अवस्था होती है, उसे अपनी ही अच्छी या बुरी अवस्था मान लेता है। जो धन कुटुम्ब, मकान, आभूषण, वस्त्र आदि पर द्रव्य हैं, उनको अपना मान लेता है। इस तरह नाशवंत कर्मोदय की भीतरी व बाहरी अवस्थाओं का अहंकार तथा ममकार करता रहता है। अपने स्वभाव का अपनी सत्ता शक्ति का बोध बिल्कुल नहीं है। जैसे कोई व्यक्ति मदिरा पीकर बावला हो जावे, अपना नाम अपना घर ही भूल जावे वैसे ही यह मोही प्राणी अपने सच्चे स्वरूप को भूला हुआ है। चारों गतियों में जहाँ भी जन्मता है, वहाँ ही अपने को नारकी, तिर्यच, मनुष्य या देव मान लेता है, जो पर्याय क्षणभंगुर नाशवान एक समय की है उसको स्थिर मान लेता है, इस कारण तत्त्व का सत् श्रद्धान नहीं होता है। जिनेन्द्र परमात्माओं की यही देशना है कि इस संसार परिभ्रमण से मुक्त होओ, छूटो यही उपदेश शुद्ध सार है। चारों गतियों में शारीरिक व मानसिक दुःख हैं। सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कथित वस्तु स्वरूप का सम्यक् अवगाहन करना, सांगोपांग समझना ही साधकपना है।

जगत के समस्त जीव सुख की इच्छा करते हैं, परन्तु सुख कहाँ है, क्या है ? इसका विचार नहीं करते, वे दुःख की इच्छा नहीं करते परन्तु दुःख के कारणभूत अज्ञान, मिथ्यात्व आदि में निरंतर संलग्न रहते हैं। सुख का साधन उपाय तो आत्मा का सम्यक्श्रद्धान ज्ञान करके उसमें एकाग्र होना है। आत्मा ही परम सुख, परम शांति, परम आनंद का धाम रत्नत्रयमयी अनंत चतुष्टय का धारी परमात्मा है। चैतन्य स्वभाव सुख से परिपूर्ण है, उसका विश्वास करके उसकी जितनी भावना करें उतना सुख प्रकट हो। पर संयोग की भावना में तो भय, चिंता, दुःख है। अज्ञान व राग-द्वेष से आत्मा को दुःख होता है, उसे चैतन्य स्वभाव का भान व वीतरागता प्रगटकर बचाना ही आत्मा की दया है। आत्मा में होने वाले रागादि भाव ही हिंसा है व उन रागादि भावों की अनुपपत्ति का नाम दया अहिंसा है। जगत में पूर्णता को प्राप्त परमात्मा अनंत हैं। अंतरात्मा साधक जीव भी अनादि से ही हैं तथा बहिरात्मा भी अनादि ही से हैं। जगत में कोई भी पहले या बाद में नहीं हैं, सभी समान रूप से अनादि अनंत हैं। प्रत्येक जीव में परमात्मा, अंतरात्मा,

बहिरात्मापने की शक्ति विद्यमान है। अपने स्वरूप, सत्ता, शक्ति का बोध कर जाग जाना ही हितकारी है। भगवान आत्मा पूर्णानंद से परिपूर्ण स्वभाव है, इस स्वभाव के साधन से ही जीव की मुक्ति होती है। स्वभाव साधन द्वारा ही वह स्वभाव जानने में आता है। रागादिभाव, शरीरादि संयोग से भेद करने पर, स्वभाव का आश्रय लेने से सम्यक्त्व होता है।

भगवान सर्वज्ञ जिनेन्द्र परमात्माओं की दिव्य ध्वनि से निकली हुई वीतराग वाणी, भव्य जीवों के भव का अंत करनेवाली है, जिसे इस बात का विश्वास और प्रतीति है, उस जीव की काललब्धि पक गई है।

संसार के परिभ्रमण से छूटना ही मनुष्य भव की सार्थकता और उपदेश शुद्ध सार है। अनादि कालीन संसार में यह संसारी जीव अनादि से ही मिथ्यादर्शन से अंधा होकर भटक रहा है। मिथ्यादृष्टि संसारासक्त प्राणियों को संसार भ्रमण में दुःख ही दुःख होता है ; इसलिये भव्य जीवों को अपने आत्मा पर करुणा लाना चाहिये, इस बात का विचार करना चाहिये कि अब आत्मा संसार क्लेशों को न सहे, भव वन में न भ्रमे, भवसागर में न डूबे, जन्म, जरा-मरण के घोर क्लेश न सहे, इनसे छुड़ाकर मुक्ति के अतीन्द्रिय आनंद का रसपान कराना, परमानंद में रहते हुए आत्मा से परमात्मा होना ही उपदेश शुद्ध सार है। यही सब संत, महात्मा भगवंतों का उपदेश है।

मैं आतम शुद्धातम हूँ, परमातम सिद्ध समान हूँ।

ज्ञायक ज्ञान स्वभावी चेतन, चिदानन्द भगवान हूँ ॥

अपना भ्रम अज्ञान ही अब तक, बना हुआ संसार है।

सिद्ध परम पद पाना ही, उपदेश शुद्ध का सार है ॥

प्रश्न - संसार परिभ्रमण से छूटने के लिये तो संसार, संयोग, पाप, विषय, कषाय, परिग्रह आदि छोड़ना पड़ेगा। व्रत, नियम, संयम धारण करना पड़ेगा, साधु होंगे तभी मुक्त हो सकते हैं, मात्र विचार करने से क्या होता है ?

समाधान - हमें कहाँ जाना है, क्या होना है ? हम क्या हैं, कौन हैं ? जब तक इस बात का विचार निर्णय न होगा, तो बाहर से यह सब छोड़ने, करने से क्या होगा ? जैसे - एक व्यक्ति बाहर से तैयार होकर झोला लेकर मोटर स्टैंड पर पहुँच गया, प्रत्येक मोटर वाले से वह पूछे कि यह बस कहाँ से आई है, कहाँ जायेगी, कब पहुँचेगी, क्या किराया लगेगा ? सुबह से शाम हो गई, वह झोला

लेकर घूमता ही रहा। स्टैन्ड कन्डेक्टर ने पूछा भाई तुम्हें कहाँ जाना है ? वह बोला - इसका मुझे निर्णय, विचार ही नहीं है। इसी प्रकार हमें कहाँ जाना है, क्या होना है ? इसका विचार निर्णय करना और फिर उस मार्ग पर चलना कार्यकारी है।

सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र मय आत्मा ही निश्चय से एक मोक्ष का मार्ग है, जो कोई अपने आत्मा में अपनी स्थिति करता है, उसी को ध्याता है, उसी का अनुभव करता है, उसमें ही निरंतर विहार करता है, अपने आत्मा के सिवाय अन्य आत्माओं को, सर्व पुद्गलों को, धर्म, अधर्म, आकाश, काल चार अमूर्तीक द्रव्यों को व सर्व ही परभावों को स्पर्श तक नहीं करता, वही निश्चय नित्य उदयरूप समयसार शुद्धात्मा का अनुभव करता है। वास्तव में यह आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है। भेदविज्ञान की शक्ति से अपने आत्मा के साथ जिन-जिन का संयोग है उन-उनको आत्मा से भिन्न विचारकर उनका मोह छोड़ देना ही, परद्रव्य और संयोग का त्याग है।

मोक्ष अपने ही आत्मा का शुद्ध स्वभाव है तथा उसका उपाय भी केवल एक अपने ही शुद्ध आत्मा का ध्यान है। बाह्य क्रिया कर्म इसमें सहकारी साधन नहीं हैं, वह तो उस भूमिकानुसार स्वयमेव होते हैं। सब संयोग और बंधनों से छूट जाना ही मुक्ति है और वह सच्ची समझ सम्यक्ज्ञान पूर्वक ही होती है। इस संसार का परम बीज एक मिथ्यादर्शन है इसलिये मोक्ष के सुख को चाहने वालों को मिथ्यादर्शन का त्याग करना उचित है।

रुचि अनुगामी पुरुषार्थ होता है। मति अनुसार गति होती है। जिसकी मति और रुचि चैतन्य स्वरूप भगवान आत्मा में न होकर राग और पर में होगी, उसे संसार में ही भटकना पड़ेगा।

सिद्ध भगवान में जैसी सर्वज्ञता, जैसी प्रभुता, जैसा अतीन्द्रिय आनंद और जैसा आत्म पुरुषार्थ है वैसी ही सर्वज्ञता प्रभुता आनन्द और आत्म पुरुषार्थ निज आत्मा में है। एक बार इसका स्वाभिमान, बहुमान आ जावे कि मेरा आत्मा ऐसा परमात्म स्वरूप है, ज्ञानानंद शक्ति से भरपूर है। इस उमंग उत्साह से संसार परिभ्रमण छूट जाता है, सारे कर्म क्षय हो जाते हैं।

प्रश्न - यह बात सुनते हैं तब बड़ा आनंद उत्साह आता है, आत्म पुरुषार्थ जागता है, परंतु वह ठहरता नहीं है, जहाँ बाहर की हवा लगी और वह सब विला जाता है, इसका क्या कारण है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

जिनवयनं उवएसं, केई पुरिसस्य मनि रयन वित्थरनं।

मनुवा पंषि अनेयं, चंचु आक्रिनि लेवि सं उडियं ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ - (जिनवयनं) जिनवचन, जिनेन्द्र के वचन, जिनवाणी (उवएसं) उपदेश, सत् शिक्षा, उद्देश्य (केई) कोई (पुरिसस्य) विशेष व्यक्ति, भव्यजीव, पुरुष प्रधान (मनि) मणि, चिंतामणि (रयन) रत्न (वित्थरनं) विस्तार करता है, प्रकाश करता है, संभालकर रखता है (मनुवा) मन (पंषि) पक्षी, पंछी (अनेयं) अनेक, भिन्न-भिन्न, नय विकल्प (चंचु) चोंच (आक्रिनि) आकर्षण, परिणाम, कर्ण, सुनकर (लेवि) लेकर, ग्रहणकर (सं उडियं) उड़ जाता है।

विशेषार्थ - यह जिनवाणी का उपदेश, अपने शुद्धात्म स्वरूप की चर्चा कोई विरले भव्यजीव ही ग्रहण करते हैं। यह आत्म ज्ञानरूपी अमूल्य चिंतामणि रत्न प्राप्त करना और इसे संभाल कर रखना, इसका प्रकाश करना बड़ा दुर्लभ है क्योंकि मन रूपी पक्षी अनेक नय, भेद, विकल्प करता है, सुनने समझने नहीं देता। जरा इधर-उधर कुछ दिखाई दिया, आवाज सुनने में आई इतने में ही लेकर उड़ जाता है।

जिनवाणी का उपदेश मिलना बड़ा कठिन है, कोई विरले पुरुष ही इस अनुपम तत्त्व का लाभ कर पाते हैं। यह अमूल्य चिंतामणि रत्न, आत्मज्ञान का मिलना बड़ा कठिन है और इसका विस्तार करना, संभाल कर रखना मुश्किल है। मन रहित पंचेन्द्रिय तक के प्राणी विचार करने की शक्ति बिना आत्मा-अनात्मा का भेद नहीं जान सकते हैं। सैनी पंचेन्द्रियों में नारकी जीव रात-दिन तीव्र कषायों में लगे रहते हैं, उनमें किसी विरले जीव को ही आत्मज्ञान होता है। पशुओं में भी आत्मज्ञान पाने का साधन दुर्लभ है। देवों में विषय भोग की अति तीव्रता है, किन्हीं को आत्मज्ञान होता है। मानवों के लिये साधन सुगम है तो भी बहुत दुर्लभ है। जिनवाणी को सुनना, समझना, धारण करना कोई विशेष भव्यजीव को ही सुलभ होता है।

अनेक मानव रात-दिन शरीर की क्रिया में ऐसे तल्लीन रहते हैं कि उनको आत्मा की बात सुनने का अवसर ही नहीं मिलता है। जिनको अवसर मिलता है वे भी व्यवहार में इतने फंसे होते हैं कि व्यवहार धर्म के ग्रन्थों को ही पढ़ते सुनते हैं। अनेक बड़े विद्वान पंडित हो जाते हैं। न्याय, व्याकरण, काव्य, पुराण, वैद्यक,

ज्योतिष की पाप-पुण्य बंधक क्रियाओं की विशेष चर्चा करते हैं। अध्यात्म ग्रन्थों की न चर्चा करते हैं, न पढ़ते हैं, न सूक्ष्म दृष्टि रखते हैं। निश्चयनय से अपना ही आत्मा अपना इष्ट आराध्यदेव है, ऐसा दृढ़ विश्वास नहीं कर पाते हैं। अनेक पंडित आत्मज्ञान बिना केवल विद्या के घमंड में व क्रिया कांड के पोषण में ही जन्म गंवा देते हैं। जिनके मिथ्यात्व का व अनंतानुबंधी कषायों का बल ढीला पड़ता है उन्हीं भव्य जीवों को तत्त्वरुचि होती है। जिनके भीतर संसार के मोह जाल से कुछ उदासी होती है वे ही आत्मीक तत्त्व की बातों को ध्यान से सुनते हैं, सुनकर विचार करते हैं, धारण करते हैं। जिनके भीतर गाढ़ रुचि होती है, वे ही निरंतर शुद्ध आत्म तत्त्व का चिन्तन करते हैं। आत्मध्यानी बहुत थोड़े हैं, इनमें भी निर्विकल्प समाधि पाने वाले स्वानुभव करने वाले दुर्लभ हैं।

आत्मज्ञान अमूल्य चिंतामणि रत्न है, मानव जन्म पाकर उसके लाभ का प्रयत्न करना जरूरी है। जिसने आत्मज्ञान की रुचि पाई उसने ही निर्वाण जाने का मार्ग पा लिया, यही सम्यक्दर्शन है। जब बुद्धि सूक्ष्म विचार करने की हो, तब प्रमाद छोड़कर भेदविज्ञान का मनन करें। जैसे पानी और कीचड़ से कमल भिन्न है, वैसे ही यह आत्मा द्रव्य कर्म, भावकर्म और नोकर्म से भिन्न है। बार-बार अभ्यास के बल से सम्यक्दर्शन का प्रकाश होगा, तब अनादि का अज्ञान अंधकार मिटेगा, सम्यक्ज्ञान प्रगट होगा। जन्म-मरण के संकटों को मिटाने वाला, जिनवर कथित यह आत्मज्ञान ही अमूल्य चिंतामणि रत्न है। यद्यपि यह दुर्लभ है तथापि इसी के लिये पुरुषार्थ करना व इसे प्राप्त कर लेना ही मानव जीवन का सार है।

सर्व संसारी प्राणियों को काम भोग संबंधी कथा बहुत सुगम है क्योंकि अनंतबार सुनी है, अनंतबार उनकी पहिचान की है और अनंतबार विषयों का अनुभव किया है। दुर्लभ है तो एक परभाव रहित व अपने एक स्वरूप में तन्मय ऐसे शुद्धात्मा की बात, इसी को प्राप्त होना कठिन है, क्योंकि मनरूपी पक्षी अनेक संकल्प-विकल्प, भेदभाव, भ्रम पैदा करता है, अपने आत्म स्वरूप की ओर बढ़ने नहीं देता, जरा कुछ देखने सुनने में आया कि लेकर उड़ जाता है। यह मन बड़ा चंचल, अस्थिर, चपल है। जब तक यह शांत स्थिर नहीं होता, तब तक अपने आत्म स्वरूप का चिंतन-मनन ध्यान नहीं हो सकता। जैसे-सरोवर का निर्मल पानी जब पवन के द्वारा डांवाडोल होता है, तब उसमें अपना मुख नहीं दिखता, परंतु जब तरंग रहित निश्चल होता है, तब अपना मुख दिख जाता है।

इसी तरह राग-द्वेष, मोह माया रूपी मन की चंचलता मिटते ही अपना आत्मा आपको स्वयं दिख जाता है, आत्मा का अनुभव हो जाता है।

प्रश्न - यह मन क्या है ?

समाधान - मन मनुष्य की विचार करने की शक्ति है, इसके द्वारा मनुष्य नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प करके कर्मों से बंधता है।

प्रश्न - यह मन है क्या, इसका स्वभाव क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

तस्य सहावं उत्तं, नीचं संगेन कुमय उववंनं ।

नीचं चरइ सुचरियं, मनि रयनं विमुक्कियं तंपि ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ - (तस्य) उसके, मन के (सहावं) स्वभाव को (उत्तं) कहते हैं (नीचं) नीच के (संगेन) संग में, संगति से (कुमय) कुमति, खोटी बुद्धि (उववंनं) पैदा होती है (नीचं) नीच के, अशुभ बुरे लोगों के (चरइ) आचरण करने, साथ रहने (सुचरियं) सदाचरण, सत्संग रूपी (मनि रयनं) रत्नत्रय धर्म, चिंतामणि रत्न (विमुक्कियं) छूट जाता है, विला जाता है (तंपि) तत्काल, शीघ्र ही।

विशेषार्थ - मन का स्वभाव चंचल होता है। जैसा निमित्त, संयोग, वातावरण, परिस्थिति मिलती है, मन वैसे ही विचार करने लगता है। नीच संग से कुबुद्धि पैदा होती है, नीच आचरण से सदाचार संयम आत्मज्ञान रूपी चिंतामणि रत्न रत्नत्रय धर्म शीघ्र ही छूट जाता है।

मन मनुष्य की जाग्रत शक्ति है, जिसके द्वारा मनुष्य का वर्तमान जीवन और भविष्य बनता है। पांच इंद्रियों के साथ मन का होना ही संज्ञी पंचेन्द्रियपना कहलाता है, मन पांचों इंद्रियों का राजा कहलाता है। मनुष्य जैसे वातावरण संयोग में रहता है, मन वैसे ही विचार करता है। नीच संगति से कुबुद्धि पैदा होती है, उच्च श्रेष्ठ सत्संग से सुबुद्धि पैदा होती है। मन ही मनुष्य के संसार बंधन का कारण है, मन ही मोक्ष का कारण है। अच्छी संगति से अच्छे व बुरी संगति से बुरे भाव हो जाते हैं।

नीच संगति से कुमति पैदा हो जाती है, कुमति से मनुष्य नीच आचरण करने लगता है, जिससे भले प्रकार से आचरण में लाया हुआ सदाचार संयम और अमूल्य रत्नत्रय धर्म छूट जाता है। जैसे-चील या गिद्ध पक्षी चिंतामणि रत्न लेकर उड़ रहा हो और नीचे गंदी चीज देखता है, तो वह उस चिंतामणि रत्न को छोड़

देता है और गंदी वस्तु को उठा लेता है, इसी प्रकार बड़े प्रयत्न से मनुष्य सत्संग द्वारा वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा जिनेन्द्र देव की वाणी सुनता है, जो रत्नत्रय धर्म अमूल्य चिंतामणि रत्न है, परंतु मन की नीचता, चपलता, चंचलता के कारण उसे छोड़ देता है और संसाराशक्त, विषयाधीन होकर दुर्गति का पात्र बन जाता है।

प्रश्न - मन की ऐसी क्या विशेषता है, जो मनुष्य को पराधीन बनाये है ?

समाधान - मूल में मनुष्य का अज्ञानी मिथ्यादृष्टि होना है जिसके कारण यह शरीर ही मैं हूँ ऐसा मानता है तथा पांचों इंद्रियों के विषय भोगों में लिप्त संसारी कामना, वासना होने से मनुष्य पराधीन रहता है। अज्ञानी मनुष्य आत्मा के सत्स्वरूप को जानता ही नहीं है और मन, माया-मोह से ग्रसित क्षणभंगुर नाशवान विचारों का प्रवाह निरंतर संकल्प-विकल्प करता है, इनमें उलझा मनुष्य पराधीन, चिंतित, भयभीत दुःखी रहता है। मन की यह विशेषता है कि वह मनुष्य को हमेशा घुमाता रहता है, निरंतर सक्रिय रहता है और संकल्प रूप भविष्य की योजनायें बनाता है या विकल्परूप बीती हुई बातों का, कार्यों का विश्लेषण कर राग-द्वेष पैदा करता है। वर्तमान में न जीने देता है, न अपने हित की बात सुनने देता है। यह हमेशा संसार व्यवहार मोह माया में ही घुमाता रहता है।

प्रश्न - मन का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

मनुवा मनुव सहावं, असुह संगेन रयनि मनि मुक्कं ।

जे जान मनुव षिपनं, रयनं मन रूव भेय संकलियं ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ - (मनुवा) मन (मनुव सहावं) मनुष्य का स्वभाव है (असुह संगेन) अशुभ संग से (रयनि मनि मुक्कं) रत्नत्रय मणि रूपी धर्म छूट जाता है (जे) जो, कोई (जान) ज्ञान, बुद्धि पूर्वक (मनुव) मनुष्य (षिपनं) छोड़ देते हैं (रयनं) रत्नत्रय को (मन) मन (रूव) रूप, रूपी पदार्थ (भेय) भय विकल्प (संकलियं) संकलन करना, इकट्ठा करना, नाना प्रकार विचार।

विशेषार्थ - मन मनुष्य का विशेष स्वभाव है। सामान्य मनुष्यों के मन अनेक प्रकार के होते हैं। किसी का निर्बल, किसी का सबल, किसी का भयभीत, कायर प्रमादी, किसी का निर्भय दृढ़ संकल्पवान होता है। अशुभ संग से अमूल्य चिंतामणि रत्नत्रय धर्म छूट जाता है। जो मनुष्य बुद्धि पूर्वक रत्नत्रय धर्म को छोड़

देते हैं, सत्संग से विमुख रहते हैं, उनका मन नाना प्रकार के रूपी पदार्थों संसार शरीर भोगों का भेद विकल्प, विचार करता रहता है, जिससे मनुष्य का जीवन बड़ा अस्त, व्यस्त, त्रस्त रहता है।

मोह माया से ग्रसित, क्षणभंगुर, नाशवान विचारों को मन कहते हैं, यह निरंतर संकल्प-विकल्प करता है। मोहनीय कर्म की पर्याय ही मन है, यही इसका वास्तविक स्वरूप है। मन को अंतःकरण कहते हैं। इसके चार भेद हैं- मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार।

१. विचारों का प्रवाह मन है। २. निर्णय करने वाली बुद्धि है। ३. धारणा शक्ति को चित्त कहते हैं। ४. कषाय की तारतम्यता अहंकार है।

मन संबंधी अठारह दोष -

१. आलस्य, २. अनियमित निद्रा, ३. विशेष आहार, ४. उन्माद प्रकृति, ५. माया प्रपंच, ६. अनियमित काम, ७. अकरणीय विलास, ८. मान, ९. मर्यादा से अधिक काम, १०. आत्म प्रशंसा, ११. तुच्छ वस्तु से आनंद, १२. रस गारव लुब्धता, १३. अति भोग, १४. निष्कारण कमाई, १५. दूसरे का अनिष्ट चाहना, १६. बहुतों का स्नेह, १७. अयोग्य स्थान में जाना, १८. एक भी उत्तम नियम का पालन नहीं करना।

मन के कार्य -

१. विचार, २. संकल्प विकल्प, ३. चंचलता, ४. पंचेन्द्रिय विषय, ५. भय, ६. कामना, ७. भोग, ८. प्रवृत्ति, ९. संसारी प्रपंच में सक्रियता, १०. मोह माया में लिप्त रहना।

साधक से भूल यह होती है कि वह स्वयं परमात्मा में न लगकर अपने मन बुद्धि को परमात्मा में लगाने का अभ्यास करता है, स्वयं परमात्मा में लगे बिना मन बुद्धि को परमात्मा में लगाना कठिन है ; क्योंकि मन बुद्धि कर्मोदय जन्य पर्याय है, इसलिये साधकों की यह व्यापक शिकायत रहती है कि मन बुद्धि परमात्मा में नहीं लगते, यही भ्रम अज्ञान है। मन बुद्धि एकाग्र होने से सिद्धि समाधि आदि तो हो सकती है परंतु कल्याण स्वयं के परमात्मा में लगने से ही होगा। उपयोग का अपने ममल स्वभाव, परमात्म स्वरूप में रहने से ही कर्मों का क्षय होता है, पर्याय शुद्ध होती है। साधक का हर समय ध्रुव तत्त्व की ओर दृष्टि रखना, शुद्ध तत्त्व के सम्मुख रहना ही उपासना है।

जहाँ प्रेम होता है, वहाँ मन लगता है। जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ बुद्धि लगती

है। साधक की श्रद्धा वहीं होती है जिसे वह सर्वश्रेष्ठ इष्ट समझता है। श्रद्धा होने पर वह अपने द्वारा निश्चित किये हुए सिद्धान्त के अनुसार स्वाभाविक जीवन बनाता है और अपने सिद्धान्त से कभी विचलित नहीं होता।

मन को वश में करने, निग्रह करने के दो उपाय हैं -

१. अभ्यास (योग साधना), २. वैराग्य (ज्ञान साधना)।

ज्ञानमार्ग - अध्यात्म उपासना में चिन्तन का कोई आधार न होने से इंद्रियों का सम्यक् संयम हुए बिना (जरा भी आसक्ति रहने पर) मन विषयों में जा सकता है और विषयों का चिन्तन होने से पतन होने की अधिक सम्भावना रहती है। इंद्रियों को केवल बाहर से ही वश में नहीं करना है, प्रत्युत विषयों के प्रति साधक के अंतःकरण में भी राग नहीं रहना चाहिये क्योंकि जब तक विषयों में राग है तब तक स्वरूप स्थिरता नहीं हो सकती। शरीर सहित सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मों में वासना, अहं भाव का अभाव तथा परम पारिणामिक भाव रूप सच्चिदानंद घन परमात्मा में अभिन्न भाव से निरंतर दृढ़ स्थित रहना ही उपासना करना है।

साधक दो प्रकार के होते हैं -

१. जो सत्संग श्रवण और शास्त्राध्ययन के फलस्वरूप साधन में प्रवृत्त होते हैं, उनको अपने साधन में अधिक क्लेश कठिनता होती है।

२. जिसकी साधना में स्वाभाविक रुचि तथा संसार से स्वाभाविक वैराग्य होता है उनको अपने साधन में क्लेश नहीं होता, सहजता रहती है।

साम्प्रदायिकता का पक्षपात बहुत बाधक है, सम्प्रदाय का मोह पूर्वक आग्रह मनुष्य को बांधता है और इससे राग-द्वेष होते हैं।

साधक जब स्वरूप स्थिरता का उद्देश्य रखकर बार-बार स्वरूप स्मरण करता है तब उसके मन में दूसरे अनेक संकल्प भी पैदा होते रहते हैं, अतः साधक को अपने ध्रुवतत्त्व, शुद्धात्मा का लक्ष्य रखना चाहिये, इस प्रकार की दृढ़ धारणा करने से अन्य सब संकल्प-विकल्प बिला जाते हैं।

साधक का यदि प्रारंभ से ही यह दृढ़ निश्चय हो कि मुझे मुक्त होना है, अन्य कुछ भी करना चाहना नहीं है, चाहे लौकिक दृष्टि से कुछ भी बने या बिगड़े अब मुझे संसार से कोई मतलब नहीं है तो उसे बहुत जल्दी स्वरूप स्थिरता हो सकती है। जैसे- भूख सबकी एक सी ही होती है और भोजन करने पर तृप्ति का अनुभव भी सबको एकसा ही होता है परंतु भोजन की रुचि सबकी भिन्न-भिन्न होने के कारण भोज्य पदार्थ भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी तरह साधकों की

रुचि, विश्वास योग्यता के अनुसार साधन भी भिन्न-भिन्न होते हैं, परंतु स्वरूपानंद की अनुभूति तो सबको एक जैसी ही होती है। **इच्छा भोजन जसु उछाह ऐसो सिद्ध स्वभाव। तत्त्व का मनन करने वाले जिस मनुष्य का शरीर के साथ अपनापन नहीं रहा वह मुनि कहलाता है।**

मन को शांत, संयमित रखने के निम्न उपाय हैं -

१. सांसारिक वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, देश काल घटना आदि को लेकर मन में राग और द्वेष पैदा न होने दें।

२. अपने स्वार्थ और अभिमान को लेकर किसी से पक्षपात न करें।

३. मन को सदा दया, क्षमा, उदारता आदि भावों से परिपूर्ण रखें।

४. मन में प्राणी मात्र के हित का भाव हो।

५. जो शरीर के लिये हितकारक एवं नियमित भोजन करने वाला है, सदा एकांत में रहने के स्वभाव वाला है, किसी के पूछने पर कभी कोई हित की उचित बात कह देता है अर्थात् बहुत ही कम बोलता है। जो सोना और घूमना बहुत कम करने वाला है, इस प्रकार जो शास्त्र की मर्यादा के अनुसार खान-पान विहार आदि का सेवन करने वाला है, वह साधक बहुत ही जल्दी चित्त की प्रसन्नता को प्राप्त हो जाता है।

नैतिकवान कुल, धन संपन्नता, निरोग शरीर तथा दीर्घ आयु यह सभी पाकर भी अंतर में उत्तम सरल स्वभाव को पाना दुर्लभ है। परिणामों में तीव्र वक्रता हो, महा संक्लिष्ट परिणाम हों, क्रोध मान माया लोभ की तीव्रता हो, तो धर्म का विचार कैसे हो? विषय कषाय का लम्पटी हो तथा सरल मंद कषाय रूप परिणाम न हों वह तो धर्म पाने योग्य पात्र ही नहीं है। बहुत से जीवों को सरल परिणाम होने पर भी सत्समागम मिलना दुर्लभ है, वीतरागी जिन शासन के तत्त्व को समझाने वाले का सत्समागम मिलना अतिदुर्लभ है। मनुष्य भव की ऐसी दुर्लभता जानकर अब तो चैतन्य आत्मा को ही ध्येय बना लेना योग्य है। मन के अंदर प्रवेश करना ही मंदिर में प्रवेश करना है, जहाँ परमात्मा के दर्शन होते हैं, तभी मन विलय होता है। जिसने निज सत्स्वरूप शुद्धात्मा का लक्ष्य नहीं किया, चैतन्य स्वरूप को ध्येय न बनाकर केवल पर को ही ध्येय बनाया है वह जीव स्व विषय से विमुख होकर पर विषयों में रमता है, जो अमूल्य चिंतामणि रत्न को पाकर व्यर्थ गंवा देता है। जैसा कहा है -

**यह मानुष पर्याय, सुकुल सुनिवो जिनवाणी।
इहि विधि गये न मिले, सुमणि ज्यों उदधि समानी ॥**

सम्यक्दर्शन महारत्न है, शुद्ध आत्मा की निर्विकल्प प्रतीति ही सर्वरत्नों में महारत्न है। लौकिक रत्न तो जड़ है परंतु देह से भिन्न केवल शुद्ध चैतन्य का भान होकर सम्यक्दर्शन प्रगट हो वही महारत्न है।

प्रश्न - इस मन के प्रपंच से छूटकर अपने शुद्धात्म स्वरूप को उपलब्ध करने के लिये क्या करना चाहिये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

जे जे सहाव उत्तं, ते ते अनुभवइ असुह सुह जननं ।

जे केवि न्यान सुद्धं, विन्यानं जानंति अप्प परमप्पं ॥ ७॥

अन्वयार्थ - (जे जे) जो जो (सहाव) स्वभाव (उत्तं) कहे गये हैं (ते ते) वह वह (अनुभवइ) अनुभव करो (असुह) अशुभ (सुह) शुभ (जननं) जानने में आना, पैदा होना (जे) जो (केवि) कोई भी (न्यान) ज्ञान (सुद्धं) शुद्ध (विन्यानं) भेदविज्ञान पूर्वक (जानंति) जानते हैं (अप्प) आत्मा (परमप्पं) परमात्मा है।

विशेषार्थ - मन का जो जो स्वभाव कहा गया है कि वह तो शुभ और अशुभ भाव ही करता है, हमेशा संकल्प-विकल्प ही चलते रहते हैं, वह सब प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। मनुष्य मन के आधीन हमेशा शुभ और अशुभ भावों का ही अनुभव करते हैं। जो कोई भी मानव शुद्ध ज्ञान का धारी है वह भेदविज्ञान के द्वारा जानता है कि आत्मा परमात्मा है, मैं ममल शुद्ध स्वभाव का धारी शुद्धात्मा हूँ, वही इस मन के प्रपंच से छूटकर अपने शुद्ध आत्मा को उपलब्ध होता है।

जगत में मानवों के साधारण रूप से दो प्रकार के स्वभाव देखने में आते हैं या तो उनके तीव्र कषाय के उदय से अशुभ भाव होते हैं या मंद कषाय से शुभ भाव होते हैं।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, अन्याय, अत्याचार, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अशुभ भाव कहलाते हैं, यही अशुभोपयोग पापबंध और दुःख का कारण है। दया, क्षमा, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, संतोष, दान, परोपकार, संयम, तप आदि शुभ भाव कहलाते हैं, यह शुभोपयोग पुण्य बंध और सुख का कारण है। मन जैसे संग और वातावरण में रहता है वैसे ही भाव करता है और मन के आधीन मनुष्य इन्हीं के चक्कर में घूमता रहता है।

जो कोई भी मानव भेदविज्ञान पूर्वक शरीरादि से भिन्न अपने आत्म स्वरूप को जानता है कि मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ, शुद्ध ज्ञान का धारी सिद्ध स्वरूपी

शुद्धात्मा हूँ, वही इस मन के चक्कर से छूटकर शुद्धात्मा को उपलब्ध होकर मुक्ति पाता है।

मन का कार्य संसारी माया मोह भ्रमजाल प्रपंच में फंसा कर चारगति चौरासी लाख योनियों में घुमाना है। जो अज्ञानी जीव अपने सत्स्वरूप को नहीं जानता वह इस मन के चक्कर में घूमता सुखी-दुःखी होता जन्म-मरण करता रहता है। जिनके भीतर शुद्ध आत्मज्ञान का प्रकाश हो गया है वे भेदविज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को परमात्म स्वरूप परमशुद्ध अनुभव करते हैं।

मन के भंवर से छूटने के लिये भेदज्ञान पूर्वक, स्व-पर को जानना चाहिये कि यह शरीरादि नोकर्म, मन आदि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों से भिन्न मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ। यह सब शरीरादि संयोग और मन भी जड़ अचेतन पुद्गल द्रव्य हैं। मैं चेतन अरस अरूपी अस्पर्शी ज्ञानानंद स्वभावी जीवद्रव्य हूँ।

मन को शांत स्थिर करने के लिये वैराग्य भावना, बारह भावनाओं का चिंतवन करना चाहिये क्योंकि मन आगे-पीछे के, संसारी कामना-वासना के संकल्प-विकल्प करता है। अपने आत्म स्वरूप का चिंतवन, वैराग्य भावना करते-करते मन शांत स्थिर होकर आत्मस्थ हो जाता है। प्रथम भूमिका में साधक का उपयोग कुछ क्षण के लिये स्थिर आत्मस्थ होता है, फिर मन सक्रिय होकर संकल्प-विकल्प करने लगता है, इसको शांत समता में ज्ञायक रहकर देखना चाहिये और शुद्ध दृष्टि समभाव में रहना चाहिये। द्रव्य दृष्टि से वस्तु स्वरूप का विचार करना चाहिये।

जब साधक के मन में राग-द्वेष उठ आवे तब वह शांत भाव से क्षणभर के लिये अपने आत्मा में स्थिर होकर आत्मा के शुद्ध स्वभाव की भावना करे।

मेरा शुद्ध स्वभाव, सात तत्त्व नौ पदार्थों के व्यवहार से निराला है। नर, नारक, देव, तिर्यच गति आदि के भीतर कर्मों के उदयवश नाना प्रकार के बनने वाले भेष व उनमें नाना प्रकार काय की, वचन की, मन की संकल्प-विकल्प रूप क्रियायें सब मेरे शुद्धात्म स्वरूप के परिणमन पूर्वक भिन्न हैं, जगत का सर्व व्यवहार मन, वचन, काय तीन योग से व शुभ-अशुभ उपयोग से चलता है। मेरे शुद्ध उपयोग में व निश्चल आत्म प्रदेशों में इनका कोई संयोग नहीं है इसलिये मैं इन सबसे भिन्न निराला हूँ। न मेरा कोई मित्र, बंधु है, न कोई शत्रु है, न मेरे कोई माता-पिता हैं, न मैं किसी का माता-पिता हूँ, न मेरा कोई स्वामी है, न मैं किसी

का स्वामी हूँ, न मैं किसी का सेवक हूँ, न कोई मेरा सेवक है, न मैं किसी का ध्यान करता हूँ, न किसी का पूजन करता हूँ, न किसी को दान देता हूँ, मैं ध्यान, पूजा, दानादि कर्म से भिन्न निराला शुद्ध चैतन्य आत्मा हूँ।

अशुद्ध निश्चय नय से कहे जाने वाले रागादि भावों से, अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से कहे जाने वाले कार्माणादि शरीरों के संबंध से, उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से कहे जाने वाले स्त्री-पुत्रादि चेतन व धन गृहादि अचेतन पदार्थों से मैं भिन्न हूँ। सद्भूत व्यवहारनय से कहे जाने वाले गुण-गुणी के भेदों से भी मैं दूर हूँ। मैं सर्व व्यवहार की रचना से निराला एक परम शुद्ध आत्मा हूँ। ज्ञायक एक प्रकाशमान परम निराकुल, परम वीतरागी अखंड द्रव्य हूँ, मेरे में बंध व मोक्ष की कल्पना भी नहीं है। सदा ही तीन काल में एक अबाधित नित्य परम निर्मल चेतन तत्त्व हूँ। इस तरह मनन करके जो अपने आत्मस्वरूप रत्नत्रय को ग्रहण करके अपने में स्थित हो जाता है, वह मन के चक्र से छूटकर शुद्धात्मा को उपलब्ध होकर निर्वाण का स्वामी हो जाता है।

शरीर और मन के चक्र से छूटने के लिये आवश्यक साधन निम्न हैं -

१. मानित्व का न होना, २. दम्भित्व का न होना, ३. अहिंसा, ४. क्षमा, ५. सरलता, ६. सद्गुरु की सेवा, ७. बाहर भीतर की शुद्धि, ८. स्थिरता और मन का वश में होना, ९. इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य का होना, १०. अहं भाव न होना, ११. जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा रोगों में दुःख रूप दोषों को बार-बार देखना, विचार करना, १२. आसक्ति रहित होना, १३. स्त्री पुत्र घर आदि में घनिष्ठ संबंध (विशेष स्नेह) न होना, १४. अनुकूलता-प्रतिकूलता की प्राप्ति में चित्त का नित्य समरस रहना, १५. शुद्धात्म स्वरूप में अटल दृढ़ श्रद्धा भक्ति होना, १६. एकांत में रहने का स्वभाव होना, १७. जन समुदाय में प्रीति का न होना (जनरंजन राग), १८. अध्यात्म ज्ञान में नित्य निरंतर रहना, १९. तत्त्व ज्ञान के अर्थरूप निज शुद्ध स्वरूप का अनुभव करना, २०. निरंतर शुद्धात्म स्वरूप का स्मरण-ध्यान करना, देखना।

इस प्रकार अपने आप से, अपने आपमें परमात्म तत्त्व का अनुभव करना ही मुक्ति मार्ग है, इसी से शरीर और मन का संबंध छूटता है।

जैसे राग की मंदता मोक्षमार्ग नहीं, जैसे व्यवहार सम्यक्दर्शन मोक्षमार्ग नहीं या मोक्ष का कारण नहीं, वैसे ही उनके साथ प्रवर्तित परसत्तावलम्बी ज्ञान भी न तो मोक्षमार्ग है और न ही मोक्ष का कारण है। स्वसत्ता को अनुभव में लेने

की योग्यता वाला ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। ज्ञानानुभूति, आत्मानुभूति, यही मोक्ष का कारण है।

आत्मा का निर्विकल्प अनुभव करने को तत्पर जीव प्रथम शुद्धनय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, पर द्रव्य की ममता से रहित हूँ, ज्ञान दर्शन से परिपूर्ण, ज्ञायक स्वभावी शुद्धात्मा हूँ ऐसा निश्चय करता है। ऐसे निश्चय में पांच इंद्रियों के विषयों के विकल्प से हटकर मन के विकल्प में आया है परंतु यह मन का विकल्प छोड़ने योग्य है। वह आगे बढ़ता हुआ मन संबंधी विकल्पों का भी शीघ्र वमन कर निर्विकल्प होता है, निजानंद, ज्ञानानंद स्वभाव में डुबकी लगाता है।

सम्यक्ज्ञान के आभूषण रूप परमात्म तत्त्व में मन आदि के विकल्प समूह नहीं है, ऐसे आत्मा को अंतर में पहिचानना, पहिचान कर अनुभूतियुत श्रद्धा करना, इसी का नाम धर्म है। आत्म ध्यान के अतिरिक्त अन्य सब कुछ संसार का मूल है। एक ज्ञान स्वरूप प्रभु को ही ध्येय बनाकर ध्यान करना, इनके सिवाय शेष सब शुभ व अशुभ भाव मन के संकल्प-विकल्प घोर संसार के मूल हैं।

प्रश्न - जब सब शुभाशुभ भाव संसार के मूल हैं तो मुक्ति का कारण क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

रयनं रयन सरूवं, चिंतामनि सुद्ध दंसनं विमलं ।

विन्यान न्यान सुद्धं, चरनं संजुत सहाव तवयरनं ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ - (रयनं) रत्न, बहुमूल्य श्रेष्ठ, इष्ट उपादेय (रयन सरूवं) रत्नत्रय स्वरूप है, सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ही रत्नत्रय स्वरूप है (चिंतामनि) चिंतामणि, अमूल्य रत्न (सुद्ध दंसनं) शुद्ध सम्यक्दर्शन (विमलं) जो विमल, पच्चीस मल दोषों से रहित है (विन्यान) भेदविज्ञान पूर्वक (न्यान सुद्धं) शुद्ध सम्यक्ज्ञान-संशय, विभ्रम, विमोह रहित (चरनं) सम्यक्चारित्र (संजुत) लीन होना (सहाव) स्वभाव में (तवयरनं) तप का आचरण करना, धारण करना।

विशेषार्थ - मुक्ति का कारण-चिंतामणि रत्न के समान अपना रत्नत्रयमयी स्वरूप है। शुद्ध सम्यक्दर्शन, शुद्ध सम्यक्ज्ञान पूर्वक अपने स्वभाव में लीन होना सम्यक्चारित्र है। इन तीनों सहित तपश्चरण करना मुक्ति का कारण है। जगत में लोग चिंतामणि रत्न को बहुमूल्य श्रेष्ठ और इष्ट मानते हैं क्योंकि वह

इच्छा करने मात्र से सब ऐश्वर्य प्राप्त कराता है। इसी प्रकार चिंतामणि रत्न के समान अपना रत्नत्रय स्वरूप है जो भव्यजीवों को वांछित परमानंदमयी परमात्म पद देने वाला है। प्रथम पच्चीस मल दोषों से रहित शुद्ध सम्यक्दर्शन है, दूसरा संशय, विभ्रम, विमोह रहित स्व-पर का भेदविज्ञान करने वाला शुद्ध सम्यक्ज्ञान है, तीसरा सम्यक्चारित्र अपने स्वभाव में लीन होना है, तपश्चरण करना ही मोक्ष सिद्ध पद को देने वाला है।

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीनों की एकता मोक्षमार्ग है तथा तीनों की पूर्णता मोक्ष है। मैं शुद्धात्मा हूँ ऐसा अनुभूतियुत श्रद्धान निश्चय सम्यक्दर्शन है, यही ज्ञान निश्चय सम्यक्ज्ञान है, इसी अपने शुद्ध स्वभाव में लीन रहना निश्चय सम्यक्चारित्र है। एक आत्मानुभव ही निश्चय रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग है।

याचे सुरतरु देय सुख, चिंतित चिंता ऐन।

बिन याचे बिन चिन्तवे, धर्म सकल सुख दैन ॥

जगत में चिंतामणि रत्न मिले या स्वर्ग में रत्नों के ढेर मिलें तो उससे जीव का कुछ भी कल्याण नहीं है, सम्यक्दर्शन रत्न अपूर्व कल्याणकारी है।

मिथ्यात्व दशा में अज्ञानी जीव को कितना ही कुछ मिल जाये, इन्द्र और चक्रवर्ती पद पाने के बाद भी मन की कल्पना, चाह, तृष्णा से जीव निरंतर दुःखी रहता है। सम्यक्दर्शन के बिना संसारी जीव को कितना ही कुछ भी मिले, करे पर उसका मन कभी शांत, तृप्त नहीं होता, हमेशा चाह और तृष्णा की दाह में जलता रहता है, संकल्प-विकल्प करके आकुल-व्याकुल होता रहता है, परंतु अपना रत्नत्रय स्वरूप यह सम्यक्दर्शन रत्न मिलते ही सारे दुःख भय चिंता समाप्त हो जाते हैं। सम्यक्दर्शन रूपी रत्न मिलते ही अट्ठावन लाख योनियों के जन्म-मरण का चक्र छूट जाता है। अंतर रत्नत्रयमयी शुद्ध स्वभाव पर दृष्टि होते ही वह न तो भव को बिगड़ने देती है और न भव को बढ़ने देती है। पूर्व अज्ञान दशा में जो कर्म बांधे हैं, सम्यक्दृष्टि उन कर्मों का ज्ञान स्वभाव की भावना द्वारा नाश कर डालता है। ज्ञानी की दृष्टि तो संसार से छूटने की है अतः वह राग रहित निवृत्त स्वभाव की मुख्य भावना व आदर में सावधानी से प्रवृत्त रहता है। उसका मन भी शांत हो जाता है और कर्म भी क्षय हो जाते हैं।

जब मन का संग सर्वथा छूट जाता है तब स्वभाव की पूर्णता प्राप्त होती है। अंतर्जल्प विकल्प का छूट जाना ही साधक दशा है तथा परमात्म

दशा साध्य है।

आत्मा तथा अन्य तत्त्वों की विपरीत दृष्टि ही संसार का कारण है। राग तो राग है, स्वभाव तो स्वभाव है, निमित्त तो निमित्त है, जो ऐसे स्वतंत्र तत्त्व की रुचि नहीं करता। शुभाशुभ भाव व क्रिया तथा पुण्य से धर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, इसका फल संसार में रुलना है।

जिन्होंने पुरुषार्थ द्वारा मोह का नाश किया है अर्थात् पर की सावधानी, व्यवहार की रुचि छोड़ दी है व ज्ञान मात्र निज स्वभाव की सावधानी रखते हैं वे सिद्ध दशा को पाते हैं। ज्ञान मात्र के सिवाय अन्य किसी उपाय से कल्याण नहीं होता। भगवान आत्मा पूर्णानंद से परिपूर्ण स्वभाव है, इस स्वभाव के साधन से ही जीव की मुक्ति होती है।

सद्गुरु कहते हैं कि तू मन वचन काय की क्रिया को मोक्ष का उपाय मत जान। जहाँ किंचित् भी विकल्प है या कुछ भी पर पदार्थ पर दृष्टि है वह शुभराग है और बंध का कारण है, कर्म की निर्जरा का कारण नहीं है; इसलिये तू सर्व प्रपंच जाल व चिंता छोड़कर निश्चल होकर एक अपने ही आत्मा की तरफ लौ लगा, उसी का ध्यानकर, उसी का मनन कर, उसी में लीन रह। एक शुद्ध आत्मा के अनुभव से उत्पन्न ज्ञानानंद रस का पानकर, व्यवहार चारित्र को व्यवहार मात्र समझ, बिना निश्चय चारित्र के उसका कोई लाभ मोक्षमार्ग में नहीं है। व्यवहार मुनि या श्रावक का संयम ठीक-ठीक शास्त्रानुसार पालकर भी यह अहंकार मत कर कि मैं मुनि हूँ, मैं क्षुल्लक हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं धर्मात्मा श्रावक हूँ। व्यवहार क्रिया आचरण से धर्म या मुक्ति मानना ठीक नहीं है। शुद्धात्मानुभव ही मुनिपना है, वही श्रावकपना है, वही जिनधर्म है, ऐसा समझकर ज्ञानी को शरीराश्रित क्रिया में अहंकार नहीं करना चाहिये। जो निश्चय नय की प्रधानता से अपने को सिद्ध भगवान के समान शुद्ध, त्रिकाल के सर्व कर्म रहित, विकल्प रहित, मतिज्ञानादि रहित, एक सहज केवलज्ञान स्वरूप, आनंद, परमानंद स्वरूप मानकर सर्व अन्य भावों से उदास हो जाता है वही मुक्ति मार्ग का पथिक है।

आत्मा को आत्मा के द्वारा ग्रहण कर जो निश्चल होकर आत्मा का अनुभव करता है वही आत्मा का दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप करता हुआ कर्म की निर्जरा कर शीघ्र मोक्ष नगर में पहुँच जाता है।

प्रश्न - यह मन तो बीच में बहुत बाधा डालता है, इसके लिये क्या किया जाये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

मनुवा मन उववन्नं, मन सहकारेन दुग्गए पत्तं ।

मनु विलयं ससहावं, ग्रहनं उववन्न चयना जुत्तं ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ - (मनुवा) मन से, चाह से (मन उववन्नं) मन पैदा होता है (मन सहकारेन) मन का सहकार करने, मन के आधीन रहने से (दुग्गए पत्तं) दुर्गति का पात्र, दुर्गति में पतन होता है (मनु विलयं) मन विला जाता है, लीन होना (ससहावं) स्व स्वभाव में रहने से (ग्रहनं) ग्रहण करने (उववन्न) प्रगट होना, पैदा होना (चयना) चेतना (जुत्तं) युक्त होने, लीन रहने ।

विशेषार्थ - मन की चाह से मन पैदा होता है, मन के आधीन मनुष्य महान पाप बांधकर दुर्गति का पात्र बनता है । जो जीव अपने स्व स्वभाव शुद्धात्मा को ग्रहण करता है, अनुभूति करता है, अपने चैतन्य स्वरूप में लीन रहता है उसका मन विला जाता है ।

जो संकल्प-विकल्प करे, तर्क-वितर्क करे, कार्य-कारण का विचार करे, शिक्षा उपदेश समझ सके उसको ही मन कहते हैं । हर एक मनुष्य को मन होता है, जिन जीवों को निज शुद्धात्मानुभूति स्व स्वरूप का ज्ञान नहीं होता वे बहिरात्मा जीव मन के आधीन संसार शरीर भोगों में ही लिप्त रहते हैं । उनका मन इतना नीच हो जाता है जिससे वे दूसरों का अहित करके अपना भला चाहते हैं, मन से दूसरों का अहित ही सोचा करते हैं, दूसरों की बढ़ती देखकर ईर्ष्या भाव करते हैं, ऐसे मनुष्य मन के अशुभ विचारों से ही पाप बांध करके दुर्गति चले जाते हैं ।

मन के आधीन मनुष्य में दम्भ करना, घमंड करना, क्रोध करना, ईर्ष्या द्वेष रखना, कठोरता होना और अविवेक का होना यह दुर्गुण रहते हैं । मन से मन पैदा होता है, धन से धन पैदा होता है, तन से तन पैदा होता है, कन (धान्य) से कन पैदा होता है, यह प्रकृति का नियम है ।

मन पांचों इन्द्रियों का राजा है, शरीर इसका सेनापति है, मोहनीय कर्म की अट्टाईस प्रकृति-३ मिथ्यात्व और २५ कषाय, इसकी सेना है । माया इसकी पत्नी रानी है जो कंचन, कामिनी, कीर्तिरूप से जीव को संसार में भटकाती है । जब तक मोहनीय कर्म अथवा राग है तब तक मन सक्रिय जीवित रहता है ।

भेदज्ञान सम्यक्दर्शन होने पर शरीर और मन से जीव को अपने स्वरूप की भिन्नता भासित होती है । वीतरागता होने पर मन शांत होता है । केवलज्ञान

होने पर मन विला जाता है । ग्यारहवें गुणस्थान तक मन अपना काम करता है । मोहनीय कर्म के क्षय होने पर ही मन विलाता है । जीव को अपने परमात्म स्वरूप का बोध होने पर मन से भिन्नता का भान होता है । अपने चैतन्य स्वरूप ध्रुव तत्त्व शुद्धात्मा में लीन रहने पर मन विला जाता है । केवलज्ञान में ही मन का विलय है, जब तक केवलज्ञान नहीं होता तब तक मन की सक्रियता रहती है और वह जीव को भ्रमाती, घुमाती भयभीत करती रहती है । जिस जीव को अपने स्वरूप का बोध नहीं है वह मन के आधीन दुर्गति ही भोगता है । मन मनुष्य को न जीने देता है, न मरने देता है, बीच में लटका कर बड़ी दुर्दशा, दुर्गति करता है । भय, चिंता, दुःख, संकल्प-विकल्प यह सब मन में होते हैं, मन ही करता है, अज्ञानी जीव को अपने स्वरूप का बोध न होने से इसमें ही एकमेक रहता अपने को भयभीत चिंतित दुःखी मानता है जबकि यह जीव स्वयं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा है । जैसे - स्फटिक मणि में जैसी डाक लगती है वैसी ही दिखाई देती है, परंतु वह तो बिल्कुल श्वेत शुद्ध स्वच्छ है । इसी प्रकार मन और उपयोग की संधि और भिन्नता है । अंतः करण मन की जैसी स्थिति होती है वैसा अज्ञानी जीव अपने को मानने लगता है, पर वास्तव में वह वैसा है नहीं । आत्मा तो शुद्ध ममल स्वभावी शुद्धात्मा परमात्मा है और मन कर्मोदय जन्य पर्याय है । जो जीव भेदज्ञान पूर्वक शरीरादि और मन से अपने को भिन्न जानता है, वह शुद्धोपयोग की साधना करके मन से छूट जाता है, पूर्ण ज्ञान शुद्धोपयोग होने पर मन विला जाता है ।

प्रश्न - एकेन्द्रिय से असेनी पंचेन्द्रिय तक मन नहीं होता फिर वहाँ तो यह जीव ऐसी दुर्गति नहीं भोगता होगा क्योंकि मन के द्वारा ही ऐसी दुर्दशा होती है ?

समाधान - एकेन्द्रिय से असेनी पंचेन्द्रिय तक मन नहीं होता, वहाँ तो यह जीव घोर मूर्च्छा में बिल्कुल ही अचेत रहता है । एकेन्द्रिय से असेनी पंचेन्द्रिय तक के जीवों की क्या दुर्दशा, दुर्गति होती है, यह तो प्रत्यक्ष सामने है । एकेन्द्रिय स्थावर काय-पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति और निगोदिया जीवों की क्या दुर्दशा, दुर्गति होती है, अनुभव प्रमाण है । दो इन्द्रिय-इल्ली, केंचुआ, लट आदि । तीन इन्द्रिय-चींटी, खटमल, जूँ आदि । चार इन्द्रिय-मच्छर, मकखी आदि और असेनी पंचेन्द्रिय में, पानी का सांप और कुछ पक्षी इनकी क्या स्थिति है यह तो अनुभव गम्य है । वहाँ तो तीव्र मिथ्यात्व से बिल्कुल मूर्च्छित दशा है, वहाँ तो घोर दुर्गति दुर्दशा ही है ।

प्रश्न - यह मन तो बड़ा खतरनाक है, जब इसके द्वारा ऐसी दुर्दशा दुर्गति कर्मबंध होते हैं तो ऐसे मन होने से क्या फायदा है ?

समाधान - मन ही मनुष्य की विशेषता है - “मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः” । मन होने पर ही मनुष्य को अच्छे-बुरे, हित-अहित का विचार होता है । मन के द्वारा ही नवीन कर्मों का बंध होता है, मन के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । जीव की अज्ञान दशा में मन बंध का कारण है । ज्ञान दशा में मन के द्वारा मनन करके मुक्ति की प्राप्ति होती है । यह बात मनुष्य के विवेक पर आधारित है कि वह स्वाध्याय, सत्संग, संयम द्वारा मन का सदुपयोग कर ले । मन के द्वारा ही मनन-चिंतन विचार किया जाता है । अब जिस धारा में प्रवाह होगा, वैसा ही कार्य होगा । कुसंग द्वारा संसार परिभ्रमण होगा, सत्संग द्वारा मुक्ति होती है ।

प्रश्न - जब मन के द्वारा सब कार्य होता है, फिर जीव की क्या विशेषता है ?

समाधान - संसार में अज्ञान दशा में मन की सत्ता शक्ति काम करती है । मन के आधीन जीव दुर्गति भोगता है, परंतु जब जीव जाग जाता है तब उसे स्व सत्ता शक्ति का बोध हो जाता है । सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान होने पर मन कुछ नहीं कर सकता फिर मन की नहीं चलती है, आत्मा परमात्मा की चलती है । मन कर्मोदय जन्य पर्याय है क्षणभंगुर नाशवान अचेतन है । जीव अज्ञान दशा में मिथ्यादृष्टि रहता है, तब तक ही मन की चलती है, मन के आधीन रहता है । सम्यक्दर्शन, ज्ञान होने से जीव स्वयं परमात्मा हो जाता है । चेतनशक्ति से ही मन सक्रिय रहता है, वैसे स्वरूप में रहने पर मन की कोई सत्ता अस्तित्व नहीं है, यही जीव की विशेषता है ।

मानव वही पास जिसके कि मन है, मन पर कि क्या है ? यह वह विधाता ।

सहकार पाकर कि जिसका निसंशय, मानव महा नर्क में ठौर पाता ॥

पर जो पुरुष पूर्ण पुरुषार्थ मय हैं, निस्तेज अपने मन वे बनाते ।

चैतन्य में ही कि लवलीन हों वे, परमात्मा की परम ज्योति पाते ॥

प्रश्न - वास्तव में यह मन है क्या और क्या-क्या करता है ?

समाधान - यह मन कर्मोदय जन्य पर्याय है और अंतःकरण रूप में जीव के सामने चलता है, बाहर कुछ दिखाई नहीं देता, भीतर ही भीतर लहरें चलती हैं । जैसे- टी.वी. में कुछ नहीं है, सब लहरें, हवायें आती हैं और वह उसमें

दिखाई देती हैं, जो भी जिस तरह का कार्यक्रम होता है वैसा ही सब दिखता है, इसी प्रकार जैसे कर्मोदय निमित्त संयोग होते हैं, मिलते हैं वैसी ही मन रूपी लहरें चलने लगती हैं और उपयोग के सामने जीव को दिखाई देने लगती हैं । मन, माया मोह के द्वारा भयभीत भ्रमित बेहोश करता है । संकल्प-विकल्प से दुःखी, चिंतित, मदहोश करता है । इष्ट-अनिष्ट मानना, सुखी-दुःखी, संतुष्ट-असंतुष्ट रहना, निडर निर्भय रहना, भयभीत रहना, शल्य विकल्प करना सब मन के काम हैं । जिसने भेदज्ञान, तत्त्व निर्णय द्वारा वस्तु स्वरूप जान लिया वह ज्ञानी इससे भिन्न निर्विकारी न्यारा ज्ञायक रहता है । अज्ञानी एकमेक हुआ अपने को ऐसा ही मानता है । यह मन हवा, लहरें, तूफान, सम-विषम, उद्वेग रूप से चलता है ।

प्रश्न - सम्यक्दृष्टि ज्ञानी को भी मन बीच में बाधा डालता है ?

समाधान - सम्यक्दृष्टि ज्ञानी को प्रथम भूमिका अव्रती और व्रती दशा तक ही मन बाधा डालता है । वीतरागी महाव्रती साधु होने पर फिर मन कुछ नहीं करता, शांत शून्य हो जाता है, वैसे ग्यारहवें गुणस्थान तक मन की सत्ता है । क्षायिक सम्यक्दर्शन होने पर क्षय होने लगता है और केवलज्ञान होने पर मन विला जाता है । ज्ञानी मन को जीत लेता है फिर मन बाधा नहीं डाल पाता ।

प्रश्न - इस मन की इतनी सत्ता शक्ति क्यों है ?

समाधान - अनादि से जीव के साथ मोहनीय कर्म का निमित्त-नैमित्तिक संयोग संबंध है । उसकी सत्ता शक्ति के अनुसार ही वर्तमान में सारा परिणामन चल रहा है । द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म सब इसके सहयोगी साथी इसी के आधीन चलते हैं । अनादि से अज्ञानी जीव, मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियों के आधीन मिथ्यादृष्टि बना संसार में रूल रहा है । इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम होने पर ही जीव को अपने स्वरूप का बोध सम्यक्दर्शन होता है । अब जो जीव जाग जाता है, जिसे निज शुद्धात्म स्वरूप का अनुभूतियुत भेदज्ञान, तत्त्व निर्णय हो जाता है वह अपनी सत्ता शक्ति जगाकर पुरुषार्थ पूर्वक इन कर्मों को निर्जरित क्षय करता हुआ आगे बढ़ता है । पूर्ण परमात्मा केवलज्ञान होने पर यह कर्म क्षय हो जाते हैं तभी मन विलाता है क्योंकि मन ही मोहनीय कर्म की पर्याय है ।

प्रश्न - जब आत्मा त्रिकाल शुद्ध, सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा, परमात्मा है और प्रत्येक जीव का यह सत्स्वरूप है फिर यह सब चक्कर क्या है और क्यों है ?

समाधान - आत्मा स्वभाव से त्रिकाल शुद्ध, सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा है तथा सर्व जीव स्वभाव से सिद्ध, शुद्ध, मुक्त हैं परन्तु अनादि से अपने स्वरूप को भूले सभी जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा हैं। शरीरादि संयोग में, मैं, मेरापना और कर्ता बनकर इस चक्कर में फंसे हैं। जो जीव अपने सत्स्वरूप शुद्ध स्वभाव को जान लेता है, वह सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान सम्यक्चारित्र द्वारा आत्मा से परमात्मा हो जाता है।

प्रश्न - मुक्त होने के लिये जीव को क्या करना चाहिये ?

समाधान - मुक्त होने के लिये जीव को सबसे पहले भेदज्ञान पूर्वक अनुभूतियुत यह श्रद्धान करना चाहिये कि मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ, यह शरीरादि मैं नहीं हूँ और यह मेरे नहीं हैं, मैं एक अखंड अविनाशी चेतन तत्त्व भगवान आत्मा हूँ। इसके बाद तत्त्व निर्णय करके कि जिस समय जिस जीव का जिस द्रव्य का जैसा जो कुछ होना है वह अपनी तत्समय की योग्यतानुसार हो रहा है और होगा उसे कोई भी टाल फेर बदल सकता नहीं है तथा मैं ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा हूँ और यह एक-एक समय की पर्याय व जगत का त्रिकालवर्ती परिणमन क्रमबद्ध निश्चित अटल है, जब जैसा जो कुछ होना है, हो रहा है और होगा इससे मेरा कोई संबंध नहीं है, ऐसा अनुभूतियुत निर्णय ही सम्यक्ज्ञान है इससे अपनत्व, कर्तृत्व मिट जाता है, इसके बाद अपने स्वभाव की साधना करके मुक्त हुआ जाता है।

प्रश्न - फिर इसमें बाह्य संयोग, शरीरादि क्रिया कर्म और मन का क्या होता है ?

समाधान - यह सब बाह्य संयोग शरीरादि क्रिया कर्म और मन जीव की पात्रता पुरुषार्थ के अनुसार अपने आप छूटते जाते हैं। भेदज्ञान तत्त्व निर्णय पूर्वक वस्तु स्वरूप को जान लेना प्रमुख है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान होने पर यह सब अपने आप छूटने लगते हैं। इसी साधना का क्रम इस उपदेश शुद्ध सार ग्रन्थ में दिया गया है कि साधक किस क्रम से, किस विधि से, किस साधना से सिद्ध पद पाता है। उपदेश शुद्ध सार का मूल विषय "आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ" इसको स्वीकार करके मन और कर्मोदय संयोग से छूटना, संसार परिभ्रमण से मुक्त होना ही जिनेन्द्र कथित सारभूत बात है।

प्रश्न - इसका क्रम क्या है ? इसमें सबसे पहले क्या जानना, समझना आवश्यक है ?

समाधान - सबसे पहले सच्चे देव, सच्चे गुरु, सच्चे धर्म और सच्चे शास्त्र के स्वरूप को जानना आवश्यक है। इनका सत् श्रद्धान होने पर अपने सत्स्वरूप का बोध होता है।

प्रश्न - सच्चे देव का स्वरूप क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

देवं ऊर्ध्व सहावं, ऊर्ध्व स सहाव विगत अधुवं च ।

विगतं कुन्यान सहावं, न्यान सहावेन उवएसनं देवं ॥१०॥

अन्वयार्थ - (देवं) देव का (ऊर्ध्व सहावं) ऊर्ध्वगामी स्वभाव होता है, श्रेष्ठ स्वभाव, शुद्ध स्वभाव (ऊर्ध्व स सहाव) ऊर्ध्वगामी स्वभाव है (विगत) रहित, छूटा हुआ, मुक्त (अधुवं च) अध्रुवता, अनित्यता (विगतं) रहित, छूटा हुआ, मुक्त (कुन्यान सहावं) कुज्ञान स्वभाव से (न्यान सहावेन) जो ज्ञान स्वभावी है (उवएसनं) कहते हैं (देवं) देव।

विशेषार्थ - सच्चे देव का स्वरूप - श्रेष्ठ शुद्ध ऊर्ध्वगामी स्वभाव वाला अध्रुवता से रहित, कुज्ञान भाव से रहित, जो मात्र ज्ञान स्वभाव केवलज्ञानी है उसे देव कहते हैं और ऐसा श्रेष्ठ ऊर्ध्वगामी स्व स्वभाव शुद्धात्मा है।

सर्वज्ञ हितोपदेशी वीतरागी केवलज्ञानी अरिहंत परमात्मा को देव कहते हैं। सच्चे देव का स्वरूप शुद्ध स्वभावी, अध्रुवता से रहित ध्रुव शाश्वत, कुज्ञान भाव से रहित केवलज्ञान मयी वीतरागी परमानंद मयी परमात्मा होता है। निश्चय से स्व स्वभाव शुद्धात्मा ही सच्चा देव है, व्यवहार से अरिहंत सर्वज्ञ केवलज्ञानी परमात्मा महावीर आदि तीर्थंकर सच्चे देव हैं। सिद्ध परमात्मा परम देव हैं।

सच्चा देव निश्चय से निज शुद्धात्मा है, जिसके आश्रय साधना आराधना करने से कर्मों का क्षय, पर्याय में शुद्धि होकर निज परमात्म स्वरूप प्रगट होता है। व्यवहार से वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी केवलज्ञानी, अरिहंत परमात्मा भगवान महावीर आदि सच्चे देव हैं, जिनके द्वारा अपने सत्स्वरूप शुद्धात्मा का बोध होता है, सत्य वस्तु स्वरूप जानने में आता है, जिससे जीव का अज्ञान भ्रम दूर होकर सत्यधर्म का प्रकाश होता है, ऐसे सच्चे देव का श्रद्धान, आराधन, वन्दना भक्ति करने से परिणामों में निर्मलता होने से सम्यक्दर्शन का प्रकाश होता है।

प्रश्न - सच्चे देव के स्वरूप को जानने से प्रयोजन क्या है ?

समाधान - सच्चे देव के स्वरूप को जानने से अपने सत्स्वरूप शुद्धात्मा का बोध होता है। सच्चे देव-सिद्ध भगवान पूर्ण ज्ञानी हैं, परम वीतरागी हैं, अतीन्द्रिय सुख के सागर हैं, अनंत वीर्यधारी हैं। जड़ संग रहित अमूर्तीक हैं, सर्व कर्म मल रहित निर्मल हैं, अपनी ही स्वाभाविक परिणति के कर्ता हैं, परमानंद के भोक्ता हैं, परम कृत कृत्य हैं, ऐसे देव को ही सिद्ध परमेश्वर शिव परमात्मा, परमदेव भगवान आदि कहते हैं, वे एकाकी आत्मारूप हैं। जैसे सिद्ध परमात्मा हैं वैसे ही स्वभाव से प्रत्येक जीव आत्मा है। ऐसे अनंत जीव आत्मा अपने सत्स्वरूप का श्रद्धान ज्ञान कर परम देव परमात्मा हो गये। सिद्ध परमात्मा अनंत हैं, ऐसे सच्चे देव के स्वरूप को जानकर जो जीव अपने शुद्धात्मा का अनुभव पूर्वक ध्यान करता है। मुनि पद में अंतर-बाहर निर्ग्रन्थ होकर पहले धर्मध्यान फिर शुक्ल ध्यान को ध्याता है, वह शुक्ल ध्यान के प्रताप से पहले अरिहंत होता है फिर सर्व कर्ममल जलाकर सिद्ध होता है। ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग में जाकर सिद्ध आत्मा ठहरता है इसलिये सच्चे देव के स्वरूप को जानने से अपने स्वरूप का बोध होकर परमात्म पद की प्राप्ति होती है।

प्रश्न - सच्चे देव के स्वरूप को जानने से भला होता है या सच्चे देव की पूजा वंदना, भक्ति आराधना करने से भला होता है ?

समाधान - सच्चे देव के स्वरूप को जानने से अपने सत्स्वरूप का बोध होता है, जिससे स्वयं देव परमात्मा हो सकते हैं। पूजा, वंदना आदि से पुण्य बंध होता है जो संसार का ही कारण है।

प्रश्न - सच्चे देव परमात्मा की और क्या विशेषता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

उवएस नंतनंतं, नंत चतुष्ट सुदिस्टि विमलं च ।

मलं सुभाव न दिट्ठं, विमल दिट्ठि च देइ अषयं च ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ - (उवएस) उपदेश (नंतनंतं) जीवादि अनंत पदार्थ (नंत चतुष्ट) अनंत चतुष्टय-अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य (सुदिस्टि विमलं च) उनके निर्मल क्षायिक सम्यक्दर्शन है (मलं सुभाव न दिट्ठं) कोई रागादि से मलिन स्वभाव उनमें नहीं दिखता, पूर्ण वीतरागी ममल स्वभावी होते हैं (विमल दिट्ठि) विमल दृष्टि, क्षायिक सम्यक्दर्शन (च) और (देइ अषयं च) अक्षय पद देते हैं, प्राप्त कराते हैं।

विशेषार्थ - सच्चे देव परमात्मा की महिमा अपार है वे परमानंद मयी हैं, उनके क्षायिक सम्यक्दर्शन के प्रभाव से अनंत चतुष्टय-अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य प्रगट हो गया है। उनकी दिव्य ध्वनि से जगत के जीवादि समस्त पदार्थों के सत्स्वरूप का उपदेश होता है। वे परम वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा हैं, उनके एक समय के केवलज्ञान की पर्याय में तीन काल और तीन लोक के समस्त द्रव्यों का त्रिकालवर्ती परिणमन प्रत्यक्ष झलकता है। उनके प्रति सच्ची श्रद्धा, भक्ति होने से क्षायिक सम्यक्दर्शन और अक्षय पद की प्राप्ति होती है।

जिसने अपने आत्मा को आत्मारूप और पर पदार्थ को पररूप जाना है तथा इस भेदविज्ञान से अक्षय व अनंत केवलज्ञान का लाभ किया है, वही सच्चा देव परमात्मा है। उसके अनंत चतुष्टय प्रगट हो जाते हैं तथा सर्वज्ञता प्रगट होती है, जिससे लोकालोक प्रकाशित होता है और जगत का त्रिकालवर्ती परिणमन उनके केवलज्ञान की एक समय की पर्याय में झलकता है। ऐसे सर्वज्ञ स्वभावी केवलज्ञानी परमात्मा के स्वरूप का जो जीव श्रद्धान करता है और अपने आत्म स्वभाव को भी ऐसा ही अनुभव करता है उसको क्षायिक सम्यक्दर्शन और अक्षय पद की प्राप्ति होती है।

ऐसे परमदेव के स्वभाव की अनुमोदना करने से स्वयं में केवलज्ञान प्रगट होता है इसको आगे गाथा में स्पष्ट करते हैं -

परम देव सुभावं, अन्मोयं देइ न्यान सहकारं ।

न्यानेन न्यान त्रिधं, जं श्रुति त्रिधंति मच्छ अंडानं ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ - (परम देव सुभावं) परम देव के स्वभाव का (अन्मोयं) अनुमोदन करना, आलम्बन करना, आश्रय करना (देइ न्यान) ज्ञान प्रगट होता है (सहकारं) सहयोग, स्वीकार करने से (न्यानेन न्यान त्रिधं) ज्ञान से ज्ञान बढ़ता है अर्थात् केवलज्ञान प्रगट होता है (जं श्रुति) जैसे सुरत रखने से (त्रिधंति) बढ़ते हैं (मच्छ अंडानं) मछली के अंडे। यह लौकिक विशेषता है कि मछली नदी के किनारे रेत में अंडे देकर पानी में चली जाती है, परंतु उनकी सुरत रखती है जिससे वह अंडे अपने आप बढ़ते हैं यदि मछली उनकी सुरत भूल जाये तो अंडे गल जाते हैं।

विशेषार्थ - परमदेव परमात्म स्वभाव की अनुमोदना करने, स्वीकार

करने से आत्मज्ञान प्रगट होता है। आत्मा-अनात्मा का भेदविज्ञान पैदा होता है, जिससे निज शुद्धात्मानुभूति होकर सम्यक्ज्ञान का प्रकाश हो जाता है और यही आत्मज्ञान बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान हो जाता है। जैसे-दूज का चन्द्रमा नित्य बढ़ते-बढ़ते पूर्णमासी का चंद्रमा हो जाता है, वैसे यही ज्ञान केवलज्ञान मय स्वयं परमात्मा हो जाता है। जैसे- मछली अपने अंडों की सुरत रखती है तो वह अपने आप बढ़ते हैं, वैसे ही आत्मज्ञान की स्मृति से परमात्म स्वरूप के बोध से केवलज्ञान प्रगट होता है।

आत्मज्ञान सहित आत्मध्यान से ही मुक्ति होती है। जो कोई भव्यजीव अपने परमात्म स्वरूप को एकाग्रमन होकर ध्याता है, वह शीघ्र ही कर्मों से रहित सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा हो जाता है।

कर्म प्रकृति में स्थित अज्ञानी जीव ही कर्मोदय जन्य पर्याय का भोक्ता बनता है और पर्याय का संग ही उसको ऊँच-नीच योनियों में जन्म लेने का कारण बनता है।

जो जीव संपूर्ण क्रियाओं को सब प्रकार से कर्मोदय द्वारा ही होती हुई देखता है और अपने आपको अकर्ता देखता अनुभव करता है वही ज्ञाता है।

जिस समय सम्यक्दृष्टि ज्ञानी साधक दिव्यदृष्टि से सब जीव और सब द्रव्यों का स्वरूप देखता है उस काल वह समभाव को प्राप्त परमात्मा होता है।

अनादिकाल से यह जीव स्वभाव से समस्त कर्ममलों से रहित अविनाशी परमात्म स्वरूप ही है। यह शरीरादि संयोग में रहता हुआ भी न कर्ता है, न भोक्ता है, न लिप्त होता है। जैसे- सब जगह व्याप्त आकाश अत्यंत सूक्ष्म होने से कहीं भी लिप्त नहीं होता, ऐसे ही शरीर में रहता हुआ परिपूर्ण आत्मा किसी भी देह में लिप्त नहीं होता। जैसे- एक ही सूर्य संपूर्ण संसार को प्रकाशित करता है वैसे ही शुद्ध चैतन्य आत्मा लोकालोक को प्रकाशित करता है। इस प्रकार जो ज्ञानरूपी नेत्र से आत्मा-अनात्मा के भेदज्ञान को तथा कार्य कारण सहित कर्मोदय पर्याय से स्वयं को अलग जानते हैं, मानते हैं, स्वस्वभाव में लीन रहते हैं, वे स्वयं परमात्मा हो जाते हैं।

प्रश्न - क्षायिक सम्यक्दर्शन, तीर्थकर केवली परमात्मा के पादमूल अर्थात् प्रत्यक्ष सामने होने पर होता है तथा कर्मों का क्षय और केवलज्ञान

प्रगट होता है, सच्चे देव के स्वरूप को जानने मात्र से क्षायिक सम्यक्दर्शन केवलज्ञान कैसे हो सकता है ?

इसके समाधान में सदगुरु आगे गाथा कहते हैं -

षिपनिक भाव स उत्तं, षिपिओ कम्मान तिविहि जोएन।

अन्यान मिच्छ षिपनं, मल मुक्कं नंत दंसनं न्यानं ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ - (षिपनिक भाव) क्षायिक भाव (स उत्तं) उसे कहते हैं (षिपिओ कम्मान) कर्मों का क्षय हो जाना (तिविहि जोएन) त्रिविध योग से, मन वचन काय तीनों को वश में कर लेना, जीत लेना (अन्यान) अज्ञान (मिच्छ) मिथ्यात्व (षिपनं) क्षय हो गये, विला गये, नष्ट हो गये (मल मुक्कं) मल से मुक्त हो जाना, छूट जाना (नंत) अनंत (दंसनं) सम्यक्दर्शन (न्यानं) सम्यक्ज्ञान।

विशेषार्थ - आगम अपेक्षा क्षायिक सम्यक्दर्शन केवली के पादमूल में होना बताया है। वर्तमान पंचमकाल में तीर्थकर होते नहीं, केवलज्ञान भी होता नहीं है परंतु मुक्ति मार्ग तो बंद नहीं है। अभी जीवों को सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तो होता है, क्षायिक भाव भी होता है अर्थात् अपने आत्म स्वरूप का दृढ़ अटल श्रद्धान तथा कर्मों का यथार्थ ज्ञान और उसका दृढ़ अटल विश्वास ही क्षायिक भाव कहलाता है, जिससे त्रिविध योग, मन वचन काय की एकाग्रता पूर्वक कर्मों का क्षय हो जाता है। अज्ञान मिथ्यात्व भी छूट जाता, क्षय हो जाता है और मन से मुक्त हो जाता है, यही भाव मोक्ष कहलाता है। द्रव्य मोक्ष जब होना हो तब हो परंतु ज्ञानी को भाव मोक्ष तो अभी हो जाता है।

क्षायिक भाव उसे कहते हैं जहाँ आत्मा को सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान के द्वारा अपने स्वरूप का दृढ़ निश्चय हो जाता है कि मैं ध्रुव तत्त्व शुद्धात्मा हूँ और यह एक-एक समय की पर्याय तथा जगत का त्रिकालवर्ती परिणमन क्रमबद्ध निश्चित अटल है, इससे मेरा कोई संबंध नहीं है, ऐसा अनुभूतियुत निर्णय होने से दृढ़ अटल श्रद्धान विश्वास हो जाता है, उसे ही क्षायिक भाव कहते हैं। क्षायिक भाव होने पर कर्मोदय जन्य पर्याय से भ्रमित होना, भयभीतपना मिट जाता है, इससे अज्ञान मिथ्यात्व भी क्षय हो जाता है और त्रिविध योग की साधना से कर्मों की भी निर्जरा, क्षय होने लगते हैं।

सच्चे देव निज शुद्धात्मा के स्वरूप को जानने पर मुक्ति का मार्ग प्रारंभ हो जाता है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान होने पर वस्तु स्वरूप प्रत्यक्ष दिखने लगता

है फिर कोई भ्रम भय शंका नहीं रहती। ज्ञानी ज्ञायक निर्भय अभय होकर भाव मोक्ष की साधना करता है। पुरुषार्थ पूर्वक सम्यक्चारित्र का पालन करता है, जिससे कर्मों का क्षय होने लगता है।

मन से मुक्त हो जाना, छूट जाना ही भाव मोक्ष है। कर्मों का पूर्ण क्षय हो जाना द्रव्य मोक्ष है जो अपने समय पर होता है। यही सच्चे देव के स्वरूप को जानने की विशेषता है।

प्रश्न - परम देव परमात्मा के स्वरूप को जानने से इन बातों का क्या सम्बंध है यह तो जीव की अपनी बात है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

परम देव परमिस्ती, इस्ती संजोय विओय अनिस्ती।

इस्ती अनन्त दिस्ती, विगतं अनिस्ट सरनि नहु दिट्टं ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ - (परम देव) सिद्ध स्वरूप परमात्मा (परमिस्ती) परमेष्ठी पद के धारी परम इष्ट हैं (इस्ती संजोय) ऐसे इष्ट पद को संजोने साधना, आराधना, उपासना करने से (विओय अनिस्ती) अनिष्ट का वियोग नाश होता है, दुःख और संसार का कारण जो विभाव परिणमन है वह छूट जाता है (इस्ती) अपने इष्ट (अनन्त) अनंत चतुष्टय स्वरूप (दिस्ती) शुद्ध दृष्टि (विगतं अनिस्ट) सब अनिष्ट विला जाता है (सरनि नहु दिट्टं) संसार परिभ्रमण नहीं दिखता, पर पर्याय देखने में नहीं आती।

विशेषार्थ - परमदेव सिद्ध स्वरूप ही परम इष्ट है, इस इष्ट को संजोने साधना आराधना, उपासना करने से सब अनिष्ट नाश हो जाते हैं। ऐसे अपने इष्ट अनंत चतुष्टय सिद्ध स्वरूप की दृष्टि होने से सब अनिष्ट छूट जाता है फिर संसार परिभ्रमण, पर पर्याय नहीं दिखती, अपना परम इष्ट परम देव सिद्ध स्वरूप ही दिखता है, जो प्रत्येक जीव का अपना सत्स्वरूप है। परम देव परमात्मा सिद्ध स्वरूप को जानने, निर्णय करने से यह ज्ञान होता है कि अपना स्वरूप व समस्त जीवों का स्वरूप स्वभाव से परम देव परमात्मा सिद्ध स्वरूप ही है।

वर्तमान पर्याय में अशुद्धि रागादि कर्म संयोग है, इसका नाश क्षय होने पर स्वयं परमात्मा हो सकते हैं। गृहस्थ अवस्था में परमात्म दशा प्राप्त नहीं होती, पंच परमेष्ठी पद के माध्यम साधन द्वारा दिव्य शक्ति प्रगट होती है। जिनकी दशा जीवन मुक्त हुई है वे अरिहंत देव परमात्मा हैं। उनके चार घातिया कर्मों का अभाव

हो चुका है व अंतर समाहित निज अनंत शक्ति, अनंत चतुष्टय प्रगट हुए हैं, वे तीन काल व तीन लोक को एक समय में प्रत्यक्ष जानते हैं।

सिद्ध परमेष्ठी, अपने सिद्ध स्वरूप को दर्शित करने में दर्पणवत् निमित्त हैं, निज शुद्ध स्वरूप ही साधने योग्य है। स्वयं में अनंत शक्ति, अनंत चतुष्टय अव्यक्त रूप से विद्यमान है। अपने इष्ट निज शुद्धात्मा की साधना, आराधना, उपासना करने से सब अनिष्ट अशुद्ध पर्याय कर्मादि का नाश होता है, निज परमात्म स्वरूप प्रगट होता है।

अशरीरी सिद्धों की जाति का परमात्म स्वरूप ही मैं हूँ। जो सिद्ध परमदेव पूर्ण परमात्मा हुए हैं उनके कुल का मैं भी उत्तराधिकारी हूँ, ऐसा दृढ़ श्रद्धान, ज्ञान होने पर चार गति में परिभ्रमण करने का कलंक छूट जाता है। संसार पुण्य-पाप आदि अनिष्ट कर्मों का संयोग विला जाता है।

सर्वज्ञदेव परमात्मा ने एक समय में तीन काल व तीन लोक जाने हैं व मेरा भी जानने का ही स्वभाव है। जो होनी है वह बदल नहीं सकती, पर जो होना है, उसका मैं तो मात्र जानने वाला हूँ। मैं पर की पर्याय को तो बदलने वाला नहीं परंतु अपनी पर्याय को भी बदलने वाला नहीं हूँ क्योंकि आत्मा या परमात्मा किसी का कुछ नहीं कर सकता। आत्मा अरस अरूपी अस्पर्शी ज्ञानानंद स्वभावी ज्ञायक है और परमात्मा पूर्ण वीतरागी अपने में परिपूर्ण अनन्त चतुष्टय धारी पूर्ण परमानंद में हैं।

जिसने केवलज्ञान रूपी सूर्य की किरणों से अज्ञान का नाश कर दिया है। नौ केवल लब्धि के प्रकाश से परमात्म पद पाया है, जो केवलज्ञान केवलदर्शन सहित केवली हैं और योग सहित हैं उनको सयोग केवली परमात्मा कहते हैं।

परमात्मा, परमदेव किसी ईंट व पाषाण के बने हुए मंदिर में नहीं मिलते। परमात्मा का दर्शन न किसी पाषाण या धातु या मिट्टी की मूर्ति में होगा, न किसी चित्र में होगा। अपना आत्मा ही स्वभाव से परमात्मा जिनदेव है। प्रत्येक जीव उसका दर्शन अपने भीतर कर सकता है तथा यह राग-द्वेष को छोड़ दे, शुभ-अशुभ राग त्याग दे, वीतरागी होकर अपने को आठ कर्म रहित, शरीर रहित, रागादि विकार रहित, अनंत चतुष्टयधारी परमात्म स्वरूप देखे तो सर्व अनिष्ट परभाव आदि संसारी चक्र से छूटकर परमात्मा हो जाता है।

जब मोह का अंधकार दूर हो जाता है तब ज्ञान ज्योति का प्रकाश होता है। उसी समय अंतरंग में सहज सुख का अनुभव होता है तथा कृतकृत्यपना

झलकता है, जिसके स्मरण मात्र से ही ऐसी ज्ञान ज्योति प्रगट होती है उस भगवान आत्मा परम देव को तू शीघ्र ही इस देह के भीतर खोज बाहर और कहाँ दौड़ता है।

मैं नित्य सहजानंद मय हूँ, शुद्ध हूँ, चैतन्य स्वरूप हूँ, सनातन हूँ, परम ज्योति स्वरूप हूँ, अनुपम हूँ, अविनाशी हूँ इस तरह अनुभव करने से परमात्म पद का लाभ होता है।

प्रश्न - जब जीव अनादि से अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है तो सच्चे देव के स्वरूप को और अपने सत्स्वरूप को कैसे जान सकता है ?

समाधान - सद्गुरु के सत्संग और उपदेश से सच्चे देव के स्वरूप को और अपने सत्स्वरूप को जाना जाता है।

प्रश्न - सच्चे गुरु का स्वरूप क्या है और वह क्या उपदेश देते हैं ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

गुरुं सहाव स उत्तं, गुरुं तिलोय भाव सुपएसं ।

गुपितं गुनं सरूवं, गुपितं रुचियंति उवएसनं गुरुवं ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ - (गुरुं सहाव) गुरु के स्वभाव को (स उत्तं) कहा गया है, कहते हैं (गुरुं) गुरु वे हैं (तिलोय) तीन लोक (भाव) स्वभाव (सुपएसं) शुद्ध प्रदेशी (गुपितं) छिपा हुआ, रहस्यमय, तीन गुप्ति (गुनं) गुनते हैं, धारते हैं, अनंतगुण (सरूवं) स्वरूप को (गुपितं) गुप्त, रहस्यमय (रुचियंति) रुचि को जाग्रत करते हैं (उवएसनं) उपदेश द्वारा (गुरुवं) वे ही गुरु हैं।

विशेषार्थ - सच्चे गुरु के स्वरूप को कहते हैं, गुरु वे हैं जो तीन लोक में श्रेष्ठ सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से युक्त हैं, शुद्ध स्वभाव के धारी हैं, तीन गुप्ति के धारी, मूल गुणों का पालन करते हुए अपने स्वरूप में लीन रहते हैं तथा गुप्त परम अध्यात्म के रहस्य का उपदेश कर भव्य जीवों की रुचि जागृतकर मोक्षमार्ग पर लगाते हैं वे ही गुरु हैं।

निर्ग्रन्थ वीतरागी साधु को व्यवहार से सच्चे गुरु कहते हैं, निश्चय से अंतरात्मा का जागरण ही अपना सद्गुरु है। पूर्व में आत्मा को चाहे बिना केवल विषय-कषाय में ही जीवन बिताया है। यदि वर्तमान में रुचि को बदलकर आत्मा की रुचि करे तो अपूर्व आत्मज्ञान हो सकता है, इसमें सद्गुरु निमित्त होते हैं।

सद्गुरु आत्मा के सत्स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हैं। सच्चे देव परमात्मा का स्वरूप बताते हैं। प्रत्येक जीव आत्मा स्वभाव से परमात्मा है। अपने स्वभाव

को भूला अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बना संसार में रूल रहा है। जो जीव अपने आत्म स्वभाव का श्रवण, मनन कर उसे लक्ष्य में लेते हैं, धर्म की महिमा भासित होती है, वे अंतर्मुख होकर परमात्मा का साक्षात्कार दर्शन करते हैं।

जो आरंभ परिग्रह से रहित हैं, धीर हैं, रागादिमल से विरक्त हैं, शांत हैं, जितेन्द्रिय हैं, तप आभूषण के धारी हैं, मुक्ति की भावना में तत्पर हैं, जो मन वचन काय त्रियोगों में एकता को धारने वाले हैं, व्रती हैं, ध्यानी हैं, दयावान हैं, जिनका शांत, समभाव रखने का प्रण है, जो कर्म शत्रुओं के विजेता, कषायों से रहित, रत्नत्रय के धारी, तीन गुप्ति के पालक निर्ग्रन्थ वीतरागी साधु वे ही सच्चे गुरु हैं। जिनके उपदेश से भव्य जीव अपने आत्म स्वरूप को पहिचान कर संसार परिभ्रमण से छूटकर मुक्ति मार्ग पर चलते हैं।

प्रश्न - गुरु की विशेषता क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

गुरुं विसेषं दिट्टं, सूषिम सभाव कम्म संषिपनं ।

उवएसं षिपिऊनं, मिथ्या कुन्यान सल्य मुक्कं च ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ - (गुरुं विसेषं) गुरु की विशेषता (दिट्टं) दृष्टि है, देखते हैं (सूषिम सभाव कम्म) सूक्ष्म स्वभाव धारी कर्म (संषिपनं) क्षय करने वाले हैं (उवएसं षिपिऊनं) उन्हीं कर्मों के क्षय करने का उपदेश देते हैं (मिथ्या) मिथ्यात्व (कुन्यान) कुज्ञान-कुमति, कुश्रुत, कुअवधि (सल्य) तीन शल्य-मिथ्या माया निदान (मुक्कं च) छूट जाते हैं।

विशेषार्थ - गुरु की विशेषता यह है कि वे शुद्ध दृष्टि के धारी हैं, सूक्ष्म स्वभाव धारी कर्मों के बंधनों को क्षय करते हैं। आत्म ध्यान में मगन रहने पर सब कर्म क्षय होते हैं।

ज्ञान ध्यान तप में लीन रहने वाला साधु ही श्रेष्ठ होता है। गुरु स्व-पर उपकारी होते हैं वे अपना भी भला करते हैं, स्वयं मुक्ति मार्ग पर चलते हैं और सब भव्य जीवों का भला चाहते हैं, मुक्ति मार्ग बताते हैं। संसार में जीव अपने अज्ञान से कर्म बंधन में बंधा है, उनके उपदेश से मिथ्यात्व कुज्ञान, शल्य से रहित होकर भव्यजीव सम्यक्दृष्टि ज्ञानी ही कर्मों का क्षय करता है।

श्री गुरु सम्यक्दृष्टि, सम्यक्ज्ञानी व निर्दोष व्रती होते हैं इसलिये उनमें मिथ्यात्व, कुज्ञान, शल्य नहीं पाये जाते हैं, उनके उपदेश से भव्यजीव भी

मिथ्यात्व, कुज्ञान, शल्य से छूटकर, कर्मों को क्षय कर मुक्ति पाता है।

अनादि काल से चार गतियों में जीवों का परिभ्रमण हो रहा है इसे संसार कहते हैं। चारों गतियों में क्लेश व चिंतायें रहती हैं। शरीरादि व मानसिक दुःख जीव को कर्मों के उदय से भोगना पड़ते हैं। जन्म-मरण का महान क्लेश तो चारों गतियों में है। सद्गुरु इस दुःखमय संसार से उदास होकर मोक्ष पद पाने की भावना करते हैं और यही उपदेश समस्त भव्य जीवों को देते हैं। सम्यक्दृष्टि महात्मा परम आनंद व परमज्ञान की विभूति से पूर्ण शिवपद को पाते हैं। जहाँ जरा नहीं, रोग नहीं, क्षय नहीं, बाधा नहीं, शोक, भय नहीं, शंका नहीं रहती है। आत्मानुभव ही मोक्ष का उपाय है।

**सद्गुरु जिन्हें विज्ञ कहते जगत में, होते कि वे दिव्यतम दृष्टि धारी।
वे सूक्ष्म से सूक्ष्मतम कर्म दल की, उन्मूल करते वृहत् सृष्टि सारी ॥
उपदेश पाकर कि उनका हृदय में, रहने न पाता मलों का बसेरा।
मिथ्यात्व कुज्ञान शल्यें वहाँ से, अपना हटातीं कि अविलम्ब डेरा ॥**

प्रश्न - सद्गुरु के उपदेश से आत्मबोध होता है या जीव के स्व विवेक के जागने से होता है ?

समाधान - मूल में उपादान कारण जीव का स्व विवेक जागने पर ही आत्मबोध होता है, उसमें निमित्त कारण सद्गुरु का उपदेश होता है क्योंकि अनादि से जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है इसलिये स्वाध्याय सत्संग से ही बोध जागता है।

प्रश्न - गुरु इसमें क्या करते हैं ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

**गुरुं च गुण उवएसं, न्यान सहावेन उवएसनं सुद्धं ।
गुरुं च गगन सरूवं, जं सूरं तिमिरनासनं सहसा ॥ १७ ॥**

अन्वयार्थ - (गुरुं) श्रीगुरु (च) और (गुण) गुण (उवएसं) उपदेश करते हैं (न्यान सहावेन) ज्ञान स्वभाव से (उवएसनं) उपदेश करते हैं, कहते हैं (सुद्धं) शुद्ध तत्त्व, शुद्ध स्वरूप (गुरुं च) गुरु तो (गगन सरूवं) गगन स्वभाव, आकाश के समान स्वभाव वाले (जं) जैसे (सूरं) सूर्य के प्रकाश से (तिमिरनासनं) अंधकार का नाश (सहसा) एकदम, यकायक, सहसा।

विशेषार्थ - श्री गुरु अपने आत्म गुणों को जगाने का उपदेश देते हैं।

स्वयं ज्ञान स्वभाव से परिपूर्ण आत्मानुभव में लीन शुद्धात्म तत्त्व का उपदेश करते हैं, उनका करुणाभाव यह रहता है कि सभी जीव अपने आत्म स्वरूप की अनुभूति कर मोक्षमार्ग पर चलें, इस संसार परिभ्रमण से मुक्त हो जावें। श्रीगुरु निस्पृह, आर्किचन्य, वीतरागी होते हैं वह किसी से कोई अपेक्षा, आकांक्षा नहीं रखते। जैसे - आकाश निर्लेप निर्मल होता है, इसी प्रकार सद्गुरु निर्मल, निर्लेप, निर्मोही होते हैं उनके वचनों का ऐसा अतिशय होता है कि भव्यजीवों का मोह का अंधकार विला जाता है। जैसे-सूर्योदय होने पर अंधकार विला जाता है, इसी प्रकार सद्गुरु के उपदेश से अज्ञान अंधकार विला जाता है।

वैराग्य बिना धर्म में चित्त स्थिर नहीं होता, आत्मा को स्व की अपेक्षा हुई तो पर की उपेक्षा हुए बिना नहीं रहती वह वैराग्य है, पर की उपेक्षा करने वालों को अंतर में स्थिरता होती है। मुक्ति मार्ग शुद्धोपयोग रूप है। पुण्य-पाप रूप शुभाशुभ भाव धर्म नहीं है परन्तु शुद्धोपयोग ही धर्म है। जो ऐसे शुद्धोपयोग की साधना में रत रहते हैं वही सद्गुरु कहलाते हैं। इनके तीन पद-साधु, उपाध्याय, आचार्य होते हैं, परमगुरु अरिहन्त को कहते हैं।

शुद्ध आत्मा का निर्मल अनुभव ही मोक्षमार्ग है, उसके बाधक कारण, मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र हैं। अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यादर्शन कर्म के उपशम या क्षय से रत्नत्रय स्वरूप सम्यक्दर्शन प्रगट होता है जो आत्मा का गुण है। जैसे-जैसे स्वानुभव का अधिक अभ्यास होता है, वैसे-वैसे कषाय की मलिनता कम होती जाती है, तब ज्ञान निर्मल व चारित्र उंचा होता जाता है। श्रावक पद में देश चारित्र होता है, साधु पद में सकल चारित्र होता है। रत्नत्रय की पूर्णता शुद्धता हो जाना ही मोक्ष है इसलिये साधु वीतरागता सहित निर्ग्रन्थ होकर आत्म ध्यान का अभ्यास करते हैं। एक मुहूर्त अर्थात् अड़तालीस मिनिट अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर रहने पर केवलज्ञान प्रगट हो जाता है, आयु पूर्ण होने पर सिद्ध पद प्राप्त हो जाता है। सद्गुरु ऐसे सिद्धपद को प्राप्त करने का उपदेश देते हैं, विधि बताते हैं। चारों गति के क्षणिक पद सब त्यागने योग्य हैं। चक्रवर्ती पद, नारायण, बलभद्र, राज पद, श्रेष्ठिपद, इन्द्र पद आदि सब क्षणिक नाशवान हैं। ध्रुव अविनाशी, शाश्वत पद सिद्धपद ही है, जो सादि अनंतकाल तक रहने वाला है। इस पद को प्राप्त करने का उपाय सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ही है; इसलिये संसार शरीर भोगों से वैराग्यवान होकर उत्तमक्षमा आदि दशधर्मों का पालन करते हुए पंच परमेष्ठी पद के माध्यम से सिद्ध पद प्राप्त होता है।

परम पुरुष मोक्ष के परमपद में सदा ही कर्म के लेपरहित व बाधा रहित अपने स्वरूप में स्थिर आकाश के समान परम निर्मल प्रकाशमान रहते हैं। वे परमात्मा अपने परम पद में कृतकृत्य व सर्व जानने योग्य विषयों के ज्ञाता परमानंद में मगन सदा ही अतीन्द्रिय आनंद का भोग करते रहते हैं।

इन्द्र पद, चक्रवर्ती पद, तीर्थकर पद यह सब कर्मकृत उपाधियां हैं। आत्मा इन सबसे भिन्न निरंजन प्रभु परमदेव है। यह आत्मा चैतन्य शक्ति से सर्वांग पूर्ण है, इसके सिवाय सर्व रागादि भाव पुद्गल की रचना है।

वर्तमान में चैतन्य शक्ति के सिवाय समस्त पापों को छोड़कर व चैतन्य शक्ति मात्र भाव के भीतर भले प्रकार प्रवेश करके सर्व जगत के प्रपंच छोड़कर साक्षात् प्रकाशमान अपने ही आत्मा को जो अनंत गुणों का भंडार है, वह अपने ही भीतर अनुभव करने योग्य है। भगवान आत्मा अनंतगुण स्वरूप प्रभु है, उसके एक-एक गुण में अनंत-अनंत गुणों का रूप है, पर उसमें राग का रूप नहीं है। सद्गुरु का ऐसा स्पष्ट कथन होता है कि हे जीव ! यदि तुझे तेरा संसार परिभ्रमण टालना हो तो तीक्ष्ण बुद्धि से आनंद सागर निज स्वभाव को पकड़ ले। जो आनंद स्वरूप निज चैतन्य धाम तेरे हाथ में आ गया तो मुक्ति की पर्याय सहज ही मिल जायेगी। ऐसे सत्यधर्म, वस्तुस्वरूप को सुनकर भव्य जीवों का अज्ञान अंधकार विला जाता है। अपने शुद्धात्म स्वरूप की प्रतीति रूप सम्यक्दर्शन का प्रकाश हो जाता है।

प्रश्न - सद्गुरु का समागम इष्ट है या अंतरात्मा का जागरण अर्थात् सम्यक्दर्शन होना इष्ट है ?

समाधान - अंतरात्मा का जागरण सम्यक्दर्शन होना ही इष्ट है, उसमें सद्गुरु का समागम निमित्त है।

प्रश्न - जब निज अंतरात्मा ही अपना सच्चा गुरु है, फिर व्यवहार में सद्गुरु की क्या आवश्यकता है ?

समाधान - अनादि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि होने से अंतरात्मा के जागरण में सद्गुरु का सत्संग निमित्त कारण आवश्यक है तथा जब तक देवत्व पद प्राप्त नहीं होता तब तक उसकी साधना में भी सद्गुरु सहकारी हैं।

प्रश्न - इस साधना में सद्गुरु कैसे सहकारी हैं ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

परम गुरुं उवएसं, न्यान सहावेन अन्मोय संजुतं ।

न्यानांकुरं च दिष्टं, अन्मोयं न्यान सरूव विन्यानं ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ - (परम गुरुं उवएसं) परम गुरु ऐसा उपदेश करते हैं (न्यान सहावेन) अपने ज्ञान स्वभाव का (अन्मोय) आलंबन लो, आश्रय करो (संजुतं) संयुक्त रहो, लीन रहो (न्यानांकुरं) ज्ञान का अंकुर निकल आया, जैसे बीज बोने पर अंकुर निकलता है, केवलज्ञान की किरण प्रगट होना (च दिष्टं) उसे देखो (अन्मोयं) अनुमोदना करो, प्रसन्न रहो (न्यान सरूव) ज्ञान स्वरूप (विन्यानं) भेदविज्ञान द्वारा।

विशेषार्थ - श्रीगुरु का उपदेश, साधक का उत्साह और आत्मबल बढ़ाता है। सद्गुरु कहते हैं अपने ज्ञान स्वभाव का आलंबन लो, आश्रय करो और उसी में लीन रहो, देखो यह केवलज्ञान की किरण, सम्यक्ज्ञान का प्रकाश हो गया। जैसे-किसान खेत में बीज बोता है, उसमें अंकुर निकलते हैं तो देखकर प्रसन्न आनंदित होता है, उसे इसका बड़ा उत्साह बहुमान आता है कि अच्छी फसल आयेगी, इसी प्रकार ज्ञान का अंकुर प्रगट होने पर केवलज्ञान होगा ही, इस उत्साह से अपने भेदविज्ञान के द्वारा ज्ञान स्वरूप की अनुमोदना करो और आनंद उत्साह में रहो। जैसे-कोई आगे जाना वाला यात्री, पीछे चलने वाले यात्रियों को सचेत, सावधान करता है, उत्साह बढ़ाता है, इसी प्रकार सद्गुरु साधक का उत्साह आत्मबल बढ़ाते हैं।

आत्मानुभव ही ज्ञानांकुर है, यही भाव श्रुतज्ञान है, यही केवलज्ञान का बीज है। सम्यक्दृष्टि के भीतर यह ज्ञानांकुर उत्पन्न हो जाता है इसलिये वह अवश्य मोक्ष का पात्र होता है।

इस भयानक व नाना प्रकार के दुःखों से भरे हुए संसार में रुलते हुए जीव ने आत्मज्ञान रूपी महान रत्न को कहीं नहीं पाया। सद्गुरु कहते हैं कि अब तूने इस उत्तम सम्यक्दर्शन को पा लिया है, यह ज्ञान का अंकुरण हो गया, अब तो प्रमाद न कर, विषयों के स्वाद में लोभी होकर इस तत्त्व को खो न देना, सम्हाल कर रक्षा करते हुए परम सुखी परमानंदमय, परमात्मा बनो, इसके लिये उत्साह वर्द्धन करते हैं कि अपने ज्ञान स्वभाव में ही लीन रहो। इस ज्ञान स्वरूप की ही अनुमोदना करो, इससे केवलज्ञान प्रगट होगा।

साधक दृढ़ता पूर्वक बिना परिणामों की उच्चता प्राप्त हुए किसी ऊँची

क्रिया को धारण नहीं करता है। उसे यह भय रहता है कि कहीं कोई बाधा न आ जावे, पूर्व कर्म बंधोदय बाधक न बन जावे आशा, स्नेह, लोभ, भय, गारव पेरते हैं। व्यवहार की चिंता अधिक होने से वह अधिक समय स्वानुभव में नहीं ठहर सकता है। कषाय के उदय से व आत्म पुरुषार्थ की कमी से वह लाचार रहता है। जब तक चित्त परद्रव्य के व्यवहार में संलग्न रहता है, तब तक साधक अपने आत्मस्वरूप की साधना नहीं कर पाता है।

सद्गुरु साधक का उत्साह बढ़ाकर आत्म पुरुषार्थ जगाते हैं तथा कोई बाधाएँ आती हैं तो उनका निराकरण करते हैं। इसकी और विशेषता आगे की गाथाओं में कहते हैं -

**अंकुर सुद्ध सरूवं, असुद्ध अंकुर उन्मूलनं तं पि ।
सुद्धं न्यान सहावं, अंकुर न्यानस्य त्रिधि सहकारं ॥ १९ ॥
जं उववनं च माली, दिट्टी दिट्ठेइ सुद्ध अन्मोयं ।
सिंचति जल सहावं, न्यानं जलं सिंचए गुरुवं ॥ २० ॥
माली तं सीचंते, आदं आदं च मिलिय जल सुद्धं ।
परम गुरुं अन्मोयं, न्यानं न्यानेन ममल मिलियं च ॥ २१ ॥**

अन्वयार्थ - (अंकुर सुद्ध सरूवं) शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव ही अंकुर है, अंतरात्मा का जागरण ही ज्ञानांकुर है (असुद्ध अंकुर) अशुद्ध अंकुर, मिथ्यात्व अज्ञान रूपी अंकुर (उन्मूलनं तं पि) उसी से उखड़ जाता है (सुद्धं न्यान सहावं) शुद्ध ज्ञान स्वभाव में रमना (अंकुर न्यानस्य) ज्ञान का अंकुर (त्रिधि) वृद्धि, बढ़ना, उन्नति (सहकारं) सहकारी है।

(जं) जैसे (उववनं) उपवन का (च) और (माली) माली, बगीचे की देखरेख करने वाला (दिट्टी दिट्ठेइ) देख देखकर (सुद्ध अन्मोयं) वृक्षों की सफाई करता है (सिंचति) सींचता है (जल सहावं) निर्मल जल के द्वारा (न्यानं जलं) ज्ञान का जल (सिंचए गुरुवं) सद्गुरु सिंचन करते हैं अर्थात् परम हितकारी धर्म का उपदेश देते हैं।

(माली तं सीचंते) माली ऐसे ढंग से वृक्ष को सींचता है (आदं आदं च मिलिय) नमी से नमी मिल जाये (जल सुद्धं) उनमें शुद्ध जल देता है (परम गुरुं) परम गुरु का (अन्मोयं) आलंबन (न्यानं न्यानेन) ज्ञान से ज्ञान में (ममल मिलियं च) ममल

स्वभाव में मिला देता है।

विशेषार्थ - शुद्ध स्वरूप का अंकुर अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान होते ही मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान का अंकुर उखड़ जाता है, जितनी-जितनी शुद्ध ज्ञान स्वभाव में रमणता होती है, उतना-उतना ही ज्ञान का प्रकाश बढ़ता जाता है। जैसे- उपवन का माली बगीचे के एक-एक वृक्ष को देखता हुआ देख-देख कर पानी सींचता है, इसी प्रकार श्री गुरु जीवों की पात्रता देखकर ज्ञान का जल सींचते हैं। जैसे-माली देखता है कि बाग में किन वृक्षों को जल की आवश्यकता है, जिनको जल की जरूरत होती है उन वृक्षों की जड़ों में ऐसी चतुराई से पानी पहुँचाता है कि वे वृक्ष हरे-भरे हो जावें, इसी प्रकार श्री गुरु जिनको धर्मोपदेश की जरूरत समझते हैं, उनको इस रीति से धर्माभूत पिलाते हैं कि उसको प्रसन्नता भी हो और वह उपदेश उसके हृदय में ऐसा बैठ जावे जिससे उसका आचरण यथार्थ हो जावे और वह मोक्षमार्ग में उन्नति करता हुआ चला जावे।

ज्ञान के क्षयोपशम का महत्व नहीं है परन्तु अनुभूति का महत्व है। शुद्ध स्वरूप की अनुभूति ही ज्ञानांकुर है, जो सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान स्वरूप है, जिसके होने पर अशुद्ध अंकुर अर्थात् मिथ्यात्व अज्ञान विला जाते हैं और यही ज्ञानांकुर बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान स्वभाव हो जाता है।

जैसे- उपवन का माली बगीचे के एक-एक वृक्ष को देखकर उसको आवश्यकतानुसार पानी देता है, उसी प्रकार सद्गुरु भव्यजीवों की पात्रता परिस्थिति देखकर ज्ञान का जल सींचते हैं, जब जिसको धर्मोपदेश की आवश्यकता होती है तब उसको शुद्ध, शांत आनंदमय आत्मतत्त्व का उपदेश करते हैं।

धर्म की उन्नति, जीवों के कल्याण का मार्ग, ऐसे ही परमोपकारी सच्चे गुरु के द्वारा होता है, जो उसके अज्ञान मिथ्यात्व को उखाड़ फेंकते हैं। वस्तु स्वरूप समझने पर जब विवेकी (विचार कुशल) मनुष्य तीनों कर्म- द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म के सिवाय अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता और अपने को कर्मों से भिन्न अनुभव करता है तब वह शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

तीन कर्मों के सिवाय अन्य कोई कर्ता है ही नहीं अर्थात् संपूर्ण क्रियायें कर्मों के उदय से ही हो रही हैं और संपूर्ण परिवर्तन कर्मों में ही हो रहा है और कोई कारण नहीं है। वे कर्म जिससे प्रकाशित होते हैं, वह तत्त्व कर्मों से भिन्न है। कर्मों से भिन्न होने से चैतन्य आत्मा कभी कर्मों से लिप्त नहीं होता अर्थात् कर्म और

क्रिया का उस पर कोई असर नहीं पड़ता। ऐसे अपने सत्स्वरूप शुद्धात्म तत्त्व को जो विचार कुशल साधक जान लेता है, अपने भेदज्ञान द्वारा अपने आपको कर्मों से भिन्न असंबद्ध निर्लिप्त अनुभव कर लेता है कि कर्मों के साथ अपना संबंध न कभी हुआ है, न है, न होगा और न हो ही सकता है; कारण कि कर्म परिवर्तनशील हैं और स्वयं में कभी परिवर्तन होता ही नहीं है 'मैं ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा ममल स्वभावी टंकोत्कीर्ण अप्पा हूँ' ऐसी अनुभूति सहित अपने उपयोग को बार-बार ममल स्वभाव में लगाता है। ज्ञानोपयोग का निरंतर अभ्यास करता है। शुद्ध सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान सहित ज्ञायक स्वभाव में रहता है ऐसा ज्ञानांकुर बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान स्वरूप हो जाता है।

देहधारी ज्ञानी पुरुष देह को उत्पन्न करने वाले इन तीनों कर्मों का अतिक्रमण करके जन्म-मृत्यु और वृद्धावस्था रूप दुःखों से रहित हुआ अमरता का अनुभव करता है।

प्रश्न - यह तो जीव के स्वयं बोध जागने पर होता है इसमें सद्गुरु क्या करते हैं ?

समाधान - सद्गुरु के उपदेश से ही जीव का विवेक जागता है इसलिये सद्गुरु निमित्त कारण होते हैं तथा जैसे-माली बगीचे में वृक्षों को देख-देख कर जिसको जैसी आवश्यकता होती है, वैसा जल सींचता है और जो भी अनावश्यक अहितकारी वस्तुएं होती हैं उन्हें उखाड़कर फेंक देता है। इसी प्रकार सद्गुरु जीव की पात्रता परिस्थिति देखकर उसे ऐसी युक्ति बताते हैं तथा ऐसा ज्ञान का उपदेश देते हैं, जिससे उसका सारा अज्ञान मिथ्यात्व शल्य भय शंकायें विला जाती हैं। आत्मबल और पुरुषार्थ बढ़ता है और वह आनंद उत्साह पूर्वक मोक्षमार्ग पर चलता है।

प्रश्न - इसमें निज अंतरात्मा के जागरण की विशेषता है या सद्गुरु के उपदेश की विशेषता है ?

समाधान - विशेषता तो निज अंतरात्मा के जागरण की है, उसमें सद्गुरु का उपदेश निमित्त है क्योंकि जब तक अंतरात्मा का जागरण नहीं होता तब तक बाह्य उपदेश कोई कार्यकारी नहीं होता तथा निज अंतरात्मा का जागरण ही निश्चय सद्गुरु है, वही अपने अंतर की सारी बातों को जानता है और उन्हें दूर करता है, बाह्य में सद्गुरु तो मात्र निमित्त सहकारी होते हैं।

निमित्त कुछ करता नहीं है परन्तु बगैर निमित्त के कोई कार्य होता नहीं है,

ऐसी ही निमित्त उपादान की विशेषता है। बाह्य में सद्गुरु का मिलन, सत्संग तो समय-समय पर कभी-कभी होता है। निज अंतरात्मा सद्गुरु का तो निरंतर ही सत्संग, सहयोग मिलन रहता है।

प्रश्न - अंतरात्मा का जागरण होने पर क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

न्यानांकुरं च दिष्टं, अन्यानांकुर उन्मूलनं तं पि ।

मिच्छांकुर उन्मूलं, उन्मूलं अगुरु उवएसं ॥ २२ ॥

न्यानं च परम न्यानं, मिलियं च सुद्ध सहाव सुइ रूवी ।

कम्म मल सुयं च षिपनं, न्यान सहावेन त्रिधनं न्यानं ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ - (न्यानांकुरं च दिष्टं) जब भव्य जीवों के भीतर आत्मज्ञान का अंकुर, अंतरात्मा का जागरण दीख पड़ता है, दिखाई देता है (अन्यानांकुर) अज्ञान का अंकुर (उन्मूलनं) उखड़ जाता है (तं पि) तब ही, तुरंत ही (मिच्छांकुर उन्मूलं) मिथ्यात्व भाव का अंकुर भी उखड़ जाता है, दूर हो जाता है (उन्मूलं) उखड़ जाता है, दूर हो जाता है, हट जाता है (अगुरु उवएसं) अगुरु का उपदेश, संसारी व्यवहारिक मान्यता।

(न्यानं च) जब ज्ञान और (परम न्यानं) परम ज्ञान, केवलज्ञान से (मिलियं) मिलता है (च) और (सुद्ध सहाव सुइ रूवी) शुद्धात्म स्वभाव प्रत्यक्ष अनुभव में आता है (कम्म मल सुयं च षिपनं) कर्म मल स्वयं झड़ने, क्षय होने लगता है तथा (न्यान सहावेन) ज्ञान स्वभाव से (त्रिधनं न्यानं) ज्ञान बढ़ने लगता है।

विशेषार्थ - जब भव्य जीवों के भीतर आत्मज्ञान का अंकुर सम्यक्ज्ञान का प्रकाश अंतरात्मा का जागरण दिखाई देता है तब तुरंत ही अज्ञान का अंकुर मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान विला जाता है। मिथ्यात्व भाव फिर दिखाई नहीं देता तथा अगुरुओं का उपदेश संसारी व्यवहारिक मान्यतायें भी मिट जाती हैं।

सम्यक्ज्ञान में केवलज्ञान की नोंध होती है। जब आत्मज्ञान (परमज्ञान) केवलज्ञान स्वभाव से मिलता है, जब साधक अपने को केवलज्ञान स्वभावी अनुभव करता है तब शुद्धात्म स्वभाव का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। परमात्म स्वरूप प्रत्यक्ष अनुभूति में आता है, जिससे कर्म मल पूर्व कर्म बंधोदय स्वयं क्षय होने लगते हैं तथा ज्ञान स्वभाव की साधना से ज्ञान बढ़ता जाता है, जो एक समय स्वयं केवलज्ञान स्वभाव हो जाता है। जिसको द्रव्यदृष्टि यथार्थ प्रगट होती है,

उसे दृष्टि के जोर से निज चैतन्य शुद्धात्मा ही भासता है, शरीरादि कुछ भासित नहीं होता। भेदज्ञान की परिणति ऐसी दृढ़ हो जाती है कि स्वप्न में भी आत्मा शरीर से भिन्न भासता है। उसको भूमिकानुसार बाह्य वर्तन होता है परंतु चाहे जिस संयोग में उसकी ज्ञान वैराग्य शक्ति जागरूक रहती है। स्वरूप अनुभव में अत्यंत निःशंकता वर्तती है, जिससे अज्ञान मिथ्यात्वादि का उन्मूलन हो जाता है, मिथ्या भाव संसारी व्यवहारिक मान्यतायें छूट जाती हैं। अगुरु, जो मोह माया के बंधन में फंसाते हैं, पाप-परिग्रह में उलझाते हैं उनसे छूट जाता है। ज्ञानी को स्वानुभूति के समय या उपयोग बाहर आये तब भी दृष्टि तो सदा अंतस्तल पर ही लगी रहती है। बाह्य में एकमेक हुआ दिखाई देवे, तब भी वह तो (दृष्टि अपेक्षा) गहरी अंतः गुफा में से बाहर निकलता ही नहीं है।

जब सम्यक्ज्ञान के प्रकाश में केवलज्ञान स्वभाव से मिलता है तब शुद्ध स्वभाव शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, जिससे सारे कर्म अपने आप क्षय होने लगते हैं और ज्ञान स्वभाव की एकाग्रता बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान स्वभाव प्रगट हो जाता है।

साधक जीव की दृष्टि निरंतर निज शुद्धात्म तत्त्व पर होती है तथापि साधक सबको जानता है, वह शुद्ध-अशुद्ध पर्याय को जानता है। शुभाशुभ भाव कर्मोदय मन आदि सबको जानता है परन्तु किसी का लक्ष्य या अपेक्षा न होने से वह सब गलते विलाते क्षय होते जाते हैं। ज्ञान स्वभाव की साधना से ज्ञान में वृद्धि होती जाती है, मति श्रुत ज्ञान की शुद्धि वृद्धि होने पर अवधि ज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और केवलज्ञान क्रमशः प्रगट होते जाते हैं।

यह आत्मा स्वसंवेदन से ही अनुभव में आता है। जब वृत्ति का निरोध कर आपसे आपको ही ग्रहण किया जाता है तब ही शुद्धात्मानुभूति होती है। सम्यक्ज्ञान में स्व-पर का यथार्थ निर्णय होता है। वर्तमान में आत्मा शरीर प्रमाण आकार धारी है, अविनाशी द्रव्य है, परम आनंदमयी है तथा लोकालोक का प्रकाशक देखने जानने वाला है। इस तरह ज्ञानानुभूति पूर्वक ममल स्वभाव की रुचि पैदा हो जाने पर ऐसा कुछ निर्मल परिणाम होता है कि समय-समय असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा होने लगती है तथा ज्ञान स्वभाव के प्रकाश से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय रूप घातियाकर्म का क्षयोपशम और क्षय जितना होता जाता है उतना ज्ञान बढ़ता जाता है तब यह आत्मा से परमात्मा, गुरु से परम गुरु हो जाता है।

प्रश्न - जब आत्मा ही गुरु और परमगुरु है फिर बाहर किसी को गुरु और परम गुरु परमात्मा मानने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान - निश्चय से आत्मा ही गुरु और परमगुरु है और होता है। कोई जड़ अचेतन शरीरादि न गुरु होता है न परमगुरु होता है। प्रत्येक जीव आत्मा में यह शक्ति विद्यमान है जो वर्तमान में पूर्व अज्ञान जनित बंधोदय से अप्रगट है। जिन जीवों की ज्ञान चेतना अंतरात्मा का जागरण हो जाता है, वह आत्मा से परमात्मा, गुरु से परमगुरु हो जाते हैं, उन्हें ही गुरु और परमगुरु कहते हैं और व्यवहार से यह अन्य जीवों के जागरण में निमित्त होते हैं इसलिये बाहर से गुरु और परम गुरु परमात्मा को मानते हैं।

इसी ग्रन्थ की गाथा ७४ में कहा है -

**देवं च परम देवं, गुरुं च परम गुरुं च संदिद्धं ।
धम्मं च परम धम्मं, जिन्नं च परम जिन्नं निम्मलं विमलं ॥ ७४ ॥**
यह आत्मा ही देव, देवों का अधीश्वर देव है ।
कोई नहीं गुरु, आत्मा ही परम गुरु स्वयमेव है ॥
यह आत्मा ही धर्म, धर्मों में कि धर्म महान है ।
यह आत्मा ही विमल निर्मल, परम जिन भगवान है ॥
(चंचल जी)

प्रश्न - परम गुरु का स्वरूप क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

**परम गुरुं च सरूवं, परम सुभाव परम दरसीए ।
अप्पानं सुद्धप्पानं, परमप्पा दर्सए विमलं ॥ २४ ॥**

अन्वयार्थ - (परम गुरुं च सरूवं) परमगुरु का स्वरूप (परम सुभाव) परम पारिणामिक स्वभाव वाला (परम दरसीए) परमानंदमयी परमात्मा परम पद में दिखाई देता है (अप्पानं) यह आत्मा भी (सुद्धप्पानं) शुद्धात्मा है (परमप्पा) परमात्मा है (दर्सए विमलं) कर्ममल रहित विमल शुद्ध स्वभाव से देख लो।

विशेषार्थ - परमगुरु परमात्मा का स्वरूप, परम पारिणामिक स्वभाव वाला परमानंदमयी परमात्मा जो परम पद में प्रतिष्ठित है। अरिहंत सर्वज्ञ केवलज्ञानी परमात्मा को परमगुरु कहते हैं, जो वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी होते हैं। निश्चय से आत्मा ही शुद्धात्मा, परमात्मा है। कर्म मल रहित अवस्था से

विमल स्वभाव की दृष्टि से देखने पर प्रत्येक आत्मा स्वभाव से परमात्मा है और वर्तमान में जो उस अवस्था में हो गये वह परम गुरु परमात्मा हैं।

यह आत्मा ही जिनवर है, यही तीर्थकर है। अनादिकाल से जिनवर है, अनंत केवलज्ञान का पिंड है। इसी में एकाग्र होने से पर्याय में जिनवर के दर्शन होते हैं, परमात्मा प्रगट होते हैं।

द्रव्य स्वभाव से प्रत्येक जीव आत्मा जिन है, जिनवर है। वर्तमान पर्याय में अशुद्धि होने से परमात्मपना अप्रगट, अव्यक्त है। जो जीव, द्रव्य स्वभाव का आश्रय लेते हैं, अपने सत्स्वरूप का सत्श्रद्धान ज्ञान होने पर ज्ञायक स्वभाव से अपने स्वरूप में लीन होते हैं उनकी पर्याय में भी परमात्म पद प्रगट हो जाता है।

सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव ने जिस आत्मा को ध्रुव कहा है, उसका जो जीव अवलंबन ले उसे उस ध्रुव स्वभाव में से शुद्धता प्रगट होती है। ध्रुव स्वभाव की ओर लक्ष्य करने पर पर्याय में ध्रुव स्वभाव दिखता है। अंतर में यथार्थ लक्ष्य करे तो उसे ध्रुव स्वभाव दर्शित होगा ही। पर्याय के पीछे द्रव्य स्वभाव विद्यमान है, वहाँ दृष्टि करने से ध्रुव स्वभाव दर्शित होता है।

एक समय की निर्मल पर्याय को जो सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र की पर्याय है उसे रत्नत्रय कहा है, तो उसके फलरूप केवलज्ञान पर्याय महारत्न है और ऐसे अनंत गुणों का धारक यह आत्मा है, इसकी महिमा वचनातीत है। ऐसे आत्म स्वभाव का विश्वास और उसकी दृष्टि करने पर परमात्म पद सर्वज्ञपना परमगुरु स्वभाव प्रगट होता है।

इस आत्मा के परमात्मा होने की बात तो बड़े सौभाग्य से सुनने समझने को मिलती है। यह आत्मा की बात पैसे की चीज नहीं है, इसका बाह्य वस्तु धनादि से मूल्यांकन नहीं हो सकता। अनन्त-अनन्त जन्म-मरण के दारुण दुःख से, पर्यायी परिणामन के भयानक चक्र से छूटने के लिये जो निज शुद्ध स्वभाव रूप धर्म की शरण लेता है, वही आत्मा से परमात्मा बनता है।

आत्मज्ञानी, आत्मानुभवी सद्गुरु का सत्संग परम दुर्लभ है। जिनको ऐसे महान तारण-तरण गुरु का लाभ हो जाता है, उनको तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाता है, वे आत्मा और परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को समझ जाते हैं। उनके ज्ञान में मात्र सत्ता की अपेक्षा तो सिद्धात्मा में और अपने आत्मा में भेद दिखता है परन्तु स्वभाव की अपेक्षा से कोई भेद नहीं दिखता है। ज्ञानी को अपना आत्मा कर्म

रहित शुद्ध परमात्मवत् दिखता है।

सच्चे गुरु के उपदेश से जब भले प्रकार आत्मा और अनात्मा का भेद मालूम हो जाता है फिर साधक इसका अभ्यास करता है, बार-बार मनन करता है कि मैं शुद्धात्मा भिन्न हूँ और यह कर्मादि शरीर संयोग भिन्न हैं। ऐसे निरंतर अभ्यास से जब स्वानुभव होता है तब अतीन्द्रिय आनंद अमृत रस के झरने बहने लगते हैं, इसी अपूर्व आनंद उत्साह में साधक आगे बढ़ता है और स्वभाव साधना से स्वयं परमात्मा हो जाता है ?

प्रश्न - इन सबको जानने समझने के लिये और क्या करना चाहिये ?

समाधान - यह सब जानने समझने के लिये धर्म का स्वरूप जानना आवश्यक है।

प्रश्न - धर्म का सच्चा स्वरूप क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

धम्मं धरयति सुद्धं, धम्मं तियलोय सुद्ध सुपएसं ।

चेयन अनन्त रूवं, कम्म मल षिपति तिविहि जोएन ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ - (धम्मं) धर्म का स्वरूप (धरयति सुद्धं) शुद्ध भाव को धारण करना, शुद्ध स्वभाव में रहना है (धम्मं) धर्म वस्तु स्वभाव को कहते हैं जो (तियलोय) तीन लोक में (सुद्ध सुपएसं) शुद्ध प्रदेशी है (चेयन) चैतन्य, चेतना लक्षणो धर्मो (अनन्त रूवं) अनंत गुण स्वरूपी है (कम्म मल षिपति) कर्म मल क्षय होते हैं (तिविहि जोएन) त्रिविधि योग से, मन वचन काय की एकाग्रता से।

विशेषार्थ - शुद्धभाव को धारण करना धर्म है, वस्तु स्वभाव को धर्म कहते हैं, जो तीन लोक में त्रिकाल शुद्ध प्रदेशी है। “चेतना लक्षणो धर्मो” चैतन्य स्वरूप ही धर्म है, जो अनंत गुण स्वभावी आत्मा का स्वरूप है। इस धर्म की महिमा यह है कि त्रिविधि योग से अर्थात् मन, वचन, काय से अपने उपयोग को हटा लेने से सम्पूर्ण कर्म मल क्षय हो जाते हैं।

शुद्धोपयोग ही धर्म है, पुण्य-पाप रूप क्रिया अथवा शुभाशुभ भाव धर्म नहीं है। संसार में अज्ञानी जन पुण्य को शुभ क्रिया तथा शुभ भाव को धर्म मानते हैं जबकि पुण्य-पाप कर्म हैं। शुभाशुभ भाव कर्म के कारण हैं, धर्म तो अपना शुद्ध स्वभाव है जो शुद्ध प्रदेशी चैतन्य लक्षणवाला अनंत गुण स्वरूपी है, अपने शुद्ध स्वभाव में रहने से पूर्व कर्म बंधोदय क्षय होते हैं, नवीन कर्मों का आश्रव,

बंध नहीं होता। जो संसार के जन्म-मरण कर्म बंधन से छुड़ाकर मुक्ति, परमात्म पद प्राप्त करावे उसका नाम धर्म है।

धर्म का शब्दार्थ धारण करे सो धर्म है। वस्तु सहावो धम्मो, वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। जैसे- अग्नि की ऊष्णता, पानी की शीतलता, नमक का खारापन यह इनका स्वभाव है, यही इनका धर्म है जो कभी विलग नहीं होता, इसी प्रकार जीव का स्वभाव चेतना है यही जीव का धर्म है, जो अनादि निधन शाश्वत है। चेतना तीन लोक में शुद्ध प्रदेशी ही है। अनादि से जीव और पुद्गल का एक क्षेत्रावगाह सम्बंध है तथापि आज तक कभी जीव का एक प्रदेश पुद्गल रूप अचेतन अशुद्ध नहीं हुआ और पुद्गल का परमाणु एक प्रदेश भी चेतन रूप नहीं हुआ। सब अपने-अपने में भिन्न शुद्ध प्रदेशी ही हैं। ऐसे अपने शुद्ध प्रदेशी चैतन्य स्वरूप शुद्ध स्वभाव का जो सत्श्रद्धान करता है उसी को सम्यक्दर्शन रूपी धर्म प्रगट होता है और ऐसे अपने शुद्ध स्वभाव की साधना करने से सभी कर्म मल क्षय हो जाते हैं।

आत्मा का स्वभाव अनंत गुण पर्यायवान शुद्ध ज्ञान चेतनामय अविनाशी परमानंदमयी है। इस शुद्ध आत्म स्वरूपमयी धर्म का अनुभव करने से कर्मों का क्षय होता है। मोह, राग-द्वेष रहित जो आत्मा का स्वाभाविक परिणाम है, वही समभाव है, वही चारित्र्य है, वही धर्म है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय, व्यसन यह सब पाप कर्म, पाप बंध और दुर्गति के कारण हैं। पाप कर्म में अशुभ भाव होते हैं।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, दया, दान, परोपकार, व्रत, नियम, संयम, पूजा, भक्ति यह सब पुण्य कर्म पुण्यबंध और सद्गति के कारण हैं। पुण्य कर्म में शुभ भाव होते हैं।

निज चैतन्य स्वरूप, शुद्ध स्वभाव, वीतराग भाव शुद्धोपयोग ही धर्म है। इससे पूर्व कर्म बंधोदय क्षय होते हैं। एक मात्र मुक्ति का कारण यह शुद्ध धर्म ही है।

प्रश्न - व्यवहार धर्म दया दान परोपकार पूजा भक्ति आदि भी सद्गति मुक्ति का कारण है, इसको भी महत्व क्यों नहीं देते ?

समाधान - अध्यात्म में निश्चय को ही प्रधानता दी जाती है, व्यवहार गौण रहता है तथा देव, गुरु और शास्त्र में निश्चय-व्यवहार लगता भी है परंतु धर्म में तो व्यवहार होता ही नहीं है। जैसे-निश्चय से सच्चा देव निज शुद्धात्मा है

और व्यवहार में सच्चे देव अरिहंत सिद्ध परमात्मा हैं। निश्चय से सच्चा गुरु निज अंतरात्मा है, व्यवहार में सच्चे गुरु वीतरागी निर्ग्रन्थ आत्मज्ञानी साधु होते हैं। निश्चय से जिनवाणी (शास्त्र) निज सुबुद्धि का जागरण और व्यवहार में जिनेन्द्र कथित वीतरागता पोषक मोक्षमार्ग प्रदर्शक सच्चे शास्त्र होते हैं तथापि धर्म तो एक निश्चय शुद्ध रत्नत्रयमयी निज आत्म स्वभाव ही है, व्यवहार धर्म होता ही नहीं है क्योंकि धर्म ही एक मात्र मुक्ति का कारण है।

पुण्य रूप व्यवहार धर्म यह तो संसार का कारण, कर्म रूप अधर्म ही है। कर्म चाहे शुभ पुण्य रूप हों या अशुभ पापरूप हों दोनों ही बंध के कारण हैं इसलिये धर्म के सच्चे स्वरूप को समझकर उसे ही स्वीकार करना हितकारी है। संसार में धर्म के नाम पर क्या-क्या हो रहा है, यह प्रत्यक्ष सामने है।

प्रश्न - धर्म की क्या विशेषता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

धम्मं च सुद्ध षिपनं, धम्मं सहकारि चेयना सुद्धं ।

धम्मं तिलोय संजुत्तं, लोयालोयं च धरइ सुद्धं च ॥ २६ ॥

धम्मं सहाव उत्तं, चेयन संजुत्त षिपन ससरूवं ।

आनन्दं सहजानन्दं, धम्मं ससहाव मुक्ति गमनं च ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ - (धम्मं च सुद्ध षिपनं) शुद्ध धर्म ही कर्मों को क्षय करने वाला है (धम्मं सहकारि) धर्म की सहायता, साधना, सहयोग से (चेयना सुद्धं) चेतना शुद्ध होती है अर्थात् आत्मा-परमात्मा बनता है (धम्मं) धर्म में (तिलोय संजुत्तं) तीन लोक संयुक्त रहता है अर्थात् तीन लोक के समस्त जीव, समस्त द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में लीन रहते हैं। धर्म से कोई विलग है ही नहीं (लोयालोयं) लोकालोक को (च धरइ) धारण करने वाला, जिसके आधार पर लोकालोक टिका है (सुद्धं च) वह शुद्ध धर्म ही है।

(धम्मं) धर्म का (सहाव उत्तं) उत्तम स्वभाव कहा गया है जो उत्तम क्षमादि दस धर्म रूप है (चेयन) चैतन्य (संजुत्त) लीन रहने (षिपन) क्षय हो जाते हैं (ससरूवं) स्वस्वरूप में (आनन्दं) आनन्द मयी, ज्ञानानंद स्वभावी (सहजानन्दं) सहजानन्द मयी (धम्मं) धर्म का (ससहाव) स्वस्वभाव (मुक्ति गमनं च) मोक्षमार्ग का कारण, मुक्ति देने वाला है।

विशेषार्थ - धर्म की विशेषता यह है कि शुद्ध धर्म ही कर्मों को क्षय करने

वाला है। धर्म की साधना से आत्मा, परमात्मा होता है। तीन लोक के समस्त जीव, समस्त द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में धर्म से संयुक्त रहते हैं। धर्म से कोई विलग है ही नहीं, हो ही नहीं सकता। शुद्ध धर्म के आधार पर ही लोकालोक टिका है। लोकालोक का प्रकाशक शुद्ध चैतन्य आत्मा ही है।

धर्म का उत्तम स्वभाव उत्तम क्षमादि दस धर्म स्वभावरूप है, अपने चैतन्य स्व स्वरूप में लीन रहने पर सारे कर्म क्षय हो जाते हैं। स्व स्वभाव रूप धर्म से आनंद सहजानंद में रहते हुए मुक्ति की प्राप्ति होती है।

शुद्धनय की अनुभूति अर्थात् शुद्धनय के विषय भूत अबद्ध स्पृष्टादि रूप शुद्ध आत्मा की अनुभूति सो संपूर्ण जिन शासन की अनुभूति शुद्ध धर्म की अनुभूति है। चौदह मार्गणा, लोकालोक के भाव उसमें आ गये। मोक्षमार्ग, केवलज्ञान, मोक्ष इत्यादि सब जान लिया, अनंत गुणों का अंश प्रगट हुआ, समस्त लोकालोक का स्वरूप ज्ञात हो गया। इसी शुद्ध धर्म की साधना से समस्त कर्म क्षय होते हैं तथा आत्मा परमात्मा होता है।

इस शुद्ध धर्म निज शुद्धात्म स्वभाव के आश्रय से उत्तम क्षमादि प्रगट होते हैं, इसी से देशव्रतीपना, मुनिपना, पूर्णचारित्र एवं केवलज्ञान प्रगट होता है। आत्मा तो अनंत शक्तियों का पिंड है। आत्मा में दृष्टि स्थापित करने पर अंतर से आनंद परमानंद सहजानंद रूप बहुत विभूति प्रगट होती है। अंतर में तो आनंद का सागर है, ज्ञान सागर, सुख सागर, अनंत चतुष्टयमय है। अपने चैतन्य स्वरूप शुद्ध धर्म की शरण में आने, साधना करने पर यह पंच परावर्तनरूपी जन्म-मरण का रोग शांत होता है। सारी आकुलता विषमता मिट जाती है, जीवन में आनंद सहजानंद आ जाता है।

जिसे धर्म की महिमा आती है, उसे संसार की महिमा छूट जाती है। जीव ने अनंतकाल में शुद्धोपयोग रूप धर्म का आश्रय नहीं किया इसलिये निरंतर कर्मों का आश्रव बंध हुआ। शुद्ध धर्म का आश्रय करने पर अनंतानंत कर्मों का क्षय हो जाता है। आत्मा एक है और कर्म अनंत हैं परंतु अनंत चतुष्टय धारी आत्मा के जागने पर अनंतानंत कर्म क्षय हो जाते हैं।

धर्म साधना में लोगों का भय त्यागकर, शिथिलता छोड़कर स्वयं दृढ़ पुरुषार्थ करना चाहिये। लोग क्या कहेंगे, ऐसा देखने से धर्म साधना नहीं होती, आत्म साक्षात्कार ही अपूर्व दर्शन है। अनंतकाल में नहीं हुआ, ऐसा निज शुद्ध स्वभाव का जो दिव्यदर्शन हुआ वही अलौकिक देवदर्शन है, जिसके होने पर सब कर्मों

की निर्जरा क्षय होकर मुक्ति का मार्ग, सिद्ध पद की प्राप्ति होती है।

धर्म की महिमा अपूर्व है, इस अशरण संसार में जन्म के साथ मरण लगा हुआ है। धर्म का शरण, आत्मा की सिद्धि न सधे, तब तक जन्म-मरण का चक्र चलता ही रहेगा। इस जन्म-मरण के चक्र से छुड़ाने वाला, मुक्ति देने वाला एक मात्र धर्म का ही शरण है। चैतन्य स्वरूप आत्मा में स्थिर होने पर परमात्म पद की प्राप्ति होती है।

शुद्धोपयोग आत्मा का परिणाम है वही धर्म है। इस धर्म में वीतरागता का प्रकाश है, यह वीतरागता ही कर्मों की निर्जरा करती है। इसी शुद्धात्मानुभव धर्म के सेवन से केवलज्ञान स्वरूप परमात्म पद प्रगट होता है।

यह धर्म जब व्यवहार में प्रवर्तता है तब सर्व लौकिक प्राणियों के साथ मैत्री भाव रखता हुआ सर्व का हित चाहता है तथा इसी समभाव रूप धर्म से जगत के सब पदार्थों को मूल द्रव्य स्वभाव से देखता है। शुद्धोपयोग रूप धर्म ही परमानंद को देने वाला है। जब आत्मानंद की अनुभूति में डूबता है तब सभी कर्म बंधोदय क्षय हो जाते हैं। यही स्वानुभव रूप धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान सर्व कर्म मल काटकर आत्मा को शुद्ध, मुक्त स्वाधीन कर देता है।

वास्तव में धर्म में कभी कष्ट नहीं होता, न कोई शोक होता, न चिंता होती, न खेद होता, न आकुलता होती, धर्म साधना में तो आनंद सहजानंद होता है, मुक्ति होती है, यही सत्य धर्म की विशेषता है।

प्रश्न - इस शुद्ध धर्म की साधना में व्यवहार धर्म (पुण्य) सहकारी है या नहीं ?

समाधान - साधक जीव पर द्रव्य रूप द्रव्यकर्म, परद्रव्य रूप भाव कर्म दया दान आदि शुभ राग और शरीरादि के प्रति उदासीन है क्योंकि शुद्ध स्वरूप का अनुभव होने से उसे शुद्ध चैतन्य ही उपादेय है, जब से ध्रुव स्वभाव को ध्यान में लेकर आत्म अनुभव हुआ तब से वह जीव पूर्णानंद स्वरूप को उपादेय जानने से रागादि रूप उठने वाले विकल्पों के प्रति उदासीन है। भूमिकानुसार दया दान व्रत नियम संयम आदि होते हैं उनका ज्ञायक है। जब तक जीव के साथ शरीरादि कर्मोदय संयोग है तब तक तत् समय की योग्यता अर्थात् जीव की पात्रता और कर्मोदयानुसार सारा परिणामन अपने आप चलता है। शुद्ध धर्म की साधना में पर का सहकारपना नहीं चलता। वर्तमान भूमिकानुसार जो भी क्रिया और रागादि

भाव होते हैं उनके प्रति साधक उदासीन है। वीतराग धर्म का उपासक, वीतरागता की साधना करता है वहाँ राग कैसे सहकारी हो सकता है ?

प्रश्न - जब तक पुण्य रूप क्रिया सदाचरण तथा पुण्य का उदय साथ न देवे तब तक धर्म साधना कैसे हो सकती है ?

समाधान - धर्म साधना में पुण्य-पाप दोनों का प्रक्षालन कर दिया है। श्री मालारोहण की गाथा ६ में श्री तारण स्वामी ने स्पष्ट कहा है-

जे मुक्ति सुख्यं नर कोपि सार्धं, समिक्त सुद्धं ते नर धरेत्वं ।

रागादयो पुन्य पापाय दूरं, ममात्मा सुभावं ध्रुव सुद्ध दिस्टं ॥

जो कोई नर मुक्ति सुख चाहता है अर्थात् धर्म साधना करना चाहता है, वह नर शुद्ध सम्यक्त्व को धारण करे और रागादि के उदय व पुण्य-पाप कर्म से दूर मेरा आत्मा शुद्ध है, ध्रुव है ऐसा देखे, अनुभव करे वही मुक्ति का साधक है।

धर्मी को असंख्य प्रकार के शुभ राग का उदय हो तो भी उसे राग का रस नहीं है। धर्मी को शुद्ध चैतन्य के अमृतमय स्वाद के सामने राग का रस विष तुल्य भासता है। भूमिकानुसार यह सब होते हैं उससे साधक उदासीन है, शुद्ध धर्म ज्ञान का मार्ग सूक्ष्म है। ज्ञानी की अंतर शोधन की साधना बड़ी अपूर्व है। पुण्य-पाप से दृष्टि हटने पर ही शुद्ध धर्म की साधना होती है।

प्रश्न - ज्ञान मार्ग और ज्ञानी कौन है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

अप्यर सुर विंजनयं, न्यान सहावेन पंच न्यानम्मि ।

जदि अप्यर उववन्नं, पंडित विन्यान सुद्ध संजोयं ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ - (अप्यर) अक्षर (सुर) स्वर (विंजनयं) व्यंजन रूप (न्यान सहावेन) ज्ञान स्वभाव एक है (पंच न्यानम्मि) ज्ञान के पांच भेद कहे हैं (जदि) यदि (अप्यर) अक्षर, अक्षय स्वभाव (उववन्नं) प्रगट हो जावे, अनुभूति में आ जावे (पंडित) वही ज्ञानी है (विन्यान) विज्ञान, जो भेदविज्ञान से (सुद्ध संजोयं) शुद्ध स्वभाव को संजोता है, प्रकाश करता है।

विशेषार्थ - संसार में अक्षर, स्वर, व्यंजन आदि जानने को ज्ञान कहते हैं। ज्ञान स्वभाव आत्मा एक रूप ही है परंतु ज्ञान के पांच भेद- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान, केवलज्ञान, ज्ञानावरणीय कर्म की अपेक्षा से कहे जाते हैं। यदि अक्षर जिसका कभी क्षरण, क्षय नहीं होता, ऐसा अक्षय स्वभाव

प्रगट हो जावे, अनुभूति में आ जावे वही वास्तव में ज्ञान है तथा इसी की अनुभूति करने वाला ज्ञानी है, जो भेदविज्ञान से अपने शुद्ध स्वभाव पूर्ण मुक्त केवलज्ञान स्वभाव की साधना करता है। ज्ञानी उसे कहते हैं जो अपने त्रिकाली ज्ञायक ध्रुव स्वभाव को अनुभूतियुत जानता है, भेदरूप पंच ज्ञान का भी विकल्प नहीं रखता, मात्र ज्ञान स्वभावी शुद्ध चैतन्य केवलज्ञान स्वभाव में हैं, ऐसे निज आत्म स्वभाव के श्रद्धान ज्ञान सहित उसकी दृष्टि तो ध्रुव तत्त्व शुद्धात्मा पर ही टिकी है। उसकी पर्याय में जैसा भी परिणमन चले वह पर्याय का लक्ष्य नहीं रखता, उसमें अटकता, रुकता नहीं है। धर्म दशा प्रगट हो, निर्मल पर्याय प्रगट हो परंतु ज्ञानी इन पर्यायों में नहीं रुकता, वह पूर्ण शुद्ध मुक्त केवलज्ञान स्वभाव ध्रुव तत्त्व का आराधन करता है।

जिनके अंतर में भेदज्ञान रूपी कला जागी है, चैतन्य के आनंद का वेदन हुआ है, ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा सहज वैरागी हैं।

जिसे अपने ज्ञान स्वभाव चैतन्य स्वरूप का बोध नहीं जागा वह बाहर में कितना ही शास्त्र का ज्ञाता हो, उसका समस्त ज्ञान कुज्ञान है। मिथ्यादृष्टि नौ पूर्व व ग्यारह अंग का पाठी हो तो भी उसे अज्ञान ही है। जिसकी दृष्टि सुलटी है, जिसे अपने ज्ञान स्वभावी आत्मा का ज्ञान हुआ है उसका सब कुछ सुलटा है। जिसकी दृष्टि उल्टी है जिसे अपने ज्ञान स्वभावी आत्मा का बोध नहीं है उसका सारा ज्ञान उल्टा है।

ज्ञान मार्ग तो अलौकिक है, संसार के जन्म-मरण के चक्र से छुड़ाने वाला, जीव को वर्तमान जीवन में सुख, शांति, आनंद में रखने वाला, अज्ञान जनित भय, चिंता, दुःख संकल्प-विकल्पों को मिटाने वाला, मोक्ष प्रदाता एक मात्र ज्ञान मार्ग ही है।

बाह्य में अक्षर स्वर व्यंजन आदि के माध्यम से कितना ही शास्त्र ज्ञान किया जावे, जब तक अपने ज्ञान स्वभावी आत्मा का ज्ञान नहीं होता तब तक वह सब अज्ञान है।

किसी ज्ञानी का धारणा ज्ञान अल्प भी हो परंतु प्रयोजनभूत ज्ञान तो समीचीन होता है। वह कदाचित् विशेष स्पष्टीकरण न कर सके परन्तु उसे स्वभाव की अपेक्षा तथा पर की उपेक्षा होने से ज्ञान प्रति समय विशेष-विशेष निर्मल होता जाता है। ज्ञानी की दृष्टि द्रव्य सामान्य पर ही स्थिर रहती है, भेदज्ञान की धारा सतत् बहती है। वे भक्ति, शास्त्र, स्वाध्याय आदि बाह्य प्रसंगों में उल्लास

पूर्वक भाग लेते दिखाई देते हैं तब भी उनकी भेदविज्ञान की धारा तो अखंडित रूप से अंतर में भिन्न ही कार्य करती रहती है।

ज्ञानी जीव निःशंक तो इतना होता है कि सारा ब्रह्मांड उलट जाये तब भी वह स्वयं नहीं पलटता। कर्मोदय विभाव के चाहे जितने उदय आयें तथापि चलित नहीं होता। बाहर के प्रतिकूल संयोग से ज्ञायक परिणति नहीं बदलती, श्रद्धा में फेर नहीं पड़ता। ज्ञानी को संसार का कुछ नहीं चाहिये वे संसार से विमुख होकर मोक्ष के मार्ग पर चलते हैं, स्वभाव से सुभट हैं, अंतर से निर्भय हैं, किसी से डरते नहीं और उसे किसी उपसर्ग का भय नहीं है। ज्ञानी को स्वानुभूति के समय अथवा उपयोग बाहर आये तब भी दृष्टि तो सदा अंतस्तल पर ही लगी रहती है, इसी साधना से केवलज्ञान स्वभाव प्रगट होता है।

प्रश्न - मति श्रुत ज्ञानादि पंचभेद का स्वरूप क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

अप्यर मति उववन्नं, षट् त्रि त्रि उववं न्यान सभावं ।

सुतं च अप्यर मइओ, एकादस जानि सुद्ध सहकारं ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ - (अप्यर) अक्षर से (मति) मतिज्ञान (उववन्नं) पैदा होता है (षट् त्रि त्रि) छह, तीन, तीन [अंकानां वामतो गति इस सूत्रानुसार उल्टे क्रम से तीन तीन छह इस प्रकार] तीन सौ छत्तीस भेद (उववं) पैदा होते हैं, कहे गये हैं (न्यान) मतिज्ञान (सभावं) स्वभाव के (सुतं) श्रुतज्ञान (च) और (अप्यर मइओ) अक्षरमयी है (एकादस जानि) ग्यारह अंग का ज्ञान (सुद्ध सहकारं) शुद्ध स्वभाव के सहकार साधना से होता है।

विशेषार्थ - पांच इन्द्रियां और मन के द्वारा जानने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। यह अक्षर, स्वर, व्यंजन आदि से प्रगट होता है, इसके तीन सौ छत्तीस भेद कहे गये हैं। श्रुतज्ञान अक्षरमयी होता है। श्रुतज्ञान द्वारा ग्यारह अंग, चौदह पूर्व, द्वादशांग वाणी का ज्ञान होता है। इन मति श्रुत ज्ञान की विशेषता, निर्मलता, वृद्धि शुद्ध ज्ञान स्वभाव की साधना से होती है।

ज्ञान गुण एक है और उसकी पर्याय के यह पांच भेद-मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवलज्ञान हैं। इनमें जब एक प्रकार उपयोग रूप होता है तब दूसरा प्रकार उपयोग रूप नहीं होता इसलिये इन पांच में से एक समय में एक ही ज्ञान का प्रकार उपयोग रूप होता है।

सम्यक्दर्शन पूर्वक सम्यक्ज्ञान होता है। सम्यक्ज्ञान कारण और सम्यक्ज्ञान कार्य है। सम्यक्ज्ञान आत्मा के ज्ञान गुण की शुद्ध पर्याय है।

जिस ज्ञान में १. अपना स्वरूप, २. अर्थ (विषय), ३. यथार्थ निश्चय, यह तीन बातें पूरी हों, जो संशय, विभ्रम, विमोह से रहित है उसे सम्यक्ज्ञान कहते हैं। जिसके यह पांच भेद हैं-

१. मतिज्ञान - पांच इन्द्रियों और मन के द्वारा अपनी शक्ति अनुसार जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं, इसके ३३६ भेद हैं।

२. श्रुतज्ञान - मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ को विशेष रूप से जानना श्रुतज्ञान है।

३. अवधिज्ञान - जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा सहित इन्द्रिय या मन के निमित्त बिना रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

४. मनः पर्ययज्ञान - जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा सहित इन्द्रिय अथवा मन की सहायता के बिना ही दूसरे पुरुष के मन में स्थित रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है उसे मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं।

५. केवलज्ञान - समस्त द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायों को एक साथ प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।

जिस जीव को सम्यक्ज्ञान हो जाता है वह अपने सम्यक् मति और सम्यक् श्रुतज्ञान के द्वारा अपने को सम्यक्त्व होने का निर्णय कर सकता है और वह ज्ञान प्रमाण है।

प्रारंभ के दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान विकल प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। आगे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की विशेषता बतलाते हैं -

१. मतिज्ञान - मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध यह मतिज्ञान के नामांतर हैं। मतिज्ञान के ३३६ भेद हैं -

१. अवग्रह, २. ईहा, ३. अवाय, ४. धारणा। मतिज्ञान के यह चार भेद हैं। अवग्रह आदि ज्ञान १२ प्रकार के पदार्थों का होता है -

१. बहु, २. एक, ३. बहुविध, ४. एकविध, ५. क्षिप्र, ६. अक्षिप्र, ७. अनिःसृत, ८. निःसृत, ९. अनुक्त, १०. उक्त, ११. ध्रुव, १२. अध्रुव।

१२ × ४ = ४८

यह सब पांच इंद्रिय और मन के द्वारा होता है - $४८ \times ६ = २८८$
व्यंजनावग्रह चार इंद्रियों के द्वारा होता है, नेत्र और मन से नहीं होता इसलिये उसके बहु, बहुविध आदि बारह भेद होने पर $१२ \times ४ = ४८$ भेद हो जाते हैं। इस प्रकार मतिज्ञान के $२८८ + ४८ = ३६६$ भेद होते हैं। (विशेषता से जानने के लिये तत्त्वार्थ सूत्र ग्रंथ देखें)

२. श्रुतज्ञान - श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है, श्रुतज्ञान के दो, अनेक और बारह भेद होते हैं।

१. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५. व्याख्या प्रज्ञप्ति अंग, ६. ज्ञातृधर्म कथांग, ७. उपासकाध्ययनअंग, ८. अंतः कृत दशांग, ९. अनुत्तरौपपादिकांग, १०. प्रश्नव्याकरणांग, ११. विपाक सूत्रांग, १२. दृष्टि प्रवादांग।

यह द्वादशांग वाणी जिनवाणी कहलाती है, इसके ग्यारह अंग और चौदह पूर्व भी कहे जाते हैं, जिसके पूर्ण ज्ञाता गणधर या श्रुतकेवली होते हैं। ग्यारह अंग नौ पूर्व तक का ज्ञान सामान्य सब जीवों को हो सकता है इसलिये श्री तारण स्वामी ने गाथा में ग्यारह अंग कहे हैं।

जीव को सम्यक्दर्शन होते ही सम्यक्मति और सम्यक् श्रुतज्ञान होता है। यह जो सम्यक्मति और श्रुतज्ञान के भेद दिये गये हैं। यह ज्ञान की विशेष निर्मलता होने के लिये दिये गये हैं। इन भेदों में अटक कर राग में लगे रहने के लिये नहीं हैं। यह तो सब अपने आप क्रमशः वृद्धिगत होते हैं। इनका स्वरूप जानकर अपने त्रैकालिक अखंड, अभेद चैतन्य स्वभाव की ओर उन्मुख होकर निर्विकल्प होने की आवश्यकता है। ज्ञान स्वभाव की साधना से यह अपने आप प्रगट होते हैं।

आगे अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान की विशेषता के लिये गाथा कहते हैं -

अवहि उवंनं भावं, दिसि संजोय अप्यरं जोयं ।

मन पर्जय संजुत्तं, रिजु विपुलं च अप्यरं दिसिमो ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ - (अवहि) अवधिज्ञान (उवंनं) प्रगट होना, प्रकाश होना (भावं) भाव (दिसि) दिशा तक (संजोय) संयोग (अप्यरं) अक्षय अविनाशी (जोयं) देखता है (मन पर्जय) मनः पर्यय ज्ञान (संजुत्तं) संयुक्त होना, अनुभव होना (रिजु) रिजुमति (विपुलं) विपुलमति (च) और (अप्यरं) अक्षय अविनाशी (दिसिमो) दिशाओं तक देखता जानता है।

विशेषार्थ - अवधिज्ञान का प्रगटपना अपने अविनाशी ज्ञान स्वभाव की साधना से होता है। यह सीमित काल भाव और दिशाओं तक होता है। मनःपर्यय ज्ञान रिजुमति विपुलमति के भेद से दो प्रकार का होता है, यह अपने अक्षय, अविनाशी, शुद्ध स्वभाव की लीनता वाले संयमी जीव को होता है, यह भी विशेष सीमा तक देखता जानता है।

३. अवधिज्ञान - अवधिज्ञान के दो भेद हैं - १. भव प्रत्यय, २. गुण प्रत्यय।

भव प्रत्यय अवधिज्ञान देव नारकियों को होता है तथा तीर्थंकरों के गृहस्थ दशा में होता है। भव प्रत्यय अवधिज्ञान में सम्यक् मिथ्या का भेद नहीं किया। गुण प्रत्यय अवधिज्ञान - किसी विशेष पर्याय की अपेक्षा न करके जीव के पुरुषार्थ द्वारा प्रगट होता है। यह क्षयोपशम निमित्तक भी कहलाता है, इसके ६ भेद होते हैं -

१. अनुगामी, २. अननुगामी, ३. वर्धमान, ४. हीयमान, ५. अवस्थित, ६. अनवस्थित। यह मनुष्य और तिर्यचों को होता है।

अवधिज्ञान के प्रतिपाती, अप्रतिपाती, देशावधि, परमावधि और सर्वावधि भेद भी होते हैं।

जघन्य देशावधि संयत तथा असंयत मनुष्यों और तिर्यचों के होता है। उत्कृष्ट देशावधि संयत भाव मुनि के ही होता है।

अवधिज्ञान रूपी पुद्गल तथा उस पुद्गल के संबंध वाले संसारी जीव के विकारी भाव को प्रत्यक्ष जानता है।

द्रव्य अपेक्षा - एक जीव के औदारिक शरीर संचय के लोकाकाश प्रदेश प्रमाण खण्ड करने पर उसके एक खंड तक का ज्ञान होता है।

क्षेत्र अपेक्षा - उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग तक के क्षेत्र को जानता है।

काल अपेक्षा - आवली के असंख्यात भाग प्रमाण भूत और भविष्य को जानता है।

भाव अपेक्षा - पहले द्रव्य प्रमाण निरूपण किये गये द्रव्यों की शक्ति को जानता है।

जीव अपने पुरुषार्थ से अपने ज्ञान की विशुद्ध अवधिज्ञान पर्याय को प्रगट करता है, उसमें स्वयं ही कारण है, कर्म का क्षयोपशम निमित्त मात्र है।

क्षयोपशम का अर्थ -

१. सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय ।

२. देशघाती स्पर्द्धकों में गुण का सर्वथा घात करने की शक्ति का उपशम वह क्षयोपशम कहलाता है ।

गुण प्रत्यय अवधिज्ञान - सम्यक्दर्शन, देशव्रत अथवा महाव्रत के निमित्त से होता है तथापि वह सभी सम्यक्दृष्टि, देशव्रती या महाव्रती जीवों के नहीं होता किन्तु सम्यक्दृष्टि जीवों में से बहुत थोड़े से जीवों को अवधिज्ञान होता है ।

जीव के पांच भाव में से औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक यह तीन भाव ही अवधिज्ञान के विषय हैं और जीव के शेष क्षायिक तथा पारिणामिक भाव और धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य तथा कालद्रव्य अरूपी पदार्थ हैं वे अवधिज्ञान के विषयभूत नहीं होते । यह ज्ञान सब रूपी पदार्थों और उनकी कुछ पर्यायों को जानता है । क्षेत्र (सीमा) असंख्यात लोक प्रमाण तक है ।

अवधिज्ञान के भेदों का स्वरूप जानकर भेदों की ओर से राग को दूर करके अभेद ज्ञान स्वरूप अपने स्वभाव की ओर उन्मुख होना चाहिये ।

४. मनः पर्यय ज्ञान - मनः पर्यय ज्ञान २ प्रकार का होता है- १. ऋजुमति, २. विपुलमति ।

दूसरे के मनोगत मूर्तीक द्रव्यों को मन के साथ जो प्रत्यक्ष जानता है वह मनः पर्यय ज्ञान है ।

ऋजुमति - मन में चिंतित पदार्थ को जानता है, अचिंतित पदार्थ को नहीं और वह भी सरल रूप से चिंतित पदार्थ को जानता है ।

विपुलमति - चिंतित और अचिंतित पदार्थ को तथा वक्र चिंतित और अवक्र चिंतित पदार्थ को भी जानता है ।

मनः पर्ययज्ञान विशिष्ट संयमधारी को होता है । विपुलमति ज्ञान में ऋजु और वक्र सर्व प्रकार के रूपी पदार्थों का ज्ञान होता है । अपने तथा दूसरों के जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ इत्यादि का भी ज्ञान होता है ।

मन में स्थित गुप्त भावों का उसकी भावना सहित प्रत्यक्ष ज्ञान होना जैसे- एक मनुष्य वर्तमान में क्या विचार कर रहा है, उसके साथ उसने भूतकाल में क्या विचार किया था और भविष्य में क्या विचार करेगा, इस ज्ञान का मनोगत विकल्प मनः पर्यय ज्ञान का विषय है ।

द्रव्यापेक्षा से मनः पर्यय ज्ञान का विषय - जघन्य रूप से एक समय में

होने वाले औदारिक शरीर के निर्जरा रूप द्रव्य तक जान सकता है । उत्कृष्ट रूप से आठ कर्मों के एक समय में बंधे हुए समय प्रबद्ध रूप द्रव्य के अनन्त भागों में से एक भाग तक जान सकता है ।

क्षेत्र अपेक्षा - जघन्य रूप से दो, तीन कोस तक के क्षेत्र को जानता है, उत्कृष्ट रूप से मनुष्य क्षेत्र के भीतर जान सकता है ।

काल अपेक्षा - जघन्य रूप से दो तीन भवों का ग्रहण करता है, उत्कृष्ट रूप से असंख्यात भवों का ग्रहण करता है ।

भाव अपेक्षा - द्रव्य प्रमाण से कहे गये द्रव्यों की शक्ति (भावों) को जानता है ।

ऋजुमति ज्ञान होकर छूट भी जाता है, संयम परिणाम का घटना, उसकी हानि होना प्रतिपात है जो कि किसी ऋजुमति वाले को होता है ।

विपुलमति विशुद्ध शुद्ध ज्ञान है, वह छूटता नहीं है, केवलज्ञान होने तक बना रहता है । इस ज्ञान की उत्पत्ति आत्मा की शुद्धि से होती है । इस ज्ञान के द्वारा स्व तथा पर दोनों के मन में स्थित रूपी पदार्थ जाने जा सकते हैं ।

मनः पर्ययज्ञान उत्तम ऋद्धिधारी भाव मुनियों के ही होता है । गणधर चार ज्ञान के धारी होते हैं । अवधिज्ञान चारों गतियों के सैनी जीवों को होता है ।

उत्कृष्ट अवधिज्ञान का क्षेत्र असंख्यात लोक प्रमाण तक है और मनः पर्यय ज्ञान का ढाई द्वीप मनुष्य क्षेत्र है ।

अवधिज्ञान का विषय परमाणु पर्यंत रूपी पदार्थ है और मनः पर्यय ज्ञान का विषय मनोगत विकल्प है ।

यह भेदों का स्वरूप जानकर, भेदों का लक्ष्य छोड़कर, शुद्धनय के विषय भूत अभेद अखंड ज्ञान स्वरूप आत्मा की ओर अपना लक्ष्य करना ।

आगे केवलज्ञान की विशेषता बतलाने वाली गाथा कहते हैं -

केवल भाव संजुतं, विमल सहावेन अष्यरं सुद्धं ।

न्यानेन न्यान विमलं, दिसि विन्यानं च ममल न्यानं च ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ - (केवल भाव) केवलज्ञान स्वरूप परम पारिणामिक भाव में (संजुतं) संयुक्त होना, लीन होना, प्रकाश होना (विमल सहावेन) विमल स्वभाव से, समस्त कर्म मलादि दोषों से रहित (अष्यरं सुद्धं) अक्षय अविनाशी शुद्ध पद प्रगट होता है (न्यानेन न्यान) ज्ञान से ज्ञान, आत्मज्ञान से केवलज्ञान (विमलं) निर्मल, शुद्ध, मल रहित होता है (दिसि विन्यानं) विज्ञानमयी स्वभाव में सब

दिशाओं का ज्ञान होता है (च) ऐसी (ममल न्यानं च) ममल केवलज्ञान स्वभाव की महिमा, विशेषता है।

विशेषार्थ - परम पारिणामिक भाव में रहने से केवलज्ञान प्रगट होता है। अड़तालीस मिनट एक मुहूर्त का शुद्धोपयोग अर्थात् उपयोग का धारावाही अपने अक्षय अविनाशी शुद्ध विमल स्वभाव में रत रहने से एक मुहूर्त में केवलज्ञान का प्रकाश हो जाता है। भेदविज्ञान के द्वारा निर्मल आत्मा का ज्ञान प्राप्त करके जब साधक शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है तब इसी के दृढ़ अभ्यास से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। इस ज्ञान के द्वारा अविनाशी आत्मतत्त्व बिल्कुल प्रत्यक्ष स्पष्ट झलकता है।

केवलज्ञान की एक समय की पर्याय में तीन लोक तीन काल के समस्त द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती पर्याय प्रत्यक्ष झलकती हैं। केवलज्ञानी परमात्मा अपने परमानंद में लीन रहते हैं यही केवलज्ञान की विशेषता है।

निज स्वभाव रूपी साधन के द्वारा ही परमात्मा हुआ जाता है। गृहस्थ अवस्था में परमात्मदशा प्राप्त नहीं होती, ज्ञानानंद स्वभाव के साधन द्वारा दिव्यशक्ति प्रगट होने पर केवलज्ञान होता है। जिनकी दशा जीवन्मुक्त हुई है वे केवलज्ञानी अरिहंत परमात्मा शरीर में रहते हुए भी पूर्ण परमात्मा अरिहन्त देव हैं। उनके चार घातिया कर्मों का अभाव हो गया है व अंतर समाहित निज अनंत शक्ति प्रगट हुई है, वे तीन काल व तीनलोक को एक समय में प्रत्यक्ष जानते हैं। केवलज्ञान का विषय संबंध सर्वद्रव्य और उनकी सर्व पर्यायें हैं अर्थात् केवलज्ञान एक ही साथ अपने को तथा सभी पदार्थों को और उनकी सभी पर्यायों को जानता है।

घातिकर्म का नाश तथा केवलज्ञान का प्रकाश होने पर अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य, यह अनंत चतुष्टय प्रगट होते हैं। इसमें अंतः करण चतुष्टय मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार विला जाते हैं। वहाँ अनंत दर्शन ज्ञान से तो छह द्रव्यों से भरपूर जो यह लोक है, जिसमें जीव अनंतानंत और पुद्गल उनसे भी अनन्तगुने हैं और धर्म, अधर्म, आकाश यह तीन द्रव्य एक-एक एवं असंख्य काल द्रव्य हैं। उन सर्व द्रव्यों की भूत भविष्य वर्तमान काल संबंधी अनंत पर्यायों को भिन्न-भिन्न एक समय में देखते और जानते हैं तथा अनंत वीर्य द्वारा अपने अनंत सुख स्वभाव में निमग्न रहते हैं। केवली भगवान को ज्ञानाज्ञान नहीं होता अर्थात् उन्हें किसी विषय में ज्ञान और किसी विषय में अज्ञान

नहीं होता किन्तु सर्वत्र ज्ञान ही ज्ञान वर्तता है।

एक जीव के एक साथ एक से लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं, यदि एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है, दो हों तो मति और श्रुत होते हैं, तीन हों तो मति, श्रुत, अवधि अथवा मनः पर्याय होते हैं। चार हों तो मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्याय ज्ञान होते हैं। एक ही साथ पांच ज्ञान किसी को नहीं होते क्योंकि चार ज्ञान कर्मोदय जन्य पर्यायें हैं, केवलज्ञान स्वभाव है और एक ही ज्ञान एक समय में उपयोग रूप होता है। केवलज्ञान होने पर वह सदा के लिये बना रहता है, दूसरे ज्ञानों का उपयोग अधिक से अधिक अंतर्मुहूर्त होता है उससे अधिक नहीं होता उसके बाद ज्ञान के उपयोग का विषय बदल ही जाता है। केवली के अतिरिक्त सभी संसारी जीवों को कम से कम दो अर्थात् मति श्रुत ज्ञान अवश्य होते हैं।

आत्मा वास्तव में परमार्थ है और वह ज्ञान है, आत्मा स्वयं एक ही पदार्थ है इसलिये ज्ञान भी एक ही पद है और यह परमार्थ स्वरूप साक्षात् मोक्ष का उपाय है। इन गाथाओं में ज्ञान के जो भेद कहे हैं, वे इस एक पद-ज्ञान स्वभाव का अभिनंदन करते हैं। ज्ञान के हीनाधिक रूप भेद उसके सामान्य ज्ञान स्वभाव को नहीं भेदते किन्तु अभिनंदन करते हैं; इसलिये जिसमें समस्त भेदों का अभाव है ऐसे आत्म स्वभाव भूत ज्ञान का ही आलम्बन करना चाहिये अर्थात् ज्ञान स्वरूप आत्मा का ही अवलंबन करना चाहिये।

ज्ञान स्वरूप आत्मा के आलम्बन की ऐसी महिमा है, जिससे- १. निजपद की प्राप्ति होती है। २. भ्रांति का नाश होता है। ३. आत्मा का लाभ होता है। ४. आत्मा का परिहार सिद्ध होता है। ५. भाव कर्म बलवान नहीं हो सकता। ६. राग-द्वेष, मोह उत्पन्न नहीं होते। ७. पुनः कर्म का आश्रय नहीं होता। ८. पुनः कर्म नहीं बंधता। ९. पूर्व बद्ध कर्म भोगा जाने पर निर्जरित हो जाता है। १०. समस्त कर्मों का अभाव होने से साक्षात् मोक्ष होता है।

प्रश्न - जब एक ज्ञान स्वभाव आत्मा ही इष्ट आराध्य है, केवलज्ञान स्वभावी है फिर यह भेद करने की, इतना फैलाव फैलाने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान - मूल में तो एक केवलज्ञान स्वभावी आत्मा ही है परंतु अज्ञान जनित कर्म संयोग होने से यह संसार वृक्ष का फैलाव फैला ही हुआ है। मूल का लक्ष्य रखकर इस सब फैलाव भेद भिन्नता को समझना, समझकर उससे हट जाना ही ज्ञानीपन है क्योंकि इन सबको जाने बिना भी ज्ञान का परिमार्जन नहीं

होता ; इसलिये यह सब जान समझकर अज्ञान का उन्मूलन कर ज्ञानी होकर संसार रूपी वृक्ष को छोड़कर मुक्ति प्राप्त करें, ज्ञानी केवलज्ञानी परमात्मा बनें ।

प्रश्न - ज्ञानी पंडित की परिभाषा तथा पहिचान क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

पण्डित्य विवेक्य सुद्धं, विन्यानं न्यान सुद्ध उवएसं ।

संसार सरनि तिक्तं, कम्म षय ममल मुक्ति गमनं च ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ - (पण्डित्य) पंडित ज्ञानी वही है (विवेक्य सुद्धं) जिसका विवेक शुद्ध हो अर्थात् विवेक का जागरण हो गया (विन्यानं) भेदविज्ञान के द्वारा (न्यान सुद्ध) शुद्ध आत्मज्ञान का (उवएसं) उपदेश करता है, कहता है (संसार सरनि तिक्तं) जो संसार परिभ्रमण छोड़ता है, संसार चक्र से छूट गया (कम्म षय) कर्मों का क्षय कर (ममल) ममल स्वभाव की साधना कर (मुक्ति गमनं च) मुक्ति को प्राप्त करता है ।

विशेषार्थ - “सदसद् विवेक बुद्धिः विद्यते यस्य स पंडितः” जिसके सत्य-असत्य, आत्मा-अनात्मा को परखने की बुद्धि हो वही पंडित है जो भेदविज्ञान मयी शुद्ध आत्मज्ञान का उपदेश करता है । जो संसार परिभ्रमण से छूटने के लिये ममल स्वभाव की साधना से कर्मों को क्षय कर मुक्ति मार्ग पर चलता है वही पंडित ज्ञानी है ।

मिथ्यादृष्टि जीव सत्-असत् का विवेक (भेदज्ञान) नहीं जानता, जहाँ सत् और असत् के भेद का अज्ञान होता है, आत्मा-अनात्मा का विवेक नहीं होता वहाँ अज्ञान के कारण जीव जैसा अपने को ठीक लगता है वैसा पागल या शराबी की भांति मिथ्या कल्पनायें किया करता है, इसी से अज्ञानी मिथ्यादृष्टि कहलाता है ।

पंडित वह है जिसका विवेक शुद्ध हो गया, जाग गया, जो भेदविज्ञान पूर्वक स्व-पर का यथार्थ निर्णय करता है, जिसने सत्-असत्, आत्मा-अनात्मा को जान लिया है जिसे सम्यक्दर्शन पूर्वक सम्यक्ज्ञान हो गया, वह पंडित ज्ञानी है । जो ज्ञान विज्ञान मयी शुद्धात्मा का उपदेश करता है तथा स्वयं आत्मा को परम शुद्ध अनुभव करके मोक्षमार्ग पर चलता हुआ व संसार मार्ग से हटा हुआ शनैः-शनैः कर्मों को क्षय करके मुक्त हो जाता है ।

सत्-असत् का निर्णय-

१. एक द्रव्य उसके गुण या पर्याय, दूसरे द्रव्य उसके गुण या पर्याय में कुछ

भी नहीं कर सकते । प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने कारण से अपनी पर्याय धारण करता है । विकारी अवस्था के समय परद्रव्य निमित्त रूप अर्थात् उपस्थित तो होता है किंतु वह किसी अन्य द्रव्य में कुछ भी नहीं कर सकता ।

प्रत्येक द्रव्य में अगुरुलघुत्व नामक गुण है इसलिये वह द्रव्य अन्य रूप नहीं होता, एक गुण दूसरे गुण रूप नहीं होता और एक पर्याय दूसरी पर्याय रूप नहीं होती । एक द्रव्य के गुण या पर्याय उस द्रव्य से पृथक् नहीं हो सकते । इस प्रकार जो अपने क्षेत्र से अलग नहीं हो सकते और परद्रव्य में नहीं जा सकते तब फिर वे पर का क्या कर सकते हैं ? कुछ भी नहीं । एक द्रव्य, गुण या पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय में कारण नहीं होते, इसी प्रकार वे दूसरे का कार्य भी नहीं होते । ऐसी अकारण कार्यत्व शक्ति प्रत्येक द्रव्य में विद्यमान है, इस प्रकार समझ लेने पर कारण विपरीतता दूर हो जाती है ।

२. प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है, जीवद्रव्य चेतना गुण स्वरूप है, पुद्गल द्रव्य स्पर्श, रस, गंध और वर्ण स्वरूप है । जब तक जीव ऐसी विपरीत पकड़ बनाये रहता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ और पर मेरा कुछ कर सकता है तथा शुभ विकल्प से लाभ होता है, तब तक उसकी अज्ञान रूप पर्याय बनी रहती है । जब जीव यथार्थ को समझता है अर्थात् सत् को समझता है तब यथार्थ मान्यता पूर्वक उसे सच्चा ज्ञान होता है । उसके परिणाम स्वरूप क्रमशः शुद्धता बढ़कर संपूर्ण वीतरागता प्रगट होती है । अन्य चार द्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश और काल अरूपी हैं, उनकी कभी अशुद्ध अवस्था नहीं होती, इस प्रकार समझ लेने पर स्वरूप विपरीतता दूर हो जाती है ।

३. परद्रव्य, जडकर्म और शरीर से जीव त्रिकाल भिन्न है । जब वे एक क्षेत्रावगाह संबंध से रहते हैं, तब भी जीव के साथ एक नहीं हो सकते, एक द्रव्य के, द्रव्य क्षेत्र काल भाव दूसरे द्रव्य में नास्ति रूप हैं क्योंकि दूसरे द्रव्य से वह द्रव्य चारों प्रकार से भिन्न है । प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपने गुण से अभिन्न है क्योंकि गुण से द्रव्य कभी पृथक् नहीं हो सकता । पुद्गल से तो जीव भिन्न है ही तथापि एक जीव से दूसरा जीव भी अत्यंत भिन्न है इस प्रकार समझ लेने पर भेदाभेद विपरीतता दूर हो जाती है ।

सत् - त्रिकाल टिकने वाला सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, निश्चय, शुद्ध यह सब एकार्थ वाचक शब्द हैं । जीव का ज्ञायक भाव ज्ञान स्वभाव त्रैकालिक अखंड है इसलिये वह सत् है । इस दृष्टि को द्रव्य दृष्टि, शुद्ध दृष्टि, तत्त्व दृष्टि कहते हैं ।

असत् - क्षणिक, अभूतार्थ, व्यवहार, भेद, पर्याय, भंग, अविद्यमान यह सब एकार्थ हैं। जीव में होने वाला विकार भाव असत् है क्योंकि वह क्षणिक है, नाशवान है।

जीव अनादि काल से इस असत् विकारी भाव पर दृष्टि रख रहा है इसलिये उसे पर्याय बुद्धि, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि मूढ़ कहा जाता है। अज्ञानी जीव इस असत् क्षणिक भाव को अपना मान रहा है अर्थात् वह असत् को सत् मान रहा है इसलिये इस भेद को जानकर जो जीव असत् को गौण करके सत् स्वरूप को लक्ष्य करके अपने ज्ञायक स्वभाव की ओर उन्मुख होता है, वह मिथ्याज्ञान को दूर करके सम्यक्ज्ञान प्रगट करता है वही पंडित ज्ञानी है।

**स्वामी देहालय सोई सिद्धालय, भेउ न रहे ।
जं जाके अन्मोय, स न्यानी मुक्ति लहे ॥
परमानंद सा दिस्टा, मुक्ति स्थानेषु तिष्ठिते ।
सो अहं देह मध्येषु, सर्वन्यं सास्वतं धुवं ॥
कर्म अस्ट विनिर्मुक्तं, मुक्ति स्थानेषु तिष्ठिते ।
सो अहं देह मध्येषु, यो जानाति स पंडिता ॥**

जिसने अपने सत्स्वरूप को जान लिया वह ज्ञानी अपने ममल स्वभाव की साधना करके कर्मों को क्षय करता हुआ मुक्ति मार्ग पर चलता है तथा इसी विज्ञानमयी आत्म स्वरूप का उपदेश देता है वही पंडित है। कथनी करनी भिन्न जहाँ, धर्म नहीं पाखंड वहाँ।

लोग न समझें इसलिये विरोध भले करें किन्तु यहाँ यथार्थ स्वरूप (तत्त्व) का विचार किया जा रहा है। औषधि रोगी की इच्छानुसार नहीं होती। जगत रोगी है, ज्ञानीजन उसी के अनुकूल रुचिकर तत्त्व का स्वरूप नहीं कहते किंतु वे वही कहते हैं जो यथार्थ वस्तु स्वरूप होता है।

परमात्म रूप वीतरागी त्रिकाली आत्मद्रव्य ही उपादेय है, इसके अतिरिक्त कोई निमित्त या किसी प्रकार का राग विकल्प उपादेय नहीं है, यह सब तो मात्र जानने योग्य है, एक परम शुद्ध स्वभाव ही आदरणीय है। भाव नमस्कार रूप पर्याय भी निश्चय से आदरणीय नहीं है, इस प्रकार परम शुद्धात्म स्वभाव को ही उपादेय रूप से अंगीकार करने वाला पंडित ज्ञानी है।

ज्ञानी की दृष्टि अखंड चैतन्य में भेद नहीं करती, साथ में रहने वाला ज्ञान विवेक करता है कि यह चैतन्य के भाव हैं, यह पर हैं। दृष्टि (श्रद्धा, मान्यता,

विश्वास, प्रतीति) ऐसे परिणाम नहीं करती कि इतना तो सही है, इतनी कचास है। ज्ञान सभी प्रकार का विवेक करता है। जिसने शांति का स्वाद चख लिया, उसे राग नहीं रुचता, वह विभाव परिणति से दूर भागता है।

अज्ञानी ने अनादि काल से अनंत ज्ञान आनंदादि समृद्धि से भरे हुए निज चैतन्य चैत्यालय को ताले लगा दिये हैं और स्वयं बाहर भटकता रहता है। ज्ञान बाहर से ढूँढ़ता है, आनंद बाहर से ढूँढ़ता है, सब कुछ बाहर से ढूँढ़ता है, स्वयं भगवान होने पर भी भीख मांगता रहता है।

ज्ञानी ने निज चैतन्य चैत्यालय के ताले खोल लिये हैं, अंतर में ज्ञान, आनंद आदि की अटूट समृद्धि देखकर उसका अनुभव कर परम विश्रान्ति के लिये बाहर पर पर्याय से उपयोग हटाकर, ममल स्वभाव की साधना करता है। सतत् वीतराग मार्ग पर बढ़ता जाता है। उसकी भावना होती है कि स्वरूप में कब ऐसी स्थिरता होगी, जब श्रेणी मांडकर वीतराग दशा प्रगट होगी ? कब ऐसा अवसर आयेगा जब स्वरूप में उग्र रमणता होगी और आत्मा का परिपूर्ण स्वभाव, केवलज्ञान प्रगट होगा ? कब ऐसा परम ध्यान जमेगा कि आत्मा शाश्वत रूप से आत्म स्वभाव में ही रह जायेगा ? ऐसी भावना सहित उग्र पुरुषार्थ करता है जिससे कर्मक्षय होने से मुक्ति मार्ग पर आगे बढ़ता है अर्थात् संयम, तप, वीतरागता, साधुपद प्रगट होने लगता है।

ज्ञानी धर्मी जीव, रोग की, वेदना की या मृत्यु की चपेट में नहीं आता क्योंकि उसने शुद्धात्मा की शरण प्राप्त की है। विपत्ति के समय वह आत्मा में समता शांति धारण करता है। विकट प्रसंग में वह निज शुद्धात्मा की शरण विशेष लेता है। मरणादि के समय पंडित ज्ञानी धर्मी जीव शाश्वत ऐसे निज सुख सरोवर में विशेष-विशेष डुबकी लगाता है। जहाँ रोग नहीं है, वेदना नहीं है, मरण नहीं है, शांति की अटूट संपत्ति भरी है, वह शांति, समाधि पूर्वक देह छोड़ता है उसका जीवन सफल है, धन्य है।

वास्तविकता तो यह है कि जिस काल में ज्ञान से अज्ञान निवृत्त हुआ, उसी काल में ज्ञानी मुक्त है, देहादि में अप्रतिबद्ध है, सुख-दुःख, हर्ष-शोकादि में अप्रतिबद्ध है। ऐसे ज्ञानी को कोई आश्रय या आलंबन नहीं है। निराश्रय ज्ञानी को तो सभी समान हैं अथवा ज्ञानी सहज परिणामी है, सहज स्वरूपी है, सहजानंद में स्थित है। ज्ञानी सहजरूप से प्राप्त उदय को भोगते हैं। सहजरूप से जो कुछ होता है, वह होता है। जो नहीं होता वह नहीं होता है। वे कर्तृत्व रहित हैं उनका

कर्तृत्व भाव विलीन हो चुका है।

जिस वस्तु का महात्म्य दृष्टि (मान्यता) में से चला गया उस वस्तु के प्रति कोई राग-द्वेष नहीं होता।

ज्ञानी पुरुषों को समय-समय में अनंत संयम परिणाम वर्धमान होते हैं ऐसा सर्वज्ञ ने कहा है यह सत्य है। वह संयम, विचार की तीक्ष्ण परिणति से ब्रह्म स्वरूप के प्रति स्थिरता होने से उत्पन्न होता है।

ज्ञानी की वाणी पूर्वापर विरोध रहित होती है, आत्मार्थ उपदेशक और अपूर्व अर्थ का निरूपण करने वाली होती है तथा अनुभव सहित होने से आत्मा को सतत् जाग्रत करने वाली होती है। शुष्क ज्ञानी की वाणी में तथानुरूप गुण नहीं होते।

जिस प्रारब्ध को भोगे बिना दूसरा कोई उपाय नहीं है, वह प्रारब्ध ज्ञानी को भी भोगना पड़ता है। सर्व विभाव से उदासीन और अत्यंत शुद्ध निज पर्याय का सहज रूप से सेवन करने से आत्मा कर्म बंधन से मुक्त होता है यही मोक्षमार्ग है।

ऐसा श्री जिनेन्द्र परमात्मा ने जिनवाणी में कहा है, इसको श्रद्धा सहित स्वीकार करने से आत्म कल्याण होता है।

प्रश्न - जिनवाणी की प्रामाणिकता क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

बावन अष्यर सुद्धं, न्यानं विन्यान न्यान उववन्नं ।

सुद्धं जिनेहि भनियं, न्यान सहावेन भव्य उवएसं ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ - (बावन अष्यर सुद्धं) बावन अक्षर शुद्ध होते हैं उनसे शास्त्र अर्थात् जिनवाणी की रचना होती है (न्यानं) शास्त्र से अर्थबोध ज्ञान होता है (विन्यान) अर्थ बोधज्ञान से भेदविज्ञान होता है (न्यान उववन्नं) भेदविज्ञान से आत्मज्ञान पैदा होता है (सुद्धं जिनेहि भनियं) ऐसा शुद्ध अक्षर ज्ञान जिनेन्द्रों ने कहा है (न्यान सहावेन) ज्ञान स्वभाव का (भव्य उवएसं) भव्य जीवों को उपदेश दिया है।

विशेषार्थ - अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ए ऐ ओ औ अं अः यह सोलह स्वर होते हैं। क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ व भ म, य र ल व, श ष स ह यह तेतीस व्यंजन होते हैं। क्ष त्र ज्ञ यह तीन संयोगी अक्षर होते हैं, ऐसे कुल बावन अक्षर होते हैं, यह सब शुद्ध होते हैं। इन्हीं के

संयोग से शास्त्र, ग्रन्थ, पुस्तक आदि की रचना होती है। ज्ञानी, अज्ञानी द्वारा इनका जैसा प्रयोग किया जाता है वैसे शब्द भाषा और अर्थ हो जाता है। जिनेन्द्र परमात्मा की दिव्य ध्वनि द्वारा शुद्ध अक्षर, ज्ञान स्वभाव आत्मा का भव्य जीवों को उपदेश दिया है। उनकी वाणी का संग्रह जिनवाणी कहलाती है। जिनेन्द्र परमात्मा वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी आप्त हैं, इनके द्वारा कथित जिनवाणी श्री कहिये, शोभनीक, मंगलीक, जय जयवंत, कल्याणकारी, महासुखकारी है। जिनवाणी (शास्त्र) स्वाध्याय से अर्थ बोध ज्ञान, उससे भेदविज्ञान और भेदविज्ञान से आत्मज्ञान पैदा होता है। जिनेन्द्र के वचन सत्य हैं, ध्रुव हैं, प्रमाण हैं इसलिये जिनवाणी की प्रामाणिकता है। यही भव्य जीवों का उपकार करने वाली, वीतराग वाणी, द्वादशांग वाणी कहलाती है।

वीतरागता बड़े और कषाय घटे, ऐसा जिसका प्रयोजन हो वही सत्शास्त्र, जिनवाणी है। मोक्षमार्ग तो वीतराग भाव है अतः जिन शास्त्रों में किसी भी प्रकार से राग-द्वेष, मोह भावों का निषेध कर वीतराग भाव प्राप्ति का प्रयोजन प्रगट किया हो वे शास्त्र ही पढ़ने व सुनने योग्य हैं।

जो पुरुष भक्ति से जिनवाणी को पूजते हैं, वे वास्तव में जिन भगवान को ही पूजते हैं क्योंकि सर्वज्ञ देव, जिनवाणी और जिनेन्द्र देव में कुछ भी अंतर नहीं कहते हैं।

जिन शास्त्रों में श्रृंगार भोग कौतूहलादि के पोषण द्वारा राग भाव की, हिंसा-द्वेषादि के द्वारा द्वेष भाव की अथवा अतत्त्व श्रद्धान के पोषण द्वारा मोह भाव की पुष्टि की हो वे शास्त्र नहीं, शस्त्र हैं अतः ऐसे शास्त्रों को न पढ़ना चाहिये न सुनना चाहिये।

संसार का लेखा-जोखा कैसे रखना चाहिये व उन्हें कैसे समझना चाहिये, इसमें तो बुद्धिमानी पूर्वक प्रवृत्ति करे परंतु आत्म कल्याण हेतु क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये ? कौन से शास्त्र पढ़ने चाहिये ? इसकी परीक्षा न करे तो उसे मोक्षमार्ग नहीं मिलता।

वक्ता को शास्त्र वांचन कर आजीविकादि लौकिक कार्य साधने की इच्छा नहीं होना चाहिये तथा अनीति रूप लोक निंद्य कार्यों की प्रवृत्ति न हो। जो शब्द की उपयुक्तता के प्रयोजन से व्याकरणादि का अध्ययन करता है उसे तो विद्वत्ता का अभिमान है। वह तो वाद-विवाद के उद्देश्य से अवगाहन करता है सो लौकिक प्रयोजन है। चतुराई प्रदर्शन हेतु किये गये शास्त्राभ्यास में आत्मा का हित नहीं

है। शास्त्रों का तो हो सके उतना न्यूनाधिक अभ्यास कर जो केवल आत्म हित हेतु ही तत्त्व निर्णय करे वही ज्ञानी धर्मात्मा पंडित है।

जिनवाणी चार अनुयोग रूप है, उन सभी का तात्पर्य है कि वीतरागता पूर्वक संसार के जन्म-मरण के चक्र से छूटने का पुरुषार्थ करना ही सारभूत है। जिसे जिनवाणी रूपी समुद्र मंथन से शुद्ध चिद्रूप रत्न प्राप्त हुआ है वह मुमुक्षु चैतन्य प्राप्ति के परम उल्लास में कहता है कि मुझे सर्वोत्कृष्ट चैतन्य रत्न मिला, अब मुझे अन्य कोई कार्य नहीं, अन्य कोई वाच्य नहीं, अन्य कोई ध्येय नहीं, अन्य कुछ भी श्रेय नहीं है, यह जिनवाणी की परम महिमा है।

प्रश्न - जिनवाणी द्वारा चैतन्य आत्मा को जान लेने से लाभ क्या है?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

जिन उवएसं सारं, सारं तिलोयमन्त सुपएसं ।

चेयन रूव संजुत्तं, चेयन आनन्द कम्म विलयंति ॥ ३४ ॥

जिनयति मिथ्या भावं, रागं दोषं च विषय विलयंति ।

कुन्यान न्यान आवरनं, जिनिंयं कम्मान ति विहि जोएन ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ - (जिन उवएसं सारं) जिनेन्द्र के उपदेश का सार, जिनवाणी (सारं) श्रेष्ठ, सारभूत है (तिलोयमन्त) तीन लोक के समस्त द्रव्य (सुपएसं) शुद्ध प्रदेशी हैं (चेयन रूव संजुत्तं) चैतन्य स्वरूप में लीन रहने (चेयन आनन्द) चैतन्य आनन्द, चिदानन्द, ज्ञानानन्द से (कम्म विलयंति) कर्म विला जाते हैं।

(जिनयति) जीत लेता है (मिथ्या भावं) मिथ्यात्व भाव को (रागं दोषं) राग द्वेष (च) और (विषय) विषय, पांच इन्द्रिय के विषय भोग (विलयंति) विला जाते हैं (कुन्यान) कुज्ञान (न्यान आवरनं) ज्ञानावरण (जिनिंयं) जीते जाते हैं (कम्मान) सर्व कर्म, द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्म (ति विहि जोएन) त्रिविध योग, मन वचन काय की एकाग्रता से।

विशेषार्थ - जिनेन्द्र परमात्मा के उपदेश के सार स्वरूप जिनवाणी का स्वाध्याय करने से तीन लोक के समस्त द्रव्य शुद्ध प्रदेशी हैं, अपने-अपने स्वरूप में स्थित हैं, इस बात का बोध होता है। इस वस्तु स्वरूप को समझकर जो जीव अपने चैतन्य स्वरूप में लीन रहते हैं, चिदानन्द स्वभाव की साधना करते हैं उनके कर्म विला जाते हैं।

जिनवाणी के श्रवण, सत्संग, स्वाध्याय से ही मिथ्यात्व भाव को जीता जाता है, इसी से राग-द्वेष और विषय विला जाते हैं। जिनवाणी के स्वाध्याय से ही कुज्ञान और ज्ञानावरण कर्म जीते जाते हैं तथा त्रिविध योग से सब कर्मों को जीत लिया जाता है।

जिनवाणी की महिमा अगम अपार है। जो भव्य जीव सच्चे मन से श्रद्धा भक्ति पूर्वक जिनवाणी का सेवन, श्रवण, स्वाध्याय, सत्संग करता है, उसे वस्तु स्वरूप का बोध होता है, मिथ्यात्व विला जाता है। अपने चैतन्य स्वरूप में लीन रहने से त्रिविध योग के द्वारा सारे कर्म क्षय हो जाते हैं। चिदानन्द चैतन्य स्वभाव से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

जिनवाणी की श्रद्धा भक्ति करने वाला जिन कहलाता है, सम्यक्दृष्टि जीव को ही जिन कहते हैं। संसार के कारण राग-द्वेष, मोह हैं, उनको जिसने जीत लिया है वही जिन है।

जिन्होंने राग-द्वेषादि को तथा कर्म रूपी महा योद्धाओं को जीत लिया है व जिनको काल का चक्र नाश नहीं कर सकता अर्थात् शाश्वत अविनाशी है उन्हें ही जिन कहा गया है। संसारी जीव जिन विकारों से संसार में कष्ट उठाते हैं, उन सबको जिसने जीत लिया वही जिन है।

संसार में जीव का सबसे बड़ा बैरी मिथ्यात्व है, जिसके कारण वह अपने शुद्ध स्वरूप को भूला हुआ है। जिस पर्याय में जन्म लेता है उसको ही अपना मान लेता है व इन्द्रियों के विषय सुख में तृष्णातुर रहता है इसलिये चाहे जिस देव (कुदेव, अदेव) की मान्यता मानता है, चाहे जिस गुरु (कुगुरु, अगुरु) के पग पड़ता है, चाहे जिस शुभाशुभ क्रिया को धर्म क्रिया मानकर अंधा होकर सेवन करता है। इसी मिथ्यात्व के कारण अंधा जीव इष्ट पदार्थों में राग व अनिष्ट पदार्थों में द्वेष करता है तथा विषयों का लंपटी बना रहता है, इसी के कारण सर्व ज्ञान कुज्ञान कहलाता है। ज्ञानावरण कर्म के कारण प्राणी अज्ञानी बने रहते हैं। आठों ही द्रव्य कर्म, राग द्वेषादि भाव कर्म, शरीरादि नो कर्म यह जीव के बैरी हैं जो संसार की चार गति चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कराते हैं।

जिनवाणी के स्वाध्याय, श्रवण, सत्संग से ही जीव को अपने चैतन्य स्वरूप का बोध होता है। सम्यक्दर्शन होने पर जिन कहलाता है। स्वरूप साधना से जिन, जिनवर, परमात्मा होता है। आत्मा और परद्रव्य सर्वथा भिन्न हैं, एक का दूसरे में अत्यंत अभाव है। एक द्रव्य उसका कोई गुण या पर्याय, दूसरे द्रव्य में

उसके गुण में या पर्याय में प्रवेश नहीं कर सकते; इसलिये एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता, ऐसी वस्तु स्थिति की मर्यादा है और फिर प्रत्येक द्रव्य में अगुरुलघुत्व गुण है क्योंकि वह सामान्य गुण है, इस गुण के कारण कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता, सब द्रव्य अपने-अपने में परिपूर्ण शुद्ध प्रदेशी हैं इसलिये आत्मा परद्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, शरीर को हिला डुला नहीं सकता तथा द्रव्य कर्म या कोई भी परद्रव्य जीव का कुछ नहीं कर सकता। कभी कोई हानि नहीं पहुँचा सकता, इस प्रकार जिनवाणी के माध्यम से यह निश्चय करने से जगत के पर पदार्थों के कर्तृत्व का जो अभिमान आत्मा के अनादिकाल से चला आ रहा है, वह दोष मान्यता में से और ज्ञान में से दूर हो जाता है। जीव अपने चैतन्य स्वभाव में लीन रहकर ज्ञानानंद स्वभाव परमात्म पद मुक्ति की प्राप्ति करता है।

जिनवाणी की विशेषता बताने वाली गाथा आगे कहते हैं -

जिनियं अभाव सुभावं, भय रहियं निसंक संक विलयंति ।

सहज सरूवं पिच्छदि, जिनियं अत्रित पर्जाव उववन्नं ॥ ३६ ॥

जिनियं कषाय भावं, पर दव्वं परिनाम सुद्ध अवयासं ।

सुद्धं सुद्ध सरूवं, जिन उत्तं जिनवरेदेहि ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थ - (जिनियं) जीत जाते हैं, जीत लिया है (अभाव)

नास्तिकपना, अभावपना (सुभावं) स्वभाव से (भय रहियं) भय रहित हो गये, जिनको कोई भय न रहा (निसंक) निःशंक, शंका रहित (संक विलयंति) शंकायें विला गई (सहज सरूवं) सहज स्वरूप को (पिच्छदि) पहिचानते हैं, अनुभव करते हैं (जिनियं) जीत लेते हैं, जीत जाते हैं (अत्रित पर्जाव) नाशवान पर्याय (उववन्नं) उदय होने वाली, पैदा होने वाली।

(जिनियं) जीत लेते हैं, जीत लिया (कषाय भावं) कषाय भावों को (पर दव्वं) पर द्रव्य के (परिनाम) परिणाम (सुद्ध अवयासं) शुद्ध स्वभाव के अभ्यास से (सुद्धं सुद्ध सरूवं) शुद्ध ही शुद्ध स्वरूप है, परम वीतराग ममल स्वभाव है (जिन उत्तं) जिनवाणी में कहा है (जिनवरेदेहि) जिनेन्द्र परमात्माओं ने।

विशेषार्थ - जिनेन्द्र परमात्माओं ने जिनवाणी में कहा है कि आत्मा परम वीतराग ममल स्वभाव शुद्धह शुद्ध स्वभावी है। इस शुद्ध स्वभाव की साधना और अभ्यास से कषाय भाव, परद्रव्य के परिणामों को जीता जाता है। जो अपने सहज स्वरूप को पहिचानते हैं अनुभव करते हैं, वह अपने स्वभाव से, अभाव भाव

नास्तिकपने को जीत लेते हैं, उन्हें कोई भय नहीं रहता, वह निःशंक हो जाते हैं, उनकी सारी शंकायें विला जाती हैं और उदय में चलने वाली नाशवान पर्याय को जीत लेते हैं अर्थात् वे किसी भी पर्याय, भाव, क्रिया से डरते नहीं हैं, महत्व नहीं देते, परवाह नहीं करते, अच्छा-बुरा नहीं मानते, अपने ज्ञान स्वभाव का आश्रय कर निःशंक दृढ़ स्थित रहते हैं, यही इन कर्म, कषाय, भाव, क्रिया पर्यायादि परद्रव्य को जीतना है कि फिर उस ओर दृष्टि नहीं देते।

ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है किंतु राग-द्वेष आदि वैभाविक अवस्थाएँ हैं अतः न ज्ञान राग है और न राग ज्ञान है। ज्ञान तो स्व-पर प्रकाशक है किंतु राग का अनुभव तो होता है परंतु उसमें पर स्वरूप का वेदन नहीं होता अतः वह अचित्त है और ज्ञान चिद्रूप है, जो स्थिति राग की है वही द्वेष, मोह, क्रोधादि की है।

वचन और मन आंतरिक हैं, वचन अंतर्जल्परूप है, मन विकल्प है। जब मैं आंतरिक वचन रूप और मन रूप नहीं हूँ तो बाह्य शरीर रूप और द्रव्य वचन रूप क्रिया आदि का कर्ता कैसे हो सकता हूँ? इस प्रकार अपने शुद्ध स्वरूप को जानने वाला इन सबसे भिन्न रहता है, भाव क्रिया पर्याय का परिणमन अपने में चलता है, ज्ञानी ज्ञायक रहता है, यही इन सबको जीतना है जिससे इनका पुनः बंध नहीं होता।

जो किसी से भी नहीं डरता, इस लोक और पर लोक की आकांक्षा नहीं करता, किसी से ग्लानि नहीं करता, मिथ्या मूढ़ता से ग्रसित नहीं होता, सदा अपनी शक्तियों को पुष्ट करता है, रत्नत्रय रूप मार्ग से कभी विचलित नहीं होता और परमार्थ से मोक्ष के मार्ग निज आत्म स्वरूप का ही अवलोकन किया करता है तथा जो सदा आत्मीय अचिंत्य शक्ति विशेष को प्रकाशित किया करता है, ऐसा निःशंकित भाव जिनवाणी के स्वाध्याय से प्रगट होता है।

जैसे आत्मा और ज्ञान का तादात्म्य सम्बंध होने से आत्मा निःशंक होकर ज्ञान में प्रवृत्ति करता है। यह ज्ञान क्रिया आत्मा की स्वभाव भूत है अतः निषिद्ध नहीं है; परंतु आत्मा और क्रोधादि कषाय आस्रव का तो संयोग संबंध होने से दोनों भिन्न हैं किंतु अज्ञान के कारण जीव उस भेद को नहीं जानकर क्रोधादि में आत्म रूप से प्रवृत्ति करता है अतः क्रोधरूप, रागरूप, मोहरूप परिणमन होता है, इसी प्रवृत्ति रूप परिणाम को निमित्त करके स्वयं ही पुद्गल कर्म का संचय करता है, जो भेदज्ञान पूर्वक भिन्न-भिन्न जानता है उसके एकत्व का अज्ञान मिट

जाता है और कर्म बंध भी रुक जाता है।

मोक्ष के लिये तो परम ज्ञान ही है, जो कर्म के करने में स्वामित्व रूप कर्तृत्व से रहित है।

जब तक अशुद्ध परिणमन है तब तक जीव का विभाव रूप परिणमन है, उस विभाव परिणमन का अंतरंग निमित्त है- जीव की विभाव परिणमन रूप शक्ति और बहिरंग निमित्त है मोहनीय कर्म का उदय। वह मोहनीय कर्म दो प्रकार का है- मिथ्यात्व मोहनीय और चारित्र मोहनीय।

जीव का एक सम्यक्त्व गुण है, जो विभाव रूप होकर मिथ्यात्व रूप परिणमा है। एक चारित्र गुण है, जो विभाव रूप होकर कषाय रूप परिणमा है। जीव के पहले मिथ्यात्व कर्म का उपशम या क्षय होता है, उसके बाद चारित्र मोह का उपशम या क्षय होता है। वीतराग कथित जिनवाणी द्वारा इस बात का बोध होता है कि आत्मा तो त्रिकाल शुद्ध स्वभाव ही है, परम वीतराग ममल स्वभावी है। जो भव्य जीव अपने शुद्ध स्वभाव को पहिचान कर उसकी साधना, आराधना, उपासना करता है वह सारे कर्म कषाय परभावों को जीत लेता है और निःशंक होकर मोक्षमार्ग में चलता है। हमेशा नन्द, आनन्द, सहजानन्द में रहता है।

जिनवाणी के स्वाध्याय की विशेषता बताने वाली गाथा आगे कहते हैं -

संसार सरनि विलयं, असरन अत्रित अनिस्ट विलयंति।

पर पर्जाव न दिट्ठं, परम सहावेन अवयास विमलं च ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ - (संसार सरनि विलयं) संसार परिभ्रमण छूट जाता है (असरन) परावलम्बता, पराधीनता (अत्रित) नाशवान, असत्, विकारी भाव (अनिस्ट) अनिष्ट, मोह, राग, द्वेषादि, द्रव्य भाव नोकर्म (विलयंति) छूट जाते हैं, विला जाते हैं (पर) संसार शरीरादि पुद्गल द्रव्य (पर्जाव) एक समय का चलने वाला परिणमन (न दिट्ठं) नहीं देखता (परम सहावेन) परम पारिणामिक भाव, शुद्ध ममल स्वभाव का (अवयास) अभ्यास, साधना से (विमलं च) मलों से रहित, पूर्ण शुद्ध परमात्मा हो जाता है।

विशेषार्थ - जिनवाणी का स्वाध्याय करने अर्थात् अपने जिन स्वभाव की साधना आराधना, स्व अध्ययन करने से संसार परिभ्रमण छूट जाता है। अशरण, परावलम्बता, पराधीनता, अत्रित नाशवान असत् विकारी भाव, अनिष्ट द्रव्य भाव नोकर्म बंधोदय छूट जाते, विला जाते हैं। सम्यक्दृष्टि ज्ञानी साधक

फिर पर संसार शरीरादि पुद्गल की तरफ तथा एक समय की चलने वाली पर्याय को नहीं देखता। अपने परम पारिणामिक भाव शुद्ध ममल स्वभाव की साधना से सर्व कर्म मलों से रहित पूर्ण शुद्ध परमात्मा हो जाता है।

जिन स्वभाव जिनवाणी की महिमा किसी विरले भव्य जीव को आती है, उस आत्मानुभव के उद्योत होने पर मिथ्यात्व का अंधकार स्वयं लुप्त हो जाता है। ज्ञान की किरणें सर्वत्र उद्योत करने लगती हैं। वस्तु का यथार्थ बोध हो जाता है। पर से राग-द्वेष दूर होकर समता रस का स्वयं उछाल होकर वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

यह शुद्ध चैतन्य मूर्ति जिनस्वभाव आत्मा, स्वयं के रागादि परिणमन में निमित्त अर्थात् कारण रूप नहीं है किन्तु आत्मा में रागादि उत्पन्न होने का निमित्त कारण पर द्रव्य का संबंध ही है। वस्तु का ऐसा ही स्वभाव है कि वह निमित्त रूप पर संग से ही नैमित्तिक भाव को प्राप्त होता है। जैसे-सूर्यकांत मणि स्वयं पार्थिव है वह ज्वाला रूप परिणत स्वयं नहीं होता किन्तु सूर्य का निमित्त पाकर वैसा परिणमता है, इसी प्रकार आत्मा स्वभावतः शुद्ध चैतन्य स्वरूप है तथापि संसार दशा में अशुद्ध है; यद्यपि अशुद्ध चैतन्य ही रागादि का उपादान कारण है तथापि वह स्वयं बिना निमित्त के रागादि विभाव रूप परिणमन नहीं करता, उसके रागादि का निमित्त कारण उन कर्मों का उदय है, जो इस जीव ने अपनी अनादिकालीन अशुद्ध अवस्था में बांध रखे हैं।

वस्तु के परिणमन दो प्रकार के हैं - स्वभाव रूप परिणमन और विभावरूप परिणमन। स्वभावरूप परिणमन तो स्वयं होता ही है उसमें वस्तु स्वयं उपादान रूप कारण और कालद्रव्य उसके परिणमन में सहज उदासीन निमित्त है।

विभाव रूप परिणमन जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में ही होता है, विभाव परिणमन में दोनों ही एक दूसरे के निमित्त भी बन जाते हैं।

जिनवाणी का स्वाध्यायी, जिन स्वभाव का अनुभवी, सम्यक्दृष्टि जीव उक्त प्रकार से अपनी निज आत्मा रूप वस्तु के स्वभाव को, रागादि से भिन्न जानता है इसलिये अपने में रागादि रूप विभाव परिणाम नहीं करता है अतः रागादि का कर्ता भी नहीं है। प्रतिकूल निमित्तों के होने पर भी बुद्धिमान पुरुष अपना कार्य साधता है उसमें उसका निज का पुरुषार्थ कारण है।

जिनागम की जो सदा अच्छी रीति से उपासना करता है उसे सात गुणों की प्राप्ति होती है -

१. त्रिकालवर्ती अनंत द्रव्य पर्यायों के स्वरूप का ज्ञान होता है।
२. हित (इष्ट) की प्राप्ति और अहित (अनिष्ट) के परिहार का ज्ञान होता है।
३. मिथ्यात्व आदि से होने वाले आश्रय का निरोध रूप भाव, संवर होता है अर्थात् शुद्ध स्वात्मानुभूति रूप परिणाम होता है।
४. प्रति समय संसार से नये-नये प्रकार की भीरुता, उदासीनता वीतरागता होती है।
५. व्यवहार और निश्चय रूप रत्नत्रय से अवस्थिति होती है, उससे विचलित नहीं होता।
६. रागादि का निग्रह करने वाले उपायों में भावना होती है।
७. पर को उपदेश देने की योग्यता प्राप्त होती है।

ज्ञेय और ज्ञाता में अथवा ज्ञेय से युक्त ज्ञाता में सर्वज्ञ भगवान के द्वारा जैसा कहा गया है और जैसा उसका यथार्थ स्वरूप है तदनुसार प्रतीति होना सम्यक्दर्शन है और तदनुसार अनुभूति होना सम्यक्ज्ञान है और तद्रूप अपने में स्थित रहना सम्यक्चारित्र है, इन तीनों की एकता मोक्षमार्ग है तथा पूर्णता मोक्ष है।

आगम को अनुभव से प्रमाण करने वाला ज्ञानी है, वही सच्चा जिनवाणी का उपासक है, जिससे स्वयं जिन, जिनवर परमात्मा होता है।

तत्प्रति प्रीति चित्तेन, येन वार्तापि हि श्रुता।

निश्चितं स भवेद् भव्यो, भावि निर्वाण भाजनम् ॥

जिस जीव ने प्रसन्न चित्त से जिनवाणी द्वारा, इस जिन स्वरूप आत्मा की बात भी सुनी है वह भव्य पुरुष भविष्य में निर्वाण प्राप्त करता है।

खंड-खंड ज्ञान का उपयोग भी परवशता है, परवश, पराधीन सो दुःखी है और स्ववश, स्वाधीन सो सुखी है। शुद्ध शाश्वत चैतन्य तत्त्व के आश्रय रूप स्ववशता से शाश्वत सुख प्रगट होता है।

शुद्धात्मा को जाने बिना, बाहर से भले ही संयम आदि शुभाचरण करता रहे परंतु उससे आत्मा नहीं जाना जा सकता, जिनवाणी के ज्ञान से ही आत्मा जाना जा सकता है।

यदि स्वभाव में अधूरापन मानेगा, कमी कमजोरी मानेगा तो पूर्णता को कभी प्राप्त नहीं कर सकता, जो भव्य- मैं पूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा हूँ ऐसी पूर्ण आत्मा पर दृष्टि रखकर आगे बढ़ता है, उसे सिद्ध ध्रुवपद

प्राप्त होता है।

प्रश्न - जिनवाणी का स्वाध्याय इष्ट हितकारी है या संयम तप पूजा भक्ति दया दानादि रूप शुभाचरण इष्ट हितकारी है ?

समाधान- मुनिव्रत धार अनंतवार, ग्रीवक उपजायो।

पै निज आत्म ज्ञान बिना, सुख लेश न पायो ॥

शुभाचरण रूप क्रियायें तो अनादि से करते आ रहे हैं और उसके फलस्वरूप ही यह मनुष्य भव मिला है परंतु आत्मज्ञान न होने से संसार परिभ्रमण नहीं छूटा। मुक्ति का एक मात्र कारण जिनवाणी के स्वाध्याय द्वारा वस्तु स्वरूप को समझना, भेदज्ञान पूर्वक निज आत्मानुभूति सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान होना ही इष्ट हितकारी है। इस मनुष्य भव की सार्थकता तो आत्मज्ञान प्राप्त करने में ही है, वह जैसे हो सके एक मात्र उसका पुरुषार्थ करना ही श्रेयष्कर इष्ट हितकारी है।

प्रश्न - आत्मज्ञान प्राप्त करने का उपाय क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

न्यानेन न्यान सुद्धं, न्यान विन्यान सहाव सुइ रूवी।

कम्म मल सुयं च षिपनं, अप्पा परमप्प सुद्ध अन्मोयं ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ - (न्यानेन न्यान सुद्धं) ज्ञान से ज्ञान शुद्ध होता है, बुद्धि के सदुपयोग से आत्मज्ञान होता है (न्यान विन्यान) भेदविज्ञान से आत्मज्ञान होता है (सहाव) स्वभाव, सहयोग (सुइ) स्वयं, श्रुत (रूवी) रूपी, स्वरूपी (कम्म मल) कर्म मल (सुयं च षिपनं) स्वयं क्षय होते हैं, अपने आप झड़ते हैं, क्षय होने लगते हैं (अप्पा) आत्मा (परमप्प) परमात्मा (सुद्ध) शुद्ध, आनंदमयी (अन्मोयं) अनुमोदना करो, लीन रहो, आलंबन लो, स्वीकार करो।

विशेषार्थ - आत्मज्ञान प्राप्त करने का उपाय कहते हैं कि बुद्धि के सदुपयोग से आत्मज्ञान होता है, भेदविज्ञान से आत्मज्ञान होता है। जिनवाणी श्रवण से अपने स्वरूप को जानने पर आत्मज्ञान होता है। मैं आत्मा शुद्ध परमात्मा हूँ ऐसा स्वीकार करना ही आत्मज्ञान है इससे कर्म मल स्वयं क्षय होते हैं।

बुद्धि का सदुपयोग करने पर ज्ञान शुद्ध होता है कि मैं इन शरीर वर्ण गंध रस स्पर्शादि सबसे पृथक् हूँ, अंतर में जो विभाव होता है वह मैं नहीं हूँ, ऊँचे से ऊँचे जो शुभ भाव हैं वह भी मैं नहीं हूँ, मेरे नहीं हैं, मैं तो सबसे भिन्न एक मात्र ज्ञान स्वभावी ज्ञाता दृष्टा चैतन्य तत्त्व शुद्धात्मा हूँ, ऐसा

अनुभूति युत निर्णय होना ही आत्म ज्ञान है ।

सर्व प्रकार से भेदज्ञान में प्रवीण होना ही सर्वप्रथम क्रिया है । द्रव्य तो त्रिकाली और निरावरण है परंतु वर्तमान पर्याय में रागादि का सद्भाव है, ऐसी दो दशाओं के मध्य प्रज्ञा छैनी (सूक्ष्म बुद्धि) लगाने से भिन्नता का अनुभव हो सकता है । भेदज्ञान की प्रवीणता से, यह अनुभूति रूप शुद्ध चैतन्य ही मैं हूँ । यह कर्मादि संयोग सब पर हैं, यह मैं नहीं हूँ, ऐसे आत्मज्ञान होता है । ज्ञान लक्षण से लक्षित चैतन्य स्वभाव का अनुभव होने पर ही आत्मज्ञान होता है ।

पूर्णानंद के नाथ प्रभु परमात्मा को निजबुद्धि से मति श्रुत ज्ञान द्वारा आत्मा शुद्ध परमात्मा है, परमानंदमयी रत्नत्रय स्वरूप अनंत चतुष्टय का धारी सर्वज्ञ स्वभावी भगवान है और कर्म संयोग रागादि भाव आकुलतारूप संसार है, ऐसा दोनों का विवेक, भेदविज्ञान के पुरुषार्थ द्वारा आत्मानुभूति होना ही आत्म ज्ञान है ।

जीव विकार तथा स्वभाव को एक मान रहा है अतः यथार्थ विचार नहीं कर पाता । वह यदि बुद्धि का सदुपयोग करे, अनादि मिथ्या धारणा में अवकाश संधि करे, भेदज्ञान करे तो जानने में आवे, मैं चैतन्य स्वरूप भगवान आत्मा हूँ और यह शरीरादि संयोग तथा विकारी भाव सब कृत्रिम असत् नाशवान मेरे से भिन्न हैं परंतु अज्ञानी ने तो उन दोनों में एकता मानी है । दया दानादि से धर्म होने की मान्यता, शुभाशुभ भाव में कर्ताबुद्धि, पर में एकत्व की विपरीत श्रद्धा, स्वभाव व विभाव को पृथक् जानने रूप विचार भी नहीं करने देती । भगवान आत्मा में ज्ञान अवस्थित है अतः जो-जो प्रसंग बनते हैं, उनमें ज्ञान करने का अवसर होने पर भी उनका ज्ञान करने के बजाय ज्ञेय ज्ञान के भेदज्ञान से शून्य होने के कारण स्वयं को ज्ञेय रूप जानता हुआ ज्ञान रूप परिणमित होने के बजाय अज्ञान रूप से परिणमित होता हुआ रागादि ज्ञेय मेरे हैं ऐसा जानता हुआ अज्ञानी उनका कर्ता बनता है ।

अनादि अनंत ऐसा जो एक निज शुद्ध चैतन्य स्वरूप है उसके स्वसन्मुख होकर आराधन करना, अतीन्द्रिय ज्ञान स्वभाव को साधन बनाकर जो ज्ञान होता है, वह ही आत्मा को जानने वाला है ऐसे ज्ञान की अनुभूति से सम्यक्दर्शन होने के पश्चात् साधक को आत्मा सदा उपयोग स्वरूप ही जानने में आता है ।

स्व-पर का श्रद्धान होने पर अपने को पर से भिन्न मैं शुद्ध चैतन्य आत्मा परमात्मा हूँ, ऐसा जानने से स्वयं के आश्रय से संवर निर्जरा रूप कर्मों का क्षय

होता है ।

जो पूरा निर्मल है, परिपूर्ण है, परम निरपेक्ष है, ध्रुव है और त्रैकालिक परिपूर्ण सामर्थ्यमय है, ऐसे अभेद एक परम पारिणामिक भाव का ही आश्रय करने योग्य है, उसी की शरण लेने योग्य है । उसी से सम्यक्दर्शन से लेकर मोक्ष तक की सर्व दशायें प्राप्त होती हैं ।

जीव ने अनंतकाल में अनंत बार सब कुछ किया परंतु आत्मा को नहीं पहिचाना । देव गुरु क्या कहते हैं वह बराबर जिज्ञासा से सुनकर विचार करके यदि बुद्धि के सदुपयोग पुरुषार्थ पूर्वक निज स्वरूप में लीनता की जाये तो आत्मा पहिचानने में आये, आत्मज्ञान की प्राप्ति हो ।

सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कथित पदार्थ के स्वरूप के अनुसार आचार्य रचित शास्त्र का सम्यक् रूप से अवगाहन करना सांगोपांग समझना ही साधकपना है । जैसे- गहरे समुद्र में अवगाहन करने से मोती मिलते हैं, वैसे ही शास्त्र के विषय में सम्यक् प्रकार प्रवेश कर अवलोकन करने से भावश्रुत प्रगट होता है । बुद्धि ज्ञान पूर्वक अपने स्वरूप शक्ति को जानना, ज्ञान लक्षण व लक्ष्य रूप आत्मा अपने ज्ञान में भासित होती है, तब सहज आनंद धारा बहती है । अतीन्द्रिय आनंद, परम सुख परम शांति का वेदन होता है वही अनुभव है ।

प्रश्न - यह आत्मीय आनंद, आत्मज्ञान चाहते तो सब हैं, पर यह होता क्यों नहीं है ?

समाधान - यह आत्मीय आनंद, परम सुख शांति, कोई चाहते नहीं हैं, मात्र कहते हैं क्योंकि रुचि अनुगामी पुरुषार्थ होता है, जिस तरफ की लगन और रुचि होती है उस तरफ का ही उद्यम पुरुषार्थ करते हैं । जीव क्या है और अजीव क्या है ? मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है ? यह तो न जानें तथा शरीर के रोगों को दूर करने अथवा धनोपार्जन आदि उपायों से अपने दुःख दूर करना चाहें तो वे उपाय तो झूठे हैं । दुःख तो जीव में है और वह मोह के कारण है अतः उस दुःख को जीव में यथार्थ मानकर मोह का नाश करना ही दुःख दूर करने का उपाय है । अज्ञानी स्वभाव सन्मुखता का प्रयत्न नहीं करता बल्कि राग मोह के ही साधन पकड़ता है अतः उसका भ्रम दूर नहीं होता । सातों तत्त्वों को जाने बिना आत्मा की श्रद्धा नहीं होती । एक जीव तत्त्व को जानने में सातों ही तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है । वही आत्मज्ञान परम सुख, शांति देता है, उसी से जीव आत्मीय आनंद में रहता है ।

प्रश्न - आत्मज्ञान होने पर कैसा-कैसा क्या-क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

न्यानंकुरं च सहावं, न्यानं विन्यान अप्यरं जोयं ।

विंजन सहाव दिदं, पद विंदं विमल न्यान उववन्नं ॥ ४० ॥

मति सुभाव स उत्तं, अप्यर सुर विंजनस्य पद अर्थ ।

षट् त्रि त्रि अप्यर उवनं, तस्य परिनाम न्यान सुद्वं च ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ - (न्यानंकुरं च सहावं) आत्मज्ञान रूपी अंकुर, प्रादुर्भाव का ऐसा स्वभाव है कि (न्यानं विन्यान) भेदविज्ञान होने से (अप्यरं जोयं) अक्षय अविनाशी स्वभाव दिखता है, अक्षर जानने में आता है (विंजन सहाव दिदं) व्यंजन स्वभाव दिखता है अर्थात् वर्तमान दशा द्रव्य स्वभाव और पर्याय दोनों दिखते हैं, ज्ञान में जानने में आता है (पद विंदं) ध्रुव स्वभाव, सिद्ध पद की अनुभूति करने से (विमल न्यान उववन्नं) निर्मल ज्ञान, केवलज्ञान प्रगट होता है।

(मति सुभाव) मतिज्ञान, बुद्धि का जागरण (स उत्तं) उसे कहते हैं (अप्यर सुर विंजनस्य पद अर्थ) अक्षर, स्वर, व्यंजन, पद, अर्थ, पंचार्थ का बोध जाग्रत हो जाता है (षट् त्रि त्रि अप्यर उवनं) छह तीन तीन, तीन सौ छत्तीस [३३६] भेद मतिज्ञान के प्रगट हो जाते हैं (तस्य परिनाम) उसका परिणाम (न्यान सुद्वं च) ज्ञान शुद्ध हो जाता है।

विशेषार्थ - आत्मज्ञान रूपी अंकुर का ऐसा स्वभाव है अर्थात् आत्मज्ञान का जागरण होने पर, भेदविज्ञान होने से अक्षर, अक्षय अविनाशी स्वभाव दिखता है तथा व्यंजन स्वभाव अर्थात् वर्तमान दशा द्रव्य स्वभाव और पर्याय दोनों जानने में आते हैं। ध्रुव स्वभाव सिद्ध पद का आराधन, अनुभूति करने से केवलज्ञान प्रगट होता है।

मति स्वभाव बुद्धि का जागरण उसे कहते हैं कि अक्षर स्वर व्यंजन पद अर्थ का बोध जाग्रत हो जाता है। मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं, वह प्रगट हो जाते हैं। आत्मज्ञान होने से ज्ञान शुद्ध हो जाता है अर्थात् ज्ञान का प्रकाश होने लगता है।

जो कोई आत्मा आत्मज्ञानी होकर अपने आत्मा को अपने आत्मा द्वारा अपने आत्मा में देखता, जानता अनुभवता है वही निश्चय से

सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप मोक्षमार्ग को साधता है। स्वानुभव के प्रताप से ही परमात्म पद होता है।

ज्ञायक स्वभाव चैतन्य का जहाँ अंतर में भान हुआ, जानने वाला जाग उठा कि मैं तो ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा हूँ, ऐसा जब अनुभव में आया तब ज्ञानधारा को कोई रोक नहीं सकता, फिर चाहे जैसा पर्याय का परिणाम हो पर वह तो पर्याय में है। वह अक्षय स्वभाव आत्मा में कहाँ है ? पर्याय है, उसे ज्ञान ने जाना है परंतु ज्ञान ने उसमें मिलकर नहीं जाना है, यह आत्मज्ञान की अपूर्व महिमा है।

अज्ञानी पर्याय में एकमेक होकर अपने को वैसा मानता है। धर्मी को ज्ञानधारा प्रति क्षण चला करती है, इस ज्ञानधारा का चलना यही विशेष बात है। इस ज्ञानधारा से ही संसार परिभ्रमण से छुटकारा मिलता है। जिन्हें आत्मा के स्वरूप की रुचि हुई है, उन्हें भी शुभाशुभ राग आते हैं परंतु उन्हें राग से विरक्ति रूप वैराग्य होता है और आत्मा की ओर का शांत उपशम रस होता है।

आत्मज्ञान की अद्भुत महिमा है, जिसे भेदविज्ञान पूर्वक अपने अक्षय अविनाशी ध्रुव स्वभाव की अनुभूति हुई है, ऐसा सम्यक्दृष्टि जीव छह खंड के राज्य में संलग्न होने पर भी ज्ञान में तनिक भी ऐसी मचक नहीं आती कि ये मेरे हैं, छ्यानवे हजार अप्सरा जैसी रानियों के बीच रहने पर उनमें तनिक भी सुख बुद्धि नहीं होती तथा नरक की भीषण वेदना में पड़ा हो तो भी अतीन्द्रिय आनंद के वेदन की अधिकता नहीं छूटती है, इस सम्यक्दर्शन रूपी आत्मज्ञान का क्या माहात्म्य है, जगत के लिये इस मर्म को बाह्य दृष्टि से समझना बहुत कठिन है।

जिसके ज्ञान में तीन काल और तीन लोक को जानने वाले भगवान बैठे हों उसके भव होता ही नहीं है क्योंकि उसका ज्ञान सर्वज्ञ स्वभाव से ढला है। भगवान जिसके हृदय में विराजते हैं उसका चैतन्य शरीर राग-द्वेष रूपी जंग से रहित हो जाता है।

जब यह आत्मा स्वयं राग से भिन्न होकर अपने में एकाग्र होता है तब केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञान ज्योति उदित होती है, जिसके प्रकाश में मतिज्ञान शुद्ध होता है, श्रुतज्ञान का प्रकाश होता है, अवधिज्ञान, मनः पर्यायज्ञान भी झांकने लगते हैं तथा केवलज्ञान प्रगट होता है।

आत्मज्ञान होने पर मतिज्ञान की विशेष निर्मलता होती है, जिसके तीन सौ छत्तीस भेद हैं। बुद्धि का जागरण ही विवेक कहलाता है। बुद्धि की निर्मलता और स्थिरता ही स्थित प्रज्ञा कहलाती है, जो ज्ञानी को अकर्ता, अभोक्ता, अबन्ध

बनाती है। मतिज्ञान में- चेतना में जो थोड़ा विशेषाकार भासित होने लगता है उस ज्ञान को अवग्रह कहते हैं, स्व और पर दोनों का पहले अवग्रह होता है। अवग्रह के द्वारा जाने गये पदार्थ को विशेष रूप से जानने की चेष्टा को ईहा कहते हैं। विशेष चिन्ह देखने से उसका निश्चय हो जाना अवाय है। अवाय से निर्णीत पदार्थ को कालांतर में न भूलना धारणा है।

जीव को अनादिकाल से अपने स्वरूप का भ्रम है इसलिये पहले आत्मज्ञानी पुरुष से आत्मस्वरूप को सुनकर युक्ति के द्वारा यह निर्णय करना कि आत्मा ज्ञान स्वभावी है तत्पश्चात् पर पदार्थ की प्रसिद्धि के कारण इन्द्रिय तथा मन द्वारा प्रवर्तमान बुद्धि को मर्यादा में लाकर अर्थात् पर पदार्थों की ओर से अपना लक्ष्य हटाकर जब आत्मा स्वयं स्व सन्मुख लक्ष्य करता है तब प्रथम सामान्य स्थूलतया आत्मा संबंधी ज्ञान हुआ, वह आत्मा का अर्थावग्रह हुआ, तत्पश्चात् स्व विचार के निर्णय की ओर उन्मुख हुआ सो ईहा और निर्णय हुआ सो अवाय अर्थात् ईहा से ज्ञान आत्मा में यह वही है अन्य नहीं, ऐसा दृढ़ ज्ञान अवाय है। आत्मा संबंधी कालांतर में संशय तथा विस्मरण न हो वह धारणा है। यहाँ तक तो मतिज्ञान में धारणा तक का अंतिम भेद हुआ। इसके बाद यह आत्मा अनन्त ज्ञानानंद शांति स्वरूप है, इस प्रकार मति में से प्रलम्बित तार्किक ज्ञान श्रुतज्ञान है। भीतर स्वलक्ष्य में मन, इंद्रिय निमित्त नहीं हैं। जब उससे अंशतः प्रथक् होता है, तब स्वतंत्र तत्त्व का ज्ञान करके उसमें स्थिर हो सकता है।

सम्यक्दृष्टि को अपना आत्मज्ञान होते समय यह चारों प्रकार का ज्ञान होता है। धारणा तो स्मृति है, जिस आत्मा को सम्यक्ज्ञान अप्रतिहत (निर्बाध) भाव से हुआ हो उसे आत्मा का ज्ञान धारणा रूप बना ही रहता है।

आगम में कहा है कि स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण और मन यह छह प्रकार लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान है। लब्धि का अर्थ है क्षायोपशमिक रूप (विकास रूप) शक्ति और अक्षर का अर्थ है अविनाशी। जिस क्षायोपशमिक शक्ति का कभी नाश न हो, उसे लब्ध्यक्षर कहते हैं। लब्ध्यक्षर ज्ञान श्रुतज्ञान का अत्यंत सूक्ष्म भेद है।

मतिज्ञान के भेदों की संख्या निम्नानुसार है -

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा - ४

पांच इंद्रिय और मन - ६ - ४ × ६ = २४

तथा विषयों की अपेक्षा से बहु-बहुविध आदि १२ - २४ × १२ = २८८

व्यंजनावग्रह के भेद - ४८ - २८८ + ४८ = ३६६ भेद

अक्षर, स्वर, व्यंजन, पद, अर्थ के स्वरूप का बोध जाग्रत होने से पंचार्थ का सही निर्णय करता है, जिससे अपेक्षा समझने से सारे वाद-विवाद मिट जाते हैं।

१. जो ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा कर्म कलंक को भस्म करके शुद्ध नित्य निरंजन ज्ञानमय हुए हैं उन परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ, यह परमात्मा को नमस्कार का शब्दार्थ हुआ।

२. शुद्ध निश्चय नय से आत्मा परमानंद स्वरूप है, स्वयं परमात्मा है, पूर्ण शुद्धता प्रगट हुई वह सद्भूत व्यवहार नय का विषय है, कर्म दूर हुए वह असद्भूत अनुपचरित व्यवहार नय का विषय है। इस प्रकार नय के अभिप्राय से वास्तविक अर्थ समझ में आता है। यथार्थ ज्ञान में साधक के सुनय होते ही हैं, यह नयार्थ हुआ।

३. जिस प्रकार की विपरीत एकान्त मान्यता चल रही हो, वह भूल बताकर उस भूल रहित सच्चा अभिप्राय समझना मतार्थ है।

४. जो सत्शास्त्र में सिद्धांत में कहा हो उसके साथ अर्थ को मिलाना आगमार्थ है। सिद्धांत में जो प्रसिद्ध अर्थ हो वह आगमार्थ है।

५. तात्पर्य अर्थात् इस कथन का अंतिम अभिप्राय सार क्या है? कि परमात्म रूप वीतरागी त्रिकाली आत्मद्रव्य ही उपादेय है इसके अतिरिक्त कोई भी निमित्त या किसी प्रकार का राग विकल्प उपादेय नहीं है, यह सब तो मात्र जानने योग्य है। एक परम शुद्ध स्वभाव ही आदरणीय है। भाव नमस्कार रूप पर्याय भी निश्चय से आदरणीय नहीं है। इस प्रकार परम शुद्धात्म स्वभाव को ही उपादेय रूप से अंगीकार करना भावार्थ है।

सम्यक्नय सम्यक् श्रुतज्ञान का अवयव है और इसलिये वह परमार्थ से ज्ञान का (उपयोगात्मक) अंश है और उसके शब्दरूप कथन को मात्र उपचार से नय कहा है। आत्मज्ञान होने से इस प्रकार ज्ञान की शुद्धि और वृद्धि होने लगती है। अपने इष्ट स्वभाव की दृष्टि होने से कई विशेषतायें होने लगती हैं।

प्रश्न - और क्या विशेषतायें होने लगती हैं ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

इस्टं संजोय दिडुं, इस्टं सुभाव भाव परिनामं ।

ईर्जा पंथ निवेदं, ईर्ज सुभाव सुद्ध न्यान उववन्नं ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ - (इस्टं संजोय) इष्ट संयोग, अनुकूल वातावरण (दिडुं) देखने

से, मिलने से (इस्टं सुभाव) इष्ट स्वभाव के (भाव परिणाम) भाव परिणाम होने लगते हैं (ईर्जा पंथ) सरल मार्ग (निवेदं) निर्णय में आता है (ईर्ज सुभाव) सरल स्वभाव से (सुद्ध न्यान) शुद्ध ज्ञान, विशेष ज्ञान (उववन्नं) पैदा होने लगता है।

विशेषार्थ - आत्मज्ञान होने से अपने आप इष्ट संयोग, अनुकूल वातावरण मिलने लगता है। धर्म साधना के, अपने आत्म स्वभाव के भाव परिणाम होने लगते हैं। सरलता सहजता से उस मार्ग पर चलने लगता है। सरल स्वभाव ज्ञान की शुद्धिरूप विशेष ज्ञान प्रगट होता है।

शुद्ध चैतन्य ध्रुव के ध्यान से जिसे आत्मज्ञान प्रगट हुआ है, ऐसे जीव को ऐसी पर्याय रूप योग्यतायें होती हैं कि वह सहजता से उस ओर बढ़ने लगता है। संसार से विरक्ति, विषय कषायों से निवृत्ति रूप परिणाम होने लगते हैं। संयम तप त्याग वैराग्य के भाव होने लगते हैं और वह सरलता, सहजता से उस मार्ग पर चलने लगते हैं। निर्विकारी आनंद सहित जो ज्ञान होता है उसे सम्यक्दृष्टि का क्षयोपशम ज्ञान कहते हैं। सम्यक्दर्शन एवं आत्म अनुभव की स्थिति रूप पर्याय में संपूर्ण आत्मा नहीं आता परंतु समस्त शक्तियाँ उस पर्याय में एकदेश प्रगट होती हैं।

साधक परद्रव्य कर्मोदय शरीरादि के प्रति उदासीन रहता है क्योंकि शुद्ध स्वरूप का अनुभव होने से उसे शुद्ध चैतन्य ही उपादेय है, भूमिकानुसार देव गुरु शास्त्र की महिमा, भक्ति, श्रुत चिंतवन, अणुव्रत, महाव्रत के शुभ विकल्प आते हैं परंतु ज्ञानी की भावना तो स्वरूप में स्थिर रहने की होती है तथा सरलता सहजता से जो होता है, उसमें आनंदित रहता है।

और विशेषता रूप आगे गाथा कहते हैं -

कमल सुभावं दिष्टं, केवल सुभाव परम जोएन।

षिपनिक भाव संजुतं, षिपिओ कम्मान तिविहि जोएन ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ - (कमल सुभावं) कमल के समान, निर्विकारी न्यारा, प्रफुल्लित स्वभाव (दिष्टं) दिखता है, प्रगट होता है (केवल सुभाव) केवलज्ञान स्वभाव (परम जोएन) परमयोग, ध्यान समाधि में दिखता है (षिपनिक भाव) क्षायिक भाव, दृढ़, अटल श्रद्धा, विश्वास (संजुतं) लीन रहता है, संयुक्त रहता है (षिपिओ कम्मान) कर्मों का क्षय होता है (तिविहि जोएन) योग, मन वचन काय की एकाग्रता से।

विशेषार्थ - आत्मज्ञान होने पर कमल समान प्रफुल्लित स्वभाव प्रगट होता है। परम योगाभ्यास ध्यान समाधि की साधना से केवलज्ञान स्वभाव दिखने लगता है। भेदज्ञान तत्त्व निर्णय के बल से क्षायिक भाव में लीन रहता है तथा त्रिविध योग की साधना से कर्मों की निर्जरा होने लगती है।

आत्मज्ञान होने से आत्म ध्यान की सहज साधना चलने लगती है। योगाभ्यास से कमल स्वभाव प्रगट होता है। जैसे- कमल, पानी और कीचड़ से निर्लिप्त न्यारा अपने में प्रफुल्लित सुवासित खिला हुआ रहता है, वैसे ही ज्ञानी साधक अपने में प्रसन्न आनंद में रहता है। ध्यान योग की साधना से केवलज्ञान स्वभाव दिखता है। अपने सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान के जागरण से अपने में दृढ़, अटल, अडोल, अकंप, अभय क्षायिक भाव में रहता है। मन वचन काय की एकाग्रता रूप उपयोग का अपने स्वभाव में स्थित रहने से कर्मों का क्षय होता है।

त्रिकाली ध्रुवतत्त्व आत्मा को पकड़ने पर ही सम्यक्दर्शन ज्ञान होता है, उसे पकड़ने पर ही सम्यक्चारित्र होता है, उसे पकड़ने पर ही केवलज्ञान होता है। जिसे आत्मा का विश्वास हुआ, उसे कोई विघ्न बाधा नहीं होते। स्वभाव के आश्रय से जितनी शुद्धता वर्तती है, उतना धर्म है, वही परमार्थ व्रत है और वही मोक्ष का साधन है।

जिसे सम्यक्दर्शन प्रगट होने से अपने ज्ञानानंद स्वभाव पर दृष्टि आई है वह जीव आठ गुणों से संपन्न होकर पर से दृष्टि हटाकर स्वयं ज्ञान के रसास्वाद में विभोर होकर नृत्य करता है, उसके इस कार्य से उसे ज्ञान भाव के कारण नवीन कर्मों का संवर होता है तथा पूर्व बद्ध कर्म उदय में आकर बिना फल दिये ही निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं।

इसी की विशेषता रूप आगे गाथा कहते हैं -

गगन सुभाव उवंनं, गन अस्मूह दिस्टि सुद्धं च।

आनन्दं परमानन्दं, परमप्पा परम भाव जोएन ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ - (गगन सुभाव) आकाश के समान शून्य स्वभाव (उवंनं) प्रगट होता है, पैदा होता है (गन अस्मूह) आकाश में बादल समूह (दिस्टि सुद्धं च) शुद्ध दृष्टि होती है (आनन्दं परमानन्दं) परमानंदमयी परम सुख का अनुभव होता है (परमप्पा) परमात्मा (परम भाव) परम पारिणामिक भाव (जोएन) योग होता है, मिलता है, दिखता है।

विशेषार्थ - आत्मज्ञान होने पर जब सर्व संकल्प-विकल्प, विचार चिंतन रूप भावना अस्त हो जाती है और आप आपमें निर्विकल्प रूप से लयता प्राप्त होती है तब वहाँ जो निर्लेप और शून्य भाव होता है उसे ही गगन स्वभाव कहते हैं, वहाँ आत्मा परमात्मा रूप ही झलकता है और परमानंद का लाभ होता है।

जैसे-आकाश अपने में निर्लेप, निर्विकारी, शुद्ध, परिपूर्ण समस्त पर संयोगों से शून्य है। जो आकाश में बादल समूह दिखाई देते हैं वह सब विला जाने वाले भ्रम मात्र हैं। इसी प्रकार आत्मा असंख्यात प्रदेशी होकर भी शरीर प्रमाण रहता है। शुद्ध दृष्टि ज्ञानी आत्म देव को तैजस, कार्माण, औदारिक तीनों शरीरों से भिन्न देखता है, सर्व रागादि भाव से भिन्न देखता है, कर्म के निमित्त से होने वाले औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक भावों से भिन्न एक शुद्ध परम पारिणामिक स्वभाव धारी अनुभवता है और आनंद परमानंद में रहता है।

द्रव्यदृष्टि से जीव के साथ कर्मों का संयोग नहीं दिखता है, तब कर्म की अपेक्षा से होने वाले भाव भी नहीं दिखते हैं। क्षायिक भाव यद्यपि अपने ही आत्मा का निज भाव है परंतु कर्मों के क्षय से प्रगट होने के कारण कर्म सापेक्ष हो जाता है।

शुद्ध दृष्टि से आत्मा के साथ न कभी कर्म का सम्बंध था, न है, न होगा। तीन काल में एक स्वरूप मय शुद्ध आकाश के समान निर्मल यह आत्मा है। यद्यपि कर्मों के संयोग से नर-नारक, पशु-देव बार-बार हुआ। यह विचार पर्याय दृष्टि से है तो भी द्रव्यदृष्टि से आत्मा जैसा है वैसा ही है। पर्याय दृष्टि से यह चंचल दिखता है, इसमें मन वचन काय के निमित्त से प्रदेशों का कंपन होता है व योग शक्ति कर्म नोकर्म को ग्रहण करती है तथापि द्रव्य दृष्टि से वह मन वचन काय से रहित है। चंचलता रहित परम निश्चल है, कर्म नोकर्म को ग्रहण नहीं करता है। परम पारिणामिक भाव वाला आनंद परमानंदमयी परमात्मा है ऐसा शुद्ध दृष्टि अनुभव करता है।

प्रश्न - इससे क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

घन घाय कम्म विलयं, घन समूह नंत संसारे ।

जिनं सुभाव उववन्नं, न्यान सहावेन जिनवरिंदेहि ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ - (घन घाय कम्म विलयं) कठोर घातिया कर्म विला जाते हैं

(घन समूह) जैसे बादलों का समूह विला जाता है (नंत संसारे) वैसे ही अनंत संसार का परिभ्रमण विला जाता है (जिनं सुभाव उववन्नं) जिन स्वभाव प्रगट हो जाता है (न्यान सहावेन) ज्ञान स्वभाव से (जिनवरिंदेहि) जिनेन्द्र देव हो जाता है।

विशेषार्थ - आत्मज्ञान की महिमा बड़ी अपूर्व है, शुद्ध दृष्टि सहित स्वरूप लीनता होने से सारे घातिया कर्म (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय) विला जाते हैं, जैसे- आकाश में बादलों का समूह अपने आप विला जाता है, वैसे ही अनंत संसार का परिभ्रमण विला जाता है, छूट जाता है। आत्मज्ञान होने से जिन स्वभाव प्रगट हो जाता है तथा ज्ञान स्वभाव की साधना से जिनेन्द्र परमात्मा हो जाता है।

आत्म ध्यान में ऐसी शक्ति है कि भव-भव के संचित घातिया कर्म क्षण मात्र में नष्ट हो जाते हैं और केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। भरत चक्रवर्ती ने दीक्षा लेने के बाद मात्र एक अंतर्मुहूर्त ही ध्यान किया और वे केवली हो गये। शिवभूति मुनि को भी तुष मास भिन्नम् आत्मज्ञान होने से आत्मध्यान पूर्वक केवलज्ञान प्रगट हो गया।

यह आत्मा अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, अनंत दान, अनंत लाभ, अनंत भोग, अनंत उपभोग, अनंत वीर्य, अनंत सुख इन दस विशेष गुणों का धारी परमात्म स्वरूप है। यह सर्वज्ञ व सर्वदर्शी होकर भी आत्मज्ञ व आत्मदर्शी है। यह ज्ञेय की अपेक्षा सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहलाता है। शुद्ध सम्यक्दर्शन का धारी होकर निरंतर आत्म प्रतीति में प्रवर्तमान है। सर्व कषाय भावों के अभाव से परम वीतराग यथाख्यात चारित्र से विभूषित है, स्वयं को स्वयं आनन्द देने वाला अनंत दान का दाता है, निरंतर स्वात्मानंद का लाभ करना अनंत लाभ है, स्वात्मानंद का ही निरंतर भोग है, स्वात्मानंद का ही बार-बार उपभोग है, गुणों के भीतर परिणमन करते हुए कभी भी खेद नहीं पाता यही अनंत वीर्य है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अंतराय कर्मों से रहित होकर अनंत सुख का समुद्र है। अभेद नय से एक अखंड आत्मा को ध्यावे तब स्वानुभव का लाभ होता है, यही आत्मदर्शन है, यही सुख शांति प्रदायक भाव है, यही आत्म समाधि है, यही निश्चय रत्नत्रय की एकता है।

आत्मज्ञानी साधक निश्चिन्त होकर परम प्रेम भाव से अपने आत्मा की ही

आराधना करता है, जिससे ज्ञायक भाव प्रगट होता है, यह आगे गाथा में कहते हैं-

जाता उववन्न रूवं, जोयंतो न्यान सुद्ध ससहावं ।

रयनं रयन सहावं, अप्पा परमप्प ममल न्यानं च ॥ ४६ ॥

लंक्रित परमानन्दं, लीनं सुद्धं च केवलं न्यानं ।

मति न्यान सुद्ध सुद्धं, नंत चतुस्त्य सुद्ध ससरूवं ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ - (जाता उववन्न रूवं) ज्ञायक स्वरूप प्रगट होता है (जोयंतो) देखने से, देखता है (न्यान) ज्ञानमयी (सुद्ध ससहावं) शुद्ध स्वभाव को (रयनं) रत्न के समान (रयन सहावं) रत्नत्रय स्वभाव (अप्पा) आत्मा (परमप्प) परमात्मा (ममल न्यानं च) निर्मल ज्ञान, केवलज्ञान स्वभावी है ।

(लंक्रित) अलंकृत (परमानन्दं) परमानंद में (लीनं) तल्लीनता (सुद्धं) शुद्ध स्वभाव (च) और (केवलं न्यानं) केवलज्ञान में (मति न्यान सुद्ध सुद्धं) वही परम शुद्ध मतिज्ञान है (नंत चतुस्त्य सुद्ध ससरूवं) अनंत चतुष्टयमयी शुद्ध स्व स्वरूप झलकता है ।

विशेषार्थ - आत्मज्ञानी को ज्ञायक स्वरूप प्रगट हो जाता है जिससे आत्मा व अनात्मा को भिन्न-भिन्न देखने जानने की शक्ति प्रगट हो जाती है । जब वह स्वानुभव में जमता है अर्थात् अपने ज्ञान स्वरूपी शुद्ध स्वभाव को देखता है तब रत्न के समान रत्नत्रय स्वभाव प्रगट हो जाता है जिसमें आत्मा परमात्मा केवलज्ञान स्वभावी दिखाई देने लगता है, परमानंदमय अलंकृत हो जाता है । अपने शुद्ध केवलज्ञान स्वभाव में तल्लीनता, उसी ओर टकटकी लगाये रहना यही परम शुद्ध मतिज्ञान है । शुद्ध मतिज्ञान में अपना अनंत चतुष्टयमयी शुद्ध स्वरूप झलकने लगता है ।

मन द्वारा आत्मा की सत्ता स्वरूप को स्वीकार कर लेने का नाम मतिज्ञान की शुद्धि है । जहाँ आत्मा के शुद्ध स्वभाव में श्रद्धा पूर्वक तल्लीनता है, वहाँ परमानंदमयी परमात्मा ही निर्विकल्प रूप से अनुभव में आता है, यही स्वात्मानुभव परम अतीन्द्रिय आनंद का दाता है ।

आत्मानुभव का ऐसा महात्म्य है कि परीषह आने पर भी जीव की ज्ञानधारा चलित नहीं होती । तीनों काल व तीन लोक की प्रतिकूलताओं के ढेर एक साथ आ जायें तो भी ज्ञाता रूप से रहकर उन सभी को सहन करने की शक्ति आत्मा के

ज्ञायक स्वभाव की एक समय की पर्याय में विद्यमान है । जिसने आत्मा को शरीरादि व रागादि से भिन्न जाना है, उसे यह परीषहों के ढेर जरा भी प्रभावित नहीं कर सकते । चैतन्य अपनी ज्ञातृधारा से जरा भी विचलित नहीं होता बल्कि स्वरूप स्थिरता पूर्वक दो घड़ी स्वरूप में लीन हो जाये तो पूर्ण केवलज्ञान प्रगट कर ले, जीवन्मुक्त दशा हो जाये, परमानंदमयी मोक्षपद हो जाये ।

ज्ञानी के आंतरिक जीवन को समझने हेतु अंतरंग पात्रता चाहिये । धर्मात्मा अपने पूर्व प्रारब्ध के योग से बाह्य संयोग में रहते हों तो भी उनकी परिणति अंदर से कुछ अन्य ही कार्य करती रहती है । ज्ञानी को अंतर में स्व संवेदन ज्ञान प्रस्फुटित हुआ, वहाँ स्वयं को उसका वेदन आया, पीछे उसे अन्य कोई जाने या न जाने उसकी कोई अपेक्षा नहीं है ।

धर्मात्मा को अपना रत्नत्रय रूप आत्मा ही परमप्रिय है, संसार संबंधी अन्य कुछ प्रिय नहीं है । धर्मी को अपने रत्नत्रय स्वभाव रूप मोक्षमार्ग के प्रति अभेद बुद्धि पूर्वक परम वात्सल्य होता है । स्वयं को रत्नत्रय धर्म में परम वात्सल्य होने से उन्हें अन्य रत्नत्रय धर्मधारक जीवों के प्रति भी वात्सल्य भाव उल्लसित हुए बिना नहीं रहता ।

जो कोई जीव जड़कर्म की और शरीरादि की अवस्था का कर्ता नहीं है, उसे अपना कर्तव्य नहीं मानता है, तन्मय बुद्धि पूर्वक परिणमन नहीं करता है परंतु मात्र ज्ञाता है, साक्षी रूप से तटस्थ रहता है वह आत्मा ज्ञानी है ।

आत्मज्ञानी जगत का साक्षी हो गया, पर वस्तु मेरी है, ऐसी दृष्टि (मान्यता) छूटने से वह उसका साक्षी ज्ञायक हुआ है । "पर मेरा है और मैं उसका हूँ" ऐसी मान्यता छूट गई है । परमात्मा हो, परद्रव्य हो, शरीरादि संयोग हो, शुभाशुभ भाव हो सबका मात्र ज्ञायक है । ज्ञान और आनंद स्वरूप केवलज्ञान स्वभावी अनंतचतुष्टय धारी परमानंद मयी परमात्मा वह मैं हूँ, इस प्रकार निज वस्तु का स्वयं के द्वारा अनुभव करता है और निज वस्तु से भिन्न वस्तुओं का ज्ञाता रहता है । राग और ज्ञानी के ज्ञान में ज्ञेय ज्ञायक संबंध है ।

प्रश्न - आत्मज्ञानी को व्रत संयम आदि के भाव होते हैं या नहीं ? वह व्रत प्रतिमादि दीक्षा लेता है या नहीं ?

समाधान - शुद्धात्मा का अनुभव होने के पश्चात् जीव की पात्रता बढ़ने पर अथवा पांचवां, छठा गुणस्थान होने से उस-उस प्रकार के भाव और व्रत

प्रतिमादि हुए बिना रहते नहीं, अवश्य होते हैं परंतु वे शुभराग बंध के कारण हैं उनमें उपयोग लाना हेय है, ज्ञानी ऐसा जानते हैं। शुद्धता की वृद्धि अनुसार कषायादि घटने से व्रतादि के शुभ भाव होते हैं ऐसा वस्तु स्वरूप है। यहाँ आत्मज्ञानी की अंतर दशा को बताया जा रहा है। बाहर से पर्याय की पात्रतानुसार सारा परिणमन स्वयमेव होता है, हो रहा है और होगा, ज्ञानी उसका कर्ता नहीं ज्ञायक है।

प्रश्न - ज्ञानी की अंतर दशा क्या होती है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

सिद्ध सरूवं पिच्छदि, चेतन परिनाम न्यान संजुतं।

चिदानन्द आनन्दं, श्रुत न्यानं च चेयना रूवं ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ - (सिद्ध सरूवं पिच्छदि) अपने सिद्ध स्वरूप को पहिचानकर (चेतन परिनाम) चेतना भाव (न्यान संजुतं) सम्यक्ज्ञान सहित (चिदानन्द आनन्दं) अतीन्द्रिय आत्मानन्द से पूर्ण ज्ञानानन्द निजानन्द में (श्रुत न्यानं) श्रुतज्ञान में (च) और (चेयना रूवं) चैतन्य स्वरूप देखता है।

विशेषार्थ - द्रव्यश्रुत द्वादशांग वाणी है, इसके द्वारा जो निज आत्मा का बोध होता है वह भावश्रुत ज्ञान है। इस भावश्रुत ज्ञान में अपना ही आत्मा सिद्ध स्वरूप दिखता है, जहाँ पूर्ण ज्ञान दर्शन स्वभाव है, पूर्ण आनन्द स्वभाव है व पूर्ण ज्ञान चेतना भाव है। निश्चय से आत्मज्ञानी, भावश्रुत ज्ञान के द्वारा आत्मा को सिद्ध स्वरूप अनुभव करता है। उस समय अतीन्द्रिय आनन्द, ज्ञानानन्द, निजानन्द स्वभाव में निमग्न ज्ञान चेतना भाव रूप ही रहता है।

सिद्ध सरूव सुरति तरन जिन खेलहिं फागु। सिद्ध स्वरूप की सुरत आना ही परमानन्द में आत्म विभोर कर देती है। मैं सिद्ध स्वभावी शुद्धात्मा हूँ, ऐसे ज्ञान चैतन्य परिणाम अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द चिदानन्द में निमग्न करने वाले हूँ। ज्ञानी ने ज्ञान चेतनामयी सिद्ध स्वरूप को ग्रहण किया है, अभेद में ही दृष्टि है। मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ ऐसा स्वानुभूति में ले रहा है, जिसमें अनंत आनन्द भरा हुआ है, परम शांति परमानन्द मयी निज चैतन्य स्वरूप में मग्न रहता है। उसके ज्ञान में अपना तीर्थकर सर्वज्ञ स्वरूप झूलता है।

इसकी विशेषता के लिये आगे गाथा कहते हैं -

छत्रत्रय संजुक्तं, छीनं संसार सरनि सुभावं।

जाता उववंन परमं, जैवंतो नंत दंसनं चरनं ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थ - (छत्रत्रय संजुक्तं) श्री अरिहंत केवली तीन छत्र से सुशोभित हैं (छीनं संसार सरनि सुभावं) जिन्होंने संसार परिभ्रमण स्वभाव को क्षय कर दिया है (जाता उववंन परमं) परम ज्ञाता दृष्टा हो गये हैं (जैवंतो नंत दंसनं चरनं) उनका अनंत दर्शन चारित्र गुण जयवंत हो।

विशेषार्थ - आत्मज्ञानी श्रुतज्ञान के द्वारा अपने आपको तीर्थकर स्वरूप अनुभवता है, जैसे श्री केवलज्ञानी अरिहंत तीर्थकर परमात्मा समवशरण में तीन छत्र, सिंहासन आदि आठ प्रातिहार्यों से शोभायमान हैं। संसार परिभ्रमण के कारण मोहनीय कर्म घातिया कर्मों को क्षय कर दिया है, परम ज्ञाता दृष्टा हो गये, जिनके केवलज्ञान के एक समय की पर्याय में तीन काल तीन लोक के समस्त द्रव्य और उनका त्रिकालवर्ती परिणमन झलकता है तथा वह अपने अनंत चतुष्टय स्वरूप में अनंतदर्शन, चारित्र गुण में लीन परमानन्द में जयवंत हैं। तीन लोक में जय-जयकार मच रही है। ज्ञानी ऐसे ही अपने सर्वज्ञ तीर्थकर स्वरूप को ज्ञानानुभूति में लेता है।

प्रश्न - यह तो पागलों जैसी दशा है, इससे होता क्या है ?

समाधान - आत्मज्ञानी को संसारी पागल समझते हैं तथा आत्मज्ञानी संसार को पागल समझता है। सभी पागल हैं पर सही पागल कौन है ? इसका निर्णय करना पड़ेगा।

१. संसारी जीव - जो नहीं है, जो हो नहीं सकता ऐसी कल्पनायें किया करता है, जो कभी हो सकते नहीं ऐसे नाना प्रकार के मनसूबे बांधा करता है तथा आगे-पीछे की बातें सोच-सोच कर भयभीत चिंतित दुःखी रहता है। जैसे-गधे के सींग नहीं होते, आकाश में फूल नहीं खिल सकते, संसारी अज्ञानी जीव इनकी आशा करता है। जो अपना है नहीं, हो सकता नहीं उसे (धन, शरीरादि, परिवार को) अपना मानता है, इनका कर्ता बनता है, तो पागल कौन है ?

२. ज्ञानी जीव - जो वस्तु स्वरूप है, जो होने वाला है, उसका विचार करता है तथा संसार से उदासीन निस्पृह आर्किचन्य वीतरागी अपने में आनंदित प्रसन्न रहता है। जैसे-कोई बालक पिता के समान बनने का विचार करे तो वह उसका यथार्थ है, भविष्य बनने वाला है उसके अंदर वह शक्ति विद्यमान है, ऐसे

ही ज्ञानी जीव अरिहंत सिद्ध स्वरूप को अपने में देखता है, चिंतन करता है, विचार करता है तो यह पागलपना नहीं, यह वास्तविकता यथार्थ सत्य है, श्री ममलपाहुड़ जी शास्त्र के जनगन बावलो फूलना में श्री तारण स्वामी ने इसका विशेष स्पष्टीकरण किया है। जैन परंपरा में शुद्ध निष्कलंक चिदानंद स्वरूप में अवस्थित आत्मा ही परमात्मा है, इसमें जीवात्मा से भिन्न कोई परमात्मा नहीं माना गया है, अतः शक्ति की अपेक्षा से सभी जीव आत्मा परमात्मा हैं।

प्रश्न - ऐसी धारणा और विचार करने से क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

ज्ञानं च सुद्ध ज्ञानं, ज्ञानं न्यानं च परिनाम परमप्यं ।

नंतानंत चतुस्तं, न्यान सहावेन कम्म विलयंति ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ - (ज्ञानं) ध्यान (च) और (सुद्ध ज्ञानं) शुद्ध ध्यान (ज्ञानं न्यानं) ज्ञान ध्यान (च) और (परिनाम) भाव (परमप्यं) परमात्म स्वरूप है इससे (नंतानंत चतुस्तं) अनंत चतुष्टय प्रगट होते हैं (न्यान सहावेन) ज्ञान स्वभाव में लीन रहने से (कम्म विलयंति) कर्म विला जाते हैं, कर्मों का क्षय हो जाता है।

विशेषार्थ - चित्त का किसी वस्तु में एकाग्र होने का नाम ध्यान है और उपयोग का अपने स्वभाव में एकाग्र होना शुद्ध ध्यान है। जहाँ ज्ञान ध्यान और परिणाम अपने परमात्म स्वरूप के होते हैं, ऐसे ज्ञान स्वभाव की साधना से कर्मों का क्षय होता है और अनंत चतुष्टय स्वरूप परमात्म पद प्रगट होता है।

आत्मज्ञानी के चिन्तन की धारा अपने ध्रुवतत्त्व शुद्धात्म स्वरूप ममल ज्ञान स्वभाव की ही चलती रहती है। उपयोग की स्वरूप एकाग्रता ही शुद्ध ध्यान है। जहाँ ज्ञान ध्यान और परिणाम परमात्म स्वरूप के होते हैं वहाँ कर्म अपने आप विला जाते हैं तथा अनंत चतुष्टय स्वरूप प्रगट हो जाता है।

राग-द्वेष छोड़कर शुद्धोपयोग में रमण करने से यह आत्मा अरिहंत परमात्मा हो जाता है। शुक्ल ध्यान होने से कर्म क्षय होने लगते हैं तथा अनंत चतुष्टय स्वरूप प्रगट हो जाता है। यह साधक की साधना का क्रम है, जो गुणस्थान क्रम से जीव की पात्रता और पुरुषार्थ से होता है। सम्यक्दृष्टि को भले स्वानुभूति स्वयं पूर्ण नहीं है परंतु दृष्टि में परिपूर्ण ध्रुव आत्मा है। ज्ञान परिणति द्रव्य तथा पर्याय को जानती है परंतु पर्याय पर जोर नहीं है। ज्ञानी का परिणमन विभाव से विमुख होकर स्वरूप की ओर ढल रहा है, ज्ञानी निज स्वरूप में परिपूर्ण रूप से स्थिर हो जाने को तरसता है।

जो केवलज्ञान प्राप्त कराये, ऐसी अंतिम पराकाष्ठा का ध्यान शुद्ध ध्यान है, अंतर्मुखता तो अनेक बार होती है, ज्ञान ध्यान की स्थिति बनती है, परिणाम उछलते हैं। जैसे- पूर्णमासी के पूर्ण चंद्र के योग से समुद्र में ज्वार आता है, इसी प्रकार ज्ञानी साधक को पूर्ण चैतन्य चंद्र के एकाग्र अवलोकन से आत्म समुद्र में ज्वार आता है, वैराग्य का ज्वार आता है, आनंद का ज्वार आता है, सर्व गुण पर्याय का यथा संभव ज्वार आता है तथा जब इसकी तीव्रता और परिपूर्णता होती है तब सारे घातिया कर्म क्षय होकर अनंत चतुष्टय प्रगट हो जाता है।

प्रश्न - इसके लिये क्या करना पड़ता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

परम भाव परमिस्ती, परम जिनेहि नन्त ममल सभावं ।

वरं स्रेस्तं इस्ती, इस्ती दिस्ती च ममल सुद्ध परमिस्ती ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थ - (परम भाव) परम पारिणामिक भाव स्वरूप ही (परमिस्ती) परम इष्ट है, पंच परमेष्ठीमयी है (परम जिनेहि) वही परम जिन है, परम जिनेन्द्र देव है (नन्त ममल सभावं) जो अनंत चतुष्टय का धारी ममल स्वभावी है (वरं स्रेस्तं) सर्वोत्कृष्ट, श्रेष्ठ है (इस्ती) इष्ट है (इस्ती दिस्ती) ऐसे इष्ट स्वभाव की दृष्टि (च) और (ममल सुद्ध परमिस्ती) ममल शुद्ध परमेष्ठी बनाती है।

विशेषार्थ - परम पारिणामिक भाव स्वरूप निज स्वभाव ही परम इष्ट पंच परमेष्ठीमयी है, यही परमजिन जिनेन्द्र देव है, जो अनंत चतुष्टय का धारी ममल स्वभावी है, वही सर्वोत्कृष्ट श्रेष्ठ और इष्ट है, ऐसे इष्ट स्वभाव की दृष्टि ममल शुद्ध परमेष्ठी परमात्मा बनाती है।

आत्मा को जानने वाला ध्याता पुरुष धर्मी जीव जिसको स्व संवेदन आनन्दानुभूति सहित का एक अंश ज्ञान प्रगट हुआ है, ऐसा ध्यानी ज्ञानी, उस प्रगट दशा का ध्यान नहीं करता। अनुभव की जो पर्याय है वह एकदेश प्रगट पर्याय रूप है। एक समय की पर्याय के पीछे विराजमान, सकल निरावरण अखंड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध परम पारिणामिक भाव लक्षण निज परमात्म स्वरूप का ध्यान करता है। जो पंच परमेष्ठीमयी अनंत चतुष्टय का धारी ममल स्वभावी स्वयं जिनेन्द्र परमात्मा है। इसी इष्ट स्वभाव परम पारिणामिक भाव की दृष्टि, पर्याय को शुद्ध कर स्वयं ममल शुद्ध परमेष्ठी अरिहंत परमात्मा बनाती है।

ज्ञानी को यथार्थ द्रव्य दृष्टि प्रगट हुई है, वह अपने शुद्ध ममल परम

पारिणामिक भाव के आलंबन द्वारा अंतर स्वरूप स्थिरता में वृद्धि करता जाता है। अपने में सिद्ध भगवान जैसा आंशिक अनुभव करता है परंतु वह वहाँ स्थायी रूप में स्थिर नहीं रह सकने के कारण साधक दशा में रहता है।

पूर्ण गुणों से अभेद ऐसे पूर्ण आत्म द्रव्य पर दृष्टि करने से उसी के आलंबन से पूर्णता प्रगट होती है। इस अखंड द्रव्य एक परम पारिणामिक भाव का आलंबन ही शुद्धता की वृद्धि करता है, इसी पर दृष्टि रखने से शुद्ध ममल परमेष्ठी पद प्रगट होता है।

प्रश्न - परम पारिणामिक भाव रूप परमेष्ठी पद और आत्मा में क्या अंतर है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

ममात्मा सुकिय सुभावं, ममात्मा सुद्धात्म ममल मिलियं च ।

सहकार न्यान समयं, सर्वन्यं सुद्ध समय अन्मोयं ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थ - (ममात्मा सुकिय सुभावं) मेरे आत्मा का स्वभाव भी वैसा ही है (ममात्मा सुद्धात्म ममल मिलियं च) जैसा शुद्धात्मा ममल स्वभावी है, वैसा ही मेरे आत्मा का स्वभाव है (सहकार न्यान समयं) ऐसे शुद्धात्मा को ज्ञान में स्वीकार करना, अनुभूति में लेना इससे (सर्वन्यं सुद्ध समय अन्मोयं) आत्मा में लीन होने, शुद्धात्मा का आलंबन लेने से सर्वज्ञ स्वरूप, शुद्ध वीतराग पद प्रगट होता है।

विशेषार्थ - निश्चय से आत्मा ही परमात्मा है, स्वभाव से प्रत्येक जीव आत्मा परमात्मा है। द्रव्य अपेक्षा वर्तमान पर्याय में अशुद्धता है, इसके निराकरण के लिये मेरे आत्मा का अपना स्वभाव भी वैसा ही है, जैसा शुद्धात्मा ममल स्वभावी परम पारिणामिक भाव परमेष्ठी पद वाला है, वैसा ही मेरा आत्म स्वभाव है। ऐसे शुद्धात्मा का यथार्थ श्रद्धान ज्ञान स्वीकार करना, अनुभूति में लेना तथा अपने आत्म स्वभाव, ज्ञायक भाव में स्थित रहने से, सर्वज्ञ स्वरूप शुद्ध वीतराग पद प्रगट होता है।

अपने आत्मा को परमात्मा के समान निश्चय करके जो इस आत्मीक ज्ञान में स्थिर होता है वही कर्मों को नाशकर परमात्मा हो जाता है।

परम पारिणामिक भाव रूप परमेष्ठी पद परमात्मा में और आत्मा में स्वभाव से कोई अंतर नहीं है। द्रव्य शुद्ध है, पर्याय अपेक्षा पर्याय में अशुद्धि है। वह अशुद्धि शुद्ध परम पारिणामिक भाव शुद्धात्म स्वरूप का आश्रय आलंबन लेने से

उस रूप स्थित रहने से पर्याय की अशुद्धि दूर होकर स्वयं सर्वज्ञ परमात्मा हो जाता है।

निश्चय नय से जिसने आत्मा का अनुभव प्राप्त कर लिया है, उसने पांचों परमेष्ठी परम पारिणामिक भाव का अनुभव कर लिया। यह पांचों पद आत्मा को ही दिये गये हैं, व्यवहारनय से या पर्याय दृष्टि से आत्मा के पांच भेद हो जाते हैं, निश्चय से आत्मा एक रूप ही है।

जिस आत्मा में चार घातिया कर्मों के क्षय से अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत वीर्य, अनंत सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र गुण प्रगट हैं परंतु चार अघातिया कर्मों का उदय है व उनकी सत्ता है तथापि वे जीवन मुक्त परमात्मा अरिहंत है। सिद्ध भगवान आठों ही कर्मों से रहित प्रगटपने शुद्धात्मा हैं, वहाँ शरीरादि किसी भी पुद्गल कर्मादि का संयोग नहीं है वे निरंजन निर्विकार हैं। सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व इन आठ गुणों से विभूषित हैं, परम कृत कृत्य हैं, निश्चल परमानंदी हैं। उनके स्वरूप को अपने आत्मा में विराजमान करके एकतान हो जाना सिद्ध का ध्यान है।

प्रत्येक आत्मा भी निश्चय से परमात्मा है ऐसा जानकर वीतरागभाव या समभाव में होकर स्वानुभव का अभ्यास करना, इससे परमात्म पद प्रगट होता है।

प्रश्न - क्या ऐसे ज्ञान श्रद्धान (कहने सुनने) मात्र से परमात्म पद प्रगट हो जाता है या इसमें और कुछ भी होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

षिपनिक विमल सुभावं, षिपिओ कम्मान सरनि विलयं च ।

षिपिओ अन्यान प्रमोदं, न्यान सहावेन अन्मोय ममलं च ॥ ५३ ॥

नाना प्रकार दिट्ठी, न्यान सहावेन इस्ति परमिस्ती ।

लिंगं च जिनवरिंदं, लिंगं सुद्धं च कम्म विलयंति ॥ ५४ ॥

लीनं अनन्तनंतं, लीनं सुभाव न्यान सहकारं ।

एयं च गुन विसुद्धं, एयं तिक्कंति सरनि संसारे ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ - (षिपनिक विमल सुभावं) अपने विमल ममल स्वभाव का

दृढ़ श्रद्धान, क्षायिक सम्यक्दर्शन होने से (षिपिओ कम्मान) कर्मों का क्षय हो जाता है (सरनि विलयं च) संसार परिभ्रमण विला जाता है (षिपिओ अन्यान प्रमोदं) अज्ञान में आनंद मानना दूर हो जाता है (न्यान सहावेन अन्मोय ममलं च) ज्ञान स्वभाव में रमण करने से ममल स्वभाव प्रगट हो जाता है।

(नाना प्रकार दिष्टी) इधर-उधर घूमने वाली दृष्टि छूट जाती है अर्थात् नाना प्रकार मत मतान्तर की मान्यता छूट जाती है (न्यान सहावेन) ज्ञान स्वभाव से (इस्टि परमिस्टी) अपना इष्ट, परम इष्ट, परमेष्ठी पद वाला आत्मा ही है (लिंगं च जिनवरिंदं) जिनेन्द्र भगवान का जो लिंग अर्थात् मत-भेष है (लिंगं सुद्धं) यही शुद्ध लिंग है अर्थात् जिनेन्द्र प्रणीत जो मार्ग है वही सत्य है, जो निश्चय-व्यवहार से शाश्वत है (च) और (कम्म विलयंति) इसी से कर्म विला जाते हैं।

(लीनं अनन्तनंतं) अपने अनंत चतुष्टयमयी स्वभाव में लीन रहता है (लीनं सुभाव) स्वभाव की लीनता (न्यान सहकारं) ज्ञान के सहकार से होती है (एयं च गुण विसुद्धं) इसी से गुण विशुद्ध होते हैं (एयं तिक्तंति सरनि संसारे) इसी से संसार का परिभ्रमण छूटता है।

विशेषार्थ - अपने विमल ममल स्वभाव का दृढ़ अटल श्रद्धान क्षायिक सम्यक्दर्शन है, इससे कर्मों का क्षय होता है, संसार परिभ्रमण विला जाता है। क्षायिक सम्यक्दृष्टि तद्भव या तीसरे भव में मोक्ष चला जाता है। अपने ज्ञान स्वभाव के आश्रय रमण करने से निर्मल भाव प्रगट होता है, अज्ञान जनित सांसारिक प्रपंच में आनंद मानना, प्रमोद भाव समाप्त हो जाता है।

नाना प्रकार के मत मतांतर की मान्यता छूट जाती है, अपना ज्ञान स्वभाव आत्मा ही परम इष्ट उपादेय परमेष्ठी है, जिनेन्द्र देव द्वारा निर्दिष्ट मार्ग ही शुद्ध सच्चा मार्ग है, जो द्रव्य लिंग और भाव लिंग रूप निश्चय-व्यवहार से शाश्वत है, यही सत्य है ध्रुव है प्रमाण है। इसी की साधना से कर्मों का क्षय होता है।

अपने अनंत चतुष्टयमयी स्वभाव में लीन रहने से गुणों की विशुद्धि होती है, इसी से संसार का परिभ्रमण छूटता है, स्वभाव की लीनता एक मात्र आत्मज्ञान होने पर ज्ञान के सहकार, साधन से ही होती है।

जिनेन्द्र परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट मार्ग क्या है ?

सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः। सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता ही मोक्ष का मार्ग है। इसको उपलब्ध करने का माध्यम - पंच परमेष्ठी पद है। यही महामंत्र है जिसकी साधना से सिद्ध पद शाश्वत ध्रुव स्वभाव प्रगट होता है।

मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ, विमल ममल स्वभाव वाला हूँ, त्रिकाल शुद्ध निरावरण चैतन्य ज्योति स्वरूप एक अखंड अविनाशी ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा ही हूँ, इसका दृढ़ अटल श्रद्धान होना ही क्षायिक सम्यक्दर्शन है। निज शुद्धात्मानुभूति युत निश्चय सम्यक्दर्शन पूर्वक, सम्यक्ज्ञान द्वारा यथार्थ वस्तु स्वरूप जानकर इस बात का दृढ़ अटल श्रद्धान (मान्यता, प्रतीति) होना कि मैं ममल विमल स्वभाव वाला ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा ही हूँ, यह एक समय की पर्याय और जगत का त्रिकालवर्ती परिणमन जो क्रमबद्ध निश्चित अटल है, सब असत् क्षणभंगुर नाशवान विला जाने वाला है। शुद्ध द्रव्य मैं शुद्ध जीवास्तिकाय हूँ और यह पुद्गल द्रव्य शुद्ध परमाणु रूप है। ऐसा जब दृढ़ अटल श्रद्धान विश्वास होता है, कोई भ्रम भ्रांति भयभीतपना नहीं रहता वही क्षायिक सम्यक्त्व है, इससे कर्मों का क्षय होता है, संसार परिभ्रमण छूटता है। जो अज्ञान जनित पर्यायी परिणमन में उत्सुकता, आकर्षण महत्व होता था वह छूट जाता है।

नाना प्रकार के मत मतांतर की मान्यता भी छूट जाती है। जिनेन्द्र परमात्मा द्वारा प्रणीत मार्ग ही सत्य है, ध्रुव है, प्रमाण है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मयी पंच परमेष्ठी पद की साधना से अर्थात् निर्ग्रन्थ वीतराग साधुपद से ही उपाध्याय, आचार्य, अरिहंत, सिद्ध पद होता है तभी आत्मा पूर्ण शुद्ध परमात्मा होता है।

अपने अनंत चतुष्टयमयी सर्वज्ञ केवलज्ञान स्वभाव परम पारिणामिक भाव का आश्रय आलम्बन लेने से ही पर्याय में शुद्धि होती है, गुणों में विशुद्धि होती है, कर्मों का क्षय होता है और इसी से संसार परिभ्रमण छूटता है।

ज्ञानी के सर्व ही भाव सम्यक्ज्ञान से रचे हुए होते हैं, जबकि अज्ञानी के सर्व ही भाव अज्ञान द्वारा निर्मित होते हैं। साधु ही मोक्षमार्ग का यथार्थ व पूर्ण साधन कर सकते हैं। जो यथार्थ द्रव्यलिंग तथा भावलिंग के धारी हों उन्हीं को साधु कहते हैं। अणुमात्र परिग्रह के रखने से मोह कर्म की गांठ दृढ़ होती है और इससे तृष्णा की वृद्धि होती है। द्रव्यलिंग निमित्तकारण, भावलिंग साक्षात् मुनिपद है। भावों की शुद्धि से ही कर्मों की निर्जरा होती है। इस तरह भले प्रकार अपने आत्मा को अन्य से भिन्न निश्चय करके जो अपने में तन्मय हो जाता है वह और कुछ चिंता नहीं करता है, वहाँ परमात्म पद प्रगट होता है।

जब तक आंशिक रूप से स्पृहा राग भय और क्रोध रहते हैं तब तक वह साधक है, इनसे सर्वथा रहित होने पर वह सिद्ध हो जाता है।

अंतःकरण में जो छिपा हुआ राग रहता है, उसका नाम वासना है । वासना का ही दूसरा नाम आसक्ति और प्रियता, प्रमोद भाव है । मेरे को अमुक वस्तु या विषय मिल जाये ऐसी इच्छा कामना है, यही मूर्च्छा परिग्रह है । कामना पूरी होने की संभावना आशा है । कामना पूर्ति होने पर अधिक की चाह लोभ है, लोभ की मात्रा अधिक बढ़ जाने का नाम तृष्णा है ।

सब जगह आसक्ति रहित हुआ जीव उस-उस शुभ-अशुभ को प्राप्त करके न तो आनंदित होता है और न द्वेष करता है वह आत्मज्ञानी है ।

वर्तमान में जीव के एक तरफ अपना परमात्म स्वरूप है और एक तरफ संसार है । जब वह परमात्म स्वरूप का आश्रय छोड़ देता है, तब वह संसार का आश्रय लेकर संसार का ही चिंतन करता है । विषयों का सेवन चाहे मानसिक हो, चाहे शारीरिक हो, उससे जो सुख होता है, उससे विषयों में प्रियता पैदा होती है । विषयों का चिंतन करने वाले मनुष्य की उन विषयों में आसक्ति पैदा हो जाती है, आसक्ति से कामना पैदा होती है, कामना से क्रोध पैदा होता है, क्रोध होने पर सम्मोह (मूढ़भाव) हो जाता है, सम्मोह से स्मृति भृष्ट हो जाती है, स्मृति भृष्ट होने से बुद्धि का नाश हो जाता है, बुद्धि का नाश होने से मनुष्य का पतन हो जाता है । यह जो क्रम बताया है इसका विवेचन करने में तो देरी लगती है परंतु बिजली के करंट की तरह यह सभी वृत्तियाँ तत्काल पैदा होकर मनुष्य का पतन करा देती हैं । जिसके मन इन्द्रियाँ संयमित नहीं होते, उसकी बुद्धि स्थिर नहीं रहती ।

जो मननशील संयमी साधु पुरुष होते हैं वही अपने परमात्म स्वरूप की साधना कर सकते हैं ।

परमात्म स्वरूप आत्म तत्त्व चेतन है, नित्य है, सत्य है, असीम है, अनंत है और सांसारिक भोग पदार्थ जड़ हैं, अनित्य हैं, असत् हैं, सीमित हैं, अंत वाले हैं । जो जीव संपूर्ण कामनाओं का त्याग करके निर्मम, निरहंकार और निस्पृह वीतरागी होता है वह परमात्म पद प्राप्त करता है ।

वशीभूत अंतःकरण वाला कर्मयोगी साधक राग-द्वेष से रहित अपने वश में की हुई इंद्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करता हुआ अंतःकरण की प्रसन्नता को प्राप्त हो जाता है । प्रसन्नता प्राप्त होने पर साधक के संपूर्ण दुःखों का नाश हो जाता है और ऐसे प्रसन्न चित्त वाले साधक की बुद्धि निःसंदेह बहुत जल्दी परमात्मा में स्थिर हो जाती है ।

जिस समय साधक न इंद्रियों के भोगों में तथा न कर्मों में ही आसक्त होता

है अर्थात् कुछ भी भला-बुरा नहीं मानता, उस समय वह संपूर्ण संकल्पों का त्यागी योगारूढ़ कहा जाता है, योग का अर्थ समता भाव है । समभाव ही मोक्ष का उपाय है, सच्चे भाव मुनि को तो शुद्धात्म द्रव्याश्रित उग्र शुद्ध परिणति चलती रहती है । कर्तापना तो सम्यक्दर्शन ज्ञान होने पर ही छूट जाता है, उग्र ज्ञानधारा वर्तती रहती है, परम समाधि परिणमित होती है, वे बार-बार निजात्मा में लीन होकर अतीन्द्रिय आनंद का वेदन करते रहते हैं, उनके प्रचुर स्वसंवेदन होता है, अनंत गुणों की विशुद्धि हो जाती है, कर्मों का क्षय होता जाता है । एक मुहूर्त स्वभाव में लीनता होने पर केवलज्ञान प्रगट हो जाता है, अनंत चतुष्टय सर्वज्ञता परमात्म पद प्रगट हो जाता है, संसार परिभ्रमण का अभाव हो जाता है फिर जन्म-मरण नहीं होता । सादि अनंतकाल तक अपने शाश्वत सिद्ध पद में रहते हैं ।

प्रश्न - वर्तमान में क्षायिक सम्यक्दर्शन होता नहीं ऐसी स्थिति में क्या किया जाये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

टंकोत्कीर्ण अप्पा, टूटं कम्मान तिविहि जोएन ।

ठानं कुनसि सहावं, न्यान सहावेन मुक्ति ठिदि सुद्धं ॥ ५६ ॥

न्यानं च परम न्यानं, न्यान सहावेन समय सुद्धं च ।

दण्ड कपाट तिअर्थ, लोयालोयेन न्यान समयं च ॥ ५७ ॥

अन्वयार्थ - (टंकोत्कीर्ण अप्पा) टंकोत्कीर्ण आत्म स्वभाव है अर्थात् जैसे पाषाण खंड में मूर्ति बनाई जाती है, टांकी से सब अशुद्धि पाषाण खंड दूर कर दिये जाते हैं, इसी तरह टंकोत्कीर्ण रूप आत्मा को जाना है, वह कभी मिटता नहीं (टूटं कम्मान) कर्मों को तोड़-तोड़ कर अलग कर दिये (तिविहि जोएन) त्रिविध योग मन, वचन, काय से अपने स्वरूप को भिन्न जान लिया (ठानं कुनसि सहावं) अपने स्वभाव की ऐसी दृढ़ता, हठ ठानो, कुनसि अर्थात् रूठकर बैठ जाते हैं कि ऐसा ही होना (न्यान सहावेन) अपने ज्ञान स्वभाव में (मुक्ति) मुक्ति में, ध्रुवधाम में (ठिदि) स्थिरता रखो (सुद्धं) यही सच्चा पुरुषार्थ है ।

(न्यानं च परम न्यानं) वही ज्ञान श्रेष्ठ व उत्तम ज्ञान है (न्यान सहावेन समय सुद्धं च) जिस ज्ञान स्वभाव में ठहरने से समय अर्थात् आत्मा शुद्ध हो जावे (दण्ड कपाट तिअर्थ) किवाड़ बंद करके अपने रत्नत्रय स्वरूप में रहो (लोयालोयेन

न्यान समयं च) लोकालोक को जानने का आत्मा का स्वभाव है।

विशेषार्थ - आत्मा टंकोत्कीर्ण है, जैसे मूर्ति बनाने वाले पाषाण खंड निकाल देते हैं, वैसे ही द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नोकर्म से रहित मन वचन काय से भिन्न अपने स्वरूप को जान लिया है तो अपने आत्म स्वरूप की ऐसी दृढ़ता, हठ ठानो कि मैं ज्ञान स्वभावी चेतन तत्त्व भगवान आत्मा हूँ। ध्रुव ध्रुव ध्रुव, ममल स्वभावी शुद्धात्मा हूँ, ऐसे शुद्ध ममल स्वभाव में रहना ही मुक्ति है।

वही ज्ञान श्रेष्ठ है व परम ज्ञान है जो अपने स्वरूप की इतनी दृढ़ता, स्थिरता रखता है, अपने में अटल, अभय रहता है, निरंतर अपना स्मरण, ध्यान रखता है। केवलज्ञान स्वभाव में लोकालोक झलकता है, अब अपने रत्नत्रय स्वरूप में लीन रहो। यह किवाड़ बंद करो, बाहर पर पर्याय को देखना बंद करो, ज्ञान स्वभाव में लीन रहो इसी से मुक्ति, सिद्धि की प्राप्ति होती है।

क्षायिक सम्यक्दर्शन का विकल्प भी बाधा है, जब तुम आत्मज्ञानी हो, सम्यक्दर्शन पूर्वक सम्यक्ज्ञान हो गया तो अपने ज्ञान स्वभाव में दृढ़ स्थित रहो। टंकोत्कीर्ण अप्पा, जब सब कर्मों को तोड़कर अलग कर दिये, मन वचन काय से अपने स्वरूप को भिन्न जान लिया, तो इस बात पर दृढ़ अटल रहो, इसी से शुद्ध मुक्त सिद्ध होओगे। ज्ञान की विशेषता तो तभी है, जब तुम अपने रत्नत्रय स्वरूप में लीन रहो। अब पर पर्याय की तरफ देखो ही मत। यह दरवाजे बंद कर दो, अपने में लीन रहो, जो ज्ञेय जानने में आते हैं तो आने दो, तुम्हारा स्वभाव तो लोकालोक को जानने का है। कर्मोदय पर्याय शरीरादि संयोग से अब डरते क्यों हो? मन के संकल्प-विकल्प शुभाशुभ भाव चलते हैं तो चलने दो, तुम अपने ज्ञान स्वभाव में रहो तो वह सब अपने आप गल जायेंगे। इतनी दृढ़ता, हठ ठानो, अपने में स्वस्थ होश में रहो, तभी ज्ञानी सम्यक्ज्ञानी हो।

टंकोत्कीर्ण अप्पा ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा ममल स्वभावी है, ऐसा भेदज्ञान पूर्वक कर्मों से और शरीरादि संयोग से अपने को भिन्न जान लिया तो अपने में दृढ़ स्थित रहो अब चल विचल होने की जरूरत नहीं है। ऐसी दृढ़ता धरो, हठ ठानो कि मैं ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा ही हूँ, कर्मोदय संयोग पर्याय कैसी क्या चलती है, चलती रहे तुम उसे देखो ही मत, अपने ध्रुवधाम में स्थित रहो, यही तो मुक्ति है।

जब केवलज्ञान में लोकालोक झलकता है वहाँ कुछ होता नहीं तो यह कर्मोदय जन्य पर्याय से भयभीत भ्रमित होने की क्या बात है? इतनी दृढ़ता पूर्वक अपने में स्थित रहो तभी तुम्हारे ज्ञान की और ज्ञानीपने की विशेषता है।

आत्मा स्वभाव से लोकालोक का ज्ञाता है, अपने गुणों में परिणमनशील है इसलिये समय है। ऐसे आत्मा का सच्चा श्रद्धान सम्यक्दर्शन है, इसी का सच्चा ज्ञान सम्यक्ज्ञान है व इसी में तल्लीनता सम्यक्चारित्र है। इस रत्नत्रय की एकता में तिष्ठना ही दरवाजे के भीतर रहना है, यही स्वभाव में ठहरना है। जिससे कर्माश्रय का प्रवेश न हो, इसी की साधना से आत्मा पूर्ण मुक्त शुद्ध सिद्ध होता है। यही ज्ञान की श्रेष्ठता और विशेषता है।

अपने आत्मज्ञान का टंकार, ध्यान लगाओ तो यह सारे कर्म क्षय हो जायेंगे, इसके लिये आगे गाथा कहते हैं -

टंकार ज्ञान सुद्धं, ढलिओ कम्मान तिविहि विलयंति।

फटिक सुभावं सुद्धं, फटिक सुभावेन कम्म गलियं च ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थ - (टंकार) ध्वनि, ललकार (ज्ञान सुद्धं) शुद्ध आत्म ध्यान की (ढलिओ) ढह जाते हैं, भाग जाते हैं (कम्मान तिविहि) तीनों प्रकार के कर्म द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नोकर्म (विलयंति) विला जाते हैं (फटिक सुभावं) स्फटिक मणि का स्वभाव (सुद्धं) शुद्ध होता है (फटिक सुभावेन) ऐसे स्फटिक मणि के समान अपने शुद्ध स्वभाव से (कम्म गलियं च) सब कर्म गल जाते हैं।

विशेषार्थ - जैसे-युद्ध में वीर योद्धा धनुष की टंकार करता है या दीर्घ स्वर से ललकार करता है तो सामने वाला योद्धा दब जाता है, हट जाता है, भाग जाता है, उसी प्रकार शुद्ध आत्म ध्यान की टंकार से तीनों प्रकार के कर्म ढह जाते हैं, विला जाते हैं। जैसे-स्फटिक मणि स्वभाव से शुद्ध स्वच्छ श्वेत निर्मल होती है, उसमें जिस प्रकार का डाक लगाते हैं वह वैसी दिखने लगती है परंतु वह उस रूप नहीं होती, स्वभाव से शुद्ध श्वेत ही रहती है, इसी प्रकार स्फटिक मणि के समान आत्मा स्वभाव से त्रिकाल शुद्ध है, कर्मोदय संयोग निमित्त से वैसा देखने कहने में आता है परंतु स्वभाव से शुद्ध ही है। ऐसे शुद्ध स्वभाव का ध्यान करने से सब कर्म गल जाते, क्षय होते हैं।

ज्ञानमार्ग की साधना मोक्षमार्ग पर चलना शूरवीर, क्षत्रिय, योद्धा नर का काम है। अंतरंग कर्म शत्रुओं को जीतने वाला ही महावीर होता है। जैसे- युद्ध में धनुष की टंकार ध्वनि करने, ललकारने से शत्रु भाग जाता है वैसे ही आत्म ध्यान की टंकार करने से सारे कर्म शत्रु भाग जाते हैं। इतनी दृढ़ता आत्मबल पुरुषार्थ की शक्ति स्वयं में आवश्यक है। जब भेदज्ञान पूर्वक अपने आत्म स्वरूप का

अनुभूतियुत श्रद्धान तथा स्व-पर का अनुभव प्रमाण ज्ञान हो गया फिर डरने की क्या बात है ? ज्ञान ध्यान करो तो सारे कर्म विला जायेंगे। जैसे- स्फटिक मणि अपने स्वभाव से शुद्ध है, लाल, पीले, नीले वस्तु के संपर्क से लाल, पीला, नीला रूप परिणमन हो जाता है तब भी स्वभाव से शुद्ध है। वैसे ही यह आत्मा स्फटिक मणि के समान निर्मल शुद्ध है तथा परिणमन शील है।

कर्मों के उदय का निमित्त न होने पर यह सदा अपने शुद्ध आत्मीक गुणों में ही परिणमन करता है। संसार अवस्था में कर्मों का उदय निमित्त होने पर यह स्वयं राग-द्वेष, मोह रूप व नाना प्रकार के विभाव रूप परिणमन करता है तथापि स्वभाव से त्रिकाल शुद्ध है। ऐसे शुद्ध स्वभाव का ध्यान करने से कर्मों का क्षय होता है।

आत्मा शुद्ध चैतन्य निरावरण ज्योति सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा है, ऐसा जिसके ज्ञान में आया वह ज्ञानी जीव अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है, यही शुद्ध ध्यान है। जहाँ ज्ञान, ज्ञान में स्थिर हुआ वहाँ विशेष आनन्द की धारा बहती है। इससे पूर्व कर्म बंधोदय अपने आप गल जाते हैं, विला जाते हैं।

ज्ञानी यह जानता है कि मैं एक चैतन्य मात्र ज्योति स्वरूप शुद्धात्मा हूँ। जिस समय उसके भीतर इस आत्म ज्योति का प्रकाश होता है अर्थात् जब अपने शुद्ध स्वभाव का ध्यान करता है तब नाना प्रकार के विकल्प जालों का समूह जो इन्द्र जाल के समान मन में था, वह सब विला जाता है, क्षय हो जाता है। निर्विकल्प निजानंद में रमण करने से सब कर्म विला जाते हैं।

आत्मा के द्वारा आत्मा का अनुभव करना मोक्षमार्ग है। जो आत्मज्ञानी आत्मध्यान की साधना करता है उसको चार विशेषतायें प्रगट होती हैं -

१. आत्मीक सुख का वेदन होता है, यह अतीन्द्रिय आनंद उसी जाति का है जो आनंद अरिहंत सिद्ध परमात्मा को होता है।

२. अंतराय कर्म के क्षयोपशम से शुभयोग, अनुकूलता मिलती है। आत्म वीर्य बढ़ता है, जिससे अंतरंग में उमंग उत्साह पूर्वक आगे बढ़ने का पुरुषार्थ बढ़ता है।

३. पाप कर्मों का अनुभाग कम होता है, पुण्य कर्मों का अनुभाग बढ़ता है।

४. आयु कर्म के अतिरिक्त सर्व कर्मों की स्थिति कम होती जाती है।

प्रश्न - आत्म ध्यान की और विशेषता क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

मन पर्जय सुभावं, मन विलयं सुद्ध ज्ञान सभावं ।

रिजु विपुलं च सहावं, चिंतामनि सुद्ध रयन ममलं च ॥ ५९ ॥

धम्मं अनन्त ममलं, धम्मं धरयंति लोय अवलोयं ।

रिजु विपुलं च उवंनं, कम्म मल तिविहि भाव विलयंति ॥ ६० ॥

अन्वयार्थ - (मन पर्जय सुभावं) शुद्ध स्वभाव के ध्यान से मनः पर्यय ज्ञान प्रगट होता है (मन विलयं) मन विलीन हो जाता है, विला जाता है (सुद्ध ज्ञान सभावं) स्वभाव के शुद्ध ध्यान से (रिजु विपुलं च सहावं) रिजु विपुलमति ज्ञान प्रगट होता है (चिंतामनि सुद्ध रयन) चिंतामणि शुद्ध रत्न के समान (ममलं च) ममल भाव प्रगट हो जाता है।

(धम्मं अनन्त ममलं) धर्म अपना अनंत चतुष्टय धारी ममल स्वभाव है (धम्मं धरयंति) धर्म को धारण करने से (लोय अवलोयं) लोक का स्वरूप देखने जानने में आता है (रिजु विपुलं च उवंनं) रिजुमति विपुल मति ज्ञान प्रगट हो जाता है (कम्म मल) कर्म मल और (तिविहि भाव) तीन प्रकार के मिथ्यात्व भाव (विलयंति) विला जाते हैं।

विशेषार्थ - शुद्ध स्वभाव के ध्यान से मनः पर्यय ज्ञान प्रगट होता है, शुद्ध ध्यान स्वभाव से मन विला जाता है। आत्मध्यान से रिजु, विपुलमति ज्ञान प्रगट होता है। शुद्ध चिंतामणि रत्न के समान ममल भाव प्रगट होता है। धर्म अपना अनंत चतुष्टयमयी ममल स्वभाव है। इस धर्म को धारण करने से लोक का स्वरूप, समस्त पदार्थ स्पष्ट झलकते हैं। रिजु विपुलमति ज्ञान पैदा होने से सारे कर्म मल और तीनों मिथ्या भाव विला जाते हैं।

आत्म ध्यान की बड़ी महिमा है, आत्म ध्यान करने से वीतरागता प्रगट होती है। मन विला जाता है, मनः पर्यय ज्ञान प्रगट होता है, जिसके दो भेद-रिजुमति और विपुलमति हैं। इनके प्रगट होने से चिंतामणि के समान अपना रत्नत्रय स्वरूप प्रगट हो जाता है, जिसके प्रकाश में जगत के समस्त पदार्थ स्पष्ट झलकने लगते हैं। अपना अनंत चतुष्टयमयी ममल स्वभाव दिखने लगता है, जिससे सारे कर्म मल और तीनों मिथ्यात्व भाव विला जाते हैं।

स्व-पर ग्राहक ऐसा ज्ञान प्रकाश स्व को जानता है और पर को भी जानता है लेकिन पर को जानकर उसे भिन्न रखता है। चैतन्य लक्षण द्वारा स्व को लक्षित करते ही आत्म ध्यान की स्थिति बनती है, तब ज्ञान ज्ञान में ही जम गया अर्थात्

वीतरागी ज्ञाता भाव ही रह गया, इस स्थिति में मनः पर्यय ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होकर मनःपर्यय ज्ञान प्रगट होता है, जिसके रिजुमति-विपुलमति भेद होते हैं। इनके प्रगट होने पर मन विलय हो जाता है, सारे कर्म मल क्षय हो जाते हैं और तीनों ही मिथ्यात्व भाव, दर्शन मोहनीय विला जाते हैं। शुद्ध ज्ञान स्वरूप गुण-गुणी के भेद से भी रहित है तथा सुख सागर है। इसी के ध्यान से केवलज्ञान प्रगट होता है।

प्रश्न - केवलज्ञान कैसे प्रगट होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

रीनं संसार सुभावं, रीनं अन्मोय अन्यान विलयंति ।

ऐकार नंतनंतं, ऐ उववन्न मुक्ति गमनं च ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थ - (रीनं) क्षीण होना, रीत जाना, खाली हो जाना (संसार सुभावं) संसार स्वभाव अर्थात् संसार परिभ्रमण, जन्म-मरण का चक्र, सुख-दुःख भोगना (रीनं) क्षीण होना (अन्मोय) आलंबन, अनुमोदना (अन्यान विलयंति) अज्ञान विला जाता है (ऐकार) इस प्रकार (नंतनंतं) अनंत चतुष्टय स्वरूप केवलज्ञान (ऐ) इसके (उववन्न) प्रगट होना, पैदा होना (मुक्ति गमनं च) मुक्ति में गमन होता है।

विशेषार्थ - संसार स्वभाव के क्षीण होने अर्थात् विभाव परिणमन के रुकने और अज्ञान के सर्वथा अभाव होने से अनंत चतुष्टय स्वरूप केवलज्ञान प्रगट होता है तथा केवलज्ञान होने से मोक्ष निश्चित होता है।

निज शुद्धात्म स्वभाव में अड़तालीस मिनट रहने से केवलज्ञान प्रगट होता है जहाँ संसार परिभ्रमण समाप्त हो जाता है, अज्ञान भाव सर्वथा विला जाता है।

मोह का क्षय होने से और ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अंतराय इन तीनों कर्मों का एक साथ क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। केवलज्ञान होने पर भाव मोक्ष हुआ कहलाता है। अनंत चतुष्टय के प्रगट होने से यह अरिहंत दशा है और आयुष्य की स्थिति पूरी होने पर चार अघातिया कर्मों का अभाव होकर द्रव्य मोक्ष होता है यही सिद्ध दशा है। मोक्ष केवलज्ञान पूर्वक ही होता है।

यदि यह आत्मा दो घड़ी, पुद्गल द्रव्य से भिन्न अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करे उसमें लीन रहे, परीषह आने पर भी न डिगे तो घाति कर्म का नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष को प्राप्त हो। आत्मज्ञान आत्मानुभव का ऐसा महात्म्य है।

मोक्ष का सुख आत्मा का पूर्ण स्वाभाविक अतीन्द्रिय सुख है, जो सिद्धों को सदा काल निरंतर अनुभव में आता है। ऐसे सुख का उपाय भी आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव करना है। सुख स्वभावी आत्मा ही पूर्ण सुखी होता है। आत्मीक सुख का स्वाद पाने का उपाय अपने ही शुद्ध आत्मा में निर्विकल्प समाधि का होना है।

सम्यक्त्वी आत्मज्ञानी को स्वानुभव करने की रीति मिल जाती है। इसी को मोक्ष का उपाय जानकर सम्यक्त्वी बार-बार स्वानुभव का अभ्यास करके आत्मानंद का भोग करता है। यदि कोई सम्यक्त्वी निर्ग्रन्थ मुनि हो व वज्रर्षभनाराच संहनन का धारी हो और उसका स्वानुभव यथायोग्य एक अंतर्मुहूर्त तक जमा रहे तो वह चार घातिया कर्मों का क्षय करके परमात्मा हो जावे। एक साथ ही अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य का प्रकाश कर ले।

प्रश्न - केवलज्ञान होने पर क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

तत्काल कम्म विलयं, तत्कालं राय विषय मय गलियं ।

थानंत नंतनंतं, थानं सुद्धं च गारवं विलयं ॥ ६२ ॥

दंसन अनंत दर्सं, दंसन दंसेइ लोय अवलोयं ।

धुवं च निस्चय सहावं, धुव निस्चय परम केवलं न्यानं ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थ - (तत्काल कम्म विलयं) तत्काल ही, उसी क्षण, घातिया कर्म विला जाते हैं (तत्कालं राय विषय मय गलियं) उसी क्षण राग-द्वेष, विषय अहंकार गल जाते हैं (थानंत नंतनंतं थानं) अनंतानंत पदार्थों को जानने की शक्ति केवलज्ञान की एक समय की पर्याय में होती है (सुद्धं) आत्मा द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों से शुद्ध परमात्मा हो जाती है (च) और (गारवं विलयं) सब गारव विला जाता है।

(दंसन अनंत दर्सं) दर्शन अनंत दर्शन हो जाता है (दंसन दंसेइ) उस अनंत दर्शन में दिखता है (लोय अवलोयं) लोकालोक, लोक अलोक (धुवं च निस्चय सहावं) यह आत्मा का ध्रुव निश्चय स्वभाव है (धुव निस्चय परम केवलं न्यानं) यही ध्रुव निश्चय शाश्वत स्वभाव परम केवलज्ञान है।

विशेषार्थ - केवलज्ञान की महिमा अपूर्व है, केवलज्ञान होते ही उसी क्षण घातिया कर्म विला जाते हैं, उसी क्षण राग-द्वेष, विषय-कषाय गल जाते

हैं। अनंतानंत पदार्थों को जानने की शक्ति केवलज्ञान की एक समय की पर्याय में होती है।

केवलज्ञान होने से आत्मा द्रव्य गुण पर्याय तीनों से शुद्ध परमात्मा हो जाती है और संसार का सारा माया, मोह, गारव विला जाता है।

केवलज्ञान होने पर अनंत ज्ञान दर्शन हो जाता है, जिसमें लोकालोक प्रतिबिम्बित होता है, यह आत्मा का ध्रुव निश्चय स्वभाव है। यही ध्रुव निश्चय शाश्वत स्वभाव परम केवलज्ञान है।

चौथे से बारहवें गुणस्थान तक जिन संज्ञा है फिर बारहवें के अंत में मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अंतराय इन घातिया कर्मों का क्षय होने से अरिहंत सयोग केवली हो, तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त होते हैं तब वे जिनेन्द्र कहलाते हैं। यहाँ चारों घातिया कर्मों का अभाव हो जाता है। समस्त दोषों का क्षय हो जाता है।

१. भूख, २. प्यास, ३. भय, ४. राग, ५. द्वेष, ६. मोह, ७. चिंता, ८. जरा, ९. रोग, १०. मरण, ११. पसीना, १२. खेद, १३. मद, १४. रति, १५. आश्चर्य, १६. जन्म, १७. निद्रा, १८. विषाद। यह अठारह दोष संसारी जीवों में पाये जाते हैं, केवलज्ञानी परमात्मा में इन अठारह दोषों का अभाव हो जाता है।

अतीन्द्रिय स्वभाव वाले, शुद्ध सद्भूत व्यवहार से अनंत ज्ञान, अनंत दर्शनादि शुद्ध गुणों के आधारभूत होने के कारण विश्व को लोकालोक को निरंतर जानते हुए और देखते हुए भी मन की प्रवृत्ति का (भाव मन परिणति का) अभाव होने से इच्छा पूर्वक वर्तन नहीं होता इसलिये वे भगवान केवलज्ञानी रूप से प्रसिद्ध हैं, परम वीतराग हैं, परमानंद में अपने द्रव्य गुण पर्याय से शुद्ध परमात्मा होते हैं।

और विशेषता के लिये आगे गाथा कहते हैं -

नंतानंत सुदिद्धं, नंत चतुष्टय सु दिस्टि विमलं च ।

भद्र मनोयं सुद्धं, भद्र जातीय मुक्ति गमनं च ॥ ६४ ॥

ऊवं ऊर्ध सहावं, ऊर्ध ऊर्ध च परमिस्टि संसुद्धं ।

ऊवंकारं च दिद्धं, विन्यानं दर्सए पद विंदं ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थ - (नंतानंत सुदिद्धं) अनंतानंत पदार्थों को देखते जानते हैं (नंत चतुष्टय) अनंत चतुष्टय-अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्य

मयी (सु दिस्टि विमलं च) अपने विमल ममल स्वभाव में ही सुदृष्टि रहती है (भद्र मनोयं सुद्धं) भद्र मनोज्ञ शुद्ध स्वभाव से (भद्र जातीय) स्वाभाविक स्वरूप के प्रगट होने से (मुक्ति गमनं च) मुक्ति में गमन करते हैं।

(ऊवं ऊर्ध सहावं) परमात्म स्वरूप श्रेष्ठ स्वभाव है (ऊर्ध) श्रेष्ठ (ऊर्ध) ऊर्ध्वगामी (च) और (परमिस्टि) पंच परमेष्ठी स्वरूप (संसुद्धं) परम शुद्ध है (ऊवंकारं च दिद्धं) परमात्म स्वरूप को देखने अनुभव करने से (विन्यानं दर्सए) भेदविज्ञान ज्योति प्रगट होती है (पद विंदं) जिससे अपने पद, सिद्ध स्वरूप की अनुभूति होती है, सिद्ध पद प्रगट होता है।

विशेषार्थ - केवलज्ञानी अरिहंत परमात्मा ही वास्तव में भद्र मनोज्ञ परम सुन्दर शुद्ध स्वभाव के धारी हैं। अपने विमल, ममल स्वभाव में लीन रहते हैं, उनकी सुदृष्टि में तीन लोक तीन काल के समस्त जीव, समस्त द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती अनंतानंत पर्यायें झलकती हैं। अनंत चतुष्टय स्वरूप प्रगट होने से परमानंद का पान करते हुए वह मुक्ति में गमन करते हैं।

पंच परमेष्ठी पद में सबसे श्रेष्ठ पद अरिहंत पद को प्राप्त कर लिया है, परम शुद्ध स्वभाव में अपने पूर्ण ब्रह्म स्वरूप को देखते हैं, भेदविज्ञान ज्योति प्रगट होने से निरंतर उवंकार स्वरूप में लीन रहते हैं। आयु कर्म के क्षय होने पर ऊर्ध्व गमनकर सिद्ध पद में प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

केवलज्ञान आत्मा का परिपूर्ण स्वभाव है, यही परमात्म स्वरूप है, पंच परमेष्ठी पद में सबसे श्रेष्ठ अरिहंत पद है। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु यह पंच परमेष्ठी पद हैं। भेदविज्ञान द्वारा अपने सत्स्वरूप का बोध करके जो आत्मा अपने स्वरूप की साधना करता है वह साधुपद में इस अरिहंत पद को पाता है। यहाँ से आयु के अंत होने पर ऊर्ध्व गमन करके सारे कर्म मलों से रहित होकर अशरीरी सिद्ध पद प्राप्त करता है, जो आत्मा का अपना शाश्वत अविनाशी पद है।

ऊँ स्वरूप में अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु यह पांचों परमेष्ठी गर्भित हैं तथापि मुख्यता अरिहंत व सिद्ध परमात्मा की है। जगत में यह ही श्रेष्ठ स्वभावधारी परमेष्ठी परम वीतराग हैं। जो भव्य जीव सम्यक्दृष्टि भेदविज्ञानी अपने परमात्म स्वरूप का चिंतन ध्यान करता है, उसको इस उवंकारमयी परमात्म पद का अनुभव होता है।

यह उवंकार स्वरूप प्रणव, दुःख रूपी अग्नि की ज्वाला को शांत करने के

लिये मेघ के समान है तथा समस्त श्रुत के प्रकाश करने के लिये दीपक है और पवित्र शासनमय है। इस प्रणव से अति निर्मल शब्द रूप ज्योति अर्थात् केवलज्ञान प्रगट हुआ है। यह सौ इन्द्रों से पूजित महा प्रभाव सम्पन्न कर्मरूपी वन को दग्ध करने के लिये अग्नि के समान महान परम तत्त्व है, इसका आराधन, चिंतवन, ध्यान करने से परमात्म पद प्राप्त होता है।

जो संसारी आत्मा, शुद्ध आत्मा का अनुभव पूर्वक ध्यान करता है वह मुनि साधु पद में अंतर बाहर निर्ग्रन्थ होकर पहले धर्म ध्यान फिर शुक्ल ध्यान को ध्याता है। वह शुक्ल ध्यान के प्रताप से पहले अरिहंत होता है फिर सर्व कर्म मल जलाकर सिद्ध होता है। ऊर्ध्व गमन स्वभाव से लोक के अग्र भाग में जाकर सिद्ध आत्मा ठहरता है। सिद्धों के समान जो कोई मुमुक्षु अपने आत्मा को निश्चय से शुद्ध आत्म द्रव्य मानकर व राग-द्वेष त्यागकर निज स्वरूप में मग्न हो जाता है वही एक दिन शुद्ध पद को प्राप्त अरिहंत सिद्ध हो जाता है।

केवलज्ञान होते ही ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों के क्षय हो जाने पर छद्मस्थज्ञान नहीं रहता है। ज्ञान मर्यादा रूप नहीं होकर अमर्यादा रूप अनंत हो जाता है। मन का संकल्प-विकल्प नहीं होता है। दुष्ट कर्म मल नाश हो जाता है। अक्षरमय वाणी नहीं होती, मेघ की गर्जना के समान निरक्षरी ध्वनि निकलती है। भूख प्यास भय पसीना आदि नहीं होता, नख केश नहीं बढ़ते, शरीर का सर्व मल दूर हो जाता है, भद्र मनोज्ञ, परम सुंदर, दर्शनीय हो जाता है। स्फटिक के समान तेजस्वी शरीर हो जाता है, सात धातुयें नहीं रहती हैं, सब दोषों का क्षय हो जाता है।

अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतदान, अनंतलाभ, अनंतभोग, अनंत उपभोग, अनंतवीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र यह नौ केवल लब्धियाँ तथा अनंत सुख प्राप्त हो जाता है। इन दस को चार अनंत चतुष्टय में गर्भित करके अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य, अनंतसुख को यहाँ प्राप्त करना कहा है। सम्यक्त्व व चारित्र को सुख में गर्भित किया है क्योंकि उनके बिना सुख नहीं होता है तथा अनंत दानादि पांच को अनंतवीर्य में गर्भित किया है क्योंकि वे उसी की परिणतियाँ हैं, इस तरह अनंत चतुष्टय में दशों गुण गर्भित हैं। सयोग केवली अवस्था में अरिहंत धर्मोपदेश करते हैं। उनकी दिव्यवाणी का अद्भुत प्रकाश होता है। जिसका भाव सर्व ही उपस्थित देव मानव व पशु समझ लेते हैं। सबका भाव निर्मल आनंदमय व संतोषी हो जाता है, उसी वाणी को धारणा में लेकर चार

ज्ञानधारी गणधर मुनि आचारांग आदि द्वादश अंगों का निरूपण करते हैं, जो द्वादशांग वाणी- जिनवाणी कहलाती है।

यह तेरहवां गुणस्थान आयु पर्यन्त रहता है। केवली समुद्घात में लोकाकाश प्रमाण आत्मप्रदेश फैलते हैं, जब इतना काल आयु शेष रहता है जितना काल अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पांच लघु अक्षरों के बोलने में समय लगता है तब अयोग केवली जिन हो जाते हैं। अंत के दो समय में चार अघातिया कर्मों की ८५ प्रकृतियों का क्षय करके सिद्ध व अशरीरी होकर सिद्ध क्षेत्र में जाकर विराजते हैं।

प्रश्न - इस केवलज्ञान स्वरूप परमात्म पद को प्राप्त करने का उपाय क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

ममात्मा सुकिय सुभावं, ममलं दिस्टि च अन्मोय सहकारं।

आदि अनादि सुद्धं, अन्मोयं षिपति कम्म तिविहं च ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ - (ममात्मा) मेरा आत्मा (सुकिय) स्वकृत, अपने आप, स्वाभाविक (सुभावं) स्वभाव से (ममलं दिस्टि) ममल दृष्टि अर्थात् शुद्ध दृष्टि है (च) और (अन्मोय) अनुमोदना, आलंबन (सहकारं) सहकार करना, सहयोग, स्वीकार (आदि अनादि सुद्धं) आत्मा अनादि काल से शुद्ध है अर्थात् जब से है और जब तक रहेगा, स्वभाव से शुद्ध ही है (अन्मोयं) इसका आलंबन, आश्रय लेने से (षिपति) क्षय होते हैं (कम्म तिविहं च) तीनों प्रकार के कर्म - द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नोकर्म।

विशेषार्थ - केवलज्ञान स्वरूप परमात्म पद को प्राप्त करने के लिये साधक को इसका आलंबन लेना चाहिये, अनुमोदना करना चाहिये, स्वीकार करना चाहिये कि मेरा आत्मा स्वयं केवलज्ञान स्वभावी परमात्मा है। स्वभाव से यह आत्मा अनादिकाल से शुद्ध है, वर्तमान पर्याय में अशुद्धि है। अपने ममल केवलज्ञान स्वभाव का अश्रय लेने से पर्याय शुद्ध होती है और तीनों प्रकार के कर्म क्षय होते हैं।

ज्ञानी साधक को इस बात को स्वीकार करना चाहिये, दृढ़ अटल श्रद्धान रखना चाहिये कि मेरा आत्मा स्वभाव से शुद्ध ममल केवलज्ञान स्वभावी है। वर्तमान पर्याय में अशुद्धि है, अनादि से कर्मों का निमित्त-नैमित्तिक संयोग सम्बंध है परंतु बंधने छूटने की अपेक्षा सादि है। कर्मों का नाश अपने स्वभाव में रमण करने से ही होगा। अपने शुद्ध ममल स्वभाव में रमने से आनंद होता है तथा

राग-द्वेष रूप भाव कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म व शरीरादि नोकर्म का क्षय होता है। पर्याय में शुद्धता होकर पूर्ण केवलज्ञान स्वरूप परमात्म पद प्रगट होता है।

जो पर पदार्थ में अहंकार व ममकार छोड़कर एकाग्रता के साथ अपने शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव करता है वह नये कर्मों का संवर व पुराने कर्म मलों को क्षय करता है।

ज्ञान दर्शन लक्षण वाला शाश्वत एक आत्मा मेरा है, शेष सब संयोग लक्षण वाले भाव मुझसे बाह्य हैं। त्रिकाल निरुपाधि स्वभाव वाला होने से निरावरण ज्ञान दर्शन लक्षण से लक्षित ऐसा जो कारण परमात्मा वह मेरा निज स्वभाव है। जो शरीरादि की उत्पत्ति में हेतुभूत द्रव्यकर्म, भाव कर्म रहित होने से एक है और वही कारण परमात्मा समस्त क्रियाकांड के आडंबर के विविध विकल्प रूप कोलाहल से रहित, सहज शुद्ध ज्ञान चेतना को अतीन्द्रिय रूप से भोगता हुआ, शाश्वत रहकर मेरे लिये उपादेय रूप से रहता है। जो शुभाशुभ कर्म के संयोग से उत्पन्न होने वाले शेष बाह्य आभ्यंतर परिग्रह, वे सब निज स्वरूप से बाह्य हैं ऐसा मेरा निश्चय है।

मेरा परमात्म स्वरूप शाश्वत है, कथंचित् एक है, सहज परम चैतन्य चिंतामणि है, सदा शुद्ध है और अनंत निज दिव्य ज्ञान दर्शन से समृद्ध है। ऐसे सत्श्रद्धान अटल विश्वास सहित अपने स्वरूप में स्थित रहने से तीनों प्रकार के कर्म क्षय होते हैं, पर्याय शुद्ध होती है और केवलज्ञान स्वभाव परमात्म पद प्रगट होता है।

आत्मा का स्वरूप निश्चय से परम शुद्ध है। ज्ञान इसका मुख्य असाधारण लक्षण है। ज्ञान में वह शक्ति है कि एक ही समय में यह सर्व लोक के छह द्रव्यों को उनकी पर्यायों को लिये हुए तथा अलोक को एक ही साथ क्रम रहित जैसे का तैसा जान सके। इसी तरह आत्मा में वे सब गुण हैं जो सिद्ध भगवान में प्रगट हो जाते हैं।

स्वभाव से आत्मा सिद्ध के समान केवलज्ञान स्वभावी है, तत्त्वज्ञानी साधक महात्मा जिस पद का रुचिवान होता है उसी पद को ध्याता है। धर्मानुरागी, पंच परमेष्ठी की भक्ति, अनुकम्पा, परोपकार, शास्त्र पठन आदि शुभ भावों के भीतर वर्तता है क्योंकि शुद्धोपयोग में अधिक नहीं ठहर सकता है, आत्मवीर्य की कमी है तब अशुभ भावों से बचने के लिये शुभ भावों में रहते हुए भी ज्ञानी उनसे विरक्त

रहता है। परमाणु मात्र भी रागभाव बंध का कारण है, ऐसा जानता है।

निर्विकल्प समाधि व स्वानुभव के आलाप के लिये एक अपने ही आत्मा के भीतर आत्मा के द्वारा अपने ही आत्मा को ध्याता है, इससे पूर्व कर्म बंध निर्जरित क्षय हो जाते हैं। इस तरह जो ज्ञानी व विरक्त पुरुष संसार की सर्व प्रपंचावली से पूर्ण विरक्त होकर आत्म ध्यान करते हैं, वे परमानंद के अमृत का पान करते हैं, वे ही विवेकी पंडित हैं, वे ही परम ऐश्वर्य वान हैं, रत्नत्रय की अपूर्व संपदा के धनी हैं, सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता में लवलीन हैं, वे ही भाग्यवान हैं, वे केवलज्ञान स्वरूप परमात्म पद को प्राप्त करते हैं।

इसी की विशेषता रूप आगे गाथा कहते हैं -

अयं च अप्प सरूवं, अयं च विषम कम्म गलियं च।

अयं च सुद्ध सरूवं, अयं च सुद्ध ममल मिलियं च ॥ ६७ ॥

उत्पाद्य नंतनंतं, उववंनं न्यान सुद्ध सहकारं।

ऊर्थ ऊर्थ संसुद्धं, ऊर्थ ससहाव कम्म गलियं च ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थ - (अयं) मैं, यही (च) और (अप्प सरूवं) आत्म स्वरूप है (अयं) मैं इसी से (च) और (विषम) पांच इंद्रियों के विषय भोग (कम्म गलियं च) और कर्म भी गल जाते हैं (अयं) इसी (च) और, तो (सुद्ध सरूवं) शुद्ध स्वरूप है (अयं) इसी (च) और (सुद्ध) शुद्ध (ममल) ममल स्वभाव (मिलियं च) मिल जाता है, मिला देता है।

(उत्पाद्य) प्रगट होता है, पैदा होता है (नंतनंतं) अनंत चतुष्टयमयी स्वरूप (उववंनं) उदय होता है, अनुभूति में आता है (न्यान) केवलज्ञान (सुद्ध सहकारं) शुद्ध स्वभाव की सहायता से (ऊर्थ) ऊर्ध्वगामी (ऊर्थ) श्रेष्ठ (संसुद्धं) परम शुद्ध है (ऊर्थ) श्रेष्ठ (ससहाव) स्व स्वभाव से (कम्म गलियं च) कर्म गल जाते हैं।

विशेषार्थ - यही केवलज्ञान स्वभाव अपने आत्मा का स्वरूप है, इसी स्वरूप में रमण करने से विषय और कर्मों का क्षय होता है। यही तो परमात्मा का शुद्ध स्वरूप है, इसी शुद्ध ममल स्वरूप में रहने से परमात्म पद मिल जाता है, इसी से अनंत चतुष्टय स्वरूप केवलज्ञान प्रगट होता है। अपने शुद्ध स्वभाव के सहकार से, जो ऊर्ध्वगामी श्रेष्ठ स्वभाव परमशुद्ध है, अपने स्व स्वभाव में रहने से सब कर्म गल जाते हैं और केवलज्ञान ज्योति प्रगट होती है।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप के ध्यान से ही कर्मों का क्षय होता है,

विषय-कषाय गलते हैं। आत्मा का शुद्ध स्वरूप सिद्ध परमात्मा के समान है, सत्ता हर एक आत्मा की भिन्न-भिन्न है। शुद्ध आत्मा के अनुभव की महिमा अपूर्व है, इसी से ही कर्मों का क्षय होता है और केवलज्ञान प्रगट होता है।

कर्मबंध से छूटने का उपाय या भवसागर से पार होने का उपाय रत्नत्रय धर्म है, इसके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। निश्चय रत्नत्रय साक्षात् मोक्षमार्ग है यही उपादान कारण है। व्यवहार रत्नत्रय उपादान के प्रकाश के लिये बाहरी निमित्त है। कार्य की सिद्धि, उपादान और निमित्त दोनों कारणों के होने पर होती है। यह अपना आत्मा द्रव्य स्वभाव से परम शुद्ध है ज्ञाता दृष्टा है, अनंत वीर्य व अनंत सुख का सागर है, परम वीतराग है, सर्व अन्य द्रव्यों की सत्ता से रहित है।

मैं सिद्ध के समान शुद्ध निरंजन निर्विकार हूँ, मैं पूर्ण ज्ञान दर्शनवान हूँ, पूर्ण आत्मवीर्य का धनी हूँ, परम आनंदमय अमृत का अगाध सागर हूँ, मैं परम कृत कृत्य हूँ, जीवन मुक्त हूँ, ऐसा दृढ़ अटल श्रद्धान ज्ञान होने पर सारे विषय-कषाय कर्म मल गल जाते हैं। शुद्धात्मानुभव की स्थिरता से ही सारे कर्म क्षय होते हैं और अनंत चतुष्टयमयी केवलज्ञान प्रगट होता है।

इसकी साधना के लिये आगे गाथा कहते हैं -

**उवं नमापि सुद्धं, उवलष्यं लष्य नंत ससरूवं ।
अवकास दान त्रिधिं, अवकास विमल केवलं न्यानं ॥ ६९ ॥
अन्मोय नंतनंतं, अनन्त चतुस्तं च विमल ससरूवं ।
आलवं अवलवं, अनन्तानन्त सुदिस्टि विमलं च ॥ ७० ॥**

अन्वयार्थ - (उवं नमापि सुद्धं) मैं ऊँ परमात्म स्वरूप शुद्ध स्वभाव को नमस्कार करता हूँ (उवलष्यं) उपलब्ध होता है, अगोचर है (लष्य) दिखाई देता, गोचर होता है, अनुभूति में आता है (नंत ससरूवं) अपना आत्म स्वरूप जो चतुष्टयमयी है (अवकास दान त्रिधिं) निज स्वरूप में जितनी स्थिरता होती है, गुणस्थान बढ़ता जाता है अवकाश अर्थात् ठहरना, दान अर्थात् आत्मबल बढ़ना, पुरुषार्थ करना, अभय दान देना, त्रिधि अर्थात् बढ़ता है (अवकास विमल केवलं न्यानं) ममल स्वभाव में रहने से केवलज्ञान प्रगट होता है।

(अन्मोय नंतनंतं) अनंत गुणों के धारी आत्मा का आश्रय लेने, अनुमोदना करने से (अनन्त चतुस्तं च विमल ससरूवं) अनंत चतुष्टयमयी अपना विमल स्वरूप झलकने लगता है, प्रगट हो जाता है (आलवं अवलवं) यही आलम्ब है,

यही अवलंबन है (अनन्तानन्त सुदिस्टि विमलं च) विमल अनंत केवलज्ञान, केवलदर्शन प्रगट हो जाता है।

विशेषार्थ - अपना आत्म स्वरूप जो चतुष्टयमयी परमानंद परमात्म स्वरूप अगोचर है, जब अनुभूति में आता है और उसमें जितनी स्थिरता होती है, उतना गुणस्थान बढ़ता जाता है अभयपना आता है। अंतर्मुहूर्त स्व स्वरूप में रहने से केवलज्ञान प्रगट होता है, ऐसे परमात्म स्वरूप निज शुद्ध स्वभाव को मैं नमस्कार करता हूँ, जिसके आलम्बन अवलंबन से अनंत चतुष्टयमयी स्वस्वरूप अनंत गुण निधान अनंतानंत लोकालोक का प्रकाशक केवलज्ञान, केवलदर्शन प्रगट हो जाता है।

अपने आत्मा को परमात्मा के समान परम रुचि व परम आनंद के साथ ध्याने से ही अरिहंत पद होता है, जहाँ वीतरागता सहित अनंतज्ञान सुख आदि प्रगट हो जाते हैं। ऊँ वाचक शुद्ध स्वभाव परमब्रह्म परमात्मा का आलंबन, अवलंबन ही केवलज्ञान स्वरूप की प्रगटता का कारण है। इस सहारे से जब स्वयं आत्मा, आत्मा में लय होता है, तब अनंतानंत लोकालोक का प्रकाशक केवलज्ञान प्रगट हो जाता है जिसे मैं तथा समस्त जगत भी नमन करता है।

सम्यक्दर्शन के प्रताप से ज्ञानी को जगत के पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है कि छह द्रव्यों से यह जगत भरा है। सर्व ही द्रव्य निश्चय से अपने-अपने स्वभाव में कल्लोल करते हैं। यद्यपि संसारी जीव, पुद्गल के संयोग से अशुद्ध है व नर नारक तिर्यच तथा देव के शरीर में नाना प्रकार दिखते हैं, तो भी ज्ञानी उन सब जीवों को द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा शुद्ध एक रूप ज्ञानानंद स्वभावी परम निर्विकारी देखता है, इस ज्ञान के कारण उसे कोई आश्चर्य नहीं भासता है। वह छहों द्रव्यों के मूलगुण व पर्यायों के स्वरूप को केवलज्ञानी के समान यथार्थ शंका रहित जानता है। अपने आत्मा की सत्ता को अन्य आत्माओं की सत्ता से भिन्न जानता है तो भी स्वभाव से सर्व को व अपने आत्मा को एक समान शुद्ध देखता है, इसी ज्ञान के प्रताप से उसके भीतर सहज वैराग्य भी रहता है कि एक अपना शुद्ध आत्मा ही सार है, उत्तम है। अपने सहज शुद्ध स्वभाव की साधना आराधना सहित लीनता से अनंत चतुष्टयमयी केवलज्ञान स्वरूप प्रगट हो जाता है।

प्रश्न - केवलज्ञान होने से क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

वारापार अनन्तं, अनन्त संसार सरनि विलयं च ।
वरं विमल सहावं, चिंतामनि सुद्ध अन्मोय सर्वन्यं ॥ ७१ ॥
ह्रींकारं उववन्नं, उववन्नं नन्त दंसनं न्यानं ।
वीर्जं चर नंत सौष्यं, सर्वन्यं विमल न्यान समयं च ॥ ७२ ॥
न्यानं पंच उवनं, परम जिनं परम विमल सुभावं ।
परमं परमानंदं, अन्मोयं ममल न्यान सिद्धि संपत्तं ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थ - (वारापार अनन्तं) यह संसार समुद्र अनंत है (अनन्त संसार) अनन्त संसार का (सरनि विलयं च) परिभ्रमण छूट जाता है, विला जाता है (वरं विमल सहावं) अपने श्रेष्ठ विमल स्वभाव के आश्रय से (चिंतामनि सुद्ध) जो चिंतामणि के समान शुद्ध सिद्ध पद को प्राप्त कराने वाला है (अन्मोय सर्वन्यं) इसी के अनुभव से सर्वज्ञ स्वरूप प्रगट होता है ।

(ह्रींकारं उववन्नं) तीर्थंकर पद प्रगट होता है (उववन्नं नन्त दंसनं न्यानं) इसी से अनंतदर्शन, अनंतज्ञान प्रगट होता है (वीर्जं चर नंत सौष्यं) अनंत वीर्य और अनंत सुख प्रगट होता है (सर्वन्यं विमल न्यान समयं च) यही सर्वज्ञ केवलज्ञान स्वभावी निज आत्मा है ।

(न्यानं पंच उवनं) पंच ज्ञान प्रगट हो जाते हैं (परम जिनं) परम जिन परमात्मा (परम विमल सुभावं) परम विमल स्वभाव प्रगट हो जाता है (परमं परमानंदं) परम परमानंद प्रगट हो जाता है (अन्मोयं ममल न्यान) अपने ममल ज्ञान स्वभाव में लीन रहने से (सिद्धि संपत्तं) सिद्धि की संपत्ति, मुक्त सिद्ध दशा प्रगट होती है ।

विशेषार्थ - केवलज्ञान होने से अनंत संसार का परिभ्रमण समाप्त हो जाता है, सर्वज्ञ स्वभाव प्रगट हो जाता है, जिसमें लोकालोक प्रत्यक्ष झलकता है, अपना विमल ममल स्वभाव प्रत्यक्ष दिखता है, तीर्थंकर अरिहंत पद प्रगट हो जाता है, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य, अनंतसुख यह अनंत चतुष्टय स्वरूप प्रगट हो जाता है । यह केवलज्ञान स्वभावी निज आत्मा ही है, इसी से पंच ज्ञान प्रगट हो जाते हैं । परम जिन, जिनेन्द्र पद प्रगट हो जाता है, अपने विमल ममल स्वभाव में परम परमानंद में रहते हैं । अपने ममल ज्ञान स्वभाव में लीन रहने से अघातिया कर्मों का क्षय होकर सिद्धि की संपत्ति पूर्ण मुक्त सिद्ध दशा

प्रगट होती है ।

जब योगी द्वितीय शुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय तीनों कर्मों को सर्वथा क्षय कर देता है, तब तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवलज्ञानी अरिहंत परमात्मा हो जाता है, उस समय निज आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन व अनुभव होता है । अब तक श्रुतज्ञान के द्वारा परोक्ष ज्ञान था । अब केवलज्ञान में प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष अमूर्तीक आत्मा का ज्ञान व अनुभव होता है । घातिया कर्मों के क्षय होने से अनंत चतुष्टय, अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य, अनंतसुख प्रगट हो जाता है, सर्वज्ञ स्वभाव तीर्थंकर पद प्रगट हो जाता है । जिसमें तीन काल और तीन लोक के समस्त द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायें झलकती हैं । पंचज्ञानमयी परम जिन पद प्रगट हो जाता है । परम परमानंद स्वभाव में लीन रहते हैं, अपने ममल ज्ञान स्वभाव में लीन रहने से अघातिया कर्मों का क्षय होने से सिद्धि की संपत्ति सिद्ध पद प्रगट हो जाता है, जहाँ सादि अनंत काल तक अपने अक्षय परमानंद स्वभाव में यह आत्मा मगन रहता है ।

प्रश्न - यह अरिहंत और सिद्ध पद प्राप्त करने का मार्ग क्या है ?

समाधान - शुद्ध आत्मा का अनुभव करना ही अरिहंत सिद्ध पद प्राप्त करने का मार्ग है, इसके बाधक मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्र हैं । अनंतानुबंधी कषाय और दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय से एक ही साथ सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र प्रगट हो जाते हैं, यह तीनों ही आत्मा के गुण हैं । ज्ञान और चारित्र एकदेश झलकते हैं इनका क्रमिक विकास होता है । इनके पूर्ण प्रकाश के लिये अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन कषाय का उपशम या क्षय करना होता है । जैसे-जैसे स्वानुभव का अधिक अभ्यास होता है वैसे-वैसे कषाय की मलिनता कम होती जाती है, तब ज्ञान निर्मल और चारित्र ऊँचा होता जाता है । श्रावक पद में देशचारित्र होता है, साधु पद में सकलचारित्र होता है ।

चारों गतियों के क्षणिक पद सब त्यागने योग्य हैं, सम्यक्दृष्टि ज्ञानी इन्द्रियों के सुख को आकुलता रूप, पराधीन नाशवान पापबंधकारी अतृप्तिकारी हेय समझ चुका है ; इसलिये वह भोग विलास के हेतु से चक्रवर्ती पद, नारायण पद, बलभद्र पद, प्रतिनारायण पद, राजपद, श्रेष्ठ पद, इंद्रपद आदि नहीं चाहता है, उसके भीतर पूर्ण वैराग्य है कि सर्व ही आठकर्मों का संयोग मिटाने योग्य है, सब ही रागादि भाव त्यागने योग्य हैं, सर्व ही शरीर व भोग सामग्री का संयोग दूर करने

योग्य है, ऐसा दृढ़ ज्ञान वैराग्यधारी, सम्यक्दृष्टि साधु पद से स्वानुभव की साधना करता है, इसकी तीव्रता से वीतरागता प्रगट होती है, निर्मल शुद्ध स्वानुभव झलकता है, उसका सम्यक्दर्शन गाढ़, ज्ञान निर्मल व चारित्र शुद्ध होता है, जिसके द्वारा घातिया कर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान स्वभाव अरिहंत पद प्रगट होता है, स्वभाव की लीनता, वीतराग यथाख्यात चारित्र से अघातिया कर्मों का क्षय होकर सिद्ध पद प्रगट हो जाता है।

प्रश्न - इस साधना के लिये क्या करना चाहिये ?

इसके समाधान में सदगुरु आगे गाथा कहते हैं -

देवं च परम देवं, गुरुं च परम गुरुं च संदिद्धं ।

धम्मं च परम धम्मं, जिनं च परम जिनं निम्मलं विमलं ॥ ७४ ॥

तस्सय विन्यान न्यानं, न्यान सहावेन रूव भेय संरुचियं ।

रुचितंपि उवं विमलं, सम्मत्तं तस्य सुद्ध विमलं च ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थ - (देवं च परम देवं) देव और परम देव अर्थात् अरिहंत और सिद्ध (गुरुं च परम गुरुं) गुरु और परम गुरु अर्थात् साधु, उपाध्याय, आचार्य गुरु और अरिहंत परमगुरु (च संदिद्धं) अपने ही स्वरूप को देखना (धम्मं च परम धम्मं) धर्म और परम धर्म अर्थात् निज शुद्ध स्वभाव धर्म और पूर्ण वीतराग ममल स्वभाव परम धर्म (जिनं च परम जिनं) जिन और परम जिन अर्थात् चौथे गुणस्थान से जिन संज्ञा होती है और परम जिन अरिहंत सर्वज्ञ केवलज्ञानी परमात्मा (निम्मलं विमलं) अपना निर्मल विमल स्वभाव ही है।

(तस्सय) इस प्रकार, ऊपर लिखित (विन्यान न्यानं) भेदविज्ञान के द्वारा (न्यान सहावेन) अपने ज्ञान स्वभाव से (रूव भेय) रूपी पदार्थ का भेद करना (संरुचियं) और उसकी रुचि होना (रुचितंपि उवं विमलं) जहाँ अपने परमात्म स्वरूप विमल स्वभाव की रुचि की जाती है, दृढ़ श्रद्धा लगन होती है (सम्मत्तं तस्य सुद्ध विमलं च) उसका सम्यक्त्व शुद्ध और विमल हो जाता है।

विशेषार्थ - देव और परम देव, गुरु और परम गुरु, धर्म और परम धर्म, जिन और परम जिन अपना विमल ममल स्वभाव ही है, ऐसे अपने ही स्वरूप को देखना तथा भेदविज्ञान के द्वारा अपने ज्ञान स्वभाव से रूपी पदार्थ का भेद करना कि जैसे अरिहंत का आत्मा अलग है और परमौदारिक शरीर व बाहरी विभूति, चार अघातिया कर्म अलग हैं यह सब पुद्गलमय हैं। इसी प्रकार इन शरीरादि

कर्मोदय संयोग से भिन्न मैं शुद्ध चैतन्य परमात्म स्वरूप शुद्धात्मा हूँ, ऐसी दृढ़ श्रद्धा लगन और रुचि होती है, उसका सम्यक्त्व शुद्ध और निर्मल हो जाता है।

निश्चय नय से आत्मा ही अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु है, जिसने आत्मा का अनुभव प्राप्त कर लिया है उसने पांचों परमेष्ठियों का अनुभव प्राप्त कर लिया है, यह पांचों पद आत्मा के ही हैं। रूपी पदार्थ शरीरादि कर्मोदय संयोग यह सब भिन्न हैं, पर हैं, जड़ हैं, पुद्गलमय हैं। जैसे-सिद्ध परमात्मा आठों ही कर्मों से रहित प्रगटपने शुद्धात्मा हैं, वहाँ शरीरादि किसी भी पुद्गल का संयोग नहीं है। वे निरंजन निर्विकार हैं, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व इन आठ प्रसिद्ध गुणों से विभूषित हैं, परम कृतकृत्य परमानंदमय हैं, इसी प्रकार मेरा आत्मा निज स्वभाव भी पूर्ण शुद्ध मुक्त सिद्ध है। ऐसे भेदविज्ञान पूर्वक दृढ़ श्रद्धा लगन और रुचि होने से सम्यक्त्व शुद्ध और निर्मल होता है।

वह आत्मा ही देव, देवों का अधीश्वर देव है।

कोई नहीं गुरु, आत्मा ही परमगुरु स्वयमेव है ॥

यह आत्मा ही धर्म, धर्मों में कि धर्म महान है।

यह आत्मा ही विमल निर्मल, परम जिन भगवान है ॥

यह आत्मा ही ज्ञान है, यह ही परम विज्ञान है।

विज्ञान वह जिससे उपजता, भेदज्ञान महान है ॥

यह आत्मा ही, उस सरोवर का मनोरम तीर है।

जिसमें भरा सम्यक्त्व का, कल्याणकारी नीर है ॥

(चंचल जी)

प्रश्न - यह सम्यक्त्व की शुद्धि क्या है ?

समाधान - सम्यक्त्व की शुद्धि यह है कि जिसमें भेदविज्ञान पूर्वक दृढ़ निश्चय श्रद्धान हो जाये, निज स्वभाव की ही लगन रुचि हो जाये। मैं ध्रुवतत्त्व सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा परम ब्रह्म परमात्मा हूँ, एक समय की चलने वाली पर्याय असत् नाशवान है। जगत का त्रिकालवर्ती परिणामन क्रमबद्ध निश्चित अटल है, इससे मेरा कोई सम्बंध नहीं है, ऐसा दृढ़ निश्चय श्रद्धान अटल विश्वास और निज स्वभाव की रुचि होना ही सम्यक्त्व की शुद्धि है।

प्रश्न - यह सम्यक्त्व की शुद्धि होने से क्या होता है ?

इसके समाधान में सदगुरु आगे गाथा कहते हैं -

**सम्मत्त सुद्ध सुद्धं, सुद्धं दसैइ विमल रूवेन ।
कम्मं तिविहि विमुक्कं, रागं दोषं च गारवं षिपनं ॥ ७६ ॥
षिपिऊ मिथ्यात सुभावं, पुन्नं पावं च विषय संषिपनं ।
कुन्यान तिविहि षिपनं, षिपियं संसार सरनि मोहंधं ॥ ७७ ॥**

अन्वयार्थ - (सम्मत्त सुद्ध सुद्धं) सम्यक्त्व शुद्ध से शुद्ध वह है जिसमें (सुद्धं दसैइ विमल रूवेन) अपना विमल शुद्ध स्वरूप ही दिखता है (कम्मं तिविहि विमुक्कं) जो तीनों प्रकार के कर्मों- द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से मुक्त, रहित है (रागं दोषं च गारवं षिपनं) जिससे राग-द्वेष और गारव क्षय हो जाते हैं ।

(षिपिऊ मिथ्यात सुभावं) मिथ्यात्व स्वभाव अर्थात् दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृति- मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व क्षय हो जाता है (पुन्नं पावं च विषय संषिपनं) पुण्य-पाप का राग और इंद्रियों के विषयों का राग नहीं रहता है अर्थात् पुण्य-पाप और विषयों के भाव भी क्षय हो जाते हैं फिर उनकी मान्यता रुचि नहीं रहती है (कुन्यान तिविहि षिपनं) तीनों प्रकार का कुज्ञान-कुमति, कुश्रुति, कुअवधि ज्ञान नहीं रहता है (षिपियं संसार सरनि मोहंधं) संसार में परिभ्रमण कराने वाला मोहान्ध भाव भी नहीं रहता है, क्षय हो जाता है ।

विशेषार्थ - शुद्ध सम्यक्त्व, निज शुद्धात्मा का अनुभूति युत श्रद्धान होना है, जिसमें अपना विमल शुद्ध स्वरूप ही दिखता है । सम्यक्त्व की शुद्धि होने से वह अपने को द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मों से रहित देखता है, उसके राग-द्वेष और गारव के भाव छूट जाते हैं । दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृति-मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व क्षय हो जाता है, पुण्य-पाप और विषयों के भाव भी विला जाते हैं । तीनों प्रकार का कुज्ञान-कुमति, कुश्रुत, कुअवधिज्ञान नहीं रहता है तथा संसार में परिभ्रमण कराने वाला मोहभाव भी नहीं रहता है ।

सम्यक्दृष्टि का प्रेम, रुचि अपने शुद्धात्म स्वरूप की, मुक्ति की ओर अतीन्द्रिय सुख की हो जाती है, उसका राग भाव संसार से छूट जाता है, वह अपने को तीनों कर्मों से भिन्न ममल स्वभावी देखता है । उसको पर से राग-द्वेष और मद नहीं रहता है, वह जगत को वस्तु स्वरूप से देखता है । चौथा गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यक्दृष्टि भी अनंतानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व के न होने से श्रद्धान में बिल्कुल वैरागी है, भीतर से अत्यंत उदास है तथापि

अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायों के उदय से जगत में आवश्यक कार्य करता है, उनमें राग-द्वेष भी होता है परंतु इस सबको वह कर्मोदय जन्य जानता है । भावना यही होती है कि कब यह कषाय का उदय मिटे और मैं इस प्रपंच से छूटूं; क्योंकि सम्यक्त्वी को ज्ञान वैराग्य की अपूर्व शक्ति पैदा हो जाती है । वह पर रूप से छूटकर अपने स्वभाव में लीन रहना चाहता है, वस्तु स्वरूप का अभ्यास करता है क्योंकि उसने तत्त्व दृष्टि (द्रव्य दृष्टि) से अपने को व पर को भिन्न-भिन्न जान लिया है; इसलिये वह सर्व ही राग के कारणों से विरक्त रहता है और अपने स्वरूप में ठहरता है । सम्यक्दृष्टि जगत की माया को क्षणभंगुर नाशवान जानता है इसलिये वह किसी प्रकार का गारव या मद नहीं करता है, वह बड़ा ही नम्र विनयवान होता है ।

सम्यक्दृष्टि जीव के मिथ्यात्व भाव नहीं रहा, न उसके कुदेवादि की श्रद्धा रूप गृहीत मिथ्यात्व है और न पर पर्याय में रतिरूप अगृहीत मिथ्यात्व है । उसके भीतर शुद्ध भावों की रुचि हो गई है इसलिये वह पुण्य बंध को सोने की बेड़ी और पाप बंध को लोहे की बेड़ी जानता है, पुण्य-पाप दोनों से उदासीन है । पांचों इंद्रियों के विषय भोग की भी श्रद्धा मिट गई है, उसे भोग रोग के समान काले नाग जैसे दिखते हैं । उसको कुमति, कुश्रुत, कुअवधिज्ञान नहीं होते हैं । मिथ्यात्व अवस्था में स्त्री, पुत्रादि धन परिग्रह में उन्मत्त था, इससे संसार के मार्ग में बहाने वाले तीव्र कर्मों को बांधता था । अब भीतर से सबसे वैरागी है इसलिये संसार कारणीभूत कर्मों के बंध इसको नहीं होते हैं ।

शंकादि दोष रहित सम्यक्दर्शन परम रत्न है । यह निश्चय से संसार के दुःख रूपी दारिद्र्य का नाश कर देता है । सम्यक्दर्शन सहित जीव को निश्चय से निर्वाण होता है । जो सम्यक्दर्शन में दृढ़ मन रखने वाला है वही पंडित है, वही विनयवान है, वही धर्मज्ञाता है, उसी का दर्शन प्रिय है, वही संयमी सदाचारी है ।

जिसको द्रव्यदृष्टि यथार्थ प्रगट हुई है उसे दृष्टि के जोर में अकेला ज्ञायक चैतन्य ममल स्वभाव ही भासता है, शरीरादि कुछ भी भासित नहीं होता । भेदज्ञान की परिणति ऐसी दृढ़ हो जाती है कि स्वप्न में भी आत्मा शरीर से भिन्न भासता है ।

स्वभाव की महिमा से पर पदार्थों के प्रति रसबुद्धि, सुख बुद्धि टूट जाती है, स्वभाव में ही रस आता है, दूसरा सब नीरस लगता है, तभी अंतर की सूक्ष्म संधि ज्ञात होती है । स्वभाव की तीव्र रुचि होने से उपयोग अंतर में प्रज्ञा छैनी का कार्य करता है, जिससे कर्म, कषाय, मिथ्यात्व, पुण्य, पाप, विषय, कुज्ञान सब छूट

जाते हैं तथा संसार परिभ्रमण समाप्त हो जाता है।

इसकी और विशेषता रूप आगे गाथा कहते हैं -

षिपिऊ कम्म उवन्नं, षिपिऊ मन चवल उवन संषिपनं।

मन संन्या षिपि मिलियं, षिपियं नंत नंत सरनि संबंधं ॥ ७८ ॥

षिपिऊ कषाय सुभावं, कषाय उववन्न दुबुहि संजुत्तं।

जे दुर्बुद्धि विसेषं, कषायं षिपिय नन्त परिनामं ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थ - (षिपिऊ कम्म उवन्नं) कर्मों का आस्रव रुक जाता है, कर्मों का पैदा होना मिट जाता है (षिपिऊ मन चवल) मन की चंचलता मिट जाती है (उवन संषिपनं) मन की चंचलता की उत्पत्ति का कारण मिट जाता है, क्षय हो जाता है (मन संन्या षिपि मिलियं) मन में पैदा होने वाली आहार, भय, मैथुन, परिग्रह यह चार संज्ञा दूर होकर मन समता रूप हो जाता है (षिपियं नंत नंत सरनि संबंधं) अनंतानंत संसार परिभ्रमण का संबंध समाप्त हो जाता है।

(षिपिऊ कषाय सुभावं) कषाय स्वभाव क्षय हो जाता है, छूट जाता है (कषाय उववन्न दुबुहि संजुत्तं) दुर्बुद्धि में रत होने से कषाय पैदा होती है (जे दुर्बुद्धि विसेषं) जो दुर्बुद्धि की विशेषता होती है उस रूप (कषायं षिपिय नन्त परिनामं) अनन्तानुबंधी कषाय के भाव मिट जाते हैं।

विशेषार्थ - सम्यक्दृष्टि की भाव भूमिका शुद्ध हो गई है, दृष्टि की शुद्धि होने से उसके संसार के कारणीभूत मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी कषाय, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय जाति, नरक व पशुगति आदि दुर्गति ले जाने वाली कर्म प्रकृतियों का आस्रव बंध नहीं होता है। मन में चंचलता मिथ्यात्व भाव व विषय वांछा की तीव्रता से होती है, सो सम्यक्त्वी के नहीं है। आहार की गृद्धता, शरीरादि छूटने व रोग आदि होने का भय, मैथुन भाव की वांछा और धन धान्यादि परिग्रह का तीव्र राग यह चार संज्ञायें सम्यक्त्वी को नहीं होती हैं। यद्यपि जितना-जितना गुणस्थान अनुसार जैसा कषाय का उदय होता है तदनुकूल संज्ञायें होती हैं, मन की चंचलता भी होती है, कर्मों का बंध भी होता है तथापि जितना-जितना गुणस्थानों पर आरोहण होता जाता है, उतना-उतना यह सब विकार भाव छूटता जाता है।

सम्यक्दृष्टि आत्मोन्नति के पथ पर आरुढ़ है इसलिये विकारों को हटाता जाता है। अविरत गुणस्थानवर्ती सम्यक्दृष्टि के भी अनंतानुबंधी कषाय का उदय नहीं है, न मिथ्यात्व भाव है इसलिये कषायों को पैदा करने वाली मिथ्या बुद्धि ही

नहीं रही है, न मिथ्याबुद्धि जनित कषाय भाव होता है। उसके परिणाम किसी भी जीव के साथ बुरा करने के नहीं होते हैं। उसके भावों में प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य यह चार भाव सदा बने रहते हैं, वह शांत परिणामी होता है, संसार से उदासीन व धर्म प्रेमी होता है, प्राणी मात्र पर दयालु होता है, उसमें नास्तिकभाव नहीं होता है। वह जीवादि द्रव्यों के अस्तित्व पर विश्वास रखता है। विषय-कषाय के कारणों से बचा रहता है, जिससे अनंतानंत संसार परिभ्रमण के सम्बन्ध से छूट जाता है।

श्रुतज्ञान के बल द्वारा प्रथम ज्ञान स्वभावी आत्मा का यथार्थ निर्णय करके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के व्यापार को आत्म सन्मुख किया वह व्यवहार है, प्रयत्न करना वह व्यवहार है। इन्द्रिय और मन की ओर रुकने वाला तथा तुच्छ उघाड़ वाला जो ज्ञान है, उसके व्यापार को स्वसम्मुख करना वह व्यवहार है। सहज शुद्ध पारिणामिक भाव तो परिपूर्ण एक रूप है, पर्याय में अपूर्णता है विकार है इसलिये प्रयास करने को रहता है। पर्याय दृष्टि की अपेक्षा साध्य साधक के भेद पड़ते हैं। पर्यायदृष्टि से विकार और अपूर्णता है, उसे तत्त्व दृष्टि के बल पूर्वक टालकर साधक जीव क्रमशः पूर्ण निर्मलता प्रगट करता है।

शुद्ध दृष्टि होने के पश्चात् साधक अवस्था बीच में आये बिना नहीं रहती, आत्मा का भान करके स्वभाव में एकाग्रता होती है तब ही परमात्मरूप ध्रुवतत्त्व अनुभूत होता है, आत्मा का अपूर्व और अनुपम आनंद अनुभव होता है, आनंद के झरने झरते हैं।

धर्म, शरीर वाणी धन आदि से नहीं होता क्योंकि वे तो सभी आत्मा से भिन्न अचेतन परद्रव्य हैं, उनमें आत्मा का धर्म नहीं है और मिथ्यात्व, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि पाप भाव या दया, दान, पूजा, भक्ति आदि पुण्य भाव से भी धर्म नहीं होता क्योंकि वह दोनों विकारी भाव हैं। आत्मा की निर्विकारी शुद्ध दशा वही धर्म है। इसी से सुख, शांति, आनंद और मुक्ति की प्राप्ति होती है तथा निज स्वभाव साधना से ही कर्मों का आस्रव, मन की चंचलता, संसारी परिभ्रमण, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह रूप संज्ञा छूटती विलाती हैं। निज शुद्धात्म स्वरूप, ध्रुवतत्त्व की दृष्टि होने से कषाय भाव, दुर्बुद्धि आदि सब क्षय हो जाते हैं। शुद्ध दृष्टि पूर्वक भेदज्ञान द्वारा ज्ञान की शुद्धि होने पर परम शांति होती है।

प्रश्न - यह भेदज्ञान द्वारा ज्ञान की शुद्धि का क्या प्रयोजन है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

**असत्य अत्रित वयनं, आलापं लोकरंजनं भावं ।
विन्यानं नहु पिच्छदि, संसार भ्रमन वीय संजुतं ॥ ८० ॥**

अन्वयार्थ - (असत्य अत्रित वयनं) झूठे मिथ्यावादी वचन बोलना (आलापं लोकरंजनं भावं) लोगों को रंजायमान करने वाले भाव रखना, व्यर्थ वार्तालाप, विकथा करना (विन्यानं नहु पिच्छदि) भेदज्ञान को नहीं जानना, हित-अहित, सत्य-असत्य का कोई विवेक न होना, ज्ञान स्वरूप को नहीं पहिचानना (संसार भ्रमन) संसार में भ्रमण करने वाले (वीय संजुतं) बीज बोना है ।

विशेषार्थ - भेदविज्ञान को नहीं जानना अर्थात् अपने हित-अहित, सत्य-असत्य का विवेक न होना, ज्ञान स्वरूप को नहीं पहिचानना और झूठे मिथ्यावादी वचन बोलना, लोगों को रंजायमान करने के लिये व्यर्थ वार्तालाप करना, यह संसार में भ्रमण कराने वाले कर्म बंध का बीज बोना है ।

सम्यक्दृष्टी जीव विवेकवान होता है, भेदविज्ञान का निरंतर अभ्यास करता रहता है, वह अपना स्वार्थ साधने के लिये अन्याय रूप मिथ्या प्रवृत्ति नहीं करता, झूठ बोलकर किसी को ठगता नहीं है, न लोगों के मन प्रसन्न करने को चार प्रकार की विकथा में अपना समय नष्ट करता है ।

ज्ञान और राग के बीच भेदज्ञान होने का यह लक्षण है कि ज्ञान में राग के प्रति तीव्र अनादर भाव जागता है, यही ज्ञान और राग के मध्य भेदज्ञान होने का लक्षण है ।

आत्मा में राग की गंध भी नहीं है, राग के जितने भी विकल्प उठते हैं, मैं उनमें जलता हूँ, वह दुःख, दुःख और दुःख है, विष है, संसार भ्रमण का बीज है । राग के विकल्प में कर्म का बंध होता है ऐसा ज्ञान में पूर्व निर्णय हो तो भेदज्ञान प्रगट होता है । भेदज्ञान के अभाव में जीव संसारी प्रपंच में उलझा रहता है, जिससे निरंतर कर्मों का आस्रव बंध होता है, यही संसार भ्रमण का बीज है । जीव, विकार तथा स्वभाव को एक मान रहा है अतः यथार्थ विचार नहीं कर पाता । भेदज्ञान द्वारा निज स्वभाव जो निरुपाधि स्वरूप है तथा विकार कृत्रिम है, यह जानने में आता है, अज्ञानी ने तो उन दोनों में एकता मानी है, दया दानादि से धर्म होने की मान्यता अर्थात् मिथ्यादर्शन के बल से वह उन दोनों में भेद नहीं करता ।

स्व-पर का श्रद्धान होने पर अपने को पर से भिन्न जानने पर स्वयं के आश्रय से संवर निर्जरा रूप दर्शन, ज्ञान, चारित्र का पुरुषार्थ होता है तथा पर के लक्ष्य से होने वाले पुण्य-पाप व आस्रव बंध से छुटकारा होता है ।

प्रश्न - जब सम्यक्दर्शन हो गया, सम्यक्त्व की शुद्धि हो गई फिर यह अज्ञान भाव क्यों होता है ?

समाधान - सम्यक्दर्शन होने के पश्चात् जब तक मोह, राग-द्वेष भाव है तब तक अज्ञान है क्योंकि अज्ञान में ही मोह, राग-द्वेष होते हैं, ज्ञान स्वभाव में, ज्ञानभाव में मोह, राग-द्वेष होते ही नहीं हैं, हैं ही नहीं । जब तक राग भाव है तब तक कर्मों का आस्रव बंध होता है, जो संसार भ्रमण का कारण है । ज्ञान की शुद्धि होने पर मोह, राग-द्वेष भाव विलाता है ।

प्रश्न - क्या ज्ञान की शुद्धि होने पर मोह, राग-द्वेष होते ही नहीं हैं ?

समाधान - ज्ञान की शुद्धि होने पर मोह, राग-द्वेष रूप कर्मोदय जन्य पर्यायी परिणमन चलता है, पर ज्ञानी उसे अपना नहीं मानता, अतः कर्मों का बंध नहीं होता ।

प्रश्न - ज्ञान की शुद्धि का उपाय क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

**विमल सहाव उवन्नं, समल परिनाम पर्जाव नहु दिट्ठं ।
पर्जाव विविह भेयं, न्यान सहावेन पर्जाव विलयंति ॥ ८१ ॥
अन्यान दिट्ठि नहु पिच्छदि, अन्यान भाव सयल विलयंति ।
न्यान सहाव उवन्नं, अन्मोयं विमल पर्जाव नहु पिच्छं ॥ ८२ ॥
अन्यान संग विलयं, न्यान सहावेन विन्यान संजुतं ।
न्यानं न्यान उवन्नं, न्यान समयं च पर्जाव नहु पिच्छं ॥ ८३ ॥**

अन्वयार्थ - (विमल सहाव उवन्नं) विमल स्वभाव के प्रगट होने पर (समल परिनाम) राग द्वेषादि भाव (पर्जाव नहु दिट्ठं) पर्याय नहीं दिखती है (पर्जाव विविह भेयं) पर्याय विविध प्रकार की होती है, भावों की परिणतियाँ कषायों के निमित्त से अनेक प्रकार की होती हैं (न्यान सहावेन पर्जाव विलयंति) ज्ञान स्वभाव से पर्याय विला जाती है ।

(अन्यान दिट्ठि नहु पिच्छदि) अज्ञान दृष्टि अर्थात् मिथ्या मान्यता में मत

उलझो, विकारी भावों को मत देखो (अन्यान भाव सयल विलयंति) अज्ञान भाव सारे विला जाने वाले हैं, विला जाते हैं (न्यान सहाव उवन्नं) ज्ञान स्वभाव प्रगट करो (अन्मोयं विमल) अपने विमल स्वभाव का आलंबन लो, अनुमोदना करो (पर्जाव नहु पिच्छं) पर्याय को मत देखो, पर्याय को जानने में मत लगे रहो।

(अन्यान संग विलयं) अज्ञान का साथ छूटने पर (न्यान सहावेन) ज्ञान स्वभाव से (विन्यान संजुत्तं) भेदविज्ञान में रत रहो (न्यानं न्यान उवन्नं) ज्ञान से ज्ञान प्रगट होता है (न्यान समयं च) अपने ज्ञान स्वभाव आत्मा में लीन रहो (पर्जाव नहु पिच्छं) पर्याय को मत देखो, पर्याय को जानने पहिचानने में मत लगे रहो।

विशेषार्थ - सम्यक्त्व की शुद्धि, विमल स्वभाव के प्रगट होने पर राग-द्वेषादि भाव विकारी पर्याय दिखाई नहीं देती। पर्याय अनेक प्रकार की होती है, अपने ज्ञान स्वभाव में रहने से पर्याय विला जाती है। अज्ञान दृष्टि, मिथ्या मान्यता में मत उलझो, विकारी भावों को मत देखो। यह अज्ञान मय विकारी पर्यायी भाव तो सब विला जाने वाले हैं। अपना ज्ञान स्वभाव प्रगट करो, अपने विमल स्वभाव का आलम्बन लो, पर्याय को मत देखो, इसके जानने में मत लगे रहो।

ज्ञान स्वभाव की साधना में रत रहो, निरंतर भेदज्ञान, तत्त्व निर्णय करते रहो, पर्याय को मत देखो, इसमें मत उलझो। ज्ञान से ज्ञान प्रगट होता है, ज्ञानोपयोग करने से ज्ञान बढ़ता है और सारा अज्ञान भाव छूट जाता है।

सम्यक्दृष्टि, जिन आगम का अभ्यास करता है व आगम के ज्ञाता ज्ञानी साधुओं की संगति करता है, उसको आत्मा-अनात्मा का यथार्थ बोध होता है, वह कभी भी रागादि को आत्मा का स्वभाव नहीं मानता है, उन्हें मोह जनित औपाधिक भाव जानता है। वह आत्म मनन व आगम के अभ्यास से अपने ज्ञान को बढ़ाता रहता है। वह वस्तु को भाव-अभाव, नित्य-अनित्य, एक-अनेक रूप भिन्न-भिन्न अपेक्षा से जानता है। वस्तु अपने द्रव्यादि स्व चतुष्टय की अपेक्षा भाव रूप है। पर के द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा अभावरूप है। द्रव्य स्वभाव से नित्य है, पर्याय के परिणमन की अपेक्षा अनित्य है। अनंत गुण पर्यायों का अखंड समुदाय है इससे एक रूप है, भिन्न-भिन्न गुण व पर्याय की अपेक्षा अनेक रूप है। इस प्रकार निरंतर ज्ञानोपयोग करने, वस्तु स्वरूप जानने पर अज्ञान भाव विला जाता है और सम्यक्ज्ञान का प्रकाश हो जाता है।

द्रव्य सदा निर्लेप, विमल स्वभाव है, स्वयं ज्ञाता भिन्न ही तैरता है। जिस प्रकार स्फटिक में प्रतिबिम्ब दिखने पर भी स्फटिक निर्मल है, उसी प्रकार जीव में विभाव भाव होने पर भी जीव निर्मल है, निर्लेप है। ज्ञायक रूप परिणमित होने पर पर्याय में निर्लेपता होती है। यह सब जो कषाय राग-द्वेषादि भाव अज्ञान जनित विभाव ज्ञात होते हैं, वे ज्ञेय हैं, मैं तो ज्ञायक हूँ। इस प्रकार प्रज्ञा छैनी को शुभाशुभ भाव और ज्ञान की सूक्ष्म अंतः संधि में पटकना। ज्ञानोपयोग को बराबर सूक्ष्म करके दोनों की संधि में सावधान होकर प्रहार करने से द्रव्य स्वभाव और पर्याय की भिन्नता भासित होती है। पर्याय में अपनत्व और कर्तृत्व का अभाव ही ज्ञान की शुद्धि है। जब तक पर्याय को देखने जानने में लगे रहना है उसमें अच्छा बुरा मानना है, तब तक अज्ञान भाव है।

पर से भिन्न ज्ञायक विमल स्वभाव का निर्णय करके बारम्बार भेदज्ञान का अभ्यास करते-करते मति श्रुत ज्ञान के विकल्प टूट जाते हैं, उपयोग गहराई में चला जाता है और केवलज्ञान के साथ केलि प्रारंभ होती है।

ज्ञान के अभ्यास से भेदज्ञान होता है व भेदज्ञान के अभ्यास से केवलज्ञान होता है।

सम्यक्दृष्टि का ज्ञान अति सूक्ष्म है फिर भी वह राग और स्वभाव के बीच की संधि में ज्ञान पर्याय का प्रवेश होते ही प्रथम बुद्धि गम्य भिन्नता करता है। आत्मा का लक्ष्य तो हुआ है, आत्मा लक्ष्य में है और उसमें एकाग्रता का विशेष पुरुषार्थ भी करता है परंतु जब तक ज्ञान की शुद्धि नहीं हुई वह आगे नहीं बढ़ पाता।

प्रश्न - इसके लिये क्या करना पड़ता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

जस्सय सुद्ध सहावं, असुद्ध सहावेन दिस्ति नहु वयनं ।

सुद्धं च विमल न्यानं, सुद्ध समयं च पर्जाव नहु पिच्छं ॥ ८४ ॥

जस्सय विमल सहावं, अन्मोयं न्यान पर्जाव नहु पिच्छं ।

जै पज्जावं दिट्ठं, समलं सहकार निगोय वासम्मि ॥ ८५ ॥

अन्वयार्थ - (जस्सय) जैसा, जिस प्रकार (सुद्ध सहावं) शुद्ध स्वभाव है (असुद्ध सहावेन) अशुद्ध स्वभाव से (दिस्ति नहु वयनं) दृष्टि नहीं बोलती है अर्थात् वह अशुद्ध पर्याय की बात भी नहीं करता (सुद्धं च विमल न्यानं) उसका ज्ञान

शुद्ध और निर्मल रहता है (सुद्ध समयं च) शुद्ध आत्मा में रत रहता है (पर्जाव नहु पिच्छं) पर्याय को नहीं देखता ।

(जस्सय) जैसा, जिस प्रकार (विमल सहावं) विमल स्वभाव है (अन्मोयं न्यान) ज्ञान का आलंबन लेता है (पर्जाव नहु पिच्छं) पर्याय को नहीं देखता (जै पज्जावं दिट्ठं) यदि पर्याय को देखता है (समलं सहकार) समल भाव, विकारी भावों में जुड़ता है (निगोय वासम्मि) वह निगोद में वास करता है ।

विशेषार्थ - “ज्ञान का मार्ग कृपाण की धारा” सूक्ष्म दृष्टि से ही इस मार्ग पर चला जाता है । जैसा शुद्ध स्वभाव है, उसका ही निरंतर स्मरण ध्यान रहना चाहिये । अशुद्ध पर्याय की तरफ न देखना है, न उसकी बात करना है, जो अपने शुद्ध आत्मा में रत रहता है, उसका ज्ञान ही शुद्ध और निर्मल होता है ।

जैसा कि विमल स्वभाव है ज्ञान उसी का आलंबन लेता है, आश्रय रखता है, उससे जरा भी नहीं हटता, पर्याय को भी नहीं देखता, तभी ज्ञान भाव में स्थित रहता है । जो पर्याय को देखता है, विकारी भावों में जुड़ता है, वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि निगोद में वास करता है ।

सम्यक्दृष्टि द्रव्य स्वभाव को जानता है, जैसा आत्मा का शुद्ध स्वभाव है वह उसकी अनुभूति में आ गया है इसलिये वह समल स्वभाव अशुद्ध पर्याय की बात भी नहीं करता । वह अपने शुद्धात्म स्वरूप में रत रहता है तभी उसका ज्ञान शुद्ध और निर्मल होता है । पर्याय को देखना, विकारी भावों में जुड़ना, उसमें अच्छा-बुरा मानना, यह सब अज्ञान मिथ्यात्व भाव है जिसका परिणाम निगोद में वास करना है ।

ज्ञान का यही कार्य होना चाहिये, जो अपने आत्मा का यथार्थ ज्ञान पावे, ज्ञानी होकर वीतरागता के कारणों का अभिनंदन किया जावे । जो कोई ऐसा न करके शरीर का व शरीर के सुखों का व शरीर के संबंधियों का अभिनंदन करे, अशुद्ध पर्याय को देखे, उसी को जानने में लगा रहे तो वह आत्मशक्ति घातक अंतराय कर्मों को बांधकर दुर्गति को प्राप्त होता है ।

आत्मा को आत्मा से जानने में यहाँ कौन सा फल नहीं मिलता ? और तो क्या, इससे केवलज्ञान भी हो जाता है और जीव को शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है, ज्ञानी उसको कहते हैं जो त्रिकाली ध्रुव स्वभाव को पकड़े है, उसकी पर्याय में वीतरागता प्रगट होने पर भी वह पर्याय में रुकता नहीं, पर्याय को देखता नहीं, उसकी दृष्टि तो त्रिकाली ध्रुव पर टिकी है । धर्म दशा प्रगट हो, निर्मल पर्याय प्रगट

हो परंतु ज्ञानी इन पर्यायों में भी नहीं रुकता, इनका लक्ष्य नहीं रखता ।

त्रिकाली ध्रुव विमल स्वभाव को पकड़ने पर ही सम्यक्दर्शन होता है, इसी से सम्यक्ज्ञान होता है, शुद्ध स्वभाव में रहने पर ही सम्यक्चारित्र होता है, इसी से केवलज्ञान होता है । धर्मी की दृष्टि आत्म द्रव्य पर से हटती नहीं है और जो यह दृष्टि वहाँ से खिसककर वर्तमान पर्याय में रुके, एक समय की पर्याय को देखे, पर्याय की रुचि हो जाये तो विमल स्वभाव की दृष्टि छूट जाये और वह मिथ्यादृष्टि हो जाये ।

प्रश्न - स्वभाव दृष्टि और पर्याय दृष्टि होने से क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

न्यान सहावं सुद्धं, सुद्धं ससहाव विमल दिट्ठीओ ।

न्यान सहाव सुसमयं, पर्जाव ससंक नरय वासम्मि ॥ ८६ ॥

न्यानेन न्यान मिलियं, विमल सहावेन न्यान उप्पत्ती ।

तह पज्जावं दिट्ठं, पर्जय ससंक निगोय वासम्मि ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थ - (न्यान सहावं सुद्धं) ज्ञान स्वभाव की शुद्धि होने से अर्थात् सम्यक्ज्ञान होने से (सुद्धं ससहाव विमल दिट्ठीओ) शुद्ध विमल स्व स्वभाव दिखाई देता है, अनुभव में आता है (न्यान सहाव सुसमयं) ज्ञान स्वभावी स्वयं शुद्धात्मा है, ऐसे स्वभाव को न देखकर जो (पर्जाव ससंक) पर्याय में सशंकित, पर्याय में लिप्त रहता है (नरय वासम्मि) वह नरक में वास करता है ।

(न्यानेन न्यान मिलियं) ज्ञान से ज्ञान मिलता है, ज्ञानोपयोग से ज्ञान में निर्मलता आती है (विमल सहावेन न्यान उप्पत्ती) विमल स्वभाव में रहने से केवलज्ञान प्रगट होता है (तह पज्जावं दिट्ठं) इसके विपरीत जो पर्याय को ही देखता है (पर्जय ससंक निगोय वासम्मि) पर्याय में सशंकित, भयभीत, लिप्त रहने से निगोद में वास करना पड़ता है ।

विशेषार्थ - ज्ञान की शुद्धि होने से स्वभाव दृष्टि रहती है, अपना विमल शुद्ध स्वस्वभाव ही दिखाई देता है । आत्मा ज्ञान स्वभावी ही है, जो अपने शुद्धात्म स्वभाव को नहीं देखता, स्व स्वभाव की अनुभूति नहीं करता और पर्याय में ही सशंकित लिप्त रहता है, वह नरक में वास करता है ।

ज्ञानोपयोग से ज्ञान में निर्मलता आती है, ज्ञान का प्रकाश वृद्धिगत होता है । विमल स्वभाव में रहने से केवलज्ञान प्रगट होता है, इसके विपरीत जो पर्याय

को ही देखता है, पर्याय में सशंकित, भयभीत लिप्त रहने से निगोद में वास करना पड़ता है। स्वभावदृष्टि - सम्यक्दृष्टि। पर्याय दृष्टि - मिथ्यादृष्टि।

द्रव्य तो त्रिकाली और निरावरण है परंतु वर्तमान पर्याय में रागादि को मिश्रित कर रखा है तो भी भेदज्ञान की प्रवीणता से, राग दशा की दिशा 'पर की ओर' है व ज्ञान दशा की दिशा 'स्व की ओर' है। ज्ञान लक्षण से लक्षित चैतन्य स्वभाव का अनुभव होने पर, यह अनुभूति ही मैं हूँ, ऐसा सम्यक्ज्ञान होता है।

आत्मा अचिन्त्य सामर्थ्य वाला है, उसमें अनंत गुण स्वभाव हैं, उसकी रुचि हुए बिना उपयोग पर में से पलटकर स्व में नहीं आ सकता। जो पाप भावों की रुचि में पड़े हैं उनका तो नरक में वास होता है, जो पुण्य की रुचि वाले हैं वह बाह्य त्याग करें, तप करें, द्रव्यलिंग धारण करें तो भी शुभ की रुचि है, तब तक उपयोग पर की ओर से पलटकर स्व में नहीं आ सकता। जो पर्याय को ही देखने में लगे हैं उसी में सशंकित, भयभीत लिप्त हैं वे तो निगोद में ही वास करते हैं।

अनादि अज्ञान मिथ्यात्व छूटने पर ही स्वभाव दृष्टि होती है, जो स्वभाव दृष्टि रखता है, उसके ज्ञान में शुद्धि होकर केवलज्ञान प्रगट होता है और जो पर्याय में ही लिप्त रहता है, वह संसार परिभ्रमण करता है। जब बाहर के हीनाधिक संयोगों का लक्ष्य छूट जाये, कषाय की तीव्रता-मंदता का लक्ष्य छूट जाये और पर्याय चैतन्य वस्तु को लक्ष्य कर तद्रूप परिणमित हो तभी मिथ्यात्व अज्ञान का त्याग होता है।

मैं मुक्त ही हूँ, मुझे कुछ नहीं चाहिये, मैं तो परिपूर्ण विमल स्वभावी ज्ञान मात्र चेतन सत्ता हूँ, इस प्रकार जहाँ अंतर में निर्णय होता है, वहाँ अनंत विभूति अंशतः प्रगट हो जाती है। शुद्धात्मा को जाने बिना भले ही क्रियाओं के ढेर लगा दें परंतु उससे आत्मा नहीं जाना जा सकता, ज्ञान से ही आत्मा जाना जा सकता है। इसी बात को और आगे गाथा में कहते हैं -

जह पज्जावं दिट्ठं, अप्पा समयं च मुक्त न्यानं च ।

पज्जावं परु पिच्छदि, संसारे सरनि दुष्य वीयंमि ॥ ८८ ॥

पज्जावं नहु दिट्ठदि, पर सहाव उप्पत्ति पज्जाव विलयंति ।

न्यानेन न्यान समयं, विमल सहावेन निव्वुए जंति ॥ ८९ ॥

अन्वयार्थ - (जह पज्जावं दिट्ठं) जहाँ पर्याय पर दृष्टि रहती है, जो पर्याय को देखता है (अप्पा समयं) आत्म स्वभाव को (च) और (मुक्त न्यानं च) ज्ञान

को छोड़ देता है (पज्जावं परु पिच्छदि) पर्याय और पर को देखने जानने में लगा रहता है (संसारे सरनि) संसार परिभ्रमण का (दुष्य वीयंमि) दुःख का बीज बोता है।

(पज्जावं नहु दिट्ठदि) जो पर्याय को नहीं देखता (पर सहाव उप्पत्ति) पर के स्वभाव से पैदा होती है (पज्जाव विलयंति) पर्याय विला जाती है (न्यानेन न्यान समयं) ज्ञान से अपने ज्ञान स्वभाव में रहता है (विमल सहावेन) विमल स्वभाव से (निव्वुए जंति) निर्वाण को जाता है, मुक्ति को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ - जहाँ पर्याय पर दृष्टि रहती है अर्थात् जो कर्म जनित शरीरादि पर्याय को ही देखता है, वह अपने आत्म स्वभाव को और ज्ञान को छोड़ देता है। जो पर और पर्याय को ही देखने जानने में लगा रहता है, इससे वह दुःख का बीज बोककर संसार में महान कष्ट पाता है।

जो पर्याय को नहीं देखता है उसकी पर स्वभाव से पैदा होने वाली पर्याय विला जाती है। ज्ञान पूर्वक अपने ज्ञान स्वभाव में रत रहने से, विमल स्वभाव की साधना से निर्वाण प्राप्त करता है अर्थात् संसार से मुक्त हो जाता है।

जिनेन्द्र परमात्मा की आज्ञा उपदेश का शुद्ध सार यही है कि विमल, ममल स्वभाव आत्मा का अनुभव करो, अपने ज्ञान स्वभावमय रहो। यह अनुभव तब ही होगा जब, सर्व पर के आश्रित व्यवहार का मोह त्यागा जायेगा, पर पदार्थ का परमाणु मात्र भी हितकारी नहीं है। व्यवहार धर्म, व्यवहार सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का जितना विषय है वह सब त्यागने योग्य है। सम्यक्दृष्टि चाहे गृहस्थ हो या साधु, केवल अपने शुद्ध आत्मा को ही इष्ट हितकारी जानता, मानता है, शेष सर्व को त्यागने योग्य परिग्रह जानता है, पर पर्याय का लक्ष्य ही नहीं रखता।

यद्यपि मन को शुभोपयोग में लगाने व ज्ञान की निर्मलता के लिये सात तत्त्वों का विचार करता है, जिनवाणी का पठन-पाठन मनन व उपदेश करता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग पांच व्रतों को एकदेश या सर्वदेश पालता है, मंत्र जप करता है, उपवास करता है, संयम, तप करता है तो भी इन सब कार्यों को व्यवहार जानकर छोड़ने योग्य समझता है क्योंकि व्यवहार के साथ राग करना कर्म बंध का कारण है। केवल अपनी चैतन्य ज्योति स्वरूप आत्मा ही इष्ट उपादेय है। सर्व चेतन-अचेतन व मिश्र परिग्रह को त्यागने योग्य समझता है। सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान भी शुभोपयोग है और तो क्या गुण-गुणी के भेद का विचार भी परिग्रह है, व्यवहार है, त्यागने योग्य है। अपनी एक समय की

चलने वाली पर्याय का भी लक्ष्य नहीं रखता क्योंकि इस विचार में विकल्प है, जहाँ विकल्प है वहाँ शुद्ध भाव शुद्धोपयोग नहीं है। यद्यपि इस विचार का आलंबन दूसरे शुक्लध्यान तक है तथापि सम्यक्दृष्टि इस आलंबन को भी त्यागने योग्य जानता है। सम्यक्दृष्टि का देव गुरु शास्त्र, घर उपवन सब कुछ अपना ही एक शुद्धात्मा है। ऐसा शुद्ध दृढ़ श्रद्धान जिसको होता है वही सम्यक्दृष्टि ज्ञानी है, वही उस नौका पर आरुढ़ है, जो संसार सागर से पार करने वाली है।

व्यवहार के मोह से कर्म का क्षय नहीं होता, व्यवहार का मोही मोक्षमार्गी नहीं है। ज्ञानीजन निश्चय पदार्थ को छोड़कर, व्यवहार रूप पर्याय में नहीं प्रवर्तते हैं, व्यवहार से मोह नहीं रखते हैं। जो अपने शुद्धात्मा का आश्रय करते हैं, उन्हीं के कर्मों का क्षय होता है और निर्वाण की प्राप्ति होती है। जो बाहरी भेष व चारित्र सहित है परंतु भीतरी आत्मानुभव चारित्र से रहित है, वह स्व चारित्र से भ्रष्ट होता हुआ संसार परिभ्रमण करता दुःख भोगता है।

द्वितीय - राग मोहांथ अधिकार

प्रश्न - जब मुक्ति का कारण मूल आधार ज्ञान है तो संसार का कारण मूल आधार क्या है ?

समाधान - संसार का कारण, मूल आधार, अज्ञान, राग-द्वेष, मोह है, जिसके कारण जीव अनादि से चारगति चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण कर नाना प्रकार के दुःख भोग रहा है।

प्रश्न - यह अज्ञान, राग-द्वेष, मोह क्या है, इनका स्वरूप क्या है ?

समाधान - अपने स्वरूप का विस्मरण और विभाव रूप परिणमन ही अज्ञान है। पर का आकर्षण लगाव ही राग है, इसके कई रूप हैं- पर में प्रियता, इष्टता, रति, चाह, रुचि, इच्छा, कामना, वासना आदि सब राग है और यह सब अज्ञान से होता है। पर से विद्वेष, घृणा, बैर, विरोध, अनिष्टता, अरुचि, अरति आदि द्वेष है। कुछ भी अच्छा-बुरा लगना राग-द्वेष है। पर को अपना मानना ही मोह है। ममता ममत्व अपनत्व आदि सब मोह है, यही मिथ्यात्व कहलाता है। मोह से सुख-दुःख होता है और राग-द्वेष से कर्मबंध होते हैं।

प्रश्न - यह रागादि कैसे होते हैं, इनसे क्या होता है और इनसे छूटने बचने का क्या उपाय है ?

इसके समाधान में सद्गुरु तारण स्वामी आगे गाथा कहते हैं -

रागादी उववन्नं, राग सहावेन चौगए भमियं ।

रागं च विषय जुत्तं, राग विलयंति विमल सहकारं ॥ ९० ॥

अन्वयार्थ - (रागादी उववन्नं) रागादि, मोह राग द्वेष भाव पैदा होने से (राग सहावेन) राग के स्वभाव से (चौगए भमियं) चारों गतियों में भ्रमण करता है (रागं च विषय जुत्तं) राग होने से ही विषयों में युक्त होता है (राग विलयंति) राग विला जाता है (विमल सहकारं) अपने विमल स्वभाव को स्वीकार करने से।

विशेषार्थ - रागादि भाव पैदा होने से चारों गतियों में भ्रमण करना पड़ता है। राग होने से ही विषयों की आसक्ति होती है। अपने विमल स्वभाव आत्म स्वरूप को जानने स्वीकार करने से राग विला जाता है।

यह जीव, पुद्गल शरीरादि कर्मों की संगति में ऐसा एकमेक हो रहा है कि यह अपने को भूल ही गया है। कर्मों के उदय के निमित्त से जो रागादि भाव कर्म व शरीरादि नोकर्म होते हैं, उन रूप ही अपने को मानता रहता है। पुद्गल के मोह में उन्मत्त हो रहा है, इसी से कर्म का बंध करके बंधन को बढ़ाता है व कर्मों के उदय से नाना प्रकार फल भोगता है। जन्म-मरण, जरा, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग का अपार कष्ट है, आशा तृष्णा की दाह का अपार दुःख है। जब श्री गुरु के प्रसाद से या जिनवाणी स्वाध्याय शास्त्र प्रवचन से इसको यह भेदविज्ञान हो कि मैं तो जीवद्रव्य हूँ, मेरा स्वभाव परमशुद्ध निरंजन, निर्विकार, अमूर्तीक, पूर्ण दर्शन ज्ञानमयी, आनंद स्वरूप है। मेरे साथ पुद्गल का संयोग मेरा रूप नहीं है, मैं निश्चय से पुद्गल शरीरादि व पुद्गल कृत सर्व रागादि विकारों से भिन्न हूँ, तभी यह रागादि भाव विलाते हैं।

जीव से अजीव, लक्षण से ही भिन्न है इसलिये ज्ञानी जीव अपने को सर्व रागादि से व शरीरादि से भिन्न ज्ञानमय प्रकाशमान एकरूप अनुभव करता है। आश्चर्य व खेद है कि अज्ञानी जीव में अनादिकाल से यह मोह भाव क्यों नाच रहा है, जिससे यह अजीव को अपना स्वरूप मान रहा है। दो द्रव्यों को न्यारे-न्यारे नहीं देखता है इसी से संसार है।

राग-मल (विष्टा) है। मोह-मदिरा (शराब) है। माया-छल धोखा है इनके चक्कर से बचने वाला ही स्वस्थ आनंद में रहता है। मोही-कर्ता है, रागी-भोक्ता है। निर्मोही-अकर्ता है, वीतरागी-अभोक्ता है।

कर्मोदय को भोगने वाला, उनमें लिप्त तन्मय रहने वाला अज्ञानी है। कर्मोदय का ज्ञायक, उनमें निर्विकारी न्यारा रहने वाला ज्ञानी है।

राग से ही इन्द्रियों के विषय भोगने की आसक्ति पैदा होती है, आसक्ति से कामना, कामना से आशा तृष्णा पैदा होती है। विषय भोग की तृष्णा से आतुर प्राणी यदि अन्याय से सामग्री एकत्र करता है, बहुत मूर्च्छावान होता है तो नरक आयु बांधकर नरक चला जाता है। यदि मायाचार करके दूसरों को ठग करके अपना स्वार्थ साधता है तो निर्यच आयु बांधकर तीव्र या मंद पाप के अनुसार एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पशु तक में जन्म लेता है। यदि आशा तृष्णावान होकर भी कोमल भाव रखता है तो मनुष्य आयु बांधकर मनुष्य होता है। यदि विषय भोग की लालसा से तीव्र सुख की वासना से वासित हो धर्म का सेवन करता है, दान, पूजा, जप, तप, करता है या श्रावक का तथा साधु का चारित्र पालता है तो देवायु बांधकर नवमें ग्रैवेयक तक चला जाता है, वहाँ से आकर मिथ्यात्व के योग से पुनः चतुर्गति में भ्रमण करता है। जिसने इस रागादि भाव का वमन कर दिया है, अपने आत्म स्वरूप सच्चे सुख को पहिचान लिया है, वही सम्यक्त्वी जीव कर्म मल से रहित होकर शिव सुख को पाता है।

आशा नाम नदी मनोरथ जलः तृष्णा तरंगाः कुलाः ।

राग ग्राहवती वितर्क विहगा धैर्य द्रुमध्वंसिनी ॥

मोहावर्त सुदुस्तराऽति गहना प्रोतुङ्ग चिंतातटी ।

तस्या पारगता विशुद्ध मनसो धन्यास्तु योगीश्वराः ॥

साधक को भयभीत, भ्रमित करने वाले-भावकर्म, संयोगी अशुद्ध पर्याय और पापादि अशुभ कर्म हैं, इससे जीव हमेशा भयभीत रहता है।

मोह-घर में बांधकर रखता है, राग-समाज और संसार में बांधकर रखता है। मोह के सद्भाव में भयभीतता, शंका-कुशंका होती है। राग के सद्भाव में संकल्प-विकल्प, मदहोशी, प्रमाद होता है। द्वेष के सद्भाव में खेद खिन्नता क्षोभ, दुःख, चिंता, क्रोध होता है।

जब तक मोह-राग का सद्भाव है, कर्मोदय के अनुसार जैसा निमित्त मिलेगा, तद्वरूप परिणमन होगा। मोह, राग-द्वेषादि भाव कर्म को बलवान बनाने वाले उस ओर की चाह, रुचि और उनमें भयभीतपना है। सम्यक्दृष्टि ज्ञानी अपने विमल स्वभाव की साधना से रागादि भावों को क्षय करता है।

स्वयं पर से और विभाव से भिन्नता का विचार करना चाहिये, एकता बुद्धि तोड़ना वह मुख्य है। प्रतिक्षण एकत्व को तोड़ने का अभ्यास करना चाहिये। स्वभाव की महिमा से पर पदार्थों के प्रति रस बुद्धि, सुख बुद्धि टूट जाती है।

स्वभाव में ही रस आता है और सब नीरस लगता है, तभी अंतर की सूक्ष्म संधि ज्ञात होती है।

संयोग, संबंध, जिम्मेदारी, विकल्प और चिंता का कारण है, इनमें फंसा जीव बिल्कुल निश्चिन्त नहीं हो सकता। पर की तरफ देखना, कुछ भी अपेक्षा करना, जरा सी भी कोई चाह होना ही राग और संसार का कारण है। राग-द्वेष से ही कर्मों का बंध होता है।

कर्म का बंध दिखता नहीं है - कर्म का उदय दिखता है।

अशुभ कर्म के उदय में कोई साथ नहीं देता, खुद ही भोगना पड़ता है, पाप कर्म के उदय में तो कोई पूछता भी नहीं है। अपनत्व और कर्तृत्व के कारण ही राग-द्वेष होते हैं।

प्रश्न - राग की उत्पत्ति का मूल कारण क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

जनरंजन राग

जन रंजन राग उपत्ति, जन उत्तं जन रंजनानि सद्विद्धी ।

पर सुभाव पर समयं, तिक्रतंति राग ममल न्यानस्य ॥ ९१ ॥

अन्वयार्थ - (जन रंजन राग उपत्ति) जगत के जीवों को रंजायमान, प्रसन्न संतुष्ट, सुखी करने के हेतु से राग की उत्पत्ति होती है (जन उत्तं) लोगों के कहने में लगना (जन रंजनानि) लोगों को रंजायमान करने के लिये विकथा आदि करना (सद्विद्धी) उनकी तरफ देखना (पर सुभाव पर समयं) यह सब पर भाव और पर समय है (तिक्रतंति राग) त्याग कर देता है, छोड़ देता है राग को (ममल न्यानस्य) ममल ज्ञान के द्वारा अर्थात् ममल स्वभाव का साधक ज्ञानी रागभाव को छोड़ देता है।

विशेषार्थ - राग की उत्पत्ति का मूल कारण जनरंजन है अर्थात् जगत के जीवों की तरफ देखना, उनको प्रसन्न संतुष्ट करना, उनके कहने में लगना, व्यर्थ चर्चा करना यह सब परभाव और परसमय है। इससे कर्म बंध होता है, संसार परिभ्रमण का चक्र चलता है। ममल स्वभाव का साधक ज्ञानी ऐसे जनरंजन राग भाव को छोड़ देता है।

जब तक जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है, संसारासक्त है तब तक इसको इष्ट इन्द्रिय विषयों की प्राप्ति की कामना रहती है व बाधक कारणों को मिटाने की

लालसा रहती है। व्यवहार दृष्टि में शरीर सहित अशुद्ध आत्मायें विचित्र प्रकार की दिखती हैं, तब मोही जीव जिनसे अपने विषय-कषाय पुष्ट होते हैं उनको राग भाव से व जिनसे विषय कषायों के पोषण में बाधा होती है उनको द्वेष भाव से देखता है। अनादि अविद्यारूपी केले के मूल की गांठ की भांति मोह, उसके उदयानुसार प्रवृत्ति की आधीनता से, परद्रव्य, परजीव के निमित्त से उत्पन्न मोह, राग-द्वेषादि भावों में एकता रूप से लीन होकर प्रवृत्त होता है तब पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित होने से युगपत् पर को एकत्व पूर्वक जानता है और पररूप से एकत्व पूर्वक परिणमित होता हुआ पर समय है।

निश्चय से सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में स्थित रहते हुए ही शोभा पाते हैं परंतु जीव पदार्थ की अनादिकाल से पुद्गल कर्म के साथ निमित्त रूप बंध अवस्था है, उससे उस जीव में विसंवाद खड़ा होता है, राग पैदा होता है।

इस लोक में समस्त जीव संसार रूपी चक्र पर चढ़कर पंच परावर्तन रूप भ्रमण करते हैं। वहाँ उन्हें मोह कर्मोदय रूपी पिशाच के द्वारा जोता जाता है इसलिये वे विषयों की तृष्णारूपी दाह से पीड़ित होते हैं और इस दाह का इलाज इन्द्रियों के रूपादि विषयों को जानकर उनकी ओर दौड़ते हैं तथा परस्पर भी विषयों का ही उपदेश करते हैं, यही राग बंध का कारण है।

इस प्रकार काम, भोग तथा बंधन की कथा तो अनंतबार सुनी, परिचय में प्राप्त की और उसी का अनुभव किया इसलिये वह सुलभ है किन्तु सर्व परद्रव्यों से भिन्न एक चैतन्य चमत्कार स्वरूप अपने आत्मा की कथा का ज्ञान अपने को अपने से कभी नहीं हुआ और जिन्हें वह ज्ञान हुआ है उनकी कभी सेवा नहीं की इसलिये उसकी कथा न तो कभी सुनी, न परिचय किया और न अनुभव किया इसलिये उसकी प्राप्ति सुलभ नहीं, दुर्लभ है।

जब यह जीव सर्व पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञान ज्योति का उदय होने से सर्व पर द्रव्यों से छूटकर ज्ञान दर्शनमयी ममल ज्ञान स्वभाव में नियत वृत्तिरूप आत्मतत्त्व के साथ एकत्व रूप में लीन होकर प्रवृत्ति करता है तब दर्शन ज्ञान चारित्र में स्थित होने से अपने स्वरूप को एकत्व रूप से एक ही समय में जानता तथा परिणमता हुआ वह स्व समय है।

सम्यक्दृष्टि ऐसा जानता है कि शुद्ध निश्चय से मैं मोह, राग-द्वेष रहित हूँ इससे वह समस्त राग भाव को छोड़ देता है।

प्रश्न - यह राग भाव से क्या होता है ?

इसके समाधान में सदगुरु आगे गाथा कहते हैं -

राग सहावं उत्तं, जन रंजन पुन्य भाव संजुतं ।

अत्रित असत्य सहिओ, राग संजुत नरय वासम्मि ॥ १२ ॥

राग सहावं पिच्छदि, अन्यान सहकार श्रुतं बहु भेयं ।

मिच्छात विषय सहियं, रागं विलयंति न्यान सहकारं ॥ १३ ॥

राग सहावं उत्तं, अन्यानं तव तवंति संजुतं ।

जनरंजन मूढ सहावं, जन उत्तं राग नरय वासम्मि ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ - (राग सहावं उत्तं) राग का स्वभाव कहते हैं, कहा गया है (जन रंजन) जनरंजन और (पुन्य भाव संजुतं) पुण्य भाव में लीन रखता है, पुण्यकार्यों को इष्ट उपादेय मानता है और उनमें लगा रहता है (अत्रित असत्य सहिओ) नाशवान झूठे कार्यों एवं भावों में लगा रहता है (राग संजुत नरय वासम्मि) ऐसे राग में लीन रहने से नरक में वास करना पड़ता है।

(राग सहावं पिच्छदि) राग का स्वभाव विचित्र, नाना प्रकार का होता है (अन्यान सहकार) अज्ञान के सहकार से (श्रुतं बहु भेयं) नाना प्रकार के शास्त्रों की रचना की जाती है (मिच्छात विषय सहियं) जो मिथ्यात्व विषयादि सहित होते हैं, जिनमें मिथ्यात्व की व इन्द्रिय विषय भोगों की पुष्टि की जाती है (रागं विलयंति न्यान सहकारं) सम्यक्ज्ञान होने पर ही यह राग विलाता है।

(राग सहावं उत्तं) राग का स्वभाव कहा गया है (अन्यानं तव तवंति संजुतं) अज्ञान जनित तप तपता है (जनरंजन मूढ सहावं) जनरंजन में और लोक मूढ़ता आदि में रत रहता है (जन उत्तं) लोगों के कहने में लगा रहता है (राग नरय वासम्मि) ऐसे राग भाव से नरक में वास करना पड़ता है।

विशेषार्थ - राग का स्वभाव बड़ा विचित्र, नाना प्रकार का होता है, अज्ञानी जीव निरंतर इसके चक्कर में ही फंसा रहता है, यह जीव को पुण्य-पाप में ही भ्रमाता रहता है। कोई जीव धर्म कार्यों में बड़ी भक्ति, बड़ा राग भाव उत्साह दिखलाते हैं परंतु उनका आशय आत्म हित, वैराग्य का नहीं होता, वे ऐसा आशय रखते हैं कि स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका सब समाज बंधु बड़े प्रसन्न हों और मुझसे अति स्नेह करें, मेरा पारिवारिक कार्य स्वार्थ सिद्ध हो जाये तथा मेरी प्रतिष्ठा,

मान-सम्मान भी होवे। उनके भावों में असत्य संसार के विषयादि से, धनादि से मोह होता है तथा मिथ्यात्व भाव भी होता है। इस कारण ऐसे माया मिथ्या निदान शल्य सहित तीव्र विषय आदि के राग से जीव बाहर से पुण्य कार्य करते हुए भी तीव्र कृष्णादि लेश्या से नरक आयु बांधकर नरक चले जाते हैं।

इस राग भाव में अज्ञान सहित जीव ऐसे काव्य ग्रन्थ, नाटक, उपन्यास आदि रचते हैं, जिनके पढ़ने से संसार का व विषय भोग का राग बढ़ जाता है, कामेच्छा प्रबल हो जाती है, पांचों इन्द्रियों के भोगों की अति तृष्णा बढ़ जाती है। कोई जीव इस राग भाव से धर्म शास्त्र के नाम पर ऐसे ग्रन्थ रचते हैं जो मिथ्यात्व और एकांतवाद को पुष्ट करते हैं। जिनेन्द्र कथित सत्य धर्म के विपरीत गृहीत-अगृहीत मिथ्यात्व, कुदेव-अदेव आदि की पूजा भक्ति का विधान लिखकर जीवों को मिथ्यामार्ग में प्रेरित करते हैं।

कोई जीव इस राग भाव में अज्ञान जनित तप तपते हैं, नाना प्रकार के भेष और लोक मूढ़ता जनित क्रियायें करते हैं। लोगों को लोक मूढ़ता आदि में फंसाते हैं। अभिप्राय इस लोक व परलोक में स्वार्थ साधन का होता है। भावों की शुद्धि की पहिचान नहीं है, भावों में विषय-कषाय रखते हैं, संसारी कामना-वासना में लिप्त रहते हैं, ऐसे तीव्र मूर्च्छावान अज्ञानी तपस्वी भी इस असत्य राग से नरकायु बांध कर नरक जाते हैं।

सम्यक्दृष्टि आत्मज्ञान की सहायता से ऐसे कुत्सित राग को बिल्कुल त्याग देते हैं, उनका राग भाव विला जाता है, वीतरागता की साधना करते हैं।

जो राग, पुण्य व निमित्त के आश्रय से धर्म होना बतलाते हैं वे अज्ञानी जीव संसार में ही रुलते हैं। जिन्हें ध्यान रूपी तप की खबर ही नहीं है, वे तो बाह्य में तपस्या करके धर्म प्राप्ति मानते हैं व शोभायात्रा निकालते हैं परंतु अभी जिनकी कुदेवादि की श्रद्धा मान्यता ही नहीं छूटी, उनको धर्म ध्यान नहीं हो सकता वे तो गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं, ऐसे जीवों को यह बात ही नहीं जंचती कि आत्मा पुण्य-पाप रहित है और आत्मा की जो धर्म क्रिया है सो उनके लक्ष्य में ही नहीं आती, वे तो जड़ की, शरीर की क्रिया में ही धर्म मानकर अधर्म का ही सेवन करते हैं।

सम्यक्दृष्टि ज्ञानी जानते हैं कि निज आत्मा ही चिदानंद प्रभु है, पुण्य-पापादि पर्याय में है व उनका नाश होने पर स्वयं सर्वज्ञ हो सकते हैं, ऐसे आत्मज्ञान पूर्वक राग भाव को छोड़ देते हैं, उनका राग विला जाता है।

प्रश्न - इस राग भाव से छूटने का उपाय क्या है ?

समाधान - सम्यक्दर्शन पूर्वक सम्यक्ज्ञान होने पर ही यह राग भाव विलाता है। अज्ञानी इस राग भाव में फंसा निरंतर कर्म का बंध करता है। जिसे संसार के जन्म-मरण से छूटना हो, जिसका सेनापति यह राग भाव है, उसे भेदज्ञान पूर्वक सम्यक्ज्ञान प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये।

प्रश्न - जब तक सम्यक्ज्ञान नहीं होता तब तक इस राग भाव से क्या-क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

रागं च राग जुत्तं, मिथ्या तव तवेहि संचरनं ।

कुन्यानं संजुत्तं, राग सहावेन दुग्गए पत्तं ॥ ९५ ॥

रागं च राग सहियं, जनरंजन विकहा भाव संजुत्तं ।

जिन द्रोही जिन उत्तं, राग सहावेन दुग्गए पत्तं ॥ ९६ ॥

विन्यान न्यान रहियं, राग सहावेन पज्जाव पर दिट्ठं ।

न्यान सहावं विरयं, जनरंजन राग नरय वासम्मि ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थ - (रागं च राग जुत्तं) राग से राग में युक्त होना, राग के उदय में राग पूर्वक लगना (मिथ्या तव तवेहि संचरनं) मिथ्या तप तपना और मिथ्यात्व सहित व्रतादि आचरण करना (कुन्यानं संजुत्तं) कुज्ञान में लीन रहना (राग सहावेन) ऐसे राग स्वभाव से (दुग्गए पत्तं) दुर्गति प्राप्त होती है।

(रागं च राग सहियं) राग से राग सहित होना, राग के उदय में राग सहित लिप्त रहना (जनरंजन विकहा भाव संजुत्तं) जनरंजन और विकथा भाव में लगे रहना (जिन द्रोही) वे जिन धर्म के द्रोही हैं (जिन उत्तं) ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है (राग सहावेन दुग्गए पत्तं) वे ऐसे राग स्वभाव से दुर्गति में जाते हैं।

(विन्यान न्यान रहियं) भेदविज्ञान से रहित, जो भेदविज्ञान से शून्य, रहित है वह (राग सहावेन) राग स्वभाव से (पज्जाव पर दिट्ठं) पर्याय और पर को देखता है (न्यान सहावं विरयं) ज्ञान स्वभाव से विरक्त है, ज्ञान स्वभाव जानता ही नहीं है (जनरंजन राग) वह जनरंजन राग से (नरय वासम्मि) नरक में वास करता है।

विशेषार्थ - राग से राग में युक्त होकर मिथ्या तप तपना, मिथ्या व्रतादि आचरण करना, कुज्ञान में लीन रहना ऐसे राग स्वभाव से दुर्गति प्राप्त होती है।

राग के उदय में राग सहित होकर जनरंजन राग और विकथाओं में लगे रहना, व्रती श्रावक साधु होकर सामाजिक प्रपंच और लोकमूढ़ता में लगने वाले जिन धर्म के द्रोही हैं, वह ऐसे राग भाव से दुर्गति में जाते हैं, ऐसा जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है।

जो भेदविज्ञान से रहित हैं, अपने ज्ञान स्वभाव को नहीं जानते वह राग भाव से पर पर्याय को ही देखते हैं और इस जनरंजन राग से नरक में वास करना पड़ता है। राग के सद्भाव में रागी जीव मुनिव्रत, श्रावकव्रत पालते हैं और भीतर मिथ्यात्व कुज्ञान भाव होता है, जिससे शुद्धोपयोग की बिल्कुल पहिचान नहीं होती, ज्ञान भी ठीक नहीं होता जिससे क्रियायें भी ठीक-ठीक नहीं पालते हैं। जरा सी प्रतिकूलता, अविनय, अपमान होने पर क्रोधित हो जाते हैं, अपशब्द कहते हैं, आचरण पालने की शक्ति न होने पर भी ऊपर से व्रतीपने का दृश्य दिखाते हैं, भीतर से कुछ का कुछ आचरण करते हैं, इन्द्रियों के विजयी नहीं होते, जिह्वा लम्पटी होते हैं, राग भाव में लिप्त रहते हैं, ऐसे संसारासक्त साधु व्रती श्रावक भी तीव्र कषाय राग भाव से अशुभ कर्म बांधकर दुर्गति में जाते हैं।

राग सहित रागी जीव जनरंजन राग, लोगों को प्रसन्न करने के लिये राज कथा, चोर कथा, स्त्री कथा, भोजन कथायें करते हैं। पुण्य को धर्म बताते हैं वे जिनधर्म के द्रोही हैं, ऐसा जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है। ऐसे रागवर्द्धक लोग स्वयं भी जिनधर्म, वीतराग मार्ग नहीं पालते हैं व दूसरों को भी नहीं पालने देते हैं, ऐसे साधु व्रती वास्तव में जिनद्रोही हैं, जो ऐसे कुत्सित राग से तीव्र कर्म बांधकर दुर्गति में जाते हैं।

राग में आसक्त बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि को आत्मा-अनात्मा का भेदविज्ञान नहीं होता, वह अपने ज्ञान स्वभाव से रहित रहता है, जिस शरीर में रहता है उसी रूप अपने को मानकर उसी पर्याय में रत रहता है और उसी के अनुकूल राग भाव में फंसा रहता है। उसको इस बात का भान ही नहीं रहता है कि मैं सिद्ध के समान ज्ञान स्वभाव का धारी भगवान् आत्मा हूँ; इसलिये उसमें तीव्र रागभाव होता है, नाना प्रकार विषय भोग करता है, स्त्री-पुत्रादि के मोह में इतना पागल होता है कि हित-अहित का कोई विवेक नहीं रहता है, पर पर्याय की दृष्टि होने से मिथ्यात्व का सेवन करता है, आर्त-रौद्र परिणामों से नरक आयु बांधकर नरक चला जाता है। यह अज्ञान सहित राग भाव महान् दुःख और दुर्गति कराने वाला है और संसार परिभ्रमण का मूल कारण भी यही रागभाव है।

जीव, कर्म से दुःखी नहीं है बल्कि अपने राग-द्वेष, मोह के कारण से दुःखी होता है, उस दुःख का नाश करने का एक मात्र उपाय भेदविज्ञान और वीतराग भाव है। जो जीव वीतराग की परम्परा को तोड़ते हैं और इसके विरुद्ध पुण्य-पापादि की पुष्टि करते हैं वे मिथ्यात्व की परंपरा ही प्रसारित करते हैं। असत् आचरण रूप महा विपरीत कार्य तो कषाय (क्रोध मान माया लोभ) की अत्यंत तीव्रता होने पर ही होता है, इस राग के कारण ही नरकादि दुर्गतियों में जाना पड़ता है।

इस राग से ही अशुद्ध दृष्टि और ज्ञान पर आवरण होता है, इस बात को आगे गाथा में कहते हैं -

रागं असुद्ध दिष्टी, संसय सहकार अंतरं न्यानं ।

संक सहाव न विरयं, न्यानं आवरन चउ गए भमनं ॥ ९८ ॥

रागं च लोक मूढं, जनरंजन पर्जाव दिष्टि संदर्स ।

न्यान सहाव न पिच्छं, विभ्रम संजुत्त दुग्गए सहियं ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थ - (रागं असुद्ध दिष्टी) संसार का राग अशुद्ध दृष्टि है (संसय सहकार अंतरं न्यानं) इस राग से अंतरंग ज्ञान में संशय रहता है (संक सहाव न विरयं) इस शंका शील स्वभाव को न छोड़ने से (न्यानं आवरन) ज्ञान पर आवरण पड़ा रहता है (चउ गए भमनं) जिससे चारों गति में भ्रमण होता है।

(रागं च लोक मूढं) इस राग से ही लोक मूढ़ता में फंसाता है (जनरंजन पर्जाव दिष्टि संदर्स) जनरंजन राग से ही पर्याय दृष्टि को देखता है अर्थात् जनरंजन राग के कारण ही उसकी पर्याय पर दृष्टि रहती है (न्यान सहाव न पिच्छं) ज्ञान स्वभाव को नहीं पहिचानता, अपने आत्म स्वभाव को नहीं देखता जानता (विभ्रम संजुत्त) विभ्रम में लीन रहता है (दुग्गए सहियं) इससे दुर्गति के दुःख सहता है, दुर्गति चला जाता है।

विशेषार्थ - राग से दृष्टि अशुद्ध और ज्ञान पर आवरण पड़ा रहता है, रागी जीव के अंतरंग ज्ञान में संशय होता है। निःशंकता न होने से श्रद्धान में अशुद्धि और ज्ञान में संशय रहता है, वह वस्तु स्वरूप का यथार्थ निर्णय स्वीकार नहीं करता इसलिये चारों गतियों में भ्रमण करता है।

इस राग के कारण ही लोक मूढ़ता में फंसाता है, जनरंजन राग में लगा रहता है, हमेशा पर्याय दृष्टि रहती है। अपने ज्ञान स्वभाव आत्मा को नहीं जानता,

पौद्गलिक जगत और नाशवान पर्याय के भ्रम भ्रांति में भ्रमित रहता है इससे यहाँ भी दुर्गति सहता है, हमेशा आकुल-व्याकुल चिंतित बना रहता है और भविष्य में भी दुर्गति जाता है।

राग भाव होने से संसार की तीव्र वासना होती है, शरीराशक्ति विषय भोगों की कामना रसबुद्धि रहती है, जिससे उसका चित्त स्थिर नहीं रहता, बुद्धि शंकित और भ्रमित रहती है। कषायों के वशीभूत हो आरंभ-परिग्रह में लगा रहता है, न्याय-अन्याय का विवेक नहीं रहता, संशय सहित अज्ञान होने से चारों गति में भ्रमण करता है।

लोगों की देखादेखी आप भी उन मूढ़ता युक्त रूढ़िवादी क्रियाओं को बड़े ही रागभाव से करता है, जिससे लोग प्रसन्न हों व इसे बड़ा आदमी धर्मात्मा समझें। जिन बातों में, कार्यों में पाप बंध होता है, उन बातों से भला होना मानता है। हमेशा भ्रमित, भयभीत रहता है, संसारी कार्यों व्यवहार को महत्व देता है। अपने ज्ञान स्वभावी आत्मा की शुद्ध परिणति को न पहिचान कर यद्वा-तद्वा आचरण करके दुर्गति में चला जाता है।

पर से चाह लगाव ही बंधन अशांति चिंता का कारण है, इसी से वर्तमान में दुर्गति भोगना पड़ती है और आगे नरक तिर्यच गति जाना पड़ता है।

राग से अशुद्ध दृष्टि होने के कारण घर परिवार की तरफ देखने से मोह माया के भाव चलते हैं। शरीर की तरफ देखने से विषय पापादि के भाव होते हैं। धन वैभव की ओर देखने से लोभ तृष्णा परिग्रह करने-धरने के भाव होते हैं। समाज की तरफ देखने से राग-द्वेष के भाव होते हैं। अपने आत्म स्वरूप की ओर देखने से सुख शांति आनन्द के भाव होते हैं।

मन के लिये, इन्द्रियों के विषय भोग और माया की चाह सक्रिय सबल बनाती है, जिससे मनुष्य हमेशा भ्रमित भयभीत रहता है।

पर का विचार, पर की चिंता, मन के संकल्प यह सब आकुलता, अशांति और दुःख के कारण हैं।

भेदज्ञान के अभाव में ही भय, चिंता, घबराहट, संकल्प-विकल्प, आकुलता-व्याकुलता होती है।

ज्ञान में संशय विभ्रम राग भाव के कारण होता है, जिससे वस्तु स्वरूप का यथार्थ निर्णय स्वीकार नहीं होता, इसी से दुर्गति सहना पड़ती है और चतुर्गति में रूढ़ता पड़ता है।

विपरीत मान्यता में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह यह पांचों ही पाप समाहित हैं। मैं अनादि अनंत ज्ञानवान हूँ, इसमें से प्रवर्तित ज्ञान पर्याय की सामर्थ्य को जो नहीं मानता तथा मैं पर को जानता हूँ, ऐसा मानता है वह ज्ञान के ऊपर आवरण डालता है।

धर्म अर्थात् वस्तु स्वभाव, निज चैतन्य स्वरूप अनादि अनंत है। जीव (चेतन) द्रव्य की पर्याय उसी के अस्तित्व में है, ऐसा मानने पर यह तय होता है कि राग स्वयं के कारण से है, अपनी ही निर्बलता से होता है तभी राग दूर होने की संभावना होती है तथा ज्ञानमयी आत्मा स्वयं ही है तो ज्ञान स्वभाव की ओर ढलने का पुरुषार्थ होता है।

अज्ञानी को न तो अपने ज्ञान की खबर है और न ही निर्बलता से होने वाले राग की अतः संसार में जन्म-मरण करता है।

राग की विशेषतायें बताने हेतु आगे गाथा कहते हैं -

रागं च भाव जुत्तं, पर पर्जाव पुरुषस्य स्त्री संदिस्टं।

न्यान विन्यान विमुक्तं, न्यान आवरन सु सहिय मूढं च ॥ १०० ॥

रागं च राग जुत्तं, स्त्री पर्जाव पुरुष मल सहियं।

अन्यान न्यान मूढा, संसय सहिय नरय वासम्मि ॥ १०१ ॥

अन्वयार्थ - (रागं च भाव जुत्तं) राग के भाव से जुड़ने, लीन होने से (पर पर्जाव) पर पर्याय (पुरुषस्य स्त्री संदिस्टं) पुरुषों को, स्त्रियों को देखता है (न्यान विन्यान विमुक्तं) भेदविज्ञान से रहित होता है (न्यान आवरन) उसका ज्ञान ढका होता है अर्थात् विवेकहीन होता है (सु सहिय मूढं च) वह मूढ़ता सहित वर्तता है।

(रागं च राग जुत्तं) राग के राग में लीन होकर (स्त्री पर्जाव) स्त्री पर्याय में (पुरुष मल सहियं) पुरुष के मलीन भाव सहित होता है (अन्यान न्यान मूढा) ऐसे अज्ञानी प्राणी ज्ञान से मूढ़ होते हुए अर्थात् विषयांध अज्ञानी मूढ़ होते हैं (संसय सहिय) संशय सहित, भ्रम भाव के कारण (नरय वासम्मि) नरक में वास करते हैं।

विशेषार्थ - राग के तेरह भेद होते हैं - ४ माया, ४ लोभ, हास्य, रति, स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद। इस राग भाव में जुड़ने से अज्ञानी जीव पर पर्याय और स्त्री पुरुषों को ही देखता है, काम भाव के विकार से सब विवेक भूल जाता है, बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, मूढ़ता सहित इतना कामासक्त होता है कि सब भेदज्ञान

हित-अहित का विचार भी भूल जाता है।

स्त्री राग के राग में युक्त होने से स्त्री पुरुष में मलिन भाव मल सहित हो जाता है, ऐसा अज्ञानी मूढ़ हो जाता है कि कुछ भी विवेक नहीं रहता और इन्हीं भावों में हमेशा बहता रहता है, विषयांध होने से संशय सहित नरक में वास करता है।

काम भाव जीव का सबसे बड़ा शत्रु है, यह राग भाव होता है इसी के कारण जीव अनादि से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। स्त्री पुरुष की ओर देखने से कामभाव पैदा होता है। कामभाव के पैदा होने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, विवेक शून्य प्राणी विषयांध होकर न करने योग्य कार्य भी कर बैठता है, इस कामभाव से पीड़ित प्राणी दिन-रात आर्त-रौद्र भावों में लगा रहता है जिससे नरक गति चला जाता है।

जिसके मन को स्त्री (कामभाव) ने अपहरण कर लिया उसकी विद्या व्यर्थ है। उसे तपस्या त्याग और शास्त्राभ्यास से भी कोई लाभ नहीं, उसका एकांत सेवन और मौन भी निष्फल है।

जो धीर व्यक्ति- १. वाणी के वेग को, २. मन के वेग को, ३. क्रोध के वेग को, ४. जिह्वा के वेग को, ५. उदर के वेग को, ६. जननेन्द्रिय (कामभाव) के वेग को सहन करने में समर्थ हो जाता है इन पर संयम कर लेता है, अपने ज्ञान भाव से विचलित नहीं होता वह समस्त पृथ्वी पर शासन कर सकता है।

ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ काम संयम है, जब तक सभी इन्द्रियों का संतुलित एवं संतोष जनक संयम न हो, तब तक काम संयम नहीं रखा जा सकता क्योंकि सभी इन्द्रियाँ अन्योयाश्रित हैं। मन से विकृत मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता क्योंकि वासनाओं, विकारों का मन में उदय होने पर काम संयम अत्यंत कठिन हो जाता है, जो ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं वह - १. वह अपने भोजन पर नियंत्रण रखें। २. सज्जन पुरुषों के पास बैठें, सत्संग करें। ३. अश्लील साहित्य कभी न पढ़ें। ४. सिनेमा आदि न देखें, स्त्री पुरुषों के विशेष संपर्क में न रहें।

हाथ का सच्चा, लंगोट का पक्का और मुख का संयमी जग जीतता है।

घोर तपस्या पूजा पाठ जप ध्यान आदि करने वाले किंतु चारित्र्य हीन लोगों की क्या गति होती है, इसके अनेक दृष्टांत धर्म ग्रन्थों में मिलते हैं।

कामभाव से संमोह, संमोह से स्मरण शक्ति का हास और उससे बुद्धि नाश

और बुद्धि नाश के बाद सर्व नाश हो जाता है।

जगत के स्त्री पुरुषों को कामभाव से देखने वाला दुर्गति नरक जाता है। जो बुरे विचारों को न छोड़कर उनका रस लेता रहता है, वह कभी बुरे कर्मों से छुटकारा नहीं पा सकता, वह विचारों के समय असावधान रहता है, विचार के रस का अनुभव करता हुआ वह कभी उस व्यसन से आत्मत्राण नहीं कर पाता।

दुश्चरित्र से विरत न होने वाला, मन और इन्द्रियों को संयम में न रखने वाला, चित्त की स्थिरता का अभ्यास न करने वाला एवं विक्षिप्त मन वाला मनुष्य केवल बुद्धिबल से आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।

संसार का मूल कारण कामभाव है, स्त्री पुरुष का संयोग सम्बंध ही जगत की सृष्टि करता है। पुरुष स्त्री में और स्त्री पुरुष में आसक्त होकर कामभाव में मूढ़ता सहित वर्तन करके इस अज्ञान व मूढ़ता से तीव्र राग के कारण घोर पाप करके नरक चले जाते हैं।

प्रश्न - इस जनरंजन राग से और क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

जनरंजन सादिष्टी, जन उत्तं राग सहिय अन्यानी ।

लाज भय गारव सहियं, राग संजुत भ्रमन वीयम्भि ॥ १०२ ॥

रागं च सहिय सल्यं, दुबुहि उववंन मिच्छ परिनामं ।

जनरंजन जन उत्तं, जिनद्रोही निगोय वासम्भि ॥ १०३ ॥

अन्वयार्थ - (जनरंजन सादिष्टी) जिसकी दृष्टि लोगों को रंजायमान करने की रहती है (जन उत्तं राग सहिय अन्यानी) लोगों के कहने के अनुसार चलने वाला, राग सहित, राग को रखता हुआ अज्ञानी होता है वह (लाज भय गारव सहियं) लाज भय गारव सहित होता है (राग संजुत भ्रमन वीयम्भि) ऐसे राग में लगा हुआ जीव भवभ्रमण का बीज बोता है।

(रागं च सहिय सल्यं) राग भाव सहित शल्य को रखता हुआ (दुबुहि उववंन) दुर्बुद्धि पैदा होने से (मिच्छ परिनामं) मिथ्यात्व भाव सहित वर्तता है (जनरंजन जन उत्तं) लोगों के कहे अनुसार जगत के जीवों को रंजायमान प्रसन्न संतुष्ट करने में लगा रहता है (जिनद्रोही) वह जिनमत का शत्रु, जिनमत के विरुद्ध चलने वाला (निगोय वासम्भि) निगोद में वास करता है।

विशेषार्थ - जनरंजन राग में लगा अज्ञानी जीव लोगों के कहे अनुसार

चलता है, लाज भय गारव सहित हमेशा चिंतित परेशान रहता है, हित-अहित का विवेक नहीं रहता, करने न करने योग्य कार्यों को राग भाव सहित करता है। लोगों को प्रसन्न संतुष्ट रखना चाहता है, इससे भव भ्रमण का बीज बोता है अर्थात् नाना प्रकार के कर्म का बंध करता है।

जनरंजन राग के कारण हमेशा शल्यें लगी रहती हैं, दुर्बुद्धि पैदा होती है, मिथ्यात्व भाव का सेवन करता है। लोगों के कहे अनुसार सबको खुश करने के लिये लोक मूढ़ता, देव मूढ़ता, पाखंडी मूढ़ता में फंसा रहता है। जिनेन्द्र के मत के विपरीत कार्यों को करता है, ऐसा जिनद्रोही निगोद में वास करता है।

जनरंजन राग भाव वाला जीव हमेशा यही चाहता है कि मुझसे सब प्रसन्न रहें, कोई असंतुष्ट न हो, इस राग भाव से वह लोगों के अनुकूल वर्तता है। उसको यह लज्जा रहती है कि कोई मेरी निंदा बुराई न करे, मेरा अपमान न हो, इस बात का भय रहता है कि कोई बैर विरोध करके नाराज न हो जाये। अपना मद रहता है कि मेरे को कोई बुरा न कहे, सब मेरी प्रभावना, प्रशंसा करें। इस लाज भय गारव के कारण वह कभी धर्म के अनुकूल, कभी धर्म के विपरीत आचरण करता है, जिससे लोग प्रसन्न, संतुष्ट रहें। लोगों को राजी रखने के लिये वह अज्ञानी हित-अहित का विवेक नहीं रखता है। लोक मूढ़ता में फंसकर अधर्म का सेवन कर अपना भव बिगाड़ लेता है और दुर्गतियों में चला जाता है।

जनरंजन रागभाव वाले जीव को हमेशा शल्यें लगी रहती हैं, वह मिथ्या, माया, निदान शल्य सहित हमेशा परेशान, चिंतित रहता है। दुर्बुद्धि पैदा होने से मिथ्यात्व भाव में लगा रहता है, लोगों के कहे अनुसार करने न करने योग्य कार्यों को करता है। जैनधर्म उत्तम कुल में पैदा होकर निंद्य कर्म कुदेवादि की मान्यता, पूजा, वंदना, भक्ति करता है, जिन मत के विपरीत श्रावक या साधु पद धारण कर मायाचारी करता है। लोगों को प्रसन्न करने, प्रतिष्ठा पाने के लिये कुदेवादि का पोषण करता है, गंडा, ताबीज, मंत्र-जंत्र से संसारी कार्यों की सिद्धि करना चाहता है, ऐसा जिनद्रोही धर्म को बदनाम कर स्वयं निगोद का पात्र बनता है।

जैनधर्म तो अध्यात्म रस मय वीतरागता का मार्ग है, कोई दया दान आदि मात्र जैनधर्म का स्वरूप नहीं है। पराधीनता, परावलंबता का इसमें काम ही नहीं है, परदृष्टि, पर्याय दृष्टि ही मिथ्यादृष्टि है। ज्ञायक पिंड आनन्द स्वरूप आत्मा का भान कर अंतर्लीन होना सो जैन धर्म है।

जो मान बड़ाई के लिये अपने ज्ञान का मद करते हैं, धार्मिक आचरण कर

अपने आपको श्रेष्ठ बड़ा मानते हैं, कोई रूप भेष बनाकर अपने को पुजवाते हैं। अपनी बड़ाई का भाव रखते हैं, दूसरों को बतलाने का अभिप्राय रखते हैं, वे सभी केवल पाप बंधकर भव भ्रमण बढ़ाते हैं। विपरीत मान्यता व राग द्वेषादि ही एक मात्र बंध का कारण है।

यदि साधक का यह दृढ़ निश्चय हो जाये कि मुझे एक परमात्म प्राप्ति के सिवाय कुछ नहीं चाहिये तो वह वर्तमान में ही मुक्त हो सकता है परंतु यदि वस्तुओं के सुख भोग और जीने की इच्छा रहेगी तो इच्छा कभी पूरी नहीं होगी, इससे हमेशा शल्य विकल्पों में ही रहना पड़ेगा और मृत्यु के भय से भी बचाव नहीं होगा तथा क्रोध से भी छुटकारा नहीं होगा। इससे संसार भव भ्रमण ही करना पड़ेगा।

प्रश्न - इस जनरंजन राग भाव से छूटने का उपाय क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

रागं च भाव उत्तं, न्यानं आवरण रंजनं लोयं ।

प्रपंच विभ्रम सहियं, विमल सहावेन राग मुक्कं च ॥ १०४ ॥

रागं संसार सहावं, जन उत्तं लोक मूढ़ सुपएसं ।

जन रंजन लोक सहावं, न्यान सहावेन राग विलयंति ॥ १०५ ॥

अन्वयार्थ - (रागं च भाव उत्तं) जनरंजन रागभाव इस प्रकार का होता है जिससे (न्यानं आवरण) ज्ञान पर आवरण बना रहता है (रंजनं लोयं) लोगों को रंजायमान करने का ही भाव रहता है इससे (प्रपंच विभ्रम सहियं) प्रपंच और विभ्रम, भ्रांति सहित परिणाम होते हैं (विमल सहावेन राग मुक्कं च) विमल स्वभाव, आत्मज्ञान के प्रकाश से यह राग भाव छूटता है।

(रागं संसार सहावं) यह राग भाव संसार स्वभाव में लीन रहता है, जिससे (जन उत्तं लोक मूढ़ सुपएसं) लोगों के कहे अनुसार लोक मूढ़ता में लिप्त रहता है (जन रंजन लोक सहावं) यह जनरंजन ही संसार का स्वरूप है, यही दुनियांदारी में फंसाता है (न्यान सहावेन राग विलयंति) ज्ञान स्वभाव से राग विला जाता है।

विशेषार्थ - जनरंजन राग भाव इस प्रकार का होता है, जिससे ज्ञान पर आवरण बना रहता है, लोगों को रंजायमान करने का ही भाव रहता है इससे प्रपंच और विभ्रम सहित परिणाम होते हैं। विमल स्वभाव आत्मज्ञान के प्रकाश से यह राग भाव छूटता है।

जनरंजन राग ही संसार समाज से जोड़कर बांधकर रखता है, इस राग भाव से लोगों के कहे अनुसार लोक मूढ़ता में लिप्त रहता है, यही दुनियांदारी में फंसाता है। ज्ञान स्वभाव से जनरंजन राग भाव विला जाता है।

भेदज्ञान पूर्वक अपने विमल स्वभाव, ज्ञानभाव में रहने से जनरंजन राग छूट जाता है। ज्ञान और राग के बीच भेदज्ञान होने का यह लक्षण है कि ज्ञान में राग के प्रति तीव्र अनादर भाव जागता है। आत्मा में राग की गंध भी नहीं है। राग के जितने विकल्प उठते हैं उनमें आत्मा जलता है, विकल्प ही दुःख है इसी से कर्म बंध होता है, ऐसा ज्ञान में निर्णय होने पर रागभाव विला जाता है।

राग और ज्ञान को लक्षण भेद से सर्वथा भिन्न करने पर ही सर्वज्ञ स्वभावी शुद्ध जीव लक्ष्य में आता है। जो संपूर्ण वीतरागी होते हैं वे ही सर्वज्ञ परमात्मा होते हैं। जो सर्व प्रकार के रागादि से अपने विमल स्वभाव को भिन्न जानते हैं, ज्ञान स्वभाव में रहते हैं, उनका राग भाव विला जाता है। जैसे- पाप भाव शुद्धात्मा की स्वानुभूति से बाहर है उसी भांति पुण्य भाव, जनरंजन रागादि भाव बाहर रहते हैं, स्वानुभूति में इनका प्रवेश नहीं है। पुण्य-पाप रागादि भाव रहित निज शुद्धात्मा विमल स्वभाव की अंतर में दृष्टि होने पर स्वानुभूति प्रगट होती है और यही सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान है। सम्यक्ज्ञान होने पर ही रागादि भाव विलाते हैं।

शुद्ध स्वरूप आत्मा में मानों विकार अंदर प्रविष्ट हो गये हों ऐसा दिखाई देता है परंतु भेदज्ञान होने पर वे ज्ञानरूपी चैतन्य दर्पण में प्रतिबिम्ब रूप हैं। ज्ञान वैराग्य की अचिन्त्य शक्ति से पुरुषार्थ प्रगट होने पर अनेक प्रकार के कर्म के उदय, सत्ता, अनुभाग तथा कर्म निमित्तक विकल्प आदि विला जाते हैं।

जनरंजन राग से ज्ञान पर आवरण बना रहता है, इस राग भाव के आधीन जीव लोगों को प्रसन्न करने के लिये बहुत सी क्रियायें लोक मूढ़ता वश करते हैं, उनके मन में भ्रांति रहती है कि कोई हमें बुरा न कहे। इस तरह की मान्यता मानने से ऐसा होता है, ऐसी मान्यता न मानने से यह अहित हो जाता है, ऐसे भ्रम से भयभीत रहता है। अज्ञानी जीव झूठे सच्चे दृष्टांत बताकर लोगों को लोक मूढ़ता की तरफ प्रेरित करते हैं। जनरंजन राग, संसारी दृष्टि वाला जीव, भ्रम से कुछ का कुछ विश्वास करके लोक मूढ़ता में फंसा रहता है। सम्यक्ज्ञान का प्रकाश होने पर ही यह जनरंजन राग लोक मूढ़ता आदि छूटती है।

दुनियां में मेरा नाम प्रसिद्ध होवे, दुनियां मेरी प्रशंसा करे और जो मैं कहता हूँ उससे दुनियां खुश होवे, ऐसा जिसके अंदर अभिमान का प्रयोजन वर्तता है

यही जनरंजन राग है। इससे उसका धारणा रूप ज्ञान भले सच्चा हो तो भी वह अज्ञान है, मिथ्याज्ञान है। अंतर स्वभाव की दृष्टि करने, उसका लक्ष्य रखने, उसका आश्रय करने, अपने विमल स्वभाव में रहने से ही अतीन्द्रिय आनन्द और शांति प्राप्त होती है।

इसी बात को और आगे गाथा में कहते हैं -

रागं उवन्न भावं, रागं संसार सरनि सभावं ।

पर्जाव दिट्ठि दिट्ठं, विमल सहावेन राग संषिपनं ॥ १०६ ॥

जन उत्तं उत्त दिट्ठं, जामन मुंचनं च सरनि संसारे ।

मूढ लोय स सहावं, न्यान विन्यान राग विलयंति ॥ १०७ ॥

अन्वयार्थ - (रागं उवन्न भावं) राग से नाना प्रकार के भाव पैदा होते हैं (रागं संसार सरनि सभावं) राग से संसार का परिभ्रमण बढ़ता है, संसार का महत्व, मान्यता, आकर्षण रहता है (पर्जाव दिट्ठि दिट्ठं) ऐसा रागी प्राणी पर्याय पर ही दृष्टि रखता है, पर्याय दृष्टि को ही देखता है (विमल सहावेन राग संषिपनं) विमल स्वभाव से राग क्षय हो जाता है।

(जन उत्तं उत्त दिट्ठं) जनरंजन राग वाला जीव, लोगों के द्वारा कही बातों को ही कहते हुए देखा जाता है अर्थात् लोक मूढ़ता को फैलाता है (जामन मुंचनं च सरनि संसारे) इससे संसार में परिभ्रमण, जन्म-मरण करता रहता है (मूढ लोय स सहावं) अज्ञानी मूढ़ लोगों का ऐसा ही स्वभाव होता है (न्यान विन्यान राग विलयंति) भेदविज्ञान होने से यह राग भाव विला जाता है।

विशेषार्थ - जनरंजन राग भाव से नाना प्रकार के भाव पैदा होते हैं। इससे संसार का ही महत्व, मान्यता, आकर्षण रहता है, हमेशा पर्याय दृष्टि से ही देखता है। यह जनरंजन राग विमल स्वभाव के लक्ष्य से विला जाता है।

जनरंजन राग वाला जीव, लोगों द्वारा कही बातों, झूठी मिथ्या कल्पनाओं को ही कहता है, लोक मूढ़ता फैलाता है, इससे संसार के जन्म-मरण के चक्र में फंसा रहता है। अज्ञानी मूढ़ लोगों का ऐसा ही स्वभाव होता है, उन्हें हिताहित का ज्ञान नहीं होता। भेदविज्ञान होने से यह राग भाव विला जाता है।

जनरंजन राग भाव वाले प्राणी संसार बढ़ाने वाले भावों में ही रागी बने रहते हैं। वे रात-दिन धन संचय में, परिवार वृद्धि में, प्रतिष्ठा पाने में, यश कमाने में, लोगों को प्रसन्न करने में लगे रहते हैं, वे परिग्रह में अति आसक्त रहते हैं।

धर्म-अधर्म का विवेक न रखते हुए लोक मूढ़ता में फंसे रहते हैं। जो पूर्वज करते आ रहे हैं वे उसे छोड़ते नहीं हैं, यदि कुल में कोई कुदेवादि की भक्ति, पूजा चली आ रही है तो उसे त्यागते नहीं हैं, ऐसी संसारासक्ति का राग अपने विमल स्वभाव के भान, सम्यक्ज्ञान के प्रकाश से दूर हो जाता है।

जगत में यह मूढ़ लोगों की मान्यता होती है कि अमुक कार्य, अमुक देवी-देवता की भक्ति करने से सिद्ध हो जाता है, जनरंजन राग वाला इन्हीं बातों में फंसा रहता है, इन्हीं बातों को कहता है। मरण से भयभीत होकर बहुत सी मूढ़ मान्यतायें किया करता है। धनादि पुत्र परिवार की कामना-वासना से विवेक शून्य होकर संसार में परिभ्रमण करता है। भेदविज्ञान पूर्वक सम्यक्ज्ञान का प्रकाश होने पर इन मिथ्या कल्पनाओं, मूढ़ मान्यताओं का अंत होता है तभी यह राग भाव विलाता है।

जो जीव जगत के चेतन-अचेतन पर पदार्थों में अपनत्व की बुद्धि रखता है, पर पदार्थों को अपना मानता है वह मोह मिथ्यात्व के बंधन में बंधता है।

स्वर्ग लोक में इच्छानुसार भोगों को निरंतर भोग कर भी जो कोई निश्चय से तृप्त नहीं हुआ, वह वर्तमान तुच्छ भोगों में किस तरह तृप्ति कर सकता है? रागी जीव निरंतर नये-नये विकल्प-संकल्प राग भाव करता रहता है, इसी से दुःखी होता जन्म-मरण करता है।

मिथ्या व नाशवंत इस संसार और शरीर के सम्बंध में मिथ्यादृष्टि अनंतानंत भाव किया करता है। इस संसार शरीरादि को ही सत्य जानता है, इससे संसार परिभ्रमण करता है।

अविरत सम्यक्दृष्टि के भीतर शुद्ध आत्म तत्त्व का प्रकाश अनुभव हो जाता है, उसके अंतरंग में शुद्धात्मा झलक जाता है, वह निज शुद्ध स्वभाव को अशुद्ध भावों से भिन्न जानकर सर्व ही अशुद्ध (शुभाशुभ) भावों का त्यागी हो जाता है।

जो यह मानता है कि मैं परजीवों को सुखी-दुःखी करता हूँ वह मूढ़ है, अज्ञानी है। ज्ञानी इससे विपरीत मानता है अर्थात् ज्ञानी जानता है कि लौकिक सुख-दुःख तो जीवों को अपने पुण्य-पाप के अनुसार होते हैं वे तो उनके स्वयं के कर्मों के फल हैं, उनमें किसी दूसरे जीव का रंचमात्र भी कर्तृत्व नहीं है।

जो जीव भयंकर संसार रूपी समुद्र से पार होना चाहते हैं वे जीव कर्मरूपी ईंधन को जलाने वाले अपने शुद्धात्मा का ध्यान करते हैं क्योंकि शुद्धात्मा के ध्यानरूपी अग्नि ही कर्मरूपी ईंधन को जलाने में समर्थ होती है अतः मुमुक्षु का

एक मात्र परम कर्तव्य निज शुद्धात्मा का ध्यान ही है, इसी से सब राग भाव विलाता है।

प्रश्न - यह जनरंजन राग क्या है, इसका स्वरूप बताइये ?

समाधान - पर जीवों की तरफ देखना ही जनरंजन राग है, उनसे अपेक्षा, चाह, लगाव, संबंध, स्वार्थ होना, संसार का अस्तित्व, सत्ता मानना यह सब जनरंजन राग है, जो जीव को भ्रमित भयभीत रखता है। इस राग भाव से ही अनंतानंत कर्मों का बंध होता है, इसके कई भेद हैं।

प्रश्न - इस राग भाव के कुछ भेद बताइये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

१. पाक्षिक राग

पाक्षिक राग स उत्तं, संसारे पक्षि राग सभावं ।

संसार त्रिधि सहियं, दंसन विमलं च राग गलियं च ॥ १०८ ॥

अन्वयार्थ - (पाक्षिक राग स उत्तं) पाक्षिक राग उसे कहते हैं (संसारे पक्षि राग सभावं) जो संसार के पक्ष का रागभाव रखते हैं अर्थात् व्यवहार पक्ष क्रियाकांड पुण्य-पाप को ही धर्म मानते हैं (संसार त्रिधि सहियं) वे संसार को बढ़ाते हैं (दंसन विमलं च राग गलियं च) विमल सम्यक्दर्शन होने से यह राग भाव गल जाता है।

विशेषार्थ - जनरंजन राग का पहला भेद पाक्षिक राग है। पक्ष, सम्प्रदाय एकांत हठ मनमानी को पाक्षिक राग कहते हैं, जो संसार का पक्ष, व्यवहारिक क्रियाकांड पुण्य-पाप को ही धर्म मानते हैं, जिससे संसार को ही बढ़ाते हैं। भेदज्ञान पूर्वक विमल सम्यक्दर्शन होने से यह रागभाव विला जाता है।

अज्ञानी एकांतवाद साम्प्रदायिकता को पकड़कर रखता है, वह बाह्य क्रियाकांड, पूजा पाठ आदि को ही धर्म मानता है। अपने पक्ष का इतना कठोर हठग्राही होता है कि आपस में बैर-विरोध, राग-द्वेष बढ़ाता रहता है। धर्म के नाम पर लड़ाई झगड़े करवाता है। अपने पक्ष के समर्थन में नाना प्रकार की कुटिलता, मनमानी, मायाचारी करता है इससे संसार परिभ्रमण बढ़ता है, अनंत कर्मों का बंध होता है।

जो प्ररूपणा में वीतराग की परंपरा को तोड़ते हैं और विरोध की पुष्टि करते हैं, वे मिथ्यात्व की परंपरा ही प्रसारित करते हैं। बाह्य क्रिया सुधरने से मेरे परिणाम

सुधरेंगे तथा मंद कषाय के परिणाम से धर्म होता है, इस प्रकार के अभिप्राय की गंध भी अंतर में रह जाने का नाम मिथ्या वासना है, ऐसी वासना रखकर बाह्य में पंच महाव्रत पालन तथा दया दानादि की चाहे जितनी क्रिया व मंद कषाय करे तो भी धर्म नहीं होता।

जब निज आत्मा को शुद्ध स्वरूपी जाने, राग-द्वेषादि को दुःखरूप जाने व उन भावों से अपना घात समझे, तब कषाय भावों के अभाव से अपनी दया माने तथा अन्य को दुःख हो ऐसे भाव न होने दे सो पर की दया है, इस प्रकार अहिंसा को धर्म जाने, हिंसा को अधर्म माने व ऐसा श्रद्धान होना ही सम्यक्त्व है। जो अंतर शुद्ध स्वभाव पर दृष्टि पड़ी है वह न तो भव को बिगड़ने देती है और न भव को बढ़ने देती है। अपने विमल स्वभाव धर्म का यथार्थ निर्णय होने से राग भाव गल जाता है।

बाहरी आलंबन को या निमित्त को उपादान मानना मिथ्यात्व है, करोड़ों जन्मों में यदि कोई व्यवहार चारित्र पाले तब भी वह मोक्ष के मार्ग पर नहीं है। शुद्धात्मानुभव के प्रताप से अनादि का मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्वी व संयमी होकर उसी भव से निर्वाण को प्राप्त कर सकता है।

जो जीव संसार के व्यवहार से उदास होकर धर्म की विनय व धर्म के आचार से युक्त होकर आत्मज्ञान की भावना करता है, उसका पाक्षिक राग भाव विला जाता है।

२. शरीर राग

शरीर राग जुत्तं, सहकारं रितियंति अन्यान अन्मोयं।

मिच्छात सल्य सहियं, अनुमोये निगोय वासम्मि ॥ १०९ ॥

अन्वयार्थ - (शरीर राग जुत्तं) शरीर सम्बंधी राग में युक्त होना (सहकारं) सहयोग, सहकार, स्वीकार करना (रितियंति) विषयों की आसक्ति में लवलीन रहना (अन्यान) अज्ञान का (अन्मोयं) आलंबन, अनुमोदना, आश्रय करना (मिच्छात) मिथ्यात्व (सल्य सहियं) शल्य सहित रहना (अनुमोये) शरीर की लीनता, पकड़ (निगोय वासम्मि) निगोद में वास कराती है।

विशेषार्थ - जनरंजन राग का दूसरा भेद शरीर का राग है। शरीर सम्बंधी राग में युक्त होने से, उसका सहयोग करने से विषयों की आसक्ति बढ़ती है। शरीर की तरफ देखना, शरीर को महत्त्व देना यही अज्ञान का आश्रय है, इससे

मिथ्यात्व और शल्य सहित होकर शरीर में लीन रहना, उसकी पकड़ रहने से निगोद में वास करना पड़ता है।

शरीर संबंधी राग उसे कहते हैं जो शरीर को ही देखता है, विषयों में उलझा रहता है। अज्ञान का आलंबन होने से मिथ्यात्व और शल्य सहित निरंतर पराधीन पराश्रित रहता है। स्त्री पुरुषों के शरीरों को ही देखता रहता है, अपने आत्म स्वरूप का बोध नहीं होता, शरीर में ही रंजायमान रहता है। शरीर स्वस्थ बना रहे व खूब विषय भोगों में सहकारी हो ऐसी रुचि से अन्याय, अभक्ष्य, अनीति का सेवन करता है। मिथ्यात्व शल्यों सहित निरंतर चिन्तित भयभीत रहता है, मायाचारी करता है, इससे निगोद में वास करना पड़ता है।

शरीर पुद्गल परमाणुओं का पिंड, अशुचि, मल, मूत्र, मांस, हड्डी का ढांचा है, गलने जलने वाला है, क्षणभंगुर नाशवान है। अज्ञानी जीव मिथ्यात्व सहित उसमें एकत्व मानता है, विषयादि में लिप्त रहता है। शरीर से भिन्न मैं चेतन तत्त्व आत्मा हूँ इसका बोध ही नहीं होता। शरीरों के रूप लावण्य को ही देखा करता है, शरीर में ही रत रहता है।

अंतर शल्य विकल्प पर्यायाश्रित अज्ञान दशा में होते हैं। बाह्य शल्य विकल्प कर्म संयोग उदयानुसार होते हैं। बाह्य शल्य विकल्प छूटने पर निश्चिन्तता होती है। अंतर शल्य विकल्प मिटने पर निर्द्वंदता होती है।

जिसे अपने हित-अहित और भविष्य का ध्यान नहीं होता, वह महामूर्ख अज्ञानी है।

किसी भी विषय की आसक्ति होने तक मन सक्रिय और चंचल रहता है। पांचों इन्द्रियों के विषयों का पूर्ण संयम होने पर ही मन का संयम होता है।

भावों में और क्रिया में यह क्या हो रहा है ? ऐसा होना था, ऐसा न हो जाये ? यह शल्य विकल्प अज्ञानी जीव को होते हैं उनमें यह अच्छा है, यह बुरा है, यह हितकारी है यह अहितकारी है। यह शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य है, ऐसा भेद विकल्प करना ही तद्गुण कर्मबंध का कारण है।

शरीर दृष्टि होने से माया की विशेषता रहती है, कंचन, कामिनी, कीर्ति (दाम, काम, नाम) में ही रत रहता है, इसी से घर, परिवार, समाज, व्यापार का संयोग सम्बंध रहता है, जो पापों में लगाकर निगोद का पात्र बनाती है।

अज्ञानी प्राप्त शुभयोग का सदुपयोग नहीं करता, पुण्य का फल नहीं

भोगता, भविष्य की चाह, तृष्णा, आशा में लगा रहता है।

दाम - दिन में बेकरार बेचैन रखता है। काम - रात में बेकरार बेचैन रखता है। नाम - दिन-रात बेकरार बेचैन रखता है।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मन की तृप्ति चाहता है और वह कभी होती नहीं है इसलिये वह रात-दिन संकल्प-विकल्पों में कुढ़-कुढ़ कर मरता है और निगोद चला जाता है।

जब तक शरीर का राग रहेगा तब तक निराकुल, निर्भय, निश्चिन्त नहीं हो सकते। जब तक राग है, तब तक द्वेष भी रहेगा। यह राग-द्वेष ही कर्म बंध के कारण हैं, जो जीव को संसार में भ्रमाते हैं। भेदज्ञान और वीतराग होने पर ही शरीर राग से छूटा जा सकता है।

३. कुल राग

कुल रागं च उवन्नं, अकुलं सहकार न्यान विरयंमि।

अन्यान विषय त्रिधं, अन्मोयं निगोय वासम्मि ॥ ११० ॥

अन्वयार्थ - (कुल रागं च उवन्नं) जनरंजन राग होने से कुल राग, पितापक्ष - मैं बड़े खानदान का हूँ, यह राग पैदा हो जाता है (अकुलं सहकार) नीच करतूति, कुल के विपरीत आचरण, नीच संगति से (न्यान विरयंमि) ज्ञान बिगड़ जाता है, ज्ञान से भ्रष्ट हो जाता है, बुद्धि नष्ट हो जाती है (अन्यान) अज्ञान से (विषय त्रिधं) विषयों की वृद्धि होती है (अन्मोयं) विषयों में लीन होने से (निगोय वासम्मि) निगोद में वास करना पड़ता है।

विशेषार्थ - जनरंजन राग का तीसरा भेद कुल राग है। पितापक्ष - खानदान का अहं होना कुल राग है। मैं बड़े श्रेष्ठ कुल का हूँ, मेरे पिता, दादा आदि ऐसे थे, इसका घमंड रखते हुए निंद्य आचरण करने से, नीच संगति से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, सब ज्ञान विला जाता है। अज्ञान से विषयों की वृद्धि होती है, व्यसनों में फंसने से निगोद में वास करना पड़ता है।

पितापक्ष, वंश, नाम आदि का अहं कुल राग होता है, अज्ञान जनित संसारी, शरीराश्रित दृष्टि होने से कुल राग विशेष रहता है, जिससे करने न करने योग्य कार्य करता है। अपनी शक्ति, परिस्थिति न होने पर भी खानदान और नाम के लिये कर्ज आदि लेकर फिजूल खर्ची और निंद्य आचरण करता है। विवेकहीन होकर लोगों के कहने में लगकर ऐसे कार्य कर बैठता है जिसके लिये जीवन भर

पछताना पड़ता है।

नीच संगति से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, विषयों और व्यसनों में फंसकर दुर्गति भोगता है। इस उन्मत्त भाव युक्त अहंकार से पर की घृणा से अति नीच गोत्र कर्म बांधकर एकेन्द्रिय निगोद पर्याय में चला जाता है।

जब अंतरंग में ज्ञान और रागादि का भेद करने का तीव्र अभ्यास करने से भेदज्ञान प्रगट होता है, तब यह ज्ञात होता है कि ज्ञान का स्वभाव तो मात्र जानने का ही है। ज्ञान में जो रागादि की कलुषता आकुलता रूप संकल्प-विकल्प भासित होते हैं वे सब पुद्गल विकार हैं, जड़ हैं। इस प्रकार ज्ञान और रागादि के भेद का अनुभव होने पर जनरंजन राग छूटता है तभी शरीर से दृष्टि हटने पर कुल राग छूटता है।

यश प्रतिष्ठादि की कामना, दम्भ, हिंसा, क्रोध, कुटिलता, द्रोह, अपवित्रता, अस्थिरता, इन्द्रियों की लोलुपता, राग, अहंकार, आसक्ति, ममता, विषमता, अश्रद्धा और कुसंग आदि दोष जीवन का पतन करने वाले हैं। इनके रहते हुए साधक को विशुद्ध तत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता।

४. सहकार राग

सहकार राग जुत्तं, अन्यानं सत्य विषय सहकारं।

अन्मोयं अन्यानं, सहकारं संसार भावना हुंति ॥ १११ ॥

अन्वयार्थ - (सहकार राग जुत्तं) संगति का भी राग होता है, संयोग के राग में लगने से (अन्यानं सत्य विषय सहकारं) अज्ञान शल्य और विषयों में सहकार हो जाता है (अन्मोयं अन्यानं) अज्ञान में लगने, अज्ञान का आलंबन लेने, रत होने से (सहकारं) उसी का सहयोग, सहकार, संगत करने से (संसार भावना हुंति) संसार की भावना होती है, जनरंजन राग बढ़ता है।

विशेषार्थ - जनरंजन राग का चौथा भेद सहकार राग, संगति का राग होना है। संगति संयोग से अज्ञान, शल्य, विषयों में सहकार हो जाता है। अज्ञान का आलंबन होने, सहकार करने से संसार की भावना होती है।

जनरंजन राग के कारण जीव कुसंगति में फंस जाते हैं। अज्ञान से मिथ्या देवादि को मानते हैं, मायाचार करते हैं, विषयों की वांछा से शल्यों में रत रहते हैं। लोगों की संगति में पड़कर उनके अज्ञानमयी कार्यों की अनुमोदना करते हैं, स्वयं भी उनमें फंस जाते हैं। ऐसे प्राणी रात-दिन उन्हीं संसार वर्द्धक कार्यों के

करने की भावना किया करते हैं, उनको मोक्षमार्ग की कभी भावना नहीं होती है, वे संसार में ही भ्रमण करते हैं।

संसार की तरफ दृष्टि होने से नाशवान पदार्थों में राग हो जाता है, राग से प्राप्त वस्तु में ममता और अप्राप्त की कामना उत्पन्न होती है, राग वाले प्रिय पदार्थों की प्राप्ति होने पर लोभ प्रवृद्ध होता है; परंतु उनकी प्राप्ति में बाधा पहुँचाने पर, बाधा पहुँचाने वाले पर क्रोध होता है। यदि बाधा पहुँचाने वाला सबल हो तो भय होता है। इस प्रकार नाशवान पदार्थों, संयोगों में राग होने से भय, क्रोध, लोभ, ममता, कामना आदि सभी दोषों की उत्पत्ति होती है। इन सबका जो मूल है ऐसे राग के मिट जाने पर यह सभी दोष मिट जाते हैं।

शरीरादि वस्तुएं जन्म से पहले भी हमारे साथ नहीं थी और मरने के बाद भी नहीं रहेंगी तथा इस समय भी उनका प्रतिक्षण हमसे संबंध विच्छेद हो रहा है। इन प्राप्त हुई वस्तुओं का सदुपयोग करने का ही अधिकार है, अपनी मानने का अधिकार नहीं है। इन्हें अपनी और अपने लिये मानना ही बंधन है।

राग, भय, क्रोध आदि दोषों के कारण संसार का संबंध पुष्ट होता है अतएव इन दोषों को मिटाने के लिये संसार के साथ न तो राग करना है और न द्वेष ही करना है। पूर्व कर्म बंधोदय से स्वयं कुछ नहीं लेना है, उनके फल की आकांक्षा या स्पृहा भी नहीं करनी है यही जीवन का परम और चरम लक्ष्य है।

५. परिणाम राग

परिणाम राग सहियं, परिणइ परिणवई मिच्छ अन्यानं।

पर पज्जावं पिच्छदि, परिणाम राग नरय वासम्मि ॥ ११२ ॥

अन्वयार्थ - (परिणाम राग सहियं) राग सहित परिणाम उसे कहते हैं (परिणइ परिणवई मिच्छ अन्यानं) जो आप मिथ्यात्व अज्ञान रूप परिणामे और दूसरों को भी मिथ्यात्व अज्ञान रूप परिणामावे (पर पज्जावं पिच्छदि) जो पर पर्याय की ओर ही दृष्टि रखता है, पर को ही देखने जानने में लगा रहता है (परिणाम राग नरय वासम्मि) ऐसे राग परिणाम वाला जीव नरक में वास करता है।

विशेषार्थ - जनरंजन राग का पांचवां भेद परिणाम राग है, कर्तापने के भाव को परिणाम राग कहते हैं। संसार में जिसका परिणाम अत्यंत आसक्त है, वह आप भी धन पुत्र आदि लौकिक कार्यों की सिद्धि की कामना से मिथ्या देव गुरु

धर्म को मानता है व अज्ञान से न करने योग्य कार्य करता है तथा दूसरों को भी ऐसा ही उपदेश देकर उन्हीं कार्यों में लगाता है। वह प्राप्त शरीर में अतिरागी रहता है। शरीर के संबंधी स्त्री पुत्रादि के साथ तीव्र मोह रखता है। बहु आरंभ परिग्रहवान रहता है, अन्याय के कार्यों से उसको ग्लानि नहीं होती है। दूसरों को ठग करके अनेक कष्ट देकर भी अपना मतलब निकालना चाहता है। तीव्र खोटी लेश्या से वह प्राणी नरक आयु बांधकर नरक चला जाता है।

जो धर्म दूसरे के धर्म में बाधा पहुंचाये वह धर्म नहीं अधर्म है। वही धर्म सच्चा है जो मनुष्य का निर्माण करता है, उसका जीवन बनाता है।

मनुष्य बुरे मार्ग पर आगे बढ़ता है तो उसे कुछ समय सुख भी मिलता है, जीत भी मिलती है, लेकिन अंत में सब समूल नष्ट हो जाता है।

मनुष्य को जैसे बिन चाहे दुःख आते हैं, वैसे ही बिन मांगे सुख भी आते हैं, सुख-दुःख भाग्याधीन हैं। अज्ञानी स्वयं के दुःख-सुख व अन्य के सुख-दुःख का कर्ता बनता है। मोह के सद्भाव में भय चिंता घबराहट शंका-कुशंका होती है। द्वेष के सद्भाव में कठोरता, क्रोध, तनाव बना रहता है। राग के सद्भाव में संकल्प-विकल्प और अशांति रहती है। अज्ञानी मिथ्यात्व सहित इन्हीं में फंसा नरक में चला जाता है।

बुढ़ापा रूप का दुश्मन है, उत्कट आशा से धैर्य नष्ट होता है, मृत्यु प्राणों की ग्राहक है। निर्लज्ज को धर्म की चिंता नहीं रहती, क्रोध श्री हीन कर देता है। नीच की सेवा से शील नष्ट हो जाता है, कामुकता लज्जा की दुश्मन है और कर्तापन का अभिमान सभी गुणों को नष्ट कर देता है।

जिसे अपने स्वरूप का अनुभव हो गया है, वही वास्तव में बुद्धिमान पुरुष है क्योंकि वह संपूर्ण कर्तव्य कर्म करते हुए भी उनसे बंधता नहीं है।

भाव के अनुसार ही कर्म की संज्ञा होती है, भाव बदलने पर कर्म की संज्ञा भी बदल जाती है। कर्म बंधन से छूटने का उपाय समता ही है।

पदार्थ और क्रिया रूप संसार से अपना सम्बंध मानने के कारण मनुष्य मात्र में पदार्थ पाने और कर्म करने का राग रहता है कि मुझे कुछ न कुछ मिलता रहे और मैं कुछ न कुछ करता रहूँ, इसी को पाने की कामना तथा करने का राग कहते हैं। इसमें फंसा अज्ञानी जीव संसार में परिभ्रमण करता है।

फल की चाह, कर्म का फल भोगने की कामना, कर्ता, भोक्तापन का परिणाम संसार में डुबाने वाला है। पर और पर्याय की दृष्टि, उसको मान्यता

महत्व देना ही अज्ञान मिथ्यात्व है जिससे नरकादि दुर्गतियों में जाना पड़ता है। धर्म का पथ वास्तव में स्वरूप साक्षात्कार के लिये है और आर्थिक उन्नति पुण्य के उदय की उपयोगिता बस इतनी ही है कि इसके लिये देह और मन पूर्ण स्वस्थ हो, मानव जीवन सच्चा ज्ञान पाने के लिये है। यह जीवन श्रम करने अथवा इंद्रिय तृप्ति या अविद्या का सेवन करने के लिये नहीं मिला, इसे जो व्यर्थ गंवाता है वह नरकादि दुर्गति में जाता है।

६. राग का राग (काम भाव)

रागस्य राग जुत्तं, विकहा विसनस्य अबंभ रूवेन।

धम्मं च अधम्म उत्तं, उत्तं रागं च दुग्गए पत्तं ॥ ११३ ॥

अन्वयार्थ - (रागस्य राग जुत्तं) राग के राग में युक्त होने पर (विकहा) विकथा-राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा, भोजनकथा आदि व्यर्थ चर्चा (विसनस्य) व्यसनो का - जुआं खेलना, मांस भक्षण, शराब पीना, शिकार खेलना, चोरी करना, वेश्या सेवन तथा परस्त्री सेवन का राग होता है (अबंभ रूवेन) अब्रह्म, कुशील सेवन- कामभाव को ही हितकारी मानता है (धम्मं च अधम्म उत्तं) धर्म को अधर्म कहता है, इष्ट-अनिष्ट का कोई विवेक नहीं रहता (उत्तं रागं च दुग्गए पत्तं) ऐसा राग दुर्गति में ले जाता है।

विशेषार्थ - जनरंजन राग का छठवां भेद राग का राग, कामभाव है। इसमें युक्त होने पर चार विकथा और सात व्यसनो में ही रत रहता है, धर्म-अधर्म का कोई विवेक नहीं रहता, धर्म को अधर्म कहता है, सब क्रिया कर्म व्यर्थ बताता है। काम भाव की आसक्ति और विषयों के तीव्र राग से दुर्गति में चला जाता है।

अब्रह्म दस प्रकार का होता है -

१. स्त्री सम्बंधी विषयों की अभिलाषा। २. स्पर्शन इन्द्रिय में विकार होना। ३. वीर्य वृद्धि कारक आहार और रस का सेवन करना। ४. स्त्री से संसक्त शय्या आदि का सेवन करना। ५. गुप्तांग को ताकना। ६. अनुराग वश उनका सम्मान करना। ७. वस्त्रादि से सजाना। ८. अतीत काल में की गई रति का स्मरण करना। ९. आगामी रति की अभिलाषा। १०. इष्ट विषयों का सेवन।

संज्ञा चार होती हैं - १. आहार, २. भय, ३. मैथुन, ४. परिग्रह। जिनसे पीड़ित होना तथा सेवन करने पर भी पीड़ित दुःखी रहना संज्ञा कहलाती है।

काम संकल्प से पैदा होता है, राग-द्वेष और चिंता तथा निद्रा का अभाव उसका परिणाम है, इसमें लोक लाज, लोक भय नहीं रहते। इसके अर्थात् काम के दश वेग हैं - १. शोक, २. देखने की इच्छा, ३. दीर्घ उच्छ्वास, ४. ज्वर, ५. शरीर में दाह, ६. भोजन में अरुचि, ७. मूर्च्छा, ८. उन्माद, ९. मोह, १०. मरण।

रागी पर के पीछे दीवाना होता है, विरागी स्व के पीछे दीवाना होता है।

स्त्री की गंध मात्र भी, उसका देखना, स्पर्शन और वचन मात्र ही मुनि की सानंद वीतराग चित्तवृत्ति को तत्काल नष्ट कर देता है।

स्त्री अग्नि है, पुरुष घृत, पारा के सदृश है। अग्नि के संयोग से घृत पिघलता है, जलता है और पारा उड़ जाता है।

स्त्री की दृष्टि, दृष्टि विष सर्प की तरह होती है और उसका नाम स्मरण भूत की तरह भयानक होता है।

आंख, कान, जिह्वा तथा मन पर नियंत्रण किये बिना ब्रह्मचर्य का पालन नहीं हो सकता। इन्द्रियों में रसना, कर्मा में मोहनीय कर्म, व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत और गुप्तियों में मनोगुप्ति, यह चार बड़ी साधना और अभ्यास से वश में होते हैं।

अध्यात्म तत्त्व का उपदेश सुने बिना न अपनी आत्मा का बोध होता है और न श्रद्धा होती है। श्रद्धा के पश्चात् ही आत्मा के प्रति रुचि बढ़ती है तभी अब्रह्म रागभाव से छुटकारा होता है।

ब्रह्म अर्थात् अपनी शुद्ध बुद्ध आत्मा में चर्या अर्थात् शरीर आदि परद्रव्य का त्याग कर अपने ब्रह्म स्वरूप में लीन रहना ब्रह्मचर्य है।

संसार में स्त्री और धन का राग बड़ा प्रबल है। स्त्री के त्यागी भी धन के राग से नहीं बच पाते। इस धन की तृष्णा के चक्र में पड़कर मनुष्य धर्म कर्म भी भुला बैठता है। यह कंचन, कामिनी, कीर्ति का राग ही दुर्गति में ले जाता है।

७. अनुमोदना राग

अन्मोय राग उत्तं, अन्यानं अन्मोय सल्य अन्मोयं।

विषयं च अगुरु वयनं, आलापं अन्मोय निगोय वीयम्मि ॥ ११४ ॥

अन्वयार्थ - (अन्मोय राग उत्तं) एक अनुमोदना का राग कहा गया है, संसारी जीवों की हाँ में हाँ मिलाना, पराश्रितपना, पराधीन रहना (अन्यानं अन्मोय) अज्ञान की अनुमोदना करना, आलम्बन, आश्रय रखना (सल्य अन्मोयं) शल्यों में लगे रहना (विषयं) विषयों में रत रहना (च) और (अगुरु वयनं) अगुरुओं के

वचनों को मानना (आलाप अन्मोय) व्यर्थ चर्चा, संसारी बकवाद में लगे रहना (निगोय वीयम्भि) यह सब निगोद का बीज बोना है।

विशेषार्थ - जनरंजन राग का सातवां भेद अनुमोदना राग है। संसारी जीवों की हां में हां मिलाना, उनके उचित-अनुचित कार्यों की अनुमोदना प्रशंसा, प्रभावना करना ही अनुमोदना राग है, इससे तीव्र कर्मों का बंध होता है, जो निगोद का पात्र बनाता है। पर का आलंबन, पराश्रित पराधीन बनाता है। पराश्रितपने में अज्ञान रहता है क्योंकि अपने सत्स्वरूप का ज्ञान न होने से ही पराश्रयपना होता है। इसी अज्ञान से शल्य सहित रहता है, हमेशा भयभीत, भ्रमित चिंतित दुःखी रहता है। इसी से विषयों में रत रहता है और अगुरु संसारी जीव - माता, पिता, पत्नि, मित्र, बंधु, विद्यागुरु आदि की बातों में लगा रहता है, उन्हीं की चर्चा, वार्ता करता है, उनकी ही अनुमोदना करता है। ऐसे अनुमोदना राग से पाप कर्मों का बंधकर निगोद का बीज बोता है।

जनरंजन राग के कारण जीव करने, न करने योग्य कार्यों को करता है तथा संसारी जीव जिन पाप विषय कषाय आदि में रत रहते हुए अधर्म का सेवन, मिथ्यात्व का पालन करते हैं, अज्ञानी जीव उनकी अनुमोदना करता है, उनका सहयोग समर्थन करता है। अगुरुओं की बातों में लगा रहता है। अपने हित-अहित का कोई विवेक नहीं रखता, पराधीन पराश्रित रहता है जिससे अशुभ कर्मों का बंध करके निगोद का बीज बोता है।

मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है, अज्ञानी जीव मिथ्यात्व में रत रहता है, भले ही जीव तथा राग भिन्न रहकर एक क्षेत्र में रहें तो भी दोनों कभी भी न तो एकरूप हुए और न ही हो सकते हैं। जिसे दुःख का पंथ छोड़ना हो, संसार परिभ्रमण से छूटना हो तो पुण्य-पाप रागादि भाव दुःख रूप हैं और मेरा स्वरूप आनंदमय है, ऐसे भेदज्ञान पूर्वक सब शुभ-अशुभ राग से हटकर अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा का आश्रय करना होगा, तभी यह पराश्रय पराधीनता छूटती है।

शरीर-शरीर का और आत्मा-आत्मा का कार्य करता है, दोनों भिन्न-भिन्न स्वतंत्र हैं। शरीर का परिणमन जिस समय, जिस प्रकार से जैसा होने वाला होता है वह उसके स्वयं से ही होता है, इसमें जीव के हाथ की बात कहाँ है? आत्मा में ही राग और ज्ञान के परिणाम होते हैं वे आत्मा स्वयं करता है। जब अपना-अपना कार्य करने में दोनों पदार्थ स्वतंत्र हैं तब बाहर के कार्य कितने सिद्ध किये, इतने कार्य किये और इतने बाकी हैं, ऐसी बात को स्थान ही

कहाँ है? अज्ञानी इन्हीं शल्य विकल्पों में लगा रहता है। अगुरुओं की बातों में लगकर निगोद का पात्र बनता है।

इस अज्ञानमयी पराधीनता से छूटने के लिये स्वाध्याय, सत्संग द्वारा तत्त्व का निर्णय करना तथा शरीरादि और राग से भिन्न आत्म स्वरूप का भेदज्ञान का अभ्यास करना। रागादि से भिन्नता का अभ्यास करते-करते आत्मानुभव होता है। आत्मानुभव होने पर पराधीनपना जनरंजन राग विलाता है।

शुभाशुभ भाव और शरीरादि संयोग से भिन्न मैं चैतन्य तत्त्व भगवान् आत्मा हूँ, ज्ञायक स्वभावी हूँ, ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा हूँ, यह प्रत्येक प्रसंग में याद रखना। भेदज्ञान का अभ्यास करना ही मनुष्य जीवन की सार्थकता है। अनादि अनंत ऐसा जो एक निज शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, उसके स्व सन्मुख होकर आराधन करना वही परमात्मा होने का सच्चा उपाय है।

अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है। अधूरे ज्ञान को पूरा ज्ञान मान लेना ही अज्ञान है। परमात्म तत्त्व ज्ञान स्वभावी होने से जीव में ज्ञान का सर्वथा अभाव हो ही नहीं सकता। केवल असत् क्षणभंगुर नाशवान् पर्याय को असत् जानकर भी असत् से विमुख नहीं होता, यही उसका अज्ञान है यदि उस ज्ञान के अनुसार वह अपना जीवन बना ले तो अज्ञान सर्वथा मिट जायेगा।

उद्देश्य और रुचि की भिन्नता साधक को अस्थिर रखती है।

८. प्रकृति राग

प्रकृति राग सहियं, न्यानं विन्यान अन्मोय पर पिच्छं।

बहिर सुभाव न मुक्कं, प्रकृति रागं च नरय वीयम्भि ॥ ११५ ॥

अन्वयार्थ - (प्रकृति राग सहियं) प्रकृति, आदत, संस्कार, स्वभाव एकार्थवाची हैं इनके राग सहित होना, कर्म प्रकृतियों में जुड़े रहना, उन्हें महत्व देना (न्यानं विन्यान अन्मोय) ज्ञान विज्ञान, भेदज्ञान की अनुमोदना करना, आलंबन रखना (पर पिच्छं) परंतु पर को ही पहिचानना, पर का ही महत्व मानना, अपने सत्स्वरूप को न जानना (बहिर सुभाव न मुक्कं) बहिरात्मपने के भाव को नहीं छोड़ता है (प्रकृति रागं च नरय वीयम्भि) ऐसे प्रकृति राग से नरक का बीज बोता है।

विशेषार्थ - जनरंजन राग का आठवां भेद प्रकृतिराग है। प्रकृति-आदत, स्वभाव, संस्कार को भी कहते हैं और द्रव्य कर्म की १४८ कर्म प्रकृति होती हैं।

इन कर्म प्रकृतियों को विशेष महत्व देना, इनकी सत्ता मानना, अपने स्वरूप का बोध बहुमान नहीं होना। ज्ञान विज्ञान भेदज्ञान की बातें करना परंतु पर को ही जानना, पहिचानना, उसकी ही सत्ता, अस्तित्व मानना, अपने स्वरूप की सत्ता का बोध न होना, बहिरात्म स्वभाव से मुक्त न होना। कर्म प्रकृति की सत्ता को विशेष महत्व देना, अपनी आदत से मजबूर होना, अपने संस्कार नहीं बदलना, नहीं तोड़ना और पर की आलोचना निन्दा बुराई करना, स्वयं को नहीं देखना, इस प्रकार पर दृष्टि से नरक का बीज बोता है। जनरंजन राग में ऐसा राग भाव होता है कि जिससे वे दूसरों की महिमा गाया करते हैं, दूसरों की प्रसिद्धि करते हैं, कर्म प्रकृति को बड़ा मानते हैं, बड़े ज्ञानी विद्वान हैं परंतु परभाव में अनुरक्त रहते हैं। लौकिक भाव और जड़ पुद्गल की सत्ता को महत्व देते हैं। अपने आत्म स्वरूप का बोध, स्वयं की सत्ता शक्ति को नहीं जानते-मानते, बहिरात्म भाव में लगे रहते हैं। वे शरीर में व शरीर की क्रिया में ही रागी रहते हैं, उनको आत्मा की बात नहीं सुहाती। जड़ के अस्तित्व सत्ता को मानने वाले नरक जाने का बीज बोते हैं, ऐसे जीव के इस प्रकार के परिणाम होते हैं-

१. तीव्र मोह के उदय से होने वाली आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा।
२. तीव्र कषाय के उदय में रंगी हुई मन वचन काय की प्रवृत्ति रूप कृष्ण नील कापोत, यह तीन लेश्यायें।
३. राग-द्वेष के उदय के प्रकर्ष से तथा इन्द्रियों की आधीनता रूप राग-द्वेष के उद्रेक से - प्रिय संयोग, अप्रिय का वियोग, कष्ट से मुक्ति और आगामी भोगों की इच्छा रूप आर्तध्यान।
४. कषाय से चित्त के क्रूर होने से हिंसा, असत्य, चोरी और विषय संरक्षण में आनंद मानने रूप रौद्र ध्यान।

५. शुभ कर्म को छोड़कर दुष्ट कर्मों में लगा हुआ ज्ञान। दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय के उदय से होने वाला अविवेक रूप मोह यह सब नरक आयु के बंध के कारण हैं, इनसे जीव नरक में जाता है।

अचानक उपस्थित होने वाला इष्ट या अनिष्ट दैवकृत भाग्याधीन है, उसमें बुद्धि पूर्वक व्यापार की अपेक्षा नहीं है और प्रयत्न पूर्वक होने वाला इष्ट या अनिष्ट अपने पौरुष का फल है क्योंकि उसमें बुद्धि पूर्वक व्यापार की अपेक्षा है।

कर्म प्रकृति और आत्मा दोनों को ही अनादि जानों, अनादि से दोनों का संयोग है। जब तक जीव की दृष्टि कर्म प्रकृति की ओर रहती है एवं प्रकृति के साथ उसकी मानी हुई एकता रहती है तब तक वह परमात्म

स्वरूप होते हुए भी बहिरात्मा कहा जाता है।

जिसका कोई आदि अर्थात् कारण न हो वह अनादि कहा जाता है। कर्म प्रकृति और जीव आत्मा दोनों अनादि से समान, एक क्षेत्रावगाह हैं किंतु जीव कर्म प्रकृति से विलक्षण है। आत्मा अविकारी अविनाशी परमात्मा है किंतु कर्म प्रकृति को शास्त्रों में जड़ और विकारों से युक्त परिवर्तनशील नाशवान कहा है।

साधक को ऐसा स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि संपूर्ण विकार क्रियायें और पदार्थादि प्रकृति सम्भूत हैं तथा मन, बुद्धि, इन्द्रियां आदि भी कर्म प्रकृति जन्य हैं अतः इनके द्वारा जो चेष्टायें हो रही हैं वे न तो मुझमें हैं, न मेरी हैं और न मेरे लिये हैं। जिस शरीर के साथ सम्बंध माना हुआ है उसी में संपूर्ण चेष्टायें हो रही हैं। वस्तुतः आत्मस्वरूप में कोई चेष्टायें हैं ही नहीं।

क्रिया मात्र पुद्गल कर्म प्रकृति में हो रही है, जैसे- शरीर का बढ़ना, श्वास का आना-जाना, भोजन का पचना आदि क्रियायें स्वतः प्रकृति में हो रही हैं किंतु मन बुद्धि पूर्वक होने वाली कुछ क्रियाओं, खाना-पीना, चलना-फिरना, उठना-बैठना, बोलना आदि को साधारण मनुष्य अपने द्वारा की हुई मानता है, यहाँ यह मंतव्य है कि वास्तव में संपूर्ण क्रियायें जड़ प्रकृति में हो रही हैं, उनमें से कुछ क्रियाओं के साथ अपना संबंध मानना भूल है। जीव वास्तव में स्वयं कर्ता न होते हुए भी अपने को कर्ता मान लेता है, ऐसे माने हुए कर्ता को मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा कहा है। ऐसा दुर्बुद्धि जीव कर्म प्रकृति की विशेषता, महत्व मानता है, स्वयं के स्वरूप का बोध नहीं करता, इससे नरक का बीज बोता है। यह नियम है कि कर्म प्रकृति के जिस कार्य या दृश्य वर्ग (मन के शुभाशुभ भावों) में राग होता है, उसके विपरीत या विरोधी पदार्थों से द्वेष उत्पन्न हो जाता है। वैसे ही स्वयं चिन्मय चैतन्य स्वरूप होने से जितने अंश में आत्मा का संसार में राग होता है, उतने ही अंश में वह अपने चिन्मय स्वरूप से विमुख हो जाता है; अतः द्वेष के सर्वथा अभाव के लिये संसार में कहीं भी राग नहीं करना चाहिये। द्वेष के स्थूल रूप बैर, ईर्ष्या, घृणा, क्रोध एवं हिंसा आदि हैं जिससे नरक का बीजारोपण होता है।

९. अभ्यास राग

अवयास राग जुत्तं, अवयासं न्यान विन्यान पर पिच्छं।

पर पुग्गल सहकारं, अवयास राग दुग्गए पत्तं ॥ ११६ ॥

अन्वयार्थ - (अवयास राग जुत्तं) अभ्यास, साधना का राग होता है

(अवयासं न्यान विन्यान) अनेक शास्त्रों का ज्ञान करने का अभ्यास करता है (पर पिच्छं) पर को जानने, पर को बताने के लिये (पर पुगल सहकारं) पर वस्तु, पुद्गल का सहकार करता है अर्थात् शारीरिक क्रिया संयम तप आदि तथा पर वस्तु के त्याग का अभ्यास, साधना करता है (अवयास राग) ऐसे अभ्यास का राग (दुग्गए पत्तं) दुर्गति का पात्र बनाता है।

विशेषार्थ - जनरंजन राग का नौवां भेद अभ्यास राग है। साधना, अभ्यास करने का राग, पर को जानने, पर को बताने के लिये भेदज्ञान आदि अनेक शास्त्रों का ज्ञान करना तथा शारीरिक क्रिया संयम तप आदि एवं पर वस्तु के त्याग को मुक्ति मार्ग मानकर उसी में लगे रहना, इससे अपने को ज्ञानी साधक मानना, दूसरे लोगों से प्रशंसा प्रभावना चाहना, इसी राग भाव में लगे रहना दुर्गति का पात्र बनाता है।

पर पदार्थ संबंधी ज्ञान विज्ञान जिसको होता है, वह उसका बहुत राग रखता है, हमेशा शास्त्रों का अध्ययन करने में लगा रहता है। अपने को बड़ा ज्ञानी विद्वान समझता है। लोगों को अनेक शास्त्रों के विषय में बताता है, भेदज्ञान की बात करता है, स्वयं आत्मज्ञान से शून्य रहता है। शारीरिक क्रिया करते हुए अपने को साधक त्यागी व्रती साधु मानता है, इसी की साधना अभ्यास में लगा रहता है, अपने को मुक्तिमार्ग का पथिक मानता है। दूसरों से प्रभावना प्रसिद्धि कराता है, पैर पुजवाता है, ऐसे साधना का रागी जीव दुर्गति को प्राप्त करता है।

अपने दोष मिटाना हो, मुक्त होना हो तो एक ही उद्देश्य हो- तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति करना। पर अपेक्षा ज्ञान और शारीरिक क्रिया का अहंकार इसमें प्रधान बाधा है। साधक लोग प्रायः बुद्धि से जानने वाले पदार्थ, शरीर आदि को बुद्धि द्वारा पृथक् समझकर तथा बुद्धि के द्वारा दार्शनिक विषयों को लिखकर अथवा सीखकर उसे ज्ञान की संज्ञा देते हैं और अपने आपको ज्ञानी मान लेते हैं वह बहुत बड़ी भूल है।

साधक को चाहिये कि वह अपनी परिवर्तनशील दशा में अपनी स्थिति न माने और न देखे, अपने स्वरूप को ही देखे, स्वरूप तक कभी सृष्टि पहुँच नहीं सकती। वर्तमान स्थिति से लेकर निर्विकल्प स्थिति तक दशा अर्थात् अवस्था (पर्याय) है जो कि परिवर्तनशील है। स्वरूप, अवस्था नहीं है अपितु वह अवस्थातीत और अवस्था का प्रकाशक है।

राग और द्वेष से की गई प्रवृत्ति और निवृत्ति से जीव को बंध होता है और

तत्त्वज्ञान पूर्वक की गई उसी प्रवृत्ति और निवृत्ति से मोक्ष होता है।

जो जीव निश्चयनय के स्वरूप को तो जानता नहीं और केवल व्यवहार मात्र बाह्य परिग्रहादि का त्याग करता है, उपवासादि को अंगीकार करता है, इस प्रकार बाह्य वस्तु में हेय उपादेय बुद्धि से प्रवर्तन करता है वह जीव अपने स्वरूप अनुभव रूप शुद्धोपयोगमय धर्म का नाश करता है।

प्रश्न - इस जनरंजन राग भाव से क्या होता है ?

समाधान - यह जनरंजन राग भाव संसार में परिभ्रमण कराता है, जनरंजन राग से पर की सत्ता मानना, पर में उलझे रहना, अपने हिताहित का कोई विवेक न होना, आत्म कल्याण करने मुक्त होने के लिये जो मौका मिला है इसका अज्ञानता से दुरुपयोग कर संसारी जीवों के चक्कर में लगा रहता है।

प्रश्न - क्या कारण है जो जीव राग भाव में फंसा रहता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

जिन उत्तं नहु दिट्ठं, जन उत्तं जन रंजनस्य सभावं ।

न्यान विन्यान न रुचियं, अन्यानं अन्मोय न्यान विरयंमि ॥ ११७ ॥

राग सहाव न गलियं, नहु गलियं मिच्छ विषय सल्यं च ।

जिन उत्त ससंकं निसंकं, अगुरु अजिन सरनि संसारे ॥ ११८ ॥

अन्वयार्थ - (जिन उत्तं नहु दिट्ठं) जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए तत्त्वों पर दृष्टि नहीं देते हैं (जन उत्तं जन रंजनस्य सभावं) लोगों के, संसारी जीवों के कहे अनुसार जिनसे जनता रंजायमान हो, ऐसे भावों में लगे रहते हैं (न्यान विन्यान न रुचियं) उनको आत्मज्ञान व भेदज्ञान नहीं रुचता है (अन्यानं अन्मोय) वे अज्ञान की अनुमोदना करते हैं, आलंबन रखते हैं और (न्यान विरयंमि) ज्ञान से विरक्त रहते हैं।

(राग सहाव न गलियं) जिसका सांसारिक राग का स्वभाव नहीं गला है (नहु गलियं मिच्छ विषय सल्यं च) न उसका मिथ्यात्व गला है, न विषय वासना गली है और न शल्यें मिटी हैं (जिन उत्त ससंकं) वह जिनेन्द्र कथित उपदेश में तो शंका रखता है, श्रद्धान नहीं लाता है (निसंकं अगुरु अजिन) और निःशंक होकर अगुरु, अदेव के वचनों को मानता है (सरनि संसारे) इससे संसार में ही परिभ्रमण करता है।

विशेषार्थ - जो जीव जिनेन्द्र परमात्मा के कहे हुए तत्त्वों पर दृष्टि नहीं

देते, लोगों की कही सुनी हुई बातों को मानते हैं व ऐसे कार्य करते हैं जिनसे लोग प्रसन्न रहें, उनको हित-अहित, कर्तव्य-अकर्तव्य का, भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक नहीं होता है। उनको आत्मा और अनात्मा के भेदज्ञान की चर्चा नहीं सुहाती है, न उनका लक्ष्य कभी अपने आत्म स्वरूप पर जाता है। वे बहिरात्मा होते हुए मिथ्याज्ञान की तो सराहना करते हैं परंतु सम्यक्ज्ञान से बिल्कुल विरक्त रहते हैं।

उनका संसार संबंधी राग नहीं मिटता है, मिथ्या श्रद्धान भी नहीं गलता है और विषय भी नहीं छूटते हैं तथा शल्यें भी नहीं मिटती हैं, उनको जिनेन्द्र कथित तत्त्वों में शंका रहती है, उन पर श्रद्धान नहीं लाता है परंतु संसारी कामना वासना हेतु विषयादि पदार्थ मिल जायेंगे, इस लोभ के वशीभूत होकर रागी-द्वेषी कुदेवादि और परिग्रह धारी बाहरी चमत्कार दिखाने वाले मंत्र-तंत्र करने वाले कुगुरुओं को मानता है, उनके वचनों में गाढ़ श्रद्धान रखता है, इस तरह मिथ्यादृष्टि जीव अपना संसार परिभ्रमण बढ़ाता रहता है। उसे शुद्ध आत्म तत्त्व का श्रद्धान नहीं होता है।

सांसारिक मान बढ़ाई, राज्य वैभव आदि कितने ही क्यों न मिल जायें पर उनसे कभी तृप्ति नहीं होती क्योंकि सांसारिक इच्छा का विषय असत् और अनित्य है। इसके विपरीत शुद्धात्म तत्त्व के अनुभव की अभिलाषा सदा पूर्ण ही होती है, क्योंकि शुद्धात्म तत्त्व सत्य और नित्य है।

सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति में सब जीव परतंत्र हैं और किन्हीं दो व्यक्तियों को भी उनकी एक समान प्राप्ति नहीं होती। प्रारब्ध, कर्म की प्रधानता और योग्यता के अनुसार ही वस्तुएं प्राप्त होती हैं। निज शुद्धात्म तत्त्व की अनुभूति, प्राप्ति भेदज्ञान करने में सब जीव स्वतंत्र हैं। योग्य-अयोग्य सब इसके अधिकारी हैं और सबको परमात्म पद की समान प्राप्ति होती है अतः सांसारिक पदार्थों की इच्छा करना महान प्रमाद अज्ञान है, जिसका त्याग करना साधकों के लिये आवश्यक है। भेदज्ञान पूर्वक सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान होने पर ही राग भाव विलाता है, इसी बात को और स्पष्ट करते हुए आगे गाथा कहते हैं -

जिन उत्त भाव नहु लष्यं, जन उत्त भाव अन्मोय संजुतं।

जनरंजन राग सहावं, रागं अन्मोय सरनि भावना हुंति ॥ ११९ ॥

अन्वयार्थ - (जिन उत्त भाव नहु लष्यं) जिनेन्द्र कथित भाव भासना पर

रागी लक्ष्य नहीं देता (जन उत्त भाव अन्मोय संजुतं) परंतु संसारी अज्ञानी लोगों के कहे हुए पदार्थों व भावों की अनुमोदना करता है (जनरंजन राग सहावं) उसका ऐसा राग स्वभाव बन जाता है कि वह लोगों को ही रंजायमान प्रसन्न करता रहता है (रागं अन्मोय) इस जनरंजन राग में लगे रहने, इसकी ही अनुमोदना करने, आश्रय रखने से (सरनि भावना हुंति) संसार परिभ्रमण की ही भावना होती है।

विशेषार्थ - जनरंजन राग वाला जीव ऐसा विषय कषायों में फंसा रहता है कि उसको वीतराग विज्ञानमय जिनधर्म का मार्ग नहीं सुहाता है, वह जिनेन्द्र के कहे हुए तत्त्व निर्णय, वस्तु स्वरूप पर लक्ष्य नहीं देता, आत्मा की ओर उसका लक्ष्य ही नहीं जाता है परंतु जिनसे धनादि की प्राप्ति हो, विषय भोग के पदार्थ मिल सकें ऐसे राग वर्द्धक, संसार वर्द्धक उपदेश पर लक्ष्य देकर उनकी प्रशंसा करता है। उसका स्वभाव (आदत) ऐसा रागी हो जाता है कि वह जगत के लोगों को ही प्रसन्न रखना चाहता है। वह संसारासक्त आशा तृष्णा के भावों में लगा हुआ संसार परिभ्रमण करता है।

जिसे भवभ्रमण से छूटना हो, उसे अपने को परद्रव्यों से भिन्न, रागादि भावों से भिन्न शुद्ध चैतन्य ज्ञायक स्वभावी निज शुद्धात्मा का निर्णय कर अपने स्वभाव की साधना करना चाहिये तभी वह जनरंजन राग भाव से छूट सकता है।

ज्ञानी को दृष्टि अपेक्षा से चैतन्य एवं राग की अत्यंत भिन्नता भासती है यद्यपि वे ज्ञान में जानते हैं कि राग चैतन्य की पर्याय में होता है परंतु ज्ञानी के अभिप्राय में राग जहर है, काला सांप लगता है। ज्ञानी विभाव के बीच खड़े होने पर भी विभाव से पृथक् न्यारे रहते हैं।

जिसका मन राग के रंग से रंगा हुआ है वह चार गति रूप संसार समुद्र में डांवाडोल होता हुआ कष्ट पाता है।

प्रश्न - यह जनरंजन राग भाव से छूटने भव भ्रमण से बचने का क्या उपाय है ?

इसके समाधान में सद्गुरु तारण स्वामी आगे गाथा कहते हैं -

रागं जिनेहि उत्तं, अप्पा सुद्धप्प परम अन्मोयं।

संसार सरनि विरयं, न्यानं अन्मोय मुक्ति गमनं च ॥ १२० ॥

अन्वयार्थ - (रागं जिनेहि उत्तं) जिनेन्द्र परमात्मा ने राग उसे कहा है (अप्पा सुद्धप्प परम अन्मोयं) आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा है इसका आलंबन करो

(संसार सरनि विरयं) संसार परिभ्रमण से विरक्त होना (न्यानं अन्मोय) ज्ञान का आश्रय, अनुमोदना करना (मुक्ति गमनं च) मुक्ति मार्ग पर चलना, यह शुभ राग है।

विशेषार्थ - संसार का राग जनरंजन आदि अशुभ राग कहलाता है जो संसार परिभ्रमण दुर्गति का कारण है। आत्म कल्याण की भावना, अपने आत्म स्वरूप का चिन्तन, संसार से विरक्तता और मुक्त होने की भावना यह शुभ राग कहलाता है, जिससे मुक्ति मार्ग बनता है। जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है कि राग करना है तो यह राग करो कि मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ। ज्ञान स्वभाव का आलम्बन करो, जिन वचनों के श्रद्धान सहित मुक्ति मार्ग पर चलो, यह राग हितकारी है, इससे संसार परिभ्रमण छूटता है, मुक्ति की प्राप्ति होती है।

जनरंजन राग भाव से छूटने, संसार परिभ्रमण से बचने का उपाय राग की धारा को मोड़ देना है। जहाँ जन वचनों में रंजायमानपना था वहीं जिनवचनों में रंजायमानपना हो जाये तो मुक्ति का मार्ग बन जाता है, परमात्म स्वरूप से प्रेम होना, संसार से छूटने का उत्साह होना, आत्मज्ञान की रुचि होना, मुक्त होने की भावना होना आदि शुभराग, संसारी प्रपंच जनरंजन रागादि से छुड़ाता है।

दुनियां में मेरा ज्ञान प्रसिद्ध होवे, दुनियां मेरी प्रशंसा करे और जो मैं कहता हूँ, उससे दुनियां खुश होवे ऐसा जिसके अंदर अभिमान का प्रयोजन वर्तता है, उसका धारणा रूप ज्ञान भले सच्चा हो तो भी वह वास्तव में अज्ञान है, जनरंजन राग भाव है, जो संसार में परिभ्रमण कराता है।

जो अंतर स्वभाव की दृष्टि करे, उसको लक्ष्य करे, उसका आश्रय करे, उसके सम्मुख हो तब ही अतीन्द्रिय शांति आनन्द प्राप्त होता है।

जिसे मोक्ष प्रिय है, उसे मोक्ष का कारण प्रिय होता है और बंध का कारण उसे प्रिय नहीं होता। आत्म स्वभाव में अंतर रमण होना वह ही मोक्ष का कारण है और बहिर्मुख प्रवृत्ति होना बंध का ही कारण है।

प्रथम अंतर्मुख प्रवृत्ति बराबर रुचि पूर्वक दृढ़ता से जमना चाहिये कि मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ, मुझे मुक्त होना है अब संसार में नहीं रहना ऐसा वैराग्य भाव होना चाहिये, बाद में भले ही भूमिकानुसार व्यवहार भी हो परंतु धर्मी मोक्षार्थी को वह आदरणीय नहीं किंतु वह ज्ञेय रूप से और हेय रूप से है। निश्चय स्वभाव में अंतर्मुख होने पर बहिर्मुख ऐसे व्यवहार भाव जनरंजन आदि का निषेध हो जाता है।

निज शुद्धात्म स्वरूप परम पारिणामिक भाव में मिथ्यात्व व रागादि भाव हैं ही नहीं, उसमें रुचि पूर्वक तन्मय होने पर मिथ्यात्व रागादि भाव टलता है, अन्य किसी उपाय से यह रागादि भाव नहीं टलता है।

प्रश्न - हम यह रागादि भाव करना ही नहीं चाहते परंतु कर्मोदय जन्य होते हैं इसके लिये क्या उपाय है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

अंकुर न्यान सहावं, अन्मोयं भाव कम्म विलयंति।

न्यानं च परम न्यानं, रागं समयं च कम्म संषिपनं ॥ १२१ ॥

अन्वयार्थ - (अंकुर न्यान सहावं) ज्ञान स्वभाव का अंकुरण होता है अर्थात् मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा ममल ज्ञान स्वभावी हूँ, ऐसा स्व स्वरूप का सम्यक्ज्ञान प्रगट होता है (अन्मोयं) और अपने ज्ञान स्वभाव का आश्रय आलम्बन रहता है, ज्ञानानंद स्वभाव में रहता है (भाव कम्म विलयंति) भाव कर्म-मोह, राग-द्वेषादि भाव विला जाते हैं (न्यानं च परम न्यानं) ज्ञान भाव, परम ज्ञान केवलज्ञान स्वभाव से जुड़ता है (रागं समयं च) ऐसे शुद्धात्म स्वरूप का राग, दृढ श्रद्धा प्रेम होने से (कम्म संषिपनं) सब कर्म क्षय हो जाते हैं।

विशेषार्थ - ज्ञान स्वभाव का अंकुरण होने अर्थात् मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा ममल ज्ञान स्वभावी हूँ, ऐसा स्व स्वरूप का सम्यक्ज्ञान प्रगट होने से तथा ज्ञानानंद स्वभाव में रहने से भावकर्म मोह रागादि विला जाते हैं। जब ज्ञान अपने परम ज्ञान केवलज्ञान स्वभाव में एकाग्र होता है, अपने शुद्धात्म स्वरूप की गाढ़ रुचि श्रद्धा प्रगट होती है तब आत्मानुभव रूपी ध्यान की अग्नि जलती है, जिससे सब कर्म बंधोदय क्षय हो जाते हैं।

जिस जीव को अपने सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा का बोध जागता है कि मैं आत्मा निरावरण चैतन्य ज्योति ममल ज्ञान स्वभावी हूँ, उसका उपयोग अतीन्द्रिय होकर उसकी पर्याय में ज्ञान और आनंद खिल जाता है। पूर्व में कभी अनुभव में नहीं आई, ऐसी चैतन्य शांति वेदन में आती है, इस तरह आनंद का अगाध सागर उसकी प्रतीति में, ज्ञान में और अनुभूति में आ जाता है। स्वयं का परम इष्ट, परम ज्ञान स्वभाव उसे प्राप्त होता है और सारे भाव कर्म रागादि भाव तथा कर्म बंधोदय क्षय हो जाते हैं, विला जाते हैं।

आत्मा से सच्चा प्रेम होना चाहिये, जैसे- बालक को अपनी माँ का अंतर में

प्रेम उमड़ता है, वैसे ही अन्तर में आत्मा के प्रति सच्चा प्रेम उमड़े तो सब भाव कर्म रागादि भाव विला जाते हैं। अंतर में शुद्धात्म स्वरूप की लगन और रुचि होने तथा उसमें लीन होने से सब कर्म बंधोदय क्षय हो जाते हैं।

रागादि भाव मैं नहीं हूँ, यह मेरे नहीं हैं, मैं तो ज्ञायक स्वभावी ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा हूँ, ऐसे स्वभाव की प्रतीति पूर्वक अंतर में एकाग्र होने से सारे रागादि भाव विला जाते हैं और पूर्व कर्म बंधोदय भी क्षय हो जाते हैं।

प्रश्न - इसके लिये क्या करना चाहिये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

न्यान मई अन्मोयं, दंसन सहकार चरन अन्मोयं ।

तव अन्मोय सहावं, अवयास अन्मोय सिद्धि संपत्तं ॥ १२२ ॥

अन्वयार्थ - (न्यान मई अन्मोयं) ज्ञानमयी आत्म स्वरूप का आलंबन, आश्रय करना (दंसन सहकार चरन अन्मोयं) सम्यक्दर्शन सहित सम्यक्चारित्र का पालन करना (तव अन्मोय सहावं) तपाराधना करना, अपने स्वभाव में लीन रहना (अवयास अन्मोय) ऐसे सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र तप का आराधन, अभ्यास और आलम्बन लेने से यह रागादि भाव विला जाते हैं (सिद्धि संपत्तं) सिद्धि की संपत्ति, मुक्ति की प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ - पूर्व कर्म बंधोदय भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से छूटने के लिये चार आराधना का आराधन करने से सिद्धि मुक्ति की प्राप्ति होती है।

सम्यक्त्वी जीव अपने ज्ञान स्वभावी आत्मा में आनंद मानता है, आत्मानुभव की वृद्धि के लिये चारित्र पालने का उत्साह रखता है तथा आत्मा में स्थिरता पाने के लिये तप तपने की अनुमोदना करता है और यह भावना करता है कि मुझे परम ज्ञान केवलज्ञान का लाभ हो जाये, ऐसा सम्यक्दृष्टि जीव संसार के राग से बिल्कुल विरक्त हो जाता है और आत्मा के ज्ञान स्वभाव के प्रेम में अनुरक्त हो जाता है, इसी का अभ्यास, आलंबन करने से सिद्धि मुक्ति की प्राप्ति होती है।

संयोगरूप-कर्मोदय का लक्ष्य छोड़ने और अपने ज्ञान स्वभावी आत्मा का आश्रय लेने, अपने सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र मयी शुद्धात्म स्वभाव में रहने से समता आती है, आनंद प्रगट होता है, दुःख का नाश होता है, एक चैतन्य स्वरूप ध्रुवतत्त्व पर दृष्टि देने से मुक्ति मार्ग प्रगट होता है, आत्मा अभेद अखंड ज्ञान मात्र चेतन सत्ता है जिसमें गुण-गुणी के भेद का भी अभाव है उसका आश्रय लेने,

उसी में लीन रहने से राग से और कर्मोदय जन्य दुःखों से छुटकारा होता है और सब कर्म संयोग छूट जाते हैं।

सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र और तप यह चार आराधना का आराधन करना ही मुक्ति मार्ग है, इसी से सब रागादि भाव और कर्म संयोग छूट जाते हैं।

रागादि भाव कर्म, शरीरादि नोकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म से भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी चैतन्य तत्त्व भगवान आत्मा हूँ, ऐसा भेदज्ञान करना, संसार चक्र से छूटने का एक मात्र उपाय है।

प्रश्न - जब आत्मा शरीरादि से भिन्न है फिर यह शरीरादि संयोग में क्यों रहता है ?

समाधान - अपने अज्ञान मोह मिथ्यात्व के कारण शरीरादि संयोग में रहता है।

प्रश्न - इस शरीरादि संयोग में रहने से क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

कलरंजन दोष

कलरंजन दोस उवन्नं, कल सहकारं च त्रिधि संजुतं ।

परिनइ कलुस सहावं, कल लंक्रित कर्म तिविहि उववन्नं ॥ १२३ ॥

अन्वयार्थ - (कलरंजन दोस उवन्नं) शरीर में रंजायमान होने से दोषों की उत्पत्ति होती है (कल सहकारं च त्रिधि संजुतं) शरीर के संयोग से दोषों की वृद्धि होती है और उसी में लीनता होती है (परिनइ कलुस सहावं) शरीर राग से कलुष भाव, विषय, कषाय, पापादि की परिणति हो जाती है (कल लंक्रित) शरीर में एकत्व होने, जुड़ने से (कर्म तिविहि उववन्नं) तीन प्रकार के कर्म- द्रव्य कर्म, भावकर्म, नोकर्म की उत्पत्ति होती है।

विशेषार्थ - शरीर के संयोग से क्या-क्या बुरा परिणाम होता है, वह बताते हैं। शरीर के साथ राग करने से अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं और बढ़ते हैं। कलुष भाव-विषय, कषाय, पापादि की परिणति होती है, कलुष भाव मलिन परिणति से द्रव्यकर्म नोकर्म का बंध होता है, जिससे संसार का परिभ्रमण बढ़ता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, विषयादि पापभावों के होने से चित्त में क्षोभ

होता है। मोह और क्षोभ से युक्त भावों को कलुषभाव कहते हैं।

शरीर के ऐश्वर्य व उसकी शोभा बढ़ने से मान होता है। यदि कोई अपमान करता है, शरीर के सुख में बाधक होता है तब क्रोध हो जाता है। शरीर के विषयादि सुख के लिये लोभ तथा मायाचार करता है, शरीर के मोह से चारों ही कषाय भड़कती हैं, भावों में कलुषता आती है तब हिंसादि पाप होते हैं जिससे तीनों प्रकार के कर्मों का बंध होता है।

इसकी विशेषता और परिणाम आगे गाथा में बताते हैं -

जदि कलुस भाव दिट्ठं, दोषं उववन्न नंतनंताई ।

तदि दुग्गइ गइ गमनं, कलरंजन भाव नरय वीयम्मि ॥ १२४ ॥

अन्वयार्थ - (जदि कलुस भाव दिट्ठं) यदि कलुष भावों को ही देखते हो, उन्हीं में लिप्त तन्मय होने से (दोषं उववन्न नंतनंताई) अनन्तानंत दोष पैदा होते हैं (तदि दुग्गइ गइ गमनं) तब दुर्गतियों में गमन होता है (कलरंजन भाव नरय वीयम्मि) कलरंजन भाव से नरक का बीज बोता है।

विशेषार्थ - कलरंजन भाव से जब जीव कलुष भावों को देखता है, उन्हीं में लिप्त तन्मय रहता है तब अनंतानंत दोष पैदा हो जाते हैं। कषायों की तीव्रता से प्राणी के रौद्र ध्यान हो जाता है, तब हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह की वृद्धि में आनंद मानता है, कभी आर्तध्यान होने से शोक करता है। इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिंतवन, निदान बंध होने से महा विलाप करता है। परिणामों में अनंत गुणी मलिनता बढ़ती जाती है, अनंतानुबंधी कषाय होने से यह प्राणी नरकादि दुर्गतियों में जाने के लिये पाप बांध लेता है।

मिथ्यात्व से प्राप्त हुई सुदृढ़ कुबुद्धि ही सारे अनर्थों की जड़ है, महान व्यामोह के कारण देह आदि में प्रगट हुई आत्म बुद्धि के द्वारा जब तक मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, दुर्बल हूँ, उन्नत हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ, यह सब कुछ मेरा ही है तथा विधि, निषेध पुण्य-पाप और शुभाशुभ कर्म आदि व्यवहार होते रहते हैं, तब तक इसी व्यवहार में बंधे रहने के कारण जन्म-मृत्यु रूप संसार समुद्र से जीव का लेश मात्र भी छुटकारा नहीं हो सकता और इसीलिये प्रिय-अप्रिय विषयों की वेदना से चित्त के चिंतित रहने के कारण जीव अत्यंत व्याकुल रहा करता है, जब तक शरीर धारण करना पड़ता है, शरीरादि का संयोग है तब तक स्वप्न में भी लेश मात्र शांति का अनुभव नहीं हो सकता।

भ्रांति रूप मिथ्या ज्ञान से पहले राग-द्वेष आदि चित्त के दोष प्रगट होते हैं, उनसे पाप-विषयादि में प्रवृत्ति होती है। पाप विषय कषाय में प्रवृत्ति होने से नरकादि दुर्गतियों में भ्रमण करना पड़ता है।

इस देह को मैं मानना, सबसे बड़ा यह पाप है।

सब पाप इसके पुत्र हैं, सब पाप का यह बाप है ॥

इस देह को मैं मानकर, बन्दी हुआ यह आप है।

जो शुद्ध शाश्वत मुक्त है, अच्युत तथा निष्पाप है ॥

इस देह को मैं मानने का, नाम ही अज्ञान है।

यह ही अविद्या आवरण, माया यही अभिमान है ॥

संसार की जड़ है यही, सब क्लेश की यह खान है।

अध्यास यह कहलाय है, विपरीत यह ही ज्ञान है ॥

इसी की विशेषता रूप और आगे गाथा कहते हैं -

कलं च किलि किलि सहियं, कलं च कर्म भावना जाने।

अगुरुं च कल सहावं, कलरंजन दोस निगोय वासम्मि ॥ १२५ ॥

अन्वयार्थ - (कलं च किलि किलि सहियं) शरीर के एकत्व सहित दुःख होने पर चिल्लाता है, हाय-हाय करता है, शरीर के संयोग से रात-दिन किल किल भय चिंता दुःख में पड़ा रहता है (कलं च कर्म भावना जाने) शरीर के कारण ही हमेशा कर्म करने की भावना होती है, कुछ न कुछ कर्म करने में लगा रहता है (अगुरुं च कल सहावं) अगुरु-माता, पिता, भाई, बहिन, पत्नी, मित्र आदि का सम्बंध भी शरीर के कारण होता है (कलरंजन दोस निगोय वासम्मि) इस शरीर और संयोग को रंजायमान करने के दोष के कारण निगोद में वास करना पड़ता है।

विशेषार्थ - शरीर संयोग में एकत्व के कारण जीव निरंतर दुःखी रहता है, हाय-हाय करता है, हमेशा कर्म करने की भावना बनी रहती है। कुछ न कुछ करता ही रहता है, कभी भी साता से शांत नहीं बैठता। शरीर के स्वभाव से माता-पिता, पत्नी, पुत्र आदि अगुरुओं का संयोग सम्बंध होता है, इन सबकी सम्हाल और शरीरासक्ति में रंजायमान होने से निगोद में वास करना पड़ता है।

शरीर में पीड़ा आदि होने से हमेशा भयभीत चिंतित दुःखी रहता है, रात-दिन घर परिवार की हाय-हाय, किल-किल में लगा रहता है। अगुरुओं का ऐसा उपदेश मिलता है जिससे मोह में अंधा और रागी हो जाता है। शरीर से कुछ

न कुछ करने की भावना बनी रहती है, हमेशा कुछ न कुछ करता ही रहता है, शरीर के विषयादि सुख में मगन और दुःख पड़ने पर चिंतित होने से आर्त-रौद्र ध्यान में रत रहता है, जिससे तिर्यच गति निगोद में वास करना पड़ता है।

प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग अहं की वृत्ति होती है। अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण यह अहंकार दोष पूर्ण है। इसी के कारण, शरीर, नाम, क्रिया, पदार्थ, भाव, ज्ञान, त्याग, देश, काल आदि के साथ अपना सम्बंध मानकर प्राणी ऊँची-नीची योनियों में जन्मता-मरता रहता है।

शरीर को अपना मानना ममता और अपने को शरीर मानना अहंता है। मनुष्य शरीर में ही अहंकार पूर्वक किये हुए शुभ-अशुभ कर्मों का सुख-दुःख रूप फल भोग अन्य शरीरों में प्राप्त होता है।

इसी की विशेषता रूप आगे गाथा कहते हैं -

कलुस भाव स उत्तं, क्लित सहकार कर्म त्रिधं च ।

तह धम्मं उवएसं, विस्वासं अगुरु नरय वासम्मि ॥ १२६ ॥

अन्वयार्थ - (कलुस भाव स उत्तं) कलुषभाव उसे कहते हैं (क्लित सहकार कर्म त्रिधं च) मन वचन काय की क्रिया के सहकार से कर्मों का बंध बढ़ता जाता है (तह धम्मं उवएसं) इसी को धर्म कहा जाता है, अपने कुटुम्ब परिवार का पालन-पोषण करना ही सबसे बड़ा धर्म है (विस्वासं अगुरु) ऐसे अगुरुओं के वचनों पर विश्वास करने से (नरय वासम्मि) नरक में वास करना पड़ता है।

विशेषार्थ - कलरंजन दोष से जीव के हमेशा कलुष भाव रहते हैं, मोह और क्षोभ की विशेषता सहित मन वचन काय की क्रिया से विशेष कर्मों का बंध होता है। संसारी जीव मोह में फंसाते हैं, कुटुम्ब परिवार का पालन-पोषण करना, अच्छा खाना-पीना, मौज शौक में रहना, धनादि संग्रह करना, सबको प्रसन्न रखना ही सबसे बड़ा धर्म है, ऐसा उपदेश देते हैं, ऐसे अगुरुओं की बातों पर विश्वास करके घोर हिंसा में और द्रव्य के मोह में फंस जाता है, जिससे पाप कर्म बांधकर नरक में जाना पड़ता है।

जिस प्राणी, पदार्थ, घटना, क्रिया और परिस्थिति को मनुष्य अपने दुःख का हेतु या सुख में बाधक समझता है, उसके प्रति अंतःकरण में दुर्भाव, असहिष्णुता और उसे नष्ट करने के भाव का नाम द्वेष है, ऐसे ही अपने प्रतिकूल प्राणी का किसी अन्य के द्वारा अनिष्ट होना देखकर चित्त में जो प्रसन्नता होती है वह भी द्वेष का ही सूक्ष्म रूप है। द्वेष भाव में निरंतर अशुभ पापकर्म का बंध होता है।

क्लेश भाव सहित मन वचन काय की क्रिया से विशेष कर्मों की वृद्धि होती है। मोह भाव, पाप-विषय-कषाय में रत करके नरक का पात्र बनाता है; अतः द्वेष के सर्वथा अभाव के लिये संसार में कहीं भी राग नहीं करना चाहिये। द्वेष के स्थूल रूप बैर ईर्ष्या घृणा क्रोध एवं हिंसा आदि हैं।

इस देह को मैं मानने से, काम शत्रु सताय है ।

पूरी न हो जो कामना तो, क्रोध चित्त जलाय है ॥

हो क्रोध से बुद्धि मलिन, अति मोह में फंस जाय है ।

मोहान्ध बुद्धि जीव को, नाना नरक दिखलाय है ॥

इस देह को मैं मानने से, एक हो दो भासता ।

दो से बहुत हो जाय फिर, एक दूसरे को त्रासता ॥

दर्पण भवन कुत्ता घुसा, कुत्ते ही सब दिखलाय है ।

बैरी समझकर भोंकता ही भोंकता मर जाय है ॥

प्रश्न - शरीर की ऐसी क्या विशेषता है, जो जीव को ऐसा फंसाये हुए है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

कल इस्टं सद्विद्धं, कल संजोय निःकलं विरयं ।

न्यानंतर अन्यानं, अन्मोयं अनिस्ट दुग्गए पत्तं ॥ १२७ ॥

कल इस्ट अनिस्ट दिस्टं, इस्टं विओय न्यान विन्यानं ।

अनिस्ट रूव रूवं, अन्मोयं अनिस्ट दुग्गए पत्तं ॥ १२८ ॥

अन्वयार्थ - (कल इस्टं सद्विद्धं) शरीर को इष्ट प्रिय मानकर उसकी ओर देखना (कल संजोय) शरीर को ही सजाने संवारने में लगे रहना (निःकलं विरयं) इससे अशरीरी आत्मा का ज्ञान छूट जाता है (न्यानंतर अन्यानं) ज्ञान में अंतर डालकर अज्ञान में रत रहना (अन्मोयं अनिस्ट) अनिष्ट का आलंबन रखना, अनुमोदना करना अर्थात् जो नाशवान अनिष्टकारी है ऐसे शरीरादि में तन्मय रहना (दुग्गए पत्तं) दुर्गति का पात्र बनाता है अर्थात् दुर्गति में पतन होता है।

(कल इस्ट अनिस्ट दिस्टं) शरीर को ही इष्ट-अनिष्ट देखना मानना, शरीर के नाना रूप रंग, अवस्थाओं में किसी को इष्ट मानना, किसी को अनिष्ट मानना, शरीर की सुंदरता, कुरूपता को ही देखना (इस्टं विओय न्यान

विन्यानं) ज्ञान विज्ञान जो आत्मा को इष्ट है, उसका वियोग करना अर्थात् भेदज्ञान आत्मज्ञान की बात को न सुनना, न समझना (अनिष्ट रूव रूवं) जो रूपी पदार्थ अनिष्टकारी हैं उनके रूप को ही देखते रहना (अन्मोयं अनिष्ट) ऐसे अनिष्टकारी नाशवान जड़ पदार्थों में रत रहने से जीव (दुग्गए पत्तं) दुर्गति का पात्र होता है।

विशेषार्थ - शरीर में कोई विशेषता नहीं है, शरीर तो जड़ पुद्गल मल मूत्र की खानि, हड्डी का ढांचा है। विशेषता तो जीव के अज्ञान की है जो शरीर को इष्ट प्रिय मानकर उसकी ओर देखता है, शरीर को ही सजाने, संवारने में लगा रहता है, अपने आत्म स्वरूप को भूल जाता है। अशरीरी विज्ञानघन आत्म स्वरूप से विरत रहता है, ज्ञान में अंतर डालकर अज्ञान में रत रहता है। जो अनिष्टकारी संसार का कारण है, उसी का आलंबन रखता है इससे दुर्गति का पात्र होता है।

अपना इष्ट भेदविज्ञान है, ऐसे इष्ट का वियोग करता है, कभी भेदविज्ञान आत्मज्ञान की चर्चा नहीं करता है, शरीर के रूप रंग अवस्था को ही इष्ट-अनिष्ट देखता मानता रहता है। सुंदर-कुरूप शरीर को अच्छा-बुरा मानता है, हमेशा शरीर के सुखियापने आसक्ति में लगा रहता है, इससे दुर्गति का पात्र बनता है।

मन, बुद्धि और इन्द्रियों आदि सहित जो स्थूल शरीर देखने में आता है, यह क्षेत्र कहा जाता है। यह क्षेत्र (शरीर) परिवर्तनशील, क्षीण होने वाला एवं नाशवान है और इसमें जो चैतन्य ज्योति जीव आत्मा है वह अशरीरी क्षेत्रज्ञ है, इन दोनों को भिन्न जानना ही ज्ञान है और जो इन्हें भिन्न जानता, अनुभवता है वह ज्ञानी है।

शरीर में हूँ इस प्रकार का सम्बंध जोड़ना ही अज्ञान है और इससे शरीरादि के नाश का भय अपने ही नाश का भय हो जाता है तथा शरीर मेरा है, ऐसा सम्बंध जोड़ने से शरीर के लिये खाद्य एवं परिधाय (पालन-पोषण योग्य) वस्तुओं की आवश्यकता अपने ही लिये प्रतीत होने लगती है। शरीर के रूप श्रृंगार आदि से अपने को अच्छा-बुरा मानता है, शरीर को सजाने, संवारने में ही लगा रहता है। रंग रूप का रसिया अज्ञानी जीव शरीर में मोहित होकर दुर्गतियों के दुःख भोगता है।

शरीर पुद्गल कर्म प्रकृति का कार्य है, वह यहाँ प्राप्त होता है और यहीं

नष्ट हो जाता है। शरीर का रागी अज्ञानी जीव शरीर के सुखियापने, इन्द्रियों के विषयों का पोषण करता है, इसे ही इष्ट मानता है वहाँ आत्मा का अवश्य अनिष्ट होता है। ज्ञान विज्ञान, भेदज्ञान, आत्मज्ञान की बात में उसका मन ही नहीं लगता है। आत्मा का अनिष्ट जिन विषयों से व कषायों से होता है उनको ही वह इष्ट मानकर रागी रहता है इसलिये कलरंजन दोष में फंसा दुर्गतियों में भटकता रहता है।

साधकों से प्रायः यह बड़ी भूल होती है कि सुनते पढ़ते और विचार करते समय वे जिस बात को ठीक समझते हैं, उस पर भी दृढ़ता से स्थिर नहीं रहते तथा उसे विशेष महत्व नहीं देते अतः जब यह जान लें कि शरीर से आत्मा पृथक् है तब इस बात पर दृढ़ता से स्थिर रहें, कभी किसी अवस्था में भी शरीर में हूँ ऐसा न मानें।

शरीरादि से अपने को पृथक् जान लेने पर शरीरादि का कोई नाश नहीं होता एवं जानने वाले को भी कोई हानि नहीं होती क्योंकि दोनों पहले से ही पृथक्-पृथक् हैं। नाश होता है केवल अज्ञान का। वस्तु स्थिति ज्यों की त्यों रहती है। अज्ञान के कारण शरीरादि के साथ एकता करके जीव दुःखों को ही भोग रहा है। ज्ञान हो जाने से अज्ञान के कार्यरूप सम्पूर्ण दुःख मिट जाते हैं।

प्रश्न - जब तक यह अज्ञान न मिटे, तब तक कलरंजन दोष से क्या-क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

कलं सुभाव स उत्तं, कलियं विन्यान अन्यान संजोयं ।

सुतं च विकह सहावं, अन्मोयं अत्रित सरनि संसारे ॥ १२९ ॥

सुतं च अनेय भेयं, वयनं आलाप भेय अभेयं ।

कल सहाव विन्यानं, अनिष्ट अन्मोय सरनि संसारे ॥ १३० ॥

अन्वयार्थ - (कलं सुभाव स उत्तं) कलरंजन दोष का स्वभाव ऐसा कहा गया है (कलियं विन्यान) पुद्गल विज्ञान, भौतिक विज्ञान द्वारा (अन्यान संजोयं) अज्ञान में ही लिप्त रहता है (सुतं च विकह सहावं) विकथाओं को पढ़ने सुनने समझने को शास्त्र पठन समझता है (अन्मोयं अत्रित) नाशवान क्षणभंगुर पौद्गलिक पदार्थों का आलम्बन करता है, जगत की अनुमोदना करता है (सरनि संसारे) इससे संसार परिभ्रमण करता है अर्थात् चार गतियों

में जन्म-मरण करता रहता है ।

(सुतं च अनेय भेयं) शास्त्रों के अनेक भेद हैं (वयनं आलाप भेय अभेयं) बोलने, बताने, शब्दों के कई भेदाभेद हैं (कल सहाव विन्यानं) शरीर स्वभाव का विज्ञान शारीरिक विज्ञान, जैसे आज परमाणु विज्ञान चल रहा है जिससे भौतिक जगत में क्या-क्या हो रहा है (अनिस्ट अन्मोय) ऐसे अनिष्टकारी विज्ञान का आश्रय आलम्बन लेकर (सरनि संसारे) संसार का मार्ग बढ़ाता है ।

विशेषार्थ - अज्ञान के द्वारा जीव शरीर विज्ञान को ही जानता है और शरीर को रंजायमान करने के लिये शास्त्रों के द्वारा राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा, भोजन कथाओं का प्रतिपादन करता है, उन्हीं का आलम्बन रखता है, इन्हीं सब बातों की अनुमोदना करता है जो क्षणभंगुर नाशवान हैं, इस प्रकार कलरंजन दोष से संसार में परिभ्रमण करता है ।

शास्त्रों के अनेक भेद हैं, संसार में अनेक प्रकार के ग्रन्थ शास्त्र पुराण और किताबें हैं, जिनमें नाना प्रकार की बातें बताई गई हैं । कलरंजन राग वाला जीव अपनी शरीरासक्ति के लिये अपने मन की बातें ग्रहण करता है और कहता है । जो अनिष्टकारी दुर्गति के कारण हिंसादि पाप प्रवृत्ति कराने वाले, विषय-कषायों में लिप्त कराने वाले शरीर विज्ञान के ग्रन्थ हैं उनकी चर्चा करता है, उनको ही पढ़ता है, उनको ही कहता है जिससे संसार परिभ्रमण को बढ़ाता है ।

शरीर को आलस्य व सुखियापना पसंद है, आराम से खाना-पीना, सोना पसंद है, इन्द्रिय विषय का पोषण करना पसंद करता है, वहाँ आत्मा का अवश्य अनिष्ट होता है, ऐसा शरीर का मोही-पूजा, सामायिक, स्वध्याय, उपवास, वैयावृत्य, परोपकार कोई भी धर्म के काम नहीं कर सकता । विकथा-राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा, भोजनकथा में ही मगन रहता है, भौतिक विज्ञान, संसारी प्रपंच की लगन रहती है । भेदविज्ञान आत्मज्ञान की बात में उसका मन ही नहीं लगता, शास्त्र ज्ञान को भी मिथ्याज्ञान में परिणमन कर देता है । अध्यात्म ज्ञान का विपरीत अर्थ लगाकर आत्मा को अकर्ता, अभोक्ता मानकर शरीर के आराम व विषय भोग में अधिक स्वच्छंद हो जाता है । शास्त्रों में नाना अपेक्षा भेदाभेद कथन कहा गया है, उस सर्व कथन की भिन्न-भिन्न अपेक्षा व नयों को न समझकर अज्ञानी शरीर का मोही जीव विशेष विषयानुरागी हो जाता है, जिससे संसार परिभ्रमण करना पड़ता

है । इसी की विशेषता रूप आगे गाथा कहते हैं -

गाथा दोह छंदानं, सामुद्रिक व्याकरण जोयसं जुत्तं ।

सुरं च स्वास निःस्वासं, चंदं सूरं च गहन पज्जलियं ॥ १३१ ॥

प्रपंच विभ्रम सहियं, अनेय भेय सरनि संसारे ।

लोक मूढ कल रंजं, कलुस भाव नंत सरनि संसारे ॥ १३२ ॥

अन्वयार्थ - (गाथा दोह छंदानं) गाथा, दोहा, छंदों के द्वारा (सामुद्रिक व्याकरण जोयसं जुत्तं) सामुद्रिक शास्त्र, व्याकरण संस्कृत शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र पढ़ता है (सुरं च स्वास निःस्वासं) श्वासोच्छ्वास के द्वारा प्राणायाम पूरक, रेचक, कुम्भक आदि श्वास क्रिया करता है (चंदं सूरं च गहन पज्जलियं) चंद्र सूर्य ग्रहण को जानकर ।

(प्रपंच विभ्रम सहियं) प्रपंच विभ्रम सहित होता है (अनेय भेय सरनि संसारे) अनेक प्रकार के संसार परिभ्रमण को बढ़ा लेता है (लोक मूढ कल रंजं) लोक मूढता के साथ शरीर में रंजायमान रहता है (कलुस भाव नंत सरनि संसारे) ऐसे कलुषित भावों के करने से अनंत संसार का परिभ्रमण करता है ।

विशेषार्थ - शरीर का मोही अज्ञानी जीव गाथा दोहा छंदों की रचना करता है, सामुद्रिक शास्त्र, व्याकरण शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र पढ़ता है । चंद्रमा और सूर्यग्रहण के द्वारा, भूत भविष्य का शुभाशुभ योग निकालता है । श्वासोच्छ्वास के द्वारा प्राणायाम करता है । शरीर से योग साधना करता है और अनेक प्रकार के प्रपंच विभ्रम बढ़ाता है, यदि भविष्य अच्छा दीखता है तो बड़ा रंजायमान होता है, यदि भविष्य बुरा दीखता है तो बहुत भ्रम में आकुल-व्याकुल चिंतित रहता है व लोक मूढता में फंसकर नाना प्रकार के जप तप पूजा पाठ कराता है, जिससे भविष्य का होने वाला विघ्न टले । शरीर के एकत्व, मोह में फंसा रात-दिन चिंतातुर रहता है । हर एक काम को करते हुए शंकित भयभीत रहता है कि यह कार्य होगा या नहीं, इस तरह इन शास्त्रों को जानकर और अधिक अपनी आकुलता बढ़ा लेता है, हमेशा अशांत उद्विग्न रहता है, कषायों की तीव्रता, कलुषित भावों से खोटे कर्मों का बंध कर अनंत संसार परिभ्रमण को बढ़ा लेता है ।

व्याकरणादि शास्त्रों को पढ़ने का सदुपयोग यह था कि आत्म कल्याण

करने का पुरुषार्थ करता । विषय, कषाय, पाप, परिग्रह को छोड़ता परंतु शरीर के रंजायमान सुखियापने विषयासक्ति में फंसकर अज्ञानी जीव उल्टा अपना अहित करके अनंत संसार बढ़ा लेता है ।

शरीर के रक्षार्थ अनेक व्रत तप करता है जो आगे गाथा कहते हैं -

तवं च वय संजुतं, कल सहकार अनिष्ट दिष्टि संजुतं ।

तव वय कुमय संजुतं, अनेय विभ्रम नरय वीयम्भि ॥ १३३ ॥

अन्वयार्थ - (तवं च वय संजुतं) तप और व्रत में लगा रहता है (कल सहकार अनिष्ट दिष्टि संजुतं) शरीर के संयोग में कोई अनिष्ट न हो जाये इसे ही देखने में लगा रहता है (तव वय कुमय संजुतं) कुमति पूर्वक व्रत और तप करता रहता है (अनेय विभ्रम) अनेक विभ्रम भय, शंका, कुशंका, चिंताओं में रहता हुआ (नरय वीयम्भि) नरक का बीज बोता है ।

विशेषार्थ - जिसके भावों में आत्मज्ञान नहीं होता है और न आत्मा के हितकारी मोक्षमार्ग का विचार होता है, वह शरीर के इन्द्रिय सुखों के लिये यदि व्रत और तप पालता है तो उसके अभिप्राय में होता है कि मैं देव हो जाऊँ, राजा, महाराजा, चक्रवर्ती हो जाऊँ और खूब विषय भोग करूँ, इस भावना से किया हुआ तप या व्रत कुमतिज्ञान सहित होता है । ऐसे तप व व्रत को पालते हुए परिणामों में भोग की तृष्णा रहती है इसके लिये अनेक विभ्रम करता है, नाना प्रकार के कुदेवादि कुगुरुओं के जाल में फंसा रहता है, उनके द्वारा बताये मंत्र-तंत्र पूजा पाठ व्रत उपवास करता है और हमेशा भयभीत शंका कुशंकाओं से ग्रसित चिंतित रहता है । यह परिणाम इतने मोहासक्त होते हैं कि कृष्णादि खोटी लेश्या सहित नरक गति जाने योग्य पापबंध होता है ।

इस शरीर को आत्मा मानने की भावना अर्थात् यह शरीर ही मैं (आत्मा) हूँ, अन्य-अन्य देह के पाने का बीज अर्थात् संसार परिभ्रमण का कारण है और आत्मा में ही आत्मा की भावना करना अर्थात् इस शरीर से भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी चेतन तत्त्व भगवान् आत्मा हूँ । ऐसा श्रद्धान् शरीर रहित होने का बीज अर्थात् सिद्ध पद पाने का कारण है ।

बाहरी परिस्थिति कर्मोदय के अनुसार ही बनती है अर्थात् यह शरीरादि

कर्मों का ही फल है । धनवत्ता-निर्धनता, निन्दा-स्तुति, आदर-निरादर, यश-अपयश, हानि-लाभ, जन्म-मरण, स्वस्थता-रुग्णता आदि सभी परिस्थितियाँ कर्मों के आधीन हैं । शुभ और अशुभ कर्मों के फलरूप सुखदायी और दुःखदायी परिस्थिति सामने आती रहती है; परंतु उस परिस्थिति से संबंध जोड़कर उसे अपनी मानकर सुखी-दुःखी होना अज्ञान है । कलरंजन दोष से विवेक ढक जाता है, स्वार्थ बुद्धि, भोग बुद्धि, संग्रह बुद्धि रखने से मनुष्य अपने कर्तव्य का ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर पाता । वह वर्तमान परिस्थिति को बदलने का उद्यम ही करता है परंतु परिस्थिति को बदलना अपने वश की बात नहीं है ।

विवेक की दो मुख्य बातें हैं -

१. मैं स्वयं परमात्म स्वरूप हूँ, इसमें कोई संदेह नहीं होना ।

२. अभी जो वस्तुएं मिली हुई हैं उन पर अपना कोई आधिपत्य नहीं है; क्योंकि वह पहले अपनी नहीं थीं और बाद में भी अपनी नहीं रहेंगी ।

शरीर नाशवान है इसको शाश्वत मानना ही दुर्बुद्धि है । इसकी गाथा आगे कहते हैं -

कलं सुभाव न त्रितं, त्रितं जानेइ अन्यान सहकारं ।

कल रंजन दुबुहि जुतं, अत्रित सहकार दुग्गए पत्तं ॥ १३४ ॥

अन्वयार्थ - (कलं सुभाव न त्रितं) शरीर का स्वभाव शाश्वत नहीं है अर्थात् शरीर क्षणभंगुर नाशवान है (त्रितं जानेइ अन्यान सहकारं) अज्ञान के कारण शरीर को शाश्वत जानता है (कल रंजन दुबुहि जुतं) कलरंजन दोष से दुर्बुद्धि में लगा रहता है (अत्रित सहकार दुग्गए पत्तं) क्षणभंगुर नाशवान शरीर के सहकार से दुर्गति पाता है ।

विशेषार्थ - शरीर का स्वभाव नाशवान है । शरीर माता-पिता के संयोग से और पुद्गल परमाणुओं के मेल से बना है, यह पुद्गल परमाणुओं का स्कंधरूप मिट्टी का पुतला है । निरंतर बनता बिगड़ता रहता है, आयु कर्म के आधीन है, नाम कर्म की रचना है । यह एक सा नहीं रहता है, बालक से कुमार, कुमार से युवा, युवा से वृद्ध हो जाता है । कभी रोगी, कभी निरोगी रहता है, एक दिन छूट जाता है, तब सड़ने-गलने लगता है, जला दिया जाता है अथवा गाड़ दिया जाता है ।

इस शरीर को स्थायी शाश्वत व अपना मानना भारी भूल, महा अज्ञान है। यह तो एक दिन छूट जाने वाला जेल खाना है, जिसकी बुद्धि शरीर के राग में उलझी हुई है वह दुर्बुद्धि का धारी नाना प्रकार राग-द्वेष आदि भाव करके इस नाशवान शरीर के मोह में दुर्गति चला जाता है।

सत्य शाश्वत स्वरूप एक अपना आत्मा है, उसका बोध यथार्थ ज्ञान के उपदेश से होता है। इस नाशवान शरीर को स्थिर वे ही मानते हैं जो बुद्धि रहित हैं व इसे ही आत्मा मानना घोर मोह व मूढ़ता है।

आकाश, वायु, जल, अग्नि व पृथ्वी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन दश का नाम कार्य है। मन, बुद्धि, अहंकार, स्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र, नासिका, वाणी, हस्त, पैर, उपस्थ, गुदा इन तेरह (अंतःकरण और बाह्य करण) का नाम करण है। यह सब कर्म प्रकृति के कार्य हैं इसलिये इनके द्वारा होने वाली संपूर्ण क्रियाओं के कर्तापने में भी कर्म प्रकृति की प्रधानता है। कर्म प्रकृति जड़ है, उसकी क्रियावती शक्ति उसमें हो रही है। जैसे-शरीर का बढ़ना, श्वास का आना-जाना, भोजन का पचना आदि क्रियायें स्वतः शरीर में हो रही हैं किंतु मन बुद्धि पूर्वक होने वाली कुछ क्रियाओं-खाना-पीना, चलना-फिरना, उठना-बैठना, बोलना आदि को साधारण मनुष्य अपने द्वारा की हुई मानता है। वास्तव में संपूर्ण क्रियायें कर्म प्रकृति से ही हो रही हैं, उनमें से कुछ क्रियाओं के साथ अपना संबंध मानना भूल है। मनुष्य वास्तव में स्वयं कर्ता न होते हुए भी अपने को कर्ता मान लेता है, ऐसे माने हुए कर्ता को अहंकार विमूढात्मा कहा है, उसको दुर्मति, दुर्बुद्धि होने से दुर्गति जाना पड़ता है।

शरीर को सत् मानकर प्राणी ऊँची-नीची योनियों में जन्मता-मरता रहता है।

शरीर स्वभाव से अशुचि है यह आगे गाथा में कहते हैं -

**कलं सहाव समलयं, निम्मल जानेहि सौचि सहकारं।
मलं च मल उववन्नं, कलरंजन अन्यान सरनि संसारे ॥ १३५ ॥
कलं सहाव असुद्धं, स्नानं सौचि सुद्ध जानेहि।
ते मूढा अन्यानी, कल सहकारेन दुग्गए पत्तं ॥ १३६ ॥**

कलं च असुचि सहावं, एयंदी पुग्गलं सौचि जानेहि।

दोषं दोष उपत्ति, अन्मोयं संसार सरनि वीयम्मि ॥ १३७ ॥

अन्वयार्थ - (कलं सहाव समलयं) शरीर का स्वभाव मल से भरा हुआ है (निम्मल जानेहि सौचि सहकारं) अज्ञानी इस शरीर को स्नान आदि कराने से निर्मल जानता है (मलं च मल उववन्नं) शरीर मल से भरा हुआ है और इससे मल ही पैदा होता है (कलरंजन अन्यान सरनि संसारे) इस शरीर में रंजायमान होने का जो अज्ञानभाव है वह संसार में भ्रमण कराने वाला है।

(कलं सहाव असुद्धं) इस शरीर का स्वभाव ही अशुद्ध है (स्नानं सौचि सुद्ध जानेहि) जो इसे स्नान आदि शुचि करके शुद्ध समझ लेते हैं (ते मूढा अन्यानी) वे मूर्ख अज्ञानी हैं (कल सहकारेन दुग्गए पत्तं) शरीर के सहकार से दुर्गति के पात्र होते हैं।

(कलं च असुचि सहावं) शरीर तो अशुचि स्वभाव ही है (एयंदी पुग्गलं सौचि जानेहि) जल मिट्टी आदि एकेन्द्रिय पुद्गल से धोने से शुचि, शुद्ध जानता है (दोषं दोष उपत्ति) दोष से दोष की उत्पत्ति होती है (अन्मोयं संसार सरनि वीयम्मि) जल से या मिट्टी से शरीर पवित्र होता है, ऐसा मानने वाला अज्ञानी संसार परिभ्रमण का बीज बोता है।

विशेषार्थ - यह शरीर मल से उत्पन्न होता है, पिता के वीर्य व माता के रज से इसकी उत्पत्ति है तथा इसके भीतर रुधिर, मांस, हांड, चाम, वीर्य, पीप, मल, मूत्र, पसीना, कृमि जाल आदि मलिन पदार्थ ही भरे हैं। यह इतना घिनावना है कि यदि ऊपर की जरा सी त्वचा निकाल दी जाय तो इसको देखा नहीं जायेगा। इसके नौ द्वारों से निरंतर मल ही निकलता है, एक मुख, दो नासिका छिद्र, दो आंखें, दो कान, दो मध्य के अंग जिनसे गंदगी निकलती रहती है, इसे स्नान आदि करा कर पवित्र मानना अज्ञान है। जैसे- कोयला को कितना ही धोया जावे वह उजला नहीं हो सकता अथवा कीचड़ से कीचड़ धोना ही मूर्खता है, इसी प्रकार शरीर को कितना भी साफ किया जावे शुचि या पवित्र नहीं हो सकता। ऐसे शरीर से राग करना, अपना मानना घोर अज्ञान है, इस अज्ञान से संसार बढ़ता है।

कोई संसारी प्राणी गंगा नदी आदि में स्नान करके अपने शरीर को पवित्र मानते हैं सो ऐसा मानना बुद्धिमानी नहीं है; क्योंकि शरीर को कितना

ही बाहर से धोया जावे वह मल को ही भीतर से निकालता है, ऊपर से कुछ धुल जाता है परंतु भीतर इसकी गंदगी जरा भी नहीं मिटती है। जैसे- मदिरा के भरे घड़े को कितना ही धोया जावे उसमें से मदिरा की गंध दूर नहीं होती, वैसे ही शरीर की अशुचिता कभी नहीं मिटती है।

इस शरीर से जो मोह करके इसकी ही सेवा में लगे रहते हैं, धर्म-अधर्म का विचार छोड़ देते हैं वे अज्ञानी दुर्गति के ही पात्र होते हैं। शरीर को सदा क्षणभंगुर व अशुचि मानकर जो इस शरीर से संयम तप की साधना करके आत्म कल्याण करते हैं वे ही बुद्धिमान हैं।

शरीर स्वभाव से ही अपवित्र है, इसे पानी, मिट्टी, राख आदि पुद्गल से धोकर शुद्ध मानना अज्ञान है। दोषी की संगति से दोष ही पैदा होते हैं, शरीर मल सहित अपवित्र है। जो वस्तु शरीर के संसर्ग को प्राप्त होती है वह स्वयं अपवित्र हो जाती है। शरीर स्पर्शित जल, फूल की माला, वस्त्र आदि हर वस्तु स्वयं अपवित्र हो जाती है। जल मिट्टी आदि से शरीर की पवित्रता मानना बाहरी शुद्धि से आत्मा की शुद्धि मानना मिथ्यात्व है। यद्यपि लौकिक शारीरिक शुद्धि जल आदि से मानी जाती है तथा गृहस्थ को स्नान आदि भी करना चाहिये परंतु शारीरिक शुद्धि से आत्मा की शुद्धि मानना, शरीर की क्रिया से धर्म या मुक्ति मानना मिथ्यात्व है, जो अनंत संसार परिभ्रमण का कारण है।

कलरंजन दोष अर्थात् शरीरासक्ति ही संसार परिभ्रमण का कारण है, जब तक शरीर का राग रहेगा, खाने-पीने विषयादि की चाह रहेगी, तब तक न निराकुल, निश्चित रह सकते न मुक्ति हो सकती है। शरीर का राग छूटने पर ही वीतरागता आती है।

मुझे न भोग चाहिये, न धन संग्रह आदि चाहिये ऐसा दृढ़ निश्चय होने पर साधक स्थित प्रज्ञ हो जाता है, स्थिर बुद्धि होने पर स्वतः स्वरूप का अनुभव हो जाता है तथा शरीर से संबंध विच्छेद होता है।

शरीर को प्रिय मानना अज्ञानता है जिससे अनंत दुःख भोगना पड़ते हैं, इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं -

कलं च विप्रिय रूवं, स्थानं सर्वस्य असुद्ध जानेहि।

न्यान सहाव न पिच्छं, अन्मोयं अनंत दुष्य वीयम् ॥ १३८ ॥

कलं च रूव संजुतं, कल इस्टी अन्यान अन्मोय संजुतं।

न्यानंकुर अंतरयं, कल सहकारेन सरनि संसारे ॥ १३९ ॥

अन्वयार्थ - (कलं च विप्रिय रूवं) शरीर का स्वरूप अप्रिय, घिनावना है (स्थानं सर्वस्य असुद्ध जानेहि) शरीर के सर्व स्थान अशुद्ध होते हैं ऐसा जानना चाहिये (न्यान सहाव न पिच्छं) अपने ज्ञान स्वभाव आत्मा को न जानकर (अन्मोयं) जो शरीर का ही आश्रय करता है, शरीर में ही रत रहता है (अनंत दुष्य वीयम्) वह अनंत दुःख का बीज बोता है।

(कलं च रूव संजुतं) जो शरीर के रूप में संतुष्ट रहता है (कल इस्टी) शरीर को इष्ट प्रिय मानता है (अन्यान अन्मोय संजुतं) वह अज्ञान की अनुमोदना कर शरीर में लीन रहता है (न्यानंकुर अंतरयं) इससे ज्ञान के जागरण में अंतराय आता है, भेदज्ञान नहीं होता है (कल सहकारेन सरनि संसारे) शरीर के सहकार करने से संसार में ही भ्रमण करता है।

विशेषार्थ - शरीर का स्वरूप अप्रिय घिनावना है, इसके सब ही स्थान अशुद्ध होते हैं, अज्ञानी कलरंजन दोष की अनुमोदना करता है, शरीर के रूप रंग में इतना मोहित होता है कि उसे आत्म स्वरूप का बोध ही नहीं जागता। शरीर के विषय पोषण में इतना तल्लीन रहता है कि वह आत्मा की बात भी सुनना पसंद नहीं करता है। शरीर के तीव्र राग और सुखियापने में रत रहने से अनंत दुःख का बीज बोता है।

अज्ञानी जीव शरीर के रूप में संतुष्ट रहता है, शरीर को ही इष्ट मानता है, शरीर के विषय भोग व्यसनों में रत रहता है। भेदज्ञान में अंतराय डालता है। शरीर में अहं बुद्धि रखने से आत्मज्ञान कभी नहीं जागता है। पर्यायबुद्धि से शरीर की ही सेवा में रंजायमान रहता है, इससे संसार में ही परिभ्रमण करता है।

अज्ञानी जीव शरीर की संगति में ऐसा एकमेक हो रहा है कि वह अपने को भूल ही गया है। कर्मों के उदय के निमित्त से जो सुंदर शरीर रूप रंग मिला है, उस रूप ही अपने को मानता है। शरीर के मोह में ऐसा उन्मत्त हो रहा है कि अशुभ पापकर्म का बंध करके नाना प्रकार के दुःख भोगता है। जन्म, मरण, जरा, इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग का अपार दुःख भोगता है। आत्मज्ञान के बिना अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही रहता है क्योंकि उसको आत्मा के सम्यक्ज्ञान

की तरफ विश्वास नहीं आता है ।

शरीर का पूरण गलन स्वभाव है, नाशवान है इसे आगे गाथा में कहते हैं -

गलं च पूरन भावं, अत्रित असरन असुचि जानेहि ।

न्यानं अंतर दिट्ठी, अन्मोयं कल दुग्गए पत्तं ॥ १४० ॥

अन्वयार्थ - (गलं च पूरन भावं) इस शरीर पुद्गल का स्वभाव ही गलन और पूरण है (अत्रित असरन असुचि जानेहि) यह नाशवान, अशरण और अपवित्र है (न्यानं अंतर दिट्ठी) शरीर की ओर देखना ही ज्ञान स्वभाव से विमुख करता है (अन्मोयं कल दुग्गए पत्तं) शरीर की तन्मयता से दुर्गति की प्राप्ति होती है ।

विशेषार्थ - शरीर पुद्गल परमाणुओं का स्कंध है, यह नाम कर्म की रचना है । पुद्गल के स्कंधों में नये परमाणु मिलते हैं, पुराने झड़ते हैं, शरीर में भी सदा नये पुद्गल परमाणु मिलते हैं, पुराने झड़ते हैं, यह एक सा नहीं रहता है । पुद्गल का स्वभाव ही गलन-पूरण रूप है । परमाणु के गुणों में भी परिवर्तन हुआ करता है, इससे पूरण-गलन स्वभाव वहाँ भी प्रगट है । यह शरीर नाशवान अस्थायी है, कभी भी नष्ट हो सकता है । जलना, गलना, मिट्टी में मिलना तो इसका स्वभाव ही है । यह शरीर अशरण है, इसकी कितनी भी रक्षा करो किंतु इसमें रोग बुढ़ापा और मृत्यु तो साथ लगे हैं, जब मरण काल आता है, आयु कर्म का क्षय होता है तब यह एक पल भी नहीं टिक सकता, जीवित से मृत हो जाता है । यह शरीर मल मूत्रादि का घर बड़ा ही अशुचि, अपवित्र है । हाड़ मांस का लोथड़ा, हड्डी का ढांचा है जो बहुत ही घिनावना है । इस शरीर का राग आत्मज्ञान की प्राप्ति में विधनकारक है । शरीरासक्ति विषयादि सेवन से दुर्गति की प्राप्ति होती है ।

जो देह के सुख में आसक्त है, वह ध्यान करता हुआ भी विकार रहित नित्य शुद्ध, आत्म तत्त्व का अनुभव नहीं कर पाता है । शरीर के विषयों में रत मन कभी शांत स्थिर नहीं होता । यह शरीर जड़ है, विनाश रूप है, चैतन्य से भिन्न है, जो जीव इस शरीर का ममत्व करता है, वह बहिरात्मा है । इस शरीर में रोग होते हैं, यह सड़ता है, जलता है, जरा मरण सहित है । ऐसा देखकर जो जीव निज शुद्धात्म स्वरूप को ध्याता है, शरीर से निर्ममत्व निस्पृह

वीतरागी होता है वह पांचों ही प्रकार के शरीरों से छूट जाता है ।

शरीर के संयोग से ही घर परिवार आदि का संबंध होता है, इस संदर्भ में आगे गाथा कहते हैं -

कल सम्बन्ध सरूवं, ग्रह परिवार सयल संमिलियं ।

जिन वयनं अन्तरयं, कल सुभाव नरय वीयम्मि ॥ १४१ ॥

कल सम्बन्ध स उत्तं, पर अप्पा भाव न सुपएसं ।

न्यानंतरं स दिट्ठं, पर अन्मोय सरनि संसारे ॥ १४२ ॥

कल सम्बन्ध सुभावं, पर पज्जाव अप्प स उत्तं ।

अन्यानं मिच्छातं, अन्मोय नरय दुष्य वीयम्मि ॥ १४३ ॥

अन्वयार्थ - (कल सम्बन्ध सरूवं) शरीर के सम्बंध का यह स्वरूप है जो (ग्रह परिवार सयल संमिलियं) घर कुटुंब आदि सब संयोग आकर मिल जाते हैं (जिन वयनं अन्तरयं) श्री जिन वचन के ग्रहण में अंतराय पड़ जाता है, धर्म चर्चा में मन नहीं लगता (कल सुभाव) शरीर की तन्मयता से (नरय वीयम्मि) नरक का बीज बोता है ।

(कल सम्बन्ध स उत्तं) शरीर संबंध उसे कहते हैं (पर अप्पा भाव न सुपएसं) जो शरीर व पर जीवों को अपना आत्मा मानता है (न्यानंतरं स दिट्ठं) उसे ज्ञान स्वभाव का अंतर अर्थात् आत्मा की भिन्नता दिखाई नहीं देती (पर अन्मोय सरनि संसारे) पर में अपनत्व मानने से संसार परिभ्रमण होता है ।

(कल सम्बन्ध सुभावं) शरीर के संबंध से ऐसा स्वभाव बन जाता है जिससे (पर पज्जाव अप्प स उत्तं) पर जीवों को और शरीरादि पर्यायों को ही आत्मा कहता है (अन्यानं मिच्छातं) अज्ञान को ही पहिचानता है अर्थात् अज्ञान में ही लिप्त रहता है (अन्मोय नरय दुष्य वीयम्मि) शरीरादि पर की तल्लीनता से नरक के दुःख का बीज बोता है ।

विशेषार्थ - शरीर के संबंध से ही घर परिवार आदि का संयोग मिलता है, माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-बहिन आदि सर्व संबंध जुड़ते हैं, जिसका मोह शरीर से है, वह घर कुटुंब परिवार संबंधी मित्र धनादि से तीव्र मोह रखता है । शरीर के संबंधों को अपना मानकर उनके दुःख में दुःखी व सुख में सुखी

रहा करता है, कुटुम्ब परिवार के प्रबंध में व घर के आरंभ-परिग्रह में इतना उलझ जाता है कि उसे धर्म को समझने की व आत्मज्ञान प्राप्त करने की फुरसत ही नहीं मिलती है, वह जिनवाणी पर कभी ध्यान ही नहीं देता है। आत्महित को न समझकर शरीरादि के मोह से नरक जाने योग्य कर्म बांध लेता है।

शरीर संबंध में इतनी मूर्च्छा होती है कि पर जीवों को यही मेरी आत्मा है ऐसा कहता है, उसे कोई भेदभाव दिखाई नहीं देता। भेदज्ञान आत्मज्ञान की बात भी नहीं सुहाती, शरीर के राग रंग में इतना आसक्त हो जाता है कि पुण्य-पाप की कल्पना भी मन से हट जाती है, स्वच्छंद होकर धन एकत्र करके विषय भोगों में ही लगा रहता है, जिससे संसार में ही परिभ्रमण करना पड़ता है।

शरीर संबंध की मूढ़ता में पर जीवों को और शरीरादि को आत्मा कहता है बस यही मैं हूँ और यह सब मेरे हैं, ऐसे अज्ञान, मिथ्यात्व में लिप्त रहने से नरक के दुःखों का बीज बोता है।

कर्म के उदय से शरीरादि संयोग संबंध मिलते हैं, कर्म उदय से राग-द्वेष मोहादि अनेक पर या औपाधिक भाव होते हैं। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि इन पर संयोग शरीरादि अशुद्ध भावों को ही अपना स्वरूप, आत्मा मान लेता है। उसको वीतराग विज्ञान मयी आत्मीक स्वभाव की प्रतीति नहीं आती है। शरीरादि सम्बंध में ऐसी मिथ्याबुद्धि रहती है कि असत् प्रवृत्ति करके अज्ञान पूर्वक नरक जाने योग्य पाप कर्म बांध लेता है।

शरीरादि संबंध में एकत्व अपनत्व की मिथ्याबुद्धि होने से अपने को उसी रूप मानता है, इनसे भिन्न आत्म स्वरूप का बोध नहीं होता है। अज्ञानी अपने को इस प्रकार मानता है -

**मैं सुखी दुःखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव ।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन ॥
तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान ।
रागादि प्रगट ये दुःख दैन, तिनही को सेवत गिनत चैन ॥**

कर्मों का बंध यह जीव अपने शुभ व अशुभ भावों से जैसा करता है, वैसा ही उनका फल यह जीव अकेला ही भोगता है। यदि कोई मोही मानव कुटुम्ब के मोह में पर को कष्ट देकर धन कमाता है, महान हिंसा, झूठ, चोरी,

कुशीलादि पाप करता है तो इस जीव को अकेले ही नरक में जाकर दुःख सहना पड़ते हैं, कोई कुटुम्बी जन साथ में नहीं जाते हैं, अपने साथ किसी मित्र, स्त्री या पुत्र को नहीं ले जा सकते हैं।

यह जीव अपने अज्ञान मोह से जैसे आप अकेला संसार की चार गतियों में भ्रमता है, वैसे ही यह सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म का सम्यक् प्रकार आराधन करे तो आप ही अकेला निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

कलरंजन दोष जीव को दुर्गति का पात्र बनाता है तथा वर्तमान में जीव सुखी-दुःखी, चिंतित, संकल्प-विकल्प में रहता है। इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं -

**कल अन्मोय स उत्तं, पर पर्जाव वयन अप्पानं ।
पर त्रिधं च स उत्तं, न्यानंतरं नरय दुष्य वीयम्मि ॥ १४४ ॥
कल संकप्प वियप्पं, कल दिस्ती च अनिस्ट संजुत्तं ।
न्यान सहाव न दिट्ठं, न्यानं आवर्न दुष्य संतत्ता ॥ १४५ ॥**

अन्वयार्थ - (कल अन्मोय स उत्तं) शरीर का आलंबन ऐसा कहा गया है अर्थात् शरीर में एकत्व बुद्धि वाला जीव ऐसा कहता है (पर पर्जाव वयन अप्पानं) यह पर जीव धनादि शरीर ही में आत्मा हूँ (पर त्रिधं च स उत्तं) पर की हानि-वृद्धि को अपनी हानि-वृद्धि कहता है अर्थात् शरीर धनादि कुटुम्ब की वृद्धि को अपनी आत्मा की वृद्धि मानता है (न्यानंतरं नरय दुष्य वीयम्मि) ऐसे मिथ्याज्ञान से नरक के दुःख का बीज बोता है।

(कल संकप्प वियप्पं) शरीर संबंधी नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प करता है (कल दिस्ती च अनिस्ट संजुत्तं) शरीर दृष्टि अर्थात् शरीर में अहं बुद्धि रूप श्रद्धा ही अनिष्ट करने वाली है, इससे नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्म करता है (न्यान सहाव न दिट्ठं) उसे अपना ज्ञान स्वभावी आत्मा नहीं दिखता (न्यानं आवर्न दुष्य संतत्ता) ज्ञान के ऊपर आवरण डालकर अर्थात् अपने आत्म स्वरूप को भुलाकर दुःख से संतप्त रहता है।

विशेषार्थ - कलरंजन दोष में लीन जीव, परजीवों को और शरीरादि को ही आत्मा कहता है। शरीर धन परिवार की वृद्धि को अपनी वृद्धि मानता है, इनकी हानि या नाश को अपनी हानि या नाश मानता है, इसी के मद में

फूला रहता है। शरीर में आपापने के मिथ्याज्ञान से यह प्राणी शरीर के और परिवार के लिये अन्याय अनीति आदि पाप करता है, जिससे नरक के दुःखों का कारण पाप कर्म बांध लेता है।

शरीर में आत्मा की मान्यता यह “शरीर ही मैं हूँ” इसे संकल्प कहते हैं जिससे भविष्य के इष्ट-अनिष्ट की कल्पनायें हुआ करती हैं, इसी मान्यता सहित पूर्व में जो हो गया है, इसके संबंध में नाना प्रकार के भय, चिंता होना विकल्प कहलाते हैं। शरीर बुद्धि वाला जीव इस तरह के नाना प्रकार के अशुद्ध विचारों में फंसा अपना अनिष्ट करता है, इनसे छूटने बचने के लिये कुदेव कुगुरु आदि के जाल में फंसकर नाना प्रकार खोटे कर्म करता है। उसको मैं ज्ञान स्वभावी आत्मा हूँ ऐसी श्रद्धा नहीं आती है। घोर अज्ञान से ऐसा तीव्र ज्ञानावरण का बंध करता है कि निगोद में चला जाता है और हमेशा दुःखों से संतप्त रहता है।

कलरंजन दोष में फंसे जीव को यह भ्रम रहता है कि ऐसी-ऐसी मनोनुकूल परिस्थिति बन जाये अर्थात् धन, मान, आदर, सत्कार, पद, योग्यता, स्वास्थ्य और परिवार आदि मन चाहे पदार्थ मिल जायें तो वह सुखी हो जायेगा, इसके लिये नाना प्रकार के करने न करने योग्य कार्य करता है। रात-दिन संकल्प-विकल्प करता है। भयभीत चिंतित रहता है और अशुभ कर्म का बंध करके नरकादि दुर्गतियों में चला जाता है।

जब तक जीव की दृष्टि शरीर की तरफ रहती है एवं शरीर के साथ उसकी मानी हुई एकता रहती है, तब तक वह परमात्म स्वरूप होते हुए भी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि रहता है। भेदज्ञान पूर्वक भिन्न जान लेने पर एक सच्चिदानंद घन परमात्मा ही हूँ ऐसा अनुभव हो जाता है।

मनुष्य शरीर केवल परम पद मोक्ष प्राप्त करने के लिये मिला है, अपने आत्म स्वरूप का ज्ञान होने से यह जीव संसार के जन्म-मरण से मुक्त हो सकता है। मनुष्य भव धनादि पदार्थों का अर्जन एवं संग्रह करने और उनसे सुख भोगने के लिये नहीं है; इसलिये झूठ कपट पापादि का त्याग कर संयम तप द्वारा अपने आत्म स्वरूप को जानने पहिचानने, उस मय रहने का पुरुषार्थ करना चाहिये। यह तो प्रायः सभी मनुष्य मानते हैं कि धन परिवार शरीरादि की प्राप्ति में पूर्व कर्म बंधोदय की प्रधानता है। जो वस्तु प्रारब्धानुसार मिलने वाली है वह तो अवश्य मिलेगी ही, न मिलने वाली वस्तुएं नाना प्रकार के

उद्योग और झूठ कपटादि के व्यवहार से भी नहीं मिलती हैं और इस अज्ञान के परिणाम स्वरूप दुःख भोगना पड़ते हैं तथा दुर्गति में जाना पड़ता है।

अपने अज्ञान अर्थात् अपनी भूल के कारण शरीरादि के साथ एकता करके जीव दुःखों को भोग रहा है। अपने आत्म स्वरूप का ज्ञान हो जाने से अज्ञान के कार्य रूप संपूर्ण दुःख मिट जाते हैं।

शरीर में एकत्व और रागभाव के कारण कलरंजन दोष के क्या परिणाम होते हैं, यह आगे गाथा में कहते हैं -

कल परिणाम उवन्नं, लाज भय गारवेन दिष्टेई।

ससंक न्यान सहकारं, कल संजोय दुष्य वीयम्मि ॥ १४६ ॥

कलं च उत्साह दिष्टं, अन्यानं सहाव अन्मोय संदिष्टं।

न्यानंकुरं न लहियं, न्यानं आवर्न नरय वीयम्मि ॥ १४७ ॥

कलरंजन दोष उवन्नं, असुद्धं अन्यान अन्मोय सहकारं।

पर पुगलं सरुवं, कलरंजन दोष दुग्गए पत्तं ॥ १४८ ॥

अन्वयार्थ - (कल परिणाम उवन्नं) शरीर में एकत्व, रागभाव होने से नाना परिणाम पैदा होते हैं (लाज भय गारवेन दिष्टेई) कलरंजन से लाज भय गारव दिखाई देता है (ससंक न्यान सहकारं) शंका सहित ज्ञान का सहकार करता है अर्थात् ऊपर से धर्म-कर्म सिद्धान्त, ज्ञान की बातें करता है और अंतर में शंकित भयभीत रहता है (कल संजोय दुष्य वीयम्मि) शरीर के सजाने संवारने आदि संयोग से हमेशा दुःखी चिंतित रहता है।

(कलं च उत्साह दिष्टं) शरीर के प्रति बहुत उत्साही दिखाई देता है (अन्यानं सहाव अन्मोय संदिष्टं) अज्ञान स्वभाव की अनुमोदना करता है और उसी को देखता है (न्यानंकुरं न लहियं) भेदज्ञान, आत्मज्ञान की बात नहीं सुहाती है, ज्ञान को ग्रहण नहीं करता है (न्यानं आवर्न नरय वीयम्मि) ज्ञान के ऊपर आवरण डालकर नरक का बीज बोता है।

(कलरंजन दोष उवन्नं) कलरंजन दोष पैदा होने से (असुद्धं अन्यान अन्मोय सहकारं) अशुद्ध शुभाशुभ कर्म, अज्ञान, संसारी व्यवहार की अनुमोदना और सहकार करता है (पर पुगलं सरुवं) परद्रव्य, परजीव, पुद्गलादि शरीर को अपना स्वरूप मानता है, अपने आत्म स्वरूप को देखता

जानता ही नहीं है (कलरंजन दोष दुग्गए पत्तं) कलरंजन दोष से दुर्गति का पात्र बनता है।

विशेषार्थ - कलरंजन दोष के क्या परिणाम होते हैं, इस बात को यहाँ बताया जा रहा है। कलरंजन दोष वाला जीव हमेशा लाज भय गारव सहित होता है, सैद्धांतिक ज्ञान की बातें करता है परंतु स्वयं सशंकित भयभीत रहता है। अपने शरीर के बनाव श्रृंगार को देखता रहता है। अच्छे-अच्छे वस्त्र मकान और बाहरी साज सज्जा, खान-पान के जुटाने में लगा रहता है। धर्म चर्चा करके अपनी आजीविका चलाता है, लोगों को ज्ञान की बातें बताकर स्वयं धन संग्रह करता है। कोई मेरी निन्दा बुराई आलोचना न करे इसी से हमेशा भयभीत सशंकित रहता है। शरीर के सुखियापने के लिये मायाचारी करके पापकर्म का बंध करता है।

शरीर के तीव्र राग से शरीर की चेष्टा का बड़ा उत्साह हो जाता है, अपने को रूपवान, बलवान, भोगासक्त देखकर बड़ा प्रसन्न रहता है। जो धर्म साधना, व्रत, उपवास, संयम, नियम का पालन करते हैं, उनकी विराधना, आलोचना करता है, उनसे घृणा करता है, ज्ञान की चर्चा करता है। भेदज्ञान, तत्त्व निर्णय दूसरों को बताता है, स्वयं ग्रहण नहीं करता है, अपने ज्ञान के मद में फूला रहता है, तीव्र ज्ञानावरण कर्म और नरक आयु बांधकर नरक चला जाता है।

शरीर को ही सब कुछ मानकर जो शरीर में रत रहते हैं, वे शुद्ध आत्मीक भावों पर लक्ष्य न देते हुए अशुद्ध विषय-कषाय, शुभाशुभ कर्म में लगे रहते हैं तथा अनेक प्रकार देव मूढ़ता, गुरु मूढ़ता व लोक मूढ़ता में फंसे रहते हैं, उनकी दृष्टि पुद्गल पर ही रहती है। धन, शरीर, परिवार के लिये ही नाना प्रकार के मायाचार करते रहते हैं। इस प्रकार कलरंजन दोष के कारण जीव दुर्गति चला जाता है।

चेतन और जड़, विद्या और अविद्या, प्रकाश और अंधकार, गुण और दोष से पूर्ण यह विचित्र सृष्टि है, इसमें मनुष्य को विवेक, बुद्धि की विशेषता है, जिसके सहारे वह जड़ अविद्या (अज्ञान) अंधकार और दोष का परित्याग कर चेतन, विद्या (ज्ञान) प्रकाश और गुण का आश्रय करके अपने सत्य स्वरूप को जानते हुए परमार्थ पथ में उत्साह और उल्लास के साथ चलता रहे। मनुष्य के विवेक बुद्धि की यह स्वाभाविकता तभी सार्थक है, जब मनुष्य

सतत् सतर्क एवं सावधान होकर अहर्निश भीतर से जागरूक होकर अपने स्वरूप के स्मरण-चिंतन ध्यान में लगा रहे।

उद्देश्य का विस्मरण ही सारी विपत्ति का मूल है। जहाँ उद्देश्य एक क्षण के लिये भी विस्मृत हुआ कि प्रपंच के लुभावने पर्दे आंखों पर और बुद्धि पर पड़े कि बुद्धि अपना विवेक खो देती है। मन की लगाम ढीली पड़ जाती है, इन्द्रियाँ विषयों के मोहक रूप पर आसक्त हो जाती हैं और सबसे भयावह परिणाम यह होता है कि बुद्धि के दोष से असत् में सत् बुद्धि, अपवित्र में पवित्र बुद्धि, असुख में सुख बुद्धि और अनित्य में नित्य बुद्धि हो जाती है; इस कारण मनुष्य स्वभावतः असत्, असुख, अपवित्र और अनित्य शरीरादि संयोग की आराधना करने लगता है क्योंकि उनके रूप पर आकर्षण का जो स्वर्ण मय आवरण पड़ा है, वही उसे उसके सत्यरूप को देखने नहीं देता यही कलरंजन दोष है और इसी वृत्ति का नाम जड़ उपासना है।

मन, बुद्धि और इन्द्रियादि सहित जो स्थूल शरीर देखने में आता है, यह परिवर्तनशील क्षीण होने वाला एवं नाशवान है और इसमें जो चैतन्य ज्योति परमात्म स्वरूप है, इन दोनों को भिन्न जानना ही ज्ञान है तथा जो इन्हें भिन्न जानता, अनुभवता है वह ज्ञानी है।

देह आत्मा नहीं है, आत्मा देह नहीं, घटादि को देखने वाला जैसे घटादि से भिन्न है, वैसे ही देह को देखने जानने वाला आत्मा देह से भिन्न है। विचार करते हुए यह बात प्रगट अनुभव सिद्ध होती है तो इस देह के स्वाभाविक क्षय, वृद्धि, रूपादि परिणाम देखकर हर्ष, शोकवान होना किसी प्रकार से संगत नहीं है।

देह से जैसा वस्त्र का संबंध है वैसा ही जिन्होंने आत्मा से देह का संबंध यथा तथ्य देखा है, म्यान से जैसे तलवार का सम्बंध है उसी प्रकार जिन्होंने देह से आत्मा का संबंध देखा है और जिन्होंने अबद्ध स्पृष्ट आत्मा का अनुभव किया है, उन महापुरुषों को जीवन और मरण समान हैं।

कलरंजन दोष से छूटने के उपाय -

१. शरीर के आदर सत्कार और कल्पित नाम की कीर्ति एवं प्रतिष्ठा की चाह का अभाव होना।

२. मान पूजा आदर प्रतिष्ठा लाभ आदि के लिये किये जाने वाले कपट

पूर्ण आचरण का अभाव होना ।

३. शरीर मन वाणी से किसी भी प्राणी को किसी प्रकार कभी भी किंचित् मात्र दुःख न देना ।

४. शरीर मन और वाणी की सरलता एवं निस्पृहता होना ।

५. मन, इन्द्रियों के सहित शरीर को वश में रखना ।

यह मानुष पर्याय, सुकुल सुनिवो जिनवाणी ।

इह विधि गये न मिले, सुमणि ज्यों उदधि समानी ॥

कलरंजन दोष छोड़कर इस शरीर का सदुपयोग अपने आत्महित में कर लें, इसके लिये आगे गाथा कहते हैं -

कलरंजन जिन उवएसं, सुद्धं सम्मत्त न्यान सहकारं ।

दंसन अनंत दर्स, अप्पा परमप्प लप्प सुभावं ॥ १४९ ॥

चरनंपि दुविह भेयं, सहकारेन तवंपि विमलं च ।

दंसन चौविहि जुत्तं, न्यानं अवयास तजंति अन्यानं ॥ १५० ॥

अन्वयार्थ - (कलरंजन जिन उवएसं) मनुष्य भव- यह शरीर मिलने की सार्थकता का उपदेश यही है कि (सुद्धं सम्मत्त न्यान सहकारं) शुद्ध सम्यक्दर्शन पूर्वक सम्यक्ज्ञान को स्वीकार किया जाये (दंसन अनंत दर्स) अपने अनंत चतुष्टयमयी स्वरूप को देखा जाये (अप्पा परमप्प लप्प सुभावं) आत्मा का परमात्म स्वभाव झलक जावे ।

(चरनंपि दुविह भेयं) दोनों प्रकार के चारित्र का पालन किया जावे (सहकारेन तवंपि विमलं च) उस चारित्र के साथ निर्मल तप भी करना योग्य है (दंसन चौविहि जुत्तं) चार प्रकार के दर्शन में युक्त रहना (न्यानं अवयास) ज्ञान का अभ्यास करना (तजंति अन्यानं) जिससे अज्ञान मिट जाता है ।

विशेषार्थ - कलरंजन दोष इसलिये बताये हैं कि जीव का रागभाव इस नाशवंत पुद्गल मय शरीर से छूट जावे और शुद्धात्मा की प्रतीति रूप सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान का प्रकाश हो जावे तभी इस मनुष्य भव की सार्थकता है ।

जब तक पर्याय बुद्धि का अहंकार नहीं मिटता है तब तक जीव बहिरात्मा बना संसार में रूढ़ता है । अपने अनंत चतुष्टयमयी स्वरूप के दर्शन होने से आत्मा का परमात्म स्वभाव झलक जाता है, जिससे आत्मा सर्व कर्म संयोग से

मुक्त होकर परमात्मा हो जाता है । इसके लिये इस शरीर का सदुपयोग चारित्र का पालन करने, संयम तप की साधना करने में करना चाहिये । चारित्र दो प्रकार का कहा गया है- १. सम्यक्त्वाचरण चारित्र २. संयमाचरण चारित्र । दोनों प्रकार के चारित्र के साथ निर्मल तप करना भी योग्य है ।

१. सम्यक्त्वाचरण चारित्र में - २५ दोष से रहित शुद्ध सम्यक्दर्शन का पालन करना ।

२. संयमाचरण चारित्र में - तेरह विधि चारित्र - ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति का पालन करते हुए आत्मध्यान की साधना करना ।

३. तप के बारह भेद - छह बाह्य और छह आभ्यंतर ।

बाह्य तप - अनशन, ऊनोदर, वृत्ति परिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश ।

अंतरंग तप - प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ।

इस प्रकार तप सहित पूर्ण चारित्र का पालन करने से चार प्रकार के दर्शनोपयोग की साधना होती है, जिससे समस्त अज्ञान छूटकर केवलज्ञान का प्रकाश होता है ।

मानव शरीर आत्म कल्याण करने के लिये मिला है, इससे सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान प्राप्त करके सम्यक्चारित्र का पालन करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है, आत्मा परमात्मा हो जाता है ।

चेतन को जड़ से तादात्म्य होने के कारण ही बहिरात्मा (जीवात्मा) कहते हैं । विवेक विचार पूर्वक जड़ से सर्वथा विमुख होकर अपने परमात्म स्वरूप के दर्शन को सम्यक्दर्शन, स्व-पर के यथार्थ ज्ञान को सम्यक्ज्ञान कहते हैं । सम्यक्दर्शन ज्ञान पूर्वक पाप विषय कषाय से हटकर अपने स्वभाव में रहना सम्यक्चारित्र है । यथार्थ संयम तभी समझना चाहिये जब इंद्रियों, मन, बुद्धि तथा अहं इन सबसे राग आसक्ति का सर्वथा अभाव हो जावे ।

१. पहली प्रक्रिया में साधक एकांत काल में मन और इंद्रियों का संयम करता है फिर विवेक विचार जप ज्ञान ध्यान आदि से मन का संयम होने लगता है, जब राग का अभाव हो जाता है तब संयम शुद्ध होने पर एकांत काल और व्यवहार काल दोनों में उसकी स्थिति समान रहती है ।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यह पांच यम हैं, जिन्हें

महाव्रत के नाम से कहा गया है। इन व्रतों का सार यही है कि मनुष्य संसार से विमुख और मुक्त हो जाये।

शरीर से जो क्रियायें होती हैं, वाणी से जो कथन होता है और जो मन से संकल्प होते हैं वे सभी कर्म कहलाते हैं।

अंतःकरण में ३ दोष होते हैं -

१. मल (संचित पाप) - २५ दोष। २. विक्षेप - चित्त की चंचलता, संशय, विभ्रम, विमोह। ३. आवरण - अज्ञान, पूर्व कर्म बंधोदय। इन सबसे हटकर भेदज्ञान द्वारा अपने स्वरूप को भिन्न जानना तत्त्वज्ञान है। जैसे-अग्नि काष्ठ को भस्म कर देती है, वैसे ही तत्त्वज्ञान रूपी अग्नि-संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण तीनों कर्मों को भस्म कर देती है; इसलिये इस शरीर के माध्यम से अपने सत्स्वरूप शुद्धात्मा का ज्ञान श्रद्धान कर अज्ञान मिथ्यात्व से छूटना ही मुक्ति मार्ग है।

इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं -

सुद्ध सहावं पिच्छदि, अप्पा सुद्धप्प विमल ज्ञानत्थं।

विन्यान न्यान सुद्धं, न्यान सहावेन सयल तं भनियं ॥ १५१ ॥

अन्यानं नहु पिच्छदि, न्यान सहावेन रूव रूवं च।

दुबुहि रूव नहि दिट्ठं, सुद्धं न्यानं च रूव मिलियं च ॥ १५२ ॥

अन्वयार्थ - (सुद्ध सहावं पिच्छदि) अपने शुद्ध स्वभाव को पहिचानो (अप्पा सुद्धप्प विमल ज्ञानत्थं) आत्मा शुद्धात्मा विमल, सारे कर्म मलों से रहित है ऐसा ध्यान करो (विन्यान न्यान सुद्धं) इसी से भेदज्ञान तथा ज्ञान शुद्ध होता है (न्यान सहावेन सयल तं भनियं) ज्ञान स्वभाव मात्र तुम हो, ऐसा कहा गया है।

(अन्यानं नहु पिच्छदि) अब अज्ञान रूप परिणमन मत करो, अज्ञान को मत पहिचानो (न्यान सहावेन रूव रूवं च) ज्ञान स्वभाव से अपने आत्म स्वरूप को जानो, अपने स्वरूप को देखो (दुबुहि रूव नहि दिट्ठं) दुर्बुद्धि रूप मत देखो, अनादि अज्ञान मिथ्यात्व को छोड़ो (सुद्धं न्यानं च रूव मिलियं च) शुद्ध ज्ञान पूर्वक अपने शुद्ध स्वरूप में रत रहो, शुद्धोपयोग की साधना का पुरुषार्थ करो।

विशेषार्थ - मनुष्य भव की सार्थकता और विशेषता तभी है जब अपने

आत्म स्वरूप शुद्धात्मा को पहिचानो, मैं आत्मा शुद्धात्मा, परमात्मा, विमल, ममल स्वभावी हूँ इसका ध्यान करो। इसी से भेदज्ञान तथा ज्ञान शुद्ध होता है। ज्ञान स्वभाव की साधना से समस्त शरीरादि कर्म संयोग छूट जाते हैं, ऐसा जिनवाणी में कहा है और तुम भी कह रहे हो। अब यह अज्ञान मिथ्यात्व छोड़ो, इनकी तरफ मत देखो, यह दुर्बुद्धि रूप परिणमन मत करो, अपने ज्ञान स्वभाव से अपने स्वरूप की साधना करो, अपने स्वरूप में मुक्ति श्री से मिलो तभी तुम्हारे इस मनुष्य भव को प्राप्त करने की सार्थकता है। कलरंजन दोष से अनादि काल से संसार में भटके हो, अब इस शरीर के द्वारा संयम तप करके मुक्ति को प्राप्त करो।

सम्यक्त्वी जीव शुद्ध स्वरूप का श्रद्धानी आत्म ध्यान का अभ्यास करता रहता है, मैं शुद्धात्मा ब्रह्म स्वरूपी परमात्मा हूँ ऐसा ध्याने से उसका भेदज्ञान निर्मल होता है। आत्मा-अनात्मा का विवेक, ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से ज्ञान बढ़ जाता है।

सम्यक्दृष्टि के कुमति, कुश्रुत व कुअवधिज्ञान नहीं रहता है, उसका अज्ञान और दुर्बुद्धि विला जाती है फिर वह अज्ञान और दुर्बुद्धि की तरफ देखता भी नहीं है। शुद्धात्मा का ध्यान करके अपने उपयोग को उसमें जोड़ता है, संसारी राग विषय में नहीं उलझता, आत्मानुभव का बड़ा ही रसिक होता है।

जीव स्वरूप से अकर्ता तथा सुख-दुःख से रहित है, केवल अपनी दुर्बुद्धि मूढ़ता के कारण वह कर्ता बन जाता है और कर्म फल के साथ संबंध जोड़कर सुखी-दुःखी होता है। जिन पुरुषों ने अपने भेदविज्ञान के द्वारा अज्ञान को नष्ट कर दिया है अर्थात् असत् परिस्थिति पदार्थ आदि आने-जाने वाले हैं और स्वयं सत्स्वरूप रहने वाला है, ऐसा अनुभव करके असत् से सर्वथा सम्बंध विच्छेद कर लिया है, उनका वह ज्ञान, जैसे-सूर्य सब वस्तुओं को प्रकाशित करता है, वैसे ही लोकालोक को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान के रूप में प्रगट होता है; इसलिये मनुष्य भव का सदुपयोग ज्ञान स्वभाव की साधना करने में करो, इसमें जाति कुल आदि मत देखो।

इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं -

जायि कुलं नहु पिच्छदि, सुद्धं संमत्त दंसनं पिच्छइ।

न्यान सहाव अन्मोयं, अन्यानं सल्य मिच्छ मुंचेइ ॥ १५३ ॥

न्यानस्य न्यान रूवं, दंसन दंसेइ न्यान सहकारं ।

अन्यान मिच्छ तिक्तं, न्यानं अन्मोय रूव रूवं च ॥ १५४ ॥

अन्वयार्थ - (जायि कुलं नहु पिच्छदि) जाति कुल मत देखो, कोई भी मनुष्य, संज्ञी पंचेन्द्रिय पशु, नारकी, देव सभी सम्यक्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं, धर्म साधना में कोई जाति कुल का बंधन नहीं है (सुद्धं संमत्त दंसनं पिच्छइ) शुद्ध सम्यक्दर्शन होने की आवश्यकता है (न्यान सहाव अन्मोयं) अपने ज्ञान स्वभाव का आलंबन करो (अन्यानं सल्य मिच्छ मुंचेइ) अज्ञान, शल्य, मिथ्यात्व सब छूट जायेंगे ।

(न्यानस्य न्यान रूवं) ज्ञान का ज्ञान स्वरूप है, आत्मा का ज्ञान स्वरूप ही है (दंसन दंसेइ न्यान सहकारं) ज्ञान के सहकार से अपने सम्यक्दर्शन स्वरूप को देखो (अन्यान मिच्छ तिक्तं) अज्ञान मिथ्यात्व को छोड़ो (न्यानं अन्मोय रूव रूवं च) ज्ञान के आलंबन से अपने स्वरूप को देखो, यह शरीर को मत देखो ।

विशेषार्थ - सम्यक्दर्शन को हर एक जाति व कुल का बुद्धिमान मनुष्य, हर एक नारकी, हर एक देव व हर एक सैनी पंचेन्द्रिय पशु प्राप्त कर सकता है क्योंकि इसका संबंध आत्मा से है । धर्म साधना मुक्ति प्राप्त करने में प्रत्येक जीव स्वतंत्र है । हर मनुष्य सम्यक्दर्शन प्राप्त कर सकता है, इसमें जाति कुल का भेद नहीं है । अपने ज्ञान स्वभाव का आलंबन लेने से अज्ञान, मिथ्यात्व, शल्य आदि सब छूट जाते हैं । जहाँ शुद्ध सम्यक्दर्शन, निज शुद्धात्मानुभूति होती है वह अपने ज्ञान स्वभाव का ही आलंबन रखता है, उसका सब अज्ञान मिथ्यात्व छूट जाता है, वहाँ शरीरासक्ति रूप मिथ्याज्ञान और कोई शल्य नहीं रहती । उसके अपने ज्ञान स्वभाव आत्मा के सिवाय पर वस्तु में परमाणु मात्र भी राग भाव नहीं रहता है ।

सम्यक्दृष्टि साधक ज्ञान के वास्तविक स्वरूप को जानता है । मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ, इस प्रतीति को निश्चय सम्यक्दर्शन और मैं शुद्ध आत्मा ही हूँ, निःसंशय ज्ञान को सम्यक्ज्ञान और अपने ज्ञान स्वभाव में स्थिर रहने को सम्यक्चारित्र जानता है । उसकी दृष्टि निर्मल हो गई है, उसका अज्ञान मिथ्यात्व छूट जाता है, वह अपने ज्ञानानंद स्वभाव में मगन रहकर अतीन्द्रिय आनन्द भोगता है ।

सम्यक्दर्शन चाहे ब्राह्मण को हो अथवा चांडाल को, दोनों को एक ही तत्त्व की प्राप्ति होती है ।

ज्ञान स्वभावी आत्मा शुद्धात्म तत्त्व में कोई दोष विकार या विषमता है ही नहीं, जितने भी दोष या विषमतायें आती हैं वे सब अज्ञान मिथ्यात्व से राग पूर्वक सम्बंध मानने से आती हैं । परमात्म तत्त्व, कर्म प्रकृति और अज्ञान मिथ्यात्व के सम्बंध से सर्वथा निर्लिप्त है ।

भोगों को प्राप्त करना अपने वश की बात नहीं है क्योंकि इसमें प्रारब्ध की प्रधानता और मनुष्य की परतंत्रता है परंतु अपने ज्ञान स्वभावी परमात्म तत्त्व की प्राप्ति प्रत्येक मनुष्य कर सकता है, इसके लिये ही यह मनुष्य शरीर मिला है ।

स्वरूप का ज्ञान स्वयं के द्वारा ही स्वयं को होता है, इसमें ज्ञाता ज्ञेय का भाव नहीं रहता । जिस भव्य जीव को निज शुद्धात्मानुभूति शुद्ध सम्यक्दर्शन होता है, उसे कभी विकल्प, संदेह, विपरीत भावना, असंभावना आदि होती ही नहीं है, उसे ही सम्यक्दृष्टि ज्ञानी कहते हैं ।

मानी हुई बात, न मानने पर टिक नहीं सकती और मान्यता को पकड़े रहने पर किसी अन्य साधन से मिट नहीं सकती । जब तक तत्त्व प्राप्ति का दृढ़ निश्चय नहीं होता तब तक अच्छे-अच्छे साधकों के अंतःकरण में भी कुछ न कुछ द्विविधा विद्यमान रहती है ।

यदि साधक का यह दृढ़ निश्चय हो जाये कि मुझे परमात्म पद के सिवाय कुछ नहीं चाहिये तो वह वर्तमान में ही मुक्त हो सकता है ; परंतु यदि वस्तुओं के सुख भोग और जीने की इच्छा रहेगी तो इच्छा कभी पूरी नहीं होगी और मृत्यु के भय से भी बचाव नहीं होगा तथा क्रोध से भी छुटकारा नहीं होगा इसलिये अज्ञान मिथ्यात्व शल्य रहित होना आवश्यक है ।

सम्यक्त्व में पूछी न जाती, जात रे न पांत रे ।

सम्यक्त्व में उठती न, हेयाहेय कुल की बात रे ॥

सम्यक्त्व के संसार में, सम्यक्त्व ही बस ज्ञेय है ।

पर वस्तु सब मिथ्यात्व है, अज्ञान सारा हेय है ॥

दर्शन यही, सारे विकारों से रहित है आत्मा ।

है ज्ञान यह ही आत्मा ही, है कि बस परमात्मा ॥

**चारित्र बस यह ही कि, रे व्यवहार सब निस्सार है ।
मैं पूर्ण ज्ञानानंद हूँ, यह चिंतवन ही सार है ॥**

(चंचल जी)

इस मनुष्य भव की सार्थकता सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र सहित तप का पालन कर मुक्ति को प्राप्त करने में ही है, इसमें छोटे-बड़े का भेद नहीं है, ज्ञान ज्योति जगाना ही श्रेयस्कर है। इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं -

लहु दीरघ नहु पिच्छड़, न्यान सहावेन अन्मोय संजुतं ।

हितमित परिनइ सुद्धं, कोमल परिनाम अन्मोय संजुतं ॥ १५५ ॥

सम्मत्त सहित दंसन, न्यान सहित चरन तवयरनं ।

ममलं ममल सहावं, अन्मोयं न्यान सुगए जंति ॥ १५६ ॥

अन्वयार्थ - (लहु दीरघ नहु पिच्छड़) छोटा बड़ा मत देखो, धर्म साधना मुक्ति प्राप्त करने में आयु, अवस्था, परिस्थिति नहीं देखी जाती (न्यान सहावेन अन्मोय संजुतं) अपने ज्ञान स्वभाव का आलम्बन रखो और उसी में लीन रहो (हितमित परिनइ सुद्धं) अपने शुद्धात्म स्वरूप में परिणमन करना ही हितकारी और इष्ट है (कोमल परिनाम अन्मोय संजुतं) अपने कोमल सरल सहज भाव रखो, ज्ञान का आलम्बन रखो और उसमें ही लीन रहो ।

(सम्मत्त सहित दंसन) सम्यक्त्व सहित दर्शन (न्यान सहित चरन तवयरनं) ज्ञान सहित चारित्र और तप को धारण करना (ममलं ममल सहावं) मैं ममल से ममल स्वभावी हूँ अर्थात् अनादि शुद्ध निरावरण चैतन्य ज्योति ममल स्वभावी ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा हूँ (अन्मोयं न्यान सुगए जंति) ऐसे ज्ञान का आलंबन लेने, आश्रय करने से सुगति की प्राप्ति होती है ।

विशेषार्थ - मनुष्य भव की सार्थकता धर्म साधना कर मुक्ति प्राप्त करने में है, इसमें छोटे-बड़े को मत देखो, यहाँ आयु अवस्था परिस्थिति नहीं देखी जाती, यहाँ तो “शुभस्य शीघ्रम्” की बात है। जब अपने भाव जाग जायें तभी उठकर चल देना ही इष्ट हितकारी है। कल क्या होगा ? इसका भरोसा और पता भी नहीं है। आयु का अंत, आयु का बंध, पाप का उदय कब आ जाये ? फिर चाहते हुए भी कुछ नहीं हो सकता इसलिये ज्ञान स्वभाव का आलंबन रखो और उसी में लीन रहो। अपने शुद्धात्म स्वभाव में परिणमन करना ही हितकारी और इष्ट है, अब यह कषाय, राग-द्वेष के भाव

छोड़ो अपने कोमल सरल सहज भाव रखो, ज्ञान का आलंबन रखो और उसी में लीन रहो ।

खबर नहीं है, कोई की इक पल की ।

जो कुछ करना होय सो कर लो, को जाने कल की ॥

कलियुग का यह निकृष्ट काल है, घोर पतन होवे ।

आयु काय का पता नहीं है, किस क्षण में खोवे ॥

जीवन क्षणभंगुर है जैसे, ओस बूंद जल की...जो कुछ...

आत्म कल्याण की प्रबल भावना सहित शुद्ध सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान पूर्वक सम्यक्चारित्र का पालन करना और तप धारण करने में ही मनुष्य भव की सार्थकता है। मैं ममलह ममल स्वभावी शुद्ध चैतन्य शुद्धात्मा हूँ, ऐसे ज्ञान स्वभाव निज स्वरूप का आश्रय करने से सद्गति और मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

बुद्धिमान मनुष्यों को यह स्मरण रखना चाहिये कि आत्मा को इस विशिष्ट मानव योनि की प्राप्ति करोड़ों वर्षों तक देहान्तर करने के बाद हुई है। चार गति चौरासी लाख योनियों का चक्र अनादि से चल रहा है। इस भव सागर में यह मानव योनि एक नौका की तरह है, धर्म शास्त्र और सद्गुरु कुशल नाविक हैं और इस मानव देह में प्राप्त सुविधायें- १. बुद्धि, २. स्वस्थ शरीर, ३. पुण्य का उदय, यह अनुकूल वायु है जो सही दिशा में ले जा सकती है, यदि इन सुविधाओं शुभ योग के रहते भी कोई मनुष्य अपने आत्म हित (स्वरूप साक्षात्कार, सम्यक्दर्शन) का प्रयत्न नहीं करता तो उसे अपनी आत्मा का घातक समझना चाहिये जिसका परिणाम अनंत दुःख भोगना पड़ेगा। मनुष्य शरीर उच्च कुल आदि जीवन की परम संसिद्धि है। इंद्रियों से ऊपर मन है, मन से ऊपर बुद्धि है और बुद्धि से भी परे आत्मा है अतएव स्वरूप साक्षात्कार आत्मा की दिव्य महिमा की अनुभूति का लक्ष्य होना चाहिये।

सम्यक्दर्शन आत्मा का एक अपूर्व गुण है। उसके साथ यथार्थ श्रद्धान ही सम्यक् श्रद्धान है, ज्ञान सम्यक्ज्ञान है। सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान सहित जो चारित्र व तप है वही सम्यक्चारित्र व सम्यक्तप है। जहाँ इन चारों की एकता है वहीं ममलह ममल स्वभाव है। इसी दशा को स्वात्म लीनता, स्वात्मानुभव कहते हैं। जो इस ज्ञान स्वभाव का आलंबन करते हैं उनको

ऐसा पुण्य बंध होता है जिससे वे सद्गति और मुक्ति पाते हैं।

इस शरीर का सदुपयोग सच्चे ज्ञान को उपलब्ध करने में ही करना चाहिये जिसके लिये निम्न उपाय हैं -

१. सदाचार और संयम का पालन करते हुए मन और इन्द्रियों को वश में करना।

२. केवल नाम और यश के लिये धर्म का दम्भ नहीं करना चाहिये।

३. अपने देह के कर्मों, अपने मन के विचारों अथवा अपने वचनों से दूसरों को उद्वेग नहीं पहुंचना चाहिये।

४. दूसरों से उत्तेजना मिलने पर भी सहिष्णुता का अभ्यास करना चाहिये।

५. दूसरों (सब जीवों) से अपने व्यवहार में सरलता विनम्रता रखना।

६. ऐसे सद्गुरु को खोजना चाहिये जो आत्मानुभूति की ओर क्रमशः मार्गदर्शन कर सकें फिर उनकी शरण होकर सेवा भाव से तत्त्व जिज्ञासा करना।

७. सम्यक्दर्शन के लिये शास्त्रीय विधि विधान का पालन करना चाहिये।

८. शास्त्र सिद्धांत में दृढ़ निष्ठा रखना।

९. सम्यक्दर्शन में बाधक क्रियाओं (पच्चीस दोषों) का पूर्ण रूप से त्याग करना।

१०. शरीर धारण की आवश्यकता से अधिक पदार्थों का ग्रहण, संग्रह नहीं करना।

११. स्थूल जड़ देह में अहंकार नहीं करना और न देह के सम्बंधियों से ममता रखना चाहिये।

१२. निरंतर स्मरण रखना चाहिये कि जब तक जड़ देह का संयोग रहेगा तब तक बारम्बार जन्म-मरण, जरा-व्याधि के दुःख भोगना पड़ेंगे, इसके लिये बड़ी-बड़ी योजनायें बनाना व्यर्थ है।

१३. स्त्री, संतान और घर में शास्त्र की आज्ञा से अधिक आसक्ति नहीं रखना चाहिये।

१४. मन की कल्पना (संकल्प-विकल्प) के इष्ट-अनिष्ट से सुख-दुःख नहीं मानना।

१५. शुद्धात्म स्वरूप के भक्त बनकर अनन्य भाव से उसकी आराधना करना।

१६. ऐसे एकान्त स्थान में रहना चाहिये, जहाँ का वातावरण प्रिय हो, शांत और आत्मविद्या के अनुकूल हो, विकल्प के कारण व ऐसे स्थानों से बचना चाहिये।

१७. यह मानव योनि सबसे विकसित तब समझी जाती है, जब इसमें पूर्ण अध्यात्म ज्ञान की चेतना हो अर्थात् सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप का परिपूर्ण पालन हो।

इस प्रकार इस कलरंजन की दिशा मोड़ने से सच्चे ज्ञान पूर्वक मुक्ति की प्राप्ति होती है। भव बंधन से मुक्ति का पथ पूर्णरूप से ज्ञान वैराग्य पर निर्भर है। इस प्रकार इस कलरंजन दोष से बचकर इस शरीर का सदुपयोग धर्म साधना कर मुक्ति प्राप्त करने में ही मानव की श्रेष्ठता है।

जीव के संसार परिभ्रमण का कारण अज्ञान है, अज्ञान का मूल राग है। राग के तीन भेद हैं- १. जनरंजन राग २. कलरंजन दोष ३. मनरंजन गारव। जिसमें जनरंजन राग का स्वरूप तथा कलरंजन दोष के स्वरूप का वर्णन किया, आगे मनरंजन गारव का स्वरूप कहते हैं।

प्रश्न - मनरंजन गारव किसे कहते हैं ?

समाधान - मन की संतुष्टि, मन की प्रसन्नता के लिये नाना प्रकार का जो शुभाशुभ क्रिया कर्म किया जावे, जिससे अहंकार, आठ प्रकार का मद बढ़े उसे मनरंजन गारव कहते हैं, जो जीव को संसार में भ्रमाता, दुर्गति ले जाता है।

प्रश्न - इस मनरंजन का स्वरूप क्या है, इसमें क्या-क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

मनरंजन गारव उत्तं, मन सहकारेन सहाव संजुतं ।

मन उववन्न सहावं, मन आनन्द गारवं भनियं ॥ १५७ ॥

गारव मन संजुतं, गारव संसार सरनि मोहंथं ।

मन विषयं च सहावं, मन सहकारेन गारवं दिदं ॥ १५८ ॥

अन्वयार्थ - (मनरंजन गारव उत्तं) मनरंजन गारव का स्वरूप कहते

हैं (मन सहकारेन सहाव संजुतं) मन मनुष्य की एक विशेष जाग्रत शक्ति है, जिसके सहयोग से संसारी विषय कषाय की प्रवृत्ति से नरक निगोद की प्राप्ति होती है तथा स्वरूप साधना, धर्म की ओर उन्मुख होने से मुक्ति की प्राप्ति होती है, मन के सहयोग से ही स्वभाव में लीन हुआ जाता है (मन उववन्न सहावं) मन का निरंतर चलने, सक्रिय रहने का स्वभाव है (मन आनन्द गारवं भनियं) मन के आनंद को ही गारव कहते हैं क्योंकि यह बाह्य विभूति, धनादि ऐश्वर्य में ही प्रसन्न रहता है।

(गारव मन संजुतं) गारव में लगा हुआ मन (गारव संसार सरनि मोहंधं) अहंकार वश आठ मद में फंसाकर संसार परिभ्रमण कराता है और मोह से अंधा करता है (मन विषयं च सहावं) मन पांचों इन्द्रियों का राजा है, पंचेन्द्रिय के विषयों में रत रहना ही इसका स्वभाव है (मन सहकारेन गारवं दिदुं) मन का सहकार करने से गारव ही दिखाई देता है, अपना आत्म स्वरूप दिखाई नहीं देता।

विशेषार्थ - मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः। मन क्या पदार्थ है ? यह आत्मा और अनात्मा पदार्थ (शरीर) के बीच में रहने वाली एक विलक्षण वस्तु है, यह स्वयं अनात्म और जड़ है किंतु बंध और मोक्ष इसी के आधीन है। मन ही संसार है, मन नहीं तो जगत नहीं। मन विकारी है, इसका कार्य संकल्प-विकल्प करना है। यह जिस पदार्थ को भली भाँति ग्रहण करता है स्वयं भी तदाकार बन जाता है। ज्ञानी का मन आत्म स्वरूप में लगता है, अज्ञानी का मन संसारी प्रपंच रागादि में लगा रहता है। सारे अनर्थों की उत्पत्ति राग से होती है, राग न हो तो मन प्रपंचों की ओर न जाये। किसी भी विषय में गुण और सौंदर्य देखकर उसमें राग होता है, इसी से मन उस विषय में प्रवृत्त होता है, पांचों इन्द्रियों का मन राजा है, इन्द्रियों के विषयों में रत रहना ही मन का स्वभाव है, यह निरंतर सक्रिय रहता है। विचारों के प्रवाह को ही मन कहते हैं, इसका स्वभाव बड़ा चंचल चपल है। मन बाह्य वैभव धन-धान्य, कुटुम्ब-परिवार, पद, मान, प्रतिष्ठा आदि परिग्रह को देखकर मद करता है, बड़ा प्रसन्न रहता है, मन के आनंद को ही गारव कहते हैं। मन पांचों इन्द्रियों के विषयों में ही जीव को अंधा रखता है। इस मनरंजन गारव में फंसा जीव संसार में ही परिभ्रमण करता है, मोह में अंधा रहता है, पाप विषय कषायों में रत रहने से दुर्गति जाता है।

वैसे तो मन अचेतन है अतः उसमें क्रिया संभावित नहीं है तथापि आत्मा के साथ संपर्क होने से मन में क्रिया का अध्यास (राग) माना गया है। मन को अति चंचल तथा गतिशील कहा गया है। मन शरीर तथा इन्द्रियों पर सतत् नियंत्रण रखता है अतः मनुष्य कभी भी शांति का अनुभव नहीं कर पाता है। मन के प्रमुख कार्य - इन्द्रियों के साथ संपर्क करके विषयों को ग्रहण करना, इन्द्रियों तथा शरीर को नियंत्रित रखना, अपने आपको नियंत्रित रखना, विचारना, ध्यान करना, चिंतन-मनन करना आदि। मन अपना कार्य पूरा करता है, बाद में बुद्धि प्रवृत्त करती है तत्पश्चात् शरीर अपना कार्य प्रारंभ करता है।

मन दो प्रकार से प्रवृत्त होता है - १. विकृत मन-काम, क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या, लोभ, मद, मोह, भय, चिंता आदि विकार हैं जो संसार के कारण हैं। २. स्वकृत मन-आत्म स्वरूप के चिंतन मनन ज्ञान ध्यान वैराग्य में प्रवृत्त होना, इससे मुक्ति की प्राप्ति होती है।

मन लोभी मन लालची, मन चंचल मन चोर।

मन के मते न चालिये, मन पलक पलक में और॥

मनरंजन गारव, इन्द्रिय विषय सेवन में ही प्रवृत्त नहीं करता है, मनरंजन गारव मान प्रतिष्ठा पूजा आदि के लिये व्रत तप आदि में भी प्रवृत्त करता है। इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं -

वय तव गहन उवन्नं, छाया कुन्यान संजुत वय गहनं।

कुन्यानं च उवन्नं, गारव अन्मोय नरय वासम्मि ॥ १५९ ॥

संजम सम्मत्त सुभावं, छाया मिच्छत्त सत्य दुर्बुद्धी।

मिच्छा मय ससहावं, गारव उववन्न दुष्य वीयम्मि ॥ १६० ॥

अन्वयार्थ - (वय तव गहन उवन्नं) मनरंजन गारव व्रत तप ग्रहण करने के लिये प्रेरित करता है क्योंकि व्रत तप धारण करने से लोक में पूजा प्रतिष्ठा होगी (छाया कुन्यान संजुत वय गहनं) कुज्ञान सहित व्रत का ग्रहण करता है, मिथ्यात्व के साथ कुज्ञान होता है (कुन्यानं च उवन्नं) इससे कुज्ञान ही पैदा होता है, बढ़ता है (गारव अन्मोय नरय वासम्मि) मनरंजन गारव की पूर्ति के लिये उसमें लगे रहने से नरक में वास करना पड़ता है।

(संजम सम्मत्त सुभावं) संयम तो सम्यक्त्व का स्वभाव है, सम्यक्त्वी

को ही सही संयम व्रत तप होते हैं (छाया मिच्छत्त सत्य दुर्बुद्धी) मिथ्यात्व सहित व्रत तप ग्रहण करने से शल्य और दुर्बुद्धि बनी रहती है (मिच्छा मय ससहावं) मिथ्यात्वमय स्वभाव होने से (गारव उववन्न दुष्य वीयम्मि) गारव पैदा होता है जो कि दुःख का बीज है।

विशेषार्थ - मनरंजन गारव में फंसा जीव सांसारिक विषय-कषाय में तो लिप्त रहता ही है, यदि उसका मनचाहा नहीं होता, मान सम्मान ऐसे नहीं मिलता तो वह व्रत तप ग्रहण कर लेता है, त्यागी साधु हो जाता है परंतु मिथ्यात्व और कुज्ञान सहित होने से कुज्ञान ही बढ़ता है। तीव्र मिथ्यात्व से मायाचारी करता है, उसके भीतर तीव्र गारव भाव अनंतानुबंधी कषाय व कृष्ण लेश्या रूप हो जाता है, जिससे नरक में वास करना पड़ता है।

संयम उसे कहते हैं जहाँ सम्यक्दर्शन के साथ आत्म स्वभाव में स्थिरता हो, इसके विपरीत मनरंजन गारव के लिये व्रत संयम धारण करता है तो मिथ्यात्व सहित शल्य और दुर्बुद्धि ही रहती है, जिससे लोक मूढ़ता, देव मूढ़ता, पाखंडी मूढ़ता सहित मिथ्यात्व में लिप्त रहता है। बाहरी संयम तप से विशेष गारव बढ़ जाता है, अपने को दूसरे से ऊंचा समझता है, दूसरों को नीचा देखता है, इस तीव्र मान के भाव से पाप कर्म बांधता है और भविष्य में दुःखों का बीज बोता है।

मनरंजन गारव से प्रेरित होकर जीव मिथ्यात्व सहित मुनि या श्रावक के व्रतों को धारण करके व नाना प्रकार तप करके मिथ्याज्ञान के प्रभाव से बड़ा भारी घमंड करते हैं। हम व्रती हैं, हम तपस्वी हैं, साधु हैं ऐसा तीव्र मान रखकर अपनी प्रतिष्ठा कराना चाहते हैं, यदि प्रतिष्ठा में कमी हो तो क्रोध करते हैं। उनके भीतर बाहरी चारित्र्य व तप पालते हुए भी मायाचार बढ़ जाता है व लोभ कषाय की तीव्रता हो जाती है, खान-पान इच्छानुकूल चाहते हैं। मान-सम्मान में फूले रहते हैं, यदि नहीं मिलता तो भक्तों को बुरा-भला कहते हैं, वे मिथ्यात्व सहित नरक जाने लायक पाप बांधकर नरक चले जाते हैं और दुःख भोगते हैं।

मनरंजन गारव में फंसा जीव क्या-क्या करता है, उसका परिणाम क्या होता है ? वह यहाँ बताया जा रहा है। प्रथम तो संसारी धन वैभव, विषय-कषाय, पाप-परिग्रह में ही लगा रहता है, इसमें ही आनंद मानता है और यदि संसारी संयोग मनोनुकूल नहीं मिलते तो व्रत तप धारण कर लेता

है, त्यागी साधु बनकर अपने मन की पूर्ति करता है यदि इससे भी संतुष्ट नहीं होता है तो नाना प्रकार के शास्त्र पढ़कर बड़ा ज्ञानी बनता है। इसके लिये आगे गाथा कहते हैं -

सुतं च अनेय भेयं, अंग पुव्वाइ मिच्छ संजुत्तं ।

गारव मएहि रइयं, मनरंजन राग नरय वासम्मि ॥ १६१ ॥

अन्वयार्थ - (सुतं च अनेय भेयं) कोई अनेक प्रकार शास्त्रों को जानता है, नाना प्रकार के शास्त्र पढ़ता है (अंग पुव्वाइ मिच्छ संजुत्तं) यहाँ तक कि ग्यारह अंग नौ पूर्व तक का ज्ञान कर लेता है परंतु मिथ्यात्व में लीन रहता है (गारव मएहि रइयं) उसका गारव भाव मद से रचा हुआ होता है, वह इसी ज्ञान के मद में फूला रहता है (मनरंजन राग नरय वासम्मि) इस मनरंजन राग का फल नरक वास करना पड़ता है।

विशेषार्थ - कोई त्यागी साधु अनेक प्रकार के शास्त्रों को जानता है, यहाँ तक कि ग्यारह अंग नौ पूर्व तक का ज्ञान रखता है परंतु मनरंजन गारव से मिथ्यात्व सहित होता है, उसको सम्यक्दर्शन नहीं है तो उसके भीतर न शुद्धात्मा की रुचि होती है, न मोक्ष तत्त्व की पहिचान होती है किंतु भीतर कषाय वासना भरी होती है, जिससे उसे अपने शास्त्र ज्ञान का बड़ा राग और घमंड होता है। उस श्रुतज्ञान से कषायों के घटाने का काम नहीं होकर कषायों के बढ़ाने का काम होता है। वह शास्त्र ज्ञान से मन को रंजायमान करके उन्मत्त रहता है। तीव्र कषाय से मनरंजन राग के कारण अनेक शास्त्रों का ज्ञाता नरक जाने योग्य कर्म बांधकर नरक चला जाता है।

अविनाशी निज शुद्धात्म तत्त्व का लक्ष्य होने से विनाशीक वस्तुएं स्वतः मिलती हैं, आती हैं परंतु विनाशीक धन वैभव शरीर मन आदि का लक्ष्य होने से अविनाशी तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती और विनाशीक वस्तुओं के लिये भी चिंता करना पड़ेगी एवं परिश्रम उठाना पड़ेगा। अविनाशी तत्त्व की प्राप्ति के लिये कामना, ममता और आसक्ति (राग) का त्याग मुख्य आवश्यक है।

क्रि या तो वर्तमान परिस्थिति और पात्रता के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है परंतु जो मिथ्यात्व, मायाचार, मलिनता, पतन की बात होती है, वह कामना के कारण होती है। कामना रखकर के पारमार्थिक ग्रन्थ पढ़ें, दूसरों को सुनायें तो लक्ष्य,

मान-सम्मान, धनादि की इच्छा रहने से पापों से बच नहीं सकता क्योंकि कामना से ही सब पाप होते हैं। जिसके मन और इन्द्रियां वश में नहीं होती, वह कामना के कारण फल में आसक्त होकर बंध जाता है। मन में दुर्भाव उत्पन्न होते ही अशांति हो जाती है। मन में सद्भाव होते ही शांति होने लगती है।

जो जीव जितनी नाशवान वस्तुओं की कामना का त्याग करता है उतनी समता, शांति, आनंद सद्गुण उसमें बढ़ते जाते हैं और जितनी नाशवान वस्तुओं की कामना करता है, उतनी अशांति, विषमता, दुःख, संताप आदि दुर्गुण आते हैं।

मनरंजन गारव ही कामना है, इसके कारण जीव क्या-क्या करता है यह आगे गाथा में कहते हैं -

तवं च तीव्र सहियं, सम्मत्तं सुद्ध मिच्छ सभावं ।

पर पिच्छंतो गारव, पर पज्जाय नंत दुष्य वीयम्मि ॥ १६२ ॥

मन उववन्न सहावं, मन ससहावं च सहनि उवसगं ।

अन्यानं पिच्छंतो, तव षंडं नरय दुष्य वीयम्मि ॥ १६३ ॥

अन्वयार्थ - (तवं च तीव्र सहियं) वह तीव्र तप करता है (सम्मत्तं सुद्ध मिच्छ सभावं) शुद्ध सम्यक्दर्शन न होने से, मिथ्यात्व सहित, पर शरीरादि की क्रिया से भला होना मानता है (पर पिच्छंतो गारव) पर को पहिचानने, पुद्गल की तरफ दृष्टि होने से गारव बढ़ता है (पर पज्जाय नंत दुष्य वीयम्मि) पर पर्याय में रत रहने से अनंत दुःख का बीज बोता है।

(मन उववन्न सहावं) मन में संकल्प-विकल्प पैदा होने का स्वभाव है (मन ससहावं च सहनि उवसगं) इस मन के संकल्प-विकल्प स्वभाव सहित वह अनेक उपसर्गों को सहन करता है (अन्यानं पिच्छंतो) अज्ञान को जानता पहिचानता है अर्थात् अपने स्वरूप का बोध तो होता नहीं, बाहरी शारीरिक क्रिया में ही मगन रहता है (तव षंडं) विशेष परिस्थिति में तप खंडित कर देता है (नरय दुष्य वीयम्मि) इससे नरक के दुःख का बीज बोता है।

विशेषार्थ - मनरंजन गारव की विशेषता से तीव्र तप करता है परंतु अपनी आत्मानुभूति शुद्ध सम्यक्दर्शन न होने से शारीरिक क्रिया बाह्य तप को ही इष्ट कल्याणकारी मानता है, मिथ्यात्व सहित पर को ही बताने, पर की

अपेक्षा से कठिन तपस्या करता है परंतु इससे गारव ही बढ़ता है, पर पर्याय की दृष्टि होने से तप मद बढ़ता है जो दुःख और दुर्गति का कारण होता है।

मन का स्वभाव संकल्प-विकल्प करने का है और वह निरंतर ही चलता रहता है, कभी आगे की कल्पनाओं में झुलाता है, कभी पीछे के कार्यों में उलझाता है। इस मन के आधीन बड़े उपसर्ग भी सहता है और उससे मानता है कि हम उपसर्ग सह लेंगे तो हमारा बहुत मान, प्रभावना प्रसिद्धि होगी, हमको बहुत पुण्य कर्म का बंध होगा, जिससे देवगति के सुख भोगने को मिलेंगे, ऐसे अज्ञान सहित पर पर्याय का लक्ष्य रहने से परिणामों में कषाय भाव होने से पाप कर्म का ही बंध होता है। विशेष परिस्थितियों में तप खंडित भी कर देता है, इस प्रकार मनरंजन गारव के वशीभूत नरक के दुःखों का बीज बोता है।

कठिन तपस्या करते हुए यदि सम्यक्त्व भाव है और आत्म ध्यान में जमने का, कर्मों की निर्जरा का उद्देश्य है तब तो वह शुद्ध तप है; परंतु यदि मिथ्यात्व सहित तप है तो वहाँ किसी कषाय की पुष्टि का उद्देश्य है इसलिये वह तप मिथ्या तप है। मिथ्या तप करते हुए दृष्टि शरीर पर व कषाय की पुष्टि पर रहती है, इससे तप मद बढ़ता है। शारीरिक तप पुद्गल की पर्याय है, इसमें रत होने से तथा इसका गारव और भला होना मानने से मिथ्यात्व कर्म का बंध होता है जो दुःख रूपी फल को देता है।

शांत भाव हो, ज्ञान हो, चारित्र हो अथवा तप हो, यदि यह सम्यक्दर्शन सहित है तो इसका मूल्य महारत्न के समान है। यदि सम्यक्त्व रहित हो तो उसकी कीमत कंकड़ पत्थर के समान तुच्छ है।

मनरंजन गारव वाला जीव आत्मज्ञान रहित तप करते हुए परीषह व उपसर्गों को सहन करता है, उस उपसर्ग सहन में उसका अभिप्राय वीतराग भाव व आत्मानुभव नहीं होता है किंतु अज्ञान भाव ही होता है। हम उपसर्ग सह लेंगे तो हमारा बहुत मान होगा, हमको बहुत पुण्य कर्म का बंध होगा जिससे हम भविष्य में नाना प्रकार के विषय भोग भोगेंगे। कषायों की वासना, भविष्य की कामना सहित तप खंडित भी कर देता है जिससे नरक के दुःख प्राप्त होते हैं।

जीव के बहु जन्मार्जित पुण्यों के फलस्वरूप उसे देव दुर्लभ मानव शरीर उपलब्ध होता है। जीवन का प्रमुख उद्देश्य है-अपने सत्स्वरूप में

प्रतिष्ठित रहकर विवेक पूर्वक धर्म का अनुपालन करना। मनुष्य का मन बड़ा चंचल है, इसी के कारण वह बंधन एवं मोक्ष को प्राप्त होता है।

**पाप वह है, जिससे परिणाम में अपना तथा दूसरे का अहित हो।
पुण्य वह है, जिससे परिणाम में अपना तथा दूसरे का हित हो।**

घोर तपस्या या गहरी पूजा पाठ अथवा जप ध्यान करने वाले किंतु मिथ्यात्व सहित मनरंजन गारव वालों की क्या गति होती है इसके अनेक दृष्टांत ग्रंथों में मिलते हैं। जो मनरंजन गारव में रंजायमान है उसकी विद्या व्यर्थ है, उसे तपस्या, त्याग और शास्त्राभ्यास से भी कोई लाभ नहीं है। उसका एकांत सेवन और मौन भी निष्फल है। इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं -

मन रंजन सुभावं, सोभा सहकार जलस्य सुचि चित्तं।

अन्यानं मिच्छत्तं, जलं सहावेन थावरं पत्तं ॥ १६४ ॥

सचित्त सहावं धरन्, चित्त सहावेन अन्मोय पर पिच्छं।

पज्जावस्य उवन्नं, पज्जय रत्तो तिरिय दुष्य वीयम्मि ॥ १६५ ॥

अन्वयार्थ - (मन रंजन सुभावं) मनरंजन गारव वाले का स्वभाव होता है कि (सोभा सहकार) शरीर को सजा धजाकर रखता है, अच्छे वस्त्र आदि श्रृंगार करता है, अपने को शोभायमान मानता है, शरीर के आदर सत्कार में फूला रहता है (जलस्य सुचि चित्तं) जल की शुद्धि से अपने आपको पवित्र मानता है, तीर्थयात्रा आदि पवित्र स्थान, पवित्र नदी आदि में स्नान करके अपने आपको धन्य मानता है (अन्यानं मिच्छत्तं) यह सब अज्ञान मिथ्यात्व है (जलं सहावेन थावरं पत्तं) जल के स्वभाव, तीर्थ आदि पवित्र नदियों में स्नान करके अपने को पवित्र शुद्ध मानने वाला स्थावर गति का पात्र बनता है।

(सचित्त सहावं धरन्) सचित्त कंद मूल फल जल आदि के सेवन से अपने को पवित्र शुद्ध तपस्वी मानने वाले, सचित्त स्वभाव को धारण करने वाले (चित्त सहावेन अन्मोय) जो चित्त स्वभाव, मनरंजन गारव का ही आलंबन रखते हैं, बाह्य क्रिया कर्म में ही अपने को बड़ा मानते हैं (पर पिच्छं) पर में ही दृष्टि रखते हैं, शरीरादि संसार की तरफ ही देखते हैं (पज्जावस्य उवन्नं) पर्याय को ही पैदा करते हैं अर्थात् निरंतर शुभाशुभ कर्म का ही बंध करते हैं (पज्जय रत्तो) पर्याय में रत रहते हैं (तिरिय दुष्य वीयम्मि) वे तिर्यच गति के

दुःख का बीज बोते हैं।

विशेषार्थ - मनरंजन गारव वाले का स्वभाव बड़ा विचित्र होता है, शारीरिक बाह्य शोभा के लिये नित नये-नये उपक्रम करता रहता है, शरीर को श्रृंगारित सजा-धजा कर रखता है, बाह्य में अपने आदर सत्कार में फूला रहता है, साथ में तीर्थयात्रा आदि करके, पवित्र नदी में स्नान करके अपने को पवित्र शुद्ध श्रेष्ठ मानता है। ऐसे लोगों में अज्ञान तो यह होता है कि मन की पवित्रता आत्मा की शुद्धि तो अहिंसा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शील आदि का पालन करने से होती है; परन्तु वह इन बातों पर लक्ष्य न देकर केवल जल आदि के स्नान से अपने को पवित्र शुद्ध मान लेते हैं तथा मिथ्यात्व यह होता है कि जिस नदी आदि के स्नान से प्राणी हिंसा होती है उसको धर्म मानते हैं, इस तरह शरीर का राग और मन का रंजायमानपना स्थावर गति में ले जाता है।

सचित्त जल, फल-फूल आदि से अपनी पवित्रता शुद्धि मानना, चित्त को रंजायमान करना, पर शरीर आदि संसार की तरफ देखना और अपने को श्रेष्ठ मानना, पर्याय की विशेषता से पर्याय में रत रहना, तिर्यच गति के दुःख का बीज बोना है।

मनरंजन गारव मनुष्य को नई-नई कल्पनाओं, योजनाओं में फंसाता है। मन की कभी संतुष्टि होती नहीं है, जितना माया का फैलाव फैलता है उतनी आशा तृष्णा, आकांक्षा, कामना, वासना बढ़ती जाती है। माया के तीन रूप कंचन, कामिनी, कीर्ति ही मनरंजन गारव के प्राण हैं, इनकी कभी पूर्ति होती नहीं है इसलिये मन कभी संतुष्ट होता नहीं है।

उलझन और समस्या बाहर संसार में नहीं है, मन में है। बाहर तो केवल परिस्थितियाँ हैं। उलझनों में फंसकर दम को घोट लेने के बजाय उन्हें चुनौती देकर उनसे छुटकारा पा लेना मोक्ष है, मुक्ति है।

निश्चिन्त और प्रफुल्ल मन स्वर्ग है तथा उलझा हुआ मन नरक है, जिसके हम स्वयं जिम्मेदार हैं। मनुष्य का भविष्य हाथ की रेखाओं और ग्रहों द्वारा कदापि बांधा नहीं जा सकता है। मनुष्य की इच्छा शक्ति और पुरुषार्थ मनुष्य का भविष्य बनाती है।

विवेक द्वारा मनरंजन गारव को मोड़ा जा सकता है। धीरे-धीरे जब मनुष्य विचार क्षेत्र में ऊँचे स्तर पर आ जाता है तब वह जीवन में अधिक

उदात्त होकर तथा अपने आत्म हित में रुचि लेकर तुच्छ प्रकार की क्रिया कर्म करना छोड़ देता है तथा उपयोगी दिशा में संघर्ष करना प्रारंभ कर देता है, यह पलायन नहीं बुद्धिमत्ता होती है, जीवन में स्वस्थ मोड़ होता है।

संत वृत्ति अपनाने पर तथा आध्यात्मिक रुचि ग्रहण कर लेने पर मनुष्य धन अथवा पद के लिये लौकिक संघर्ष से अधिक से अधिक संभव सीमा तक हटकर ध्यान के अभ्यास, प्रार्थना, परोपकार, ज्ञान साधना आदि में जुट जाता है। यह मनरंजन का मोड़ रुचि परिष्कार कहलाता है।

मन का स्वभाव चंचल है, वह संसारी कामना वासनाओं में ही लिप्त रहता है। लोगों की बातों में लगे रहना ही मनरंजन गारव है जो दुर्गति ले जाने वाला है। इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं -

मन मूलं चंचल उत्तं, चंचल सभाव सरनि संसारे ।

जिन उत्तं नहु पिच्छं, जन उत्तं सहाव गारवं भनियं ॥ १६६ ॥

अन्वयार्थ - (मन मूलं चंचल उत्तं) मन का स्वभाव चंचल कहा गया है (चंचल सभाव सरनि संसारे) यह चंचल स्वभाव ही संसार में घुमाता है (जिन उत्तं नहु पिच्छं) वह जिनेन्द्र कथित तत्त्व पर श्रद्धा नहीं लाता है, जिनेन्द्र की बात ही नहीं सुनता है (जन उत्तं सहाव गारवं भनियं) संसारी जीवों की कही हुई बातों पर श्रद्धान करके उनमें रंजायमान होकर मद करता है, यही मनरंजन गारव कहा गया है।

विशेषार्थ - मन इन्द्रियों के विषयों का लोभी होता है, मन प्रतिष्ठा का लोभी होता है, धन की तृष्णा में आतुर रहता है, दूसरों से ईर्ष्या भाव रखता है। इच्छित पदार्थों के न मिलने पर खेद खिन्न दुःखी रहता है, रात-दिन संकल्प-विकल्प ही करता है। यह मन की चंचलता संसार में ही भ्रमाती है। चंचल मन होने से जिनेन्द्र परमात्मा का तत्त्व उपदेश, जिनवाणी का स्वाध्याय अपने आत्म हित की बात बिल्कुल नहीं सुहाती है, धर्म चर्चा में मन ही नहीं लगता है।

संसारी प्रपंच, लोगों की कही हुई बातों पर विश्वास करके उन्हीं पर चलता है। धन, संपत्ति, प्रतिष्ठा अपनी प्रशंसा बढ़ते हुए देखकर बड़ा आनंदित रहता है। विषयों की पुष्टि, नाम बड़ाई में धन खर्च करते हुए बड़ा गारव करता है, इस गारव भाव से पाप को ही बांधता है।

मनरंजन गारव में रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता रहती है। काम, क्रोध, लोभ यह तीनों नरक के द्वार हैं तथा रजोगुण से पैदा होते हैं। मोह अज्ञान प्रमाद यह तीनों तमोगुण से उत्पन्न होते हैं। काम, क्रोध, लोभ और मोह के आधीन होकर ही मनुष्य पाप कर्म करके दुःख पाता है एवं संसार बंधन में पड़ता है।

जिनवाणी इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट के परिहार का उपाय बताते हुए अतीन्द्रिय ज्ञान का वर्णन करती है, जिनेन्द्र परमात्मा का उपदेश यही है कि मनुष्य शास्त्र विधि का अनुसरण करता हुआ अपनी अशुभ प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखे तथा अपने गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल धर्म साधना करता हुआ अंतःकरण की शुद्धि पूर्वक परम तत्त्व शुद्धात्म स्वरूप के ज्ञान की उपलब्धि करके शाश्वत शांति और नित्य आनंद मोक्ष को प्राप्त करे।

मनरंजन गारव वाला जीव मन की चंचलता होने से इन बातों को न सुनता है, न समझता है उसे यह बातें बड़ी कठिन और दुखद लगती हैं। यह कठिन साधना है जिसमें एक ओर तो अध्यात्म शास्त्र का आश्रय लेकर स्वाध्याय श्रवण एवं मनन के द्वारा सत् तथा असत् का ज्ञान प्राप्त किया जाता है तथा दूसरी ओर विवेक और वैराग्य का अवलंबन लेकर रजोगुण और तमोगुण पर आश्रित सम्पूर्ण असत्प्रवृत्तियों, पापों, दुष्कर्मों, दुष्ट आचारों एवं आसुर भावों का सर्वथा परित्याग करके सत्त्व गुण पर अवलंबित दैवी सम्पदा के गुणों का संचय किया जाता है। सात्विक गुणों का संचय धर्माचरण है।

मानवी प्रकृति का दैवी प्रकृति में रूपांतरित करना तप है, इसी से अज्ञान से मुक्ति मिलती है एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मनरंजन गारव वाला, इसके विपरीत संसारी प्रपंच, पर्यायी परिणमन में रत रहता है जिसका परिणाम दुर्गति के दुःख भोगना होता है। इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं -

मनरंजन स सहावं, सचित्त चित्तस्य भाव संजदो होति ।

मन सुभाव पर पिच्छं, पज्जय रत्तो सुदुग्गए सहियं ॥ १६७ ॥

तव वय किरिय स उत्तं, सुत सभाव सयल विन्यानं ।

अनेय कस्ट अनिस्टं, गारव भावेन निगोय वासम्मि ॥ १६८ ॥

अन्वयार्थ - (मनरंजन स सहावं) मनरंजन के स्वभाव वाला, मन

को रंजायमान करने का स्वभाव रखता हुआ (सचित्त चित्तस्य भाव संजदो होंति) सचित्त चित्त का भाव रखकर संयमी हो जाता है अर्थात् पंच स्थावर और त्रस जीवों का घात न हो, इसलिये संयम व्रत धारण कर लेता है, अभिप्राय में मान प्रतिष्ठा रहती है (मन सुभाव पर पिच्छं) मन का स्वभाव पर पदार्थ में लगा रहता है, बाहरी क्रियाओं को ही विशेष महत्व देता है (पज्जय रत्तो सुदुग्गए सहियं) पर्याय में रत होने से दुर्गति ही होती है।

(तव वय किरिय स उत्तं) तप, व्रत, क्रिया संयम उसे कहते हैं (सुत सभाव सयल विन्यानं) जो भेदविज्ञान सहित शास्त्रानुसार पालन किया जाये, जिससे जीवन में बड़ी समता शांति और आनंद आता है (अनेय कस्ट अनिस्टं) परंतु मनरंजन गारव वाला अनेक कष्ट सहता है, भीतर से बड़ा क्लेशित, दुःखी, संकल्प-विकल्प में रहता है (गारव भावेन) ऊपर से अपनी मान प्रतिष्ठा पद का गारव भाव रखकर पालता है (निगोय वासम्मि) उसका वास निगोद में होता है।

विशेषार्थ - मनरंजन गारव वाला अपना मान बढ़ाने के लिये मुनिपद या श्रावक पद धारण करके संयमी हो जाता है। सचित्त स्थावर काय और त्रसकाय का घात न हो, बाहर से बड़ी शुद्धि संभाल रखता है, व्यवहार चारित्र में बड़ा सतर्क सावधान रहता है। उसका मन कषाय की पुष्टि में व वर्तमान पर्याय के मोह में फंसा रहता है अतएव आत्मा में रत न होने से यथार्थ संयम होता ही नहीं है। सम्यक्दर्शन सहित व्यवहार चारित्र संयम कहलाता है किंतु पर पदार्थ में रत होने से उसके मिथ्यात्व सहित असंयम भाव होता है। ऊपर से मान प्रतिष्ठा या पुण्य की इष्टता, भविष्य के भोगों की लालसा से व्यवहार चारित्र पालते हुए भी इस जीव का दुर्गति में गमन होता है अर्थात् वह सीधा दुर्गति न जाकर देवगति होता हुआ जाता है।

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान सहित ही सम्यक्चारित्र का पालन होता है। व्रत तप क्रिया उसे कहते हैं जो भेदविज्ञान सम्यक्दर्शन सहित शास्त्रानुसार पालन किया जावे जिससे वर्तमान जीवन में समता शांति आनंद आता है तथा मुक्ति की प्राप्ति होती है।

यदि कोई बहुत भारी कष्ट सह करके व्रत तप क्रियाकांड पालता है तथा मन में यह अहंकार रखता है कि मैं तपस्वी हूँ, मैं व्रती, त्यागी साधु हूँ, मैं क्रियाओं का पालन करता हूँ, वह अज्ञानी उन सबको करते हुए भी भावों

में अपनी कषाय को ही पुष्ट करता है, मान व प्रतिष्ठा का ही इच्छुक है, अतएव भावानुसार वह एकेन्द्रिय निगोद पर्याय के योग्य कर्म बांध लेता है।

पुरुष जैसा संकल्प करने लगता है, वैसा ही आचरण करता है और जैसा आचरण करता है फिर वैसा ही बन जाता है। जिन बातों का प्राणी बार-बार विचार करता है धीरे-धीरे वैसी ही इच्छा हो जाती है, फिर उसकी इच्छानुसार वार्ता, आचरण, कर्म और कर्मानुसारिणी गति होती है।

जो बुरे विचारों को न छोड़कर उनका रस लेता रहता है, वह कभी बुरे कर्मों से छुटकारा नहीं पा सकता, वह बार-बार प्रतिज्ञा भंग होकर रोता है। वह विचारों के समय असावधान रहता है। विचार से क्या होता है? बुरा कर्म न करूंगा, उसी के त्याग की मैंने प्रतिज्ञा की है। इस तरह अपने को धोखा देकर विचार के रस का अनुभव करता हुआ, वह कभी व्यसन से आत्म त्राण नहीं कर पाता है, मनरंजन गारव इसी का नाम है।

शास्त्रों में सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता को मुक्ति मार्ग कहा है और तीनों की पूर्णता मुक्ति है।

मनुष्य का चारित्र पूर्ण रूप से निष्कलंक तभी होता है जब उसके अंतःकरण में रहने वाले मल, विक्षेप एवं आवरण यह तीन दोष मिट जाते हैं। निष्काम कर्म योग से मल, उपासना से विक्षेप एवं ज्ञान से आवरण दोष दूर होता है।

दुश्चरित्र से विरत न होने वाला, मन और इन्द्रियों को संयम में न रखने वाला, चित्त की स्थिरता का अभ्यास न करने वाला एवं विक्षिप्त मन वाला मनुष्य केवल बुद्धि बल से आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।

बेड़ी चाहे लोहे की हो या सोने की, बंधन कारिणी तो दोनों ही हैं अतः शुभाशुभ सभी कर्मों का क्षय होने पर ही मुक्ति होती है। कर्म क्षय तो ज्ञानमयी अनासक्त वीतराग भाव से ही होता है। कर्म से संतति उत्पन्न करने से या धन से मुक्ति नहीं होती, वह तो आत्मज्ञान से ही होती है।

प्रश्न - जब मनुष्य के साथ मन की सत्ता है और मन बड़ा चंचल हठीला दृढ़ और बलवान है। इस मनरंजन गारव में फंसा जीव दुःख भोगता, दुर्गति जाता है फिर इसको जानने का क्या उपाय है ?

समाधान - जब तक आत्म तत्त्व के ज्ञान से अज्ञान का नाश नहीं होता है, तब तक सांसारिक कामनाओं के बीज का समूल नाश नहीं हो पाता, कामनाओं का मूल ही मन है। मन को जीतने के लिये भेदज्ञान पूर्वक सम्यक्दर्शन, तत्त्व निर्णय द्वारा सम्यक्ज्ञान होना आवश्यक है, इसके बाद अभ्यास और वैराग्य से ही मन का निरोध होता है।

मन को वश में करने के साधन -

१. भोगों से वैराग्य - इस लोक और परलोक के समस्त भोगों में वैराग्य, अहंकार का त्याग, इस शरीर में जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग आदि दुःख और दोषों को देखना चाहिये, इस प्रकार वैराग्य की भावना से मन वश में होता है।

“जैसा खाये अन्न वैसा होवे मन” भोजन से मन में चार प्रकार की स्फुरणा पैदा होती हैं, क्रोध, काम (मान), माया, लोभ (इच्छा चाह) इनको नियंत्रित करने के लिये खान-पान का नियम संयम आवश्यक है, इसके लिये निम्न उपाय हैं-

क्रोध की स्फुरणाओं को रोकने के लिये मिर्च, खटाई, चटपटी चीजों को नहीं खाना चाहिये, इनका पूर्ण त्याग होने पर क्रोध की स्फुरणा (भाव) मिट जाते हैं।

काम (मान) की स्फुरणाओं को रोकने के लिये नमक, नमकीन नहीं खाना चाहिये, इनका पूर्ण त्याग होने पर काम भाव की स्फुरणा मिट जाती है।

माया की स्फुरणाओं को रोकने के लिये घी, तेल, चिकने पदार्थों को नहीं खाना चाहिये, शरीर का श्रृंगार आदि नहीं करना चाहिये, इनका पूर्ण त्याग होने पर माया की स्फुरणा से बचा जा सकता है।

लोभ की स्फुरणाओं को रोकने के लिये एक समय भोजन, रुखा-सूखा भोजन, कम खाना, व्रत उपवास रखना, खाने के भाव खत्म होने पर लोभ (इच्छा, चाह, राग, आसक्ति) की स्फुरणायें (भाव) मिट जाते हैं।

२. नियम से रहना - संकल्प शक्ति और दृढ़ता से नियम का पालन करना, सभी काम ठीक समय पर नियमानुसार होना चाहिये, प्रातः से रात्रि पर्यंत अपने समय को निश्चित बना लेना ही नियम है। इस तरह की

नियमानुवर्तिता से भी मन स्थिर होता है। नियमों का पालन, धर्म साधना, खाने-पीने, पहनने, सोने और व्यवहार करने में सभी में होना चाहिये। जितनी दृढ़ता और शक्ति से नियम का पालन करेंगे उतना मन शांत रहेगा।

३. मन की क्रियाओं पर विचार करना - मन के प्रत्येक कार्य पर विचार करना चाहिये। जो-जो संकल्प, सात्विक हो उनकी सराहना करना और जो-जो संकल्प-विकल्प निम्न अशुभ हो, उनके लिये मन को धिक्कारना चाहिये। जिससे कुछ ही समय में मन बुराइयों से बचकर भले-भले कार्यों में लग जायेगा। पहले मन को बुरे चिंतन से बचाना चाहिये, जब वह आत्मा, परमात्मा संबंधी शुभ चिंतन करने लगेगा तब उसको वश करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

४. मन के कहने में नहीं चलना - मन के कहने पर नहीं चलना चाहिये, जब तक मन वश में नहीं हो जाता, तब तक इसे अपना परम शत्रु मानना चाहिये। यद्यपि यह बड़ा बलवान है, कई बार इससे हारना होगा परंतु साहस नहीं छोड़ना चाहिये, जो हिम्मत नहीं हारता वह एक दिन मन को अवश्य जीत लेता है।

यह मन बड़ा ही चतुर है, कभी डराता है, कभी फुसलाता है, कभी लालच देता है, बड़े-बड़े अनोखे रंग दिखलाता है परंतु कभी इसके धोखे में न आना चाहिये। भूलकर भी इसका विश्वास नहीं करना चाहिये क्योंकि -

माया मोह से ग्रसित, क्षणभंगुर, नाशवान विचारों के प्रवाह को मन कहते हैं और यह हमेशा संकल्प-विकल्प ही करता है। इसकी सत्ता हवा जैसी इधर आई, उधर गई इतनी ही है, यह स्थायी नहीं है।

५. मन को सत्कार्य में संलग्न रखना।

६. मन को परमात्मा में लगाना।

७. एक तत्त्व (एकत्व विभक्त आत्मा) का अभ्यास करना।

८. सत्संग, ध्यान, स्वाध्याय, तत्त्व चर्चा, मंत्र जप, भजन कीर्तन में अधिक से अधिक मन को लगाना।

९. मन के कार्यों को देखना - मन को वश में करने का एक उत्तम साधन है, मन से अलग होकर निरंतर मन के कार्यों को देखते रहना। जब तक हम मन के साथ मिले हुए हैं, तभी तक मन में इतनी चंचलता है। जिस समय हम मन के दृष्टा बन जाते हैं, उसी समय मन की चंचलता मिट जाती

है। वास्तव में तो मन से हम (आत्मा) सर्वथा भिन्न ही है, किस समय मन में क्या संकल्प, क्या विचार होता है इसका पूरा पता हमें रहता है। आंख को आंख नहीं देख सकती, इस न्याय से मन की बातों को जो जानता या देखता है, वह मन से सर्वथा भिन्न है। भिन्न होते हुए भी हम स्वयं को मन के साथ मिला देते हैं, इसी से जोर पाकर मन की उद्वण्डता बढ़ जाती है। यदि साधक अपने को निरंतर अलग रखकर मन की क्रियाओं का दृष्टा बनकर देखने का अभ्यास करे तो मन बहुत ही शीघ्र संकल्प रहित हो सकता है।

इस प्रकार से मन को रोककर परमात्मा में लगाने के अनेक साधन और युक्तियाँ हैं, इनमें से या अन्य किसी भी युक्ति से किसी प्रकार से भी मन को विषयों से हटाकर परमात्मा में लगाने की चेष्टा करनी चाहिये, मन को स्थिर किये बिना अन्य कोई भी अवलंबन नहीं है। जैसे- चंचल जल में रूप विकृत दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार चंचल चित्त में आत्मा का यथार्थ स्वरूप प्रतिबिम्बित नहीं होता; परंतु जैसे स्थिर जल में प्रतिबिम्ब जैसा होता है वैसा ही दीखता है, इसी प्रकार केवल स्थिर मन से ही आत्मा का यथार्थ स्वरूप स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है अतएव ज्ञान के अभ्यास और वैराग्य से मन को जीता जा सकता है।

जब तक चिदानंद चैतन्य का अतीन्द्रिय आनंद नहीं आता उसमें रत नहीं होते तब तक मनरंजन गारव के साथ दुःख ही भोगना पड़ता है। इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं -

गलिय सुभाव न दिट्ठं, चेयन आनन्द चित्त नहु पिच्छं।

सूषम सुभाव रहियं, गारव सहकार दुष्य वीयम्मि ॥ १६९ ॥

अन्वयार्थ - (गलिय सुभाव न दिट्ठं) जिसने यह नहीं देखा है, न विचारा है कि यह शरीर मन आदि का गलने का, नाश होने का स्वभाव है (चेयन आनन्द चित्त नहु पिच्छं) न जिसने यह श्रद्धान किया है कि मैं चिदानंद चैतन्य स्वभाव का धारी शुद्ध आत्मद्रव्य हूँ (सूषम सुभाव रहियं) जिसको अपने अतीन्द्रिय सूक्ष्म स्वभाव का पता नहीं है (गारव सहकार दुष्य वीयम्मि) वह मनरंजन गारव के सहयोग से दुःखों का ही बीज बोता है।

विशेषार्थ - मिथ्यादर्शन सहित सर्वज्ञान व सर्व क्रिया कुज्ञान तथा कुचारित्र है। सम्यक्दर्शन सहित ज्ञान सुज्ञान व चारित्र सुचारित्र होता है।

जिसने शरीर को पुद्गल रचित एक दिन छूटने वाला नहीं समझा है, मन और कर्म सब गलने वाले नाशवान हैं, इनसे भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी चैतन्य तत्त्व भगवान आत्मा ज्ञानानंद स्वभावी हूँ, ऐसा अनुभव नहीं किया है। इन्द्रियों से अतीत मैं अतीन्द्रिय सूक्ष्म स्वभाव धारी स्वानुभव गम्य हूँ, ऐसा भाव जिसके भीतर नहीं झलका है, वह कर्म के उदय में व कषायों में रत रहता है। कषायों की पुष्टि के लिये ही सब कुछ करता है; अतएव मनरंजन गारव भाव के होने से वह संसार में दुःखों का ही पात्र होता है।

परमात्मा की तरफ चलना अर्थात् परमात्म स्वरूप के सन्मुख होना, मन का मुड़ना ही मुक्ति मार्ग है। मनरंजन गारव में लगे रहना ही संसार परिभ्रमण का कारण है, इसी से सांसारिक भोग और संग्रह की इच्छा होती है, जिससे दुर्गुण दुराचार आते हैं। संसारी मान प्रतिष्ठा, धन वैभव का महत्व पशुओं तथा नारकी जीवों से भी नीचा है क्योंकि पशु और नारकी जीव तो पहले किये हुए पाप कर्मों का फल भोगकर मनुष्यता की तरफ आ रहे हैं परंतु गारव में फंसा मनुष्य पापों में लगकर पशुता और नरक की तरफ जा रहा है।

इसी बात को आगे की गाथा में कहते हैं -

परपंच त्रित्ति पिच्छंतो, विभ्रम सुभाव सयल उपपत्ती।

विन्यान न्यान नहु पिच्छं, गारव सहकार निगोय वीयम्मि ॥ १७० ॥

अन्वयार्थ - (परपंच त्रित्ति पिच्छंतो) जो प्रपंच वृत्ति में लगा है अर्थात् पर की उठा पटक, मायाचारी में रत है (विभ्रम सुभाव सयल उपपत्ती) जिसके भीतर पूर्णपने भ्रामक स्वभाव भरा हुआ है (विन्यान न्यान नहु पिच्छं) जिसने भेदज्ञान पूर्वक आत्मज्ञान को नहीं जाना है (गारव सहकार निगोय वीयम्मि) वह मनरंजन गारव सहित निगोद में वास करने का बीज बोता है।

विशेषार्थ - जिसके मन में धन, सुख भोग तथा शत्रु नाश आदि की अनेकों विषय वासनायें भरी हैं, जो प्रपंच और मायाचारी में रत है, उसके चित्त के अंदर वृत्ति प्रवाह के दो हेतु हैं- १. वासना, २. प्राण प्रवाह। जिसमें वासना का बीज और संस्कार ग्रथित रहते हैं। प्राण के स्पंदन से मन स्पंदित होने पर वृत्ति प्रवाह रूप उत्ताल तरंगें उठना प्रारंभ करती हैं और इसी विभ्रम, भ्रम-भ्रांति में सारे अवगुणों की उत्पत्ति होती है। जिसने भेदज्ञान पूर्वक आत्मज्ञान को नहीं जाना है, वह इस मन के प्रपंच विभ्रम में फंसा गारव

सहित निगोद में वास करता है ।

उन्नति पथ में शीघ्र अग्रसर होने की इच्छा करने वाले व्यक्ति को अपने स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण इस देह चतुष्टय तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इस अंतःकरण चतुष्टय को शुद्ध करना परमावश्यक है । इनकी शुद्धि होने पर ही सत्य वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो सकता है और सत्य ज्ञान होने पर ही मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

जो क्रिया तो बाहरी ऐसी पाले, जिससे प्रगट हो कि यह मोक्षमार्ग पर चल रहा है परंतु अंतरंग में मोक्षमार्ग का श्रद्धान, ज्ञान न हो, वैराग्य भाव न हो किंतु ख्याति लाभ पूजादि की चाह हो, उसका सब कार्य मायाचार रूप व मिथ्या भाव रूप ही होता है, वह कषाय पुष्टि के भ्रम में फंसा रहता है, नाना प्रकार के प्रपंच करता है, जिससे वह नीच गोत्र का बंध करता है और सैनी पंचेन्द्रिय से एकेन्द्रिय साधारण वनस्पति निगोदिया हो जाता है ।

कषाय भाव ही संसार मार्ग है, वीतराग भाव मोक्षमार्ग है ।

जो संसार के जन्म-मरण के चक्र, दुःखों से छूटना चाहे उसे उचित है कि भेदविज्ञान पूर्वक निज शुद्धात्मानुभूति युत सम्यक्दर्शन करे और कषाय राग भाव से बचने के लिये आत्मज्ञान पूर्वक जनरंजन राग, कलरंजन दोष और मनरंजन गारव को छोड़े । उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव धर्म का पालन करे । सरल सहज विनम्र शांत रहे, भावों की शुद्धि पर ध्यान रखते हुए आत्मानुभव सहित व्रत संयम तप का पालन करे, इससे मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

मनरंजन गारव से छूटने के लिये भेदज्ञान के अभ्यास द्वारा उपरामता (उदासीनता, वैराग्य भाव) को प्राप्त होकर धैर्य युक्त बुद्धि से मन को परमात्मा में स्थिर करके और किसी भी विचार को मन में न आने दे । इस प्रकार की दृढ़ता, संकल्प शक्ति पूर्वक प्रतिज्ञा कर लेना चाहिये कि किसी प्रकार का भी वृथा चिन्तन या मिथ्या संकल्पों को मन में नहीं आने दिया जायेगा । इतनी सतर्कता पूर्वक अपने में स्वस्थ होश में सावधान रहना आवश्यक है; क्योंकि बड़ी चेष्टा और दृढ़ता रखने पर भी मन साधक की चेष्टाओं को कई बार व्यर्थ कर देता है । साधक तो समझता है कि मैं ध्यान सामायिक कर रहा हूँ परंतु मन संकल्प-विकल्पों की पूजा में लग जाता है । जब साधक मन की ओर देखता है तो उसे आश्चर्य होता है कि यह क्या हुआ ? इतने नये-नये संकल्प

जिनकी कभी भावना भी नहीं की कई थी, कहाँ से आ गये ? बात यह होती है कि साधक जब मन को निर्विषय करना चाहता है तब संसार के नित्य अभ्यस्त विषयों से मन को फुरसत मिल जाती है, उधर परमात्मा में लगने का मन को इस समय तक पूरा अभ्यास नहीं होता इसलिये फुरसत पाते ही वह उन पुराने दृश्यों को जो संस्कार रूप से उस पर अंकित हो रहे हैं, सिनेमा की फिल्म की भांति क्षण-क्षण में एक के बाद एक उलटने लगते हैं । इसी से उस समय ऐसे संकल्प मन में उठते हुए मालूम होते हैं जो संसार का काम करते समय कभी याद भी नहीं आते हैं । स्वप्न भी अंतरमन में पड़ी पूर्व संस्कारित फिल्म है ।

अज्ञान दशा में चलने वाले संकल्प-विकल्पों में जुड़े रहना, उनमें रस आना, राग होना ही संस्कार रूपी फिल्म है, जो मोह, राग-द्वेष रूप भाव कर्म कहलाते हैं । इनसे छुटकारा हो जाना ही मुक्ति है ।

“मन विलयं न्यान सहायं” ज्ञान स्वभाव में ही मन का विलय होता है । मैं तथा मेरा, यह अभिमान ही मानस रोग मनरंजन गारव है, इससे मन में काम, क्रोध, लोभ आदि मल आते हैं । मोह का साम्राज्य फैल जाता है । इसमें अज्ञानी जीव मोह से अंधा हो जाता है फिर उसे अपने हित-अहित का कोई विवेक नहीं रहता । मोहांध जीव करने, न करने योग्य सभी कार्यों को करता है । उसे पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म का कोई होश नहीं रहता है ।

जीव कर्म के उदय से दुःखी नहीं है, अपने राग-द्वेष, मोह के कारण दुःखी होता है । उस दुःख का नाश करने का एक मात्र उपाय वीतराग विज्ञान है ।

धनादि मिलना दुर्लभ नहीं है परंतु मनुष्य भव मिलना व ऐसा सत् श्रवण का योग मिलना दुर्लभ है और उस श्रवण की अपेक्षा उसकी प्रतीति करना तो महा दुर्लभ है, अन्य कुछ भी दुर्लभ नहीं है । पूर्व के पुण्य उदय अनुसार धन मिलता है । यह कोई वर्तमान के पुरुषार्थ का फल नहीं है और ऐसे संयोग तो अनंत बार मिले हैं वह कोई दुर्लभ नहीं हैं । अनंतकाल में धर्म को नहीं जाना, अपने आत्म स्वरूप का श्रद्धान ज्ञान नहीं किया अतः वही दुर्लभ है ।

बाह्य क्रिया सुधरने से मेरे परिणाम सुधरेंगे तथा मंदकषाय के परिणाम से धर्म होता है, इस प्रकार के अभिप्राय की गंध भी अंतर में रह जाने का नाम

मिथ्या वासना है। ऐसी वासना रखकर बाह्य में पंच महाव्रत का पालन तथा दया दानादि की चाहे जितनी क्रिया व मंद कषाय करे तो भी धर्म नहीं होता। भेदविज्ञान पूर्वक निज शुद्धात्मानुभूति न होने से मनरंजन गारव से निगोदादि में वास करना पड़ता है।

प्रश्न - मनरंजन गारव का मूल स्रोत क्या है ?

समाधान - मनरंजन गारव का मूल स्रोत दर्शन मोहांध है। मोहनीय कर्म के दो भेद होते हैं - १. दर्शन मोहनीय - इसके तीन भेद हैं- मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व। जीव के अज्ञान में दर्शन मोहनीय की प्रबल सत्ता है, जब तक दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय, क्षयोपशम नहीं होता तब तक जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान (बोध) नहीं जागता।

२. चारित्र मोहनीय के पच्चीस भेद हैं-चार कषाय - क्रोध, मान, माया, लोभ। अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन $४ \times ४ = १६ + ९$ नोकषाय - हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, तीन वेद (स्त्री, पुरुष, नपुंसक) $१६ + ९ = २५$ । इसमें मिथ्यात्व के साथ चार अनंतानुबंधी कषाय का गठबंधन रहता है। तीन मिथ्यात्व, चार अनंतानुबंधी कषाय इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम होने पर ही सम्यक्दर्शन होता है। जब तक दर्शन मोहनीय का सद्भाव रहता है तब तक जीव दर्शन मोहांध से ग्रसित रहता है, अपनी पूर्ण सत्ता शक्ति का प्रगटपना नहीं होता। दर्शन मोहांध जीव को अपने स्वरूप सत्ता शक्ति का बोध न होने से वह संसार में ही रूतता है, पर पर्यायादि को अपना मानता है और इस चक्कर में धर्म से विमुख अधर्म का सेवन कर दुर्गति का पात्र बनता रहता है।

दर्शन मोहांध प्रकरण

प्रश्न - दर्शन मोहांध किसे कहते हैं ?

दर्शन मोहांध का स्वरूप बताने के लिये सद्गुरु गाथा कहते हैं -

दंसन मोहंध स उत्तं, दर्सइ अन्नं च मोहए अन्धं ।

दंसन मोहंध कहियं, अन्यानं नरय दुष्य वीयम्मि ॥ १७१ ॥

अन्वयार्थ - (दंसन मोहंध स उत्तं) दर्शन मोहांध उसे कहते हैं जो (दर्सइ अन्नं च मोहए अन्धं) अन्य को देखता है और मोह में अंधा रहता है अर्थात् दर्शन मोह के उदय से जीव अपने आत्म स्वरूप को छोड़कर अन्य

शरीरादि में आपापने का श्रद्धान रखता है तथा मोह से अंधा होकर संसार के विषयों में मूर्च्छावान रहता है (दंसन मोहंध कहियं) ऐसी परिणति को दर्शन मोह का अंधपना कहते हैं, जिससे जीव अपने स्वरूप को भूलकर पर को अपना मानता है और पर के पीछे अंधा पागल रहता है (अन्यानं नरय दुष्य वीयम्मि) इसी से मिथ्याज्ञान रहता है जो नरक के दुःखों का बीज है।

विशेषार्थ - मोहनीय कर्म के दो भेद हैं-एक दर्शन मोह, दूसरा चारित्र मोह। दर्शन मोह सम्यक्दर्शन को प्रगट नहीं होने देता और चारित्र मोह, चारित्र नहीं होने देता तथा कषायों को उत्पन्न करता है। दर्शन मोह जीव का सबसे बड़ा बैरी है, यही अंधा करने वाला है। जीव के अज्ञान से अथवा अपने स्वरूप के विस्मरण से जीव यह शरीर ही मैं हूँ, यह शरीरादि मेरे हैं और मैं इन सबका कर्ता हूँ ऐसा मानता है, यह मान्यता ही दर्शन मोह है और इस मान्यता से जीव दर्शन मोहांध रहता है। धन, परिवार परिग्रह की वृद्धि ही उसके मन को रंजायमान करती है। जैसे-कोई मदिरा पीकर उन्मत्त हो जावे व अपने घर को ही भूल जावे, अपनी सुध-बुध खो बैठे, चाहे जिसको अपना माने अथवा चाहे जैसा उल्टा सीधा बोले, इसी प्रकार दर्शन मोह के नशे में यह जीव बावला होकर अपने स्वरूप को भूला रहता है। जिस संसार (धन, शरीर, परिवार) को त्यागने योग्य समझना चाहिये उसको ग्रहण करने योग्य समझता है, धर्म की चर्चा को बिल्कुल भी सुनता नहीं है। मिथ्याज्ञान कुज्ञान के नशे में नरक के दुःखों का बीज बोता है।

जीव, विकार (कर्मोदय संयोग) को तथा निज स्वरूप को एक मान रहा है अतः यथार्थ विचार नहीं कर पाता है यही दर्शन मोहांध है। यदि मिथ्या धारणा में अवकाश बनाकर जाने कि विकार कृत्रिम है तथा स्वभाव निरुपाधि स्वरूप चैतन्य ज्योति है तो भेदज्ञान का अवसर आये परंतु अज्ञानी ने तो निज-पर दोनों में एकता मानी है। दया दानादि से धर्म होने की मान्यता अर्थात् मिथ्यादर्शन के बल से वह उन दोनों में भेद नहीं करता। व्यवहार करे, कषाय को मंद करे तो धर्म हो ऐसी विपरीत श्रद्धा, स्वभाव व विभाव को पृथक् जानने रूप विचार ही नहीं करने देती।

जो आत्म स्वभाव का अनादर कर पर वस्तु से सुख पाना मानता है वह जीव दर्शन मोहांध है। अंतर में महान चैतन्य निधि विराजमान है, उसका तो आदर नहीं करता व जड़ में सुख मानता है, पर से व शुभ भाव से हमें लाभ

होगा, शरीर की क्रिया से धर्म होगा, ऐसा मानने वाले जीव दर्शन मोहांध हैं। स्व-पर का श्रद्धान होने पर, अपने को पर से भिन्न जाने तो स्वयं के आश्रय से संवर निर्जरा रूप सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र का उपाय करे और पर द्रव्यों से अपने को भिन्न रूप श्रद्धान होने पर, पर के लक्ष्य से होने वाले पाप-पुण्य व आश्रव बंध को छोड़ने का श्रद्धान होता है। स्वयं को पर से भिन्न जानने पर निज हितार्थ प्रवर्तन करे तथा पर को अपने से भिन्न जानने पर, पर के प्रति उदासीन हो व रागादिक छोड़ने का श्रद्धान हो इस प्रकार सामान्य रूप से जीव-अजीव दोनों को ही भिन्न-भिन्न जाने तब दर्शन मोह का अभाव होकर मोक्ष होता है।

प्रश्न - दर्शन किसे कहते हैं ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

दर्सइ दंसन उत्तं, अदर्सन सहकार रूव सहियानं ।

उत्तं जिन उत्त परं, मोहंधं दिस्टि रूव कलिदानं ॥ १७२ ॥

अन्वयार्थ - (दर्सइ दंसन उत्तं) देखने अनुभूति करने, श्रद्धान, प्रतीति करने को दर्शन कहते हैं, निज शुद्धात्मानुभूति अपने शुद्धात्म स्वरूप को देखना ही सम्यक्दर्शन है (अदर्सन सहकार रूव सहियानं) रूपी पदार्थ, शरीरादि अचेतन को देखना, उसका श्रद्धान करना, यह अदर्शन मिथ्यादर्शन कहलाता है अथवा रूप सहित अपने को स्वीकार करना अदर्शन है अर्थात् शरीर सहित अपने को रूपी मानना अदर्शन मिथ्यादर्शन है (उत्तं जिन उत्त परं) जैसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है उसके विरुद्ध पर को अपना मानना, अपने जिन स्वरूप आत्मा को भिन्न न जानकर शरीर रूप ही अपने को मानना (मोहंधं दिस्टि रूव कलिदानं) यह मोहांध दृष्टि शरीर आदि रूपी पदार्थ को ही अपना मानती है।

विशेषार्थ - दर्शन के दो भेद हैं, एक सम्यक्दर्शन होता है, एक मिथ्यादर्शन। अपने शुद्धात्म स्वरूप को देखना, निज शुद्धात्मानुभूति, शरीरादि से भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी चैतन्य तत्त्व भगवान आत्मा हूँ, ऐसी प्रतीति श्रद्धान होना सम्यक्दर्शन कहलाता है। शरीरादि रूपी पदार्थ को देखना या यह शरीरादि ही मैं हूँ ऐसा मानना, ऐसा श्रद्धान प्रतीति होना, अदर्शन, मिथ्यादर्शन कहलाता है। जैसा जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है उसके विरुद्ध पर को अपना मानना ही मोहांध दृष्टि है और यह शरीरादि रूपी पदार्थों

में ही लगी रहती है जिससे संसार परिभ्रमण होता है, सम्यक्दर्शन से मुक्ति मार्ग प्रारंभ होता है। दर्शन-देखने, अनुभूति करने, प्रतीति करने, श्रद्धान करने को कहते हैं।

अपने शुद्धात्म स्वरूप की अनुभूति सम्यक्दर्शन है, शरीरादि रूपी पदार्थ को देखना उनका आत्मरूप श्रद्धान करना यह अदर्शन मिथ्यादर्शन है।

अनादि अनंत ऐसा जो एक निज शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, उसके स्वसन्मुख होकर आराधन करना वही परमात्मा होने का सच्चा उपाय है।

जड़ शरीरादि रूपी पदार्थों को अपना स्वरूप मानना यही मैं हूँ या यह मेरे हैं ऐसी मान्यता ही मिथ्यादर्शन है। दर्शन मोहांध जीव रूपी पदार्थ, शरीरादि को ही आत्मा परमात्मा कहता है, मानता है और इससे संसार में परिभ्रमण करता है।

दर्शन मोह को मंद किये बिना वस्तु स्वभाव जानने में नहीं आता और दर्शन मोह का अभाव किये बिना, आत्मा अनुभव में नहीं आता। सर्व प्रकार से भेदज्ञान की प्रवीणता द्वारा “यह अनुभूति है सो ही मैं हूँ” ज्ञान लक्षण से लक्षित चैतन्य स्वभाव का अनुभव होने पर, यह अनुभूति ही मैं हूँ यही सम्यक्दर्शन है।

सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कथित पदार्थ के स्वरूप के अनुसार शास्त्र का सम्यक् रूप से अवगाहन करना, सांगोपांग समझना ही साधकता है।

दर्शन मोहांध जीव शरीरादि रूपी पदार्थ में ही आत्मा परमात्मा की कल्पना, मान्यता करता है। जड़ अचेतन शरीरादि मूर्ति को ही देव कहता है।

प्रश्न - क्या शरीरादि मूर्तिक पदार्थ देव नहीं होते ? सच्चे देव का क्या स्वरूप है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

देवं देवाधिदेवं, देवं वर न्यान दंसनं समगं ।

चरनं अनन्त वीर्ज, दर्सन मोहंध अदेव देवं च ॥ १७३ ॥

देवं अरूव रूवं, रूवातीतं च विगत रूवेन ।

न्यानमई ससहावं, दर्सन मोहंध रूव देवं च ॥ १७४ ॥

**देवं ऊर्ध्व सहावं, देवं तिलोयमंत सुपएसं ।
देवं अनन्त नंतं, दर्शन मोहंध अन्नितं देवं ॥ १७५ ॥
देवं अनन्त दिस्ती, इस्ती संजोय सहाव परमिस्ती ।
आनन्दं परमानन्दं, दर्शन मोहंध असत्य देवं च ॥ १७६ ॥**

अन्वयार्थ - (देवं देवाधिदेवं) सच्चे देव परमात्मा, देवों के देव, इन्द्र के भी देव अर्थात् इष्ट परमात्मा होते हैं (देवं वर न्यान दंसनं समगं) देव अर्थात् परमात्मा श्रेष्ठ ज्ञान दर्शन से समग्र परिपूर्ण होते हैं (चरनं अनन्त वीर्ज) जो अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य के धारी अपने स्वरूप में लीन रहते हैं (दर्शन मोहंध अदेव देवं च) दर्शन मोहंध अदेव को देव मानता है अर्थात् दर्शन मोहंध, सच्चे वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी, अरिहंत परमात्मा को सच्चा देव न मानकर जड़ अचेतन शरीरादि मूर्तिक प्रतिमा को देव मानता है ।

(देवं अरुव रूवं) देव का स्वरूप अरूपी है, चैतन्य स्वरूप आत्मा परमात्मा अरस, अरूपी, अस्पर्शी होता है (रूवातीतं च विगत रूवेन) जो रूपातीत है, वर्णादि शरीर रहित है अर्थात् सिद्ध परमात्मा अशरीरी अविकारी अपने में पूर्ण परमानंदमय परमात्मा होते हैं (न्यानमई ससहावं) जिनका स्व स्वभाव ज्ञानमयी है अर्थात् ज्ञान मात्र चैतन्य ज्योति स्वरूप ही सिद्ध परमात्मा होते हैं (दर्शन मोहंध रूव देवं च) दर्शन मोहंध जीव, रूपी दिखने वाले शरीर अचेतन जड़ प्रतिमा मूर्ति को देव मानता है ।

(देवं ऊर्ध्व सहावं) श्रेष्ठ स्वभाव धारी ऊर्ध्वगामी आत्मा को देव कहते हैं (देवं तिलोयमंत सुपएसं) देव तीन लोक में शुद्ध प्रदेशी ही होते हैं (देवं अनन्त नंतं) देव अनंत चतुष्टय व अनंतानंत गुणों के धारी हैं (दर्शन मोहंध अन्नितं देवं) दर्शन मोहंध नाशवान क्षणभंगुर असत् शरीरादि को देव मानता है ।

(देवं अनन्त दिस्ती) देव वह हैं जो अनंत दर्शन के धारी हैं (इस्ती संजोय सहाव परमिस्ती) जिनका स्वभाव सर्व प्राणी मात्र को इष्ट हितकारी है तथा जो अपने स्वभाव परम इष्ट पद में तिष्ठते हैं (आनन्दं परमानन्दं) जो हमेशा आनंद परमानंद में मग्न रहते हैं (दर्शन मोहंध असत्य देवं च) दर्शन मोहंध अज्ञानी मिथ्यादृष्टि इसके विपरीत जो असत्, झूठे हैं उनको देव मानता है ।

विशेषार्थ - सच्चे देव परमात्मा का स्वरूप तो यह है जो तीन लोक में पूज्य देवों के देव इन्द्रों द्वारा भी पूज्यनीय हैं । सच्चे देव का स्वरूप तो वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी आप्त अरिहंत परमात्मा हैं, जो रत्नत्रयमयी अनंत चतुष्टय के धारी केवलज्ञानी परमात्मा हैं, जो शरीर सहित होते हुए भी अपने ज्ञानानंद स्वभाव में लीन रहते हैं, वही सच्चे देव होते हैं जो प्रत्येक जीव आत्मा का अपना सत्स्वभाव है । दर्शन मोहंध जीव को ऐसे सच्चे देव की श्रद्धा नहीं होती, वह अदेव, कुदेव आदि को देव मानता है ।

शुद्ध आत्मा को देव कहते हैं, जो सिद्ध परमात्मा, सर्व कर्म रहित, अशरीरी, अविकारी, निरंजन ज्ञानमात्र जिनका स्व स्वभाव है, अपने स्व स्वभाव में तिष्ठते हैं, ऐसे सिद्ध परमात्मा सच्चे देव होते हैं । दर्शन मोहंध जीव शरीरादि रूपी मूर्तिक प्रतिमा को देव मानता है । अनंत गुणों का धारी वीतराग शुद्ध आत्मा ही सच्चा देव है, जो लोकालोक का ज्ञाता शुद्ध प्रदेशी अपने में परिपूर्ण परमानंद मयी परमात्मा है, इससे विपरीत जो जो देव मानता है वह मिथ्यादृष्टि है ।

देव वही है जो परमात्म पद में तिष्ठता है, जो अनंत चतुष्टय का धारी हमेशा आनंद परमानंद में मग्न रहता है, ऐसे परमात्म स्वरूप के स्मरण मात्र से जीवों का कल्याण होता है वही सच्चे देव होते हैं । दर्शन मोहंध जो नाशवान असत् देवादि मूर्तिक है उनको देव मानता है ।

प्रश्न - अदेव किसे कहते हैं और कुदेव किसे कहते हैं ?

समाधान - जड़ अचेतन पाषाण धातु आदि की मूर्ति या चित्र लेप आदि जो संसारी जीवों द्वारा बनाये जाते हैं, चेतनता रहित अचेतन प्रतिमा आदि को देव मानना, उसकी पूजा भक्ति करना, यह सब अदेव कहलाते हैं । इसमें लोक मूढता से और भी संसारी देहली, ओखली, दरवाजा, वृक्ष आदि की पूजा मान्यता, अदेव कहलाती है तथा जो सच्चे वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी आप्त परमात्मा नहीं हैं, चार प्रकार की देव योनि व्यंतर, भवनवासी, ज्योतिषी और वैमानिक देवों में पैदा हुए हैं उनको सच्चे देव मानकर पूजा भक्ति करना यह कुदेव मान्यता कहलाती है ।

प्रश्न - यह अदेव, कुदेव की मान्यता पूजा भक्ति क्यों की जाती है ?

समाधान - संसारी अज्ञानी प्राणी दर्शन मोह से अंधा होकर अपने

पुत्र, परिवार, धन, वैभव, शारीरिक दुःख बीमारी और संसारी कामना वासना की पूर्ति के लिये इन अदेव कुदेव आदि की पूजा भक्ति मान्यता करता है, उसे धर्म-कर्म वस्तु स्वरूप का ज्ञान ही नहीं होता, अपने आत्म स्वरूप को जानता ही नहीं है इसलिये लोक मूढ़ता, पाखंड मूढ़ता में फंसकर यह देव मूढ़ता में लगा रहता है।

प्रश्न - क्या यह अदेव, कुदेव की पूजा भक्ति मान्यता करने से संसारी कार्य की सिद्धि हो जाती है ?

समाधान - नहीं, किसी की मान्यता से कोई कार्य सिद्धि नहीं होती क्योंकि प्रत्येक जीव का परिणमन अपने-अपने कर्म उदयानुसार चलता है। हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश विधि हाथ, यह सब भाग्यानुसार ही होते हैं, इन्हें कोई भी टाल फेर बदल सकता नहीं है।

प्रश्न - फिर यह कुदेव, अदेव आदि की इतनी पूजा, भक्ति मान्यता क्यों चल रही है ?

समाधान - अज्ञान और मोह की प्रबलता तथा कुगुरुओं का संग इसका प्रमुख कारण है तथा जीवों की खोटी होनहार होने से वैसे निमित्त मिलते हैं। यदि यह मिथ्या मान्यता छूट जाये, सच्चे देव गुरु धर्म का सत्संग, श्रद्धान हो जाये तो मुक्ति का मार्ग बन जाता है। संसार के परिभ्रमण के लिये तो ऐसे ही सारे योग निमित्त मिलते हैं।

प्रश्न - सच्चे देव का स्वरूप क्या है ? दर्शन मोहांध किसे देव मानता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

अनन्त चतुष्टय सहियं, आचरनं चरन सयल सुइ रूवी।

सहजानन्द सुभावं, दर्शन मोहांध अदेव देवं च॥ १७७॥

देवं च सत्य रहियं, देवं परिनाम सयल सुइ रूवी।

देवं च परम देवं, दर्शन मोहांध अनिस्ट देवं च॥ १७८॥

अन्वयार्थ - (अनन्त चतुष्टय सहियं) देव परमात्मा का स्वरूप तो अनन्त चतुष्टय-अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य सहित होता है (आचरनं चरन सयल सुइ रूवी) जो स्वरूपाचरण चारित्र में रत रहते हैं जिनसे सर्व श्रुतज्ञान प्रगट हुआ है (सहजानन्द सुभावं) जो सहजानन्द स्वभाव

के धारी हैं (दर्शन मोहांध अदेव देवं च) दर्शन मोहांध अदेव को देव मानता है।

(देवं च सत्य रहियं) परमात्मा तो शल्य से रहित होते हैं, जिनमें कोई माया, मिथ्या, निदान आदि शल्य नहीं होती (देवं परिनाम सयल सुइ रूवी) देव, परमात्मा के भाव सदा ही शुद्ध, सर्व श्रुतज्ञान स्वरूप होते हैं (देवं च परम देवं) जो देवों का देव है वही परमात्मा देव है (दर्शन मोहांध अनिस्ट देवं च) दर्शन मोहांध अनिष्टकारी रागी-द्वेषी देवों को देव मानता है।

विशेषार्थ - अनन्त चतुष्टय सहित अपने स्व समय में मग्न सहजानन्द स्वभावी परमात्मा को देव कहते हैं, जिनसे सर्व श्रुत (आगम) ज्ञान प्रगट हुआ है। जिनकी दिव्य देशना से जग जीवों का कल्याण होता है, जो सर्व शल्य, विकल्पो से रहित अपने परम पारिणामिक स्वभाव में रहते हैं, जो सकल श्रुतज्ञान के आधार हैं ऐसे देवों के परम देव, परमात्मा सच्चे देव होते हैं। दर्शन मोहांध अदेवों को (पाषाण आदि की मूर्ति को) अथवा देव गति के देवों को जो रागी-द्वेषी कुदेव होते हैं उन्हें देव मानता है।

जो अपने आत्म स्वरूप को जानता है वही सच्चे परमात्मा के स्वरूप को जानता है, जो परमात्मा के स्वरूप को जानता है वही अपने आत्मा के स्वरूप को जानता है।

आत्मा चीन्हे सो परमात्मा। जो अपने आत्म स्वरूप को नहीं जानता वह सच्चे परमात्मा के स्वरूप को भी नहीं जानता। दर्शन मोहांध अज्ञानी प्राणी पर में एकत्व, अपनत्व मानता है, उसे भेदज्ञान तत्त्व निर्णय, वस्तु स्वरूप का ज्ञान होता ही नहीं है इसलिये संसारी जीवों की देखादेखी, लोक मूढ़ता, साम्प्रदायिकता, जाति-पांति के बंधन और वंश परंपरागत रूढ़िवादी होने से अदेव कुदेव आदि की मान्यता पूजा भक्ति करता रहता है, उन्हें अपने कल्याणकारी इष्ट मानता है।

प्रश्न - जो जीव संसारी कामना वासना को लेकर कुदेव अदेव आदि की पूजा मान्यता करते हैं वह दर्शन मोहांध अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं परंतु जो किसी संसारी कामना वासना को नहीं चाहते, अपना आत्म कल्याण करना चाहते हैं, संसार के जन्म-मरण से मुक्त होना चाहते हैं वह यदि अदेव, कुदेव आदि की मान्यता पूजा भक्ति करते हैं, सच्चे देव के स्वरूप को नहीं जानते तो ऐसे जीवों का क्या होगा ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा में कहते हैं -

देवं अलष्य लष्यं, देवं संसार सरनि विगतोयं ।
मिथ्या राग विमुक्कं, दर्सन मोहंध मिथ्य देवं च ॥ १७९ ॥
दर्सन मोहंध सुभावं, अन्नित असत्य देव उत्तं च ।
आचरणं संसार मइओ, दर्सन मोहंध दुग्गए पत्तं ॥ १८० ॥
मोहंधं च सुभावं, कुदेवं देव सयल सहकारं ।
अदेवं अन्मोयं, दर्सन मोहंध निगोय वासम्मि ॥ १८१ ॥

अन्वयार्थ - (देवं अलष्य लष्यं) देव अर्थात् परमात्मा अपने अलख स्वरूप आत्मा को प्रत्यक्ष देखता है (देवं संसार सरनि विगतोयं) परमात्मा वह है जो संसार परिभ्रमण से मुक्त हो गया, जिस आत्मा के जन्म-मरण का चक्र छूट गया वही परमात्मा है (मिथ्या राग विमुक्कं) जो सब मिथ्यात्व रागादि से मुक्त हो गया अर्थात् जो अपने परिपूर्ण सच्चिदानंद घन ब्रह्म स्वरूप में लीन हो गया वह परमात्मा सच्चा देव है (दर्सन मोहंध मिथ्य देवं च) दर्शन मोहांध जीव इसके विपरीत मिथ्या देव को मानता है ।

(दर्सन मोहंध सुभावं) यह दर्शन मोहांध अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव का स्वभाव होता है कि वह (अन्नित असत्य देव उत्तं च) झूठे नाशवान अचेतन अदेव या रागी-द्वेषी कुदेवों को देव कहता है (आचरणं संसार मइओ) उसका आचरण संसार मयी होता है अर्थात् संसारी सुख-दुःख आदि की अपेक्षा ही सारा आचरण करता है (दर्सन मोहंध दुग्गए पत्तं) इसी से दर्शन मोहांध अज्ञानी जीव दुर्गति का पात्र बनता है ।

(मोहंधं च सुभावं) दर्शन मोहांध अज्ञानी जीव का यह स्वभाव होता है कि वह (कुदेवं देव सयल सहकारं) सच्चे-झूठे, देव-कुदेव सबको एक सा मानता, स्वीकार करता है (अदेवं अन्मोयं) अदेव जड़ प्रतिमा आदि का ही आलंबन रखता है, अनुमोदना करता है (दर्सन मोहंध निगोय वासम्मि) इसी से दर्शन मोहांध जीव निगोद में वास करता है ।

विशेषार्थ - जब तक भेदविज्ञान पूर्वक निज शुद्धात्मानुभूति सम्यक्दर्शन नहीं होता तथा सच्चे देव गुरु धर्म का सत्श्रद्धान नहीं होता तब तक दर्शन मोह से अंधा अज्ञानी जीव संसार में ही परिभ्रमण करता है । सच्चा देव परमात्मा तो अपने अलख निरंजन स्वभावमय रहता है, आत्मा को प्रत्यक्ष

देखता है । परमात्मा वह है जो संसार के परिभ्रमण जन्म-मरण के चक्र से छूट गया, जो सब मिथ्यात्व रागादि से मुक्त हो गया, जो अपने परिपूर्ण सच्चिदानंद घन स्वभाव ब्रह्म स्वरूप में लीन रहता है, वह परमात्मा सच्चा देव है । दर्शन मोहांध इसके विपरीत मिथ्या देव को देव मानता है । दर्शन मोहांध अज्ञानी जीव का यह स्वभाव होता है कि वह झूठे नाशवान अचेतन, अदेव या रागी-द्वेषी कुदेवों को देव कहता है, दर्शन मोहांध को सच्चे-झूठे, देव कुदेव अदेव का कोई भेद नहीं होता, वह सब देव कुदेव अदेव को एक ही मानता है क्योंकि जब तक सच्चे देव, गुरु, धर्म के स्वरूप का बोध नहीं होता तब तक आत्म श्रद्धान सम्यक्दर्शन भी नहीं होता तथा सम्यक्दर्शन ज्ञान होने पर ही सच्चे देव गुरु धर्म की यथार्थ प्रतीति होती है इसलिये दर्शन मोहांध, कैसे ही रूप में किसी भी देव की श्रद्धा पूजा भक्ति करे, उसका आचरण संसारमयी ही होता है । परमार्थ का उसे ज्ञान ही नहीं होता इसलिये कुछ अपेक्षा से कुछ भी माने वह संसार में ही परिभ्रमण करता है और अदेवादि की पूजा भक्ति करके तीव्र मिथ्यात्व से निगोद चला जाता है ।

आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन केवलज्ञानी अरिहंत परमात्मा ही करते हैं वही सच्चे देव हैं, जो वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी संसार के सर्व प्रकार के आरंभ परिग्रह के भाव से मुक्त हैं, जिनमें कोई संसारी मिथ्या राग नहीं है, जो जन्म-मरण के चक्र से छूट गये हैं, जिनका कभी संसार में आवागमन ही नहीं होता, जो निरंतर आत्मानंद में मगन परम वीतराग हैं, ऐसे परमात्मा ही सच्चे देव होते हैं ।

देवगति में रहने वाले सर्व ही इन्द्र धरणेन्द्र क्षेत्रपालादि देव कर्माधीन हैं, जब मरण का समय आता है वे अपनी रक्षा नहीं कर सकते, वे स्वयं कर्मों के उदयानुसार अनेक गतियों में भ्रमण करते हैं, वे स्वयं भोगों में लीन रागी-द्वेषी होते हैं, ऐसे संसारी आत्माओं को देव मानना घोर मिथ्यात्व है तथा जिनमें चेतनता आत्मा ही नहीं है ऐसे जड़ पाषाण आदि की मूर्ति अदेव को देव मानना मिथ्यात्व है ।

वास्तव में देव के मानने का अभिप्राय यह है कि अपने सामने ऐसा एक आदर्श रहे जिस पर हमको पहुंचना है, स्वयं वैसे होना है इसलिये आदर्श देव अरिहंत व सिद्ध परमात्मा ही हो सकते हैं क्योंकि वे सर्व तरह से शुद्ध परम वीतराग ज्ञाता दृष्टा आनंदमयी परमात्मा हैं । मेरा आत्मा भी परमात्मा के

समान है, ऐसी भावना ही परमात्म पद में ले जाती है। जो सच्चे परमात्मा देव के स्वरूप को पहिचानता है वह अपने आत्म स्वरूप को भी पहिचानता है क्योंकि आत्मा ही परमात्मा होता है कोई जड़ अचेतन शरीरादि परमात्मा नहीं होता।

जो अरिहंत भगवान को उनके आत्म द्रव्य के द्वारा, उनके ज्ञानादि सुख गुणों के द्वारा व उनके स्वाभाविक शुद्ध पर्याय के द्वारा जानता है, वह अपने आत्मा को भी जानता है कि मेरा आत्म स्वरूप भी ऐसा ही है, उसी का मोह दूर होता है।

अरिहंत सिद्ध के आत्मा पर लक्ष्य जायेगा, तब ही सच्चे देव का श्रद्धान होगा, आत्मा की भक्ति से ही आत्मा का विकाश होता है। आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा के विचार से ही आत्मानुभव जाग्रत होता है इसलिये सर्वज्ञ वीतराग केवलज्ञान स्वभावी आत्मा को ही देव मानना चाहिये, जो ऐसा मानता है वह सम्यक्दृष्टि है, इसके विपरीत जो किसी भी शरीर सहित रागी-द्वेषी देव को अथवा चेतनता रहित अदेवादि मूर्ति को देव मानता है, वह दर्शन मोह से अंधा मिथ्यादृष्टि जीव है जो संसार में ही परिभ्रमण करता है।

प्रश्न - अनादि अज्ञान मिथ्यात्व से जीव दर्शन मोहांध हो रहा है, और जैसे निमित्त संयोग मिलते हैं वैसा ही होता रहता है, इससे छूटने का निमित्त साधन उपाय क्या है ?

समाधान - इस अज्ञान मिथ्यात्व से छूटने का एक मात्र उपाय भेदज्ञान पूर्वक सम्यक्दर्शन है, इसमें निमित्त सदगुरु होते हैं, सदगुरु का सत्संग करने से ज्ञान की प्राप्ति होती है। साधन स्वयं का विवेक और पुरुषार्थ है, क्योंकि - मानुष तो विवेकवान, नहीं तो पशु के समान।

यह मानुष पर्याय सुकुल, सुनिवो जिनवाणी।

इहि विधि गये न मिले, सुमणि ज्यों उदधि समानी ॥

ज्ञान होने पर ही अज्ञान विलाता है, जैसे प्रकाश होने पर अंधकार विला जाता है, ज्ञान की प्राप्ति सत्संग, स्वाध्याय, तत्त्व चिंतन से होती है, इसमें सदगुरु सहकारी हैं। बगैर सदगुरु के सच्चा ज्ञान नहीं होता है।

प्रश्न - सदगुरु कैसे होते हैं, उनका स्वरूप क्या है ? क्या अभी तक सदगुरु का शुभयोग नहीं मिला ?

समाधान - आत्मज्ञानी वीतरागी संतों को सदगुरु कहते हैं, जो अपनी

ज्ञान ध्यान साधना में रत रहते हैं। जगत के प्रपंच से दूर जो शुद्धात्म स्वरूप की ही चर्चा, आराधना करते हैं, स्वयं मुक्ति मार्ग पर चलते हुए भव्य जीवों को शुद्ध आत्मा और मुक्ति मार्ग का उपदेश देते हैं। सदगुरुओं का सद्भाव, समागम तो मिलता रहता है, परंतु दर्शन मोहांध ऐसे सदगुरु की बात न सुनता है, न मानता है, वह अपनी मनमानी करता है।

प्रश्न - सदगुरु क्या उपदेश देते हैं और दर्शन मोहांध कैसा, क्या मानता है ?

इसके समाधान में सदगुरु आगे गाथा कहते हैं-

गुरुं च गुपित उवएसं, गुरुं च अप्प सुद्ध सभावं।

दंसन न्यान पहानं, दर्सन मोहंध अगुरु गुरुवं च ॥ १८२ ॥

गुरु उवएस स उत्तं, सूष्यम परिनाम कम्म संषिपनं।

गुरुं च विमल सहावं, दर्सन मोहंध समल गुरुवं च ॥ १८३ ॥

गुरुं च मग उवएसं, अमगं सयल भाव गलियं च।

गुरुं च न्यान सहावं, दर्सन मोहंध अन्यान गुरुवं च ॥ १८४ ॥

अन्वयार्थ - (गुरुं च गुपित उवएसं) गुरु गुप्त अध्यात्म तत्त्व का उपदेश देते हैं (गुरुं च अप्प सुद्ध सभावं) गुरु आत्मा के शुद्ध स्वभाव का बोध कराते हैं (दंसन न्यान पहानं) जो दर्शन ज्ञान से प्रधान हैं अर्थात् आत्मा दर्शन ज्ञान का धारी ज्ञायक स्वभावी मात्र है, आत्मा कुछ कर्ता, धर्ता, भोक्ता नहीं है, ऐसे आत्मा के शुद्ध स्वभाव को सदगुरु बताते हैं (दर्सन मोहंध अगुरु गुरुवं च) दर्शन मोहांध अगुरुओं को गुरु मानता है अर्थात् जो संसार शरीर भोगों में फंसाते हैं, आत्मा को कर्ता भोक्ता बताते हैं ऐसे अगुरुओं की बातों में लगा रहता है और उनको गुरु मानता है।

(गुरु उवएस स उत्तं) सदगुरु ऐसा उपदेश देते हैं (सूष्यम परिनाम कम्म संषिपनं) जिससे सूक्ष्म अतीन्द्रिय आत्मा की शुद्धोपयोग परिणति का ज्ञान हो जावे, जिस परिणति में रमण करने से कर्मों का क्षय होता है (गुरुं च विमल सहावं) गुरु, विमल स्वभावी आत्मा को बताते हैं और स्वयं विमल स्वभावी होते हैं (दर्सन मोहंध समल गुरुवं च) दर्शन मोहांध जीव रागी-द्वेषी संसारी प्रपंच में फंसे गुरुओं को गुरु मानता है।

(गुरुं च मग उवएसं) गुरु वे ही हैं जो मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं (अमगं सयल भाव गलियं च) जिससे मोक्षमार्ग के विपरीत कुमार्ग, संसारी मार्ग के सारे भाव गल जाते हैं (गुरुं च न्यान सहावं) अपना ज्ञान स्वभाव ही सच्चा गुरु है तथा गुरु वे ही हैं जो अपने ज्ञान स्वभावी आत्मा में रत रहते हैं, जो सम्यक्ज्ञान के धारी हैं (दर्शन मोहंध अन्यान गुरुवं च) दर्शन मोहांध अज्ञानी जीव आत्मज्ञान से रहित अज्ञानी को गुरु मानता है।

विशेषार्थ - आत्मज्ञानी निर्ग्रन्थ वीतरागी संतों को सद्गुरु कहते हैं, जो अपने शुद्धात्म स्वरूप के ज्ञान ध्यान में रत रहते हैं तथा भव्य जीवों को गुप्त अध्यात्म तत्त्व का उपदेश देते हैं, आत्मा के शुद्ध स्वभाव का बोध कराते हैं। सम्यक्दर्शन, ज्ञान में प्रधान सम्यक्चारित्र के साधक दर्शन ज्ञान की प्रधानता अर्थात् आत्मा मात्र ज्ञाता दृष्टा ज्ञायक स्वभावी है। आत्मा पर का कर्ता, धर्ता, भोक्ता नहीं है ऐसा भेदज्ञान कराते हैं, गुरु बड़े दयालु होते हैं। स्वयं वीतराग शुद्ध परिणति में रमण करते हुए अपने कर्मों की निर्जरा करते हैं तथा अपने शिष्यों को भी ऐसा उपदेश देते हैं जिससे वे भी अपने विमल स्वभाव की पहिचान कर शुद्धोपयोग द्वारा उसमें रमण कर सकें। गुरु में इंद्रिय निग्रह, वीतरागता, समता भाव व उत्तम क्षमा आदि गुण होते हैं, वे आरंभ-परिग्रह से विरक्त मोक्षमार्ग पर चलते हैं तथा मोक्षमार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं, जिनके उपदेश से भव्य जीवों को संसार से विरक्ति हो जाती है, कुमार्ग पर चलना छूट जाता है, संसार के सारे भाव गल जाते हैं, ज्ञान स्वभाव का प्रकाश हो जाता है। अंतरात्मा के जागरण को ही सद्गुरु का मिलन कहते हैं। निश्चय से अपना अंतरात्मा ज्ञान स्वभाव का जागरण ही सच्चा गुरु है।

दर्शन मोहांध जीव ऐसे सद्गुरु का न उपदेश सुनता है, न सत्संग करता है, वह मिथ्यात्व में लिप्त परिग्रह धारी, आरंभ में लीन, आत्मज्ञान से शून्य, इंद्रिय लम्पटी, प्रतिष्ठा चाहने वाले, संसारासक्त मिथ्या प्रपंच में फंसाने वाले अगुरु, कुगुरु, अज्ञानियों को गुरु मानता है, इसी से संसार में परिभ्रमण करता है।

जिसे अध्यात्म ज्ञान के द्वारा आत्मा के शांत रस निज स्वभाव का यथार्थ अनुभव न हुआ हो, वह वीतराग दिगम्बर जैन दर्शन के रहस्य को नहीं जानता। जैन धर्म तो शुद्ध अध्यात्म रसमय है, कोई दया दान पूजा भक्ति

आदि जैन धर्म का स्वरूप नहीं है। वक्ता को शास्त्र वांचन कर आजीविकादि लौकिक कार्य साधने की इच्छा नहीं होनी चाहिये क्योंकि कोई भी लौकिक आशा होने पर यथार्थ उपदेश देना नहीं हो सकता।

ज्ञायक पिंड आनंद स्वरूप आत्मा का भानकर अंतर लीन होना सो जैन धर्म है।

गुरु कीजे जानकर, पानी पीजे छानकर, तभी कल्याण हो सकता है।

प्रश्न - सच्चे गुरु का स्वरूप क्या है ? उनका आचरण कैसा होता है ? दर्शन मोहांध कैसे गुरु को मानता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

गुरुं च लोय पयासं, चेलं ससहाव ग्रंथ मुक्कं च।

ममल सहावं सुद्धं, दर्सन मोहंध समल गुरुवं च ॥ १८५ ॥

गुरुं सहाव स उत्तं, रागं दोसं पि गारवं तिक्तम्।

न्यानमई उवएसं, दर्सन मोहंध राइ मय गुरुवं ॥ १८६ ॥

गुरुं च दर्सन मइओ, गुरुं च न्यान चरन संजुत्तो।

मिथ्या सल्य विमुक्कं, दर्सन मोहंध सल्य गुरुवं च ॥ १८७ ॥

अन्वयार्थ - (गुरुं च लोय पयासं) सच्चे गुरु वह हैं जो लोक के स्वरूप का प्रकाश करते हैं अर्थात् वस्तु स्वरूप बताते हैं (चेलं ससहाव ग्रंथ मुक्कं च) जो बाहर से पंच चेल, समस्त वस्त्र परिग्रह के त्यागी हैं तथा अंतरंग में अपने स्व स्वभाव शुद्धात्मा के अनुरागी व सर्व बंधनों से मुक्त होते हैं (ममल सहावं सुद्धं) जो ममल शुद्ध स्वभाव की साधना करते हैं तथा समस्त विषय कषायों से रहित परम शुद्ध होते हैं (दर्सन मोहंध समल गुरुवं च) दर्शन मोहांध जीव मिथ्यात्व, मद, राग, द्वेषादि में लिप्त गुरुओं को गुरु मानता है।

(गुरुं सहाव स उत्तं) गुरु का स्वभाव ऐसा कहा गया है (रागं दोसं पि गारवं तिक्तम्) जिन्होंने राग द्वेष तथा मद का त्याग किया है (न्यानमई उवएसं) जिनका उपदेश ज्ञानमयी होता है अर्थात् जो सम्यक्ज्ञान पूर्वक शुद्धात्म स्वरूप का उपदेश करते हैं (दर्सन मोहंध राइ मय गुरुवं) दर्शन मोहांध रागमयी अर्थात् रागी-द्वेषी गुरुओं को मानता है।

(गुरुं च दर्शन मइओ) गुरु वही है जो सम्यक्दर्शन का धारी है (गुरुं च न्यान चरन संजुत्तो) गुरु वही है जो सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र सहित है अर्थात् रत्नत्रय के धारी ही सच्चे गुरु होते हैं (मिथ्या सल्य विमुक्कं) जो मिथ्या शल्यादि से रहित हैं (दर्शन मोहंध सल्य गुरुवं च) दर्शन मोहंध अज्ञानी मिथ्यात्व आदि शल्यधारी को गुरु मान लेता है।

विशेषार्थ - सच्चा गुरु वही है जो वस्त्रादि समस्त आरंभ-परिग्रह का त्यागी है। शास्त्रों का ज्ञाता, वस्तु स्वरूप जानने वाला, परम शांत स्वभावी अपने शुद्धात्म स्वरूप का अनुरागी, ज्ञान, ध्यान, साधना में रत रहता है, जिसे संसार के किसी पदार्थ से बिल्कुल भी राग-द्वेष नहीं होता, जिनका लक्ष्य सिद्ध पद की प्राप्ति रहता है, जो परम वीतरागी हैं, जिनका सब राग-द्वेष गारव छूट गया है, जो आत्मज्ञान का उपदेश देते हैं। रत्नत्रय अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के धारी, जो परमाणु मात्र, परद्रव्य परभाव में अपनत्व कर्तृत्व नहीं मानते, मिथ्यात्व शल्यादि से रहित शुद्धात्मानुभूति में रत रहते हैं, ऐसे सद्गुरुओं के उपदेश से आत्म ज्ञान तथा मुक्ति मार्ग पर चलने का पुरुषार्थ जागता है।

दर्शन मोहंध अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव ऐसे सद्गुरुओं का सत्संग, समागम नहीं करता और जो सरागी, मिथ्यादृष्टि, रागी द्वेषी सग्रन्थ, साम्प्रदायिक, क्रिया कांडी, कुगुरुओं को गुरु मानता है जो मिथ्यात्व शल्यादि में लिप्त संसार मार्गी होते हैं, ऐसे अज्ञानी गुरुओं को गुरु मानता है, उनकी भक्ति आराधना में रत रहता है।

मुनिधर्म शुद्धोपयोगरूप है, पुण्य-पाप रूप शुभाशुभ भाव धर्म नहीं है परंतु शुद्धोपयोग ही धर्म है। जो सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र सहित अंतर में लीनता वर्तती है वही साधु का स्वरूप है, ऐसे सच्चे वीतरागी निर्ग्रन्थ साधु सद्गुरु होते हैं।

साधु समस्त राग-द्वेष, विषय-कषाय, पाप-परिग्रह, मिथ्यात्व शल्य आदि से रहित अपने शुद्धात्म स्वरूप के ज्ञान ध्यान में लीन रहते हैं और शुद्धात्म स्वरूप आत्म ज्ञान का ही उपदेश करते हैं। पंचपरमेष्ठी का मूल स्वरूप तो वीतराग विज्ञान मय है, अंतर शुद्धता हुई व उसका ज्ञान ही परम इष्ट है क्योंकि जीव तत्त्व की अपेक्षा से तो सर्व जीव समान हैं। शक्ति से तो सभी आत्मायें शुद्ध हैं परंतु रागादि विकार अथवा ज्ञान की हीनता की अपेक्षा

से जीव निंदा योग्य है। राग, पुण्य आदि व्यवहार रत्नत्रय द्वारा पंच पद नहीं पाते क्योंकि यह भाव तो अभव्य को भी होते हैं इसलिये केवल व्यवहार में रहने वाले जीव, पंच पद गुरु की श्रेणी में नहीं आते।

लोक में कुछ भी खरीदने जायें तो उसकी भी पूरी परीक्षा करते हैं, तब अपने आत्म हित के लिये गुरु कुगुरु की परीक्षा न होगी तो कहीं भी ठगाये जा सकते हैं, कोई कहते हैं कि अपने को परीक्षा करने का क्या प्रयोजन है ? जो हों उन्हें मान लो ; परंतु इस प्रकार ऐसा मानने से काम नहीं चलता, धर्म अपूर्व तत्त्व है। जो राग, पुण्य व निमित्त के आश्रय से धर्म होना बतलाते हैं ऐसे कुगुरु के संग से राग-द्वेष रहित नहीं हो सकते, जिनके कुदेव आदि की श्रद्धा ही नहीं छूटी उनको धर्म ध्यान नहीं हो सकता, वे तो गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं, दर्शन मोहंध ऐसे कुगुरुओं को गुरु मानता है।

प्रश्न - ऐसे कुगुरुओं को गुरु मानने से क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

दर्शन मोहंध अदर्स, गुरु अगुरुं च न्यान विन्यानं ।

गुरुं च गुनं नहि पिच्छं, अगुरुं अन्मोय दुग्गए पत्तं ॥ १८८ ॥

गुरुं च लप्प अलप्पं, अगुरुं संसार सरनि उक्तं च ।

गुन दोसं नवि जानइ, दर्शन मोहंध नरय वीयम्मि ॥ १८९ ॥

गुरुं च षिपनिक रूवं, अगुरुं अभाव सयल उक्तं च ।

तस्य गुनं अन्मोयं, दर्शन मोहंध निगोय वासम्मि ॥ १९० ॥

अन्वयार्थ - (दर्शन मोहंध अदर्स) दर्शन मोह से अंधा जीव यह नहीं देखता है कि (गुरु अगुरुं च न्यान विन्यानं) सुगुरु कौन है व कुगुरु कौन है ? मिथ्याज्ञान क्या है व सम्यक्ज्ञान क्या है ? (गुरुं च गुनं नहि पिच्छं) वह सद्गुरु के गुणों को नहीं पहिचानता है (अगुरुं अन्मोय दुग्गए पत्तं) अगुरु की अनुमोदना से दुर्गति पाता है।

(गुरुं च लप्प अलप्पं) गुरु वे हैं जो अलख है उसको लखते, अनुभव करते हैं (अगुरुं संसार सरनि उक्तं च) अगुरु संसार मार्ग की ही बात कहते हैं (गुन दोसं नवि जानइ) सुगुरु और कुगुरु के गुण दोषों को नहीं जानता है ऐसा (दर्शन मोहंध नरय वीयम्मि) दर्शन मोहंध जीव नरक का बीज बोता है

अर्थात् कुगुरु की बातों में लगा मिथ्याज्ञान से नरक का बीज बोता है।

(गुरुं च षिपनिक रूवं) सद्गुरु क्षायिक सम्यक्दृष्टि जिनमुद्राधारी वीतरागी कर्मों के क्षय करने वाले होते हैं (अगुरुं अभाव सयल उक्तं च) अगुरु में इन सब भावों का अभाव कहा गया है (तस्य गुणं अन्मोयं) जो कोई ऐसे अगुरु कुगुरु के गुणों की अनुमोदना करता है, उनका समागम सेवा भक्ति करता है (दर्शन मोहं ध निगोय वासम्भि) दर्शन मोह से अंधा प्राणी निगोद में वास पाता है।

विशेषार्थ - सुगुरु सूक्ष्म आत्म तत्त्व के अनुभवी होते हैं। यह आत्मा मन वचन काय द्वारा नहीं जाना जाता है इसलिये अलख है। आत्मा, आत्मा द्वारा जाना जाता है। क्षपणक साधु भावलिंग व द्रव्यलिंग दोनों के धारी होते हैं, कर्मों का क्षय करते हैं। समस्त आरंभ-परिग्रह त्यागी निर्ग्रन्थ आत्मज्ञानी साधु ही सच्चे गुरु होते हैं।

अगुरु कुगुरु स्वयं मिथ्यात्व में लिप्त रागी-द्वेषी मिथ्या आडंबर में रत संसार में घुमाने वाले पाप-पुण्य में लगाने वाले, संसारी बातें ही बताते हैं और स्वयं भी उसी प्रकार बाह्य क्रियाकांड में उलझे रहते हैं। दर्शन मोहांध को सुगुरु कुगुरु की कोई पहिचान नहीं है, भेदविज्ञान सम्यक्ज्ञान मिथ्याज्ञान का कोई भेद नहीं होता, वह इस बात की परीक्षा नहीं करता है कि सुगुरु में क्या होना चाहिये। उसे गुण दोष का कोई विचार नहीं होता। अगुरु कुगुरु की मान्यता करके संसार में तीव्र मिथ्यात्व सहित विषय कषायों में रत होकर नरक निगोद आदि दुर्गतियों का पात्र बनता है।

अज्ञानी जीवों को यह बात ही नहीं जंचती कि आत्मा पुण्य-पाप रहित है और आत्मा की जो धर्म क्रिया (निज स्वभाव साधना) है वह उनके लक्ष्य में ही नहीं आती, वे तो जड़ की, शरीर की क्रिया में धर्म मानकर अधर्म का ही सेवन करते हैं।

बाह्य क्रिया में तो धर्म नहीं; परंतु दया दान भक्ति पूजा के शुभ भाव में भी धर्म नहीं है। संपूर्ण जगत में ज्ञाता-दृष्टा रूप रहना ही आत्मा का धर्म है। जगत में जितने भी उपद्रव के कारण होते हैं वे सब रौद्र ध्यान युक्त कुगुरु और आर्तध्यान युक्त अगुरुओं से ही बनते हैं, जो पाप कर उल्टा हर्ष करते हैं, सुख मानते हैं उनका उपदेश निष्फलित ही होता है। वे तो मूर्च्छित समान अति प्रमादी होकर पापों में ही डूबे रहते हैं। ऐसे कुगुरुओं के संग से

दुर्गति और नरक निगोद का वास होता है।

ज्ञानी की दृष्टि तो संसार से छूटने की है अतः वह राग रहित निवृत्त स्वभाव की मुख्य भावना व आदर में सावधानी से प्रवृत्त रहता है फिर भी वह यदि किसी अतिचार में रत हो गया हो तो भी उससे छूटकर शांत ज्ञान स्वभाव में ही स्थिर होना चाहता है परंतु जो ऐसा मानता है कि संयोग पलटा दूँ तथा क्रोधादि करने योग्य हैं, उसके तो श्रद्धा में ही स्थूल विपरीतता है।

ज्ञानी के तो वीतराग दृष्टि ही मुख्य है, उसमें तो वह तनिक भी क्षति नहीं होने देता, हाँ यदि चारित्र में निर्बलता के कारण अतिचार हो जाये तो निंदा करके खेद को प्राप्त होता है, मनमानी नहीं करता कि ऐसा दोष गृहस्थ दशा में हो तो कोई हानि नहीं है, जो ऐसा करता है वह तो स्वच्छंदी मिथ्यादृष्टि है।

सम्यक्दृष्टि को भले ही (पूर्व में) अज्ञानदशा में किसी नरकादि का आयु बंध हो गया हो परंतु सम्यक्दर्शन सहित जीव को तो नरकादि का आयु बंध होता ही नहीं है, सम्यक्दर्शन की ऐसी महिमा है।

प्रश्न - जब सम्यक्दर्शन धर्म की ऐसी महिमा है फिर दर्शन मोहांध जीव को उसका श्रद्धान विश्वास क्यों नहीं होता ?

समाधान - कुदेवादि अगुरुओं के जाल में फंसा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव इस बात का निर्णय ही नहीं कर पाता कि क्या हितकारी इष्ट है और क्या अहितकारी अनिष्ट है। वह दर्शन मोह में अंधा इतना भ्रमित भयभीत रहता है कि उसका अपनी आत्मा की तरफ लक्ष्य ही नहीं जाता। कुटुम्ब परिवार पुत्र आदि की संभाल में इतना तल्लीन रहता है कि पाप-पुण्य का विवेक भी नहीं कर पाता। मोह के कारण लोभ की प्रवृत्ति बढ़ जाती है, अपने शरीर का भी ध्यान नहीं रखता, खुद चाहे जैसा भूखा-प्यासा मारा-मारा फिरता है। पुत्र परिवार की सुरक्षा संभाल में ही लगा रहता है, उसे अपनत्व कर्तृत्व का भूत लगा रहता है।

प्रश्न - यह स्थिति क्यों रहती है, जब इतने सारे शुभ योग मनुष्य भव आदि मिले हैं फिर वह आत्मोन्मुख क्यों नहीं होता ?

समाधान - सच्चे देव गुरु धर्म का सत्संग और सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय नहीं करता, संसार के जन्म-मरण के चक्र से छूटने, मुक्त होने की भावना नहीं होती, मोह के चक्कर में ही घूमता रहता है इसलिये अपने आत्म स्वरूप

का बोध आत्म कल्याण की भावना नहीं होती, सद्गुरुओं का सत्संग और सद्ग्रन्थों अध्यात्म शास्त्रों का स्वाध्याय अध्ययन करे तो इससे छूट सकता है।

प्रश्न - क्या संसारी जीव स्वाध्याय सत्संग नहीं करता ?

समाधान - करता तो है परंतु कैसे गुरुओं का सत्संग और किन शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिये, इसका विवेक नहीं होता। लोक मूढ़ता, साम्प्रदायिक मान्यता से बंधा बिल्कुल सीमित संकुचित रहता है। सत्य का निर्णय करने के लिये स्वयं का विवेक चाहिये।

संसारी जीव, मन को आत्मा और पुण्य को धर्म मानता है तथा सामाजिक मान्यता में बंधे लोगों को गुरु और साम्प्रदायिक ग्रन्थों को शास्त्र मानता है इसलिये अपना कोई निर्णय नहीं कर पाता।

प्रश्न - सद्ग्रन्थ, शास्त्र कैसे होते हैं और दर्शन मोहांध कैसे मानता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

श्रुतं च श्रुत उववन्नं, श्रुतं च न्यान दंसन समगं ।

श्रुतं च मग उवएसं, दर्सन मोहांध कुश्रुत अन्मोयं ॥ १९१ ॥

श्रुतं च अप्यर मइओ, श्रुतं च सुर विंजनस्य पद सहियं ।

श्रुतं च जिनयति वयनं, दर्सन मोहांध विकह श्रुतं च ॥ १९२ ॥

अन्वयार्थ - (श्रुतं च श्रुत उववन्नं) शास्त्र वह है जो द्वादशांग वाणी से उत्पन्न हुआ हो अर्थात् जो वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी आप्त अर्थात् परमात्मा द्वारा कहा गया हो (श्रुतं च न्यान दंसन समगं) शास्त्र वह है जो सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान का निर्णय कराता हो (श्रुतं च मग उवएसं) शास्त्र वह है जिसमें मोक्षमार्ग का उपदेश हो (दर्सन मोहांध कुश्रुत अन्मोयं) दर्शन मोहांध कुश्रुत की अनुमोदना करता है।

(श्रुतं च अप्यर मइओ) शास्त्र वह है जो अक्षय स्वभाव को बताने वाला अक्षरमयी है (श्रुतं च सुर विंजनस्य पद सहियं) शास्त्र वह है जो स्वर व्यंजन पद सहित हो अर्थात् जिसमें यथार्थ वस्तु स्वरूप का निर्णय हो, चाहे वह भजन में हो, गद्य में हो या पद्य में हो (श्रुतं च जिनयति वयनं) शास्त्र वह है जो जिनेन्द्र की वाणी रूप हो, जो वीतरागी संतों द्वारा कहा गया हो (दर्सन

मोहांध विकह श्रुतं च) दर्शन मोहांध विकथाओं की किताबों को शास्त्र कहता है।

विशेषार्थ - जो शास्त्र, श्री जिनेन्द्र परमात्मा जो वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी होते हैं, उनकी द्वादशांग वाणी के आधार से बना है व जिसमें रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग का उपदेश है वही सुशास्त्र है जिसमें सत्य वस्तु स्वरूप या यथार्थ निर्णय कहा गया हो, जिसका खंडन न हो सके, जो प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण से बाधित न हो, जो तत्त्वों का उपदेश करने वाला व जो सर्व का हितकारी हो, जिसमें किसी जाति-पांति सम्प्रदाय क्रिया कांड का उपदेश न हो तथा जो कुमार्ग का खंडन करने वाला हो, जैसा धर्म का सत्य स्वरूप है उसी अर्थ का बोध कराने वाला हो, गाथा, भजन, गद्य, पद्य में किसी भाषा में हो, जिससे अपने अक्षय स्वरूप ध्रुव तत्त्व शुद्धात्मा का श्रद्धान ज्ञान प्राप्त हो वही सत्शास्त्र है।

जिसमें एकांत पक्ष क्रियाकांड पूजा पाठ व संसार मार्ग की पुष्टि हो वह कुशास्त्र है। जिसमें राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा, भोजनकथा आदि संसार के विषय-कषाय का पोषण करने वाली पापवर्द्धक बातें हों, वह सब कुशास्त्र हैं। दर्शन मोहांध अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ऐसे कुशास्त्रों को ही पढ़ता सुनता तथा इसकी ही मान्यता करता है।

केवली भगवान की दिव्यध्वनि में संपूर्ण रहस्य एक साथ अनावृत होता है, उत्कृष्ट श्रोता के समझने की जितनी योग्यता है, उतना संपूर्ण विषय भगवान की वाणी में एक साथ आता है। ज्ञान है, ज्ञेय भी है, कोई किसी के कारण से नहीं है। शास्त्र तो शास्त्र के कारण से है, विकल्प से नहीं। विकल्प, विकल्प से है, शास्त्र से नहीं तथा ज्ञान, ज्ञान से है शास्त्र के कारण नहीं, ऐसा अनेकांत स्वरूप है। तत्त्व ज्ञान का मूल सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ भगवान ने जिस साधन से तत्त्व ज्ञान साधा व वाणी में जो साधन बतलाया, उसे पहिचाने, उस अनुरूप देव, गुरु, शास्त्र को पहिचाने उसे ही यथार्थ तत्त्व की प्राप्ति होती है, अन्य को नहीं।

कोई शास्त्र, कोई भी गाथा अथवा शब्द या किसी भी अनुयोग की बात करो उन सभी का तात्पर्य वीतरागता है। वीतरागता बढ़े और कषाय घटे ऐसा जिसका प्रयोजन हो वही सत्शास्त्र है। मोक्षमार्ग तो वीतराग भाव है अतः जिन शास्त्रों में किसी भी प्रकार से राग-द्वेष, मोह भावों का निषेधकर वीतराग

भाव की प्राप्ति का प्रयोजन प्रगट किया हो, वे शास्त्र ही पढ़ने व सुनने योग्य हैं।

जिन शास्त्रों में शृंगार भोग कौतूहलादि के पोषण द्वारा राग भाव की तथा हिंसा युद्धादि के अनुमोदन द्वारा द्वेष भाव की अथवा अतत्त्व श्रद्धान के पोषण द्वारा मोह भाव की पुष्टि की हो वे शास्त्र नहीं, शस्त्र हैं अतः ऐसे शास्त्रों को न पढ़ना चाहिये, न सुनना चाहिये।

प्रश्न - शास्त्र पुराण तो कोई से हों उनके पढ़ने सुनने में क्या हानि है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

श्रुतं च षिपनिक रूवं, षिपिओ कम्मान तिविहि जोएन।

विकहा विसन अश्रुतं, दर्सन मोहंध अश्रुतं पिच्छइ ॥ १९३ ॥

सास्वतय रूव संश्रुतं, अत्रित असत्य अश्रुतं जानेहि।

श्रुतं जिन उत्त परं, दर्सन मोहंध अश्रुत परिनामं ॥ १९४ ॥

श्रुत अश्रुतं न पिच्छदि, गुन दोसं नवि बुज्झए अंधं।

अंधं अन्ध सहावं, दर्सन मोहंध निगोय वासम्मि ॥ १९५ ॥

अन्वयार्थ - (श्रुतं च षिपनिक रूवं) शास्त्र वह है जो क्षायिक स्वरूप अरिहंत परमात्मा द्वारा कहा गया हो (षिपिओ कम्मान तिविहि जोएन) जिसके पढ़ने से त्रिविध योग के द्वारा कर्मों का क्षय होता है (विकहा विसन अश्रुतं) जिसमें विकथा-व्यसनों की चर्चा हो वह शास्त्र नहीं है, कुशास्त्र है (दर्सन मोहंध अश्रुतं पिच्छइ) दर्शन मोहांध अशास्त्र को ही जानता है, उन्हें ही पढ़ता सुनता है।

(सास्वतय रूव संश्रुतं) जो अनादि निधन शाश्वत स्वरूप को बताने वाला है वह सत्शास्त्र है (अत्रित असत्य अश्रुतं जानेहि) जो मिथ्या है, कल्पित है, वह कुशास्त्र है ऐसा जानना चाहिये अर्थात् जिनमें कपोल कल्पित मन गढ़ंत बातें संसारी विषय-कषाय का पोषण करने वाली लिखी हों वह सब कुशास्त्र जानो (श्रुतं जिन उत्त परं) शास्त्र वही उत्कृष्ट है जो जिनेन्द्र द्वारा कथित है (दर्सन मोहंध अश्रुत परिनामं) दर्शन मोहांध अशास्त्र को ही पढ़ता है उसी रूप परिणमन, परिणाम करता है।

(श्रुत अश्रुतं न पिच्छदि) जो शास्त्र कुशास्त्र को नहीं पहिचानते (गुन दोसं नवि बुज्झए अंधं) जो गुण दोषों को नहीं जानते वह अंधे हैं (अंधं अन्ध सहावं) अंधे का स्वभाव ही अंधा होता है ऐसा (दर्सन मोहंध निगोय वासम्मि) दर्शन मोहांध निगोद में वास करता है।

विशेषार्थ - क्षायिक भाव वाले अरिहंत परमात्मा होते हैं जो वीतराग विज्ञानमय उपदेश देते हैं। सत्शास्त्र वही है जिसके पढ़ने से अपने क्षायिक स्वरूप परम पारिणामिक भाव का बोध जागे तथा त्रिविध योग द्वारा कर्मों का क्षय होवे, जो अनादि निधन शाश्वत स्वरूप आत्म तत्त्व को बताने वाला है वही सत्शास्त्र है, जो जिनेन्द्र द्वारा कथित वस्तु स्वरूप, द्रव्य की स्वतंत्रता और स्वयं के पुरुषार्थ से मुक्ति की प्राप्ति होना बताते हैं। जिन शास्त्रों के पढ़ने से अनादि कालीन अज्ञान मिथ्यात्व विलाता है, अपने सत्स्वरूप का बोध जागता है, सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान प्रगट होता है और त्रिविध योग की साधना से समस्त कर्मों का क्षय होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है वही सत्शास्त्र है।

जो विषय-कषाय वर्द्धक अज्ञानियों द्वारा एकांत कथन रूप, कपोल कल्पित मिथ्या आडंबर को बढ़ाने वाले, पाप क्रियाकांड में फंसाने वाले हैं वह सब शास्त्र कुशास्त्र हैं। जिसमें लोक मूढ़ता, देव मूढ़ता, पाखंडी मूढ़ता का पोषण हो, कुदेवादि की पूजा भक्ति का विधि विधान हो, गृहीत मिथ्यात्व का पोषण हो, पर के आश्रय से धर्म या मुक्ति बताई गई हो, वह सब अश्रुत कुशास्त्र हैं, उन्हें न पढ़ना चाहिये, न सुनना चाहिये, न उनकी श्रद्धा मान्यता करना चाहिये।

अज्ञानी सच्चे-झूठे शास्त्रों को नहीं पहिचानता है, वह गुण दोषों को नहीं जानता, सबको बराबर एक सा मानता है। जैसे-अंधे का स्वभाव होता है उसको सबमें अंधकार ही अंधकार दिखाई देता है, इसी प्रकार दर्शन मोह से अंधा जीव अपने हित-अहित का कोई विवेक न करता हुआ कुदेव कुगुरु कुशास्त्र की मान्यता करके तीव्र मिथ्यात्व में रत हो निगोद में वास करता है।

स्वाध्याय, सत्संग करने से विवेक बुद्धि जाग्रत होती है। अब किनका स्वाध्याय सत्संग किया जाये, यह बात बड़ी गंभीर विचारणीय है।

इसके लिये कुछ सूत्र हैं -

जैसा खाओ अन्न, वैसा होवे मन। जैसा पिओ पानी, वैसी बोलो वाणी।

जैसा पढ़ो सुनो, वैसे होवें भाव । जैसा देखो करो, वैसी होय कषाय ।

वर्तमान जीवन में जिस वातावरण, परिस्थिति, संयोग में जीव रहता है, जो कुछ पढ़ता, सुनता, देखता है, वैसे ही परिणाम और तदरूप ही आचरण होता है, ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध है । जो भेदविज्ञान पूर्वक तत्त्व निर्णय कर लेते हैं, वस्तु स्वरूप जान लेते हैं, सम्यक्दृष्टि ज्ञानी होते हैं, वह तो इस ओर ध्यान ही नहीं देते परंतु जब तक अज्ञान दशा में दर्शन मोह से अंधपना है तब तक इसका विवेक विचार आवश्यक है अन्यथा यही निमित्त संयोग सहज में दुर्गति का पात्र बना देते हैं ।

नैतिकवान कुल, धन संपन्नता, निरोग शरीर, दीर्घ आयु यह सभी प्राप्त करके भी अंतर में उत्तम सरल स्वभाव को पाना दुर्लभ है । परिणाम में तीव्र वक्रता हो, महा संक्लिष्ट परिणाम हो, क्रोध, मान, माया, लोभ की तीव्रता हो तो धर्म का विचार कैसे हो ?

विषय-कषाय का लंपटी हो तथा सरल व मंद कषाय रूप परिणाम न हो उसे तो धर्म पाने योग्य पात्रता ही नहीं है । सरल परिणाम होना ही कोई धर्म नहीं है परंतु सरल परिणाम होना भी दुर्लभ है तो फिर धर्म की दुर्लभता क्या कहें ?

बहुत से जीवों को सरल परिणाम होने पर भी सत्समागम मिलना दुर्लभ है । कोई-कोई लौकिक जन भी मंद कषाय वाले होते हैं परंतु वीतरागी सर्वज्ञ शासन के तत्त्व को समझाने वाले का सत्समागम मिलना अति दुर्लभ है ।

अज्ञानी एक ओर तो मंद कषाय करता है परंतु दूसरी ओर कुदेव कुगुरु कुशास्त्र के संग में बहकर विपरीत श्रद्धा का पोषण कर मनुष्य भव ही खो देता है ।

वीतरागी देव, गुरु, शास्त्र का समागम मिलना महा दुर्लभ है । धर्म का यथार्थ स्वरूप समझाने वाले, ज्ञानी पुरुषों का समागम महा भाग्य से मिलता है ।

सत्य समझने की योग्यता हो तब ऐसी सच्ची वाणी सुनने को मिलती है । अनंतबार मनुष्य भव पाया परंतु आत्मा की चाह न हुई, जिससे पुनः पुनः संसार में भटका अतः आत्मा की समझ कर लेना ही योग्य है, मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ ऐसा श्रद्धान ज्ञान ही इस संसार से तारने वाला है ।

जिसने चैतन्य को ध्येय न बनाकर केवल पर को ही ध्येय बनाया है,

वह दर्शन मोहांध जीव स्व विषय को चूककर, पर विषयों में रमता है और राख पाने के लिये अमूल्य चिंतामणि रत्न को जला देता है ।

दर्शन मोहांध अज्ञानी जीव की पराधीन दृष्टि होने से शास्त्रों में से भी वैसा ही आशय उद्धृत कर, शास्त्रों को अपनी मान्यतानुकूल आशय वाला बनाना चाहते हैं, गुरु गम बिना स्वच्छंदित होने वाला जीव शास्त्रों का अर्थ उल्टा ही करता है ।

सम्यक्दृष्टि ज्ञानी शास्त्राभ्यास का रसिक होता है तथा धर्मबुद्धि पूर्वक निन्दनीय कार्यों का त्यागी होता है । मद्य, मांस, मधु, त्रस जीव युक्त भोजन, परस्त्री आदि का त्यागी होता है ।

जैन शास्त्र के वीतरागता, स्वतंत्रता के न्याय के मर्म को समझने वाला श्रोता ही विशेषरूप से शोभित होता है । यदि उसे आत्मज्ञान न हो तो वह उपदेश का मर्म नहीं समझ सकता । जिसे देव, गुरु, शास्त्र की सही श्रद्धा नहीं है उसकी तो सामान्य श्रोताओं में भी गिनती नहीं है ।

जो शास्त्र तो सुनते हैं परंतु कहते हैं कि आप किसी के परोपकार करने की बात तो नहीं करते, लोगों को रोटी नहीं मिलती, काम नहीं मिलता अतः उसका ख्याल रखने की बात तो नहीं करते और यह आत्मा-आत्मा की बात करते हो इसमें क्या रखा है ? इस प्रकार जिन्हें तत्त्व की बात रुचिकर नहीं लगती वे एकांत पापबंध करते हैं ।

अज्ञानी की उदासीनता में केवल शोक ही होता है क्योंकि उसे यह पता ही नहीं है कि एक पदार्थ की पर्याय में अन्य पदार्थ की पर्याय अकिंचित्कर है; अतः वह पर द्रव्य की पर्याय को बुरा जानकर द्वेष पूर्वक उदासीन भाव करता है तथा सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान न होने से कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र की मान्यता करके तीव्र मिथ्यात्व से निगोद का पात्र बनता है ।

प्रश्न - जब सम्यक्दर्शन ही इष्ट हितकारी है तो दर्शन मोहांध इसे स्वीकार क्यों नहीं करता ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

दर्शन अनंत दर्सी, सूषम दर्सेइ कम्म विलयंति ।

दर्सीति नंतनंतं, दर्शन मोहंध अदर्सनं दिडं ॥ १९६ ॥

दर्शन अरुव रूवं, दर्शन दर्सेइ मोष मग्गस्य ।

दर्शन ममल सहावं, दर्शन मोहंध समल दर्सेति ॥ १९७ ॥

अन्वयार्थ - (दर्शन अनंत दर्स) सम्यक्दर्शन अपने अनंत चतुष्टय स्वरूप को देखता है (सूषम दर्सेइ कम्म विलयंति) जहाँ शरीर मन वाणी से भिन्न अतीन्द्रिय सूक्ष्म स्वभाव की अनुभूति देखना होता है, वहाँ सारे कर्म विला जाते हैं (दर्सेति नंतनंतं) अपने अनंत गुणमयी, अनंत चतुष्टय धारी आत्म स्वरूप की अनुभूति देखना ही सम्यक्दर्शन है (दर्शन मोहंध अदर्शनं दिट्ठं) दर्शन मोहंध जो नहीं देखना चाहिये अर्थात् अशुद्ध पर्याय पुद्गलादि पर की तरफ ही देखता है ।

(दर्शन अरुव रूवं) सम्यक्दर्शन अपने अरूपी, अमूर्तीक आत्म स्वभाव का श्रद्धान करना है (दर्शन दर्सेइ मोष मग्गस्य) सम्यक्दर्शन होते ही मोक्ष का मार्ग दिखाई देने लगता है (दर्शन ममल सहावं) अपने ममल स्वभाव की श्रद्धा अनुभूति हो जाती है यही सम्यक्दर्शन है (दर्शन मोहंध समल दर्सेति) दर्शन मोहंध समल स्वरूप, अशुद्ध पर्याय कर्मादि को ही देखता है ।

विशेषार्थ - सम्यक्दर्शन आत्मा का एक गुण है, जिसके प्रकाश होने पर यह अपना आत्मा सर्व भावकर्म, द्रव्यकर्म व नोकर्म से भिन्न अनंत चतुष्टय का धारी, अरिहंत परमात्म स्वरूप दिखाई देता है । जब सम्यक्त्वी जीव निज शुद्धात्मानुभूति करता है तब वीतराग भाव से कर्मों की निर्जरा होती है, दर्शन मोहंध मिथ्यादृष्टि को इसकी दृष्टि नहीं होती है ।

मैं सिद्ध के समान शुद्ध अमूर्तीक निर्विकार आनंदमयी आत्मा हूँ, इस आत्मा के ध्यान से कर्मों की निर्जरा होती है, आत्मानुभव ही यथार्थ मोक्षमार्ग है, ऐसा सच्चा श्रद्धान सम्यक्दृष्टि को होता है, दर्शन मोहंध अपने को रागी-द्वेषी अशुद्ध पर्याय वाला कर्माधीन मानता है ।

आत्म स्वभाव को लक्ष्यगत कर उसी में एकाग्र होना सम्यक्दर्शन है । सम्यक्दृष्टि जीव निज शुद्ध भाव द्वारा शुद्ध जीव को निश्चय से जानता है, पर से या राग से नहीं वरन् अपने ज्ञान से अनुभूतियुत जानता है, ऐसे भान वाला आत्मा, पर से अस्पृशित आत्मा निज भान किये पश्चात् सर्वसंग से विमुक्त होता है । मैं सर्वसंग से विमुक्त हूँ, सिद्ध के समान शुद्ध परमानंदमयी परमात्मा हूँ, प्रथम ऐसी दृष्टि होने पर ही पर्याय में सर्वसंग विमुक्त होता है ।

जो आत्म स्वभाव का अनादर कर पर वस्तु से सुख पाना मानता है, वह जीव दर्शन मोहंध मिथ्यादृष्टि है । अंतर में महान चैतन्य निधि परमात्मा विराजमान है, उसका तो आदर नहीं करता व जड़ में सुख मानता है, ऐसे जीव के भले ही बाह्य में लक्ष्मी के ढेर लगे हों परन्तु भगवान उसे पापी कहते हैं ।

द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है कि आत्मा में विकार ही नहीं है, विकार तो पुद्गल का कार्य है परन्तु ऐसी द्रव्य दृष्टि किसे होती है कि जिसे पर्याय की स्वतंत्रता का भान हो । अभी तक तो जो पर्याय को ही स्वतंत्र, स्वाधीन न जाने, उसे तीनों काल की पर्याय के पिंड रूप, द्रव्य की दृष्टि कैसे हो ? पर्याय में विकार है उन्हें कर्मों ने नहीं करवाये हैं परन्तु वे मेरे अपराध के कारण से हैं, ऐसे अंश को स्वतंत्र जाने तथा यह भी कि उस अंश जितना ही त्रिकाली स्वभाव नहीं है तो द्रव्य दृष्टि हो ; परन्तु ऐसा माने कि कर्म ही विकार कराते हैं तो उस जीव को पर्याय का भी भान नहीं है व उसे द्रव्यदृष्टि नहीं है ।

प्रश्न - ऐसी द्रव्य दृष्टि के लिये क्या करना पड़ता है ?

इसके समाधान में सदगुरु आगे गाथा कहते हैं -

दर्शन दिट्ठि स दिट्ठं, इस्टं संजोय दर्से सुद्धं ।

सुद्धं च ममल दर्सं, दर्शन मोहंध अनिस्ट दर्सेति ॥ १९८ ॥

दर्सेइ इस्ट दर्सं, इस्टं दर्सेइ लोय अवलोयं ।

इस्टं अनन्तनंतं, दर्शन मोहंध मिच्छ दर्सेति ॥ १९९ ॥

अन्वयार्थ - (दर्शन दिट्ठि स दिट्ठं) द्रव्य दृष्टि से देखना ही शुद्ध दृष्टि है (इस्टं संजोय दर्से सुद्धं) जो अपने इष्ट का संयोग करता है अर्थात् ध्रुव स्वभाव को देखता है वही शुद्ध देखता है (सुद्धं च ममल दर्सं) परम शुद्ध ममल स्वभाव की अनुभूति ही शुद्ध दर्शन है (दर्शन मोहंध अनिस्ट दर्सेति) दर्शन मोहंध जीव अपने इष्ट निज शुद्धात्मा को न देखकर शरीरादि पर पर्याय, अनिष्टकारी संसार की तरफ ही देखता है ।

(दर्सेइ इस्ट दर्सं) शुद्ध दृष्टि अपने इष्ट निज शुद्धात्मा को ही देखता है (इस्टं दर्सेइ लोय अवलोयं) अपने इष्ट निज शुद्धात्मा को देखने से लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान स्वभाव प्रगट होता है (इस्टं अनन्तनंतं) अनंत चतुष्टय स्वरूप ही अपना इष्ट हितकारी है (दर्शन मोहंध मिच्छ दर्सेति) दर्शन मोहंध

जीव मिथ्या संसार की तरफ ही देखता है ।

विशेषार्थ - सम्यक्दृष्टि को दृढ़ श्रद्धान होता है कि शुद्धोपयोग ही परम हितकारी है, वह निज शुद्धात्मा पर ही ध्यान रखता है, वस्तु स्वरूप को देखना ही द्रव्य दृष्टि कहलाती है, ध्रुवतत्त्व को देखना ही (अनुभूति रत) शुद्ध दृष्टि होती है ।

सम्यक्त्वी का इष्ट निज शुद्धात्मा है, वह अपने इष्ट निज शुद्धात्मा की ही अनुभूति करता है, उसे ही देखता है, जिससे लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान प्रगट होता है । अनंत चतुष्टयमयी परमात्म स्वरूप ही इष्ट मुक्ति का शुद्ध कारण है ।

दर्शन मोहांध अपने आत्म स्वरूप से विमुख संसार शरीर आदि अनिष्ट की तरफ ही देखता है, उसे अपने आत्म स्वरूप का श्रद्धान नहीं होता, वह विपरीत मान्यता से पर की ओर ही देखता है ।

समय-समय की पर्याय स्वतंत्र है, एक समय में एक पर्याय व्यक्त है व अन्य अनन्त पर्याय सामर्थ्य तो द्रव्यरूप से विद्यमान है, जो ऐसा जाने तो दृष्टि द्रव्य सन्मुख हुए बिना न रहे, यही द्रव्य दृष्टि शुद्ध दृष्टि कहलाती है ।

निरपेक्ष स्वभाव के भान बिना, निमित्त का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, उसमें स्व के ज्ञान बिना पर का भी ज्ञान नहीं होता । उपादान स्वतंत्रता के ज्ञान बिना, निमित्त का ज्ञान नहीं होता, निश्चय बिना व्यवहार का ज्ञान नहीं होता । जैसे- त्रिकाली द्रव्य स्वतंत्र है, निरपेक्ष है, वैसे ही उसकी समय-समय की पर्याय भी निरपेक्ष व स्वतंत्र है ।

मैं ज्ञान स्वभावी हूँ, मेरे स्वभाव में संसार नहीं है ऐसे भानपूर्वक धर्मी जीव संसार के स्वरूप का विचार करते हैं । जिसे संसार रहित, स्वभाव की दृष्टि प्रगट नहीं हुई उसे संसार के स्वरूप का यथार्थ विचार नहीं होता । जिसे स्वभाव का भान व भावना हो वही जीव अपने इष्ट को संजोता है व परम सुखी परमानंदमय होता है । जिसे स्वभाव का भान व भावना नहीं होती वह दर्शन मोहांध बाह्य विषयों की भावना करता है । अज्ञानी जीव निज स्वभाव की भावना छोड़कर संयोग की भावना करता है, वह विषयों की तृष्णा से दुःखी ही है ।

जगत के समस्त जीव सुख की इच्छा करते हैं परंतु सुख का उपाय नहीं खोजते, वे दुःख की इच्छा नहीं करते परंतु दुःख के कारण, मिथ्यात्व आदि में निरंतर संलग्न रहते हैं । सुख का उपाय, मुक्ति की प्राप्ति तो आत्मा

का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान कर उसमें एकाग्र होना है, उसके बजाय अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थ जुटाकर उससे सुखी होना चाहता है ।

ॐ हीं श्रीं स्वरूप ही, यह आतम परमातम है ।

देव गुरु व धर्म आत्मा, स्वयं सिद्ध शुद्धातम है ॥

निज स्वरूप का बोध हमें, मां जिनवाणी करवाती है ।

ध्रुव तत्त्व को देखने वाली, दृष्टि शुद्ध कहाती है ॥

दर्शन ज्ञान के भेद से चेतन, बाहर पकड़ में आता है ।

आगम की परिभाषा में, ये ही उपयोग कहाता है ॥

दर्शन ज्ञान उपयोग की शुद्धि, भव से पार लगाती है ।

ध्रुवतत्त्व को देखने वाली, दृष्टि शुद्ध कहाती है ॥

ज्ञान स्वरूप आत्मा है, ऐसे गुण-गुणी के भेद के विकल्प आत्मानुभव करने के क्रम में बीच में आयेंगे अवश्य ; परंतु उनका आश्रय सम्यक्दर्शन में नहीं है । सम्यक्दृष्टि तो वैसे विकल्प रूप व्यवहार का शरण लेकर अटकते नहीं हैं किंतु उन्हें भी छोड़ने योग्य समझकर अंतर में शुद्धात्मा को उन विकल्पों से भिन्न अनुभव करते हैं, ऐसा अनुभव ही वीतराग का मार्ग है ।

प्रश्न - शुद्ध दृष्टि सम्यक्दर्शन न होने पर, दर्शन मोहांध मिथ्यादृष्टि का क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

दर्शन मोहांध सहावं, अत्रित अनिष्ट असहाव संजुतं ।

कलं सहावं रसियं, पज्जय दिष्टि सरनि संसारे ॥ २०० ॥

दर्सति असुद्ध दर्सं, रूव सहावेन सरनि संसारे ।

अत्रित अचेत सहावं, दर्शन मोहांध दुग्गए पत्तं ॥ २०१ ॥

दर्शन मोहांध असुद्धं, कल लंक्रित कर्म दर्सं दर्सेई ।

पज्जावं पिच्छंतो,अन्यानं अन्मोय निगोय वासम्मि ॥ २०२ ॥

अन्वयार्थ - (दर्शन मोहांध सहावं) दर्शन मोहांध अज्ञानी मिथ्यादृष्टि का स्वभाव होता है कि वह (अत्रित अनिष्ट असहाव संजुतं) अत्रित नाशवान क्षणभंगुर पर्याय में, अनिष्ट शरीरादि संसार, संयोग में, असहाव, परजीव, परभाव आदि जो अपना स्वभाव नहीं है उसमें लीन रहता है (कलं सहावं

रसियं) शरीर के पांचों इंद्रियों के विषय भोगों का रसिक होता है, उसे अपने अतीन्द्रिय स्वभाव का रस नहीं आता (पञ्जय दिस्टि सरनि संसारे) पर्याय दृष्टि होने से अर्थात् जिस मनुष्य आदि पर्याय में होता है उसी में एकत्व रखता है इससे संसार का परिभ्रमण करता है।

(दर्सति असुद्ध दर्स) दर्शन मोहांध, अशुद्ध भाव व अशुद्ध पर्याय को ही देखता है (रुव सहावेन सरनि संसारे) रूपी पदार्थ शरीरादि के स्वभाव में रत रहता है, इसी से संसार में भ्रमता है (अत्रित अचेत सहावं) उसका उपयोग नाशवान झूठे जड़ पदार्थों में ही लगा रहता है (दर्सन मोहंध दुग्गए पत्तं) इस प्रकार दर्शन मोह से अंधा दुर्गति का पात्र बनता है।

(दर्सन मोहंध असुद्धं) दर्शन मोहनीय कर्म महान अशुद्ध है, इस दर्शन मोह में अंधा जीव (कल लंकित कर्म दर्स दर्सेई) शरीर संबंधी क्रियाकांड और कर्मोदय को ही देखता रहता है (पज्जावं पिच्छंतो) पर्याय को ही पहिचानता है अर्थात् जैसा जो कुछ संयोगी, शरीरादि पर्याय मिली है उसी में एकमेक रहता है, उसकी तरफ ही दृष्टि रखता है (अन्यानं अन्मोय निगोय वासम्मि) अज्ञान का आलंबन, आश्रय होने से निगोद में वास करता है।

विशेषार्थ - दर्शन मोहांध मिथ्यादृष्टि जीव इस वर्तमान प्राप्त शरीर में ही आपा मानकर यही मैं हूँ, इसी के क्षणिक व मिथ्या सुख में लीन रहता है। पांचों इंद्रियों का दासपना किया करता है, इस शरीर में खूब विषय भोग करूँ, ऐसी रात-दिन भावना करता है, इससे उसका संसार परिभ्रमण मिटता नहीं है।

मिथ्यादर्शन के उदय से शुद्ध मोक्षमार्ग का श्रद्धान नहीं हो पाता, उसके भावों में संसार का राग नहीं मिटता, विषय लोलुपता कम नहीं होती, शरीर का सुखियापना नहीं जाता, इसी से वह पर समय रूप होकर अशुभ कर्म बांधता है और नरक, निगोद तिर्यच गति में जाकर पैदा होता है।

दर्शन मोह की मिथ्यात्व प्रकृति के तीव्र उदय से आत्मा का श्रद्धान नहीं होता है, न उसे यह श्रद्धान होता है कि शुद्धात्मानुभव ही मोक्षमार्ग है। कदाचित् धर्म का श्रद्धान भी करता है तो शरीर की क्रिया को ही बाहरी तप व्रत को ही धर्म मान लेता है। अंतरंग परिणामों पर दृष्टि नहीं देता है, वह शरीर के सुखों का राग नहीं त्यागता है, इसी से अज्ञान में लिप्त निगोद तक में चला जाता है।

प्रथम, स्वरूप सन्मुख होकर निर्विकल्प अनुभूति होती है, आनंद का वेदन होता है, तब ही यथार्थ सम्यक्दर्शन हुआ कहलाता है, इसके अलावा प्रतीति यथार्थ नहीं कहलाती। प्रथम तत्त्व विचार करके दृढ़ निर्णय करे, पीछे अनुभूति होती है। जिनकी तत्त्व निर्णय में ही भूल है उनको तो अनुभूति कहाँ से होवे ? नहीं हो सकती। मात्र विकल्प से तत्त्व विचार किया करे, वह जीव भी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता।

धर्म-शरीर वाणी धन आदि से नहीं होता क्योंकि वे तो सभी आत्मा से भिन्न अचेतन पर द्रव्य हैं, उनमें आत्मा का धर्म नहीं है और मिथ्यात्व, हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य आदि पापभाव या दया, दान, पूजा, भक्ति आदि पुण्य भाव से भी धर्म नहीं होता क्योंकि वह दोनों विकारी भाव हैं। आत्मा की निर्विकारी शुद्ध दशा ही धर्म है।

भेदज्ञान से शून्य होने के कारण रागादि ज्ञेय मेरे हैं, ऐसा जानता हुआ अज्ञानी उनका कर्ता बनता है। ज्ञेय ज्ञायक की भिन्नता को अनादि काल से न जानने से स्वयं को ज्ञेय रूप मानता हुआ ज्ञान परिणाम को अज्ञान रूप से कर्ता हुआ, दर्शन मोहांध अज्ञानी संसार में परिभ्रमण करता है।

प्रश्न - इस दर्शन मोह रूप अज्ञान से छूटने का उपाय क्या है ?

समाधान - आत्मज्ञान रूप सम्यक्ज्ञान ही इस अज्ञान मिथ्यात्व से छूटने का एक मात्र उपाय है। जब तक सम्यक्दर्शन पूर्वक सम्यक्ज्ञान नहीं होता तब तक जीव इस दर्शन मोहांध रूप अज्ञान से संसार में रूलता है।

प्रश्न - यह आत्मज्ञान रूप सम्यक्ज्ञान कैसे होता है, इसका स्वरूप क्या है, इसमें दर्शन मोह क्या करता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

न्यानं च परम न्यानं, न्यानं सहकार मिच्छ तिक्तं च ।

न्यानं च ममल सहावं, दर्सन मोहंध पज्जाव आवरनं ॥ २०३ ॥

अन्वयार्थ - (न्यानं च परम न्यानं) ज्ञान स्वभाव आत्मा ही परम ज्ञान केवलज्ञान स्वरूप परमात्मा है अर्थात् भेदविज्ञान पूर्वक जो अपने आत्म स्वभाव को जानते हैं वही केवलज्ञान स्वभावी परमात्मा को जानते हैं (न्यानं सहकार मिच्छ तिक्तं च) ऐसे आत्मज्ञान सम्यक्ज्ञान का सहकार करने से मिथ्यात्व छूट जाता है (न्यानं च ममल सहावं) अपने ममल स्वभाव को जानना

ही सच्चा ज्ञान है (दर्शन मोहंध पज्जाव आवरनं) दर्शन मोह से पर्याय में आवरण रहता है, वह जीव अपने ज्ञान स्वभावी आत्मा को नहीं जानता है।

विशेषार्थ - ज्ञान और परमज्ञान यही है कि भेदज्ञान पूर्वक इस शरीरादि से भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी चेतन तत्त्व भगवान् आत्मा हूँ, यह शरीरादि में नहीं और यह मेरे नहीं हैं तथा मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ, सिद्ध के समान केवलज्ञान स्वभावी परमात्मा हूँ, ऐसे ज्ञान स्वभाव को स्वीकार करने से दर्शन मोह मिथ्यात्व आदि छूट जाता है। आत्मा तो ममल ज्ञान स्वभावी ही है, कर्म संयोगी दशा तो वर्तमान अशुद्ध पर्याय है, अज्ञानी दर्शन मोहंध जीव पर्यायी आवरण को ही देखता जानता है।

सम्यक्ज्ञान आत्मा व आत्मा से भिन्न पर पदार्थों को भिन्न-भिन्न जानता है तथा आत्मा का स्वभाव केवलज्ञान मय पहिचानता है। जिसके तीव्र मिथ्यात्व का उदय होता है उसे आत्मा और अनात्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं होने पाता है, यथार्थ ज्ञान से ही मिथ्यात्व हटता है और सम्यक्दर्शन होता है, तब ही ज्ञान को सम्यक्त्व सहित सम्यक्ज्ञान कहते हैं।

दर्शन मोहंध जीव, विकार तथा स्वभाव को एक मान रहा है अतः यथार्थ विचार नहीं कर पाता। वह यदि मिथ्या धारणा में अवकाश बनाकर जाने कि विकार कृत्रिम है तथा स्वभाव निरुपाधि ममल स्वरूप है तो भेदज्ञान का अवसर आये परंतु अज्ञानी ने तो उन दोनों में एकता मानी है। दया दानादि से धर्म की मान्यता अर्थात् मिथ्यादर्शन के बल से वह उन दोनों में भेद नहीं करता। व्यवहार करे, कषाय को मंद करे तो धर्म हो, ऐसी विपरीत श्रद्धा, स्वभाव व विभाव को पृथक् जानने रूप विचार भी नहीं करने देती।

स्व-पर का श्रद्धान होने पर सम्यक्ज्ञान होता है, अपने को पर से भिन्न जाने तो स्वयं के आश्रय से संवर निर्जरा रूप दर्शन, ज्ञान, चारित्र का उपाय करे और परद्रव्यों का अपने से भिन्न रूप श्रद्धान होने पर, पर के लक्ष्य से होने वाले पुण्य-पाप व आश्रव, बंध को छोड़ने का श्रद्धान होता है। स्वयं को पर से भिन्न परमात्म स्वरूप जानने पर निज हितार्थ प्रवर्तन करे तथा पर को अपने से भिन्न जानने पर उनके प्रति उदासीन हो व रागादिक छोड़ने का श्रद्धान हो, इस प्रकार सामान्य रूप से जीव-अजीव तत्त्व दोनों को भिन्न जाने तो मोक्ष हो।

द्रव्य सदा निर्लेप है, स्वयं ज्ञाता भिन्न ही तैरता है, जिस प्रकार स्फटिक

मणि में प्रतिबिम्ब दिखने पर भी स्फटिक निर्मल है, उसी प्रकार जीव में विभाव ज्ञात होने पर भी जीव निर्मल है, निर्लेप है। ज्ञायक रूप परिणमित होने पर पर्याय में निर्मलता निर्लेपता होती है। यह सब जो कषाय, विभाव ज्ञात होते हैं, वे ज्ञेय हैं, मैं तो ज्ञायक हूँ, ममल ज्ञान स्वभावी हूँ ऐसा पहिचाने, परिणमन करे यही ज्ञान और परम ज्ञान है।

प्रश्न - इस ज्ञान स्वभाव की क्या महिमा है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

न्यानं च सुकिय सुभावं, न्यानं च षिपिय तिविहि कम्मानं।

न्यानं अनन्त रूवं, दंसन मोहंध न्यान आवरनं ॥ २०४ ॥

अन्वयार्थ - (न्यानं च सुकिय सुभावं) ज्ञान आत्मा का अपना स्वभाव है (न्यानं च षिपिय तिविहि कम्मानं) इस ज्ञान स्वभाव में रहने से तीनों प्रकार के कर्मक्षय होते हैं (न्यानं अनन्त रूवं) ज्ञान का स्वभाव अनंत है, ज्ञान की कोई मर्यादा नहीं है (दंसन मोहंध न्यान आवरनं) दर्शन मोहंध अपने ज्ञान स्वभाव पर आवरण डालता है।

विशेषार्थ - ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, यद्यपि मति श्रुत ज्ञान इंद्रिय व मन की सहायता से होते हैं तथापि यदि आत्मा न हो तो नहीं हो सकते हैं। ज्ञानावरण के उदय व क्षयोपशम की विचित्रता से इन्द्रिय व मन सहकारी होते हैं। अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान में स्वतंत्रता से आत्मा ही जानता है परंतु अवधि ज्ञानावरण और मनः पर्यय ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से कम जानता है। केवलज्ञान शुद्ध स्वाभाविक ज्ञान है, जो प्रत्यक्ष रूप से क्रम रहित सर्व द्रव्यों की सर्व पर्यायों को जानता है, केवलज्ञान अनंतज्ञान स्वरूप है। केवलज्ञान की एक समय की पर्याय में तीन काल और तीन लोक के समस्त जीव और पुद्गलादि द्रव्य, उनका त्रिकालवर्ती परिणमन एक समय में झलकता है, ऐसा जिसको ज्ञान के स्वरूप का श्रद्धान है वह सम्यक्त्वी जीव, ज्ञान स्वभाव की साधना से तीनों प्रकार के कर्म-द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नोकर्म को क्षय करता है, ऐसी ज्ञान स्वभाव की महिमा है। दर्शन मोहंध जीव ऐसे ज्ञान स्वभाव पर आवरण डालता है।

आत्मा ज्ञान और आनंद आदि निर्मल गुणों की शाश्वत खान (भंडार) है। सत्समागम से श्रवण, मनन के द्वारा उसकी यथार्थ पहिचान करने पर

आत्मा में से जो अतीन्द्रिय आनंद युक्त निर्मल अंश प्रगट होता है वह ही धर्म है और इस ज्ञान स्वभाव की साधना से तीनों प्रकार के कर्म क्षय होते हैं।

जिसे अपने शुद्ध अखंड एक परम पारिणामिक भाव स्वरूप निज शुद्धात्मा का ही निरंतर अवलंबन वर्तता है, उसको निज शुद्धात्म स्वरूप के आधार से धर्म कहो या शांति कहो सब प्रगट होता है और यही मुक्ति का मार्ग है।

प्रश्न - जब ज्ञान स्वभाव की ऐसी महिमा है फिर दर्शन मोहांध क्यों विपरीत चलता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

न्यान सहाव स उत्तं, न्यानं दर्सेइ नन्त सहकारं ।

दर्सन मोहंध पज्जावं, अन्मोयं पज्जाव दुग्गए पत्तं ॥ २०५ ॥

न्यानं च त्रिधि अवयासं, लोयालोयं च ममल सभावं ।

मल मुक्कं न्यान अन्मोयं, दर्सन मोहंध न्यान आवरनं ॥ २०६ ॥

अन्वयार्थ - (न्यान सहाव स उत्तं) ज्ञान स्वभाव उसे कहते हैं (न्यानं दर्सेइ नन्त सहकारं) जो ज्ञान अनंत पदार्थों को एक समय में जान लेता है (दर्सन मोहंध पज्जावं) दर्शन मोहांध पर्याय में ही उलझा रहता है (अन्मोयं पज्जाव दुग्गए पत्तं) पर्याय का आलंबन रखने, उसी की अनुमोदना करने से दुर्गति का पात्र बनता है।

(न्यानं च त्रिधि अवयासं) ज्ञान स्वभाव का अभ्यास करने से ज्ञान में वृद्धि होती है (लोयालोयं च ममल सभावं) जिससे ममल स्वभाव में लोकालोक प्रकाशित होता है (मल मुक्कं न्यान अन्मोयं) ज्ञान स्वभाव का आलंबन रखने, अनुमोदना करने से सर्व कर्म मलों से मुक्त हुआ जाता है (दर्सन मोहंध न्यान आवरनं) दर्शन मोहांध ऐसे ज्ञान स्वभाव पर आवरण डालता है।

विशेषार्थ - दर्शन मोहांध को अपने ज्ञान स्वभाव का श्रद्धान नहीं होता है, वह अपनी शारीरिक शक्ति को ही सब कुछ जानता है। पर्याय का अहंकार रखता है। शरीरादि पर्याय से भिन्न आत्मा ज्ञान स्वभावी है, जिस ज्ञान स्वभाव में समस्त पदार्थ देखने जानने में आते हैं, दर्शन मोहांध ऐसे ज्ञान स्वभाव को स्वीकार नहीं करता और शरीरादि पर्याय में ही रत रहता है जिससे दुर्गति जाता है।

ज्ञान स्वभाव की साधना का अभ्यास करने से ज्ञान बढ़ता है और लोकालोक को प्रकाशित करने वाला ममल केवलज्ञान स्वभाव प्रगट हो जाता है। ज्ञान स्वभाव का आलंबन लेने अनुमोदना करने से ही कर्मों से मुक्त हुआ जाता है। दर्शन मोहांध ऐसे ज्ञान स्वभाव पर आवरण डालता है।

अनंत गुण स्वरूप आत्मा उसके एक रूप ज्ञान स्वरूप को दृष्टि में लेकर उस एक को ध्येय बनाकर उसमें एकाग्रता का प्रयत्न करना, यही केवलज्ञान स्वरूप प्रगट करने का उपाय है।

साधक जीव प्रारंभ से अंत तक ज्ञान स्वभाव की ही मुख्यता रखकर अन्य सबको गौण करते जाते हैं, उससे साधक दशा में निश्चय की मुख्यता के बल से शुद्धता की वृद्धि ही होती जाती है और अशुद्धता कर्म मलादि दोष क्षय होते जाते हैं। इस प्रकार निश्चय ज्ञान स्वभाव की मुख्यता के बल से पूर्ण केवलज्ञान होने पर वहाँ लोकालोक को प्रकाशित करने वाला ममल स्वभाव ही रहता है।

यह आत्म स्वभाव है और यह अन्य भाव है, ऐसा बोध बीज आत्मा में परिणमित होने से अन्य भाव में सहज ही उदासीनता उत्पन्न होती है और वह उदासीनता अनुक्रम से उस अन्य भाव से सर्वथा मुक्त करती है। दर्शन मोहांध, अपने ज्ञान स्वभाव आत्मा पर आवरण डालकर पर्याय में लिप्त रहता है जिससे दुर्गति का पात्र बनता है।

प्रश्न - ऐसा कौन सा कारण है, जो दर्शन मोहांध अपने ज्ञान स्वभाव आत्मा का श्रद्धान नहीं करता ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

न्यानं नंत विसेषं, न्यानं न्यानं च त्रिधि सभावं ।

अन्मोयं वयन सहावं, दर्सन मोहंध वयन आवरनं ॥ २०७ ॥

न्यान सहावं उत्तं, सहकारे न्यान सहाव आयरनं ।

न्यान अनन्तानंतं, दर्सन मोहंध सहाव आवरनं ॥ २०८ ॥

अन्वयार्थ - (न्यानं नंत विसेषं) ज्ञान की अनंत विशेषता है (न्यानं न्यानं च त्रिधि सभावं) ज्ञान से ज्ञान की वृद्धि होती है यह उसका स्वभाव है (अन्मोयं वयन सहावं) जो जिन वचनों का श्रद्धान करता है, आलंबन लेता है, वह अपने ज्ञान स्वभाव की साधना करता है (दर्सन मोहंध वयन आवरनं)

दर्शन मोहांध जीव जिन वचनों पर आवरण डालता है ।

(न्यान सहावं उत्तं) जिनवाणी में जिनेन्द्र परमात्मा ने आत्मा को ज्ञान स्वभाव कहा है (सहकारे न्यान सहाव आयरनं) जो ऐसे ज्ञान स्वभाव को स्वीकार करता है तथा उस रूप आचरण करता है (न्यान अनन्तानंतं) उसका ज्ञान अनन्तानंत, अनंत चतुष्टय केवलज्ञान स्वरूप हो जाता है (दर्शन मोहांध सहाव आयरनं) दर्शन मोहांध ऐसे अपने ज्ञान स्वभाव पर आवरण डालता है।

विशेषार्थ - जिनवाणी में जिनेन्द्र परमात्मा ने आत्मा को ज्ञान स्वभाव कहा है, जो जिन वचनों का श्रद्धान करता है, अपने ज्ञान स्वभाव का आलंबन लेता है, उस ज्ञान स्वभाव की अनंत विशेषतायें हैं। ज्ञान से ज्ञान की वृद्धि होती है और वह ज्ञान अनन्तानंत लोकालोक को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान स्वरूप प्रगट होता है। दर्शन मोहांध को जिन वचनों का श्रद्धान ही नहीं होता, वह तो जिन वचनों पर आवरण डालता है इसलिये अपने ज्ञान स्वभावी आत्मा का श्रद्धान नहीं करता।

जिसे जिनेन्द्र के वचनों पर यथार्थ श्रद्धान होता है उसे अपने ज्ञान स्वभावी आत्मा का भी श्रद्धान होता है तब ही वह ज्ञान स्वभाव में आचरण करके स्वसंवेदन के द्वारा ज्ञान से ज्ञान की वृद्धि करता हुआ, केवलज्ञान स्वरूप हो जाता है अर्थात् स्वयं केवलज्ञान स्वरूप सर्वज्ञ परमात्मा हो जाता है।

मिथ्यादृष्टि को इस बात पर विश्वास नहीं होता, वह जिन वचनों पर आवरण डालता है अर्थात् विपरीत मान्यता, उल्टा श्रद्धान करता है।

यहाँ तो जो ज्ञान आत्मा के लक्ष्य पूर्वक होता है, उसे ही ज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान इन्द्रिय के लक्ष्य से होता है, शास्त्र के लक्ष्य से होता है उसे ज्ञान ही नहीं कहते। त्रिकाली ज्ञायक भगवान निज शुद्धात्मा के आश्रय बिना ग्यारह अंग के ज्ञान को भी ज्ञान नहीं कहते वह क्षायोपशमिक खंड-खंड ज्ञान है सो दुःख का कारण है।

आत्मज्ञान के लिये बहुत शास्त्र पढ़ने की बात नहीं है। जो जिन वचनों का श्रद्धान करता है, उसे इस बात का बोध जागता है कि स्वयं भगवान आत्मा अनंत-अनंत गुण संपन्न ज्ञानानंद स्वरूप है, इसकी महिमा लाकर स्वसन्मुख हो, इतनी सी बात है।

भगवान सर्वज्ञ की दिव्य देशना से निकली हुई वीतरागी वाणी परंपरा

से गणधरों सद्गुरुओं द्वारा प्रवाहित होती आई है। जिन्हें इस वीतराग वाणी में कथित तत्त्वों का स्वरूप विपरीत अभिनिवेश रहित हृदयंगम हुआ है उन भव्य जीवों के भव का अंत आ जाता है।

एक ज्ञान को ख्याल में लेते ही उसके साथ के अनंत गुण एक साथ ख्याल में आ जाते हैं। ऐसा एक ज्ञान स्वरूप आत्मा ख्याल में आने पर सम्यक्दर्शन होता है, उसके साथ अनंत गुण आंशिकरूप से खिले बिना नहीं रहते और इसी का अभ्यास साधना करने से ज्ञान से ज्ञान बढ़ता है और केवलज्ञान स्वरूप प्रगट हो जाता है।

प्रश्न - जब इतनी सरल सहज बात है, जिसमें बाहर कुछ करने का ही नहीं है, मात्र ज्ञान स्वभाव का आलंबन लेने से परमात्म पद और मुक्ति होती है फिर दर्शन मोहांध इसको स्वीकार क्यों नहीं करता ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

न्यानं परिनइ उत्तं, परिनवइ न्यान लोकलोकांतं ।

परिनइ प्रमान सुद्धं, दर्सन मोहांध परिनए आवरनं ॥ २०९ ॥

न्यान हेय संजुत्तं, हितमित परिनवइ नंतनंताइं ।

एयं ममल सहावं, दर्सन मोहांध हेय आवरनं ॥ २१० ॥

न्यानं कोमल रूवं, कोमल परिनवइ ममल सहकारं ।

ममलं ममल सहावं, दर्सन मोहांध कोमल आवरनं ॥ २११ ॥

न्यानं च दिस्टि ममलं, ममल सहावेन केवलं न्यानं ।

दिस्टं च नंत दिस्टि, दर्सन मोहांध दिस्टि आवरनं ॥ २१२ ॥

अन्वयार्थ - (न्यानं परिनइ उत्तं) ज्ञान की शक्ति अपार है (परिनवइ न्यान लोकलोकांतं) ज्ञान का परिणमन लोकालोक को जानता है अर्थात् केवलज्ञान की एक समय की पर्याय में लोकालोक झलकता है (परिनइ प्रमान सुद्धं) यह ज्ञान का परिणमन प्रमाण से शुद्ध है अर्थात् यही ज्ञान शुद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण है (दर्सन मोहांध परिनए आवरनं) दर्शन मोहांध इस ज्ञान के परिणमन पर आवरण डालता है अर्थात् इसे स्वीकार नहीं करता।

(न्यान हेय संजुत्तं) ज्ञान, ज्ञेय हेय उपादेय सबको जानता है (हितमित परिनवइ नंतनंताइं) जब ज्ञान अपने हितकारी इष्ट निज शुद्धात्म स्वरूप ज्ञान

स्वभाव रूप परिणमन करता है तब अनंतानंत पदार्थों का ज्ञाता, अनंत चतुष्टयधारी केवलज्ञान स्वरूप हो जाता है (एयं ममल सहावं) और हमेशा एक ममल स्वभाव रूप रहता है (दर्शन मोहंध हेय आवरनं) दर्शन मोहंध हेय ज्ञेय का कोई विवेक नहीं करता।

(न्यानं कोमल रूवं) ज्ञान कोमल सरल स्वभाव रूप होता है (कोमल परिणवइ ममल सहकारं) सहज सरल ज्ञान ही ममल स्वभाव रूप परिणमता है अर्थात् जो सरल शांत सहज स्वभावी होता है, विनम्रता और प्रेम ही ज्ञानी की पहिचान है (ममलं ममल सहावं) ऐसा सम्यक्ज्ञानी अपने ममल स्वभाव के आश्रय से ममल स्वभाव में रहता है (दर्शन मोहंध कोमल आवरनं) दर्शन मोहंध का मार्दव भाव ढका रहता है वह कठोर और दुष्ट चित्त रहता है।

(न्यानं च दिस्टि ममलं) जहाँ ज्ञान और दृष्टि अर्थात् ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग दोनों अपने ममल स्वभाव में लीन होते हैं (ममल सहावेन केवलं न्यानं) बस इसी ममल ज्ञान स्वभाव में रहने से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है (दिस्टं च नंत दिस्टिं) और फिर अनंत चतुष्टय स्वरूप दिखाई देने लगता है (दर्शन मोहंध दिस्टि आवरनं) दर्शन मोहंध के दृष्टि पर आवरण पड़ा रहता है, उसे अपना ज्ञान स्वभाव दिखाई नहीं देता।

विशेषार्थ - ज्ञान की शक्ति अपार है, ज्ञान जब शुद्ध होता है तब वह अनंत व अपार है तथा वही प्रत्यक्ष प्रमाण रूप स्पष्ट है। सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष केवलज्ञान ही है। चार घातिया कर्मों के नाश होने पर निर्मल केवलज्ञान प्रगट होता है जो उत्कृष्ट है व जो लोक अलोक को तीन काल सम्बंधी पर्यायों के साथ जानता है, जो ज्ञान मन व इंद्रिय की सहायता बिना क्रम रहित सर्व लोकालोक के मूर्तीक व अमूर्तीक द्रव्यों को उनके अनंतगुण व पर्याय सहित प्रत्यक्ष जानता है वही केवलज्ञान है।

सम्यक्ज्ञान का यह स्वभाव है जो वह यह जाने कि त्यागने योग्य क्या है व ग्रहण करने योग्य क्या है ? निश्चयनय से एक शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है, शेष सब परद्रव्य, परभाव व कर्म के निमित्त से होने वाले पुण्य-पाप, रागादिभाव, गुणस्थानादि भाव व मार्गणादि पर्याय त्यागने योग्य हैं। ऐसा भेदविज्ञान जिसको होता है वह परम उपादेय निज आत्मा में ही रमण करता है जिससे एक ममल स्वभाव, केवलज्ञान प्रकाशित हो जाता है।

केवलज्ञान का फल तो परमात्म पद, वीतरागता मुक्ति है परंतु अल्पज्ञान

रूप सम्यक्ज्ञान का फल यह है कि वह इस बात को जाने कि ग्रहण करने योग्य व त्याग करने योग्य क्या है ? वैसे तो सर्व प्रकार के ज्ञान का फल अपने-अपने विषयों में हित व अहित का ज्ञान तथा अज्ञान का नाश है।

सम्यक्ज्ञानी को अनंतानुबंधी कषाय का उदय न होने से तथा अन्य कषायों के यथासंभव मंद उदय से परिणामों में मृदुता, विनयभाव व अनुकंपा भाव रहता है। इसी से वह प्रशम अर्थात् शांत भाव, संवेग अर्थात् संसार से वैराग्य व धर्म से प्रेम, करुणा भाव तथा आस्तिक्य भाव रखता है। मंद कषाय से ज्ञान की भावना करता है, तब ज्ञान बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान में परिणमन कर जाता है।

सम्यक्ज्ञानी को जो निर्मल आत्म श्रद्धा होती है उसी के अभ्यास से वह गुणस्थानों पर चढ़ते-चढ़ते सयोग केवली गुणस्थान पर चढ़ जाता है जहाँ केवलज्ञान और केवलदर्शन का प्रकाश हो जाता है।

दर्शन मोहंध मिथ्यादृष्टि इस बात को नहीं समझता है, उसको हेय, ज्ञेय, उपादेय का ज्ञान नहीं होता है। कषाय के तीव्रोदय से मार्दव भाव या विनय भाव नहीं पाया जाता है, उसको अपने स्वार्थवश परिणामों में बड़ी कठोरता रहती है। काम पड़ने पर दीन दुखियों को बहुत कष्ट देता है। सम्यक्दर्शन के अभाव में अपने दर्शन गुण को ढका हुआ ही रखता है।

वास्तव में ज्ञान रूपी दीपक बिना हितकारी व अहितकारी बातों का ज्ञान नहीं हो सकता है।

ज्ञान है, ज्ञेय भी है, कोई किसी के कारण से नहीं है। केवलज्ञानी समस्त स्व-पर को जानते हैं। पर को जानने वाला ज्ञान भी निश्चय से स्वयं का ही है परंतु पर को जानता है, ऐसा कहना सो व्यवहार है। इसका अर्थ ऐसा न समझना कि ज्ञान पर को जानता ही नहीं है। ज्ञान का स्वभाव निश्चय से स्व-पर प्रकाशक है। स्व-पर प्रकाशकता कोई व्यवहार अपेक्षा से नहीं है।

आत्म स्वभाव को लक्ष्यगत कर उसी में एकाग्र होना ही ज्ञान की महिमा है, निश्चयनय तो ज्ञान का एक अंश है वह तो पर्याय है, उस पर्याय के आश्रय से कोई मुक्ति नहीं होती परंतु निश्चय नय तथा उसका विषय भूत जो त्रिकाल अभेद ममल स्वभाव है, उस ममल स्वभाव के अनुभव से मुक्ति होती है।

जिन्होंने पुरुषार्थ द्वारा मोह का नाश किया है अर्थात् पर की सावधानी

छोड़ दी है व ज्ञान मात्र निज स्वभाव की सावधानी रखते हैं, वे सिद्ध दशा को पाते हैं। ज्ञान मात्र के सिवाय अन्य किसी उपाय से कल्याण नहीं होता।

प्रश्न - ऐसे ज्ञान को उपलब्ध करने में दर्शन मोहांध किस कारण असमर्थ रहता है और उसका परिणाम क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

दर्शन मोहंध सहावं, न्यान आवरन सुकिय सुभावं ।

दुषिय कम्म उववन्नं, दुग्गइ गइ भावना होई ॥ २१३ ॥

दर्शन मोहंध विसेषं, पज्जय रत्तो पज्जाव संजुत्तो ।

आवरनं न्यान सहावं, पज्जय आवरन बे इंदिया जुत्तं ॥ २१४ ॥

दर्शन मोहंध स उत्तं, अवयासं न्यान आवर्न सहकारं ।

अवयासं नहु पिच्छइ, थावर उपत्ति अनेय कालम्मि ॥ २१५ ॥

अन्वयार्थ - (दर्शन मोहंध सहावं) दर्शन मोहांध का ऐसा स्वभाव होता है कि (न्यान आवरन सुकिय सुभावं) अपने स्वाभाविक स्वभाव पर ज्ञान का आवरण डालता है अर्थात् अज्ञान पूर्वक मनमानी मायाचारी करता है (दुषिय कम्म उववन्नं) अशुभ दुःख रूप पाप कर्म का बंध करता रहता है (दुग्गइ गइ भावना होई) दुर्गति जाने की भावना होती है।

(दर्शन मोहंध विसेषं) दर्शन मोहांध की यह विशेषता होती है (पज्जय रत्तो पज्जाव संजुत्तो) कि जिस पर्याय का धारी होता है उसी पर्याय में रत रहता है (आवरनं न्यान सहावं) उसका ज्ञान स्वभाव ढका रहता है अर्थात् वह अपने आत्म स्वरूप को जानता ही नहीं है (पज्जय आवरन बे इंदिया जुत्तं) पर्याय का इतना तीव्र मोह होता है जिससे दो इंद्रिय पर्याय में चला जाता है।

(दर्शन मोहंध स उत्तं) दर्शन मोहांध उसे कहते हैं (अवयासं न्यान आवर्न सहकारं) जो ज्ञानावरण कर्म को ही बढ़ाने का अभ्यास करता है अर्थात् निरंतर मिथ्यात्व अज्ञान में लिप्त रहता है (अवयासं नहु पिच्छइ) वह अपने ज्ञान स्वभाव को न जानता है, न विश्वास करता है, न उसे जानने का प्रयास करता है (थावर उपत्ति अनेय कालम्मि) जिससे उसे एकेन्द्रिय स्थावर काय में बहुत काल बिताना पड़ता है।

विशेषार्थ - दर्शन मोहांध मिथ्यादृष्टि जीव का ऐसा स्वभाव होता है

कि वह अपने स्वाभाविक ज्ञान स्वभाव पर आवरण डालता है, जिससे उसके भाव आत्मा की तरफ बिल्कुल नहीं जाते, वह शरीर के सुख में मोही रहता है इसलिये अपनी अशुद्ध भावना से दुःख रूप कर्म का बंध कर दुर्गति जाता है।

दर्शन मोहांध की यह विशेषता होती है कि वह जिस पर्याय में जाता है उसी पर्याय में रत एकमेक रहता है, शरीरासक्त होता है, जितनी इंद्रियां होती हैं, उन्हीं के विषयों में रत रहता है, उनकी पूर्ति में रात-दिन लवलीन रहता है, इसी कारण अपने ज्ञान स्वभाव को नहीं समझते हुए ज्ञानावरण कर्म का बंध करके दो इंद्रियादि पर्याय में चला जाता है।

दर्शन मोह के उदय से अंध प्राणी आत्मज्ञान को न पाकर विषयों की तृष्णा में फंसा रहता है, मिथ्याज्ञान के वश अपने आत्म स्वरूप को न जानता है, न जानने का प्रयास करता है। आत्मा और ज्ञान की बात सुनता ही नहीं है, इस कारण वह तीव्र ज्ञानावरण कर्म का बंध करके एकेन्द्रिय स्थावर पर्याय में जाकर बहुत काल बिताता है।

दर्शन मोह को मंद किये बिना वस्तु स्वरूप समझ में नहीं आता और दर्शन मोह का अभाव किये बिना आत्मा अनुभव में नहीं आता।

स्व-पर प्रकाश का पुंज प्रभु तो शुद्ध ही है परंतु जो राग से भिन्न होकर उसकी उपासना करे, उसी के लिये वह शुद्ध है। द्रव्य सदा निर्लेप है। संयोग और रागादि से दृष्टि हटाकर एक समय का जिसका अस्तित्व है ऐसी पर्याय का लक्ष्य छोड़कर जो भगवान आत्मा निर्लेप है, उसकी दृष्टि करे तो सम्यक्दर्शन हो तभी यह दर्शन मोह से छुटकारा होता है।

मिथ्यादृष्टि दर्शन मोहांध अनादि अनंत संसार में रूल रहा है, यह मनुष्य भव और सब शुभयोग पाकर भी जिसकी दृष्टि मान्यता नहीं बदलती वह दर्शन मोह से अंधा प्राणी संसार में दुर्गति का पात्र बनता है, इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं -

दर्शन मोहंध सुसमयं, न्यान आवरन वयन सभावं ।

सो वयनं नवि पिच्छइ, नरयं बे इंदि अनेय कालम्मि ॥ २१६ ॥

दर्शन मोहंध अन्धं, न्यान आवरन देइ सहकारं ।

असहावं च उवंनं, विकलत्तय नंत नंत कालम्मि ॥ २१७ ॥

अन्वयार्थ - (दर्शन मोहंध सुसमयं) दर्शन मोहांध अपने शुद्धात्म

स्वरूप को नहीं देखता (न्यान आवरण वयन सभाव) ज्ञान पर आवरण डालता है और जिनवाणी भी नहीं सुनता (सो वयनं नवि पिच्छइ) जिनेन्द्र के वचनों को भी स्वीकार नहीं करता और न उन वचनों पर श्रद्धान लाता है अर्थात् देव गुरु धर्म पर कोई श्रद्धान नहीं होता (नरयं बे इंदि अनेय कालम्मि) इससे मनुष्य से नरक और दो इन्द्रिय आदि में अनेक काल बिताना पड़ता है।

(दर्शन मोहंध अन्धं) दर्शन मोहंध मिथ्यात्व के नशे में ऐसा अंधा रहता है (न्यान आवरण देइ सहकारं) कि वह ज्ञान पर आवरण करने वाला, अज्ञानमय उपदेश देता है तथा ऐसा ही सुनता है, उसी का सहकार करता है (असहावं च उवंनं) वह स्वभाव से विपरीत भावों को अपने में व दूसरों में उत्पन्न करता है (विकलत्तय नंत नंत कालम्मि) जिससे वह अनंतकाल में अनंत बार विकलत्रय होता है।

विशेषार्थ - दर्शन मोहंध मिथ्यादृष्टि जीव जैसे अपने आत्मा का ज्ञान नहीं करता है, वैसे वह आत्मज्ञान संबंधी उपदेश पर भी ध्यान नहीं देता है अपितु उस उपदेश का निरादर करता है तथा स्वयं भी कभी आत्मज्ञान संबंधी बात नहीं करता है, निरंतर शरीर के राग बढ़ाने वाले वार्तालाप में फंसा रहता है, बहुत बकवाद करता है, विकथाओं में व परनिंदा में रंजायमान रहता है जिससे ऐसे कर्म का बंध करता है कि अनेक काल तक नरक और दो इन्द्रिय आदि में रहता है।

दर्शन मोहंध मिथ्यात्व में अंधा होता है और वह धर्म के ज्ञान में शून्य रहता है, वैसे वह दूसरों को भी उपदेश देकर स्वाभाविक आत्मज्ञान से दूर रखता है। शरीरासक्त, विषयासक्त रहता है तथा दूसरों को विषयों में फंसाता रहता है जिससे वह ऐसा कर्म बांधता है कि अनंतकाल तक बहुत बार दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौ इन्द्रिय तिर्यच होता है।

अज्ञानी ने अनादिकाल से अनंत ज्ञानादि समृद्धि से भरे हुए निज चैतन्य महल के ताले लगा दिये हैं और स्वयं बाहर भटकता रहता है। ज्ञान बाहर से ढूँढता है, आनंद बाहर से ढूँढता है, सब कुछ बाहर से ढूँढता है। स्वयं भगवान होने पर भी भीख मांगता रहता है।

अज्ञानी जीव शास्त्रों का रहस्य नहीं समझता अतः उसका समस्त ज्ञान कुज्ञान है। मिथ्यादृष्टि, ग्यारह अंग, नौ पूर्व का पाठी हो तो भी वह दर्शन मोहंध अज्ञानी है। आत्म अनुभव के बिना सब कुछ शून्य है, लाख कषाय की

मंदता करो या लाख शास्त्र पढ़ो किंतु आत्म अनुभव सम्यक्दर्शन बिना सब कुछ व्यर्थ है।

अज्ञान और स्व स्वरूप के प्रमाद से दर्शन मोहंध में फंसा जीव अनंतकाल तक दो इन्द्रिय आदि दुर्गतियों में जन्म-मरण करता है।

जो जीव इस भ्रांति को निवृत्त करके शुद्ध चैतन्य निज अनुभव प्रमाण स्वरूप में परम जाग्रत होकर ज्ञानी होते हैं वह सदैव निर्भय रहते हुए मुक्ति को पाते हैं।

प्रश्न - दर्शन मोहंध इस विपरीत परिणमन से छुटकारा क्यों नहीं पाता ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

दर्शन मोहंध सुभावं, परिणइ आवर्न अन्यान सहकारं।

परिणइ सहाव न दिहुं, तिरिय गए कुदेव जानेहि ॥ २१८ ॥

दर्शन मोहंध सुभावं, हितकारस्य अन्यान सहकारं।

हेयं कंहंपि न दिहुं, विकलत्तय अनेय कालम्मि ॥ २१९ ॥

दर्शन मोहंध अन्धं, कोमल परिनाम न्यान आवरणं।

कोमल सहाव न दिहुं, निगोय वासं अनेय कालम्मि ॥ २२० ॥

अन्वयार्थ - (दर्शन मोहंध सुभावं) दर्शन मोहंध का ऐसा स्वभाव, प्रकृति होती है कि (परिणइ आवर्न अन्यान सहकारं) उसका सारा परिणमन, क्रिया भाव पर्याय अज्ञान से ढका रहता है और वह उसी रूप सहकार करता है अर्थात् जैसे कर्म का उदय होता है तथा जिस रूप निमित्त संयोग मिलते हैं वह उसी में रत रहता है (परिणइ सहाव न दिहुं) उसका परिणमन निज आत्म स्वभाव की ओर नहीं होता है, न वह उसको देखता, न श्रद्धान करता है (तिरिय गए कुदेव जानेहि) जिससे वह तिर्यच गति में जाता है अथवा भवनवासी व्यंतर आदि कुदेव होता है।

(दर्शन मोहंध सुभावं) दर्शन मोहंध की ऐसी परिणति होती है (हितकारस्य अन्यान सहकारं) कि वह अज्ञान में, संसारी प्रपंच में रहना ही अपने लिये हितकारी मानता है, कोई हित की बात कहता है तो विपरीत मानता है (हेयं कंहंपि न दिहुं) उसको त्यागने योग्य क्या है, किसकी बात

मानना चाहिये यह कुछ भी दिखलाई नहीं पड़ता, वह अपनी मनमानी करता है (विकलत्तय अनेय कालम्भि) इससे अनेक काल तक विकलत्रय दो इन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक में जन्म-मरण करना पड़ता है।

(दर्शन मोहंध अंधं) दर्शन मोहंध ऐसा अंधा होता है (कोमल परिणाम न्यान आवरणं) कि उसके कोमल स्वभाव पर तथा ज्ञान पर मिथ्यात्व का परदा पड़ा रहता है (कोमल सहाव न दिष्टं) उसको सरल स्वभावी आत्मा की प्रतीति नहीं होती, उस तरफ देखता ही नहीं है (निगोय वासं अनेय कालम्भि) जिससे अनेक काल तक निगोद में वास करना पड़ता है।

विशेषार्थ - दर्शन मोहंध अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव का ऐसा स्वभाव होता है कि उसका सारा परिणामन क्रियारूप, भावरूप, पर्यायरूप जो भी कर्मोदय जन्य परिणामन चलता है वह उसका कर्ता भोक्ता बना रहता है जिससे शुभाशुभ कर्मों का ही निरंतर बंध करता है जिससे अगले भव में या तो पशु हो जाता है या देवयोनि व्यंतर भवनवासी कुदेव होता है।

दर्शन मोहंध की ऐसी परिणति होती है कि वह संसारी प्रपंच विषय, कषाय, पाप आदि को हितकारी मानता है। यदि कोई हित की बात कहता है, धर्म की आत्मा की चर्चा करता है तो वह न उस बात को सुनता है, न मानता है, उसे हेय-उपादेय का कोई ज्ञान नहीं होता, भेदविज्ञान का तो श्रद्धान ही नहीं करता है। मिथ्याज्ञान से ऐसा आचरण करता है जिससे अनेक काल तक विकलत्रय दो इन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक जन्म-मरण करता रहता है।

दर्शन मोहंध मिथ्यात्व में ऐसा अंधा होता है कि उसे अपने हिताहित का कोई होश नहीं होता, दुष्ट कठोर परिणाम, अनंतानुबंधी कषाय में ऐसा रत रहता है कि आत्मा-परमात्मा की बात तो दूर, मंद कषाय शुभ भाव का भी कोई विवेक नहीं करता, कठोर परिणामों से ऐसे कर्मों का बंध करता है कि अनेक काल तक निगोद में वास करना पड़ता है।

मिथ्यादृष्टि के ज्ञानावरण का ऐसा उदय होता है जिससे उसे भेदविज्ञान सम्बंधी ज्ञान नहीं हो पाता है। राग-द्वेष, मोह व विषय-कषाय त्यागने योग्य हैं, ऐसा ज्ञान नहीं होता है, जिससे उसके परिणामों में से कठोरता नहीं जाती। वह अपने स्वार्थ सिद्ध करने को हिंसक भाव का धारी होता है तथा उसके ज्ञान पर भी ऐसा परदा रहता है जिससे उसको आत्मा की व उसके मार्दव गुण सरल स्वभाव की प्रतीति नहीं होती वह पर्याय में रत रहता है,

जिससे कर्म बांधकर नीच निगोद आदि दुर्गतियों में जन्म-मरण करता है।

ऐसी दुर्लभ मनुष्य देह मिली और ऐसा वीतराग मार्ग महाभाग्य से मिला है अतः मिथ्यात्व अज्ञान रूप दर्शन मोह को दूर करने के लिये आत्मा को पहिचानने का प्रयत्न करना चाहिये, पांच इन्द्रियों के रस रूप बोझ को हटाकर आत्मा को पहिचानने के विचार में लगना चाहिये। अंतर में अनंत आनंद आदि स्वभाव भरा है, ऐसे स्वभाव की महिमा आये, पहिचान हो तो अंतर पुरुषार्थ स्फुरित हुए बिना रहे ही नहीं।

अज्ञानी को पहले वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कर आत्मा का भान करना चाहिये, यह सम्यक्दर्शन प्राप्त करने का सच्चा उपाय है, शुभाशुभ रूप क्रियाकांड करना वह सच्चा उपाय नहीं है।

एक आत्मा ही सार है, व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प सार नहीं, एक समय की पर्याय भी सार नहीं है। सार का सार उपदेश शुद्ध का सार तो एक शुद्धात्मा ही है। तीन लोक में सार का सार एक आत्मा ही है। इसके सिवाय अन्य सब कुछ निस्सार है। पैसा, लक्ष्मी, चक्रवर्ती पद, इन्द्र पद यह सभी निस्सार हैं, एक चैतन्य तत्त्व ही जगत में सार है।

प्रश्न - ऐसे तीन लोक में सारभूत निज शुद्धात्म स्वरूप को दर्शन मोहंध स्वीकार क्यों नहीं करता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

दर्शन मोहंध सहियं, न्यानं आवर्न देइ दिस्टं च।

दिस्टि सहाव न दिस्टं, थावर गइ अनेय कालम्भि ॥ २२१ ॥

न्यान आवरण स उत्तं, दर्शन मोहंध देई सहकारं।

संसार सरनि बूडं, चौगइ संसार भावना होई ॥ २२२ ॥

अन्वयार्थ - (दर्शन मोहंध सहियं) जो मिथ्यादृष्टि दर्शनमोह के उदय सहित होता है (न्यानं आवर्न देइ दिस्टं च) वह अपनी मिथ्यादृष्टि, विपरीत मान्यता से ज्ञान पर आवरण डालता है अर्थात् आत्मा की चर्चा न करता है, न सुनता है, भेदविज्ञान और धर्म की चर्चा में बाधा डालता है (दिस्टि सहाव न दिस्टं) वह अपने आत्म स्वभाव को नहीं देखता और न उसका श्रद्धान करता है (थावर गइ अनेय कालम्भि) जिससे वह दीर्घकाल तक स्थावर काय में जन्मता है।

(न्यान आवरण स उत्तं) उसे ही ज्ञान का आवरण कहते हैं जो (दर्शन मोहंध देई सहकारं) दर्शन मोहंध के सहकार से होता है अर्थात् मिथ्यादर्शन के साथ मिथ्याज्ञान ही होता है जिससे (संसार सरनि बूडं) संसार समुद्र में डूबता है (चौगइ संसार भावना होई) और चारों गति रूप संसार परिभ्रमण की भावना होती है।

विशेषार्थ - मिथ्यादृष्टि को आत्म स्वरूप का श्रद्धान न होने से वह दर्शन मोह में अंधा अज्ञानी रहता है तथा अज्ञान का ही प्रचार करता है अर्थात् बाह्य क्रियाकांड पुण्य-पाप में ही लगा रहता है और इसी को धर्म मानता है तथा दूसरों को बताता है इससे तीव्र ज्ञानावरण कर्म को बांधता है। जब तक मिथ्यात्व का तीव्र उदय रहता है तब तक स्व-पर का यथार्थ ज्ञान भी नहीं होने पाता है। वह पर्याय में अहंकार करके रात-दिन शरीर के सुख में मग्न रहता है। कभी कुछ पुण्य बांध लेता है तो देव गति, मनुष्य गति में जन्मता है और यदि पाप बांधता है तो पशु गति और नरक गति में चला जाता है।

दर्शन मोह से ज्ञान पर आवरण डालकर संसार समुद्र में डूबता रहता है। सम्यक्ज्ञान मोक्ष का कारण है वह सम्यक्दर्शन के साथ होता है। भेदज्ञान पूर्वक निज शुद्धात्मानुभूति ही निश्चय सम्यक्दर्शन है, इसके होने पर ही सम्यक्ज्ञान होता है तभी इस संसार परिभ्रमण से छुटकारा होता है।

सम्यक्दर्शन पूर्वक सम्यक्ज्ञान होता है तथा सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान पूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है और इन तीनों की एकता अर्थात् तीनों का एक साथ होना ही मोक्षमार्ग है।

सम्यक्ज्ञान का आभूषण यह परमात्म तत्त्व समस्त विकल्प समूह से सर्वथा मुक्त है। ध्रुवतत्त्व में अनेक प्रकार के विकल्पों के समूह का अभाव है। सर्वनय संबंधी अनेक प्रकार के विचार भी प्रपंच हैं, यह भी त्रिकाली परमात्म तत्त्व में नहीं हैं। इन विकल्पों की बात तो दूर परंतु शुद्ध पर्याय की श्रेणी निर्मल पर्याय की धारा रूप ध्यानावली का भी परमात्म तत्त्व में अभाव है।

स्वयं को आत्मज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव प्रमाण हुआ हो, राग से भिन्न पड़कर ज्ञान स्वरूपी भगवान का, अतीन्द्रिय आनंद का वेदन हुआ हो उसी का नाम सम्यक्दर्शन है तथा ज्ञान में यह आत्मा पर की अपेक्षा बिना प्रत्यक्ष जाना गया हो, जानने वाले को स्वयं को आत्मा प्रत्यक्ष हुआ हो, वेदन में आया हो उसी को सम्यक्ज्ञान कहते हैं तभी इस प्रत्यक्षता सहित अनुमान से

अन्य को जान सकते हैं; परंतु जिन्हें आत्मा प्रत्यक्ष ही नहीं हुआ ऐसे अन्यो द्वारा केवल अनुमान से ही आत्मा ज्ञात होने योग्य नहीं है। अज्ञानी स्वच्छंदी ही है, मिथ्यात्व है सो ही महान पाप और स्वच्छंद है। संसार में शुभाशुभ भाव हैं सो दुःख रूप हैं, उनके फल में चारों गतियां मिलती हैं, उनमें अनेक प्रकार के दुःख व आकुलता होती है। ऐसा अंतरंग में वेदन होना चाहिये, शुभाशुभ भाव दुःख रूप ही हैं ऐसा लगने पर ही संसार से थकान लगती है और तभी सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र पूर्वक मुक्ति मार्ग प्रारंभ होता है।

प्रश्न - सम्यक्चारित्र क्या है, उसका स्वरूप क्या है ? दर्शन मोहंध इसका कैसा पालन करता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

दर्शन संमिक दर्स, संमिक न्यानं च दर्सए सुद्धं ।

न्यानं दंसन चरनं, दर्सन मोहंध चरन आवरनं ॥ २२३ ॥

दर्सन न्यान संजुत्तो, चरनं दुविहंपि संजदो होइ ।

दर्सन मोहंध असत्यं, चरनं आवरण सरनि संसारे ॥ २२४ ॥

अन्वयार्थ - (दर्शन संमिक दर्स) आत्मानुभूति युत श्रद्धान सम्यक् दर्शन है (संमिक न्यानं च दर्सए सुद्धं) और शुद्धात्म स्वरूप की यथार्थ प्रतीति सम्यक्ज्ञान है (न्यानं दंसन चरनं) सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान सहित सम्यक्चारित्र होता है (दर्सन मोहंध चरन आवरणं) दर्शन मोहंध के चारित्र पर आवरण रहता है।

(दर्सन न्यान संजुत्तो) सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान से संयुक्त होकर भव्य जीव (चरनं दुविहंपि संजदो होइ) दो प्रकार के चारित्र को धारण कर संयमी होता है (दर्सन मोहंध असत्यं) दर्शन मोहंध ऊपर से बनता है अर्थात् बाह्य संयम धारण करता है (चरनं आवरण सरनि संसारे) सम्यक्चारित्र पर आवरण डालकर संसार में ही परिभ्रमण करता है।

विशेषार्थ - आत्मानुभूति युत श्रद्धान सम्यक्दर्शन है और शुद्धात्म स्वरूप की यथार्थ प्रतीति सम्यक्ज्ञान है, सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान सहित सम्यक्चारित्र होता है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीनों की एकता मोक्षमार्ग है।

सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान सहित जो भव्य जीव दो प्रकार के चारित्र को धारण कर संयमी होता है वह मुक्ति मार्ग का पथिक है।

व्यवहार में अणुव्रत, महाव्रत क्रमशः श्रावक व साधु का आचरण पाला जाता है क्योंकि सम्यक्त्व के साथ ज्ञान और चारित्र का प्रकाश हो जाता है तथापि अभी पूर्ण सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का होना शेष रह जाता है।

चौथे गुणस्थानवर्ती को अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन ऐसे बारह कषाय और हास्यादि नौ नोकषाय का उदय रहता है, इनको दूर करने के लिये बहिरंग साधु व श्रावक का चारित्र व अंतरंग आत्मध्यान रूप चारित्र को धारणा पड़ता है। बिना स्वरूप गुप्ति आत्मध्यान के कर्मों की निर्जरा नहीं होती और संसार का भ्रमण दूर नहीं होता है।

दर्शन मोहांध मिथ्यादृष्टि अंतरंग में आत्म प्रतीति न रखता हुआ बाहर से श्रावक या मुनि का चारित्र पालता है तो वह सब मिथ्याचारित्र होता है जिससे संसार परिभ्रमण ही करना पड़ता है।

सम्यक्दृष्टि भव्य जीव दर्शन मोह और चारित्र मोह को नाशकर बाधा रहित, उपमा रहित, जन्म-मरण से रहित निर्विघ्न मोक्ष सुख को प्राप्त होता है।

मिथ्यादर्शन से सहित प्राणी को यदि देवेन्द्र पद भी मिल जावे तो क्या लाभ है क्योंकि वह देवेन्द्र पद छूटने के पीछे एकेन्द्रिय स्थावर काय में उत्पन्न होता है इसलिये वह पदवी अहितकारी है। सम्यक्दर्शन सहित यदि नरक का वास मिल जावे तो श्रेष्ठ है क्योंकि नरक से निकलकर मनुष्य भव प्राप्त होगा कि जिसमें धर्म साधनाकर कर्मों का नाश करके अविनाशी मोक्षपद को प्राप्त किया जा सकता है।

शील का पालन, बारह प्रकार के तपों का तपना, चतुर्विध संघ को दान देना और पंच परमेष्ठियों की पूजा भक्ति करना, संयम को धारण कर पालन करना, व्रत धारणा, अनेक प्रकार के उपवास करना, यदि यह सम्यक्दर्शन से विभूषित हैं तो मोक्षसुख के कारण हैं। यदि यही आचरण मिथ्यादर्शन सहित किये गये हैं तो पुण्यरूप तो हैं परंतु कर्मों का नाश नहीं कर सकते तब अनंत संसार की वृद्धि के ही कारण हैं।

इसी की विशेषता रूप आगे गाथा कहते हैं -

दर्शन न्यान अनन्तं, अनन्त वीरी अनन्त चरनानि।

दर्शन मोहांध पज्जावं, चरनं आवरन दुग्गए पत्तं ॥ २२५ ॥

अन्वयार्थ - (दर्शन न्यान अनन्तं) सम्यक्दर्शन सहित, सम्यक्चारित्र का पालन करने से अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान (अनन्त वीरी अनन्त चरनानि) अनंत वीर्य, अनंत सुख स्वरूप, अनंत चतुष्टय परमात्म पद प्रगट होता है (दर्शन मोहांध पज्जावं) दर्शन मोहांध पर्याय में रत रहता है जिससे (चरनं आवरन दुग्गए पत्तं) चारित्र पर आवरण डालकर दुर्गति का पात्र बनता है।

विशेषार्थ - सम्यक्दृष्टि जीव जब सम्यक्चारित्र में उन्नति करता है, शुक्ल ध्यान को जाग्रत करता है तब चार घातिया कर्मों को क्षय करके अनंत चतुष्टय का धारी केवलज्ञानी अरिहंत सर्वज्ञ परमात्मा हो जाता है। दर्शन मोहांध मिथ्यादृष्टि जीव शरीर में रत रहता है। मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय सहित बाह्य चारित्र का अहंकार करता हुआ दुर्गति में चला जाता है।

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मयी आत्मा स्व समय है, शुद्धात्म स्वरूप है। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र से युक्त, कर्म के उदय का फल भोगने में आसक्त चित्त आत्मा पर समय है।

संसारी भव्य प्राणी का परोपकारी सदा हित करने वाला, अहित का नाश करने वाला और अविनाशी शाश्वत सुख में ले जाकर धरने वाला सम्यक्दर्शन परम मित्र है।

संसारी जीवों का संसार में मिथ्यादर्शन मोह ही प्रबल बैरी है, जो बहुत काल तक दुःख, जन्म-मरण, रोग, संयोग-वियोग रूप अनेक प्रकार के दुःख और दुर्गति देता है।

प्रश्न - यह सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र कैसे होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

दर्शन अरूव रूवं, न्यानं च रूव चरन चारित्तं।

सम्मत्त चरन चरनं, संजम चरनानि सुद्ध संजुत्तं ॥ २२६ ॥

अन्वयार्थ - (दर्शन अरूव रूवं) अरूपी आत्मा के स्वरूप को देखना, अनुभूति करना सम्यक्दर्शन है (न्यानं च रूव चरन चारित्तं) और आत्मा के सत्स्वरूप को जानना सम्यक्ज्ञान है तथा स्वरूप में लीन रहना ही सम्यक्चारित्र है (सम्मत्त चरन चरनं) एक सम्यक्त्वाचरण चारित्र होता है

(संजम चरनानि सुद्ध संजुत्तं) दूसरा संयमाचरण चारित्र होता है, शुद्धोपयोग की स्थिति ही सम्यक्चारित्र है।

विशेषार्थ - निश्चय नय से निज आत्मा का द्रव्यदृष्टि से श्रद्धान सम्यक्दर्शन है उसी का यथावत् ज्ञान सम्यक्ज्ञान है। ज्ञान स्व-पर प्रकाशक होता है, स्व-पर का यथार्थ स्वरूप सम्यक्ज्ञान में आ जाता है। निज शुद्धात्म स्वरूप में लीन रहना ही सम्यक्चारित्र है, इन तीनों की एकता को आत्मध्यान, आत्मानुभव सम्यक्त्वाचरण व निश्चय संयमाचरण तथा शुद्धोपयोग कहते हैं, यही कर्म क्षय कारक मोक्षमार्ग परमानंदमयी परमात्म पद का दाता है।

स्वभाव की महिमा से पर पदार्थों के प्रति रसबुद्धि, सुखबुद्धि टूट जाती है। स्वभाव में ही रस आता है तब दूसरा सब नीरस लगता है तभी अंतर की सूक्ष्म संधि ज्ञात होती है, यही सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान है। ऐसा नहीं होता है कि पर में तीव्र रुचि हो और उपयोग अंतर में प्रज्ञा छैनी का कार्य करे। व्रत, तप, त्यागादि भले हों पर वे साधन नहीं होते, साधन तो प्रज्ञा होती है।

शुभाशुभ भाव से भिन्न मैं ज्ञायक हूँ यह प्रत्येक प्रसंग में याद रखना, भेदज्ञान का अभ्यास करना ही मनुष्य जीवन की सार्थकता है। भूमिकानुसार बाह्य वर्तन होता है परंतु प्रत्येक संयोग में ज्ञान वैराग्य शक्ति कोई और ही रहती है। मैं तो ज्ञायक ही हूँ ऐसी निःशंकता होती है, ऐसा अचल निर्णय होता है तब स्वरूप अनुभव में अत्यंत निःशंकता वर्तती है यही सम्यक्चारित्र मुक्ति मार्ग है।

अतीन्द्रिय आनंद के वेदन में, आनंद स्वरूप प्रभु को, पर से भिन्न, दया, दानादि के भाव से स्पष्ट भिन्न देखने में आता है। शास्त्र सुनकर अथवा धारणा से उसे भिन्न जाना है ऐसा नहीं; क्योंकि यह तो राग मिश्रित जानना है परंतु राग से भिन्न निर्मल भेदज्ञान के प्रकाश द्वारा आत्मा को भिन्न देखना वही भिन्न जानना कहलाता है।

दर्शन है क्या ? निर्मूर्त आत्म राम का श्रद्धान रे ।

रे ज्ञान क्या, अदृश्य से ही भली विधि पहिचान रे ॥

चारित्र क्या है, आत्मा में रमण ही चारित्र है ।

इन तीन योगों का मिलन ही, आत्म ध्यान पवित्र है ॥

प्रश्न - दर्शन मोहांध इस प्रकार भिन्न अपने आत्म स्वरूप को क्यों नहीं जानता ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

तस्य दिस्टि आवरनं, आवरनं मुक्ति ममल मगस्य ।

व्रत तव किरियं च अनिस्टं, चरनं आवरन थावरं पत्तं ॥ २२७ ॥

चरनं चरिय तवत्तं, चरनं संसार सरनि मुक्तस्य ।

दर्सन मोहांध सुभावं, अत्रित चरनं नरय वासम्मि ॥ २२८ ॥

अन्वयार्थ - (तस्य दिस्टि आवरनं) उसकी दृष्टि पर आवरण है अर्थात् दर्शन मोहनीय मिथ्यात्व का पर्दा पड़ा है, जिससे वह अपने आत्म स्वरूप को नहीं देखता (आवरनं मुक्ति ममल मगस्य) मुक्ति के सही मार्ग अपने ममल स्वभाव पर पर्दा पड़ा है अर्थात् उसके परिणामों में ममल मोक्षमार्ग का ज्ञान श्रद्धान नहीं है (व्रत तव किरियं च अनिस्टं) वह व्रत तप आदि क्रियाओं का पालन करता है तो भी वह संसार में भ्रमण कराने वाली हैं (चरनं आवरन थावरं पत्तं) जिसके अंतर में आत्म ध्यान रूपी चारित्र का प्रकाश नहीं है अर्थात् सम्यक्चारित्र पर आवरण पड़ा है वह संसार में रत स्थावर योनि में जन्म पाता है।

(चरनं चरिय तवत्तं) जो सम्यक्चारित्र का पालन करता है, अपने आत्म स्वरूप में लीन रहता, तप आदि पालता है (चरनं संसार सरनि मुक्तस्य) यह सम्यक्चारित्र संसार परिभ्रमण से मुक्त करने वाला है (दर्सन मोहांध सुभावं) दर्शन मोहांध का स्वभाव विपरीत होता है (अत्रित चरनं नरय वासम्मि) वह मिथ्याचारित्र का पालन करता है, हिंसादि को धर्म मानता है, आर्त-रौद्र ध्यान में रत रहता है जिससे नरक में वास करना पड़ता है।

विशेषार्थ - सम्यक्दर्शन सहित जो धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान रूपी चारित्र है वह मोक्ष का मार्ग है, वह कर्मों को क्षय कर संसार से छुड़ाने वाला है। जहाँ मिथ्यादर्शन सहित मिथ्याचारित्र है कुतप है, कुध्यान है, परिणामों में आर्त-रौद्र ध्यान है वह सब दुर्गति ले जाने वाला संसार का कारण है।

दर्शन मोहांध की दृष्टि पर मिथ्यात्व का आवरण होता है उसको ममल मोक्षमार्ग का ज्ञान श्रद्धान नहीं है। मिथ्यात्व सहित व्रत तपादि क्रियाओं का पालन करता है, यदि ऐसे व्रतों से स्वर्ग में देव भी हो जावे तो वहाँ से आकर स्थावर होता है क्योंकि बिना सम्यक्त्व के सही मोक्षमार्ग का लाभ नहीं हो सकता, वीतरागता बिना कर्म क्षय नहीं होते।

द्रव्यलिङ्गी विषय सेवन छोड़कर तपश्चरण करे तो भी वह असंयमी है क्योंकि उसका तो प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान है। दर्शन मोहांध मिथ्यादृष्टि साधु नौ कोटि बाड़ ब्रह्मचर्य का पालन करे, मंद कषाय करे परंतु आत्मा का भान न होने से संसार में ही परिभ्रमण करता है।

जिनके अंतर में भेदज्ञान रूपी कला जागी है, चैतन्य के आनंद का वेदन हुआ है, ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा सहज वैरागी हैं। अभी जिसको अंतर में आत्मभान ही न हो, तत्त्व संबंधी कुछ भी विवेक न हो वह बाह्य में व्रत तपादि क्रिया करे और अपने को ज्ञानी चारित्रवंत माने तो वह स्वच्छंदता का पोषण करता है।

अज्ञानी कदाचित् व्यवहार धारणा तो करता है परंतु अंतर्दृष्टि नहीं करता जिस कारण से वह अप्रयोजन भूत तत्त्व को ही जानता है, उसकी भ्रम बुद्धि रहती है।

राग रहित सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता रूप वीतराग भाव ही धर्म है। मैं ज्ञायक हूँ ऐसे स्वभाव के श्रद्धान ज्ञान पूर्वक जितना वीतराग भाव हुआ उतना संवर धर्म है तथा उसी समय जो रागांश है वह आस्रव है। धर्मी जीव उन दोनों को भिन्न-भिन्न जानता है।

प्रश्न - दर्शन मोहांध का चारित्र क्या सब व्यर्थ ही जाता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

चरनं पि सुद्ध चरनं, पषिक चरन पषि मोहंधं ।

पषि प्रवेस उवन्नं, चरनं आवरन पषि उववन्नं ॥ २२९ ॥

दर्सन मोहंध स उत्तं, चरनं आवरन अत्रितं दिस्टं ।

अनाचार अन्यानं, चरनं आवरन निगोय वासम्मि ॥ २३० ॥

अन्वयार्थ - (चरनं पि सुद्ध चरनं) चारित्र वही है जो शुद्ध चारित्र, सम्यक्चारित्र हो (पषिक चरन पषि मोहंधं) किसी पक्ष का चारित्र पक्ष के मोह में अंधा करता है अर्थात् सम्प्रदायवाद के पक्ष को लेकर जो व्यवहार चारित्र पाला जाता है। भेष, क्रिया, आडंबर किया जाता है वह पक्ष के मोह में अंधा करता है वह शुद्ध चारित्र नहीं है (पषि प्रवेस उवन्नं) जहाँ जाति, सम्प्रदायगत पक्षभाव का प्रवेश उत्पन्न हो जाता है (चरनं आवरन पषि उववन्नं) वहाँ सम्यक्चारित्र पर आवरण हो जाता है, पर्दा पड़ जाता है और पक्षपात पैदा हो

जाता है।

(दर्सन मोहंध स उत्तं) उसी को दर्शन मोहांध कहते हैं जो (चरनं आवरन अत्रितं दिस्टं) अपने आत्म स्वभाव रूप चारित्र पर आवरण डालकर पक्षपात में फंसकर बाहरी क्रिया वेषभूषा आदि देखता है और उसका पालन करता है (अनाचार अन्यानं) इस पक्षपात रूप बाह्य चारित्र से अनाचार, अन्याय, हिंसा, बैर विरोध बढ़ता है (चरनं आवरन निगोय वासम्मि) इस प्रकार सम्यक्चारित्र पर आवरण डालकर दर्शन मोहांध पक्षपात रूप मिथ्याचारित्र का पालन कर निगोद में पहुँच जाता है।

विशेषार्थ - सम्यक्दृष्टि का जो चारित्र है वह शुद्ध चारित्र, सम्यक्चारित्र होता है, वह अपनी शक्ति संहनन पात्रता देखकर बाहर में श्रावक या मुनि का चारित्र पालते हुए शुद्धोपयोग में रमण का उत्साह रखता है। वह आत्मानुभव को ही चारित्र जानता है, मैं मुनि हूँ, श्रावक हूँ इस अहंकार को मिथ्यात्व समझता है।

दर्शन मोहांध मिथ्यादृष्टि, इस शुद्ध वीतराग चारित्र को कषायों के उदय से यथार्थ न समझकर, किसी मत का पक्ष रखता हुआ, तपसी का, दंडी का, श्रावक का या मुनि का भेष बना लेता है और बाहर से उसी पक्ष सम्प्रदाय के अनुसार क्रियाकांड आडंबर में उलझ जाता है, भीतर परिणामों की पहिचान नहीं रखता, आत्मानुभूति होती नहीं है, इससे वह अहंकार में भर जाता है; और पक्षपात में फंसकर बैर विरोध हिंसा अन्याय अनाचार करता हुआ अपने को धर्मात्मा मानता है, ऐसे चारित्र को मिथ्याचारित्र ही कहते हैं जिसका परिणाम निगोद वास होता है।

जो ममल स्वभावी शुद्धात्मा है, ऐसे निज चैतन्य स्वरूप की जिसे महिमा है उसे सम्यक्दृष्टि कहते हैं और उसे दया दान आदि के राग की व उनके फल की पुण्य की महिमा नहीं होती। जिन्हें दया दान आदि के राग की व अनुकूल पुण्य फल की महिमा है, उन्हें सुख समूह रूप आनंद कंद भगवान आत्मा की महिमा नहीं आती। जिनको व्यवहार रत्नत्रय के शुभराग की, देव गुरु शास्त्र की अंतर में महिमा वर्तती है उनको निमित्त का जिसमें अभाव है, राग का जिसमें अभाव है, ऐसे स्वभाव भाव की महिमा नहीं है जिससे उन्हें पर्याय में आनंद नहीं आता। जिनको शुभ भाव से लेकर बाहर में किसी घटना, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की अधिकता आश्चर्य और महिमा लगती है

उनको सम्यक्दर्शन नहीं होता ।

सम्यक्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को जानकर, उसकी प्रतीति कर स्वरूपाचरण कर ऐसा अनुभव करता है कि मैं तो चैतन्य मात्र ज्योति हूँ, शुद्ध बुद्ध चैतन्य घन ज्ञान ज्योति सुख धाम मैं हूँ । चैतन्य ज्ञान दर्शन मात्र ज्योति हूँ, मैं रागादि रूप बिल्कुल नहीं हूँ । धर्मी स्वयं को चैतन्य मात्र ज्योतिरूप आत्मा मानते हैं । अपने को रागरूप, शरीरादि पर्याय रूप नहीं मानते और न उसके कर्ता भोक्ता बनते ।

साधक जीव को भूमिकानुसार देव गुरु शास्त्र की महिमा भक्ति, श्रुत चिंतवन, अणुव्रत, महाव्रत आदि के शुभ विकल्प आते हैं तद्रूप पर्यायी परिणमन भी होता है परंतु वे उन्हें इष्ट, हितकारी उपादेय नहीं मानते हैं वे भी ज्ञायक परिणति में बोझ रूप, भार रूप विकल्प हैं ।

प्रश्न - क्या सम्यक्चारित्र में बाह्य चारित्र को कोई स्थान नहीं है ?

समाधान - त्रिकाली ध्रुव शुद्धात्म तत्त्व के अनुभव से सम्यक्दर्शन ज्ञान होता है और निज स्वभाव में रहने पर ही सम्यक्चारित्र होता है, उसकी लीनता से केवलज्ञान होता है । धर्मी की दृष्टि उसके स्वभाव पर से हटती नहीं है, यदि यह दृष्टि वहाँ से हटकर वर्तमान पर्याय में रुके, एक समय की पर्याय की रुचि हो जाये तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है । ज्ञानी मोक्षमार्गी वह है जिसकी पर्याय में वीतरागता प्रगट होने पर भी वह पर्याय में रुकता नहीं, उसकी दृष्टि तो त्रिकाली ध्रुव पर ही टिकी है । इस सम्यक्चारित्र की साधना में भूमिकानुसार बाह्य चारित्र होता है परंतु उसकी अपेक्षा या लक्ष्य नहीं रहता । जैसे मनुष्य के चलने पर उसकी छाया (परछाई) अपने आप चलती है, जैसे किसान के बीज बोने पर अंकुर, पत्ती, टहनी, फूल, फल अपने आप होते हैं, अनाज के साथ भूसा सहज ही आता है, वैसे ही मोक्षमार्गी सम्यक्दृष्टि ज्ञानी के सम्यक्चारित्र के साथ भूमिकानुसार बाह्य चारित्र अणुव्रत, महाव्रत अपने आप होते हैं ।

प्रश्न - क्या बाह्य चारित्र पालन करने वाले की कभी मुक्ति नहीं होती ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

चरनं पि ममल चरनं, चरनं संजुत मुक्ति गमनं च ।

दर्शन मोहंध अभावं, चरनं आवरन दुष्य वीयम् ॥ २३१ ॥

चरनं सुद्ध सहावं, सुद्धं सहकार कम्म षिपनं च ।

दर्शन मोहंध असुद्धं, चरनं आवरन सरनि संसारे ॥ २३२ ॥

चरनं इस्ट संजोयं, इस्टं संजोइ नन्त दरसेई ।

दर्शन मोहंध अनिस्टं, चरनं आवरन नरय वीयम् ॥ २३३ ॥

अन्वयार्थ - (चरनं पि ममल चरनं) ममल चारित्र को चारित्र कहते हैं (चरनं संजुत मुक्ति गमनं च) सम्यक्चारित्र का पालन करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है (दर्शन मोहंध अभावं) दर्शन मोहंध को सम्यक्चारित्र का अभाव होता है अर्थात् मिथ्यादृष्टि को सम्यक्चारित्र होता ही नहीं है वह (चरनं आवरन दुष्य वीयम्) आत्मानुभूति रहित बाह्य चारित्र का पालन कर संसार रूपी दुःखों का बीज बोता है ।

(चरनं सुद्ध सहावं) अपने शुद्ध स्वभाव में रहना ही सम्यक्चारित्र है (सुद्धं सहकार कम्म षिपनं च) शुद्ध वीतराग चारित्र के सहकार से कर्मों का क्षय होता है (दर्शन मोहंध असुद्धं) दर्शन मोहंध मिथ्यादृष्टि का चारित्र अशुद्ध, मिथ्याचारित्र होता है (चरनं आवरन सरनि संसारे) सम्यक्चारित्र का आवरण होने से संसार में ही भ्रमण करता है ।

(चरनं इस्ट संजोयं) अपने इष्ट निज शुद्धात्मा का ध्यान ही सम्यक्चारित्र है (इस्टं संजोइ नन्त दरसेई) निज शुद्धात्मा का ध्यान, उसी में रमणता होने से अनंत चतुष्टय स्वरूप दिखाई देता है अर्थात् केवलज्ञान प्रगट होता है (दर्शन मोहंध अनिस्टं) दर्शन मोहंध इसके विपरीत संसार का आर्त-रौद्र ध्यान करता है (चरनं आवरन नरय वीयम्) ऐसे अनिष्ट ध्यान से चारित्र पर आवरण डालकर नरक का बीज बोता है ।

विशेषार्थ - आत्म श्रद्धान पूर्वक जो श्रावक या मुनि का निर्दोष चारित्र पाला जावे तथा आत्मध्यान का अभ्यास किया जावे वह सम्यक्दर्शन पूर्वक सम्यक्चारित्र मोक्ष का कारण होता है परंतु जहाँ मिथ्यात्व है, दर्शन मोहंधपना है वहाँ सम्यक्चारित्र अर्थात् आत्म स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण है ही नहीं, वहाँ बाह्य चारित्र को ही धर्म और मुक्ति मार्ग माना जाता है जो कर्मबंध और दुःखों का हेतु है ।

जब वीतराग चारित्र शुद्धात्मा में रमणता होती है तब ही कर्मों की निर्जरा होती है । मिथ्यादृष्टि आत्मज्ञान रहित है, उसका शुभ या अशुभ कोई भी

१५१

ही चारित्र अथवा तप है। जो वीतराग दशा प्रगट करे सो तप है। उस समय काय क्लेश होता है परंतु साधक तो उससे आत्मा में होने वाली विभाव परिणति के संस्कार को मिटाने का उद्यम करता है तथा अपने उपयोग को चारित्र में स्थिर करता है, बहुत उग्रता से स्तंभित करता है ऐसी उग्रता ही तप है, यह बाह्य अभ्यंतर भेद से बारह प्रकार का है।

यद्यपि तप भी चारित्र में गर्भित है तथापि विशेषता यह है कि इससे कर्मों का क्षय होता है। निश्चय तप आत्मा का अपने आत्मा में ही तपना है।

दर्शन मोहांध मिथ्यादृष्टि के ऊपर ऐसा कर्मों का आवरण है, जिससे वह मिथ्या बाह्य तप करता है, इससे कर्मों की निर्जरा नहीं होती अपितु कर्मों का बंध होता है और संसार में भ्रमता है। अनशन, ऊनोदर, वृत्ति परिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त सयनासन, काय क्लेश यह बाह्य तप हैं।

सम्यक्दृष्टि मुक्ति की प्राप्ति और रत्नत्रय की साधना हेतु तप करता है और इससे कर्म क्षय होते हैं। मिथ्यादृष्टि विषय भोग, पुण्य की इच्छा हेतु स्वर्गादि के सुख भोगने के लिये बाह्य तप करता है इससे नरक जाता है।

द्रव्यलिङ्गी साधु होकर भी जीव कहीं सूक्ष्म रूप से अटक जाता है, शुभ भाव की मिठास में रुक जाता है, यह राग की मंदता, यह अड्डाईस मूलगुण, बस यही मैं हूँ, यही मोक्ष का मार्ग है इत्यादि। किसी प्रकार संतुष्ट होकर अटक जाता है, पाप भाव को त्यागकर सब कुछ कर लिया ऐसा मानकर संतुष्ट हो जाता है।

द्रव्यलिङ्गी साधु ने मूल को ही नहीं पकड़ा है वह अपना आत्म स्वरूप नहीं जानता, उसने कुछ किया ही नहीं, परीषह सहन करे किंतु अंतर में कर्तृत्व बुद्धि नहीं टूटी, इससे संसार में ही परिभ्रमण करता है।

जिसने आत्मा को पहिचाना है, अनुभव किया है, उसको आत्मा ही सदा समीप वर्तता है, प्रत्येक पर्याय में शुद्धात्म तत्त्व ही मुख्य रहता है, साधक को पंचाचार, व्रत, नियम, संयम, तप इत्यादि शुभ भावों के समय भी भेदज्ञान की धारा, स्वरूप की शुद्ध चारित्र दशा निरंतर चलती ही रहती है, इसी की विशेषता रूप आगे गाथा कहते हैं -

अप्प सहावे निलयं, पर सहकार विमुक्त तव उत्तं।

कस्टं अनिस्ट रूवं, दर्सन मोहांध दुग्गए पत्तं ॥ २३६ ॥

तवं च अलष्य लष्यं, लषन्तो सहाव सुद्ध ममलं च।

संसार सरनि विरयं, दर्सन मोहांध सरनि संजुत्तं ॥ २३७ ॥

अन्वयार्थ - (अप्प सहावे निलयं) आत्मा के स्वरूप में तल्लीन होना (पर सहकार विमुक्त तव उत्तं) पर पदार्थ की भावना से मुक्त हो जाना तप कहा गया है (कस्टं अनिस्ट रूवं) इसके विरुद्ध शरीर को कष्ट देने रूप बाहरी तप तपना अनिष्ट, अहितकारी है (दर्सन मोहांध दुग्गए पत्तं) दर्शन मोहांध मिथ्या तप करके दुर्गति जाता है।

(तवं च अलष्य लष्यं) तप वही है जो अलख का लक्ष्य, अनुभव करता है (लषन्तो सहाव सुद्ध ममलं च) जिसमें शुद्ध ममल स्वभाव को देखता, ध्याता है वही सच्चा तप है, जिससे (संसार सरनि विरयं) संसार के परिभ्रमण से छूट जाता है (दर्सन मोहांध सरनि संजुत्तं) दर्शन मोहांध झूठे मिथ्या तपों का पालन कर संसार में ही परिभ्रमण करता है।

विशेषार्थ - आत्मा के अतिरिक्त जितने पुद्गलादि पर पदार्थ हैं तथा रागादि अशुद्ध भाव हैं उनको चित्त से हटाकर एक शुद्ध आत्मा के ध्यान में मग्न होना ही तप है। यदि ऐसा तप न हो और बाहरी काय को कष्ट दे व आर्त ध्यान करे तो वह मिथ्या तप है, दर्शन मोहांध ऐसा कुतप करके दुर्गति पाता है।

मन वचन काय तीनों के द्वारा आत्मा अनुभव में नहीं आता इसलिये अलख है, ऐसे सूक्ष्म आत्मा से, शुद्ध ममल स्वभाव का लक्ष्य, ध्यान किया जाये वही सच्चा तप है। यही तप संसार नाशक है और ऐसा तप सम्यक्दृष्टि ही कर सकता है। दर्शन मोहांध मिथ्यादृष्टि आत्मज्ञान से शून्य है वह बाहरी क्रिया कायक्लेश को तप मानता है, वह संसार का मोही है, इससे संसार में ही भ्रमता है।

मैं ही परमात्मा हूँ, जब ऐसा संस्कार जम जाता है, इसी की भावना की जाती है और इसमें दृढ़ता स्थिरता होती है तब आत्मा, आत्मा में ठहर जाता है, यही आत्म ध्यान रूपी यथार्थ तप है जिससे संसार परिभ्रमण छूटता है, कर्म क्षय होते हैं।

जिसे भवभ्रमण से छूटना हो उसे अपने को पर द्रव्य से भिन्न पदार्थ निश्चित करके अपने ध्रुव ज्ञायक स्वभाव की महिमा लाकर अपने ममल शुद्ध

स्वभाव में रहने का प्रयास करना चाहिये । ज्ञायक की ध्रुवधाम में दृष्टि जमने पर उसमें एकाग्रता रूप प्रयत्न करते-करते लीनता होती है यही सम्यक् तप है ।

संसार परिभ्रमण

अज्ञानी जीव ऐसे भाव से वैराग्य करता है कि यह सब क्षणिक है, सांसारिक उपाधि दुःख रूप है ऐसे भाव से वह घोर तप करता है परंतु कषाय के साथ एकत्व बुद्धि नहीं टूटी होने से आत्म प्रतपन प्रगट नहीं होता, इससे संसार में ही परिभ्रमण करता है ।

धर्मी जीव रोग की, वेदना की या मृत्यु की चपेट में नहीं आता क्योंकि उसने शुद्धात्मा की शरण प्राप्त की है । विपत्ति के समय वह आत्मा में से शांति प्राप्त कर लेता है, विकट प्रसंग में वह निज शुद्धात्मा की शरण विशेष लेता है । मरणादि के समय ज्ञानी जीव शाश्वत ऐसे निज ध्रुव धाम में विशेष जम जाता है ।

अज्ञानी जीव विषयों के कल्पित सुख की तीव्र लालसा में पड़कर गुरु के उपदेश की उपेक्षा करके शुद्धात्म रुचि नहीं करता तथा इतना काम कर लूं, ऐसा कर लूं इस प्रकार प्रवृत्ति के रस में लीन रहने से शुद्धात्म प्रतीति के उद्यम का समय नहीं पाता, इतने में मृत्यु का समय आ पहुंचता है तथा वह रोग की, वेदना की, मृत्यु की एकत्व बुद्धि की और आर्तध्यान की चपेट में आकर देह छोड़ता है और संसार में ही परिभ्रमण करता है ।

प्रश्न - इस संसार परिभ्रमण का कारण क्या है और इससे छूटने का उपाय क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

संसारे विरयंतो, संसारे सरनि सरंति नहु पिच्छं ।

न्यानी ससंक मुक्कं, दर्सन मोहंध ससंक ससरूवं ॥ २३८ ॥

संसार सरनि अत्रितं, हिंडति संसार पषिनो भावं ।

न्यानी ससंक विरयं, दर्सन मोहंध संक उप्पत्ती ॥ २३९ ॥

अन्वयार्थ - (संसारे विरयंतो) संसार से वैराग्य भाव रखता हुआ (संसारे सरनि सरंति नहु पिच्छं) संसार परिभ्रमण में कितना चक्कर लगाया इस ओर लक्ष्य नहीं रखता (न्यानी ससंक मुक्कं) ज्ञानी संसार परिभ्रमण की

शंका से मुक्त हो गया है (दर्सन मोहंध ससंक ससरूवं) दर्शन मोहांध मिथ्या दृष्टि अपने सत्स्वरूप में शंकावान होता हुआ संसार के भ्रमण की शंका रखता है ।

(संसार सरनि अत्रितं) संसार परिभ्रमण क्षणभंगुर नाशवान असत् है (हिंडति संसार पषिनो भावं) संसार में रूलने, संसार परिभ्रमण का कारण, पक्ष का भाव, व्यवहार, जाति संप्रदाय का भाव है (न्यानी ससंक विरयं) ज्ञानी सारी शंकाओं से छूट गया है (दर्सन मोहंध संक उप्पत्ती) दर्शन मोहांध को शंकायें पैदा होती रहती हैं ।

विशेषार्थ - जीव की अपने स्वरूप की विस्मृति, अज्ञान भाव ही संसार परिभ्रमण का कारण है । मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ, ऐसा ज्ञान न होने से तथा यह शरीर ही मैं हूँ, यह शरीरादि मेरे हैं और मैं इन सबका कर्ता हूँ, ऐसी मिथ्या मान्यता, दर्शन मोहांध ही संसार परिभ्रमण का कारण है । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव इस पंच परावर्तन को संसार कहते हैं, जिसमें जन्म-मरण करना ही परिभ्रमण कहलाता है । जिसे भेदज्ञान द्वारा स्व-पर का यथार्थ श्रद्धान ज्ञान हो जाता है वह सम्यक्दृष्टि ज्ञानी कहलाता है, वह जानता है कि इस शरीर आदि से भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी चेतन तत्त्व भगवान आत्मा हूँ, यह शरीरादि मैं नहीं और यह मेरे नहीं हैं । मैं ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा हूँ और पर्यायी परिणमन संसार सब असत् क्षणभंगुर नाशवान है ।

ज्ञानी निःशंकित निर्भय होता है, वह पर्यायी परिणमन संसार को कोई महत्व नहीं देता है । ज्ञानी को अपने सत्स्वरूप का दृढ़ श्रद्धान होता है कि मैं एक अखंड अविनाशी शुद्धात्मा परमात्मा हूँ । वह संसार परिभ्रमण को न देखता है, न उसका कोई विकल्प रखता है कि कितना संसार परिभ्रमण किया ? इन सबसे विरक्त, वैराग्य भाव से ज्ञानी अपने में निःशंकित रहता है कि अब मुझे संसार में रहना ही नहीं है, मुझे तो मुक्त ही होना है ।

मिथ्यादृष्टि दर्शन मोहांध को अपने स्वस्वरूप का ज्ञान, श्रद्धान नहीं है । वह शरीर, धन, परिवार रूपी संसार में आपा मानकर निरंतर शंकित और भयभीत रहता है । विषयों से व मोह माया से बहुत राग करता है इसलिये वह इस क्षणभंगुर संसार की पर्यायों में भ्रमण करता रहता है, उसको शंका भी रहती है, वह जाति सम्प्रदाय व्यवहार पक्षपात से बंधा रहता है, उसे कहीं आपत्ति न आ जाये, मर न जाऊँ इसका निरंतर भय बना रहता है, उसे न

धर्म का श्रद्धान होता है, न कर्म का विश्वास होता है।

संसार परिभ्रमण से छूटने का एक मात्र उपाय सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप निज सत्स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान ज्ञान ही है। अज्ञान संसार का कारण है, आत्म ज्ञान मुक्ति का कारण है।

प्रश्न - ज्ञानी-अज्ञानी का संसार के प्रति क्या दृष्टिकोण रहता है, वह क्या करते हैं ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

सरनि भाव उवलष्यं, व्रत तप किरियं च अन्यान सहकारं।

न्यानी तं विरयन्तो, अप्प सहावेन निसंक रूवेन ॥ २४० ॥

सरनस्य अनेय भावं, दानं किरियं च विकह रूवेन।

न्यानी तं विरयन्तो, ममल सहावेन निसंक सहकारं ॥ २४१ ॥

संसार मंत्र तंत्रं, टोटक सुभाव टेक नन्ताइं।

न्यानी विमुक्त भावं, न्यान सहावेन संक रहियं च ॥ २४२ ॥

अन्वयार्थ - (सरनि भाव उवलष्यं) अज्ञानी का लक्ष्य संसार के परिभ्रमण में कारणभूत भावों पर ही रहता है, उसके भावों से विषयानुराग नहीं जाता (व्रत तप किरियं च अन्यान सहकारं) वह मिथ्याज्ञान के ही द्वारा व्रत, तप व क्रियायें पालता है (न्यानी तं विरयन्तो) ज्ञानी संसार के कारणभूत भावों से, शुभ-अशुभ दोनों से विरक्त है (अप्प सहावेन निसंक रूवेन) वह निःशंक भावों से आत्मा के स्वभाव पर श्रद्धान रखता हुआ उसी में रत रहता है।

(सरनस्य अनेय भावं) संसार में भ्रमण के अनेक भाव होते हैं (दानं किरियं च विकह रूवेन) विकथा रूप से दान देना और अन्य क्रियायें पालना (न्यानी तं विरयन्तो) ज्ञानी इन बातों से विरक्त रहता है (ममल सहावेन निसंक सहकारं) ममल स्वभाव के श्रद्धान ज्ञान से निःशंक रहता है।

(संसार मंत्र तंत्रं) संसार के प्राणी मंत्र-तंत्र में फंसे रहते हैं (टोटक सुभाव टेक नन्ताइं) अनेक प्रकार के टोटके करते हैं, जरा-जरा सी बात में भयभीत रहते हैं, अनेक प्रकार के आग्रह मत मतान्तर, टेक अर्थात् जिद रखते हैं (न्यानी विमुक्त भावं) ज्ञानी इन भावों से विमुक्त रहता है (न्यान

सहावेन संक रहियं च) वह ज्ञान स्वभाव से निःशंक निर्भय रहता है।

विशेषार्थ - ज्ञानी संसार के प्रति उदासीन और विरक्त रहता है, ज्ञानी को संसार की किसी वस्तु, कोई पद और स्वर्गादि की कामना वासना नहीं है वह अपने में परिपूर्ण परमात्म पद का धारी स्वयं भगवान आत्मा है इससे निःशंकित रहता है। कुछ भी नहीं करता, अपने में शांत, स्वस्थ आनंद में रहता है।

अज्ञानी को संसार के प्रति आकर्षण है, उसे अपने सत्स्वरूप परमात्म पद का बोध न होने से वह संसारी कामना वासना के अभिप्राय से नाना प्रकार की क्रियायें करता है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि, इन्द्रिय विषय शारीरिक सुख के लक्ष्य से अनेक प्रकार के व्रत करता है, तपश्चरण करता है, बाहरी क्रियायें पालता है, इससे उसका संसार परिभ्रमण ही बढ़ता है क्योंकि शुभ-अशुभ भाव व क्रियायें, शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप कर्म बंध के ही कारण हैं, जब तक कर्म बंध होगा तब तक मुक्ति नहीं हो सकती। ज्ञानी सम्यक्दृष्टि सर्व संसार की वासनाओं से इन्द्र अहमिन्द्र चक्रवर्ती पद से भी विरक्त रहता है, अपने आत्म स्वभाव की दृढ़ श्रद्धा रखता है कि मैं स्वयं भगवान हूँ इससे निःशंक निःकांक्षित रहता है।

अज्ञानी संसार की भावना से कि मुझे मान सम्मान मिले, मनोनुकूल सुख मिले। वह स्त्री, पुत्र, राज वैभव, इन्द्र, चक्रवर्ती पद की कामना से अनेक प्रकार दान पुण्य और अनेक प्रकार की क्रियायें करता है, विकथाओं में रत रहता है, यह सब संसार परिभ्रमण को बढ़ाने वाले हैं।

सम्यक्दृष्टि ज्ञानी अपने ममल स्वभाव के दृढ़ श्रद्धान से निःशंकित रहता हुआ इन सब संसारी कामना-वासना से मुक्त सारी क्रिया कर्म आदि से विरक्त रहता है।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव अनेक प्रकार की शंकायें मन में रखते हैं कि कहीं पुत्र का मरण न हो, स्त्री का मरण न हो, व्यापार में हानि न हो, शरीर में रोग न हो इत्यादि शंकायें रखकर उनको दूर करने के लिये नाना प्रकार के मंत्र तंत्र टोटके करते कराते हैं, उनको यह विश्वास होता है कि ऐसा टोटका करेंगे, यह मंत्र जपेंगे, यह तंत्र करेंगे तो अमुक कार्य सिद्ध हो जायेगा जबकि यह सब भाव पाप बंध और संसार के कारण हैं।

ज्ञानी इन सब भावों से विमुक्त रहता है, न उसे कोई शंका होती है, न

कोई चाह होती है, उसे धर्म का दृढ़ श्रद्धान और कर्म का अटल विश्वास होता है कि जब जैसा जो कुछ होना है, उसे कोई टाल फेर बदल सकता नहीं है, कर्मोदय को कोई भी रोकने वाला नहीं है। मैं ध्रुव तत्त्व शुद्धात्मा हूँ, मेरा इन संसारी शरीरादि संयोग से कोई संबंध नहीं है, मैं अपने में परिपूर्ण परमात्मा हूँ, इससे निःशंकित निर्भय रहता है।

जिनके अंतर में भेदज्ञान रूपी कला जागी है, चैतन्य के आनंद का वेदन हुआ है ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा सहज वैरागी हैं, ऐसे ज्ञानी विषय कषायों में मग्न हों यह संभवित नहीं है। ज्ञानी के तो अंतर में चैतन्य सुख के अलावा समस्त विषय सुख के प्रति उदासीनता होती है।

जिन जीवों को विषयों में सुख बुद्धि है, संसार की कामना वासना है वे ज्ञानी नहीं हैं। अभी जिनको अंतर में आत्मभान ही न हो, तत्त्व संबंधी कुछ भी विवेक न हो, वह कितना ही व्रत तप उपवास दानादि क्रिया करे तो भी संसारी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि पापी ही है।

ज्ञानी-अज्ञानी के अभिप्राय में पूर्व-पश्चिम जैसा अंतर होता है। जिसकी दृष्टि सुलटी है उसका सब कुछ सुलटा है और जिसकी दृष्टि उलटी है उसका सारा ज्ञान उलटा है।

ज्ञानी जीव निःशंक तो इतना होता है कि सारा ब्रह्मांड पलट जाये तब भी वह स्वयं नहीं पलटता। ज्ञानी साधकों को संसार का कुछ नहीं चाहिये, वह संसार से विमुख होकर मोक्ष के मार्ग में चल रहे हैं, स्वभाव में सुभट हैं, अंतर से निर्भय हैं, उन्हें किसी कर्मोदय का भय नहीं है। अज्ञानी जीव शंकित और भयभीत रहता है, जरा-जरा सी बात में डरता, घबराता है और चाहे जैसा शुभ-अशुभ काम करने के लिये तैयार रहता है।

प्रश्न - अज्ञानी की यह स्थिति क्यों रहती है और इसका परिणाम क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

दर्शन मोहंध भावं, संसार सरनि धरंति सभावं ।

जिन वयनं नहु दिट्ठं, अनन्त संसार दुष्य वीयम्मि ॥ २४३ ॥

संसार भाव उवलण्यं, लाज भय गारवेन सभावं ।

जिन उत्तं नहु लण्यं, संसारे सरनि भावना होइ ॥ २४४ ॥

संसार सरनि सोधं, अभावं भाव सरनि सुविसुद्धं ।

जिन समयं नहु पिच्छइ, दर्शन मोहंध दुग्गए पत्तं ॥ २४५ ॥

अन्वयार्थ - (दर्शन मोहंध भावं) दर्शन मोहंध मिथ्यादृष्टि का यह भाव होता है (संसार सरनि धरंति सभावं) कि वह संसार में परिभ्रमण के स्वभाव को ही रखता है (जिन वयनं नहु दिट्ठं) वह जिन वचनों को नहीं देखता, न पढ़ता है, न सुनता, न श्रद्धान करता है (अनन्त संसार दुष्य वीयम्मि) अनंत संसार के दुःखों का बीज बोता है।

(संसार भाव उवलण्यं) उसका लक्ष्य बिंदु संसार भाव ही होता है (लाज भय गारवेन सभावं) वह लाज भय गारव में फंसा रहता है (जिन उत्तं नहु लण्यं) जिनेन्द्र कथित उपदेश पर लक्ष्य नहीं देता है (संसारे सरनि भावना होइ) उसकी भावना संसार परिभ्रमण की ही होती है।

(संसार सरनि सोधं) वह संसार मार्ग की तरफ ही देखता है, उसी का विचार करता है (अभावं भाव सरनि सुविसुद्धं) इस संसार परिभ्रमण का अभाव कैसे हो, ऐसे कभी विशुद्ध भाव ही नहीं करता है (जिन समयं नहु पिच्छइ) जिन स्वभावी आत्मा को नहीं पहिचानता, मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ, इस बात को नहीं जानता (दर्शन मोहंध दुग्गए पत्तं) इसलिये दर्शन मोहंध अज्ञानी दुर्गति में जाता है।

विशेषार्थ - दर्शन मोहंध अज्ञानी संसार में लिप्त रहता है। शरीर, धन, परिवार, परिग्रह, मान, प्रतिष्ठा आदि की चाह की दाह में जला करता है। इनके घटने या वियोग की शंका में रहता है। संसार की कामना वासना पूर्ति के लिये नाना प्रकार के मिथ्यात्व पूर्ण उपाय मंत्र, तंत्र, पूजा, पाठ आदि करता कराता रहता है। हमेशा संसार परिभ्रमण की ही दृष्टि रहती है। उसको जिनवाणी नहीं सुहाती है, वह न तो जिनेन्द्र परमात्मा के वचनों को सुनता है, न पढ़ता है, न श्रद्धान करता है, हमेशा पाप विषय कषायों में रत रहता हुआ अनंत संसार के दुःखों का बीज बोता है।

अज्ञानी का लक्ष्य राग-द्वेष, मोह व विषयों की पुष्टि का होता है, वह लाज भय गारव में फंसा रहता है। अपने नाम, पद, यश आदि के लिये भयभीत रहता है, इसके लिये करने, न करने योग्य सभी काम करता है और इसी में चिंतातुर रहता है। वह जिनेन्द्र भगवान के उपदेश पर ध्यान ही नहीं

देता । आत्मा परमात्मा की बात ही नहीं सुनता क्योंकि उसकी सर्व भावना संसार मय होती है, उसकी रुचि शरीर संबंधी व लौकिक कार्य संबंधी व्यवहार की ही तरफ रहती है । वह अपने आत्म कल्याण की बात, संसार परिभ्रमण से छूटने का कभी विचार ही नहीं करता है, अपने आत्म स्वरूप का बोध ही नहीं होता है इसलिये वह दुर्गति में जाता है ।

अज्ञानी उत्पाद व्यय अर्थात् क्षणभंगुर नाशवान एक समय की पर्याय के साथ-साथ चलता जाता है परंतु ज्ञानी ने नित्य में अर्थात् ध्रुव द्रव्य स्वभाव में अपना अस्तित्व स्थापित किया है अतः वह उत्पाद व्यय के साथ नहीं जाता किंतु उत्पाद व्यय को जान लेता है । त्रिकाली का अभाव होने से अज्ञानी को परिणाम मात्र में एकत्व होता रहता है, ज्ञानी को इसका ज्ञान रहता है । ज्ञानी को जहाँ स्वरूप निधान प्रगट होता है, वहाँ पर्याय में बल आ जाता है, निर्भयता, निःशंकता आ जाती है, प्रतिक्षण अबंध स्वरूप प्रगटता जाता है, वर्तमान में पुण्य भाव हो और उनका फल प्राप्त होवे ऐसी वांछा ज्ञानी को नहीं है । ज्ञानी निर्धन हो अथवा धनवान हो, अज्ञानी निर्धन हो अथवा धनवान हो ऐसा कुछ नियम नहीं है । पूर्व निष्पन्न शुभाशुभ कर्म के अनुसार दोनों का उदय रहता है । ज्ञानी उदय में सम रहते हैं, अज्ञानी हर्ष-विषाद को प्राप्त होता है ।

दर्शन मोहांध स्त्री, पुत्र, पैसा प्रतिष्ठा आवरु आदि में या राग की मंदता में सुख है ऐसा मानता है और इसके लिये ही निरंतर प्रयत्नशील रहता है । इससे भिन्न में सच्चिदानंद स्वरूप भगवान आत्मा हूँ इसका बोध नहीं होता इसलिये पर के प्रति आसक्त पुण्य-पाप में रत संसार में परिभ्रमण करता और दुर्गति के दुःख भोगता है, शरीरादि में रत रहने से जन्म-मरण करता है ।

प्रश्न - शरीर के प्रति ज्ञानी और अज्ञानी का क्या दृष्टिकोण है, शरीर का स्वरूप और उसका क्या परिणाम है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

सरीरं विरयन्तो, सरीर भाव असुह मुक्कं च ।

न्यानेन न्यान सुद्धं, दर्सन मोहंध सरीर सहकारं ॥ २४६ ॥

अत्रित असत्य सहियं, असुचि अमेय भाव अनन्तानं ।

तं त्रितं जानंतो, दर्सन मोहंध अनिस्ट रूवेन ॥ २४७ ॥

सरीर भाव सहिओ, जिन उत्तं सुद्ध वयन नहु पिच्छं ।

मिच्छा कुन्यान सहिओ, दर्सन मोहंध दुग्गए पत्तं ॥ २४८ ॥

अन्वयार्थ - (सरीरं विरयन्तो) ज्ञानी शरीर से विरक्त उदासीन रहता है (सरीर भाव असुह मुक्कं च) शरीर संबंधी अशुभ भावों को उसने त्याग दिया है (न्यानेन न्यान सुद्धं) उसको निश्चय है कि ज्ञान से ही ज्ञान की शुद्धि होती है अर्थात् ज्ञान से ही आत्म कल्याण होता है, शरीरादि की क्रिया से नहीं होता (दर्सन मोहंध सरीर सहकारं) परंतु दर्शन मोहांध अज्ञानी शरीर की ही भावना रखता है, शरीर के द्वारा ही अपना भला-बुरा मानता है ।

(अत्रित असत्य सहियं) अज्ञानी मिथ्या व नाशवंत इस शरीर के साथ (असुचि अमेय भाव अनन्तानं) जो अपवित्र, घिनावना मलमूत्र का पिंड है इसके विषय पोषण के अनंतानंत भाव किया करता है (तं त्रितं जानंतो) वह शरीर को ही सत्य शाश्वत जानता है (दर्सन मोहंध अनिस्ट रूवेन) दर्शन मोहांध अपना अनिष्ट ही करता है अर्थात् शरीर के साथ जन्मता-मरता रहता है ।

(सरीर भाव सहिओ) शरीर संबंधी भावों में लिप्तता के कारण (जिन उत्तं सुद्ध वयन नहु पिच्छं) जिनेन्द्र कथित शुद्ध वचनों को नहीं मानता अर्थात् जिन प्रणीत शुद्धात्म स्वरूप का श्रद्धान ज्ञान नहीं करता है (मिच्छा कुन्यान सहिओ) मिथ्यात्व और कुज्ञान सहित वर्तता है (दर्सन मोहंध दुग्गए पत्तं) इसलिये दर्शन मोहांध अज्ञानी मिथ्यादृष्टि दुर्गति में जाता है ।

विशेषार्थ - सम्यक्दृष्टि ज्ञानी ने अपने आत्म स्वरूप को पहिचान लिया है कि मैं परमात्मा के समान ज्ञाता दृष्टा अविनाशी परमानंदमयी परम वीतराग अखंड तत्त्व हूँ । यह शरीरादि सुख क्षणिक अतृप्तकारी हैं । शरीर जड़ अचेतन नाशवान है इसलिये वह शरीर से विरक्त उदासीन रहता है । अपने ज्ञान को शुद्ध करने के लिये आत्मज्ञान स्वरूप का चिंतन-मनन करता है, इसी से अतीन्द्रिय सुख और मुक्ति होती है ।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बिल्कुल इसके विपरीत रुचि रखता है, वह शरीर में व इन्द्रिय सुख में ही आसक्त रहता है । अपने शरीर के साथ ऐसा मोह रखता है कि उसके सम्बंध को लेकर रात-दिन पांच इन्द्रिय भोग सम्बंधी विषय-कषाय, पाप-परिग्रह के अनंत प्रकार के भाव किया करता है । जो

शरीर प्रत्यक्ष अपवित्र हाड़-मांस, मल-मूत्र का पिंड नाशवान जलने गलने वाला है, जड़ अचेतन है इसको स्थिर व सत्य मानता है, अपने आत्म स्वरूप की तरफ दृष्टि नहीं रखता है इसलिये वह अपना बहुत बुरा अनिष्ट करता है।

शरीर संबंधी भावों में लिप्तता के कारण वह जिनेन्द्र के वचन, जिनवाणी को न सुनता है, न पढ़ता है, न जिन वचनों का श्रद्धान करता है। आत्मा शुद्धात्मा की चर्चा सुहाती ही नहीं है, वैराग्य की बात भी कड़वी लगती है, मिथ्यादर्शन और कुज्ञान सहित अशुभ कर्म बांधकर दुर्गति में चला जाता है।

अज्ञान से और स्वस्वरूप के प्रमाद से आत्मा को मात्र मृत्यु की भ्रांति है। उसी भ्रांति को निवृत्त करके शुद्ध चैतन्य निज अनुभव प्रमाण स्वरूप में परम जागृत होकर ज्ञानी सदैव निर्भय है। इसी स्वरूप के लक्ष्य से सर्व जीवों के प्रति साम्यभाव उत्पन्न होता है। सर्व परद्रव्य से वृत्ति को व्यावृत्त करके आत्मा अक्लेश समाधि को पाता है।

सम्यक्दृष्टि पुरुष अनिवार्य उदय के कारण लोक व्यवहार निर्दोषता एवं लज्जाशीलता से करते हैं। प्रवृत्ति करना चाहिये उससे शुभाशुभ जैसा होना होगा, वैसा होगा ऐसी दृढ़ मान्यता के साथ वे सहजता पूर्वक प्रवृत्ति करते हैं।

अज्ञानी जीव शरीर में एकत्व बुद्धि से विषयों के कल्पित सुख की तीव्र लालसा में पड़कर गुरु के उपदेश की उपेक्षा करके शुद्धात्म रुचि नहीं करता तथा बाह्य वैभव संसार प्रपंच में फंसा रहता है जिससे वह रोग की, वेदना की, मृत्यु की चपेट में आकर देह छोड़ता है, जिससे दुर्गति में चला जाता है। शरीर का एकत्व और भोगों की वांछा ही संसार भव बंधन का कारण है।

प्रश्न - यह भोग क्या है ? दर्शन मोहांध इनमें लिप्त क्यों रहता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

भोगं अनिष्ट रूवं, अनिष्ट भावेन सरनि संसारे ।

अत्रित भाव स भोगं, दर्शन मोहांध अत्रित भोगं च ॥ २४९ ॥

भोगं संसार सुभावं, उवभोगं अभाव भाव उवलष्यं ।

अनिष्ट भोग स उत्तं, दर्शन मोहांध सुष्ट भोगं च ॥ २५० ॥

अन्वयार्थ - (भोगं अनिष्ट रूवं) इन्द्रियों के भोग अनिष्टकारी हैं,

आत्मा को शुद्ध स्वभाव से हटाने वाले हैं (अनिष्ट भावेन सरनि संसारे) इन अनिष्ट भोगों की भावना से संसार में भ्रमण होता है (अत्रित भाव स भोगं) भोगों के साथ तीव्र अशुभ भाव होते हैं (दर्शन मोहांध अत्रित भोगं च) दर्शन मोहांध ऐसे क्षणभंगुर नाशवान भोगों में ही उलझा रहता है।

(भोगं संसार सुभावं) यह भोग संसार स्वभावमयी है अर्थात् पंचेन्द्रिय के भोगों में संसार के सभी जीव फंसे हैं, इन्हीं के कारण कर्म बंध जन्म-मरण का चक्र चलता है (उवभोगं अभाव भाव उवलष्यं) जो वस्तु एक बार भोगी जाये उसे भोग कहते हैं। जो वस्तु बार-बार भोगी जाये उसे उपभोग कहते हैं। इन भोग और उपभोग के भावों का अभाव प्रत्यक्ष देखा जाता है अर्थात् जब वस्तु होती है तो भोगने के भाव नहीं होते और जब भोगने के भाव होते हैं, तब वस्तु नहीं होती और यह भाव भी क्षणिक होते हैं, स्थायी नहीं रहते (अनिष्ट भोग स उत्तं) इसलिये यह भोग अनिष्टकारी कहे गये हैं (दर्शन मोहांध सुष्ट भोगं च) दर्शन मोहांध इन भोगों को हितरूप प्रिय मानता है।

विशेषार्थ - शरीर की पांच इन्द्रियों की वासना को भोग कहते हैं, यह भोग महान अनिष्टकारी हैं। विषयों की तीव्र आसक्ति ही व्यसन कहलाती है जो नरक निगोद का कारण है, इन विषय भोगों की आसक्ति से जीव धर्म कर्म का विचार, आत्म कल्याण को भूलकर न्याय-अन्याय का विचार छोड़कर महान तृष्णा में आतुर रहने से तीव्र अशुभ भावों से पाप कर्म का बंध कर दुर्गति चला जाता है, दर्शन मोहांध अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ऐसे क्षणभंगुर नाशवान भोगों में ही उलझा रहता है।

पंचेन्द्रिय के भोगों में सारा संसार फंसा है तथा इन्हीं भोगों की वासना से ही बार-बार शरीर प्राप्त होता है, इसी से जन्म-मरण का चक्र चलता है। दर्शन मोहांध इन भोगों को हितरूप प्रिय मानता है जबकि यह रात-दिन तड़फाने, दुःख देने वाले हैं। जब भोगने के भाव होते हैं तब भोग नहीं होता, जब भोग होते हैं तब भाव नहीं होता। इस प्रकार अज्ञानी जीव हमेशा आकुल-व्याकुल चिंतित और दुःखी रहता है, विषय भोगों की तीव्र आसक्ति ही व्यसन कहलाती है जिसमें फंसकर प्राणी दुष्कर्म करके नरक निगोद जाता है। स्वर्ग लोक में इच्छानुसार पंचेन्द्रियों के सुखों को निरंतर भोग करके भी जो तृप्त नहीं हुआ, वह अब इन थोड़े से विषय सुखों से कैसे तृप्त होगा ? हलाहल जहर पीना तो अच्छा है उससे इसी जन्म का नाश होता है परंतु भोग

रूपी विष के सेवन से अनंत जन्मों में दुःख उठाना पड़ता है। इन्द्रियों के द्वारा होने वाला भोग सुख- सुख सा झलकता है पर वह सच्चा सुख नहीं है। आत्मा का अतीन्द्रिय सुख ही सच्चा सुख है।

इन इन्द्रिय सुख के भोगने से कर्मों का बंध होता है जिससे बहुत दुःख प्राप्त होता है। इसी बात को आगे गाथा में कहते हैं -

भोगं भोग सुभावं, विकहा विसन विषय भाव उवभोगं।

आलापं असुद्ध भावं, दर्सन मोहंध अत्रित भोगं च ॥ २५१ ॥

भोगं नंत विसेषं, अन्यानं तव वय किरिय विकह संजुत्तं।

वयनं न सुद्ध वयनं, अनिस्ट रूवेन अन्ध अन्धानि ॥ २५२ ॥

अन्धं अन्ध सुभावं, दर्सन मोहंध दुष्य वीयम्भि।

दुष्यं अनन्त नन्तं, संसारे नरय निगोय वासम्भि ॥ २५३ ॥

अन्वयार्थ - (भोगं भोग सुभावं) भोगों को भोगते हुए भोग करने का ऐसा स्वभाव पड़ जाता है (विकहा विसन विषय भाव उवभोगं) कि चार विकथा, सात व्यसन, पांचों इन्द्रियों के विषय सम्बंधी भावों का उपभोग किया करता है (आलापं असुद्ध भावं) अशुद्ध भावों को लिये हुए बकवाद करता है (दर्सन मोहंध अत्रित भोगं च) दर्शन मोहांध अज्ञानी इन मिथ्या क्षणभंगुर नाशवान भोगों में आसक्त रहता है।

(भोगं नंत विसेषं) भोग संबंधी भावों के अनंत और कई विशेष भेद हैं (अन्यानं तव वय किरिय विकह संजुत्तं) भोगों की लालसा से अज्ञानी लोग तप करते हैं, व्रत पालते हैं, क्रिया साधते हैं, विकथा में राजा-महाराजा, इन्द्र, चक्रवर्ती के विषय भोग राज्य वैभव आदि की कथायें कहते हैं और उसका रस लेते हैं (वयनं न सुद्ध वयनं) वे कभी शुद्धात्मा और वैराग्य की चर्चा नहीं करते, ऐसी बात ही नहीं बोलते (अनिस्ट रूवेन अन्ध अन्धानि) वे अपना अनिष्ट करते हुए स्वयं अंधे रहते हुए अन्य अंधों को मार्ग बताते हैं।

(अन्धं अन्ध सुभावं) अंधों का स्वभाव ही अंधा होता है, उन्हें कुछ दीखता ही नहीं है (दर्सन मोहंध दुष्य वीयम्भि) इसी प्रकार जो दर्शन मोह से अंधा है वह हित-अहित, धर्म-अधर्म का विचार न करता हुआ भोगों में लिप्त होकर दुःख का बीज बोता है (दुष्यं अनन्त नन्तं) अनंतानंत दुःख भोगता है

(संसारे नरय निगोय वासम्भि) संसार चक्र में नरक निगोद में वास करता है।

विशेषार्थ - जिनको भोगों के प्रति तीव्र आसक्ति हो जाती है वे स्त्रीकथा, भोजनकथा, देश-विदेश के भोग व राजाओं के भोग की कथाओं में रंजायमान रहते हैं। जुआं खेलना, मांसाहार, मद्यपान, चोरी, शिकार, वेश्या गमन व पर स्त्री सेवन इन सात व्यसनों की आदत पड़ जाती है, अज्ञानी जीव रात-दिन इन्हीं भावों में उलझे रहते हैं। पांचों इन्द्रियों के भोगों की भावना नित्य रहती है। परस्पर में हास्य कौतूहल द्वारा अशुचि भावों का प्रदर्शन और वार्तालाप करते रहते हैं। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि दर्शन मोहांध इन क्षणभंगुर नाशवान भोगों में ही लगा रहता है।

भोगों की तृष्णा मन में रखकर भविष्य में भोग प्राप्त हों तथा वर्तमान में भी अच्छा भला खाने पीने को मिले, मान सम्मान हो, खूब भोग भोगें, इस अभिप्राय से अज्ञान पूर्वक उपवासादि तप करते हैं, मुनि व श्रावक के व्रत पालते हैं, भोजनादि क्रिया और पूजा पाठ में लगे रहते हैं।

राजा महाराजा के भोग, इन्द्र चक्रवर्ती पद आदि के लिये कथा पुराण पढ़ते हैं, उनकी विभूति पुण्य के ऐश्वर्य का वर्णन करते हैं। न कभी आत्मज्ञान वर्द्धक चर्चा करते हैं, न वैराग्य की चर्चा करते हैं, हमेशा भोगों के भावों में रत रहते हुए आप भी संसार में डूबते हैं और दूसरे जीवों को भी संसार में डूबाते हैं।

स्वयं अज्ञान अंधकार में अंधा रहते हुए दूसरे अंधों का मार्गदर्शन करते हैं। ऐसे दर्शन मोह से अंधे जीव दुःख के बीज बोते हैं। वह अज्ञानी कुत्सित आचरण करके घोर पाप बांधता है। अनंतानंत दुःख भोगने के लिये नरक निगोद में वास करता है और संसार परिभ्रमण में ही फंसा रहता है।

जो आत्म सन्मुख होते हैं, वह विकार से विमुख हुए बिना नहीं रहते। राग से, पुण्य से अथवा पर से चैतन्य की एकता नहीं, ऐसा पृथक्ता रूप भेदज्ञान तो न करे और संसार शरीर भोगों में रत रहे, वह दर्शन मोहांध अज्ञानी है।

विषय भोगों का सेवन बिना राग के नहीं होता, राग पूर्वक भोगों के भावों का रस लेना, उनकी चर्चा करना भी अशुभ कर्म बंध, दुःख और दुर्गति का कारण है। दया, दान, भक्ति, प्रोषध, प्रतिक्रमण, सामायिक आदि क्रिया कांड में कुशलता, रुखा आहार लेना, साधु त्यागी आदि का भेष बनाना,

सभी क्रियायें राग व पर की हैं। जो केवल राग की क्रियाओं में ही संतुष्ट हो जाते हैं कि मैंने बहुत किया व कर रहा हूँ, उन्हें इन पुण्य-पाप से रहित निष्कर्म भूमिका की प्राप्ति नहीं होती, ज्ञान स्वभावी आत्मा की दृष्टि नहीं होती तथा यह सब क्रियायें वर्तमान या भविष्य के सुख भोग के अभिप्राय से की जाती हैं तो संसार के दुःख, दुर्गति और पापबंध का ही कारण हैं।

जो क्षण-क्षण में अनुकूलता-प्रतिकूलता के संयोगों में हर्ष-शोक का वेदन किया करते हैं, उनके कषाय की मंदता भी नहीं है। उनको आत्मा कैसा है ? ऐसी जिज्ञासा होने का भी अवकाश नहीं है क्योंकि उनकी क्षणिक की रुचि छूटती नहीं है। जिसे राग घटने के प्रसंग की ही खबर नहीं है, उसके कभी राग का अभाव नहीं होता। राग से ही भोगों के भाव होते हैं, यही संसार परिभ्रमण का कारण है।

प्रश्न - जीव को संसार शरीर भोगों में फंसाने वाला कौन है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

उत्पन्नं मन चवलं, अनन्त विषेसेन पर्जाव संदिद्धं ।

चेयन नन्द सरूवं, अप्य सहावेन कम्म षिपिऊनं ॥ २५४ ॥

मन चवलं उववन्नं, संसार सुभाव पर्जाव अनुरत्तं ।

अप्य सरूवं पिच्छदि, पर्जय विरतस्य कम्म षिपिऊनं ॥ २५५ ॥

अन्वयार्थ - (उत्पन्नं मन चवलं) जब चंचल मन उत्पन्न होता है (अनन्त विषेसेन पर्जाव संदिद्धं) यह अनंत विशेषता वाली पर्याय को ही देखता है अर्थात् मन शरीरादि संसार संयोगों में रत रहता है (चेयन नन्द सरूवं) आत्मा आनंद स्वभावी है (अप्य सहावेन कम्म षिपिऊनं) जब मन आत्म स्वभाव में रत होता है तब कर्मों का क्षय होता है।

(मन चवलं उववन्नं) मन की चंचलता जब पैदा होती है (संसार सुभाव पर्जाव अनुरत्तं) तब मन संसार शरीर भोगादि पर्यायों में लवलीन रहता है, इसी से अनंत कर्मों का बंध होता है (अप्य सरूवं पिच्छदि) जो ऐसे मन को रोककर अपने आत्म स्वरूप का अनुभव करता है (पर्जय विरतस्य कम्म षिपिऊनं) और शरीरादि पर्याय से विरक्त होता है, उसी के कर्मों की निर्जरा होती है।

विशेषार्थ - मन ही मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण है। कर्मों के

बंध का कारण संकल्प-विकल्प रूप यह मन है। यह मन इन्द्रियों के विषयों में रंजायमान होकर शरीर भोग संबंधी अनंत भाव किया करता है। मिथ्यादृष्टि का मन बड़ा चंचल होता है, वह वर्तमान शरीर में आसक्त होता है; इसीलिये संसार में भ्रमणकारी भावी पर्यायों में भी आसक्त रहता है। संसार के सुख भव-भव में प्राप्त हों, यही उसके मन की आशा रहती है, इसी से संसार परिभ्रमण होता है।

जो कोई इस मन को रोककर आनंद स्वभावी निज आत्मा में तल्लीन होते हैं उनके वीतराग भावों से कर्मों की निर्जरा होती है, सम्यक्दृष्टि जीव संसार से, शरीर से व भोगों से उदासीन होकर निज आत्मा में एकतान होकर अनुभव करता है तब उसके कर्मों की निर्जरा होती है, यही मुक्ति का मार्ग है।

जीव के अज्ञान का भ्रम ही मन है, जो नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प, विचार करता है, इसी के कारण जीव संसार शरीर भोगों में फंसा रहता है। जब ज्ञान का जागरण होता है, वस्तु स्वरूप का ज्ञान होता है तब यह मन इन संसार शरीर भोगों से उदासीन होकर आत्म स्वरूप का चिंतन-मनन करता है जिससे समस्त कर्म बंध से छूटकर मुक्त हो जाता है।

हिंसादि पाप व अभक्ष्य भक्षण के पाप से भी मिथ्यात्व का पाप अनंत गुणा भयंकर है, कुदेवादि को सुदेव मानना, कुगुरु को सुगुरु मानना, कुशास्त्र को शास्त्र मानना, पर से अपना भला-बुरा मानना, पर पर्याय को अपना मानना आदि प्रकार की मिथ्या मान्यता मांस भक्षण व शिकार करने के पाप से भी अधिक महान पाप रूप है।

मान्यता ही मन की जननी है। जैसी मान्यता होती है वैसा ही मन होता है। अज्ञान मिथ्यात्व रूप मान्यता से मन संसार शरीर भोगों में फंसाता है और सम्यक्ज्ञान से मन आत्म स्वरूप का चिंतन-मनन कर मुक्ति पाता है।

किसी को सन्निपात हुआ हो तो वह कभी तो ठीक बोले व कभी उल्टा-सीधा बोलने लगता है, उसी प्रकार अज्ञानी कभी तो ठीक जाने व कभी यथार्थ रूप से न जाने; परंतु अज्ञानी की श्रद्धा सच्ची न होने से उसका ज्ञान कभी सच्चा नहीं होता, वह निश्चय निर्धारण द्वारा श्रद्धा पूर्वक कुछ भी यथार्थ नहीं जानता। मिथ्यादर्शन के कारण मन अप्रयोजन भूत विषयादि में जागता है परंतु प्रयोजनभूत तत्त्व के निर्णय में नहीं लगता है।

जैसे- कुत्ता लकड़ी के प्रति द्वेष करता है और मारने वाले की ओर नहीं देखता, वैसे ही अज्ञानी पर जीवों के प्रति राग-द्वेष करता है परंतु अपने पूर्व कर्म उदयानुसार संयोग मिलते हैं, इस बात पर दृष्टि नहीं देता।

आत्मा के अनुभव बिना संसार का नाश नहीं होता। जिसे व्यवहार अथवा संसार शरीर भोग तथा पुण्य कर्म अच्छे लगते हैं वह मिथ्यादृष्टि है।

निश्चय से आत्मा शुद्ध है परंतु उसकी पर्याय में रागादि अशुद्धता होने पर भी जो पर्याय अपेक्षा से भी वर्तमान में शुद्ध मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

मोक्षमार्ग में तो रागादिक मिटाने का श्रद्धान ज्ञान व आचरण करना होता है, जिसके द्वारा विकार का नाश हो वही मोक्षमार्ग है। श्रद्धा में विकार का आदर नहीं, ज्ञान में विकार उपादेय नहीं तथा आचरण में राग ही न करे यही मोक्षमार्ग है।

प्रश्न - पर्याय किसे कहते हैं ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

पर्जय सहाव उत्तं, सरीर संस्कार भाव उववन्नं ।

क्रित कारित अनुमतयं, पज्जय विवरिउ कम्म विरयंति ॥ २५६ ॥

अन्वयार्थ - (पर्जय सहाव उत्तं) पर्याय का स्वभाव कहते हैं, गुणों के परिणमन को पर्याय कहते हैं अथवा वर्तमान में जो शरीरादि संयोगी परिणमन चल रहा है उसे भी पर्याय कहते हैं (सरीर संस्कार भाव उववन्नं) जिसमें शरीर संबंधी संस्कार के भाव पैदा होते हैं वह अशुद्ध पर्याय है (क्रित कारित अनुमतयं) इसकी कृत कारित अनुमोदना करने वाला मन है (पज्जय विवरिउ कम्म विरयंति) जो कोई पर्याय से विरक्त होता है, उसी के कर्मों का क्षय होता है।

विशेषार्थ - गुण पर्यायवत् द्रव्यम्, गुण और पर्याय सहित ही द्रव्य होता है। गुणों के परिणमन को पर्याय कहते हैं। स्वभाव त्रिकाली अक्षय और अटल होता है। पर्याय एक समय की होती है, जिसका निरंतर उत्पाद व्यय होता रहता है। जीव और पुद्गल द्रव्य की पर्याय में निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। स्वभाव से दोनों द्रव्य स्वतंत्र और अत्यंत भिन्न हैं। इन दोनों के संयोगी परिणमन को भी पर्याय कहते हैं। यह शरीर मनुष्य भव आदि भी पर्याय कहलाते हैं। जो इस पर्याय की कृत, कारित, अनुमोदना करता है उसके शरीर सम्बंधी संस्कार के भाव पैदा होते हैं, अज्ञानी इस पर्यायी परिणमन को

ही अपना स्वरूप मानता है, यही मैं हूँ ऐसा मानता है। इसी से कर्म बंध होकर संसार परिभ्रमण चलता है।

जो भेदज्ञान पूर्वक पर्याय से भिन्न स्वभाव को देखता-जानता है वह सम्यक्दृष्टि ज्ञानी है तथा जब पर्याय से विरक्त होकर स्वभाव की साधना करता है तब कर्मों का क्षय होता है तथा मुक्ति की प्राप्ति होती है।

दृष्टि का विषय द्रव्य स्वभाव है और मन का विषय पर्याय स्वभाव है।

ज्ञानी को यथार्थ द्रव्य दृष्टि प्रगट हुई है, वह द्रव्य स्वभाव के आलम्बन द्वारा अंतर स्वरूप स्थिरता में वृद्धि करता है। उसका पर्याय का लक्ष्य नहीं रहता वह पर्याय को विनाशीक जानकर पर्याय बुद्धि को त्याग देता है और निश्चल होकर अपने आत्म स्वभाव में लीन होता है जिससे सब कर्मादि शरीर संयोग क्षय होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है।

जो कोई आत्मा जड़कर्म की अवस्था को और शरीरादि की अवस्था को करता नहीं है, उसे अपना कर्तव्य नहीं मानता है, तन्मय बुद्धि होकर परिणमन नहीं करता परन्तु मात्र साक्षी ज्ञाता तटस्थ रहता है वह आत्मा ज्ञानी है और जो इस पर्यायी परिणमन का कर्ता भोक्ता बनता है वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है।

जिस धर्मात्मा ने निज शुद्धात्म द्रव्य को स्वीकार करके परिणमन को स्व अभिमुख किया वह प्रतिक्षण मुक्ति की ओर गतिशील है, आत्मा ही आनंद का धाम है, उसमें अंतर्मुख होने से ही सुख है।

शुद्ध चैतन्य ध्रुव के ध्यान से जिसे सम्यक्ज्ञान प्रगट हुआ है, ऐसे जीव को ऐसी पर्याय रूप योग्यतायें होती हैं व उनका ज्ञान भी होता है। साधक जीव अतीन्द्रिय आनंद का पान करता हुआ मुक्ति की ओर प्रयाण करता है।

प्रश्न - यह अतीन्द्रिय आनंद क्या है, क्या इन इन्द्रियों से परे है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

इंदी सुभाव दिट्ठं, अनिस्ट संजोय सरनि संसारे ।

जिन वयनं पिच्छंतो, अतींदी भाव इंदि विरयंति ॥ २५७ ॥

जं इंदी च सहावं, तं जानेहि सयल मोहंधं ।

जिन उवएस लहंतो, अतींदी सहकार कम्म विरयंति ॥ २५८ ॥

अन्वयार्थ - (इंदी सुभाव दिट्ठं) शरीराश्रित इन्द्रियों का स्वभाव ऐसा

देखा गया है कि वे (अनिष्ट संजोय सरनि संसारे) आत्मा को अनिष्टकारी विषय भोगों का संयोग कराती हैं और उनमें तन्मय कराकर जीव को संसार में भ्रमण कराती हैं (जिन वयनं पिच्छंतो) जो सम्यक्दृष्टि जिनवाणी पर श्रद्धान करता है अर्थात् जिन वचनों को सुनता समझता है, यथार्थ प्रतीति करता है वह (अतींदी भाव इंदि विरयंति) आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद का भोग करता हुआ इंद्रिय के सुखों से विरक्त रहता है, छूट जाता है।

(जं इंदी च सहावं) इन्द्रियों के सुख में रत होने का जो स्वभाव है (तं जानेहि सयल मोहं) उसको सर्व प्रकार से दर्शन मोह का उदय जानो जो अज्ञान मोह में जीव को अंधा करता है (जिन उवएस लहंतो) जो श्री जिनेन्द्र के उपदेश को प्राप्त करता है (अतींदी सहकार कम्म विरयंति) वह अतीन्द्रिय आनंद के साधन से कर्मों का क्षय करता है।

विशेषार्थ - पांचों इन्द्रियों के विषय भोग जीव को अनिष्टकारी संसार परिभ्रमण के कारण हैं, यह इन्द्रिय जन्य सुख पराधीन है। इच्छित वस्तु मिले व भोगने योग्य परिस्थिति हो तब इंद्रिय सुख भोगा जा सकता है परंतु ऐसा होता नहीं है, इसमें कर्मोदय बाधा बनता है। एक दिन पदार्थों के वियोग व शरीर के मरण से सब नाश हो जाता है तथा रागभाव के बिना इंद्रिय भोग नहीं होता इसलिये यह बंध का कारण है, आकुलतामय है इसलिये विषम है अतएव यह इंद्रिय सुख, दुःख रूप ही है। यह इन्द्रियाँ ही आत्मा की शत्रु हैं क्योंकि कषाय के वश होकर प्राणी इंद्रियों के विषयों में प्रवृत्ति करते हैं जिससे संसार परिभ्रमण और दुःख भोगना पड़ता है।

सम्यक्दृष्टि जीव जिनवाणी के उपदेश पर पूर्ण श्रद्धा करता है, वह आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद को भोगता है और इन्द्रिय सुख को झूठा व कल्पित सुख जानकर इससे विरक्त हो जाता है।

अतीन्द्रिय आनंद आत्मा का सच्चा सुख है। इंद्रियां शरीराश्रित जड़ हैं इनमें न सुख है, न आनंद है, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि इनमें सुख की कल्पना करता है। दर्शनमोह से अंधा जीव इन्द्रियों के सुखों को उपादेय जानकर इनमें तन्मय रहता है जिससे अनंत कर्मों का बंध होता है तथा संसार में जन्म-मरण करना पड़ता है। सम्यक्दृष्टि जीव इस इंद्रिय सुख को झूठा नाशवान समझकर जिनवाणी के प्रताप से तत्त्वों को जानकर आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद में मगन रहता है, आत्मानंद की मगनता ही कर्मों की निर्जरा

करती है इससे परमानंद मयी मोक्ष की प्राप्ति होती है।

साधक जीव-पर द्रव्यरूप भावकर्म, द्रव्यकर्म और शरीरादि नोकर्म के प्रति उदासीन रहता है क्योंकि शुद्ध स्वरूप का अनुभव होने से उसे शुद्ध चैतन्य ही उपादेय है, जब से ध्रुव स्वभाव को ध्यान में लेकर आत्म अनुभव हुआ तब से वह अतीन्द्रिय आनंद का वेदक हो गया, जिनवाणी के द्वारा अपने पूर्णानंद परमात्म स्वरूप को जानने से निरंतर उसी का स्मरण ध्यान करता है। जब ध्यानी के अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव होता है तब ही कर्मों की निर्जरा होती है।

सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव ने जिस आत्मा को ध्रुव कहा है उसका जो जीव अवलंबन ले उसे उस ध्रुव स्वभाव में से शुद्धता प्रगट होती है, उसको आत्मा शुद्ध रूप से उल्लसित हुई, ऐसा कहने में आता है। जैसे- अनादि अज्ञानवश, इन्द्रिय विषय सुख में सुख है ऐसे मिथ्यात्व का अनुभव है, दुःख का अनुभव है, वैसे ही ज्ञानी का अतीन्द्रिय आनंद अमृत ही भोजन है।

जैसे- खीर के स्वाद के आगे ज्वार बाजरा की रूखी-सूखी रोटी अच्छी नहीं लगती, वैसे ही जिन्होंने प्रभु आनंद स्वरूप है, ऐसा अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद लिया है उन्हें जगत की किसी भी वस्तु में रुचि नहीं होती, रस नहीं आता, एकाग्रता नहीं होती। निज स्वभाव के अतीन्द्रिय आनंद में डूबने पर सब कर्मादि क्षय हो जाते हैं और सब संसार, शरीर, संयोग छूट जाता है। सम्यक्दृष्टि को पांच इन्द्रियों के विषय के अशुभ राग होते हैं परंतु वे उनमें से हटकर ध्यान में बैठते ही निर्विकल्प रूप से अतीन्द्रिय आनंद में डूब जाते हैं, यह सब जिनवाणी की सच्ची श्रद्धा और दृष्टि परिवर्तन की महिमा है।

प्रश्न - यह दृष्टि परिवर्तन क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

दिस्टी दिस्टतु इंदी, दिस्टी संसार सरनि सभावं ।

जिन वयनं पिच्छंतो, दिस्टि अदिस्टि कम्म विरयंतु ॥ २५९ ॥

अन्वयार्थ - (दिस्टी दिस्टतु इंदी) दृष्टि के सामने पांचों इन्द्रियाँ ही दिखलाई पड़ती हैं (दिस्टी संसार सरनि सभावं) पांचों इन्द्रियों की ओर दृष्टि है सो ही संसार के मार्ग को बढ़ाने वाली है (जिन वयनं पिच्छंतो) जो सम्यक्दृष्टि जिनवाणी का मनन करता है, सुनता, समझता है वह (दिस्टि अदिस्टि कम्म

विरयंतु) अपनी दृष्टि अदृश्य आत्मा पर ले जाता है इसी से कर्मों का क्षय होता है।

विशेषार्थ - दृष्टि परिवर्तन का अर्थ ज्ञान, श्रद्धान की मान्यता का पलट जाना, इसी को उपयोग कहते हैं। जहाँ तक उपयोग (दृष्टि) पांचों इंद्रियों के विषयों में लिप्त है, वहाँ तक कर्म बंध है और वह संसार परिभ्रमण का कारण है। सम्यक्दृष्टि ज्ञानी जिनवाणी का भले प्रकार अभ्यास करता है, चिंतन-मनन करता है और जो पांचों इंद्रियों से नहीं जाना जा सकता ऐसे अदृश्य आत्मा पर विश्वास लाकर, सच्चा श्रद्धान, ज्ञान करके उसी का अनुभव करता है तब कर्मों की निर्जरा और मुक्ति की प्राप्ति होती है, यही दृष्टि परिवर्तन है।

सम्यक्दृष्टि को जैसे अखंड की दृष्टि है वैसे ही खंड-खंड ज्ञान ज्ञेयरूप है। एक ज्ञान पर्याय में दो भाग हैं, जितना स्वलक्षी ज्ञान है वह सुख रूप है और जितना परलक्षी परसत्तावलंबी ज्ञान है वह दुःख रूप है। पर की ओर का श्रुत का ज्ञान इन्द्रिय ज्ञान है वह पर ज्ञेय है, पर द्रव्य है। देव, गुरु तो परद्रव्य हैं परंतु इन्द्रिय ज्ञान भी पर द्रव्य है। आत्मा का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। धर्मी जीव ने सहज तत्त्व पर दृष्टि रखी है उसके लिये तो वह वीतरागता का घर है, इसी से पूर्व कर्म बंधोदय क्षय होते हैं।

अनादि निज अज्ञान से जीव मिथ्यादृष्टि है, अपने स्वरूप का अनुभूतियुत ज्ञान होने से सम्यक्दृष्टि होता है यही दृष्टि परिवर्तन है।

मिथ्यादृष्टि की इच्छा विषय ग्रहण की है, उससे वह देखना जानना चाहता है। जैसे-वर्ण देखने की, राग सुनने की, अव्यक्त को जानने की इत्यादि इच्छा होती है, वहाँ अन्य कोई पीड़ा नहीं है परंतु जब तक देखता जानता नहीं है तब तक महा व्याकुल होता है, इस इच्छा का नाम विषय है। वहां ज्ञान, दर्शन की प्रवृत्ति इंद्रिय मन के द्वारा होती है इसलिये यह मानता है कि यह त्वचा, रसना, नासिका, नेत्र, कान, मन, मेरे अंग हैं, इनके द्वारा मैं देखता जानता हूँ ऐसी मान्यता से इंद्रियों में प्रीति पाई जाती है तथा मोह के आवेश से उन इंद्रियों के द्वारा विषय ग्रहण की इच्छा होती है और उन विषयों का ग्रहण होने पर उस इच्छा के मिटने पर निराकुल होता है तब आनंद मानता है। जैसे- कुत्ता हड्डी चबाता है उससे अपना रक्त निकले, उससे स्वाद लेकर ऐसा मानता है कि यह हड्डियों का स्वाद है, उसी प्रकार यह जीव

विषयों को जानता है, उससे अपना ज्ञान प्रवर्तता है, उसका स्वाद लेकर ऐसा मानता है कि यह विषय का स्वाद है, सो विषयों में तो स्वाद है नहीं। स्वयं ही इच्छा की थी उसे स्वयं ही जानकर स्वयं ही आनंद मान लिया परंतु मैं अनादि अनंत ज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ, ऐसे केवलज्ञान स्वरूप का तो अनुभवन है नहीं तथा मैंने नृत्य देखा, राग सुना, फूल सूंघे, पदार्थ का स्वाद लिया, पदार्थ का स्पर्श किया, शास्त्र पढ़ा, जाना, इस प्रकार ज्ञेय मिश्रित ज्ञान का अनुभवन है उससे विषयों की ही प्रधानता भासती है, यही सब कर्म बंध और संसार परिभ्रमण का कारण है।

जो वास्तव में ज्ञानात्मक आत्मा रूप एक स्व को नहीं भाता वह अवश्य ज्ञेयभूत अन्य द्रव्य इन्द्रियादि का आश्रय करता है और उसका आश्रय करके ज्ञानात्मक आत्मज्ञान से भ्रष्ट वह स्वयं अज्ञानी होता हुआ मोह करता है, राग करता है अथवा द्वेष करता है, ऐसा मोही, रागी-द्वेषी होता हुआ कर्मबंध को प्राप्त होकर संसार में परिभ्रमण करता है।

जो जीव जिनवचनों का श्रवण मनन कर दृष्टि परिवर्तन होने से ऐसा जानता है कि मैं केवलज्ञान और केवलदर्शन स्वभाव रूप से ज्ञायक एक टंकोत्कीर्ण स्वभाव हूँ, मेरा परद्रव्यों के साथ स्वस्वामीपने आदि का कोई सम्बंध नहीं है, वह कर्मों से मुक्त होता हुआ मुक्ति निर्वाण पाता है।

तृतीय - दृष्टि अधिकार

प्रश्न - दृष्टि किसे कहते हैं ?

समाधान - चेतना की क्रियावती शक्ति, जो दर्शन ज्ञान रूप है इसको दृष्टि कहते हैं, यही उपयोग है। यही जड़ कर्म प्रकृति में जुड़ा होने से जीव कहलाता है। यही दृष्टि जब तक अपने सत्स्वरूप को नहीं जानती और यह मानती है कि यह शरीर ही मैं हूँ, यह शरीरादि मेरे हैं, मैं इनकी कर्ता हूँ तब तक मिथ्यादृष्टि अज्ञानी संसारी है। जब इसको भेदज्ञान पूर्वक स्व-पर का यथार्थ निर्णय निज शुद्धात्मानुभूति हो जाती है, तब यह सम्यक्दृष्टि ज्ञानी कहलाती है।

ज्ञान, श्रद्धान, मान्यता, प्रतीति, जानने-देखने की शक्ति, जीव, उपयोग सब दृष्टि को ही कहते हैं।

प्रश्न - दृष्टि का कार्य और गुण-दोष क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

दिट्ठी प्रपंच भावं, दिट्ठी उववन्न पर्जाव सभावं ।

जिन सुभाव सहावं, अतींदी दिट्ठि कम्म विरयंतो ॥ २६० ॥

अन्वयार्थ - (दिट्ठी प्रपंच भावं) जब दृष्टि प्रपंच भावों में अर्थात् संसार शरीर भोगादि में लगती है, लगी रहती है तब (दिट्ठी उववन्न पर्जाव सभावं) दृष्टि से पर्याय स्वभाव पैदा होता है अर्थात् कर्मबंध रूप संसार परिणमन चलता है (जिन सुभाव सहावं) जब दृष्टि अपने निज स्वभाव परमात्म स्वरूप को देखती है तब (अतींदी दिट्ठि कम्म विरयंतो) अतीन्द्रिय दृष्टि होने से कर्म क्षय हो जाते हैं ।

विशेषार्थ - दृष्टि का कार्य मात्र देखना जानना है, जब यह दृष्टि प्रपंच भाव अर्थात् संसार, शरीर, भोग आदि जगत की माया में, धन-धान्यादि परिग्रह में, कुटुम्ब परिवार में, शरीर की ममता में फंसी रहती है तब अनंत कर्मों का बंध होता है और जन्म-मरण का चक्र संसार परिभ्रमण चलता है ।

जब यह दृष्टि अपने निज स्वभाव परमात्म स्वरूप को देखती है तब अतीन्द्रिय दृष्टि, शुद्धोपयोग होने से कर्मों की निर्जरा होती है, सब कर्म बंधन छूट जाते हैं और मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

दृष्टि का कार्य और गुण-दोष यह हैं कि अज्ञानी जन मिथ्यादृष्टि ज्ञेयों में ही, इन्द्रियज्ञान के विषयों में ही लुब्ध हो रहे हैं, वे इन्द्रिय ज्ञान के विषयों से अनेकाकार हुए ज्ञान को ही ज्ञेय मात्र आस्वादन करते हैं परंतु ज्ञेयों से भिन्न ज्ञानमात्र का आस्वादन नहीं करते । पर्याय में ही लिप्त तन्मय रहते हैं जिससे कर्मों का बंध और संसार परिभ्रमण चलता है ; और जो ज्ञानी सम्यक्दृष्टि हैं वे ज्ञेयों में आसक्त नहीं हैं, वे ज्ञेयों से भिन्न एकाकार ज्ञान का ही आस्वादन लेते हैं, जैसे-शाकों से भिन्न नमक की डली का क्षार मात्र स्वाद आता है उसी प्रकार आस्वाद लेते हैं क्योंकि जो ज्ञान है सो आत्मा है और जो आत्मा है सो ज्ञान है । इस प्रकार गुण-गुणी की अभेद दृष्टि में आने वाला, सर्व परद्रव्यों से भिन्न अपनी पर्यायों में एकरूप निश्चल अपने गुणों में एकरूप, पर निमित्त से उत्पन्न हुए भावों से भिन्न अपने स्वरूप का अनुभव, ज्ञान का अनुभव है, यही जिन स्वभाव है और यह अनुभवन भाव श्रुत ज्ञान रूप जिनशासन का अनुभव है, इससे कर्म बंध निर्जरित क्षय हो जाते हैं और मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

आत्मा शुद्ध है, अशुद्ध है, बद्ध है, मुक्त है, नित्य है, अनित्य है, एक है, अनेक है इत्यादि प्रकार से जिसने श्रुतज्ञान द्वारा प्रथम अपने ज्ञान स्वभावी आत्मा का निर्णय किया है ऐसे जीव को तत्त्व विचार के राग की जो वृत्ति उत्पन्न होती है वह भी दुःखदायक है, आकुलतामय है, उक्त अनेक प्रकार के श्रुतज्ञान के भावों को मर्यादा में लाते हुए मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ ऐसे विचार को पुरुषार्थ द्वारा रोककर पर की ओर झुकते हुए उपयोग को अपनी ओर आकृष्ट कर, नय पक्ष के आलंबन से हो रहे राग के विकल्प को जो आत्म स्वभाव रस के भान द्वारा टालता हुआ श्रुतज्ञान को भी आत्म सन्मुख करता है, वह उस समय अत्यंत विकल्प रहित होकर तत्काल निजरस से प्रगट होने वाले आदि मध्य अंत रहित आत्मा के परमानंद स्वरूप अमृतरस का वेदन करता है ।

परद्रव्य की ओर की वृत्ति अशुभ हो चाहे शुभ हो वह सब कर्म बंध और संसार का कारण है । स्वरूप से अनुभव में आता हुआ ज्ञान ही आत्मा है, ऐसे ज्ञान के स्वसंवेदन की कला ही मोक्ष की कला है । दृष्टि का ही सारा खेल है, इसी पर संसार और मोक्ष आधारित है ।

जिस प्रकार आंख रूप को देखती है परंतु इतने मात्र से आंख कहीं रूप में चली नहीं जाती, उसी प्रकार दृष्टि (उपयोग) ज्ञेयों को जानता है परंतु इतने मात्र से यह कहीं ज्ञेयों में चला नहीं जाता, एकाकार नहीं होता इसको जानना ही ज्ञान है ।

प्रश्न - यह दृष्टि का खेल कैसा है, इससे क्या होता है यह बताइये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

दिट्ठी विभ्रम रूवं, उत्साह उच्छाह दिट्ठि ससहावं ।

जनरंजन जन उत्तं, अतींदी भाव कम्म विरयंति ॥ २६१ ॥

दिट्ठी अनंत रूवं, जनरंजन कल सहाव संदिट्ठी ।

न्यान सहाव स उत्तं, अप्प सहावेन कम्म विरयंति ॥ २६२ ॥

दिट्ठी मन उपपत्ती, दिट्ठी दिट्ठेइ अभाव भय उत्तं ।

न्यान सहाव उवन्नं, अप्प सहावेन दुष्य विरयंति ॥ २६३ ॥

दिट्ठी नंत विषेसं, अन्मोयं पज्जाव भाव सभावं ।

न्यान सहावं सुद्धं, दिट्ठी विषेस कम्म विरयंति ॥ २६४ ॥

दिट्ठी अनन्त रूवं, पज्जय सुभाव दिट्ठि अन्मोयं ।

दुग्गइ गमन सहावं, न्यान सहावेन कम्म विरयंति ॥ २६५ ॥

अन्वयार्थ - (दिट्ठी विभ्रम रूवं) दृष्टि जब विभ्रम रूप होती है, मिथ्यात्व, अज्ञान भ्रम में फंसी होती है तब (जनरंजन जन उत्तं) संसारी जीवों की बातों में, जनरंजन राग में लगी रहती है इससे कर्मों का बंध होता है (उत्साह उच्छाह दिट्ठि ससहावं) और जब अपने आत्मा के स्वभाव पर उत्साह व आनंद के साथ लगाई जाती है तब (अतीदी भाव कम्म विरयंति) अतीन्द्रिय भाव पैदा होता है, आत्मस्थ परिणति होने से कर्मों की निर्जरा होती है ।

(दिट्ठी अनंत रूवं) यह दृष्टि अनंत रूप है, अनेक मार्गों में जाती है (जनरंजन कल सहाव संदिट्ठी) यह दृष्टि लोगों के रंजायमान करने में व शरीर के स्वभाव में अधिकतर लगी रहती है, अज्ञान रूप होने से कर्मबंध होता है (न्यान सहाव स उत्तं) वही दृष्टि जब इस लौकिक प्रपंच से हटकर ज्ञान स्वभावी आत्मा में लगती है तब (अप्प सहावेन कम्म विरयंति) आत्म स्वभाव से कर्मों से छुटकारा हो जाता है ।

(दिट्ठी मन उपपत्ती) जब दृष्टि मन के संकल्प-विकल्पों में जाती है (दिट्ठी दिट्ठेइ अभाव भय उत्तं) तब यह दृष्टि भय सहित नाशवान पर्याय की तरफ ही देखा करती है जिससे दुःख चिंता भय पैदा होता है (न्यान सहाव उवन्नं) जब ज्ञान स्वभाव पैदा होता है अर्थात् जब अपने ज्ञान स्वभाव आत्मा को देखती है (अप्प सहावेन दुष्य विरयंति) तब आत्मा के स्वभाव में लीन होने से सब दुःख भय चिंतायें विला जाती हैं ।

(दिट्ठी नंत विषेसं) दृष्टि की अनंत विशेषतायें हैं (अन्मोयं पज्जाव भाव सभावं) जब पर्याय की ओर देखती है उसका आलम्बन लेती है तब नाना प्रकार के भावों में उलझी रहती है जिससे शुभाशुभ कर्मों का बंध होता है (न्यान सहावं सुद्धं) जब ज्ञान स्वभाव में शुद्ध होती है अर्थात् शुद्ध ज्ञान स्वभावी आत्मा में लीन होती है (दिट्ठी विषेस कम्म विरयंति) यही विशेष दृष्टि कर्मों की निर्जरा का कारण है ।

(दिट्ठी अनन्त रूवं) जब दृष्टि अनंत रूपी पदार्थों में उलझती है (पज्जय सुभाव दिट्ठि अन्मोयं) तब यह पर्याय स्वभाव का ही आलम्बन रखती है अर्थात् संसार, शरीर, मन, इन्द्रियाँ भावादि में ही उलझी रहती है (दुग्गइ गमन

सहावं) यही दुर्गति गमन का स्वभाव है अर्थात् इसी से संसार में जन्म-मरण और दुर्गति के दुःख भोगना पड़ते हैं (न्यान सहावेन कम्म विरयंति) ज्ञान स्वभाव में लीन होने से कर्मों की निर्जरा होती है ।

विशेषार्थ - दृष्टि का खेल ज्ञान-अज्ञान पर आधारित है, अपने स्वरूप का ज्ञान होने से सम्यक्दृष्टि कहलाती है । अपने स्वरूप का अज्ञान होने से मिथ्यादृष्टि कहलाती है । मिथ्यात्व अज्ञान सहित दृष्टि विभ्रम रूप में फंसी संसारी जीवों के जनरंजन राग में लगी रहती है । इसके अनेक रूप होते हैं, संसार, शरीर, अनंत जीव, मन आदि के चक्कर में भय, शल्य, शंका, चिंता, दुःख, संकल्प-विकल्प आदि शुभाशुभ भावों में लगे रहने से अनंत कर्मों का बंध होता है जिससे संसार परिभ्रमण और दुर्गति के दुःख भोगना पड़ते हैं ।

मन का स्वरूप संकल्प-विकल्प मय है, जब दृष्टि मन के अनेक विचारों में लगी रहती है तब मन में इस नाशवान शरीर का ही विचार आता है । शरीर के बने रहने, पांचों इन्द्रियों के भोग भोगने के भाव होते हैं, शरीर रोगी न हो जाये, मृत्यु न आ जाये, ऐसा भय बना रहता है । संसारी प्रपंच, धन वैभव, कुटुम्ब परिवार से संबंधित, पाप, विषय-कषाय रूप शुभाशुभ भावों से अनंत कर्मों का बंध होता है । शरीर के सुखों में आनंद मानने वाली दृष्टि राग-द्वेष, मोह के कारण तीव्र कर्मों का बंध कर जीव को दुर्गति ले जाती है ।

जब ज्ञानी जीव सर्व प्रकार की शंकाओं को व भ्रमभाव को हटाकर अपने ज्ञानानंद स्वभाव की पहिचान करके उसके विचार में बड़ा उत्साहित होता है, आनंद मानता है तब यह दृष्टि इन्द्रियों से अतीत आत्मा के स्वरूप में एकाग्र होती है । यही अतीन्द्रिय भाव ध्यान अवस्था कर्मों की निर्जरा में कारण है ।

जो ज्ञानी इस उपयोग (दृष्टि) को सांसारिक प्रयत्नों से हटाकर ज्ञान स्वभावधारी शुद्ध आत्मा में लगाता है तब यह विशेष ज्ञानोपयोग, ध्यान की स्थिति, ज्ञान स्वभाव में लीनता से कर्मों की निर्जरा होती है, यही मुक्ति मार्ग है । दृष्टि का विषय द्रव्य स्वभाव है, इसमें तो अशुद्धता की उत्पत्ति ही नहीं है ।

समकिति को किसी एक भी अपेक्षा से अनंत संसार का कारण रूप मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय का बंध नहीं होता जबकि मिथ्यादृष्टि को निरंतर मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी सहित कर्म का बंध होता है परंतु इस पर

से कोई यह मान लेवे कि सम्यक्दृष्टि को तनिक भी विभाव व बंध नहीं है तो वह एकांत है। समकिती को अंतर शुद्ध स्वरूप की दृष्टि और स्वानुभव होने पर भी जितनी आसक्ति शेष है, जो उसे दुःखरूप लगती है उतना बंध है।

ज्ञानी को यथार्थ द्रव्य दृष्टि प्रगट हुई है, वह द्रव्य स्वभाव के आलंबन द्वारा अंतर स्वरूप स्थिरता में वृद्धि करता है परंतु जब तक अपूर्ण दशा है, पुरुषार्थ मंद है, पूर्ण रूप से शुद्ध स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता, तब तक वह शुभ परिणाम से संयुक्त होता है परंतु वह उन्हें आदरणीय नहीं मानता है, उनकी स्वभाव में नास्ति है, इससे पात्रतानुसार कर्मों की निर्जरा होती जाती है।

संसार में दृष्टि का ही सब खेल है, इसी से कर्मबंध होते हैं, इसी से कर्मक्षय होते हैं। जैसी दृष्टि - वैसी सृष्टि। दृष्टि बदलते ही सृष्टि बदल जाती है। मिथ्यादृष्टि - संसारी है। सम्यक्दृष्टि - मुक्त है।

सम्यक्दृष्टि धर्मात्मा की दृष्टि अंतर के ज्ञानानंद स्वभाव ऊपर है, क्षणिक रागादि ऊपर नहीं है। उसकी दृष्टि में रागादि का अभाव होने से उसको (दृष्टि अपेक्षा) संसार कहाँ रहा ? राग रहित ज्ञानानंद स्वभाव ऊपर दृष्टि होने से वह मुक्त ही है, उसकी दृष्टि में मुक्ति ही है। मुक्त स्वभाव ऊपर की दृष्टि में बंधन का अभाव है।

यथार्थ दृष्टि होने के पश्चात् भी ज्ञानी, देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति आदि के शुभ भाव में संयुक्त होता है ; परंतु वह ऐसा नहीं मानता कि इससे धर्म होगा। सम्यक्दर्शन होने के बाद स्थिरता में विशेष वृद्धि होने पर उसे व्रतादि के परिणाम आते हैं परंतु वह उससे धर्म नहीं मानता। सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की निर्मल शुद्ध पर्याय जितने अंश में प्रगट होती है वह उसे ही धर्म मानता है। दया पूजा भक्ति आदि के शुभ परिणाम तो विकारी भाव हैं, उनसे पुण्य बंध होता है लेकिन धर्म नहीं होता।

सम्यक्दृष्टि का ज्ञान अति सूक्ष्म है। वह दृष्टि के स्वभाव-विभाव रूप परिणमन को भी पकड़ता है। राग और स्वभाव के बीच की संधि को बुद्धिगम्य भिन्न करता है।

मिथ्यादृष्टि को स्व-पर का कोई बोध ही नहीं होता अतः उसकी दृष्टि तो पर-संसार शरीरादि में ही रत रहती है, वह दृष्टि नहीं अदृष्टि है। जब तक अपने स्वरूप का बोध नहीं होता तब तक दृष्टि भी पकड़ में नहीं आती।

अज्ञानी मन को ही सब कुछ जानता मानता है। जिसे भेदज्ञान पूर्वक स्व-पर का यथार्थ ज्ञान श्रद्धान होता है उसे ही दृष्टि पकड़ में आती है। विवेक ही दृष्टि को पकड़ता है और उस पर ही संसार का सारा खेल चलता है। कर्म बंधन ही संसार है और कर्मों की निर्जरा, क्षय हो जाना मुक्ति है।

प्रश्न - यह कर्म क्या है ?

समाधान - कर्म, अदृश्य शक्ति, माया भ्रम जाल है, जो पुद्गल कर्म वर्गणाओं द्वारा बंधता है। कर्म, पुद्गल, अचेतन जड़ हैं, यह जीव की दृष्टि के सद्भाव पर बंधते और क्षय होते हैं।

कम्म सहावं षिपनं, उत्पत्ति षिपिय दिस्ति सभावं ।

चेयन रुव संजुत्तं, गलियं विलयं ति कम्म बंधानं ॥

(कमलवत्तीसी - गाथा ६)

कर्मों का स्वभाव तो जड़ और नाशवान है, यह दृष्टि के सद्भाव पर पैदा होते हैं और क्षय होते हैं अर्थात् जब जीव की दृष्टि पर की तरफ विभाव रूप होती है तब कर्मों का आश्रव बंध होता है और जब स्वभाव रूप दृष्टि होती है तब कर्मों का क्षय होता है। जो अपने चैतन्य स्वरूप में लीन हो जाता है, उसके तीनों प्रकार के बंधे हुए कर्म भी गल जाते, विला जाते हैं।

कर्म का बंध दिखता नहीं है, कर्म का उदय फल के रूप में दिखता है। पूरी सृष्टि संसार का सारा परिणमन, कर्म के निमित्त से ही चल रहा है। जब तक जीव अज्ञान दशा में है तब तक इन कर्मों के चक्कर में संसार में रुल रहा है। जो जीव अपने सत्स्वरूप का बोध करके ज्ञानी हो जाता है, वह इन कर्मों के चक्र से छूट जाता है।

प्रश्न - यह दृष्टि का खेल और कर्म का चक्र कैसा है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

अदिस्ट सद्भाव उत्तं, सब्दं संसार सरनि पिच्छंतो ।

कम्म उवंनं भावं, अतींदी सहकार कम्म विरयंति ॥ २६६ ॥

सब्दं च सब्द रूवं, रसनि कसनि तंति तार फूकं च ।

सब्द सहाव सकम्मं, अतींदी सहकार कम्म विरयंति ॥ २६७ ॥

अन्वयार्थ - (अदिस्ट सद्भाव उत्तं) अदिस्ट का स्वभाव कहते हैं, अदिस्ट में कर्म, शब्द और आत्मा यह तीनों आते हैं, जो चर्म चक्षुओं से

दिखाई नहीं देते, अनुभव में तथा ज्ञान में जानने में आते हैं। अब चैतन्य की जो दृष्टि अर्थात् उपयोग है वह (सब्द संसार सरनि पिच्छंतो) संसार परिभ्रमण के देखने जानने में लगा है, अर्थात् संसार, शरीर, इन्द्रियादि कर्म के चक्कर में है तो (कम्म उवंतं भावं) इससे कर्म बंध कारक भाव पैदा होते हैं (अतींदी सहकार कम्म विरयंति) जब दृष्टि इन इन्द्रिय मन शब्दादि से हटकर अतीन्द्रिय आत्मा में सहकार करती है तब कर्मों की निर्जरा होती है।

(सब्दं च सब्द रूपं) शब्द भी अनेक रूप होते हैं, जो भाषा रूप और कई रूप होते हैं, जैसे (रसनि कसनि तंति तार फूकं च) ढोल, मृदंग, सितार, वीणा, ताल, घंटा, बांसुरी, शंख आदि जिनसे अनेक रस के, जैसे-श्रृंगार रस, वीर रस, वीभत्स रस आदि के शब्द निकलते हैं (सब्द सहाव सकम्मं) इन शब्दों के भीतर रंजायमान होने से कर्मों का बंध होता है (अतिंदी सहकार कम्म विरयंति) जो अतीन्द्रिय आत्मा में लीन होता है उसके कर्मों की निर्जरा होती है।

विशेषार्थ - दृष्टि का खेल और कर्म का चक्र बड़ा विचित्र और सूक्ष्म है। कर्म से कर्म बंधते हैं, कर्म में कर्म बंधते हैं। आत्मा कर्मों से परे अतीन्द्रिय है ; परंतु आत्मा की दृष्टि (उपयोग) के सद्भाव पर ही कर्मों का बंध और कर्मों का क्षय होता है ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। कर्मोदय निमित्त से दृष्टि उस रूप होती है और दृष्टि के सद्भाव से कर्मबंध होता है।

अदिस्ट अर्थात् जो चर्म चक्षु से दिखाई नहीं देते, ऐसे मन, शब्द, कर्म और आत्मा यह सब अदिस्ट कहलाते हैं। इनमें मन शब्द कर्म यह जड़ अचेतन हैं और आत्मा चेतन ज्ञान स्वभावी अतीन्द्रिय है। जब जीव की दृष्टि (उपयोग) संसार की ओर देखती है, जहाँ राग रंग, कौतूहल रूप, इन्द्रिय विषयों में रंजायमान रूप होने व क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय की पुष्टि रूप अशुभ भाव सहित होती है तब पाप कर्म का बंध होता है। जब शुभ भाव सहित पूजा, पाठ, जप, तप, दया, दान, परोपकार आदि कार्यों में लगती है तब पुण्य कर्म का बंध होता है और यह दोनों प्रकार के कर्म बंधन से हटकर अतीन्द्रिय आत्म स्वभाव के आनंद में रमण होता है तब ही कर्मों का क्षय होता है।

मन, वचन, काय यह तीनों ही आत्मा से भिन्न अचेतन जड़ कर्मोदय

जन्य हैं। मन में उठने वाले भाव, वचन रूप शब्द और शरीर की क्रिया इनमें दृष्टि के रंजायमान होने से कर्मों का बंध होता है। शब्द भी अनेक प्रकार के होते हैं, भीतर बोलने वाले कषाय रूप होते हैं, बाहर होने वाले शब्द (भाषा) वर्णना भी कई रूप होती है। इनमें संगीत के सात स्वर प्रसिद्ध हैं, वाद्य यंत्रों से निकलने वाले स्वर भी अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे - रसनि, कसनि, तंति, तार, फूक आदि से निकलते हैं। इन शब्दों में रंजायमान होने से भी कर्म का बंध होता है। जब दृष्टि सर्व प्रकार के शब्दों से छूटकर अशब्द अतीन्द्रिय आत्मा में लवलीन होती है तब कर्मों की निर्जरा होती है।

जब तक कर्म बंधन है तब तक संसार है। कर्म बंधन से रहित मोक्ष, सिद्ध पद है। जिस प्रकार दीपक से प्रकाशनीय वस्तु को जानकर दीपक को उस वस्तु से अलग किया जाता है, उसी प्रकार ज्ञान से ज्ञेय को जानकर, ज्ञान को ज्ञेय से अलग किया जाता है। जो ज्ञान, आत्मा का स्वरूप है, सूक्ष्म है, व्यपदेश रहित अथवा वचन के अगोचर है उसका त्याग अथवा पृथक्करण नहीं होता, उससे भिन्न जो इन्द्रिय आदि द्वारा विभाव परिणत ज्ञान है उसको दूर किया जाता है। अंतरंग में अभ्यास करें, देखें तो यह आत्मा अपने अनुभवन से ही जानने योग्य जिसकी प्रथम महिमा है, ऐसा व्यक्त अनुभव गोचर निश्चल, शाश्वत, नित्य, कर्म कलंक कर्दम से रहित स्वयं ऐसा स्तुति करने योग्य देव विराजमान है।

शुद्ध नय की दृष्टि से देखा जाये तो सर्व कर्मों से रहित चैतन्य मात्र देव अविनाशी आत्मा अंतरंग में स्वयं विराजमान है। यह प्राणी पर्याय बुद्धि बहिरात्मा उसे बाहर ढूँढता है यह महा अज्ञान है।

प्रश्न - रसनि, कसनि, तंति, तार, फूक आदि के शब्दों का क्या प्रयोजन है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

रसनस्य रसन भावं, कसनस्य कम्म भाव उपपत्ती।

तंती अनंत भावं, अतिंदी सहकार कम्म विरयंति ॥ २६८ ॥

तारं नंत विषेसं, फूकं कम्मान भाव उववन्नं।

सब्द सहाव असुद्धं, अतिंदी भाव कम्म षिपनं च ॥ २६९ ॥

अन्वयार्थ - (रसनस्य रसन भावं) रसन का रसभाव होता है

(कसनस्य कम्म भाव उपपत्ती) कसन का अर्थात् कषाय राग भाव से कर्म पैदा होते हैं। जैसे-रस्सी से कसकर ढोल मृदंग आदि को बजाया जाता है, उससे जो शब्द निकलते हैं, भाव पैदा होते हैं, उसमें रंजायमान होना कर्मबंध का कारण है। इसी प्रकार रसबुद्धि कषायभाव कर्मबंध के कारण हैं (तंती अनंत भाव) तांत के बाजे में भी अनंत भाव पैदा होते हैं। तांत-चमड़े की पतली झिल्ली को कहते हैं। इसी प्रकार आंतरिक भाव अनंत होते हैं जो कर्मबंध के कारण हैं (अतिंदी सहकार कम्म विरयंति) जब इन शब्द रूप भावों से दृष्टि हटाकर अपने अतीन्द्रिय आत्म स्वरूप में तन्मयता होती है तब कर्मों की निर्जरा होती है।

(तारं नंत विषेसं) तारों के द्वारा बजने वाले बाजों के अनेक प्रकार के स्वर ताल होते हैं, ऐसे ही अंतरंग के परिणामों के अनेक तार होते हैं, जो सामने वाले जीवों से राग-द्वेष, बैर-विरोध कर कर्म बंध कराते हैं (फूकं कम्मान भाव उववन्नं) फूक के बाजे-बांसुरी आदि के स्वरों में रंजायमान होने से कर्म भाव पैदा होते हैं, इसी प्रकार मन में उठने वाली हवा, भावरूप लहरों में तरंगित होने से कर्म पैदा होते हैं (सब्द सहाव असुद्धं) सब ही शब्दों का स्वभाव पौद्गलिक अशुद्ध है (अतिंदी भाव कम्म षिपनं च) जो शब्दों में राग भाव छोड़कर शब्द रहित आत्मा में लीन होता है, उसी के कर्मों का क्षय होता है।

विशेषार्थ - रसनि, कसनि, तंति, तार, फूक के वाद्ययंत्र होते हैं। जैसे- ढोल, मृदंग, घंटा, ताल, मजीरा, सितार, वीणा, हारमोनियम, बांसुरी आदि। इनके स्वरों में, शब्दों में जो राग भाव पैदा होता है उससे कर्म बंध होता है। इसी प्रकार रस बुद्धि, कषाय भाव, लेश्या, मन के संकल्प-विकल्प और भीतर पैदा होने वाले मोह, राग-द्वेष भाव इस अंतरंग शब्द रूप प्रवृत्ति में दृष्टि लगने से कर्मबंध होते हैं।

रसनि - रस्सी द्वारा बंधे, ढोल, मृदंग। कसनि - कांसे के घंटा, ताल, मंजीरा। तंति - हारमोनियम आदि। तार के - सितार, वीणा आदि। फूक के - बांसुरी आदि वाद्ययंत्र होते हैं। जिनसे नाना प्रकार के शब्द स्वर निकलते हैं जो जीवों को रंजायमान करते हैं। इसी प्रकार अंतरंग में रस बुद्धि, सुख बुद्धि, भोग बुद्धि, संग्रह बुद्धि और मन के संकल्प-विकल्पों में रंजायमान रहने से कर्म बंध होता है।

शब्द रूप जितना भी मायाजाल है, चाहे वह बाहर का हो या भीतर का हो, इनमें दृष्टि लगने से कर्मबंध होता है। शब्द पुद्गल परमाणुओं के स्कंध से पैदा होता है अतएव इन सर्व शब्दों से दृष्टि हटाकर जो अतीन्द्रिय आत्मा में तन्मय होता है उसी के कर्मों की निर्जरा होती है।

प्रश्न - यदि शब्द मायाजाल है तो जिनवाणी भी शब्द रूप है, बिना शब्द ज्ञान के आत्मज्ञान कैसे होगा ?

समाधान - जो कुछ शास्त्र का ज्ञान होता है उसमें शब्द निमित्त हैं इसलिये इस ज्ञान को शब्द श्रुतज्ञान कहते हैं परंतु वह आत्मज्ञान नहीं है। जिस ज्ञान में शब्द श्रुत आधार है किन्तु आत्मा आधार नहीं है वह शब्द श्रुतज्ञान है, उससे आत्मज्ञान नहीं होता। शब्द श्रुत को जानने का जितना विकल्प है वह ज्ञान परलक्षी है। परलक्षी ज्ञान होने का निषेध किया है, जैसे-भक्ति आदि बंध का कारण है वैसे ही शास्त्र ज्ञान भी पुण्य बंध का कारण है लेकिन उसमें से निकलकर ज्ञायक आत्मा का अनुभव करना वह मोक्ष का कारण है।

प्रश्न - जब शब्द बंध के कारण हैं तो अबन्ध होने के लिये क्या करें ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

सब्दं असब्द दिट्ठी, सब्दं सुह असुह कम्म बंधानं ।

संसार सरनि बूडं, अप्प सहावेन कम्म षिपिऊनं ॥ २७० ॥

सब्दं च सुहं दिट्ठं, पुन्य सहाकार कम्म उपपत्ती ।

पुन्य पाव उववन्नं, न्यान सहावेन कम्म विरयंति ॥ २७१ ॥

सब्दं पर आनन्दं, सब्दं पज्जाव भाव उवलण्यं ।

सब्दं कम्म अनेयं, अप्प सहावेन कम्म विरयंति ॥ २७२ ॥

अन्वयार्थ - (सब्दं असब्द दिट्ठी) शब्द से हटकर जिनकी दृष्टि अशब्द आत्मा की तरफ हो (सब्दं सुह असुह कम्म बंधानं) शब्द पर दृष्टि होने से शुभ-अशुभ कर्मों का बंध होता है (संसार सरनि बूडं) जो संसार परिभ्रमण में डुबाता है (अप्प सहावेन कम्म षिपिऊनं) आत्म स्वभाव में लीन होने से ही कर्मों का क्षय होता है।

(सब्दं च सुहं दिट्ठं) जहाँ शुभ शब्द देखे जाते हैं वहाँ (पुन्य सहाकार

कम्म उपपत्ती) पुण्य के सहकार से कर्म पैदा होते हैं अर्थात् पुण्य कर्मों का बंध होता है (पुण्य पाव उववन्नं) और पुण्य से पाप पैदा होता है (न्यान सहावेन कम्म विरयंति) जब उपयोग ज्ञान स्वभाव में लीन होता है तब ही कर्मों की निर्जरा होती है।

(सब्दं पर आनन्दं) शब्दों से दूसरों को ही आनंदित किया जाता है (सब्दं पज्जाव भाव उवलस्यं) शब्दों से पर पर्याय भाव का ही लक्ष्य रहता है (सब्दं कम्म अनेयं) शब्द अनेक काम करते हैं, अनेक कर्म बंध होने में निमित्त हैं (अप्प सहावेन कम्म विरयंति) इन सब शब्दों को छोड़कर अशब्द आत्म स्वभाव में रमण करने से ही कर्मों की निर्जरा होती है।

विशेषार्थ - अबंध होने के लिये शब्दों से हटकर अशब्द आत्म स्वभाव की दृष्टि होनी चाहिये। शब्द नहीं, शब्द के मर्म को पकड़ने से आत्म कल्याण होता है। जगत में शब्दों का व्यवहार दो प्रकार के भावों में किया जाता है, यदि दया, दान, जप-तप, परोपकार, पूजा, भक्ति स्तुति आदि रूप शब्दों का व्यवहार है तब तो पुण्य बंध होता है। यदि विषय-कषाय, पाप रूप, पर के अपकार रूप, हास्य रूप, निंदा रूप, ईर्ष्या रूप, हास्य कौतूहल रूप, कामोत्तेजक रूप शब्दों का व्यवहार होता है तब पाप कर्म का बंध होता है। शुभ भावना युक्त शब्द पुण्य व अशुभ भावना युक्त शब्द पाप बंध में कारण होते हैं। कर्मों का बंध संसार में भ्रमण कराने वाला है।

जिन शब्दों का लक्ष्य अध्यात्म चर्चा है जो शब्द, अशब्द आत्मा पर लक्ष्य दिलाते हैं वे शब्द सर्व उत्तम हैं, यद्यपि उनसे भी पुण्य का बंध होता है तथापि वे शब्द अपने आत्म स्वभाव को बताने वाले, परमार्थ मुक्ति का मार्ग बताने वाले शुभ श्रेष्ठ कहे जाते हैं। इन शब्दों के मनन से उपयोग (दृष्टि) आत्मस्थ हो जाता है तब पूर्व बद्ध कर्मों का क्षय होता है, नवीन कर्म बंध नहीं होता, यही अबंध मुक्त होने का उपाय है।

जहाँ तक स्वानुभव नहीं है और अंतर्जल्प अर्थात् भीतर वचन वर्गणा रूप शब्द गूँज रहे हैं, चिंतन-मनन चल रहा है अथवा बहिर्जल्प अर्थात् प्रगट रूप शब्दों का कहना है, प्रवचन संभाषण रूप व्यापार चल रहा है, वहाँ तक अवश्य पुण्य कर्मों का बंध है। पुण्य भाव से ही पाप पैदा होता है इसलिये शब्दातीत भाव में रमने का ही पुरुषार्थ करना योग्य है।

शब्दों का प्रयोग नाना प्रकार से होता है। बहुत से शब्द इसी अभिप्राय

से कहे जाते हैं कि दूसरे लोग प्रसन्न रहें, जनरंजन राग, कलरंजन दोष, मनरंजन गारव को बढ़ाने वाले शब्दों का प्रयोग, पर और पर्याय के लक्ष्य से ही किया जाता है। कोई शब्द अपने शरीर सुख व पर के शरीर सुख के लिये कहे जाते हैं, कोई शब्द किन्हीं के किये गये अच्छे-बुरे कामों की अनुमोदना रूप होते हैं। इन शब्दों में शुभ-अशुभ अभिप्राय के अनुसार पुण्य-पाप कर्म का बंध होता है, जहाँ तक वचन वर्गणा रूप शब्दों का व्यवहार है वह सब कर्म बंध का कारण है। ज्ञानी कर्मों की निर्जरा के लिये शब्दों का व्यवहार छोड़कर जब शब्द रहित आत्मा में लीन होता है तब ही कर्मों से छुटकारा होता है।

शब्द, उपदेश, अंतःकरण और इन्द्रिय इत्यादि को विरूप कारणता से ग्रहण करके और उपलब्धि (क्षयोपशम) संस्कार इत्यादि को अंतरंग स्वरूप कारणता से ग्रहण करके प्रवृत्त होता है और वह प्रवृत्त होता हुआ, सप्रदेश को ही जानता है क्योंकि वह स्थूल को ही जानने वाला है। अशब्द को नहीं जानता क्योंकि वह सूक्ष्म को जानने वाला नहीं है। वह मूर्त को ही जानता है क्योंकि वैसे मूर्तिक विषय के साथ उसका सम्बंध है। वह अमूर्त को नहीं जानता क्योंकि अमूर्तिक विषय के साथ इन्द्रिय ज्ञान का सम्बंध नहीं है। वह वर्तमान को ही जानता है क्योंकि विषय-विषयी के सन्निपात सद्भाव है। वह प्रवर्तित हो चुकने वाले को और भविष्य में प्रवृत्त होने वाले को नहीं जानता क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष का अभाव है।

इन्द्रिय ज्ञान परावलंबी और प्रत्येक ज्ञेय अनुसार परिणमन शील होने से व्याकुल तथा मोह के संपर्क से सहित होता है इसलिये वास्तव में वह इन्द्रिय ज्ञान शब्द दुःखरूप कर्मबंध का कारण है।

भाव यह है कि मैं केवलज्ञान और केवलदर्शन स्वभाव रूप से ज्ञायक एक टंकोत्कीर्ण स्वभाव आत्मा हूँ। ऐसा होता हुआ, मेरा पर द्रव्यों के साथ स्व स्वामीपने आदि का कोई सम्बंध नहीं है। मात्र ज्ञेय ज्ञायक सम्बंध है, सो भी व्यवहार नय से है। निश्चय नय से यह ज्ञेय ज्ञायक सम्बंध भी नहीं है, ऐसा जानकर जो निज स्वभाव में लीन होता है वह ज्ञानी सब कर्म बंध से छूटकर मुक्ति पाता है।

प्रश्न - क्या अशब्द रूप मौन रहने से मुक्ति हो जायेगी ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

**असब्दं च स उत्तं, असब्द कोह लोह संजुतं ।
असब्द अनर्थ रूवं, न्यान सहावेन कम्म विरयंति ॥ २७३ ॥
असब्द अन्यान सुभावं, असब्द कम्मान तिविहि बंधानं ।
असब्द असुद्ध रूवं, न्यान सहावेन कम्म विरयंति ॥ २७४ ॥**

अन्वयार्थ - (असब्दं च स उत्तं) अशब्द रूप मौन रहना कार्यकारी नहीं है (असब्द कोह लोह संजुतं) मौन रहना, शब्द नहीं बोलना, अंतरंग में क्रोध लोभ सहित होना (असब्द अनर्थ रूवं) ऐसा अशब्द रूप मौन रहना अनर्थकारी है (न्यान सहावेन कम्म विरयंति) ज्ञान स्वभाव से ही कर्मों से मुक्ति होती है ।

(असब्द अन्यान सुभावं) अशब्द रूप मौन क्रोधादि भाव सहित अज्ञान स्वरूप है (असब्द कम्मान तिविहि बंधानं) ऐसे असब्द रूप मौन से तीनों प्रकार के कर्मों का बंध होता है (असब्द असुद्ध रूवं) अनंत भावों का भोग करता, स्वाद लेता है (न्यान सहावेन कम्म विरयंति) इन कषाय भावों को त्याग कर आत्म स्वभाव में रत होने से ही कर्मों की निर्जरा होती है ।

विशेषार्थ - अंतरंग भाव को अशब्द कहते हैं । कोई शब्द न बोले, मौन रहे परंतु अंतरंग में क्रोध, लोभ भाव सहित होना ऐसा मौन अनर्थकारी है । क्रोधादि कषाय अंतरंग में उठते हैं, जहाँ शब्द नहीं है यह औपाधिक अशुद्ध भाव अज्ञान स्वभाव है, इससे तीनों प्रकार के द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म का बंध होता है । ऊपर से मौन होना और भीतर परभावों में नाना प्रकार के भावों का भोग करना यह अनंत कर्मबंध का कारण है, ऐसा अशब्द रूप मौन रहना कार्यकारी नहीं है । जहाँ इन भावों को छोड़कर ज्ञान स्वभाव में रमण होता है वहीं कर्मों की निर्जरा होती है ।

आत्म स्वभाव से हटकर, परभाव क्रोधादि कषायों में रस लेना, इनका भोग करना अनंत कर्मबंध करने वाला है । रसना इंद्रिय के दो काम हैं - १. बोलना, २. रस लेना, स्वाद चखना ।

बोलना बंद करके अनंत भावों का स्वाद चखना, दुर्गति कर्मबंध का कारण है । अज्ञानी जीव ऊपर के अशब्द रूप मौन रहकर अंतरंग कषाय भावों का नाना प्रकार से रस लेता हुआ निरंतर अनंत कर्मों का बंध करता है ।

आत्मा ज्ञान स्वभाव ज्ञायक है और यह शरीर परिणाम को प्राप्त जो

इन्द्रियां हैं वह जड़ हैं तथा एक-एक विषय को ही खंड-खंड रूप से जानती हैं वह भावेन्द्रियां अर्थात् क्षयोपशम ज्ञान भी वास्तव में इन्द्रिय है, शरीर परिणाम को प्राप्त जड़ इन्द्रियां जैसे ज्ञायक का पर ज्ञेय हैं, वैसे ही शब्द, रस, रूप, गंध आदि को जानने वाली भावेन्द्रियाँ भी निश्चय से ज्ञायक का पर ज्ञेय हैं, ज्ञायक भगवान आत्मा का वह स्व ज्ञेय नहीं है वैसे ही भावेन्द्रियों से ज्ञात होने वाले जो शब्द रस गंध स्पर्शादि पर पदार्थ वह भी पर ज्ञेय हैं । स्वज्ञेयपने जानने लायक ज्ञायक और पर तरीके जानने लायक परज्ञेय इन दोनों की एकत्व बुद्धि ही मिथ्यात्व अज्ञान और संसार भाव है ।

इन तीनों द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और उनके विषय भूत पदार्थों को जो जीते अर्थात् परज्ञेय की तरफ का लक्ष्य छोड़कर स्वज्ञेय जो शुद्ध ज्ञायक भाव स्वरूप आत्मा है उसका अनुभव करे, उसको जाने वह सम्यक्दृष्टि है और वही अपने ज्ञान स्वभाव में रत रहने से अनंत कर्मों की निर्जरा, क्षय करता है ।

प्रश्न - रसना इन्द्रिय, जिह्वा से शब्द और रस स्वाद होता है यह कर्मबंध का कारण है तो इनसे छूटने का उपाय क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

**जिह्वा स्वाद अनंतं, जिह्वा विचलंति स्वाद सहियानं ।
स्वादं अनंत भावं, अप्य सहावेन कम्म विरयंति ॥ २७५ ॥
जिह्वा स्वाद सुभावं, स्वादं सुभाव कम्म उववन्नं ।
कम्मान बंध बंधं, न्यान सहावेन कम्म विरयंति ॥ २७६ ॥**

अन्वयार्थ - (जिह्वा स्वाद अनंतं) जिह्वा अर्थात् रसना इन्द्रिय अनंत प्रकार के स्वाद को ग्रहण करती है (जिह्वा विचलंति स्वाद सहियानं) स्वाद को लेकर रसना इन्द्रिय चंचल हो जाती है, तृष्णावान हो जाती है (स्वादं अनंत भावं) अनंत प्रकार के स्वाद को चाहती है (अप्य सहावेन कम्म विरयंति) जो इस स्वाद के राग को छोड़कर आत्मा के स्वभाव में रमण करते हैं उन्हीं के कर्मों की निर्जरा होती है ।

(जिह्वा स्वाद सुभावं) जिह्वा के स्वाद का स्वभाव ऐसा है (स्वादं सुभाव कम्म उववन्नं) कि उस स्वाद में रंजायमान होने से राग रूपी भावकर्म पैदा हो जाता है (कम्मान बंध बंधं) उस राग भाव से कर्मों का बंध बंधता है (न्यान सहावेन कम्म विरयंति) जो रसना इन्द्रिय को जीतकर ज्ञान स्वभाव में रत

होता है उसी के कर्मों की निर्जरा होती है।

विशेषार्थ - दृष्टि का विषय सूक्ष्म है, दृष्टि का पर पर्याय की तरफ लक्ष्य होना ही विभाव परिणति कर्माश्रय है। पांचों इन्द्रियों के विषयों में रत रहना, मन से जुड़े रहना ही कर्म बंधन और अनंत संसार परिभ्रमण का कारण है। अपने ममल स्वभाव शुद्धात्म तत्त्व की दृष्टि ही कर्मबंधन से छुड़ाने वाली है।

जिह्वा इन्द्रिय, खड़े-मीठे, चरपरे, तीखे, कषायले आदि स्वाद की लोलुपी रहती है। दूध, घी, तेल, दही, मीठा, लवण इन छह रसों से बने हुए अनेक प्रकार के व्यंजनों को चखना चाहती है। जितने-जितने इस जिह्वा को इच्छानुकूल रसीले भोज्य पदार्थ मिलते जाते हैं, उतनी-उतनी इसकी स्वाद की तृष्णा, रस लोलुपता बढ़ती जाती है। इस रसना इन्द्रिय की लोलुपता को जो जीतकर आत्म रस का रसिक हो आत्मा में रत होता है, उसी के कर्मों की निर्जरा होती है।

रसना इन्द्रिय से बोलना और खाना यह दो काम होते हैं और इन दोनों से ही कर्मों का बंध होता है, जब तक बोलने और खाने का रागभाव रहेगा, तब तक कर्म बंध होता रहेगा। इन कर्म बंधनों से छूटने का उपाय अपने ज्ञान स्वभाव में आत्मस्थ रहना है।

खट्टा, मीठा इत्यादि भेदपने जो रस ज्ञान में आते हैं, वह ज्ञान नहीं है और उस रस का जो ज्ञान होता है वह भी जड़ है। भगवान आत्मा चैतन्य ज्योति स्वरूप प्रभु है। उसका ज्ञान होता है वही ज्ञान है, स्वसंवेदन ज्ञान ही ज्ञान है वही सम्यक्ज्ञान है और उसी को मोक्षमार्ग माना गया है।

दुनियां की बातों का जिसको रस है, उसको यह बात बैठनी कठिन लगती है और जिसको इस बात का रस लग जाता है उसको अन्य में रस नहीं लगता है, ऐसे ही जिसको इन्द्रिय ज्ञान का रस चढ़ा है उसको अतीन्द्रिय ज्ञान प्रगट नहीं होता है।

प्रश्न - शरीर के साथ पांच इन्द्रियाँ और मन है इसे क्या करें ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

शरीर सुभाव उववन्नं, अबंभ भावेन कम्म बन्धानं।

दोसं अनन्त दिट्ठं, अतिंदी सहाव कम्म विरयंति ॥ २७७ ॥

एयं अनेय भावं, मन पज्जाव कम्म बंधानं।

मन विलयं न्यान सहावं, अप्प सहावेन कम्म विरयंति ॥ २७८ ॥

अन्वयार्थ - (शरीर सुभाव उववन्नं) शरीर स्वभाव जब पैदा होता है अर्थात् जब शरीरादि मन की तरफ दृष्टि जाती है (अबंभ भावेन कम्म बन्धानं) तब अब्रह्म भाव के होने से कर्मों का बंध होता है (दोसं अनन्त दिट्ठं) इससे अनंत दोष दिखते हैं (अतिंदी सहाव कम्म विरयंति) अतीन्द्रिय स्वभाव आत्मा की ओर दृष्टि होने से कर्म क्षय हो जाते हैं।

(एयं अनेय भावं) ऊपर कथित अनेक भाव होते हैं (मन पज्जाव कम्म बंधानं) मन और पर्याय की तरफ दृष्टि होने से कर्मों का बंध होता है (मन विलयं न्यान सहावं) ज्ञान स्वभाव से ही मन विलाता है, अज्ञान में मन दिखाई देता है (अप्प सहावेन कम्म विरयंति) आत्मीक स्वभाव में रत होने से कर्मों का क्षय होता है।

विशेषार्थ - शरीरादि मन की तरफ दृष्टि होने से अब्रह्म आदि के अनंत भाव पैदा होते हैं। स्पर्शन इन्द्रिय व रसना इन्द्रिय यह दो इन्द्रियां बड़ी प्रबल हैं, इनके आधीन होकर प्राणी बहुत अनर्थ करता है। अब्रह्म भाव के होने पर उसकी पूर्ति के लिये अनंत दोष व अनंत कर्मों का बंध होता है। मन और पर्याय में जुड़ने से इन्द्रियों के विषयों की अपेक्षा लेकर तथा शरीर कुटुम्ब परिवार के राग में फंसकर मान प्रतिष्ठा क्रोधादि कषाय से मन में अनेक प्रकार के कुभाव उत्पन्न होते हैं जिनसे अनंत कर्मों का बंध होता है। मन का विषयों में रमना आत्म स्वरूप से हटाने वाला है।

ज्ञान स्वभाव के जागृत होने पर मन विला जाता है। दृष्टि जब आत्म स्वभाव की ओर होती है जो अतीन्द्रिय ज्ञान स्वभाव है, जहाँ शरीर इन्द्रिय मन आदि कोई भाव-विभाव ही नहीं है तभी कर्मों से मुक्ति होती है। आत्मानुभूति से ही कर्म क्षय होते हैं।

राग के विकल्प और परलक्षी ज्ञान ही मेरी चीज है, ऐसी मान्यता के कारण ज्ञायक प्रकाशमान चैतन्य ज्योति ढक गई है। अपने में अपनी आत्मा के ज्ञान का अभाव होने से अंदर प्रकाशमान ज्ञान स्वभावी चैतन्य ज्योति विराजमान है उसको कभी जाना ही नहीं है और अनुभव भी नहीं किया है परंतु बाह्य प्रवृत्ति में जीव रुक गया, यही कर्म बंधन और संसार परिभ्रमण का

कारण है ।

प्रश्न - जैसा अभी तक सुना समझा है, जैसा जानते हैं वैसा ही बोलते हैं, इसमें क्या दोष है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

वयनं असुद्ध वयनं, असुद्ध आलाप कम्म बंधानं ।

जनरंजन स सहावं, न्यान सहावेन कम्म विरयंति ॥ २७९ ॥

वयनं असुद्ध वयनं, पज्जावं रंजेइ वयन सहकारं ।

जन रंजन मूढ सहावं, न्यान सहावेन वयन तिक्तंति ॥ २८० ॥

अन्वयार्थ - (वयनं असुद्ध वयनं) वचनों को लेकर अज्ञानी प्राणी बहुत अशुद्ध व असत्य वचन बोलता है (असुद्ध आलाप कम्म बंधानं) शास्त्र विरुद्ध असत्य वचन कहने से कर्मों का बंध होता है (जनरंजन स सहावं) नाना प्रकार वचनों के विलास से जगत के प्राणियों को रंजायमान करने का स्वभाव पड़ जाता है (न्यान सहावेन कम्म विरयंति) जो वचनों की प्रवृत्ति को रोककर अपने ज्ञान स्वभाव में लय होते हैं उन्हीं के कर्मों की निर्जरा होती है ।

(वयनं असुद्ध वयनं) बोलने में अशुद्ध बोलना अर्थात् संसारी बातें करना (पज्जावं रंजेइ वयन सहकारं) ऐसे वचनों के सहकार से पर्याय में रंजायमानपना होता है (जन रंजन मूढ सहावं) लोगों को रंजायमान करना, प्रभावित व प्रसन्न रखना यह मूढ अज्ञानी जन का स्वभाव है (न्यान सहावेन वयन तिक्तंति) ज्ञान स्वभाव में लीन होने से वचनों की प्रवृत्ति स्वयं छूट जाती है ।

विशेषार्थ - कर्मों को क्षय करने के लिये मन वचन काय की क्रिया से दृष्टि हटाने की जरूरत है । वचनों की असत्य व निरर्थक प्रवृत्ति से बहुत कर्म का बंध होता है, बहुत से प्राणी शास्त्र विरुद्ध वचन कहते हैं, बहुत से स्वार्थ साधक असत्य वचन कहते हैं । बहुत से व्यर्थ चर्चाये करके हास्य कौतूहल सहित लोगों को खुश करते हैं, इत्यादि वचन व्यवहार से कर्म का बंध होता है । आत्मा में लीन होने के लिये इस वचन की प्रवृत्ति को रोकना होगा, तब ही कर्मों का क्षय होगा ।

शरीर में रागी मानव अपने वचनों से अपनी प्रशंसा व अपने सुख भोग

का वर्णन किया करते हैं, विषयों की कथाये करते हैं । चार आदमियों में बैठकर लोगों के मन को रंजायमान करना अज्ञानी जीवों का स्वभाव पड़ जाता है । इस प्रकार वचनों की वृथा प्रवृत्ति से अज्ञानी कर्म बांधते हैं । आत्मा के अनुभव में तब ही लीन हुआ जायेगा जब वचनों का व्यवहार बंद होगा अथवा आत्मा में लीन होने से स्वयं वचन व्यवहार नहीं रहता है ।

मर्म को छेदने वाला, मन में शल्य उपजाने वाला, चित्त में आकुलता पैदा करने वाला, विरोध उपजाने वाला तथा हिंसाकारी निर्दय वचन नहीं बोलना चाहिये । राग के सद्भाव में ही वचन प्रवृत्ति होती है, जो कर्म बंध का कारण है । ज्ञान पूर्वक वीतरागता में ही वचन प्रवृत्ति नहीं होती, यही मुक्ति का मार्ग है ।

प्रश्न - अज्ञान दशा में क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

अन्यान सुभाव सुभावं, आलापं देइ कम्म उववन्नं ।

अन्यानं सहकारं, न्यान सहावेन कम्म विरयंति ॥ २८१ ॥

वयनं कम्म उववन्नं, नंत विषेसेन नंतनंताइ ।

गलियति पूरति उत्तं, न्यान सहावेन कम्म विरयंति ॥ २८२ ॥

वयनं सहाव उत्तं, नंत विषेसेन पज्जाव संजुत्तं ।

वयनं विरयंति सुद्धं, न्यान सहावेन कम्म विरयंति ॥ २८३ ॥

अन्वयार्थ - (अन्यान सुभाव सुभावं) अज्ञान दशा में जीव का स्वभाव अज्ञानमय होता है (आलापं देइ कम्म उववन्नं) नाना प्रकार चर्चा बकवाद क्रिया कर्म किया करता है, जिससे कर्म पैदा होते हैं अर्थात् कर्मों का आस्रव बंध होता है (अन्यानं सहकारं) हमेशा अज्ञान का सहकार करता है (न्यान सहावेन कम्म विरयंति) ज्ञान स्वभाव में लीन होने से कर्मों की निर्जरा होती है ।

(वयनं कम्म उववन्नं) वचन वर्णना से कर्म पैदा होते हैं (नंत विषेसेन नंतनंताइ) इस शरीर संबंधी अज्ञानमय अनेक प्रकार के वचनों को कहने से अनंतानंत कर्मों का बंध होता है (गलियति पूरति उत्तं) पौद्गलिक परिणमन सारा गलन पूरण स्वभाव कहा गया है, इसकी चर्चा करना ही अज्ञान है (न्यान

सहावेन कम्म विरयंति) ज्ञान स्वभाव से ही कर्मों का क्षय होता है ।

(वयनं सहाव उत्तं) वचनों का स्वभाव कहने, बोलने का है (नंत विषेसेन पज्जाव संजुत्तं) जितना भी वचन व्यवहार है वह सब पर्याय से ही संयुक्त करता है अर्थात् वचन द्वारा जीव-पुद्गल की पर्याय अपेक्षा ही जानकारी होती है (वयनं विरयंति सुद्धं) जो सर्व वचनों से विरक्त होकर छूटकर शुद्धभाव में जमते हैं वे (न्यान सहावेन कम्म विरयंति) ज्ञान स्वभाव में लीन होने से कर्मों से छूटते हैं ।

विशेषार्थ - अज्ञान दशा में अज्ञानी तत्त्वचर्चा करने से व जिनवाणी के पढ़ने सुनने से उदास होकर संसार संबंधी निन्दा प्रशंसा की व विषयों के सेवन की वृथा बकवाद किया करता है । चार विकथाओं में मग्न रहता है, दूसरों की बुराई और अपनी प्रशंसा करता है, इस तरह अज्ञान से बहुत कर्मों का बंध होता है । जब आत्मज्ञान होता है तब ही कर्म क्षय होते हैं ।

पौद्गलिक परिणमन सारा गलन-पूरण स्वभाव है अर्थात् सब क्षणभंगुर नाशवान है और पर्याय एक समय की है, इनकी चर्चा करने से, नाना प्रकार की विशेषता बताने से इनमें उपयोग लगा रहता है जिससे अनंतानंत कर्म पैदा होते हैं । शरीर सम्बंधी वचन विलास, राग-द्वेष, मोह उत्पादक होने से पाप कर्म का बंध कराने वाला है तथा आत्मा सम्बंधी व तत्त्व सम्बंधी वचन प्रयोग किया जावे तो उससे भी पुण्य कर्म का बंध होता है क्योंकि यह सब पर्याय की चर्चा होती है और पर्याय पर दृष्टि होना ही कर्म बंध का कारण है । जो स्वभाव वचनातीत, अनुभूति का विषय है, जो इन वचन व्यवहार से छूटकर अपने शुद्ध स्वभाव में जमते हैं, ज्ञान पूर्वक स्वभाव साधना करते हैं वही इन कर्म बंधनों से छूटकर मुक्त होते हैं ।

अज्ञानी निरंतर कर्मों से बंधता है क्योंकि वह हर क्रिया, कर्म, भाव, पर्याय का कर्ता है । ज्ञानी, ज्ञायक, अबंध अकर्ता है । होना है वह होता है । क्रिया, भाव और पर्याय से वह भिन्न स्वतंत्र है ।

भावों में और क्रिया में, यह क्या हो रहा है ? ऐसा होना था, ऐसा न हो जाये, यह शल्य विकल्प अज्ञानी जीव को होते हैं और उनमें यह अच्छा है, यह बुरा है, यह हितकारी है यह अहितकारी है, यह शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य है ऐसा भेद विकल्प चलता है यही तद्गुण कर्मबंध का कारण है ।

ज्ञेय का विचार करना ही विकल्प है, कुछ समय चलने पर उनमें लिप्तता

हो जाती है, मोह राग-द्वेष होने लगता है । चर्चाओं का तथा अपने दुष्ट संकल्प-विकल्पों का परित्याग करो, यही तत्त्व का सार है ।

ज्ञानी जानता है कि शरीर भिन्न है, कर्म भिन्न है । उसका उदय उसकी अवस्था है, मेरा स्वरूप उससे सर्वथा भिन्न है । उदय काल में, संयोग-वियोग में, हर्ष-विषाद के कारण आते हैं परंतु वे मुझसे भिन्न हैं, मेरी सत्ता से भिन्न हैं, मेरे गुणों से भिन्न हैं, मेरी पर्याय से भिन्न हैं । ऐसे ज्ञान स्वभाव के आलंबन से ही कर्म क्षय होते हैं ।

जो भव्य प्राणी अनेकांत स्वरूप जिनवाणी के अभ्यास से उत्पन्न सम्यक्ज्ञान द्वारा तथा निश्चल आत्म संयम के द्वारा निज शुद्धात्मा में उपयोग स्थिर करके बार-बार शुद्धात्मा की भावना करता है वही कर्म बंधन से छूटकर परमात्म पद पाता है ।

मनुष्य जब तक इस मृतक तुल्य देह में आसक्त रहता है, तब तक वह अत्यंत अपवित्र रहता है और जन्म-मरण तथा व्याधियों का आश्रय बना रहकर उसको दूसरों से अत्यंत क्लेश भोगना पड़ता है; किंतु जब वह अपने कल्याण स्वरूप अचल और शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है तो उन समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाता है ।

प्रश्न - शारीरिक क्रिया से क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं ?

क्रितस्य कम्म उववन्नं, क्रितस्य पुगल सहाव अनेयं ।

क्रितस्य बन्ध सम्बंधं, न्यान सहावेन कम्म विरयंति ॥ २८४ ॥

क्रितस्य असुद्धं कम्मं, गृह बालेन ग्रही कर्मक्रितं च ।

अबंभ भाव अभावं, न्यान सहावेन कम्म विरयंति ॥ २८५ ॥

नो कम्मं उववन्नं, भाव कम्मं च सयल असहावं ।

कम्मं कम्म कलंकं, न्यान सहावेन कम्म विरयंति ॥ २८६ ॥

अन्वयार्थ - (क्रितस्य कम्म उववन्नं) काय द्वारा क्रिया करने से कर्मों का बंध होता है (क्रितस्य पुगल सहाव अनेयं) शरीर पुद्गल के निमित्त से अनेक प्रकार की क्रियायें होती हैं (क्रितस्य बन्ध सम्बंधं) जहाँ तक करने रूप क्रिया का सम्बंध है वहाँ तक कर्म का बंध है (न्यान सहावेन कम्म विरयंति)

ज्ञान स्वभाव में रमण करने से कर्मों की निर्जरा होती है, कर्म बंधन छूटते हैं।

(क्रितस्य असुद्धं कम्मं) क्रिया से शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का बंध होता है (गृह बालेन ग्रही कर्मक्रितं च) शारीरिक क्रिया कामभाव के द्वारा स्त्री-पुत्र परिवार घर गृहस्थी का फैलाव फैलता है, जिससे गृहस्थ कार्य करना पड़ते हैं (अबंभ भाव अभावं) अब्रह्म, कामभाव का अभाव होने पर (न्यान सहावेन कम्म विरयंति) ज्ञान स्वभाव में रहने से कर्मों से छुटकारा होता है।

(नो कम्मं उववन्नं) यह शरीर नोकर्म से पैदा होता है (भाव कम्मं च सयल असहावं) इसके निमित्त से भावकर्म और सारा विभाव परिणमन होता है (कम्मं कम्म कलंकं) इन भावकर्मों से द्रव्य कर्म रूपी कलंक पैदा होता है (न्यान सहावेन कम्म विरयंति) ज्ञान स्वभाव में लीन होने से ही कर्मों का क्षय होता है।

विशेषार्थ - शरीर में रागी मनुष्य शारीरिक क्रिया द्वारा अनंत कर्मों का बंध करता है, जैसे-कर्मों को क्षय करने के लिये मन के संकल्प-विकल्प व वचनों से दृष्टि हटाने की जरूरत है, वैसे ही काय की क्रियाओं से भी दृष्टि हटाने की जरूरत है।

पुद्गल शरीर के निमित्त से अनेक प्रकार की क्रियायें होती हैं, जहाँ तक करने रूप क्रिया का सम्बंध है वहाँ तक कर्म का बंध है। जब काय रूप क्रिया से दृष्टि हटाकर अपने ज्ञान स्वभाव में रहा जाता है तब ही कर्मों का क्षय होता है।

शारीरिक क्रिया से शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का बंध होता है। घर गृहस्थी का फैलाव कामभाव से होता है और इस कामना वासना की पूर्ति के लिये स्त्री-पुत्र, परिवार का सम्बंध होता है। गृहस्थ दशा में द्रव्य कमाना, पानी भरना, आटा पीसना, उखली में कूटना, झाड़ू लगाना और रोटी बनाना इन छह कर्मों से हिंसादि पाप कर्म का बंध होता है। दया, दान परोपकार करने से पुण्य का बंध होता है। जब काम भाव का अभाव होवे, कोई कामना वासना विषयाशक्ति न रहे, तब ज्ञान स्वभाव की साधना से कर्मों का क्षय होता है।

यह कामभाव दोषों की खान है, गुणों का नाश करने वाला है, पाप का बंधु है, बड़ी-बड़ी आपत्तियों को लाने वाला है। पिशाच के समान इस कामभाव से सर्व जगत पीड़ित है तथा जगत के प्राणी इसी के आधीन होकर निरंतर

संसार सागर में भ्रमते रहते हैं। इस कामभाव को वैराग्य भावना से जीतकर धीर वीर साधु जन मुक्ति को पाते हैं।

यह शरीर नोकर्म से उत्पन्न नाशवान है, इसका पालन पोषण करने, पांचों इन्द्रियों की इच्छा पूर्ति के लिये नाना प्रकार मोह राग-द्वेष भाव होते हैं, उन भावों के अनुसार नाना प्रकार हिंसा आदि आरंभ क्रियायें करना पड़ती हैं जिससे कर्मों का बंध होता है। तत्त्वज्ञानी इस काय की क्रियाओं से दृष्टि हटाकर आत्म स्वभाव में लीन होकर रत्नत्रय की एकता से कर्मों से छुटकारा पाते हैं।

शरीर के सम्बंध से और क्या होता है ? यह आगे गाथा में कहते हैं -

पुन्य पाउ उववन्नं, हिंसानंदी च दोस संजुत्तं ।

अत्रित असत्य सहियं, न्यान सहावेन कम्म विरयंति ॥ २८७ ॥

अत्रित नन्द आनन्दं, स्तेय अबंभ नन्द सहकारं ।

पुगल पज्जाव दिट्ठं, न्यान सहावेन कम्म विरयंति ॥ २८८ ॥

विषय सहाव स उत्तं, व्रत तप किरियं च कस्ट अनेयं ।

अन्यानं पिच्छंतो, न्यान बलेन कम्म विरयंति ॥ २८९ ॥

पुगल सहाव उत्तं, पज्जय अनिस्ट इस्ट सभावं ।

अन्यानं कम्म परं, न्यान बलेन कम्म विरयंति ॥ २९० ॥

अन्वयार्थ - (पुन्य पाउ उववन्नं) इस शरीर की क्रिया से अभिप्राय के अनुसार पुण्य तथा पाप का बंध होता है (हिंसानंदी च दोस संजुत्तं) यदि हिंसा में आनंद मानते हुए त्रस स्थावर का घात किया जाता है (अत्रित असत्य सहियं) साथ में मिथ्यात्व भाव व अज्ञान भाव सहित शारीरिक क्रिया में जुड़ता है तो विशेष पापकर्म का बंध होता है (न्यान सहावेन कम्म विरयंति) जब पुण्य-पाप रूप सर्व काय क्रिया का त्याग होता है और ज्ञान स्वभाव में लीनता होती है तब ही कर्मों की निर्जरा होती है।

(अत्रित नन्द आनन्दं) झूठ बोलने के आनंद में मगन होकर (स्तेय अबंभ नन्द सहकारं) या चोरी करने व कुशील सेवन के आनंद में भरकर (पुगल पज्जाव दिट्ठं) शरीर की पुद्गल पर्याय को देखना, इस ओर की दृष्टि से पापकर्म का बंध होता है (न्यान सहावेन कम्म विरयंति) जो सर्व काय की

क्रिया को त्यागकर उससे दृष्टि हटाकर ज्ञान स्वभाव में लय होते हैं वे कर्मों से छूटते हैं।

(विषय सहाव स उत्तं) पांचों इन्द्रियों के विषयों की वांछा करके उनकी पूर्ति के लिये (व्रत तप किरियं च कस्ट अनेयं) व्रत करता है, तप साधना करता है, क्रियाकांड करता है तथा बहुत कष्ट उठाता है (अन्यान् पिच्छंतो) इन क्रियाओं को करते हुए अज्ञान रूप दृष्टि से अशुभ कर्मों का ही बंध होता है (न्यान बलेन कम्म विरयंति) ज्ञानबल से अर्थात् स्वभाव दृष्टि होने से कर्मों से छुटकारा होता है।

(पुगल सहाव उत्तं) पुद्गल का स्वभाव तो गलन-पूरण परिवर्तनशील नाशवान है (पज्जय अनिस्ट इस्ट सभावं) पर्याय को इष्ट-अनिष्ट मानना (अन्यान् कम्म परं) यही अज्ञान विशेष कर्म का बंध करता है (न्यान बलेन कम्म विरयंति) आत्मज्ञान के बल से कर्मों की निर्जरा होती है।

विशेषार्थ - शरीर की क्रिया यदि मंद कषाय से शुभ भावना युक्त होती है तो साता वेदनीय आदि पुण्यकर्म का बंध होता है, यदि तीव्र कषाय से अशुभ भावना युक्त होती है तो असाता वेदनीय आदि पापकर्म का बंध होता है। अज्ञान मिथ्यात्व सहित मिथ्यादृष्टि जीव महान हिंसानंदी भाव से बहुत पापकर्मों का बंध करता है, विशेष दोषों से संयुक्त होता है। आत्म ज्ञान से ही कर्मों से छूटना होता है।

पुद्गल पर्याय पर दृष्टि होने से अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव शरीर का मोही झूठ बोलने में आनंद मानता है, चोरी करने में, कुशील का सेवन करने में आनंद मानता है और इस रौद्र ध्यान से अनंत कर्मों का बंधकर नरक जाता है। ज्ञान स्वभाव की साधना से ही कर्मों से मुक्ति होती है।

इन्द्रिय विषय सुख की भावना से जो व्रत करता है, तप साधना करता है, अनेक क्रिया कर्म करके कष्ट उठाता है और चाहता है कि इससे मुझे देवगति मिलेगी, वहाँ सुख भोगूंगा वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि, इन व्रतादि क्रियाओं द्वारा भी अनेक कर्मों का बंध करता है, ज्ञान बल से ही कर्मों से छुटकारा होता है।

पुद्गल का स्वभाव गलन पूरण परिवर्तनशील नाशवान है। पुद्गल परमाणुओं का स्कंध रूप यह शरीर है जो धूल का ढेर मिट्टी है, जिसमें मांस हड्डी मल मूत्र भरा है, इसकी पर्याय को जो इष्ट-अनिष्ट मानता है, शरीर को

देखकर आकर्षित होता है, अच्छा-बुरा मानता है वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि इस सब नोकर्म की रचना से कर्मों का ही बंध करता है। कर्मों से छूटने के लिये तो सर्व काय की क्रिया को छोड़कर स्वयं आत्मस्थ होना होगा, तब ही कर्मों की निर्जरा होगी।

मोक्षमार्ग के विरुद्ध महान कठिन तपादि कर्म करके कोई अपने को कष्ट देवे तो देता रहे अथवा अहिंसादि पांच महाव्रत व अनशनादि बारह प्रकार तप के भार को ढोकर चिरकाल तक कष्ट उठावे तो उठावे परंतु जिसकी दृष्टि शरीरादि पर है वह मुक्ति नहीं पा सकता, मोक्ष तो साक्षात् एक निराकुल अविनाशी स्वानुभव गम्य ज्ञानमय एकपद है, जो आत्मज्ञान गुण के बिना कोई किसी भी तरह प्राप्त नहीं कर सकता।

एक होय त्रिकाल मां, परमारथनो पंथ। सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः। निश्चय नय तो ज्ञान का एक अंश है वह तो पर्याय है, उस पर्याय के आश्रय से कोई मुक्ति नहीं होती परंतु निश्चय नय तथा उसका विषयभूत जो त्रिकाल अभेद स्वभाव है, उस अभेद स्वभाव के अनुभव में नय व नय के विषय का भेद नहीं रहता अतः अभेद अपेक्षा से कहा गया है कि निश्चय नयाश्रित मुनिवरो, प्राप्ति करें निर्वाण की।

नैतिकवान कुल, धन संपन्नता, निरोगी शरीर तथा दीर्घ आयु आदि यह सभी पाकर भी अंतर में उत्तम सरल स्वभाव को पाना दुर्लभ है। परिणाम में तीव्र वक्रता हो, महा संक्लिष्ट परिणाम हो, क्रोध, मान, माया, लोभ की तीव्रता हो, हिंसानंदी रौद्र ध्यान हो, विषय-कषाय का लंपटी हो तथा सरल व मंद कषाय रूप परिणाम न हो, उसे तो धर्म पाने योग्य पात्रता ही नहीं है, वह तो अनंत कर्मों का बंध कर के नरक निगोद आदि गतियों में जाता है।

पर जीव को न मारना कोई अहिंसा नहीं है, किसी भी जीव को मारने का या बचाने का विकल्प ही न उठना वह अहिंसा है। ज्ञान स्वभाव में रमणता ही अहिंसा है।

शरीर के पुष्ट अथवा निर्बल होने पर मैं पुष्ट या निर्बल होता हूँ, इस प्रकार शरीर की पर्याय को जो इष्ट-अनिष्ट मानता है वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। विपरीत मान्यता में हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य व परिग्रह यह पांचों ही पाप समाहित हैं।

जिसको अंतर्दृष्टि व ज्ञान नहीं है, उसका तो उपचार से भी बाह्य तप

नहीं कहलाता। अज्ञानी की तपश्चर्या को सच्ची तपश्चर्या मानना व वैसा ही प्ररूपित करना बड़ा पाप है। दृष्टि का पता ही नहीं हो, सत्य बात रुचिकर न हो व व्रत धारण करे तो क्या लाभ है ?

ज्ञानी को परद्रव्य की क्रिया करने का विचार तो होता ही नहीं है; बल्कि उसे अपनी पर्याय में अशुभ भाव को शुभ करने का अभिप्राय भी नहीं रहता। आत्मा ज्ञायक रूप से रहे एक यही अभिप्राय रहता है, इसी से पूर्व कर्म निर्जरित क्षय होते हैं, नवीन आस्रव बंध नहीं होता, ऐसे निर्णय बिना जो कोई भी अन्य साधन करे, उसमें मोक्ष साधन नहीं होता।

प्रश्न - यह कर्मों का आस्रव बंध कैसे होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

कम्मं कम्म विषेसं, भाव कुभाव कम्म उपपत्ति ।

संसरइ कम्म विरयं, पुन्नं कम्मं च भाव सुह उत्तं ॥ २९१ ॥

एकम्म कम्म जाने, जीव विरोह जीव घातं च ।

सरनस्य कम्म विरोहं, नंदं कम्मं च घाइ संजुत्तं ॥ २९२ ॥

अन्वयार्थ - (कम्मं कम्म विषेसं) कर्मों से ही कर्म की विशेषता होती है अर्थात् भावकर्म से द्रव्य कर्म बंधता है, द्रव्य कर्म के उदय से भावकर्म होता है (भाव कुभाव कम्म उपपत्ति) भाव कुभाव में जुड़ने से कर्मों की उत्पत्ति होती है अर्थात् दृष्टि के विभाव रूप परिणमन से कर्मों का आस्रव बंध होता है (संसरइ कम्म विरयं) जो सांसारिक पाप कर्मों से विरक्त होता है (पुन्नं कम्मं च भाव सुह उत्तं) वह पुण्य कर्म और शुभ भाव कहा गया है।

(एकम्म कम्म जाने) इन पुण्य कर्मों, शुभ भावों से जो कर्म बंध होता है वह विशेष जानो (जीव विरोह जीव घातं च) यह जीव स्वभाव के विराधक हैं और जीव के घातक हैं (सरनस्य कम्म विरोहं) यह विरोधी कर्म ही संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं (नंदं कम्मं च घाइ संजुत्तं) इन पुण्य कर्मों में आनंद मानना, इनसे घातिया कर्मों का बंध होता है।

विशेषार्थ - कर्म से ही कर्म का बंध होता है और कर्म में ही कर्म बंधता है। भाव कर्म से द्रव्य कर्म बंधता है, द्रव्य कर्म के उदय से भाव कर्म होते हैं। इसमें जीव की दृष्टि का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है अर्थात् दृष्टि के विभाव रूप परिणमन से कर्मों का आस्रव बंध होता है। जब जीव की दृष्टि विभाव रूप

अर्थात् पर पर्याय की तरफ होती है तब कर्मास्रव होता है और जब भाव कुभाव में जुड़ जाती है तब कर्मों का बंध होता है। सांसारिक प्रपंच हिंसादि पापकर्मों से जुड़ने पर अशुभ कर्म पापबंध होता है और इनसे हटकर शुभ कर्मों में जुड़ने से शुभ कर्म पुण्य बंध होता है। यह पुण्य कर्म शुभ भाव रूप कहलाता है परंतु यह दोनों ही कर्म, कर्म जानो क्योंकि यह जीव स्वभाव के विराधक और जीव के घातक हैं। यह दोनों कर्म ही संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं। इन कर्मों में आनंद मानना ही घातक है क्योंकि यह घातिया कर्मों का बंध कराते हैं।

द्रव्य कर्म के आठ भेद हैं - चार घातिया, चार अघातिया। चार घातिया कर्म-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय यह जीव के ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा वीर्य स्वभाव के घातक हैं।

चार अघातिया कर्म-नाम, आयु, गोत्र, वेदनीय। यह शरीरादि संयोगों का शुभ-अशुभ संयोग कराते हैं। आत्मा के जिस परिणाम से कर्म आते हैं उसे भावास्रव जानो और कर्मों का आना द्रव्यास्रव है।

पुण्यास्रव - जिसका राग प्रशस्त है अर्थात् जो पंच परमेष्ठी के गुणों में, उत्तम धर्म में अनुराग करता है, जिसके परिणाम दया युक्त हैं और मन में क्रोध आदि रूप कलुषता नहीं है उस जीव के पुण्य कर्म का आस्रव होता है।

पापास्रव - तीव्र मोह के उदय से होने वाली आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा, तीव्र कषाय के उदय से रंगी हुई मन वचन काय की प्रवृत्ति रूप कृष्ण, नील, कापोत यह तीन लेश्यायें, राग-द्वेष के उदय के प्रकर्ष से तथा इन्द्रियों की आधीनता रूप राग-द्वेष के उद्रेक से, प्रिय का वियोग, अप्रिय का संयोग, कष्ट से मुक्ति और आगामी भोगों की इच्छा रूप आर्तध्यान, कषाय से चित्त के क्रूर होने से हिंसा, झूठ, चोरी, और विषय संरक्षण में आनंद मानने रूप रौद्र ध्यान, शुभकर्म को छोड़कर दुष्कर्मों में लगा हुआ ज्ञान और दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय के उदय से होने वाला अविवेक रूप मोह यह सब पापास्रव के कारण हैं।

बंध का स्वरूप - पूर्वबद्ध कर्मों के फल को भोगते हुए जीव की जिस परिणति विशेष (दृष्टि) के द्वारा कर्म बंधते हैं अथवा जो कर्म जीव को अपने आधीन कर लेता है उसे बंध कहते हैं अथवा जीव और कर्म के प्रदेशों का जो परस्पर में मेल होता है उसे बंध कहते हैं। मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले

विकार से युक्त जीव भाव, बंध के अंतरंग कारण हैं।

यहाँ पुद्गलों के ग्रहण का कारण होने से बहिरंग कारण योग है और विशिष्ट शक्ति की स्थिति में हेतु होने से जीवभाव ही अंतरंग कारण है।

प्रश्न - मिथ्यात्व अविरति आदि आस्रव के भी हेतु हैं और बंध के भी, दोनों में क्या विशेषता है ?

समाधान - पहले समय में कर्मों का आना आस्रव है, आगमन के अनंतर दूसरे आदि समय में कर्मों का जीव के प्रदेशों में स्थित होना बंध है तथा आस्रव में योग मुख्य है और बंध में कषाय आदि।

बंध के चार भेद हैं - प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग।

१. प्रकृति बंध - कर्मों में ज्ञान को ढांकने आदि रूप स्वभाव के होने को प्रकृति बंध कहते हैं।

२. स्थिति बंध - उस स्वभाव से च्युत न होने को अथवा कर्मों के आत्मा के साथ रहने रूप समय की मर्यादा को स्थिति बंध कहते हैं।

३. अनुभाग बंध - कर्मों की सामर्थ्य विशेष को अनुभाग बंध कहते हैं।

४. प्रदेश बंध - कर्मरूप परिणत पुद्गल स्कंधों के परमाणुओं के द्वारा गणना को प्रदेश बंध कहते हैं।

अनुभाग बंध के भी चार भेद हैं -

१. घाति कर्मों के अनुभाग की उपमा - लता, दारु, हड्डी और पत्थर हैं।

२. अघाति में अशुभ कर्म - नीम, कांजीर, विष, हलाहल रूप होते हैं।

३. अघाति में शुभ कर्म - गुड़, खांड, शकर, अमृत रूप होते हैं।

भावकर्म - मोह, राग-द्वेष आदि भावों को भावकर्म कहते हैं, जो संसार भ्रमण के मूल कारण हैं।

नोकर्म - शरीरादि नो कर्म है, जो बाह्य संयोग रूप माया जाल है तथा मुक्ति प्राप्ति में बाधक है।

इन शुभ-अशुभ रूप पुण्य-पाप कर्मों का जब तक संबंध है तब तक संसार है। कर्मास्रव से घातिया-अघातिया दोनों प्रकार के कर्म का बंध होता है। पुण्य कर्म में आनंद मानना ही घातिया कर्म से संयुक्त करता है। कर्म का बंध दिखता नहीं है, कर्म का उदय दिखता है।

साधक के बाधक कारण - १. पूर्व संस्कार, २. कर्म संयोग, ३. कषाय।

साधक को भयभीत भ्रमित करने वाले कारण - १. भाव कर्म, २. अशुद्ध पर्याय, ३. पापादि अशुभ कर्म।

दृष्टि के सद्भाव पर ही कर्मों का आस्रव बंध होता है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। कर्म, पुद्गल कार्माण वर्गणायें हैं। कर्म, कर्म से ही बंधता है, जीव अपने अज्ञान से फंसा है।

प्रश्न - इन कर्मों से छूटने का क्या उपाय है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

कम्म सहावं उत्तं, क्रित विरयं च कारितं विरयं।

अनुमय विरयति सुद्धं, न्यान सहावेन कम्म विरयंति ॥ २९३ ॥

उत्पति षिपति स कम्मं, न्यान सहावेन विरय कम्मनं।

न्यानेन न्यान सुद्धं, चेयन आनन्द कम्म विरयंति ॥ २९४ ॥

अन्वयार्थ - (कम्म सहावं उत्तं) कर्म का स्वभाव कहा गया है (क्रित विरयं च कारितं विरयं) दृष्टि का ज्ञान पूर्वक मन वचन काय की क्रिया से विरक्त होना तथा क्रिया कराने के भाव से भी विरक्त रहना (अनुमय विरयति सुद्धं) किसी कार्य की अनुमोदना के भाव से भी विरक्त होना, मात्र शुद्ध भाव रखना चाहिये (न्यान सहावेन कम्म विरयंति) इस प्रकार ज्ञान स्वभाव में ही रत होने से कर्मों की निर्जरा होती है।

(उत्पति षिपति स कम्मं) कर्मों का स्वभाव पैदा होने और क्षय होने का है, मोह, राग-द्वेष से उनका बंध होता है और (न्यान सहावेन विरय कम्मनं) वीतराग विज्ञानमयी स्वभाव से कर्मों का क्षय होता है (न्यानेन न्यान सुद्धं) ज्ञान चेतना के अनुभव से ही या आत्मज्ञान में मग्न होने से ही ज्ञान शुद्ध होता है अर्थात् आत्मा पूर्ण शुद्ध मुक्त हो जाता है (चेयन आनन्द कम्म विरयंति) ज्ञानानंद स्वभाव में रहने से कर्मों से छुटकारा होता है।

विशेषार्थ - कर्मों से छूटने का एक मात्र उपाय दृष्टि का अपने ज्ञान स्वभाव आत्मा में रत होना है। जब मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से नौ प्रकार सर्व प्रवृत्ति की ओर से दृष्टि हट जाये अर्थात् मन वचन काय की समस्त क्रिया से उपयोग हटकर अपने ज्ञान स्वभाव में डट जाये, इस प्रकार ज्ञान स्वभाव में रहने से कर्मों से मुक्ति होती है।

कर्म वर्गणायें जब आत्मा के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह रूप ठहरती हैं तब कर्मों की उत्पत्ति कही जाती है और जब वे प्रदेशों में से चली जाती हैं, बंध अवस्था छूट जाती है तब कर्मों का क्षय कहलाता है अथवा कर्मों का स्वभाव तो पैदा होने और क्षय होने का है। मोह, राग-द्वेष से कर्मों का बंध होता है। वीतराग विज्ञानमयी स्वभाव से कर्मों का क्षय होता है। ज्ञान चेतना के अनुभव से ज्ञान से ज्ञान शुद्ध होता है अर्थात् आत्मा पूर्ण मुक्त हो जाता है। ज्ञानानंद स्वभाव में रहने से ही कर्मों से मुक्ति होती है। रागी जीव कर्मों से बंधता है, वीतरागी जीव कर्मों से छूटता है।

आत्मा के जिन सम्यक्दर्शन आदि अथवा गुप्ति आदि गुणों के द्वारा कर्मों का आस्रव संवृत होता है, रुकता है उसे संवर कहते हैं अथवा कर्म योग्य पुद्गलों के कर्मरूप होने से रुकने को संवर कहते हैं। शुभ और अशुभ परिणामों को रोकना, दृष्टि का इनमें न जुड़ना भाव संवर है।

संवर और शुद्धोपयोग से युक्त जो जीव अनेक प्रकार के अंतरंग-बहिरंग तपों में संलग्न होता है वह नियम से बहुत कर्मों की निर्जरा करता है।

बंध के कारणों का अभाव होने से नवीन कर्मों का अभाव हो जाता है और निर्जरा के कारण मिलने पर संचित कर्म का अभाव हो जाता है, इस तरह समस्त कर्मों से छूट जाने को मोक्ष कहते हैं। आत्मा का जो परिणाम समस्त कर्मों के क्षय में हेतु है उसे भाव मोक्ष जानो और आत्मा से समस्त कर्मों का पृथक् हो जाना द्रव्य मोक्ष है।

जिस योगी का चित्त ध्यान में उसी तरह विलीन हो जाता है, जैसे नमक पानी में लय हो जाता है, उसके अंतर में शुभ और अशुभ कर्मों को जला डालने वाली आत्म ज्ञान रूप अग्नि प्रगट होती है। जिसका पुण्य और पाप बिना फल दिये स्वयं झड़ जाता है वह योगी है, उसका निर्वाण होता है, वह पुनः आस्रव से युक्त नहीं होता।

मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदना के भावों से अपनी दृष्टि हटा लेना, ज्ञान स्वभाव में समाधिस्थ रहना योग है। यह त्रियोग की साधना कर्म बंधन से छूटने का उपाय है।

१. राग-द्वेष और मोह के त्याग रूप अथवा आगम का विनय पूर्वक अभ्यास और धर्म तथा शुक्ल ध्यानरूप मनोगुप्ति होती है।

२. कठोर आदि वचनों का त्याग अथवा मौनरूप वचनगुप्ति होती है।

३. शरीर के ममत्व का त्याग अथवा हिंसा, मैथुन और चोरी से निवृत्ति अथवा सर्व चेष्टाओं से निवृत्ति कायगुप्ति है।

भेदज्ञान से जीव-अजीव को पृथक्-पृथक् निश्चय करके मन में उठने वाले राग-द्वेष मूलक सब विकल्पों को दूर करके निर्विकल्प मन के द्वारा स्वात्मा की उपलब्धि या अनुभूति होती है, इसी आत्मज्ञान से केवलज्ञान प्रगट होता है।

प्रश्न - जब आत्मा सिद्ध के समान शुद्ध है फिर यह कर्मों का चक्कर कैसा है ?

समाधान - मैं आत्मा सिद्ध के समान शुद्धात्मा परमात्मा हूँ, ऐसे स्वयं के स्वरूप की विस्मृति रूप अज्ञान से, अनादि जीव और कर्मों के संबंध की परंपरा है। पूर्वबद्ध कर्म के उदय का निमित्त पाकर जीव राग-द्वेष रूप परिणमन स्वतः करता है और जीव के राग-द्वेष रूप परिणामों का निमित्त पाकर कार्माण वर्गणायें स्वयं ज्ञानावरणादि रूप से परिणमन करती हैं, इससे छूटने का उपाय है कर्म जन्य रागादि भावों से आत्मा की भिन्नता को जानकर आत्मा के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान और ज्ञान तथा रागादि रूप से परिणमन न करके राग और द्वेष की निवृत्ति रूप साम्यभाव को धारण करना। जब तक भेदज्ञान पूर्वक सम्यक्ज्ञान नहीं होता, तब तक यह संसार और कर्मों की परंपरा चलती रहती है।

प्रश्न - इस संसार और कर्मों की परंपरा से छूटने का क्या उपाय है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

चिदानंद ससहावं, कम्मं न पिच्छेई नंद सहकारं।

सुकिय सुभाव सुसमयं, न्यानानंदेन कम्म नहु पिच्छं ॥ २९५ ॥

चिदानंद चेतनयं, बिपनिक रूवेन कम्म संषिपनं।

कम्म सहाव न पिच्छं, चिदानंद नंद ससरूवं ॥ २९६ ॥

अन्वयार्थ - (चिदानंद ससहावं) आत्मा का अपना स्वभाव चैतन्यमय तथा आनंदमय है (कम्मं न पिच्छेई नंद सहकारं) अपने सुख स्वभाव आत्मा में कर्मों का प्रवेश ही नहीं है अर्थात् आत्मा कर्मों को पहिचानता भी नहीं है (सुकिय सुभाव सुसमयं) आत्मा का अपने स्वभावरूप रहना ही स्वसमय है

(न्यानानंदेन कम्म नहु पिच्छं) ज्ञानानंद में मगन रहने से कर्म दिखाई नहीं देते अर्थात् कर्मों का आस्रव बंध नहीं होता।

(चिदानंद चेतनयं) यह आत्मा चिदानंद चैतन्यमय है (षिपनिक रुवेन कम्म संषिपनं) जब आत्मा द्रव्य व भावरूप से क्षणिक होता है अर्थात् अपने स्वरूप में दृढ़ स्थित होता है तब कर्मों का क्षय होता है (कम्म सहाव न पिच्छं) कर्मों के स्वभाव, यह संसार और कर्म परंपरा को मत देखो (चिदानंद नंद ससरुवं) अपने चिदानंद चैतन्य स्वरूप में लीन रहो, इसी में मगन रहो।

विशेषार्थ - अपना स्वभाव चिदानंदमयी है, अपने स्वसमय शुद्धात्मा में कर्मों का प्रवेश ही नहीं है, वहाँ संसार आदि कोई कर्म हैं ही नहीं, उस तरफ क्यों देखते हो ? अपने ज्ञानानंद स्वभाव में रहो, इन कर्मों को मत देखो।

अपने चिदानंद चैतन्य स्वरूप में दृढ़ स्थित रहो, क्षायिक भाव में रहो तो यह सब कर्म क्षय हो जायेंगे, यह संसार और कर्म परंपरा, कर्मों के स्वभाव को देखने जानने की क्या जरूरत है ? इन्हें देखो ही मत, अपने चिदानंद मयी स्वस्वरूप में लीन रहो।

जब आत्मा निश्चय सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र में ठहरता है, आप आपरूप एकाग्र होता है तब इसको स्व समय जानो और जब यह पुद्गल कर्म के उदय की अवस्था में ठहरता है तब इसको पर समय जानो।

शुद्धोपयोग रूप वीतराग निर्विकल्प भाव जो अधिक काल तक ठहर सके वह क्षायिक स्वरूप होता है, इससे सारे कर्म क्षय हो जाते हैं। मैं सुखी, मैं दुःखी इस भाव के अनुभव को कर्मफल चेतना कहते हैं। यह कर्मों की तरफ देखो ही मत, अपने चिदानंद चैतन्य स्व स्वरूप में आनंदित रहो तो यह संसार और कर्म परंपरा सब छूट जायेगी।

परम स्वभाव भाव शुद्ध ज्ञायक स्वरूप त्रिकाली सामान्य वस्तु स्वसमय की दृष्टि करने के लिये कहते हैं कि उसमें गुणभेद नहीं है और पर्याय भी नहीं है। भगवान् आत्मा चिदानंद चैतन्य ज्योति ध्रुव स्वभाव है, यह तो ज्ञायक स्वभाव रूप से, परम पारिणामिक भावरूप से, स्वभाव भावरूप से ही त्रिकाली है। कर्मादि राग के साथ द्रव्य एक रूप नहीं हुआ है, यह संसार और कर्मादि संयोग जानने में आ रहा है, यह सर्वथा ही भिन्न है। यह मैं जाननहार हूँ, सो मैं ही हूँ, ज्ञेय वह मैं नहीं हूँ, ऐसा अपना अभेद स्वरूप अनुभव करो और

स्वयं अपने ज्ञानानंद स्वभाव में रहो तो यह सब कर्म संयोग, संसार परंपरा अपने आप विला जायेगी, अपने स्वभाव में यह कुछ हैं ही नहीं।

द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और इन्द्रिय के विषय, इन सबका लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञान स्वभाव द्वारा पर से सर्वथा भिन्न ऐसा निज पूर्ण शुद्ध चिदानंद चैतन्य स्वरूप का अनुभव करने पर शरीर परिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रिय, खंड-खंड ज्ञान रूप भावेन्द्रिय और इन्द्रिय के विषय भूत पदार्थ-कुटुंब, परिवार, देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि सब पर ज्ञेय हैं और ज्ञायक स्वयं भगवान् आत्मा स्वज्ञेय है। विषयों की आसक्ति अज्ञान द्वारा संसार और कर्मोदय, इन दोनों का एक जैसा अनुभव होता था, निमित्त की रुचि से ज्ञेय ज्ञायक का एक जैसा अनुभव होता था लेकिन जब भेदज्ञान द्वारा भिन्नता का ज्ञान हुआ तब यह संसार और कर्मादि कुछ नहीं हैं, सब पर्यायी परिणमन भ्रम-भ्रांति है। मैं तो एक अखंड शुद्ध बुद्ध चिदानंद चैतन्य भगवान् आत्मा हूँ। ज्ञेय के साथ मेरा कोई संबंध नहीं है, ऐसा स्वसंवेदन ज्ञान होने पर सब कर्म संयोग क्षय हो जाते हैं, संसार विला जाता है।

इसी की विशेषता रूप आगे गाथा कहते हैं -

चिदानंद लघ्यन यं, लघ्यंतो न्यान ज्ञान विन्यानं।

अलषं लषंतु रूवं, लष्यंतो कम्म नहु पिच्छं ॥ २९७ ॥

चिदानंद चिंतवनं, चिन्तंतो न्यान ममल सभावं।

मलं सुभाव न दिट्ठं, चेयन आनन्द कम्म संषिपनं ॥ २९८ ॥

अन्वयार्थ - (चिदानंद लघ्यन यं) आत्मा का लक्षण चिदानंद है (लघ्यंतो न्यान ज्ञान विन्यानं) इस लक्षण की अनुभूति से ही आत्मा का ज्ञान होता है, आत्मा का ध्यान होता है तथा भेदविज्ञान होता है (अलषं लषंतु रूवं) ऐसा अलष स्वरूप जो मन वचन काय से परे अलख है, ऐसे अपने आत्म स्वरूप को लखो, अनुभव करो (लष्यंतो कम्म नहु पिच्छं) आत्मानुभव में अपने स्वरूप को लखने पर कर्म दिखाई ही नहीं देते।

(चिदानंद चिंतवनं) चिदानंद स्वभाव का चिंतवन, अनुभव करने से, देखने से (चिन्तंतो न्यान ममल सभावं) ऐसी अनुभूति करने से ज्ञान ममल स्वभाव हो जाता है (मलं सुभाव न दिट्ठं) फिर यह रागादि रूप कर्मोदय, संसारी पर्याय, मल स्वभाव दिखाई नहीं देता (चेयन आनन्द कम्म संषिपनं)

ज्ञानानंद स्वभाव में रमण करने से कर्मों का क्षय होता है ।

विशेषार्थ - आत्मा का असाधारण चिदानंद, चैतन्यमयी आनंद स्वभाव है । जो सिवाय आत्मा के और किसी पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल व आकाश द्रव्य में नहीं पाया जाता है । इस लक्षण से लक्ष्य रूप आत्मा का ज्ञान करके उसको परद्रव्य, परगुण, परपर्याय, कर्मोदय जन्य विभाव भावादि से भिन्न जानना चाहिये तथा इसी लक्षण चिदानन्द स्वभाव का ध्यान करना चाहिये । अपने ज्ञान स्वभाव को लखने पर कर्म दिखाई ही नहीं देते, आत्मानुभव में संवर पूर्वक कर्म निर्जरा होती है ।

मैं चिदानंद स्वभाव हूँ ऐसी भावना बार-बार करने से मान्यता में से रागादि मल निकल जायेगा तथा आत्मा वीतराग विज्ञान रूप ममल स्वभाव ही झलकेगा ।

ममल स्वभाव में कोई कर्मादि मल हैं ही नहीं, द्रव्य दृष्टि से देखने पर कोई कर्म मल दिखाई ही नहीं देते, एक समय की अशुद्ध पर्याय भी नहीं दिखेगी । इस तरह भावना करते-करते जब चिदानंद स्वभाव में तल्लीनता होती है तब सर्व पूर्वबद्ध कर्म क्षय हो जाते हैं ।

चैतन्य लक्षण से ही आत्मानुभूति होती है क्योंकि अजीव द्रव्य वर्णादि सहित मूर्तिक भी है व वर्णादि रहित अमूर्तिक भी है इसलिये अमूर्तिकपने के लक्षण द्वारा देखने से जीवतत्त्व दिखाई नहीं दे सकता है । अमूर्तिकपना जीव में भी है और धर्म, अधर्म, आकाश, काल में भी है । रागादि मल किन्हीं जीवों में है, किन्हीं जीवों में नहीं है इसलिये जीवतत्त्व शुद्धात्म स्वरूप चैतन्य लक्षण ममल स्वभावी ही है ।

आत्मा को चेतना गुणमय बतलाया है क्योंकि ज्ञान की पर्याय का अंश प्रगट है अतः चेतना लक्षणमय त्रिकाल है । आनंद का अंश तो जब स्वभाव का आश्रय हो तब प्रगट हो ; परंतु चेतना की वर्तमान पर्याय तो अज्ञानी का भी विकसित अंश है इसलिये यह कहा है कि भगवान आत्मा पूर्ण चैतन्य लक्षणमय है, अंतर दृष्टि डालते ही चेतना स्वभाव अनंत अपरिमित ममल स्वभाव अनुभव में आता है । ऐसे चैतन्य लक्षण चिदानंद ममल स्वभाव पर दृष्टि डालने पर रागादि कर्ममलों से भिन्न दीख पड़ता है, इसी द्रव्य दृष्टि, शुद्ध दृष्टि से पूर्वबद्ध कर्म निर्जरित क्षय हो जाते हैं ।

ज्ञान लक्षण से लक्षित चैतन्य स्वभाव का अनुभव होने पर यह अनुभूति

ही मैं हूँ ऐसा सम्यक्ज्ञान होता है । अतीन्द्रिय आनंद के वेदन में आनंद स्वरूप प्रभु पर से भिन्न, दया-दानादि के भाव, रागादि कर्म मलों से स्पष्ट भिन्न देखने में आता है । शास्त्र सुनकर अथवा धारणा से उसे भिन्न जाना है ऐसा नहीं क्योंकि यह तो राग मिश्रित जानना है परंतु रागादि कर्म मलों से भिन्न निर्मल भेदज्ञान के प्रकाश द्वारा आत्मा को चिदानंद चैतन्य ममल स्वभावी देखना वही भिन्न जानना कहलाता है ।

भले ही जीव तथा रागादि कर्म भिन्न रहकर एक क्षेत्र में रहें तो भी दोनों कभी भी न तो एकरूप हुए और न ही हो सकते हैं अतः सावधान होकर रागादि कर्ममलों से भिन्न रूप चिदानंद स्वरूप का अनुभव कर, पुण्य-पाप के भाव दुःख रूप हैं और मेरा स्वरूप आनंदमय है, ऐसे अभिप्राय पूर्वक रागादि कर्ममल, पुण्य-पाप के भावों से पीछे पलट, स्वरूप तो ममल चिदानंद स्वभावी है । जिसे ऐसा यथार्थ भेदज्ञान होता है उसे कर्मास्रव से निवृत्ति और संवरपूर्वक पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है ।

जिसको द्रव्यदृष्टि यथार्थ प्रगट होती है, उसे दृष्टि के जोर से अकेला चिदानंद चैतन्य ही भासता है, शरीरादि कुछ भासता ही नहीं है । भेदज्ञान की परिणति ऐसी दृढ़ हो जाती है कि स्वप्न में भी आत्मा शरीर से भिन्न भासित होता है । दिन को जाग्रत दशा में तो ज्ञायक निराला रहता है परंतु रात को नींद में भी आत्मा निराला रहता है । आत्मा निराला तो है ही परंतु प्रगट निराला हो जाता है । ज्ञान के अभ्यास से भेदज्ञान होता है व भेदज्ञान के अभ्यास से केवलज्ञान होता है ।

हे भव्य ! स्थिर दृष्टि से तू अंतरंग में देख; तो सर्व परद्रव्य से मुक्त ऐसा तेरा स्वरूप परम प्रसिद्ध अनुभव में आयेगा ।

प्रश्न - क्या ऐसे चिदानंद चैतन्य स्वभाव को देखने जानने से कर्मक्षय हो जायेंगे ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

चिदानंद संदिष्टं, दंसन दंसेइ न्यान सहकारं ।

चरनं दुविहि संजोयं, न्यान सहावेन कम्म संषिपनं ॥ २९९ ॥

चिदानंद सहकारं, न्यान विन्यान सहाव संजुत्तं ।

अंकुर न्यान सहावं, नन्दं आनन्द कम्म संषिपनं ॥ ३०० ॥

**चिदानंद संदिद्धं, दिट्ठी दिट्ठेइ न्यान अन्मोयं ।
पज्जावं नहु पिच्छदि, दिट्ठी आनंद कम्म संषिपनं ॥ ३०१ ॥
चिदानंद सुभावं, अन्मोयं देइ न्यान विन्यानं ।
पज्जावं नहु दिट्ठं, सुकिय सुभाव कम्म षिपनं च ॥ ३०२ ॥**

अन्वयार्थ - (चिदानंद संदिद्धं) चिदानंद स्वभाव को सम्यक् प्रकार से देखना (दंसन दंसेइ न्यान सहकारं) सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान पूर्वक (चरनं दुविहि संजोयं) दोनों प्रकार के सम्यक्चारित्र-सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण चारित्र की साधना सहित (न्यान सहावेन कम्म संषिपनं) ज्ञान स्वभाव में रमण करने से कर्मों का क्षय होता है ।

(चिदानंद सहकारं) चिदानंद स्वभाव के सहकार से (न्यान विन्यान सहाव संजुत्तं) अपने ज्ञान-विज्ञान स्वभाव में लीन रहो (अंकुर न्यान सहावं) ज्ञान स्वभाव के अंकुर प्रगट होने से अर्थात् शुद्धोपयोग की प्रगटता से (नन्दं आनन्द कम्म संषिपनं) परम सुख में आनंदित रहने से कर्मों का क्षय होता है ।

(चिदानंद संदिद्धं) चिदानंद स्वभाव को देखने से (दिट्ठी दिट्ठेइ न्यान अन्मोयं) दृष्टि के चिदानंद स्वभाव को देखने तथा ज्ञान का आश्रय होने से (पज्जावं नहु पिच्छदि) पर्याय शरीरादि संयोग दिखाई नहीं देते अर्थात् पर्याय की तरफ दृष्टि नहीं जाती (दिट्ठी आनंद कम्म संषिपनं) आनंद स्वभाव की दृष्टि होने से सब कर्म क्षय हो जाते हैं ।

(चिदानंद सुभावं) चिदानंद स्वभाव का (अन्मोयं देइ न्यान विन्यानं) आश्रय आलम्बन रखने से ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति होती है (पज्जावं नहु दिट्ठं) सम्यक्दृष्टि ज्ञानी पर्याय को नहीं देखता है (सुकिय सुभाव कम्म षिपनं च) अपने आत्म स्वभाव पर दृष्टि रखता है इसी से कर्मों का क्षय होता है ।

विशेषार्थ - सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों की एकता मोक्षमार्ग है और पूर्णता मोक्ष है । पर और पर्याय की दृष्टि से कर्मों का आस्रव बंध होता है, स्वभाव रूप दृष्टि से कर्मों का संवर और निर्जरा होती है । तत्त्वज्ञानी जीव 'मे' चिदानंद स्वभाव हूँ' ऐसी भावना भाते-भाते ही सम्यक्दृष्टि ज्ञानी होता है, दोनों प्रकार के चारित्र-सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण चारित्र की साधना से जितनी-जितनी वीतरागता रूप ज्ञान स्वभाव की प्रगटता होती है वैसे ही कर्म क्षय होते जाते हैं ।

चिदानंद स्वभाव का आश्रय करने से ज्ञान स्वभावी आत्मा का निश्चय होकर मोक्ष प्राप्ति का कारण भाव भेदविज्ञान रूपी अंकुर अर्थात् शुद्धोपयोग प्रगट होता है । शुद्धोपयोग द्वारा जब आत्म स्वभाव में रमण होता है तब परम सुख, परम आनंद की अनुभूति होती है इसी से सर्व कर्म क्षय होते हैं ।

चिदानंद स्वभाव को देखने जानने, ज्ञान स्वभाव का आलंबन रखने से पर्याय कर्मादि दिखाई नहीं देते, जब आनंदमय दृष्टि होती है तब कर्मों का क्षय होता है । मैं आत्मा चिदानंदमय स्वभाव वाला हूँ, ऐसी भावना करते-करते पर से भिन्न आत्मा की प्रतीति और ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति होती है । ज्ञानी जीव जब सर्व कर्म जनित पर्यायों से दृष्टि हटाकर अपने स्व स्वभाव में ही तन्मय होता है, इसी से कर्मों का क्षय होता है । स्वभाव दृष्टि से कर्म क्षय होते हैं और पर्याय दृष्टि से कर्म बंध होता है ।

प्रथम स्वरूप सन्मुख होकर निर्विकल्प अनुभूति होती है, आनंद का वेदन होता है, तब ही यथार्थ सम्यक्दर्शन हुआ कहलाता है । ज्ञान स्वरूप आत्मा है ऐसे गुण-गुणी के भेद विकल्प रहित सम्यक्ज्ञान होता है । अनादि अनंत एकरूप चिदानंद चैतन्य मूर्ति भगवान आत्मा वह अंशी है और उसके आश्रय से जो निर्मलता प्रगट होती वह अंश है यही सम्यक्चारित्र है । साधक जीव को अंशी का आश्रय होता है, अंश का नहीं । उसे अपने शुद्ध अखंड एक परम पारिणामिक भाव स्वरूप निज चिदानंद स्वभाव का ही निरंतर अवलंबन वर्तता है, इसी के आधार से सर्व कर्म अपने आप क्षय होते हैं ।

जैसे-सिद्ध भगवंत किसी के आलंबन बिना स्वयमेव पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञानानंद स्वरूप से परिणमन करने वाले दिव्य सामर्थ्यवंत देव हैं, तादृश सभी आत्माओं का स्वभाव भी है । ऐसा निरालम्बी ज्ञान और सुख स्वभावरूप मैं हूँ, ऐसा लक्ष्य में लेने पर दृष्टि अतीन्द्रिय होकर पर्याय में ज्ञान और आनंद खिल जाता है, यही चिदानंद स्वभाव की अनुभूति है । इस तरह आनंद का अगाध सागर प्रतीति में, ज्ञान में और अनुभूति में आ जाता है । स्वयं का परम इष्ट ऐसा अतीन्द्रिय आनंद मुक्ति सुख प्राप्त होता है और अनिष्ट रूप पर्याय से दृष्टि हट जाती है, सब कर्म संयोग विला जाते हैं ।

अनादि अनंत ऐसा जो एक निज शुद्ध चैतन्य स्वरूप चिदानंद स्वभाव है उसके स्व सन्मुख होकर आराधन करना, वही परमात्मा होने का सच्चा उपाय है ।

अंतर दृष्टि में चिदानंद स्वभाव की अनंत महिमा भासित होकर उसका अनंत रस आना चाहिये, ऐसा करने से परिणाम स्वभाव में तन्मय होते हैं। गुण-गुणी के भेद का भी लक्ष्य छोड़कर एक रूप गुणी की दृष्टि कर इससे तुझे समता होगी, आनंद होगा, दुःख का नाश होगा। एक चैतन्य वस्तु ध्रुव है उसमें दृष्टि देने से मुक्ति मार्ग प्रगट होता है।

इसी की विशेषता रूप गाथा आगे कहते हैं -

षिपिओ संसार सुभावं, षिपिओ नंत नंत कम्मानं ।

अन्मोयं न्यान सभावं, कम्मं षिपिऊन तिविहि जोएन ॥ ३०३ ॥

चिदानन्द आनन्दं, न्यान सहावेन सभाव आनन्दं ।

न्यानेन न्यानमालंघ्यं, अन्मोयं कम्म नंत संषिपनं ॥ ३०४ ॥

अन्वयार्थ - (षिपिओ संसार सुभावं) जब संसार स्वभाव रूप दर्शन मोह का क्षय हो जाता है (षिपिओ नंत नंत कम्मानं) अनंतानंत कर्मों का क्षय हो जाता है (अन्मोयं न्यान सभावं) ज्ञान स्वभाव का आलंबन होने पर (कम्मं षिपिऊन तिविहि जोएन) त्रिविध योग मन, वचन, काय की एकाग्रता से समस्त कर्म क्षय हो जाते हैं।

(चिदानन्द आनन्दं) चिदानंद स्वभाव में आनंदित रहने से (न्यान सहावेन सभाव आनन्दं) अपने ज्ञान स्वभाव का स्वाभाविक सहज आनंद आता है (न्यानेन न्यानमालंघ्यं) ज्ञान के आलंबन से ही केवलज्ञान प्रगट होता है (अन्मोयं कम्म नंत संषिपनं) केवलज्ञान स्वभाव के आश्रय से अनंत कर्म क्षय हो जाते हैं।

विशेषार्थ - जब संसार स्वभाव रूप दर्शन मोह का क्षय हो जाता है तब अनंतानंत कर्मों का क्षय हो जाता है। क्षायिक सम्यक्त्व सहित ज्ञान स्वभाव का आलंबन होने से त्रिविध योग मन, वचन, काय की एकाग्रता रूप ध्यान साधना से समस्त कर्म क्षय हो जाते हैं।

चिदानंद स्वभाव में आनंदित रहने से अपने ज्ञान स्वभाव का स्वाभाविक सहज आनंद आता है। ज्ञान के आलंबन से ही केवलज्ञान प्रगट होता है, केवलज्ञान स्वभाव के आश्रय से अनंत कर्म क्षय हो जाते हैं।

चार अनंतानुबंधी कषाय व तीन दर्शन मोहनीय के क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। क्षायिक सम्यक्त्वी निरंतर ज्ञान स्वभाव में रत रहता है

तथा त्रिविध योग की साधना मन, वचन, काय से अपने उपयोग को हटाकर अपने ध्यान में लीन होने पर सारे कर्म क्षय हो जाते हैं, संसार परिभ्रमण छूट जाता है।

आत्मा का स्वभाव चिदानंदमयी है, ज्ञानानंद स्वभाव में रहने से केवलज्ञान प्रगट होता है। वीतराग भाव केवलज्ञान स्वभाव के आश्रय से कर्म क्षय हो जाते हैं।

आठ कर्म जो हैं, वह ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म अचेतन हैं। कर्म के लक्ष्य वाला ज्ञान होता है, वह भी ज्ञान नहीं है। कर्म का बंध, सत्ता, उदय, उदीरणा इत्यादि संबंधी जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान नहीं है। कर्म सम्बंधी ज्ञान होता है अपने में अपनी योग्यता से, कर्म तो उसमें निमित्त मात्र हैं लेकिन वह ज्ञान भी आत्मा का ज्ञान नहीं है।

आत्मा, अबद्ध, अस्पृष्ट है, स्वरूप से आत्मा अकर्म अस्पर्श है। आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान से जानने का काम करे तब आस्रव का निरोध होता है। आत्मा ज्ञायक रूप है, उसको ज्ञान में लेकर जो अंतर में ध्यान करता है, उसके मन के विकल्प राग समाप्त हो जाते हैं। मन शांत हो जाता है, संसार शरीर से उपयोग हट जाता है, तब अतीन्द्रिय आनंद के रस का स्वाद आता है। परिणाम अंतर्निमग्न होने पर अपने स्वज्ञेय में लीनता रूप शुद्धोपयोग से केवलज्ञान प्रगट होता है।

यहाँ आत्मा की अनुभूति को ही ज्ञान की अनुभूति कहा है। अज्ञानी जीव स्वज्ञेय को छोड़कर अनंत परज्ञेयों में ही अर्थात् आत्मा के अतीन्द्रिय ज्ञान को छोड़कर इन्द्रिय ज्ञान में ही लुब्ध हो रहे हैं। निज चैतन्य घन चिदानंद स्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं है, ऐसे अज्ञानी परवस्तु में, परज्ञेयों में लुब्ध हैं उनकी दृष्टि और रुचि राग आदि पर है, वे इन्द्रिय ज्ञान के विषयों से और राग आदि से अनेकाकार हुए ज्ञान को ही स्वपने आस्वादते हैं, यही मिथ्यात्व है, जो संसार स्वभाव है।

निर्विकल्प समाधि ही निश्चय मोक्षमार्ग है, उससे उत्पन्न हुआ अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव ऐसा स्वसंवेदन ज्ञान वह ज्ञान है, इसी ज्ञान स्वभाव के आलंबन से केवलज्ञान प्रगट होता है, जिससे सारे कर्म और संसार परिभ्रमण क्षय हो जाता है।

प्रश्न - यह ज्ञान कैसे प्रगट होता है जिससे कर्म क्षय होते हैं ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

**चिदानन्द परिणामं, परिणवै न्यान विन्यान सहकारं ।
पर पर्जाव न दिट्ठं, परिणवै अन्मोय कम्म षिपनं च ॥ ३०५ ॥
चिदानन्द षिपिऊनं, षिपिओ कम्मान तिविहि जोएन ।
न्यान विन्यान सुभावं, लघु गुरुवं च न्यान अन्मोयं ॥ ३०६ ॥
न्यानं न्यान सहावं, न्यानं विन्यान कम्म संषिपनं ।
ममल सहावं उत्तं, न्यानेन न्यान ममल मिलियं च ॥ ३०७ ॥**

अन्वयार्थ - (चिदानन्द परिणामं) चिदानन्द आत्मा का परिणाम (परिणवै न्यान विन्यान सहकारं) जब भेदविज्ञान की सहायता से निज स्वभाव रूप परिणमन करता है (पर पर्जाव न दिट्ठं) तब पर पर्याय या अशुद्ध पर्याय रूप संसार नहीं दिखता है (परिणवै अन्मोय कम्म षिपनं च) चिदानन्द स्वभाव का आलंबन और उस रूप परिणमन होने से कर्मों का क्षय होता है ।

(चिदानन्द षिपिऊनं) चिदानन्द स्वभाव ही कर्मों का क्षय करने वाला है (षिपिओ कम्मान तिविहि जोएन) त्रिविध योग मन, वचन, काय से उपयोग हटने और निज स्वभाव में डटने पर सारे कर्म क्षय हो जाते हैं (न्यान विन्यान सुभावं) भेदविज्ञान का स्वभाव (लघु गुरुवं च न्यान अन्मोयं) क्षणिक हो या स्थायी, छोटा हो या बड़ा हो वह सम्यक्ज्ञान का ही आश्रय है ।

(न्यानं न्यान सहावं) जब ज्ञान, ज्ञान स्वभाव में रत होता है (न्यानं विन्यान कम्म संषिपनं) इसी भेदविज्ञान रूप सम्यक्ज्ञान से कर्म क्षय होते हैं (ममल सहावं उत्तं) आत्मा को ममल स्वभाव अर्थात् सारे कर्म मलादि से रहित कहा गया है (न्यानेन न्यान ममल मिलियं च) ज्ञान के आश्रय से ही ममल स्वभाव रूप केवलज्ञान मिलता है ।

विशेषार्थ - जब चिदानन्द आत्मा का परिणाम अर्थात् उपयोग (दृष्टि) भेदविज्ञान की सहायता से निज स्वभाव रूप परिणमन करता है तब पर पर्याय शरीरादि कर्म संयोग कुछ भी नहीं दिखता है, अपने चिदानन्द स्वभाव का आलंबन और उस रूप परिणमन होने से कर्मों का क्षय होता है ।

जब सम्यक्दृष्टि को चिदानन्द स्वभाव की दृढ़ता हो जाती है तब चाहे भेदविज्ञान थोड़ा हो या बहुत हो वह चिदानन्द स्वभाव में ही रमण करता है,

त्रिविध योग से कर्मों का क्षय हो जाता है ।

भेदविज्ञान द्वारा सर्व परभावों से भिन्न होकर जब ज्ञानोपयोग शुद्धात्मा ममल स्वभाव में रत होता है तब सर्व कर्म क्षय हो जाते हैं तथा ममल स्वभाव रूप केवलज्ञान मिल जाता है, प्रगट हो जाता है । भेदविज्ञान से आत्मज्ञान होता है, आत्मज्ञान से कर्म क्षय होते हैं ।

भेदज्ञान पूर्वक स्व-पर का श्रद्धान होने पर अपने को पर से भिन्न चिदानन्द जाने तो स्वयं के आश्रय से संवर निर्जरा रूप दर्शन, ज्ञान, चारित्र का उपाय करे और परद्रव्यों का अपने से भिन्न रूप श्रद्धान होने पर, पर के लक्ष्य से होने वाले पुण्य-पाप व आस्रव बंध को छोड़ने का श्रद्धान होता है । स्वयं को पर से भिन्न जानने पर निज हितार्थ प्रवर्तन करे तथा पर को अपने से भिन्न जानने पर उनके प्रति उदासीन हो, रागादि को छोड़ने का श्रद्धान हो इस प्रकार अपने ममल स्वभाव का आश्रय लेने पर भेदज्ञान से सम्यक्ज्ञान और सम्यक्ज्ञान से केवलज्ञान होता है यही मोक्षमार्ग है ।

शुद्ध स्वरूप ममल स्वभावी आत्मा में मानो विकार कर्मादि अंदर प्रविष्ट हो गये हों ऐसा दिखाई देता है परंतु भेदज्ञान प्रगट होने पर वे ज्ञान रूपी चैतन्य दर्पण में प्रतिबिम्ब रूप हैं । ज्ञान वैराग्य की अचिन्त्य शक्ति से पुरुषार्थ द्वारा द्रव्य दृष्टि से देखो चैतन्य द्रव्य ममल है, अनेक प्रकार के कर्म के उदय, सत्ता, अनुभाग तथा कर्म निमित्तक विकल्प आदि तुझसे भिन्न हैं, ऐसे ममल स्वभाव का आश्रय लेने पर सर्व कर्म क्षय हो जाते हैं और केवलज्ञान प्रगट हो जाता है ।

त्रिविध योग अर्थात् मन, वचन, काय से उपयोग हटने पर दृष्टि तो परमात्म तत्त्व पर ही होती है तथापि पंच परमेष्ठी, ध्याता, ध्यान, ध्येय इत्यादि संबंधी विकल्प भी होते हैं परंतु निर्विकल्प स्वानुभूति होने पर विकल्प जाल टूट जाता है, शुभाशुभ विकल्प नहीं रहते हैं, उग्र निर्विकल्प दशा में ही मुक्ति है ।

प्रश्न - मुक्त होने का क्या उपाय है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

**चिदानन्द सभावं, उवइट्ठं परम जिनवरेदेहि ।
परम सहावं सुद्धं, चेयन आनन्द निव्वुए जंति ॥ ३०८ ॥**

**चिदानन्द आनंदं, परम सभावेन कम्म संषिपनं ।
सीह सभाव सुदिट्ठं, जं गयंद जूहेन दिट्ठि विरयंति ॥ ३०९ ॥
तं सुभाव स भावं, परमं आनन्द चेयनं सहियं ।
कम्मं तिविहि विमुक्कं, ममलं न्यानेन सिद्धि संपत्तं ॥ ३१० ॥**

अन्वयार्थ - (चिदानन्द सभाव) आत्मा का स्वभाव चिदानंद, ज्ञानानंद स्वभाव है (उवइड्ठं परम जिनवरेंदेहि) परम जिनेन्द्र तीर्थकरों ने यह उपदिष्ट किया है (परम सहावं सुद्धं) आत्मा परम पारिणामिक भाव वाला परिपूर्ण शुद्ध है अथवा परम स्वभाव परमात्म स्वरूप परिपूर्ण शुद्ध है (चेयन आनन्द निव्वुए जंति) जो जीव अपने चिदानंद स्वभाव में मग्न होता है वही निर्वाण को प्राप्त करता है ।

(चिदानन्द आनंदं) हमेशा ज्ञानानंद स्वभाव के आनंद में रहने से (परम सभावेन कम्म संषिपनं) परम पारिणामिक स्वभाव से कर्म क्षय हो जाते हैं अर्थात् परमात्म स्वभाव प्रगट होने पर सारे कर्म विला जाते हैं, जैसे (सीह सभाव सुदिट्ठं) सिंह को देखते ही, उसकी गर्जना सुनते ही (जं गयंद जूहेन दिट्ठि विरयंति) हाथियों के झुंड दृष्टि से विला जाते हैं अर्थात् कोई दिखाई नहीं देते, सब भाग जाते हैं ।

(तं सुभाव स भावं) तुम्हारा स्वभाव तथा प्रत्येक जीव आत्मा का स्वभाव (परमं आनन्द चेयनं सहियं) परमानंद मयी चैतन्य स्वभावधारी है (कम्मं तिविहि विमुक्कं) तीनों प्रकार के कर्म-द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से विमुक्त भिन्न स्वतंत्र न्यारा है (ममलं न्यानेन सिद्धि संपत्तं) ऐसे ममल स्वभाव का ज्ञान श्रद्धान करने तद्रूप रहने से सिद्धि की संपत्ति, मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

विशेषार्थ - श्री जिनेन्द्र परमात्मा तीर्थकर देवों ने यही बतलाया है कि हर एक आत्मा परमात्मा के समान शुद्ध चिदानंदमय परम पारिणामिक स्वभाव वाला अपने में परिपूर्ण शुद्ध है, जो जीव अपने चिदानंद स्वरूप का निश्चय श्रद्धान ज्ञान करके ध्यान मग्न होता है वही निर्वाण पाता है ।

हमेशा अपने ज्ञानानंद स्वभाव के आनंद में रहने से चिदानंदमयी परम स्वभाव का प्रकाश होने से सारे कर्म क्षय हो जाते हैं । जैसे-सिंह को देखते, उसकी गर्जना सुनते ही हाथियों के झुंड विला जाते हैं दिखाई ही नहीं देते हैं ।

ऐसे ही अपने परम पारिणामिक स्वभाव में कोई कर्मादि दिखाई ही नहीं देते, सब कर्म क्षय हो जाते हैं ।

हे भव्य ! तुम्हारा स्वभाव तथा प्रत्येक जीव आत्मा का स्वभाव परमानंद मयी स्वभाव धारी परमात्मा है, वह तीनों प्रकार के कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म और शरीरादि नो कर्मों से विमुक्त स्वतंत्र न्यारा अपने में परिपूर्ण शुद्ध है, ऐसे ममल स्वभाव का ज्ञान श्रद्धान करने और तद्रूप रहने से सिद्धि की संपत्ति, मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

जो जिनेन्द्र हैं, वह ही मैं हूँ, निशंक होकर ऐसी भावना करो, यही मोक्ष का कारण है । शुद्धात्मा की भावना से मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ, ऐसे दृढ़ निश्चय श्रद्धान से राग-द्वेष रूप भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म क्षय हो जाते हैं । आत्मध्यान से ही केवलज्ञान होता है तब शीघ्र ही सिद्ध पद मिल जाता है ।

चिदानंद चैतन्य मेरा स्वरूप है उसी को मैं देखता हूँ, दूसरा कुछ मुझे दिखता ही नहीं है । ऐसा निज परम स्वभाव पर जोर आये, दृढ़ श्रद्धान हो तो सब कर्मादि विला जाते हैं । स्वयं में गया, एकत्व बुद्धि टूट गई, वहाँ सब रस ढीले हो गये । स्वरूप का रस प्रगट होने पर संसार का रस विला जाता है । न्यारा, सबसे न्यारा हो जाने से संसार कर्मादि सब क्षय हो जाते हैं । दृष्टि अपने ज्ञानानंद स्वभाव में मग्न होने पर परमानंदमयी परमात्म पद केवलज्ञान प्रगट हो जाता है ।

यहाँ दृष्टि (उपयोग) की बात चलती है । उपयोग, चैतन्य का चिन्ह अर्थात् लक्षण है । उपयोग का स्वभाव देखने जानने का है, वह परज्ञेयों को नहीं अवलंबता है । स्वज्ञेय निज शुद्धात्म स्वरूप ममल स्वभाव को ही अवलंबता है, पर पदार्थ को ही मात्र लक्ष्य में लेकर पर के अवलंबन से प्रगट हुआ ज्ञान, वह ज्ञान ही नहीं है वह तो मिथ्याज्ञान है । जिस उपयोग को ज्ञेय पदार्थों का अवलंबन नहीं है परंतु अपने आत्मा का अवलंबन है ऐसा उपयोग लक्षण वाला तेरा आत्मा है । इस प्रकार अपने स्वज्ञेय को तू जान, इससे सर्व पर द्रव्य, कर्मादि से दृष्टि हटकर अपने परम स्वभाव में लगने से मुक्ति होती है ।

यह निज स्वरूप चिदानंद चैतन्य आत्मा प्रत्यक्ष है उसको देख, ऐसा

जिनेन्द्र देव कहते हैं। यह शरीर, परिवार, धन, वैभव ऐसा तू देखता है परंतु यह सब तो तेरे से अत्यंत भिन्न परद्रव्य हैं, इनसे भिन्न यह आत्मा चैतन्य स्वरूप स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है, उसको देख तो तेरे मोह का तुरंत नाश हो जायेगा, सब कर्म विला जायेंगे। तू शरीर को मत देख, आकृति को मत देख, पर को मत देख, बाहर देखना बंद कर। यह सब तो तेरी पर्याय में जानने में आते हैं, उस पर्याय को देखने वाली तेरी पर्याय दृष्टि को बंद कर दे और खुले हुए ज्ञान के द्वारा निज चिदानंद चैतन्य भगवान आत्मा को देख जिससे तुझे परम सुख, परम शांति, परमानंद मयी निज परमात्मा का दर्शन होगा, तू निहाल हो जायेगा, यही मुक्तिमार्ग है।

**तीर्थकरो ने कहा बस, यह ही पुकार पुकार है।
यह आत्मा चैतन्यमय, आनंद मय अविकार है ॥
यह वीतराग जिनेन्द्र सा, परमोत्कृष्ट महान है।
जो आत्मा का हो गया, उसका हुआ निर्वाण है ॥
चैतन्य मय है ज्ञानमय है, यह हमारी आत्मा।
यह शुद्ध है यह बुद्ध है, यह जिन यही परमात्मा ॥
इस भावना से कर्म हो जाता है, उसी विधि चूर है।
जैसे कि केहरि देख, हाथी भाग जाते दूर हैं ॥
चैतन्यमय आनंदमय, जो आत्मा परमात्मा।
ध्याओ उसे इस भांति, कर्मों का विखर जाये अमां ॥
शुद्धात्मा से जो निकलता, ज्ञान का रे पुंज है।
उपलब्ध हो जाता कि उससे मोक्ष ज्ञान निकुंज है ॥**

दर्शनमोह को मंद किये बिना वस्तु स्वभाव ख्याल में नहीं आता और दर्शन मोह का अभाव किये बिना आत्मा अनुभव में नहीं आता। स्व-पर प्रकाश का पुंज प्रभु तो शुद्ध ही है, पर जो राग से भिन्न होकर उसकी उपासना करे, उसी के लिये वह शुद्ध है। समस्त परद्रव्य से भिन्न होकर स्व में एकाग्रता करने से पूर्व कर्म बंधोदय गलते विलाते हैं, नवीन कर्म बंध नहीं होता यही मुक्तिमार्ग है।

प्रश्न - कर्म बंधोदय अपने आप कैसे गलते हैं ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

गलियं सभाव उत्तं, गलियं कम्मान तिविहि जोएन।

गलियं परिनाम असुद्धं, गलियं विषयं च मिच्छ सभावं ॥ ३११ ॥

गलियं कुन्यान स उत्तं, गलियं परिनाम गलिय मोहंधं।

न्यान सहावं सुद्धं, ममल सुभाव मुक्ति गमनं च ॥ ३१२ ॥

अन्वयार्थ - (गलियं सभाव उत्तं) गलनशील स्वभाव को कहते हैं (गलियं कम्मान तिविहि जोएन) त्रिविध योग मन, वचन, काय से दृष्टि हटने से कर्म गल जाते हैं (गलियं परिनाम असुद्धं) अशुद्ध भाव अर्थात् शुभाशुभ भाव सब गल जाते हैं (गलियं विषयं च मिच्छ सभावं) विषयों की इच्छा व मिथ्यात्व भाव भी गल जाता है।

(गलियं कुन्यान स उत्तं) कुज्ञान भी गलनशील कहा गया है (गलियं परिनाम गलिय मोहंधं) सारा परिणमन, पर्याय गलने वाली अर्थात् क्षणभंगुर है, दर्शन मोहंध भी गल जाता है (न्यान सहावं सुद्धं) आत्मा का शुद्ध ज्ञान स्वभाव अविनाशी है (ममल सुभाव मुक्ति गमनं च) ममल स्वभाव से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ - आत्मा शाश्वत अविनाशी ध्रुव स्वभाव है, शेष सभी कर्मादि पर्याय गलने वाली क्षणभंगुर नाशवान हैं। आत्मा का ज्ञान स्वभाव चैतन्य लक्षण कभी नहीं गलता, कभी नष्ट नहीं होता परंतु जीव के साथ जो पर पुद्गल का संयोग है तथा कर्म जनित भावों का संयोग है यह सब गलित स्वभाव है, छूट जाने वाला है। जब त्रिविध योग मन वचन काय की एकाग्रता, गुप्तिरूप आत्म समाधि में एकाग्र हुआ जाता है अर्थात् जब तीनों योग मन वचन काय से दृष्टि हटकर अपने स्वरूप में एकाग्र होती है तब सब कर्म गल जाते हैं। अशुद्ध रागादि भाव, शुभाशुभ भाव भी गल जाते हैं, विषयों की इच्छा व मिथ्यात्व भाव भी गल जाते हैं।

संसार के समस्त पदार्थ और एक-एक समय की चलने वाली पर्याय यह सब गलने वाली क्षणभंगुर नाशवान हैं। शरीर धन वैभव संयोग, सब छूटने वाला नष्ट होने वाला है। अज्ञान दृष्टि से देखने पर इनका अस्तित्व भासित होता है तथा मोह, राग-द्वेष होने से कर्म का बंध होता है। जब इन सब पर संयोग मन वचन काय तथा एक समय की पर्याय से दृष्टि हटकर अपने ज्ञान स्वभाव ममल स्वभाव को देखती है तब यह सब कुज्ञान, अशुद्ध पर्याय

और दर्शन मोहांध गल जाता है, नष्ट हो जाता है यही मुक्तिमार्ग है ।

जितनी पर्यायें या अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं वह सब व्ययशील या गलित स्वभाव हैं । सम्यक्दर्शन से दर्शन मोहांध मिथ्यात्व गल जाता है, सम्यक्ज्ञान से कुज्ञान गल जाता है, सम्यक्चारित्र से सब कर्म गल जाते हैं । जैसे-तूम्बी को मिट्टी लपेट कर पानी में डालने से मिट्टी अपने आप गल जाती है, छूट जाती है । इसी प्रकार शरीरादि कर्म संयोग अपने आप गलते विलाते छूटते जाते हैं, इनसे दृष्टि हटना मुक्तिमार्ग है । इनकी ओर दृष्टि लगी रहना पुनः कर्म बंध का कारण है ।

आत्मा ज्ञान स्वभावी है अतः जो जो प्रसंग बनें उनमें ज्ञान करने का अवसर होने पर भी उनका ज्ञान करने के बदले, ज्ञेय ज्ञान के भेदज्ञान से शून्य होने के कारण, स्वयं को ज्ञेय रूप जानता हुआ अज्ञान रूप परिणमित होता है । रागादि कर्म ज्ञेय पदार्थ मेरे हैं ऐसा जानता हुआ अज्ञानी उनका कर्ता बनता है, इससे पुनः कर्म बंध होता है, ज्ञानी सम्यक्दृष्टि इन कर्मादि पर्याय, पर संयोग से दृष्टि हटा लेता है, इससे यह कर्मादि पर्याय अपने आप गलती नष्ट होती जाती है, यही मुक्तिमार्ग है ; और जितने भी अज्ञान जनित विभाव परिणाम हैं वह सब भी गलने वाले, नष्ट होने वाले हैं । इसी संदर्भ की गाथा आगे कहते हैं -

गलिय सहावं उत्तं, गलियं सल्लं च राग दोसं च ।

गारव गलिय अनिस्टं, न्यान सहावेन मुक्ति गमनं च ॥ ३१३ ॥

गलियं घाय चउक्कं, गलियं संसार सरनि सहकारं ।

गलियं कम्म स उत्तं, न्यान सहावेन जंति निव्वानं ॥ ३१४ ॥

गलियं अर्थ अनर्थ, गलियं अन्मोय अन्यान सहकारं ।

गलियं पुग्गल रूवं, न्यान सहावेन मुक्ति गमनं च ॥ ३१५ ॥

अन्वयार्थ - (गलिय सहावं उत्तं) गलित स्वभाव, क्षणभंगुर नाशवान भाव और वस्तुओं का कहा गया है (गलियं सल्लं च राग दोसं च) माया मिथ्या निदान यह तीन शल्य तथा राग-द्वेष भी क्षणभंगुर नाशवान हैं, गल जाते हैं (गारव गलिय अनिस्टं) अनिष्टकारी अहं भाव भी गल जाता है (न्यान सहावेन मुक्ति गमनं च) आत्मा एक अविनाशी ज्ञान स्वभावी है, इसी के आश्रय से

मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

(गलियं घाय चउक्कं) चार घातिया कर्म भी गल जाते हैं (गलियं संसार सरनि सहकारं) संसार परिभ्रमण के सहकारी रागादि भाव भी गल जाते हैं (गलियं कम्म स उत्तं) और सर्व ही कर्म गल जाते हैं, ऐसा कहा है (न्यान सहावेन जंति निव्वानं) यह आत्मा ज्ञान स्वभाव में लय होने से ही निर्वाण को प्राप्त करता है ।

(गलियं अर्थ अनर्थ) जितने अनर्थकारी भाव या संयोग हैं वे सब गल जाते हैं (गलियं अन्मोय अन्यान सहकारं) अज्ञान का आलंबन रखने, सहकार करने वाला भाव भी गल जाता है (गलियं पुग्गल रूवं) पुद्गल रूप जितना भी प्रपंच, अशुद्ध पर्यायी परिणमन, रूपी पदार्थ है यह सब गलने वाला, नष्ट होने वाला है (न्यान सहावेन मुक्ति गमनं च) एक ज्ञान स्वभाव के आश्रय से ही आत्मा मुक्ति को जाता है ।

विशेषार्थ - कोई ऐसा माने कि मेरे राग-द्वेष नहीं जायेंगे, मेरी शल्यें नहीं मिटेंगी, मेरा अहं भाव नहीं मिटेगा, उस जीव को समझने के लिये कहा है कि जितने कर्म जनित परभाव हैं वे सब मिट जाने वाले, गल जाने वाले, नष्ट होने वाले हैं । अपने ज्ञान स्वभाव में रहने से सर्व कर्म गल जाते हैं । जैसे- गर्म पानी की गर्मी अवश्य मिटेगी, गर्म लोहा अवश्य ठंडा होता है, इसी तरह जब सम्यक्दृष्टि ज्ञानी आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव में रहता है, तब उसकी शल्यें छूट जाती हैं, अहं भाव नहीं रहता है वैसे-जैसे वीतरागता की वृद्धि होती है राग-द्वेष गलता मिटता जाता है ।

आत्मा एक अखंड अविनाशी ज्ञान स्वभावी ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा है, सिद्ध के समान शुद्ध ममल स्वभावी चिदानंद चैतन्य आत्मा है । प्रत्येक जीव स्वभाव से सिद्ध, शुद्ध मुक्त है । अपने स्वभाव का विस्मरण होने से अज्ञानी मिथ्यादृष्टि संसारी बना है तथा अज्ञान द्वारा पर में एकत्व, अपनत्व, कर्तृत्व बुद्धि होने से पुद्गल का संयोग और कर्मावरण होने से आवृत हो रहा है, इसी कारण यह संसार परिभ्रमण चल रहा है ; परंतु यह सब छूट जाने वाला है, ज्ञान स्वभाव के आश्रय अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मय होने से मुक्ति होती है ।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय यह चार घातिया कर्म भी गलन स्वभाव हैं, शुक्ल ध्यान के द्वारा यह भी बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं ।

संसार परिभ्रमण के कारण राग-द्वेष, मोह भाव अज्ञानभाव हैं, यह भी ज्ञान स्वभाव के प्रकाश से गल जाते हैं। सारे ही कर्म आने-जाने वाले, क्षय होने वाले हैं। चौथे शुक्ल ध्यान से सब अघातिया कर्म भी गल जाते हैं, मात्र एक अविनाशी ज्ञानानंद स्वभाव रह जाता है, यह ही नित्य है, इसी को लिये हुए निर्वाण हो जाता है।

कर्म बंध कारक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग हैं, यह ही अनर्थकारी हैं, यह सब गलनशील हैं, गल जाते हैं। मिथ्याज्ञान अज्ञान से जो संसार में सहकारिता, आलंबन भाव था, वह भी सम्यक्ज्ञान से जाता रहता है। सर्व ही पुद्गल का संयोग तैजस, कार्माण, औदारिक, वैक्रियक, आहारक शरीर, भाषा वर्गणा तथा मन यह सब छूट जाते हैं।

पुद्गल स्वभाव से ही गलन पूरण स्वभाव वाला है। रूपी पदार्थ, अशुद्ध पर्याय सब गलने वाली हैं। पुद्गल का मूल स्वभाव शुद्ध परमाणु है। स्कंधरूप सारा परिणमन गलने वाला नाशवान है। पुद्गल कर्मादि से सर्वथा छूटने पर आत्मा का एक अविनाशी शुद्ध स्वभाव रह जाता है, उसी को लिये हुए यह मोक्ष चला जाता है।

प्रश्न - जब आत्मा सिद्ध के समान शुद्ध मुक्त है फिर यह शरीरादि कर्मों का संयोग संबंध क्यों और कैसा है ?

समाधान - आत्मा स्वभाव से सिद्ध के समान शुद्ध मुक्त है परंतु अपने ऐसे सत्स्वरूप का विस्मरण रूप अज्ञान होने से शरीरादि कर्मों से अनादि काल से निमित्त-नैमित्तिक संयोग संबंध है।

अज्ञान से मिथ्यात्व द्वारा यह शरीर ही मैं हूँ, यह शरीरादि कर्म संयोग विभाव आदि मेरे हैं और मैं इन सबका कर्ता हूँ, ऐसी मिथ्या मान्यता से यह सब संसार परिभ्रमण चल रहा है। जीव के अज्ञान जनित भाव के निमित्त से पुद्गल परमाणु कर्मादिरूप परिणमन करता है और कर्मोदय से यह सब मोह, राग-द्वेष शरीरादि संयोग होते हैं।

प्रश्न - इनसे छुटकारा कैसे होगा ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

गलियं मनस्य रुचियं, गलियं वचनस्य असुह सुह जननं ।

कल लंक्रित कंम सुगलियं, गलियं सभाव कम्म नहु पिच्छं ॥ ३१६ ॥

गलियं गमनागमनं, गलियं च कप्प वियप्प सम्बंधं ।

गलियं मान कषायं, गलियं कम्मान सव्वहा सव्वे ॥ ३१७ ॥

अन्वयार्थ - (गलियं मनस्य रुचियं) मन की रुचि गल जाती है (गलियं वचनस्य असुह सुह जननं) वचन की शुभ-अशुभ रूप प्रवृत्ति गल जाती है (कल लंक्रित कंम सुगलियं) शरीर सम्बंधी क्रिया भी बंद हो जाती है (गलियं सभाव कम्म नहु पिच्छं) सब भाव भी गल जाते हैं, बस इन कर्मों की तरफ मत देखो।

(गलियं गमनागमनं) आना-जाना सब बंद हो जाता है (गलियं च कप्प वियप्प सम्बंधं) संकल्प-विकल्प रूप सम्बंध भी सब छूट जाता है (गलियं मान कषायं) मान कषाय अहं भाव भी गल जाता है (गलियं कम्मान सव्वहा सव्वे) सारे के सारे कर्म अपने आप गल जाते हैं।

विशेषार्थ - कर्मों से छुटकारा पाने के लिये दृष्टि का परिवर्तन आवश्यक है, जब तक दृष्टि पर पर्याय की तरफ रहेगी तब तक कर्मों का आस्रव बंध होगा, जब दृष्टि अपने शुद्ध ममल स्वभाव ध्रुवतत्त्व की होगी तब कर्मों का संवर और निर्जरा होगी।

अपने स्वस्वरूप शुद्धात्म तत्त्व की ओर दृष्टि होने से तथा यह शरीरादि कर्म संयोग की ओर न देखने से, इन्हें कोई महत्व मान्यता न देने से मन की सारी उठा पटक बंद हो जाती है। वचनों का शुभ-अशुभ रूप परिणमन गल जाता है, शरीर संबंधी क्रिया भी छूट जाती है, सारे भाव विभाव भी गल जाते हैं। सब आना-जाना छूट जाता है, सारे संकल्प-विकल्प संयोग सम्बंध छूट जाते हैं, सब अहं भाव मान कषाय गल जाती है। दृष्टि स्व स्वभाव में होने से सब के सब कर्म छूट जाते हैं।

ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म से अंतर बाह्य स्थिति, अनुकूलता-प्रतिकूलता रूप संयोग सम्बंध होता है। राग-द्वेष, मोह रूप भावकर्म से शुभाशुभ भाव होते हैं। शरीरादि रूप नोकर्म से शरीर संयोग संबंध होता है। कर्म का आस्रव बंध, जीव के अज्ञान रूप मिथ्यादृष्टिपने से होता है। कर्मों का संवर और निर्जरा, जीव के ज्ञान स्वरूप सम्यक्दृष्टि होने से होती है। वर्तमान कर्म संयोग से दृष्टि हटाने, इन्हें कोई महत्व मान्यता न देने से, यह सब कर्म संयोग छूट जाते हैं, गल जाते हैं। केवलज्ञान होने पर यह मन वचन काय व

उनकी क्रियायें कोई नहीं होती हैं, सर्व ही भाव कर्म नहीं रहते हैं। सिद्ध दशा में कोई भी कर्म, योग, कषाय आदि नहीं रहते हैं फिर किसी अन्य गति में गमनागमन नहीं होता है, सबके सब कर्म क्षय हो जाते हैं, वह सिद्ध स्वरूप निश्चल अविनाशी रहता है।

पूर्ण गुणों से अभेद ऐसे पूर्ण शुद्धात्म तत्त्व पर दृष्टि करने से उसी के आलम्बन से पूर्णता प्रगट होती है और यह शरीरादि कर्म संयोग छूट जाते हैं। इस अखंड द्रव्य का आलम्बन, वही एक अखंड परम पारिणामिक भाव का आलम्बन है। औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव रूप पर्यायों का आलम्बन नहीं होता। सामान्य के आश्रय से ही शुद्धता प्रगट होती है इसलिये सब छोड़कर एक शुद्धात्म तत्त्व अखंड परम पारिणामिक भाव के प्रति दृष्टि करने से सब कर्म संयोग छूट जाते हैं।

अज्ञानी जीव ऐसे भाव से वैराग्य करता है कि यह सब क्षणिक है, सांसारिक उपाधि दुःखरूप है परंतु उसे मेरा आत्मा ही आनंद स्वरूप है ऐसे अनुभवपूर्वक सहज वैराग्य नहीं होने के कारण सहज शांति परिणमित नहीं होती। वह घोर तप करता है परंतु कषाय के साथ एकत्व बुद्धि नहीं टूटी होने से आत्म प्रतपन प्रगट नहीं होता और न ही कर्म संयोग छूटते हैं।

सम्यक्दृष्टि को भले स्वानुभूति अभी पूर्ण नहीं है परंतु दृष्टि में परिपूर्ण ध्रुव आत्मा है। ज्ञान परिणति द्रव्य तथा पर्याय को जानती है परंतु पर्याय पर जोर नहीं है, दृष्टि में अकेला स्व की ओर का लक्ष्य होने से सब कर्म गल जाते हैं।

प्रश्न - कर्म संयोग छूटने पर क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

चौदस प्राण उववन्नं, उववन्नं ममल केवलं न्यानं ।

केवल दर्शन दर्सी, नंत चतुष्टै सुभाव संतुष्टं ॥ ३१८ ॥

नंतानंत सुदिष्टं, लोयं अवलोय लोकनं भावं ।

आनन्दं परमानन्दं, परमप्पा परम निव्वुए जंति ॥ ३१९ ॥

अन्वयार्थ - (चौदस प्राण उववन्नं) चौदह प्राण उत्पन्न हो जाते हैं।

दस प्राण संसारी संज्ञी जीव को होते हैं, केवलज्ञानी को चार प्राण-सुख, सत्ता, बोध, चेतना विशेष प्रगट हो जाते हैं (उववन्नं ममल केवलं न्यानं)

ममल स्वभाव केवलज्ञान स्वरूप प्रगट हो जाता है (केवल दर्शन दर्सी) केवलदर्शन ही दिखता है अर्थात् केवल स्वस्वरूप ही दिखता है (नंत चतुष्टै सुभाव संतुष्टं) अनंत चतुष्टय-अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य स्वरूप निज स्वभाव में संतुष्ट परिपूर्ण हो जाता है।

(नंतानंत सुदिष्टं) केवलज्ञान सर्वज्ञ स्वभाव में अनंतानंत द्रव्य, गुण, पर्याय दिखने लगते हैं, झलकते हैं (लोयं अवलोय लोकनं भावं) लोक व अलोक को देखने योग्य शक्ति प्रगट हो जाती है अर्थात् लोकालोक प्रकाशित हो जाता है (आनन्दं परमानन्दं) निरंतर आनंद परमानंद में रहते हुए (परमप्पा परम निव्वुए जंति) परमात्मा परम निर्वाण सिद्ध दशा को उपलब्ध हो जाते हैं।

विशेषार्थ - संसारी जीव को कर्म संयोग शरीर संबंध से दश प्राण होते हैं, पांच इंद्रिय-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण। तीन बल-मन, वचन, काय तथा श्वासोच्छ्वास और आयु, यह दश प्राण पर्याय अनुसार होते हैं। घातिया कर्मों के क्षय होने, ज्ञान चेतना के जागने पर, सुख, सत्ता, बोध, चैतन्य यह चार प्राण निज स्वरूप के प्रगट हो जाते हैं इस प्रकार केवलज्ञानी परमात्मा चौदह प्राणों के धारी होते हैं, ममल स्वभाव केवलज्ञान स्वरूप प्रगट हो जाता है जहां केवल निजस्वरूप ही दिखता है तथा अनंत चतुष्टय-अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य स्वरूप निज स्वभाव परिपूर्ण प्रगट हो जाता है।

केवलज्ञान सर्वज्ञ स्वभाव में तीन लोक के त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्य गुण पर्याय का परिणमन झलकने लगता है। लोकालोक को जानने की शक्ति प्रगट हो जाती है। सशरीर केवलज्ञानी परमात्मा निरंतर आनंद परमानंद में रहते हैं, अघातिया कर्मों के क्षय होने पर परिपूर्ण शुद्ध, मुक्त, सिद्ध परमात्मा परम निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं।

जब आत्मा घातिया कर्म रहित हो जाता है तब उसके मन वचन काय की कोई क्रिया नहीं रहती है। वह परिपूर्ण शुद्ध स्वभाव में केवलज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा हो जाता है, अनंत चतुष्टय प्रगट हो जाते हैं। शेष अघातिया कर्म, शरीर संबंध छूटने पर सिद्ध परमात्मा अपने स्वभाव में निश्चल विराजते हैं। गमनागमन से रहित वह सिद्ध गति निश्चल अविनाशी रहती है जहाँ निरंतर षट्गुणी आनंद की वृद्धि होती रहती है। परमात्मा परम सुख परम शांति परम आनंद में रहते हैं उनका परम निर्वाण हो जाता है।

अनादिकाल से जीव का अज्ञान दशा में कर्मों का एक क्षेत्रावगाह निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध रहा है। निज स्वरूप का बोध निज शुद्धात्मानुभूति रूप सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान सम्यक्चारित्र होने पर कर्मों का संबंध छूट जाता है और यह जीव आत्मा परमात्मा हो जाता है।

यह आत्मा है सो ज्ञायक अखंड स्वरूप है, राग, कर्म व शरीर तो उसके नहीं हैं, जड़ इन्द्रियां तो उसकी नहीं हैं लेकिन भावेन्द्रिय व भावमन भी उसके नहीं हैं। एक-एक विषय को जानने वाली ज्ञान की पर्याय खंड-खंड ज्ञान है, यही पराधीनता है, परवशता है, दुःख है जो दश प्राण रूप है। निज प्राण जिनसे आत्मा सदाकाल जीता है वह सुख, सत्ता, बोध, चैतन्य चार प्राण हैं। भगवान आत्मा पूर्णानंद से परिपूर्ण स्वभाव है, इस स्वभाव के साधन से ही परम निर्वाण की प्राप्ति होती है।

प्रश्न - जब अनादिकाल से जीव का और कर्मों का सम्बंध है फिर यह कर्म क्षय कैसे होते हैं और कैसे विला जाते हैं ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

विलय सुभाव स उत्तं, कम्म निबंधाइ कम्म विलयंति।

ममल सुभावं दिट्ठं, अन्मोयं ममल सिद्धि संपत्तं ॥ ३२० ॥

कम्म सुभावं विलयं, सिद्ध सहावेन ममल न्यानस्य।

अन्मोयं उवएसं, परम जिनं ममल सिद्धि संपत्तं ॥ ३२१ ॥

अन्वयार्थ - (विलय सुभाव स उत्तं) विलय स्वभाव उसे कहते हैं (कम्म निबंधाइ कम्म विलयंति) जो पूर्व के बंधे हुए कर्म हैं यह विला जाते हैं, क्षय हो जाते हैं (ममल सुभावं दिट्ठं) ममल स्वभाव को देखने से अर्थात् ममल स्वभाव की दृष्टि तथा उसमें लीनता होने से (अन्मोयं ममल सिद्धि संपत्तं) ममल स्वभाव के आलंबन से सिद्धि की संपत्ति प्राप्त हो जाती है अर्थात् सारे कर्म बंध क्षय हो जाते हैं, विला जाते हैं।

(कम्म सुभावं विलयं) कर्मों का स्वभाव क्षय होने का है (सिद्ध सहावेन ममल न्यानस्य) आत्मा सिद्ध स्वरूप ममल स्वभाव ज्ञानमात्र है (अन्मोयं उवएसं परम जिनं) ऐसे परमजिन परमात्मा के उपदेश की अनुमोदना, आश्रय, सत्श्रद्धान करने से (ममल सिद्धि संपत्तं) रागादि कर्मों से छूटकर अपने ममल स्वभाव सिद्धि की संपत्ति प्रगट हो जाती है।

विशेषार्थ - कर्मों का स्वभाव नित्य स्थायी नहीं है, पूर्व कर्म बंध या तो अपना फल देकर विलय होते हैं या ध्यान के बल से विलय होते हैं। पुद्गल परमाणु जो कर्मरूप बंधते हैं वह कार्माण वर्गणा कहलाते हैं, पुद्गल का स्वभाव ही गलन पूरण है।

जब तक कर्म आत्मा के साथ बंध रूप रहते हैं तब तक उनकी कर्म संज्ञा रहती है। जब उन कर्मों की निर्जरा हो जाती है तब उन कर्मों का कर्मत्व चला जाता है, कर्मवर्गणा पुद्गल रूप रह जाती है, जैसे बंध के पहले थी। जैसे-अनादि से स्वर्ण और पाषाण एक साथ मिले हुए हैं उनका शोधन करने पर भिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा और कर्म अनादि से एक साथ मिले हैं, भेदविज्ञान करने पर भिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

कर्म का बंध चार प्रकार से होता है - प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग। मन वचन काय की योग प्रवृत्ति से प्रकृति और प्रदेश बंध होता है तथा आत्मा के विभाव परिणाम कषाय से स्थिति, अनुभाग बंध होता है परंतु यह सब मर्यादित क्षणभंगुर नाशवान होता है। अज्ञानी जीव को स्व स्वरूप का बोध भेदज्ञान न होने से वह पुनः पुनः कर्म बंधन से बंधता रहता है। जिस जीव को भेदज्ञान पूर्वक स्व-पर का यथार्थ श्रद्धान ज्ञान हो जाता है वह इन कर्म बंधनों से छूट जाता है। जैसे-स्वर्ण को अग्नि में डालकर, गलाकर, तपाकर सोलह ताप के देने से सर्व किट्ट कालिमा से रहित हो चमक उठता है तब फिर अशुद्ध नहीं रहता है, वैसे ही यह आत्मा भेदविज्ञान पूर्वक अपने ममल स्वभाव की साधना करने से धर्म शुक्ल ध्यान आदि के द्वारा सर्व कर्म मलों से रहित परम सिद्ध परमात्मा हो जाता है फिर नित्य अपने स्वभाव में रमण करता है।

आत्मा के अज्ञान रूप परिणमन राग-द्वेष भाव से कर्म बंध होता है और मोह भाव से भोगता है। जब अपने ज्ञान स्वरूप ममल स्वभाव का बोध जाग जाता है तब अपने ममल स्वभाव को देखने और ममल स्वभाव में रहने से सब कर्म बंध क्षय हो जाते हैं, विला जाते हैं। परम वीतरागी केवलज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा जिनेन्द्र परमात्मा ने ऐसा उपदिष्ट किया है, वह स्वयं भी इसी प्रकार पूर्ण शुद्ध परमात्मा हुए हैं और यही उपदेश जगत के समस्त भव्यजीवों के लिये दिया है, जो जीव अपने सिद्ध स्वरूप ममल स्वभाव का निश्चय श्रद्धान ज्ञान कर तद्रूप आचरण करते अर्थात् अपने ममल स्वभाव में रहते हैं वह सर्व कर्म बंधनों से रहित होकर सिद्धि की सम्पत्ति प्राप्त करते हैं अर्थात् पूर्ण

शुद्ध मुक्त सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं।

प्रश्न - यह सिद्धि की संपत्ति क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

ममलं ममल सहावं, ममलं ममलं च लब्ध सभावं ।

अन्मोयं ममल स उत्तं, ममल सहावेन सिद्धि संपत्तं ॥ ३२२ ॥

अन्वयार्थ - (ममलं ममल सहावं) आत्मा का स्वभाव ममल, सर्व कर्म मलों से रहित ममल ही है अर्थात् जिसमें कभी कर्म मलों का प्रवेश ही नहीं हुआ है (ममलं ममलं च लब्ध सभावं) ममल स्वभाव अर्थात् जिसमें कभी कर्म मल लगे ही नहीं हैं, जो सर्व द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मों से न्यारा पूर्ण शुद्ध मुक्त सिद्ध स्वरूप है, ऐसे स्वभाव को प्राप्त होने से अर्थात् ज्ञान, श्रद्धान करने से (अन्मोयं ममल स उत्तं) उसी का आश्रय अनुमोदना करने से, लीन रहने से कहते हैं कि (ममल सहावेन सिद्धि संपत्तं) इसी ममल स्वभाव से सिद्धि की संपत्ति अर्थात् परमानंद, परमात्म पद अरिहंत सिद्ध दशा प्रगट होती है।

विशेषार्थ - आत्मा का अपने परमसुख, परमशांति, परमानंद में रहना, पंचज्ञान, परमेष्ठी पद प्रगट होना, धर्म का अतिशय, जगत में जय-जयकार मचना, अरिहंत सिद्धपद प्रगट होना ही सिद्धि की संपत्ति है और यह सब अपने ममल स्वभाव की साधना करने से उपलब्ध होती है।

आत्मा परिपूर्ण शुद्ध ममल स्वभाव ही है परंतु जहाँ तक पुद्गल कर्म का आत्मा के साथ संयोग है वहाँ तक मल स्वभाव झलकता है, दिखाई देता है। जैसे-स्फटिक मणि पूर्ण शुद्ध श्वेत है परंतु किसी वस्तु का संयोग होने से उस वस्तु का संयोगिक वर्ण झलकता है, उसी तरह आत्मा स्वभाव से शुद्ध है, कर्म के संयोग से ही रागादि विभाव आत्मा में प्रगट होता है, कर्म संयोग हटते ही आत्मा निर्मल स्फटिक के समान शुद्ध ममल स्वभाव में रह जाता है इसे ही सिद्ध स्वरूप सिद्ध परमात्मा कहते हैं।

अपने ममल स्वभाव का निश्चय श्रद्धान ज्ञान होने पर उसके आलम्बन, आश्रय करने पर फिर कभी कर्म बंध नहीं होता है। पुद्गल परमाणु कर्म वर्णनायें लोक में ठसाठस भरी रहें तथापि अबंध वर्णनायें कुछ भी विकार व आवरण आत्मा में नहीं कर सकती हैं। जैसे-आकाश का पर द्रव्य कोई बिगाड़

नहीं कर सकते, वैसे ही ममल स्वभाव रूप सिद्धात्मा का पर द्रव्य कोई बिगाड़ नहीं कर सकता, ऐसे ममल स्वभाव के आश्रय से यह सिद्धि की संपत्ति, अरिहंत सिद्ध दशा प्रगट होती है।

प्रश्न - यह अरिहंत दशा में क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

नंत चतुष्टय जुत्तं, अयसय पडिहार ममल न्यानं च ।

चौदस प्रान संजुत्तं, न्यानं अन्मोय सिद्धि संपत्तं ॥ ३२३ ॥

न्यानं दंसन सम्मं, दानं लाभं च भोय उवभोयं ।

वीर्ज सम्मत्त सुचरनं, लब्धि संजुत्त सिद्धि संपत्तं ॥ ३२४ ॥

अन्वयार्थ - (नंत चतुष्टय जुत्तं) श्री अरिहंत परमात्मा सशरीर अनंत चतुष्टय-अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्य से युक्त होते हैं (अयसय पडिहार ममल न्यानं च) चौंतीस अतिशय से युक्त होते हैं (चौदस प्रान संजुत्तं) चौदह प्राणों से संयुक्त होते हैं (न्यानं अन्मोय सिद्धि संपत्तं) ज्ञानानंद स्वभाव में लीन हो वे सिद्ध दशा को प्राप्त होते हैं।

(न्यानं दंसन सम्मं) अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन (दानं लाभं च भोय उवभोयं) अनंतदान, अनंतलाभ, अनंतभोग और अनंत उपभोग (वीर्ज सम्मत्त सुचरनं) अनंतवीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र (लब्धि संजुत्त सिद्धि संपत्तं) इन नौ क्षायिक लब्धियों सहित वे अरिहंत, सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं।

विशेषार्थ - श्री अरिहंत परमात्मा सशरीर अनंत चतुष्टय के धारी केवलज्ञानी सर्वज्ञ स्वभावी होते हैं जो अपने परमानंद मयी ममल ज्ञान स्वभाव में लीन रहते हैं। चौदह प्राणों से संयुक्त होते हैं, चौंतीस अतिशय और अष्ट प्रातिहार्य प्रगट हो जाते हैं, जगत में जय-जयकार मचती है, सौ इन्द्र सेवा करते हैं, देवता उत्सव मनाते हैं। नौ क्षायिक लब्धि - अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य तथा क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र यह नौ लब्धियाँ प्रगट हो जाती हैं। घातिया कर्मों के क्षय होने पर आत्मा के यह स्वाभाविक गुण प्रगट हो जाते हैं और अघातिया कर्म के क्षय होने पर शरीर से रहित पूर्ण शुद्ध मुक्त सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं।

निश्चय से आत्मा शुद्ध है परंतु उसकी पर्याय में रागादिक अशुद्धता होने पर भी जो पर्याय अपेक्षा से वर्तमान में शुद्ध मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। मोक्षमार्ग में तो रागादिक मिटाने का श्रद्धान ज्ञान व आचरण करना होता है। जिसके द्वारा विकार का नाश हो वही मोक्षमार्ग है। श्रद्धा में रागादि कर्ममल विकार का आदर नहीं, ज्ञान में विकार नहीं तथा आचरण में राग ही न करे यही मोक्षमार्ग है।

प्रश्न - ऐसे मार्ग की उपलब्धि और निर्वाण की प्राप्ति कैसे होती है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

न्यानं च परम न्यानं, न्यानं विन्यान न्यान सहकारं ।

अप्यर सुर विंजन रूवं, विन्यानं जानंति अप्य परमप्यं ॥ ३२५ ॥

अप्यर अषयं रूवं, अषय पदं अषय सुद्ध सभावं ।

अषयं च ममल रूवं, ममल सहावेन निव्वुए जंति ॥ ३२६ ॥

अन्वयार्थ - (न्यानं च परम न्यानं) ज्ञान परमज्ञान केवलज्ञान स्वरूप है और यही श्रेष्ठ इष्ट है (न्यानं विन्यान न्यान सहकारं) भेदविज्ञान से उस ज्ञान को जानना केवलज्ञान की प्रगटता का कारण है (अप्यर सुर विंजन रूवं) वह ज्ञान जिस आगम जिनवाणी से होता है वह अक्षर स्वर व्यंजन स्वरूप है (विन्यानं जानंति अप्य परमप्यं) भेदविज्ञान से ही मैं आत्मा परमात्मा हूँ यह जानने में आता है।

(अप्यर अषयं रूवं) अक्षर अपना अक्षय स्वरूप है (अषय पदं अषय सुद्ध सभावं) वही अक्षय पद अविनाशी अक्षय शुद्ध सत्ता स्वरूप है (अषयं च ममल रूवं) जो अक्षय स्वभाव है वही ममल स्वभाव है (ममल सहावेन निव्वुए जंति) ऐसे ममल स्वभाव के आश्रय से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ - आत्मा का स्वभाव केवलज्ञान मयी है, यही श्रेष्ठ और इष्ट है, इस पर ज्ञानावरण कर्म का आवरण है इसलिये प्रगट नहीं है। उस आवरण को हटाने का उपाय भेदविज्ञान द्वारा ज्ञान स्वभाव को स्वीकार करना है। जो जिनवाणी के द्वारा भेदविज्ञान पूर्वक अपने स्वरूप को जानते हैं कि मैं आत्मा परमात्मा हूँ, ऐसे अक्षर स्वरूप जिनवाणी के माध्यम से जो अपने अक्षय स्वरूप को जानते हैं कि आत्मा अक्षय अविनाशी शुद्ध सत्ता स्वरूप है, जो

अक्षय स्वभाव है वही ममल स्वभाव है, ऐसे ममल स्वभाव के आश्रय से समस्त कर्म क्षय हो जाते हैं इसी से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

आत्मा अक्षय अविनाशी केवलज्ञान स्वभावी शुद्ध सत्ता स्वरूप है, आत्मा कभी जन्म नहीं लेता और न कभी मरता है। जन्म लेना तो दूर परंतु आत्मा तो राग को उत्पन्न करने में भी निमित्त नहीं है। आत्मा चिदानंद त्रिकाल ध्रुवतत्त्व है।

भेदविज्ञान पूर्वक अपने सत्ता स्वरूप को जानने पर ज्ञान विकसित होता है, आत्मा की शक्ति तो तीनकाल व तीनलोक को जानने की है, उसमें ज्ञान जितने अंश में ज्ञानरूप वेदन करे उतना ज्ञान का विकाश हुआ, वह विकसित अंश ही सर्वज्ञ शक्ति प्रगट करता है। सर्वज्ञ शक्ति तो त्रिकाल है उसका वेदन हुआ है। सर्वज्ञ शक्ति के आधार से ही स्व संवेदन होता है।

जिसे धर्म का आदर है, सिद्ध पद की चाह है उसे लक्ष्मी की रुचि नहीं होना चाहिये, सिद्ध स्वरूप को वंदन करने वाला अन्य को वंदन नहीं करता। संसार की रुचि वाले जीव को मुक्ति की रुचि नहीं होती, अज्ञानी को बाह्य की क्रिया तथा शुभ परिणाम सुगम लगते हैं तथा वह उन्हीं में मोक्षमार्ग मानता है। अंतर शुद्ध द्वय एकरूप, निष्क्रिय, ध्रुव, चिदानंद सो निश्चय तथा उसके अवलंबन से प्रगट हुई निर्विकल्प मोक्षमार्ग दशा व्यवहार है। अध्यात्म का ऐसा निश्चय-व्यवहार स्वरूप ज्ञानी ही जानता है, अज्ञानी नहीं जानता।

मोक्षमार्ग तो वीतराग भाव है अतः जिन शास्त्रों में किसी भी प्रकार से राग-द्वेष मोह भावों का निषेधकर वीतराग भाव प्राप्ति का प्रयोजन प्रगट किया हो वे शास्त्र ही पढ़ने व सुनने योग्य हैं।

भेदज्ञान पूर्वक स्व-पर का यथार्थ श्रद्धान कर मैं ज्ञानानंद स्वभावी ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा हूँ, ऐसे अंतर स्वभाव के संग से शुद्धोपयोग होता है। दया, दान अथवा भगवान के संग से शुद्धोपयोग नहीं होता। शुद्धोपयोग साधन है व उसका कार्य परमात्म पद मुक्ति की प्राप्ति है।

प्रश्न - जब आत्मा अक्षय स्वभावी अविनाशी सिद्ध स्वरूप है, केवलज्ञान स्वभावी है फिर वह संसार में कर्मादि संयोग में कैसे फंसा है ?

समाधान - निज सत्स्वरूप की विस्मृति, दृष्टि के विपरीत श्रद्धान, मिथ्यादृष्टि मिथ्याज्ञान से स्वयं ही संसार कर्मादि में फंसा है। अज्ञानी जीव

कहते हैं कि कर्म ही जीव को संसार में भटकाते हैं परंतु ऐसी मान्यता भूल है। कर्म जड़ हैं उनसे जीव नहीं घूमता परंतु जीव अपनी ही भूल से भटकता है तब कर्म को निमित्त कहते हैं। पहले भूल हुई और बाद में कर्म आये ऐसा नहीं है तथा कर्म उदित हुए इसलिये भूल हुई ऐसा भी नहीं है। स्वयं भूल करे तब कर्म निमित्त रूप होता है।

शरीर कोई संसार नहीं है, स्त्री, कुटुम्ब, पैसा संसार नहीं है और कर्म भी संसार नहीं है। यदि शरीर ही संसार हो तो उसके जल जाने पर संसार भी जलकर राख हो जाये व मुक्ति हो जाये परंतु ऐसा नहीं होता। आत्मा का संसार तो आत्मा की पर्याय में है।

जो वर्तमान दृष्टि (उपयोग) ज्ञान, दर्शन, वीर्य का अंकुर है सो त्रिकाल का अंश है, उस अंश द्वारा ही त्रिकाली आत्म तत्त्व का निर्णय होता है। जैसे-आम के दो पत्ते जमीन के ऊपर दिखने से यह निश्चित हो जाता है कि उसका बीज तो आम की गुठली है। वह बीज अव्यक्त होने पर भी उसके पत्ते द्वारा ही उसका ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार जो ज्ञान, दर्शन, वीर्य का अंश है सो चैतन्य का ही अंश है उससे चैतन्य स्वभावी आत्मा का निर्णय होता है कि आत्मा अनंत चतुष्टय का धारी केवलज्ञान स्वभावी परमात्मा है क्योंकि वह राग-द्वेष अथवा पुण्य-पाप का अंश नहीं है तथा औपाधिक भाव रूप भी नहीं है। परम पारिणामिक भाव, सिद्ध स्वरूप आत्मा है, इस प्रकार निर्णय करने पर संसार कर्मादि से मुक्त हो जाता है।

अज्ञान द्वारा संसार परिभ्रमण चलता है, ज्ञान से संसार परिभ्रमण छूटता है, मुक्ति होती है। अज्ञान से ही ज्ञानावरणादि कर्म का बंध होता है जो संसार परिभ्रमण का कारण है।

प्रश्न - यह ज्ञान अज्ञान का स्वरूप क्या है ?

समाधान - ज्ञान-अक्षर, स्वर, व्यंजन, पद, अर्थरूप प्रगट होता है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जैसा का तैसा जानना मानना ज्ञान है तथा अक्षर, स्वर, व्यंजन, पद, अर्थ से वस्तु के स्वरूप को विपरीत जानना मानना अज्ञान है। अज्ञान से ज्ञानावरणादि कर्म का बंध होता है, ज्ञान से मुक्ति होती है।

प्रश्न - यह अक्षर, स्वर, व्यंजन, पद, अर्थ रूप ज्ञान कैसा होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

न्यानं अष्यर सुरयं, न्यानं संसार सरनि मुक्कं च ।

अन्यान मिच्छ सहियं, न्यानं आवरन नरय वासम्मि ॥ ३२७ ॥

अन्वयार्थ - (न्यानं अष्यर सुरयं) ज्ञान अक्षर रूप अविनाशी है व ज्ञान ही अक्षय सूर्य सम स्व-पर प्रकाशक है (न्यानं संसार सरनि मुक्कं च) ज्ञान ही संसार के परिभ्रमण से छुड़ाने वाला है (अन्यान मिच्छ सहियं) परंतु यदि ज्ञान मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान सहित हो तो (न्यानं आवरन नरय वासम्मि) यह ज्ञान का आवरण नरक में वास कराता है।

विशेषार्थ - आत्मा ज्ञान स्वरूप है, ज्ञान ही आत्मा है, ज्ञान अविनाशी है व सूर्य के समान प्रकाशमान है, आत्मज्ञान ही संसार के भ्रमण से छुड़ाने वाला है।

जिनवाणी अक्षर, स्वर, व्यंजन, पद, अर्थ रूप वस्तु के स्वरूप को बताने वाली है। इसके माध्यम से जो अपने सत्स्वरूप का यथार्थ श्रद्धान ज्ञान करते हैं वे जीव संसार के परिभ्रमण से छूट जाते हैं।

स्वरूप की विस्मृति रूप अज्ञान मिथ्यात्व सहित यह जीव आत्मा ज्ञानावरण होने से नरक में वास करता है। ज्ञानस्वरूप आत्मा पर अज्ञानरूप आवरण होना ही ज्ञानावरण है यही संसार परिभ्रमण कराता है।

अक्षर स्वर व्यंजन रूप आगम से अपने आत्म स्वरूप का बोध होता है, जो जीव इसका विपरीत अभिप्राय पकड़ता है, दुरुपयोग करता है, वह ज्ञानावरण कर्म का बंध कर नरक में वास करता है। अक्षर, अक्षय स्वरूप ज्ञान सूर्य का बोध कराता है, आत्मा अक्षय अविनाशी ज्ञान सूर्य ज्ञानानंद स्वभावी परमब्रह्म परमात्मा है परंतु अपने अज्ञान और मिथ्यात्व सहित ज्ञानावरण से संसार परिभ्रमण और नरक में वास करता है।

स्वरूप की विस्मृति अज्ञान है और यह शरीर ही में हूँ, यह शरीरादि मेरे हैं तथा मैं इन सबका कर्ता हूँ, ऐसी विपरीत मान्यता ही मिथ्यात्व है, यही बंध और संसार परिभ्रमण का कारण है।

केवली भगवान की दिव्य ध्वनि में संपूर्ण रहस्य एक साथ अनावृत होता है। उत्कृष्ट श्रोता के समझने की जितनी योग्यता हो उतना संपूर्ण विषय भगवान की वाणी में एक साथ आता है। जिनवाणी अक्षर, स्वर, व्यंजन, पद, अर्थ रूप अपने सत्स्वरूप का बोध कराती है, इसके विपरीत जो अज्ञान

मिथ्यात्व सहित ज्ञान स्वभाव आत्मा पर आवरण करता है वह ज्ञानावरण का बंध करके नरक में वास करता है ।

अक्षर शब्द रूप होता है, स्वर वाणी रूप बोला जाता है, पात्रता बिना गुरु समागम नहीं मिलता व गुरुगम बिना सत्य समझ में नहीं आता । अज्ञानी जीव पराधीन दृष्टि होने से शास्त्रों में से भी वैसा ही आशय उद्धृत कर, शास्त्रों का अर्थ उल्टा ही करता है ।

प्रश्न - स्वर किस रूप है इसमें क्या कहा जाता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

सुरं च सुयं सरूवं, सुरं च सुद्ध समय संजुतं ।

जे जनरंजन सहियं, न्यानं आवरन थावरं पत्तं ॥ ३२८ ॥

सुरं च सुयं सुलष्यं, अलषं लषियं च सुरं ससहावं ।

जइ कलरंजन विषयं, न्यानं आवरन नरय वीयम्मि ॥ ३२९ ॥

सुरं च सुद्ध उवन्नं, सुरं च षिपिओ हि सुयं कम्मानं ।

मनरंजन गारव सहियं, न्यानं आवरन थावरं वीयं ॥ ३३० ॥

अन्वयार्थ - (सुरं च सुयं सरूवं) स्वर दिव्य ध्वनि रूप है और यह स्वयं का स्वरूप बताने वाला है (सुरं च सुद्ध समय संजुतं) केवलज्ञानी की दिव्यध्वनि में आया है कि अपने शुद्ध समय शुद्धात्मा में लीन रहो (जे जनरंजन सहियं) जो जीव, इस वाणी के विपरीत अपने उपयोग को जनरंजन अर्थात् लोगों को रंजायमान करने में लगाते हैं (न्यानं आवरन थावरं पत्तं) ज्ञान पर आवरण डालते हैं, वह तीव्र ज्ञानावरण कर्म का बंध करते हैं जिससे एकेन्द्रिय स्थावर में जन्म पाते हैं ।

(सुरं च सुयं सुलष्यं) उस स्वाभाविक सूर्य सम ज्ञान का स्वयं ही प्रकाश होता है (अलषं लषियं च सुरं ससहावं) वाणी द्वारा प्रकाशित स्व स्वभाव जो अलख है, उसे लखो अनुभूति में लो (जइ कलरंजन विषयं) यदि अपनी दृष्टि, उपयोग स्व स्वभाव में न लगाकर कलरंजन के विषयों में लगाते हो तो (न्यानं आवरन नरय वीयम्मि) ज्ञान के ऊपर आवरण डालकर नरक का बीज बोते हो अर्थात् ज्ञानावरण से नरकादि जाना पड़ेगा ।

(सुरं च सुद्ध उवन्नं) वाणी द्वारा प्रकाशित जब अपना शुद्ध स्वभाव

प्रगट होता है (सुरं च षिपिओ हि सुयं कम्मानं) तब इस ज्ञान के होते ही स्वयं ही सारे कर्म क्षय हो जाते हैं (मनरंजन गारव सहियं) परंतु यदि अपने उपयोग को अपने व दूसरों के मन को रंजायमान करने में व गारव अहंभाव में लगाया तो (न्यानं आवरन थावरं वीयं) ज्ञान स्वभाव आत्मा पर ज्ञानावरण कर्म का बंध करके स्थावर पर्याय में ही पैदा होना पड़ेगा ।

विशेषार्थ - स्वर दिव्यध्वनि रूप है और यह स्वयं का स्वरूप बताने वाला है । केवलज्ञानी की दिव्यध्वनि में आया कि अपने शुद्ध समय शुद्धात्मा में लीन रहो । ज्ञान उसे ही कहते हैं जो वस्तु स्वरूप को यथार्थ जाने ।

सम्यक्ज्ञान आत्मा व अनात्मा को ठीक जानकर आत्मा के मनन में झुकाता है, जिससे केवलज्ञान का प्रकाश हो जाता है । जो जीव इस वाणी के विपरीत अपने उपयोग को जनरंजन अर्थात् लोगों को रंजायमान करने में लगाते हैं उनको ज्ञानावरण कर्म का तीव्र बंध होता है जिसके फल से वह पंचेन्द्रिय से एकेन्द्रिय स्थावर हो जाते हैं ।

शुद्ध ज्ञान जो केवलज्ञान है वह मन, वचन, काय से न लखने योग्य आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करता है जबकि स्वसंवेदन ज्ञान परोक्ष रूप से आगम के आधार से उसी अलख आत्मा का अनुभव करता है । जो जीव अपने उपयोग को आत्मा की तरफ न लगाकर शरीरादि विषय भोगों में लगाते हैं, वह अपने ज्ञान का दुरुपयोग करते हैं और ज्ञानावरण कर्म बांधकर नरक जाते हैं ।

जिस ज्ञान से कर्मों का नाश होकर परमात्म पद होता है, उसी ज्ञान के द्वारा मनरंजन गारव किया जावे तो इससे ज्ञानावरण कर्म का तीव्र बंध करके स्थावर पर्याय में जाना पड़ेगा ।

आत्मा का चिदानंद स्वरूप है, उसकी पर्याय में होने वाले पुण्य-पाप तो कर्म हैं, उनकी रुचि छोड़कर स्वभाव का अनुभव करना यही ज्ञान का प्रकाश, वाणी की विशेषता है । सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कथित वस्तु के स्वरूप के अनुसार सम्यक् रूप से सांगोपांग समझना ही साधकता है । वाणी के द्वारा भावश्रुत प्रगट होता है ।

स्वभाव सन्मुखता की शांति द्वारा कषाय की अग्नि बुझती है और स्वभाव लीनता से सारे कर्म क्षय होते हैं, भगवान ने भी वैसे ही स्व सन्मुखी मोक्षमार्ग की वर्षा की है, जो संसार रूपी दावानल को बुझाने का साधन है, अंतर में

लीनता होने से अनादि के संसार दावानल का नाश होता है ।

भाई ! तुमने यदि पराश्रय बुद्धि न छोड़ी तथा स्व तत्त्व पर दृष्टि न डाली तो तेरी विद्वत्ता क्या काम की ? तेरा शास्त्र ज्ञान किस काम का ? विद्वत्ता तो उसे कहें कि जिससे स्वाश्रय कर निज हित सधे ।

इसी की विशेषता रूप आगे गाथा कहते हैं -

सुरं च सुयं षिपनं, सूषम सभाव ममल न्यानं च ।

पज्जय सहाव रुचियं, न्यानं आवरन नरय संजुत्तं ॥ ३३१ ॥

सुरं च सूषम रूवं, सुरं च संसार विषय विरयंमि ।

जदि पज्जय सरनि संजुत्तं, न्यानं आवरन थावरं पत्तं ॥ ३३२ ॥

अन्वयार्थ - (सुरं च सुयं षिपनं) यह सूर्य समान ज्ञान स्वयं क्षायिक भाव है (सूषम सभाव ममल न्यानं च) यह इन्द्रियों से अगोचर अतीन्द्रिय सूक्ष्म स्वभाव है और ममल ज्ञानमय है (पज्जय सहाव रुचियं) यदि वह ज्ञान शरीरादि पर्याय में रुचिवान होता है तो (न्यानं आवरन नरय संजुत्तं) ज्ञानावरण का बंध होकर नरक में जाता है ।

(सुरं च सूषम रूवं) स्वर, वाणी द्वारा प्रगट आत्मा सूक्ष्म स्वरूप है, इन्द्रियातीत है, अनुभव गम्य है (सुरं च संसार विषय विरयंमि) वाणी में कहा गया है कि संसार के विषय भोगों से विरक्त रहो (जदि पज्जय सरनि संजुत्तं) यदि पर्याय के प्रवाह में रत होते हो तो (न्यानं आवरन थावरं पत्तं) ज्ञानावरण का बंध होकर स्थावर गति में जाना होगा ।

विशेषार्थ - वाणी द्वारा प्रकाशित सूर्य समान ज्ञान स्वयं क्षायिक भाव है जो सर्व ज्ञानावरण के क्षय से प्रगट होता है । ज्ञान से ही ज्ञान की पूर्णता होती है, आत्मा इन्द्रियों से अगोचर अतीन्द्रिय सूक्ष्म स्वभाव है, जो ममल स्वभावी ज्ञान मात्र चेतन सत्ता है, यदि इसकी दृष्टि शरीरादि पर्याय में रुचिवान होती है, पर्याय में ही लगी रहती है तो ज्ञानावरण से नरक के दुःख भोगना पड़ते हैं ।

जिनेन्द्र परमात्मा की दिव्यध्वनि में आया है कि आत्मा अति सूक्ष्म स्वरूप है, इन्द्रियातीत है, अनुभव गम्य है, यह संसारी विषय भोगों से विरक्त अपने स्व चतुष्टय अतीन्द्रिय आनंद का भोक्ता है ।

ज्ञान उसे ही कहते हैं जो स्वाधीनता के सन्मुख हो व पराधीन असार

संसार से विमुख हो परंतु जिसका ज्ञान मिथ्या हो जाता है वह पर्याय रत हो जाता है । मैं का ऐसा अहंभाव उसके ऊपर छा जाता है जिससे वह तीव्र कषाय सहित हो जाता है, जिससे ज्ञानावरण का बंध होकर वह नीच गोत्र व स्थावर योनि में चला जाता है । जगत में पूर्णता को प्राप्त परमात्मा अनंत हैं । अंतरात्मा साधक जीव भी अनादि से ही हैं तथा बहिरात्मा भी अनादि से हैं । जगत में कोई भी पहले या बाद में नहीं हैं, सभी समान रूप से अनादि अनंत हैं । एक जीव की अपेक्षा से तो संसार का नाश व मोक्ष का प्रारंभ हो सकता है किंतु जगत में मोक्ष का नया आरंभ नहीं हुआ है, अनादि से संसार में रूलने वाले जीव हैं, वैसे ही साधक जीव तथा परमात्म दशा को प्राप्त जीव भी अनादि से ही हैं ।

द्रव्य दृष्टि की अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है कि आत्मा में विकार नहीं है, विकार तो पुद्गल कर्मादि का कार्य है परंतु ऐसी द्रव्यदृष्टि उसे होती है जिसे पर्याय की स्वतंत्रता का भान हो । अभी तक तो जिसने पर्याय को ही स्वाधीन नहीं जाना, उसे तीनों काल की पर्याय के पिंड रूप द्रव्य की दृष्टि कैसे हो ? पर्याय में विकार है उन्हें कर्मों ने नहीं करवाये हैं, वे मेरे अपराध के कारण से हैं परंतु ऐसा माने कि कर्म ही विकार कराते हैं तो उस जीव को पर्याय का भी भान नहीं है तथा जो पर्याय में ही रत रहता है वह अज्ञानी ज्ञानावरण कर्म का बंधकर नरकादि तथा स्थावर योनियों में जाता है ।

निरपेक्ष स्वभाव के भान बिना, निमित्त का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, उसमें स्व के ज्ञान बिना, पर का भी ज्ञान नहीं होता । उपादान स्वतंत्रता के ज्ञान बिना निमित्त का ज्ञान नहीं होता । निश्चय बिना व्यवहार का ज्ञान नहीं होता, जैसे त्रिकाली द्रव्य स्वतंत्र निरपेक्ष है वैसे ही उसकी समय-समय की पर्याय भी निरपेक्ष व स्वतंत्र है । समय-समय की पर्याय अपने कारण से ही होती है, जो ऐसी पर्याय में ही लीन रहता है वह अज्ञानी ज्ञानावरण का बंधकर संसार में रूलता है ।

पर्याय के आश्रय से कभी मुक्ति नहीं होती, द्रव्य स्वभाव के आश्रय से ही मुक्ति होती है । ज्ञानी की दृष्टि तो संसार से छूटने की है अतः वह राग रहित निवृत्त स्वभाव की मुख्य भावना व आदर में सावधानी से प्रवृत्त रहता है ; परंतु जो ऐसा मानता है कि संयोग पलटा दूँ तथा वर्तमान पर्याय के कार्य करने योग्य हैं उसके तो श्रद्धान में ही स्थूल विपरीतता है ।

सोते उठते और बैठते, ममल ज्ञान कह जाता है ।
रे मानव मत भूल कि तू ही, अपना भाग्य विधाता है ॥
जीवन भर यदि छूट न पाया, तुझसे यह गोरख धंधा ।
तो बांधे बिन रह न सकेगा, तुझको नरकों का फंदा ॥
तू ही आत्म परमात्म है, सब तत्त्वों में तत्त्व महान ।
तेरे हाथों में बंधन है, तेरे हाथों में निर्वाण ॥
लेकिन यदि तू इस देही में ही, मन को भरमायेगा ।
जन्म-जन्म तक थावर गति से, मुक्त नहीं हो पायेगा ॥

दिव्य ध्वनि के समय सामने धर्म समझने वाले जीव होते ही हैं, भगवान की वाणी में ऐसे न्याय निकलते हैं कि समझने वाले को अपने में धर्म वृद्धि का निमित्त होता है । उस वाणी में कहीं भी पुरुषार्थ हीनता का आशय नहीं निकलता ।

प्रश्न - व्यंजन से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

विंजन सहाव विन्यानं, विन्यानं जानंति अलष लष्यं च ।

न्यान हीन पज्जावं, न्यानं आवरन दुग्गए पत्तं ॥ ३३३ ॥

विंजन विन्यान जनयं, लोकं अवलोक लोकनं सुद्धं ।

जइ पज्जाव संजुत्तं, न्यानं आवरन दुग्गए पत्तं ॥ ३३४ ॥

अन्वयार्थ - (विंजन सहाव विन्यानं) विज्ञान को व्यंजन स्वभाव भी कहते हैं क्योंकि यह अपने को प्रगट है (विन्यानं जानंति अलष लष्यं च) विज्ञान से अलख आत्मा को लखा जाता है अर्थात् भेदविज्ञान से ही आत्मा की अनुभूति होती है (न्यान हीन पज्जावं) जो ज्ञानहीन है, जिसका शरीरादि पर्याय में मोह है (न्यानं आवरन दुग्गए पत्तं) वह ज्ञानावरण कर्म को बांधकर दुर्गति में जाता है ।

(विंजन विन्यान जनयं) शास्त्र द्वारा व गुरु द्वारा ज्ञान का मनन करने से आत्मा और अनात्मा का विवेक रूप भेदविज्ञान पैदा होता है (लोकं अवलोक लोकनं सुद्धं) भेदविज्ञान में सर्वज्ञ स्वरूप केवलज्ञान होता है, जो लोक अलोक

को एक काल में देखता जानता है (जइ पज्जाव संजुत्तं) यही ज्ञानोपयोग यदि पर्याय में रत होता है तो (न्यानं आवरन दुग्गए पत्तं) ज्ञानावरण का बंध होकर दुर्गति की प्राप्ति होती है ।

विशेषार्थ - व्यंजन भी विज्ञान रूप स्वभाव को ही कहते हैं । भेदविज्ञान से ही अलख स्वरूप आत्मा को जाना जाता है । यह ज्ञान प्रकाशमान है सबको ज्ञान का अनुभव है कि मैं जानता हूँ, ज्ञान से ही ज्ञानमयी आत्मा का अनुभव होता है ।

शास्त्र द्वारा व गुरु द्वारा ज्ञान का मनन करने से ही आत्मा और अनात्मा का विवेक रूप भेदविज्ञान पैदा होता है और उस भेदविज्ञान से सर्वज्ञ स्वरूप केवलज्ञान हो जाता है जो एक समय की पर्याय में लोकालोक को देखता जानता है ऐसा ज्ञान का महात्म्य है ।

जो ज्ञानहीन अज्ञानी हैं, जिनका शरीरादि पर्याय में ही मोह है, वह ज्ञानावरण कर्म को बांधकर दुर्गति में जाते हैं । जो अज्ञानी शरीर को ही आत्मा मानते हैं, शरीरादि पर्याय के प्रबंध में ही रात-दिन ज्ञान का उपयोग रखते हैं, संसार के कार्यों में चतुराई बताते हैं, धर्म को समझने में अपने को बुद्धि हीन बताते हैं, ऐसे जीव ज्ञानावरण कर्म बांधकर दुर्गति को प्राप्त करते हैं ।

शास्त्र और सद्गुरु व्यंजन स्वरूप ज्ञान, वीतरागता, द्रव्य की स्वतंत्रता और स्वयं की सत्ता स्वरूप को जानने की बात करते हैं । भेदविज्ञान द्वारा जो अपने शुद्धात्म स्वरूप का अनुभव करता है यही आत्मज्ञान केवलज्ञान को प्रगटाने वाला है । जो आत्मज्ञान रहित हैं जिन्हें देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा नहीं है, जो शरीरादि पर्याय में ही रत रहते हैं वह जीव ज्ञानावरण कर्म का बंधकर दुर्गति जाते हैं ।

ज्ञानी को परद्रव्य की क्रिया करने का विचार तो होता ही नहीं है बल्कि उसे अपनी पर्याय में अशुभ भाव को शुभ करने का अभिप्राय भी नहीं रहता । आत्मा ज्ञायक रूप से रहे, एक यही अभिप्राय रहता है, ऐसे निर्णय बिना जो कोई भी साधन करे, उसमें मोक्ष साधन नहीं होता ।

प्रश्न - अक्षर, स्वर, व्यंजन के बाद पद का क्या प्रयोजन है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

अभ्यर सुर विंजनयं, पदं च परम तत्त परमिस्टी ।

पद लोपन पज्जावं, न्यानं आवरन नरय गइ सहियं ॥ ३३५ ॥

अन्वयार्थ - (अभ्यर सुर विंजनयं) अक्षर-अक्षय स्वरूप । स्वर-दिव्यध्वनि रूप, केवलज्ञान सूर्य । व्यंजन-प्रत्यक्ष अनुभव गम्य, शुद्धात्म स्वरूप (पदं च परम तत्त परमिस्टी) पद-ज्ञान ज्योति स्वरूप, परम तत्त्व परमेष्ठी स्वरूप, परमात्म पद है (पद लोपन पज्जावं) जो इस पद का लोप कर पर्याय में रत रहता है (न्यानं आवरन नरय गइ सहियं) वह ज्ञानावरण कर्म बांधकर नरक में जाता है ।

विशेषार्थ - अक्षर स्वर व्यंजन और पद यह सर्व ही शब्द, शब्द कोष के अनुसार ज्ञान के ही वाचक हैं, ज्ञान स्वरूप आत्मा स्वयं परम तत्त्व परमेष्ठीमयी परमात्मा है, जो जीव ऐसे अपने परमात्म पद का लोप कर शरीरादि पर्याय में ही रत रहते हैं, वे ज्ञान का दुरुपयोग करने से ज्ञानावरण कर्म बांधकर नरक गति पाते हैं । जड़ शरीर की अंगभूत इन्द्रियां, वे कोई आत्मा के ज्ञान की उत्पत्ति के साधन नहीं हैं । अतीन्द्रिय ज्ञान स्वभाव को साधन बनाकर जो ज्ञान होता है वह ही आत्मा को जानने वाला है । ऐसे ज्ञान की अनुभूति से सम्यक्दर्शन होने के पश्चात् मुमुक्षु को आत्मा सदा उपयोग स्वरूप ही जानने में आता है । अनादि अनंत परमतत्त्व परमेष्ठीमयी ऐसा जो एक निज चैतन्य शुद्ध स्वरूप है, उसके स्वसन्मुख होकर आराधन करना वही परमात्मा होने का सच्चा उपाय है ।

सारा जगत ज्ञान का ज्ञेय है, अनुकूलता-प्रतिकूलता कुछ नहीं है, इस अभिप्राय में दृष्टि अभेद होनी चाहिये । दृष्टि में पर पर्याय से लाभ-हानि की मान्यता व कुछ भी इच्छा होना ज्ञानावरण कर्म बंध का कारण है ।

प्रश्न - पद का क्या प्रयोग करना चाहिये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

पदं च अर्थ संजुतं, अर्थ तिअर्थ च न्यान सहकारं ।

पद विनस्ट पर पिच्छं, न्यानं आवरन थावरं सहियं ॥ ३३६ ॥

पदं च सब्द संजुतं, पदं च परम भाव संदर्सं ।

सब्दं विनस्ट रूवं, पर पर्जाव न्यान आवरनं ॥ ३३७ ॥

पद अर्थ सब्द सुभावं, न्यान विन्यान भाव सुइ रूवी ।

रागं जन रंजनयं, न्यानं आवरन दुष्य वीयम्मि ॥ ३३८ ॥

अन्वयार्थ - (पदं च अर्थ संजुतं) पद का प्रयोजन अपने परमात्म स्वरूप में रहना है (अर्थ तिअर्थ च न्यान सहकारं) पद का प्रयोजन अपने रत्नत्रयमयी ज्ञान स्वभाव में रहना है (पद विनस्ट पर पिच्छं) अपने स्वरूप से हटकर पर को देखना जानना, पर में लगना अपने पद का दुरुपयोग है, इससे पद विनष्ट हो जाता है (न्यानं आवरन थावरं सहियं) ज्ञान का आवरण स्थावर गति ले जाता है ।

(पदं च सब्द संजुतं) पद की गरिमा श्रेष्ठता तो तब है, जब जैसा शब्द से कहते हो उस रूप रहो (पदं च परम भाव संदर्सं) पद की प्रभुता, गरिमा तो अपने परम पारिणामिक भाव को देखने में है (सब्दं विनस्ट रूवं) जो शब्द अपने स्वरूप को विनष्ट करने वाले, भुलाने वाले हैं (पर पर्जाव न्यान आवरनं) ऐसी पर पर्याय में लगने से ज्ञानावरण होता है ।

(पद अर्थ सब्द सुभावं) पद का अभिप्राय जो दिव्यध्वनि में आया है उस स्वभाव में रहना है (न्यान विन्यान भाव सुइ रूवी) ज्ञान विज्ञान से अपने भाव स्वरूप को जानना है जो परम पारिणामिक भाव केवलज्ञान स्वरूप है (रागं जन रंजनयं) यदि अपने पद को छोड़कर जनरंजन राग में लगते हो तो (न्यानं आवरन दुष्य वीयम्मि) ज्ञान पर आवरण कर दुःख का बीज बोते हो ।

विशेषार्थ - व्यवहार में शब्दों के समूह को पद कहते हैं, निश्चय से अपना पद जो परमात्म स्वरूप सिद्ध पद है उसमें लीन रहना, यही रत्नत्रयमयी निज पद केवलज्ञान में सहकारी है । ज्ञान का यथार्थ फल आत्मज्ञान तथा केवलज्ञान है । अपने स्वरूप की साधना परमात्म पद ध्रुवधाम में न रहकर, पर को देखना जानना, पर को जानने में लगे रहने से अपना पद भ्रष्ट हो जाता है यही ज्ञानावरण स्थावर गति ले जाता है । पद की गरिमा श्रेष्ठता तो तब है कि जैसा कहा गया है वैसे अपने परमात्म पद पर स्थित रहो, पद की प्रभुता तो अपने परम पारिणामिक भाव को देखने में है, शब्द और ज्ञान में वाच्य वाचक सम्बंध है । जिन शब्दों से आत्मज्ञान का, परमात्मा का बोध हो वे ही शब्द हितकारी हैं । जो शब्द आत्मज्ञान व परमात्म पद को लोप करने वाले,

अपने स्वरूप को भुलाने वाले हैं वह अनिष्टकारी हैं, उनके द्वारा पर पर्याय में रत होने से ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है।

पद का प्रयोजन, जो शब्दों द्वारा कहा गया है उस ज्ञान विज्ञान मयी अपने परम पारिणामिक भाव स्वरूप में रहो। यदि अपने पद को भूलकर जनरंजन राग में लगते हो, पर को बताने सुनाने में लगे रहते हो तो ज्ञान पर आवरण करके दुःखों का बीज बोना है।

सम्यक्ज्ञान व तत्त्वज्ञान की प्राप्ति, आगम जिनवाणी का समागम, संतों का सत्संग मोक्षमार्ग में सहकारी है, सबने अपने पद की बात ही कही है-आत्मा ही परमात्मा है, अपना पद ऊँकारमयी, ब्रह्मस्वरूप, परमात्म पद है। अपने परम पारिणामिक भाव में रहना, उसको ही देखना मुक्ति का कारण है। इसी से सब पर पर्याय कर्म संयोग विलाते क्षय होते हैं। यदि अपने परमात्म स्वरूप परम पारिणामिक भाव का लक्ष्य छोड़कर, पर पर्याय, जनरंजन राग आदि में लगते हो तो इससे ज्ञानावरण कर्म का बंध होकर दुर्गति में जाना पड़ेगा।

सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव ने जिस आत्मा को ध्रुव कहा है, परम पारिणामिक भाव स्वरूप कहा है, उसका जो जीव अवलंबन ले उसे उस ध्रुव स्वभाव में से शुद्धता प्रगट होती है। तीनकाल और तीनलोक में शुद्ध निश्चय नय से ज्ञान रस और आनंदकंद प्रभु केवल मैं हूँ, ऐसी दृष्टि ही आत्म भावना है। मैं परमात्म स्वरूप हूँ तथा सभी जीव भी द्रव्य दृष्टि से परमात्म स्वरूप हैं, ऐसे आत्मा का अनुभव होना, इसका नाम ही सम्यक्दर्शन ज्ञान है और उसमें स्थिर होना सम्यक्चारित्र है। पर द्रव्य का स्वामित्व भाव ही बंध का कारण है। स्व द्रव्य में स्वामित्व का भाव ही मोक्ष का कारण है। स्व द्रव्य में स्वामित्व भाव होने पर, पर द्रव्य के विद्यमान होते हुए भी बंध नहीं होता अतः स्व द्रव्य में स्वामित्व भाव, अपने पद की गरिमा, परमात्म स्वरूप का बहुमान ही मोक्ष का कारण है। पर द्रव्य के प्रति स्वामित्व भाव बंध का कारण है।

प्रश्न - पर द्रव्य का स्वामित्व भाव क्या कहलाता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

पद रहियं अन्यानं, श्रुत उत्तं पज्जाव दिट्ठि संदर्सं ।

व्रत तव क्रिय अन्यानं, न्यानं आवरन सरनि संसारे ॥ ३३९ ॥

अन्वयार्थ - (पद रहियं अन्यानं) अपने पद से रहित होना अज्ञान है

अर्थात् मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ, इस पद को भूलना अज्ञान है (श्रुत उत्तं पज्जाव दिट्ठि संदर्सं) मिथ्याज्ञान के आधीन होकर पर्याय पर दृष्टि रखते हुए शास्त्र पढ़ना, कहना (व्रत तव क्रिय अन्यानं) व्रत, तप, क्रिया करना और इससे अपने को श्रेष्ठ मानना, पुद्गल की क्रिया का कर्तृत्व भाव अज्ञान है (न्यानं आवरन सरनि संसारे) इससे ज्ञानावरण कर्म का बंध होकर संसार में ही परिभ्रमण होता है।

विशेषार्थ - परद्रव्य का स्वामित्व भाव, पुद्गल शरीर की क्रिया को अपनी मानना, उसके कर्ता बनना, यह सब अज्ञान है। मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ, इस पद से रहित होना, अपने स्वरूप का विस्मरण ही अज्ञान है। अज्ञानपूर्वक शास्त्र पढ़ना, कहना, पर्याय दृष्टि से देखना, व्रत तप क्रिया को धर्म मानना। इन क्रियाओं से अपने को श्रेष्ठ मोक्षमार्गी मानना अज्ञान है, इससे ज्ञानावरण कर्म का बंध होकर संसार परिभ्रमण करना पड़ता है।

सम्यक्ज्ञान से रहित जो कुछ ज्ञान है वह मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञान में स्व स्वरूप का बोध न होने से परद्रव्य का स्वामित्व भाव रहता है। शरीरादि की क्रिया में कर्तृत्व भाव रहता है, इंद्रिय ज्ञान का अहं भाव रहता है। शास्त्रों का वांचन करना, व्रत, तप, क्रिया आदि से अपने को श्रेष्ठ मानना, यह सब मिथ्याज्ञान, ज्ञानावरण कर्म बंध का कारण है जिससे संसार परिभ्रमण करना पड़ता है। संसार मार्ग वर्द्धक उपदेश देने में, कुमार्ग पोषक ग्रन्थ काव्य रचने में, पुद्गल की क्रिया को धर्म मानने में ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है जो संसार का कारण है।

प्रश्न - इससे बचने के लिये क्या करना चाहिये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

पदं च पद वेदंतो, पद दर्सं विन्यान विंदु दर्संतो ।

पद विन्यान विहीनो, न्यानं आवरन निगोय वासम्मि ॥ ३४० ॥

पद विंदं सर्वन्यं, पद विंदं परम केवलं न्यानं ।

पद विंद रहिय अनिस्टं, न्यानं आवरन दुष्य वीयम्मि ॥ ३४१ ॥

पद विंदं च सहावं, पदर्थं परम अर्थ ससरूवं ।

जइ पज्जाव सहावं, न्यानं आवरन सरनि संसारे ॥ ३४२ ॥

अन्वयार्थ - (पदं च पद वेदंतो) श्रेष्ठता तो अपने परमात्म पद के

अपने स्वरूप को भुलाने वाले हैं वह अनिष्टकारी हैं, उनके द्वारा पर पर्याय में रत होने से ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है।

पद का प्रयोजन, जो शब्दों द्वारा कहा गया है उस ज्ञान विज्ञान मयी अपने परम पारिणामिक भाव स्वरूप में रहो। यदि अपने पद को भूलकर जनरंजन राग में लगते हो, पर को बताने सुनाने में लगे रहते हो तो ज्ञान पर आवरण करके दुःखों का बीज बोना है।

सम्यक्ज्ञान व तत्त्वज्ञान की प्राप्ति, आगम जिनवाणी का समागम, संतों का सत्संग मोक्षमार्ग में सहकारी है, सबने अपने पद की बात ही कही है-आत्मा ही परमात्मा है, अपना पद ऊँकारमयी, ब्रह्मस्वरूप, परमात्म पद है। अपने परम पारिणामिक भाव में रहना, उसको ही देखना मुक्ति का कारण है। इसी से सब पर पर्याय कर्म संयोग विलाते क्षय होते हैं। यदि अपने परमात्म स्वरूप परम पारिणामिक भाव का लक्ष्य छोड़कर, पर पर्याय, जनरंजन राग आदि में लगते हो तो इससे ज्ञानावरण कर्म का बंध होकर दुर्गति में जाना पड़ेगा।

सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव ने जिस आत्मा को ध्रुव कहा है, परम पारिणामिक भाव स्वरूप कहा है, उसका जो जीव अवलंबन ले उसे उस ध्रुव स्वभाव में से शुद्धता प्रगट होती है। तीनकाल और तीनलोक में शुद्ध निश्चय नय से ज्ञान रस और आनंदकंद प्रभु केवल मैं हूँ, ऐसी दृष्टि ही आत्म भावना है। मैं परमात्म स्वरूप हूँ तथा सभी जीव भी द्रव्य दृष्टि से परमात्म स्वरूप हैं, ऐसे आत्मा का अनुभव होना, इसका नाम ही सम्यक्दर्शन ज्ञान है और उसमें स्थिर होना सम्यक्चारित्र है। पर द्रव्य का स्वामित्व भाव ही बंध का कारण है। स्व द्रव्य में स्वामित्व का भाव ही मोक्ष का कारण है। स्व द्रव्य में स्वामित्व भाव होने पर, पर द्रव्य के विद्यमान होते हुए भी बंध नहीं होता अतः स्व द्रव्य में स्वामित्व भाव, अपने पद की गरिमा, परमात्म स्वरूप का बहुमान ही मोक्ष का कारण है। पर द्रव्य के प्रति स्वामित्व भाव बंध का कारण है।

प्रश्न - पर द्रव्य का स्वामित्व भाव क्या कहलाता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

पद रहियं अन्यानं, श्रुत उत्तं पज्जाव दिट्ठि संदर्सं ।

व्रत तव क्रिय अन्यानं, न्यानं आवरन सरनि संसारे ॥ ३३९ ॥

अन्वयार्थ - (पद रहियं अन्यानं) अपने पद से रहित होना अज्ञान है

अर्थात् मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ, इस पद को भूलना अज्ञान है (श्रुत उत्तं पज्जाव दिट्ठि संदर्सं) मिथ्याज्ञान के आधीन होकर पर्याय पर दृष्टि रखते हुए शास्त्र पढ़ना, कहना (व्रत तव क्रिय अन्यानं) व्रत, तप, क्रिया करना और इससे अपने को श्रेष्ठ मानना, पुद्गल की क्रिया का कर्तृत्व भाव अज्ञान है (न्यानं आवरन सरनि संसारे) इससे ज्ञानावरण कर्म का बंध होकर संसार में ही परिभ्रमण होता है।

विशेषार्थ - परद्रव्य का स्वामित्व भाव, पुद्गल शरीर की क्रिया को अपनी मानना, उसके कर्ता बनना, यह सब अज्ञान है। मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ, इस पद से रहित होना, अपने स्वरूप का विस्मरण ही अज्ञान है। अज्ञानपूर्वक शास्त्र पढ़ना, कहना, पर्याय दृष्टि से देखना, व्रत तप क्रिया को धर्म मानना। इन क्रियाओं से अपने को श्रेष्ठ मोक्षमार्गी मानना अज्ञान है, इससे ज्ञानावरण कर्म का बंध होकर संसार परिभ्रमण करना पड़ता है।

सम्यक्ज्ञान से रहित जो कुछ ज्ञान है वह मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञान में स्व स्वरूप का बोध न होने से परद्रव्य का स्वामित्व भाव रहता है। शरीरादि की क्रिया में कर्तृत्व भाव रहता है, इंद्रिय ज्ञान का अहं भाव रहता है। शास्त्रों का वांचन करना, व्रत, तप, क्रिया आदि से अपने को श्रेष्ठ मानना, यह सब मिथ्याज्ञान, ज्ञानावरण कर्म बंध का कारण है जिससे संसार परिभ्रमण करना पड़ता है। संसार मार्ग वर्द्धक उपदेश देने में, कुमार्ग पोषक ग्रन्थ काव्य रचने में, पुद्गल की क्रिया को धर्म मानने में ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है जो संसार का कारण है।

प्रश्न - इससे बचने के लिये क्या करना चाहिये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

पदं च पद वेदंतो, पद दर्सं विन्यान विंदु दर्संतो ।

पद विन्यान विहीनो, न्यानं आवरन निगोय वासम्मि ॥ ३४० ॥

पद विंदं सर्वन्यं, पद विंदं परम केवलं न्यानं ।

पद विंद रहिय अनिस्टं, न्यानं आवरन दुष्य वीयम्मि ॥ ३४१ ॥

पद विंदं च सहावं, पदर्थं परम अर्थ ससरूवं ।

जइ पज्जाव सहावं, न्यानं आवरन सरनि संसारे ॥ ३४२ ॥

अन्वयार्थ - (पदं च पद वेदंतो) श्रेष्ठता तो अपने परमात्म पद के

अनुभव करने में है (पद दर्श विन्यान विंदु दर्शतो) भेदविज्ञान जो आत्मा के स्वरूप को भिन्न देखने वाला है वही सिद्ध पद को देखता है जो विंद स्वरूप है (पद विन्यान विहीनो) अपने पद के विज्ञान से रहित (न्यान आवरन निगोय वासम्भि) ज्ञानावरण से निगोद में वास करना पड़ता है।

(पद विंदं सर्वन्यं) अपने सर्वज्ञ स्वरूप पद की अनुभूति करो (पद विंदं परम केवलं न्यानं) अपने परम केवलज्ञान स्वभाव पद का वेदन, अनुभव करो (पद विंद रहिय अनिस्टं) अपने पद की अनुभूति से रहित, पर पर्याय का अनुभव करना अनिष्टकारी है इससे (न्यान आवरन दुष्य वीयम्भि) ज्ञानावरण कर्म का बंध होगा जो दुःखों का बीज बोना है।

(पद विंदं च सहावं) अपने पद का अनुभव करो जो अपना स्वभाव है (पदर्थ परम अर्थ ससरूवं) परम प्रयोजन तो अपने स्वस्वरूप का अनुभव करना है, जो पद प्रयोजनीय है (जइ पज्जाव सहावं) यदि पर्याय के स्वभाव में रत होते हो तो (न्यान आवरन सरनि संसारे) ज्ञानावरण कर्म का बंध होकर संसार में ही भ्रमना होगा।

विशेषार्थ - भेदविज्ञान से सम्यक्ज्ञान होता है, सम्यक्ज्ञान से केवलज्ञान होता है। केवलज्ञान से सिद्ध पद प्राप्त होता है। श्रेष्ठता तो अपने परमात्म पद के अनुभव करने में है। भेदविज्ञान द्वारा अपने सिद्ध पद को देख लिया, जान लिया है, तो उसी को देखो, उसी का अनुभव करो, जो लोग अपने उपयोग को स्व पद के जानने में, परमात्म पद के ज्ञान में नहीं लगाते, संसारी प्रपंच में लगाते हैं वे ज्ञानावरण कर्म बांधकर निगोद में वास करते हैं।

अपना पद तो सर्वज्ञ स्वरूप परम केवलज्ञान स्वभाव है, ऐसे अपने परमपद का अनुभव करो। यदि अपने पद के अनुभव से रहित पर पर्याय का अनुभव करते हो तो यह अनिष्टकारी है, इससे ज्ञानावरण कर्म का बंध होगा, जो दुःखों का बीज बोना है।

अपने लिये परम इष्ट और प्रयोजनीय तो अपने स्वभाव की अनुभूति करना है। इसी से सारे कर्म क्षय होकर मुक्ति सिद्ध पद की प्राप्ति होती है, यदि अपने स्व स्वरूप सिद्ध पद की सुरत भूलकर यह पर्यायी परिणमन में उलझते हो तो ज्ञानावरण कर्म का बंध होकर संसार में ही भ्रमना होगा।

प्रज्ञा छैनी, भेदविज्ञान रूप बुद्धि को शुभाशुभ भाव और ज्ञान की सूक्ष्म अंतः संधि में पटकना। उपयोग को बराबर सूक्ष्म करके आत्मा और अनात्मा

दोनों की संधि में सावधान होकर प्रहार करना अर्थात् बराबर सूक्ष्म उपयोग करके यथार्थ लक्षण द्वारा पहिचान कर स्वभाव-विभाव के बीच भेद करना। स्वभाव की महिमा से पर पदार्थों के प्रति रसबुद्धि सुखबुद्धि टूट जाती है। स्वभाव में अपने सर्वज्ञ स्वरूप केवलज्ञान, सिद्ध पद में ही रस आता है तब दूसरा रस नीरस लगता है, तभी अंतर की सूक्ष्म संधि ज्ञात होती है। अपने सिद्ध पद की अनुभूति करने से कर्मोदय जन्य संयोग छूट जाते हैं, सब कर्म क्षय हो जाते हैं और सिद्धि मुक्ति की प्राप्ति होती है। ऐसा नहीं होता कि पर में तीव्र रुचि हो और उपयोग अंतर में प्रज्ञा छैनी का कार्य करे। शुभाशुभ भाव से भिन्न में ज्ञायक हूँ, ममल स्वभावी, सिद्ध स्वरूपी, ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा हूँ, यह प्रत्येक प्रसंग में याद रखना। भेदज्ञान का अभ्यास करना ही मनुष्य जीवन की सार्थकता है।

पर से भिन्न ज्ञायक स्वभाव का निर्णय करके, बारंबार भेदज्ञान का अभ्यास करते-करते मति श्रुत के विकल्प टूट जाते हैं। उपयोग गहराई में चला जाता है, अंतर तत्त्व निज परमात्म स्वरूप का दर्शन होता है। इस प्रकार स्वानुभूति की कला हाथ में आने पर, किस प्रकार पूर्णता प्राप्त हो, यह सब कला हाथ में आ जाती है। अपने परमात्म पद केवलज्ञान स्वरूप के साथ केलि प्रारंभ होती है, मुक्ति श्री से मिलन रमण होने लगता है। यदि उपयोग को पर पर्याय संसारी प्रपंच में लगाया तो ज्ञानावरण कर्म का बंध होकर निगोद आदि दुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा।

प्रश्न - अपने पद की अनुभूति करने पर क्या होगा ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

पद विंदं परमानन्दं, दिग अंगं सर्वन्य सुद्ध ससरूवं ।

जइ परमानंद पज्जावं, न्यान आवरन दुष्य वीयम्भि ॥ ३४३ ॥

पद विंदं परमिस्टी, इस्टी संजोग कम्म षिपनं च ।

जइ पज्जावं सहियं, न्यान आवरन दुग्गए पत्तं ॥ ३४४ ॥

पद विंदं च उवन्नं, परमं परम तत्त परमप्पं ।

जइ इस्ट विओय अनिस्टं, न्यान आवरन चउ गए भमियं ॥ ३४५ ॥

अन्वयार्थ - (पद विंदं परमानन्दं) अपने परमात्म पद की अनुभूति

होने पर परमानंद होता है (दिग अंगं सर्वन्य सुद्ध ससरुवं) अपना शुद्ध स्वरूप सर्वज्ञ स्वभावी दिगम्बर है (जइ परमानंद पज्जावं) यदि कोई बहिर्दृष्टि पर्याय में ही आनंद मानने लगे तो (न्यानं आवरन दुष्य वीयम्मि) ज्ञानावरण से दुःखों का बीज बोता है।

(पद विंदं परमिस्टी) पद की अनुभूति से ही परमेष्ठी पद प्रगट होता है अर्थात् आत्मानुभूति से अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु पद होता है (इस्टी संजोग कम्म षिपनं च) ऐसे अपने इष्ट स्वरूप का संयोग होने से सभी कर्म क्षय हो जाते हैं (जइ पज्जावं सहियं) यदि शरीरादि संयोगी पर्याय सहित होते हो, पर्याय में रत रहते हो तो (न्यानं आवरन दुगए पत्तं) ज्ञानावरण से दुर्गति में जाना पड़ेगा।

(पद विंदं च उवन्नं) अपने सिद्ध पद की अनुभूति करने से प्रगट होता है (परमं परम तत्त परमप्पं) श्रेष्ठ परम तत्त्व परमात्मा (जइ इस्ट विओय अनिस्टं) यदि ऐसे इष्ट का वियोग करके अर्थात् शुद्धात्मानुभूति छोड़कर, पर पर्याय में रत होते हो जो अनिष्टकारी है, इससे (न्यानं आवरन चउ गए भमियं) ज्ञानावरण कर्म से चारों गतियों में भ्रमण करना पड़ेगा।

विशेषार्थ - अपना पद सादि अनंत अविनाशी सिद्ध परमपद है, अपना शुद्ध स्वरूप सर्वज्ञ स्वभावी अरिहंत परमात्मा केवलज्ञानी सारे आवरणों से रहित दिगम्बर है, ऐसे अपने पद की अनुभूति करने से परमानंद प्रगट होता है जो अतीन्द्रिय आनंद अवक्तव्य है। यदि यह अनुकूल वातावरण, संयोगी पर्याय में आनंद मानने लगे तो ज्ञानावरण कर्म का बंधकर दुःखों का बीज बोना है।

अपने पद की अनुभूति करने से परमेष्ठी पद प्रगट होता है, साधुपद से अरिहंत और सिद्ध पद होता है, ऐसे इष्ट का संयोग करने से सारे कर्म क्षय हो जाते हैं। शुद्धात्मा के अनुभव में उपयोग की स्थिरता कर्मबंध नाशक है जबकि शरीरादि पर्याय में रागभाव कर्म बंध कारक है। यदि पर्याय सहित होते हो, यहाँ पर्याय से प्रयोजन उन सर्व अवस्थाओं से है जो कर्मों के उदय के निमित्त से होती हैं तो इस अज्ञान से ज्ञानावरण कर्म का बंध होगा जिससे दुर्गति में जाना पड़ेगा।

अपने शुद्ध स्वरूप सिद्ध पद की अनुभूति करने से श्रेष्ठ परम तत्त्व परमात्मपद प्रगट होता है। यदि ऐसे इष्ट स्वरूप का वियोग करके यह

अनिष्टकारी पर्याय में रत रहते हो तो ज्ञानावरण कर्म का बंध कर चारों गतियों में भ्रमण करना पड़ेगा।

अपने पद की अनुभूति करने से परमानंदमयी परमेष्ठी पद परमात्म स्वरूप प्रगट होता है। उपयोग का (दृष्टि का) अपने स्वरूप में लगना ही अपने पद की अनुभूति करना है और इससे सारे कर्मबंधन टूट जाते हैं, सब कर्म क्षय हो जाते हैं, आत्मा परमात्मा हो जाता है। यदि उपयोग, पर पर्याय, शरीरादि संयोग में रत रहता है तो ज्ञानावरण कर्म का बंध होकर चारों गतियों में चक्कर लगाना पड़ेगा।

स्वानुभूति प्राप्ति हेतु ज्ञान स्वभावी आत्मा का जिस तरह हो दृढ़ निर्णय करना चाहिये, ज्ञान स्वभावी सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा का निर्णय दृढ़ करने में सहायभूत तत्त्वज्ञान का, द्रव्यों की स्वयं सिद्धि, सत्यता और स्वतंत्रता, द्रव्य, गुण पर्याय, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, नवतत्त्वों का सत्य स्वरूप, जीव और शरीर की क्रियाओं की भिन्नता, पुण्य और धर्म के लक्षण भेद, निश्चय-व्यवहार आदि अनेक विषयों के यथार्थ बोध का अभ्यास करना। प्रयोजन भूत सर्व तत्त्वज्ञान का सिरमौर, जो शुद्ध द्रव्य सामान्य, परम पारिणामिक भाव, शुद्धात्म तत्त्व यह स्वानुभूति का आधार है, सम्यक्दर्शन का आश्रय है, मोक्षमार्ग का आलम्बन है, सर्व शुद्ध भावों का नाथ है, उसकी दिव्य महिमा हृदय में सर्वाधिक रूप से अंकित करना योग्य है, ऐसे निज स्वरूप, परमात्मपद में उपयोग लगाने से परमानंदमयी परमेष्ठी पद, परमात्म पद प्रगट होता है।

प्रश्न - इन सबमें प्रयोजनीय अर्थ क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

अर्थं च अर्थं सुद्धं, अर्थं तिअर्थं सुद्ध परमत्थं ।

अर्थं विरय अनर्थं, न्यानं आवरनं अन्नितं दिट्ठं ॥ ३४६ ॥

अर्थं तिअर्थं सुद्धं, सम सम्पूर्णं न्यान समयं च ।

न्यान विहीन अनर्थं, पज्जय सहकार न्यान आवरनं ॥ ३४७ ॥

अन्वयार्थ - (अर्थं च अर्थं सुद्धं) सर्व में प्रयोजनीय, मुख्य अर्थ शुद्धात्मा है (अर्थं तिअर्थं सुद्ध परमत्थं) यही रत्नत्रय स्वरूप प्रयोजनीय शुद्ध परमार्थ है (अर्थं विरय अनर्थं) जो इस अर्थ प्रयोजन से विरत है और अनर्थकारी संसार पर्याय में मगन है वह (न्यानं आवरनं अन्नितं दिट्ठं) असत्य

जगत प्रपंच ही देखा करता है जिससे ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है।
(अर्थ तिअर्थ सुद्धं) अर्थकारी प्रयोजनीय शुद्ध रत्नत्रय स्वरूप आत्मा है (सम सम्पूर्ण न्यान समय च) जो सामान्य परिपूर्ण ज्ञान स्वभावी शुद्धात्मा है (न्यान विहीन अनर्थ) जो इस आत्मा के यथार्थ ज्ञान से रहित है, वही अनर्थ में मगन, मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है (पज्जय सहकार न्यान आवरण) वह पर्याय में रत होने से ज्ञानावरण कर्म बांधता है।

विशेषार्थ - सर्व में प्रयोजनीय मुख्य अर्थ शुद्धात्मा है, जो सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मयी शुद्ध परमार्थ है, इसी के आश्रय मुक्ति की प्राप्ति होती है, जो इस अर्थ से विरत है अर्थात् इस भेद को नहीं पहिचानता और सांसारिक शरीर, धन, कुटुम्बादि पदार्थों में मगन है वह सच्चे अर्थ (ज्ञान) से दूर रहने के कारण तीव्र ज्ञानावरण कर्म का बंध करता है।

आत्मा निश्चय से रत्नत्रय स्वरूप व परम साम्यरूप सत्पदार्थ है, ज्ञान स्वभावी शुद्धात्मा है, जो इस ज्ञान को नहीं जानता, वह अज्ञानी मिथ्यादर्शन में रत होने से संसार की माया में फंसकर पर्यायरत रहता हुआ ज्ञानावरण कर्म का बंध करता है।

जीव अर्थ है तथा ज्ञायकता उसका भाव है। अजीव भी अर्थ है और अचेतनता, जड़ता उसका भाव है। संवर, निर्जरा अर्थ है व वीतरागता उसका भाव है। आस्रव बंध अर्थ है और मलिनता रागादि उसका भाव है। केवलज्ञान पर्याय भी अर्थ है व तीन काल, तीन लोक को एक समय में जानना उसका भाव है। इस प्रकार अर्थ व उसके तत्त्व को जाने तो यथार्थ श्रद्धा हो।

एक जीव तत्त्व को जानने में सातों ही तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है। जीव तत्त्व केवल सामान्य स्वरूप ही नहीं परंतु अपने विशेषों सहित है। जीव-अजीव सामान्य है तथा आस्रवादि शेष पांच तत्त्व उनके विशेष हैं, अज्ञानीजन उन्हें जाने बिना ही व्रत, तप में धर्म मानते हैं। नय, निक्षेप, प्रमाण द्वारा राग रहित वस्तु का ज्ञान करना प्रथम योग्यता है, तत्पश्चात् स्वभाव के लक्ष्य से राग का अभाव होता है यह प्रयोजनभूत बात है।

पुण्य, पाप, दया, दानादि रागभाव विकार हेय हैं, यह भासित हुए बिना आत्मा का सच्चा ज्ञान नहीं होता। जो बंध के फल को हितकर मानता है, वह बंध को ही हितकारी मानता है। जो जीव लौकिक अनुकूलता में ही खो गया हो, वहाँ कर्म बंध होता है।

आत्मा का हित तो मोक्ष ही है और वह अपने शुद्ध स्वभाव के आश्रय रत्नत्रय-सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से ही प्राप्त होता है। संसार अवस्था में दुःख है। आकुलता सो दुःख है व निराकुलता सो सुख है ऐसा निर्णय किये बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं हो सकता।

प्रश्न - इस अर्थ की सिद्धि के लिये क्या करना चाहिये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

अर्थ अवयास अर्थ, अवयासं सुद्ध ममल न्यानस्य ।

अवयास रहिय अन्यानं, न्यानं आवर्न नरय वीयम्मि ॥ ३४८ ॥

अन्वयार्थ - (अर्थ अवयास अर्थ) अर्थ की सिद्धि के लिये प्रयोजनीय निज शुद्धात्म तत्त्व का अभ्यास करना चाहिये (अवयासं सुद्ध ममल न्यानस्य) शुद्ध ममल ज्ञान स्वभाव का अभ्यास करने से सिद्ध पद प्राप्त होता है (अवयास रहिय अन्यानं) अभ्यास रहित अज्ञान में लिप्त रहता है (न्यानं आवर्न नरय वीयम्मि) जिससे ज्ञानावरण कर्म बांधकर नरक का बीज बोता है।

विशेषार्थ - अर्थ की सिद्धि के लिये परम प्रयोजनीय निज शुद्धात्म स्वरूप का अभ्यास करना चाहिये कि यह शुद्ध ममल ज्ञान स्वभावी भगवान आत्मा में हैं, ऐसा अभ्यास अर्थात् बारंबार उपयोग को स्वभाव में लगाना, इससे सर्व कर्म क्षय होते हैं तथा सिद्ध परम पद प्राप्त होता है। यदि इसका अभ्यास न किया जाये तो उपयोग पर पर्याय रूप अज्ञान में लगा रहता है जिससे जीव ज्ञानावरण कर्म बांधकर नरक का बीज बोता है।

ज्ञायक स्वभावी आत्मा का निर्णय करके मति, श्रुत ज्ञान का उपयोग जो बाह्य में जाता है उसे अंतर में समेट लेना। बाहर जाते हुए उपयोग को ध्रुवतत्त्व, ममल ज्ञान स्वभाव के अवलम्बन द्वारा बारम्बार अंतर में स्थिर करते रहना, वही मोक्षपुरी पहुंचने का राजमार्ग है।

ज्ञान की वर्तमान पर्याय का सामर्थ्य स्व को जानने का है लेकिन उसकी दृष्टि पर में पड़ी होने से वहाँ एकत्व करता हुआ, रागादि पर जानने में आता है, इस प्रकार अज्ञानी पर के साथ एकत्व पूर्वक जानता मानता है। अज्ञानी को अपने अस्तित्व की खबर नहीं है, पर के अस्तित्व की खबर नहीं है और स्व-पर भिन्नता की खबर नहीं है। उसको भेदज्ञान बिना धर्म नहीं होता है, अज्ञानी को निरंतर कर्म का बंध होता है।

चैतन्य स्वभाव की महिमा कोई अचिन्त्य है, ऐसी अंदर से महिमा आवे तो स्व सन्मुख पुरुषार्थ प्रारम्भ होवे। वास्तव में तो जो उपयोग परलक्षी है उसे स्वलक्षी करना इसमें महान पुरुषार्थ है और यह शनैः शनैः के अभ्यास से ही किया जा सकता है।

प्रश्न - यह अभ्यास कैसा और कब तक करना चाहिये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

अवयासं सुद्ध सहावं, अवयासं परम भाव उवलद्धं ।

अवयास कम्म षिपनं, अवयासं रहिय न्यान आवरनं ॥ ३४९ ॥

अवयास नंतनंतं, नंत चतुस्तय च ममल सभावं ।

अवयास हीन का पुरिसा, न्यानं आवरन सरनि संसारे ॥ ३५० ॥

अन्वयार्थ - (अवयासं सुद्ध सहावं) शुद्ध स्वभाव का अभ्यास करना चाहिये (अवयासं परम भाव उवलद्धं) जब तक परम भाव उपलब्ध न हो जावे तब तक अभ्यास करना चाहिये (अवयास कम्म षिपनं) इस अभ्यास करने अर्थात् उपयोग को अपने स्वभाव में बारंबार लगाने से कर्म क्षय होते हैं (अवयासं रहिय न्यान आवरनं) अभ्यास रहित प्रमाद में रहने से ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है।

(अवयास नंतनंतं) यह अभ्यास, बारंबार, निरंतर, अनंतानंत करना चाहिये (नंत चतुस्तय च ममल सभावं) जब तक अपना अनंत चतुष्टयमयी ममल स्वभाव प्रगट न हो जाये अर्थात् जब तक केवलज्ञान न हो तब तक निरन्तर यह अभ्यास करना चाहिये (अवयास हीन का पुरिसा) अभ्यास हीन, प्रमादी, कायर पुरुष होते हैं जो (न्यानं आवरन सरनि संसारे) ज्ञानावरण कर्म बांधकर संसार में परिभ्रमण करते हैं।

विशेषार्थ - मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ ऐसे अपने शुद्ध स्वभाव का अभ्यास करना चाहिये। जब तक परम पारिणामिक भाव उपलब्ध अर्थात् प्रत्यक्ष प्रगट न हो जाये तब तक यह अभ्यास करना चाहिये। उपयोग को स्वभाव में लगाना ही मुक्त होने का पुरुषार्थ है। उपयोग का स्वभाव में एकाग्र स्थिर होना ही शुद्धोपयोग कहलाता है, इससे अपने आप कर्म क्षय होते हैं। जैसे-उपयोग का पर पर्याय में लगने से अपने आप कर्मों का बंध होता है, वैसे ही उपयोग का स्वभाव में लगने से अपने आप कर्मों का क्षय

होता है। अभ्यास रहित प्रमाद में रहने से ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है।

जब तक अपना अनंत चतुष्टयमयी ममल स्वभाव केवलज्ञान स्वरूप प्रगट न हो जाये तब तक बराबर अनंतानंत अभ्यास करते रहना चाहिये, ज्ञानी का काम ही यही है। उपयोग का स्वभाव में ४८ मिनट स्थिर एकाग्र होने पर केवलज्ञान प्रगट हो जाता है, यह अपनी पात्रता और पुरुषार्थ की बात है। आदिनाथ भगवान को साधु पद में एक हजार वर्ष तक साधना करनी पड़ी, तब केवलज्ञान हुआ, वहीं भरत चक्रवर्ती ने जैसे ही साधुपद धारण किया, ध्यान समाधि लगाई, अड़तालीस मिनट में केवलज्ञान हो गया। भगवान महावीर को बारह वर्ष में केवलज्ञान प्रगट हुआ, वहीं शिवभूति मुनि को अड़तालीस मिनट में केवलज्ञान प्रगट हो गया।

यह अपनी पात्रता और पुरुषार्थ की बात है, इसकी निरंतर साधना और अभ्यास करना ही ज्ञानी का काम है। जो अभ्यास हीन कायर पुरुष, प्रमादी, नपुंसक हैं जो अपने ज्ञान का सदुपयोग नहीं करते वह ज्ञानावरण कर्म का बंधकर संसार में ही परिभ्रमण करते हैं।

आत्मा को जानने के लिये परिणाम को सूक्ष्म करो क्योंकि स्थूल परिणाम से द्रव्य जानने में नहीं आता। अज्ञानी को ग्यारह अंग का ज्ञान हो जाता है तो भी उसका उपयोग सूक्ष्म नहीं है, स्थूल है। आत्मा स्थूल परिणामों से जानने में नहीं आता है। सूक्ष्म आत्मा को जानने के लिये उपयोग को सूक्ष्म करना पड़ता है।

जो दर्शन ज्ञान चारित्र रूप आत्मा मध्यस्थ भाव से आत्मा को आत्मा द्वारा आत्मा में देखता जानता है, वह निश्चय से स्वयं मुक्ति का कारण बनता है, ऐसा सर्वज्ञ देव जिनवर की वाणी में कहा है।

प्रश्न - इतना जानने समझने तत्त्व का स्वरूप बराबर ज्ञात होने पर भी उपयोग अपने स्वरूप में क्यों नहीं लगता ?

समाधान - तत्त्व को सही जानने पर भी पर की ओर के भाव में अंतःकरण के चक्कर में, व्यवहार कुशलता और परलक्षी ज्ञान में संतोष मानता है। दक्षता के अभिमान में अटक जाता है, बाह्य प्रसिद्धि के भाव में रुक जाता है। स्वभाव में रहने के भाव न होने से अटक जाता है अथवा शुभ परिणाम में मिठास रह जाती है। मुक्ति की तीव्र रुचि और कठोर पुरुषार्थ के बिना उपयोग अपने स्वभाव में नहीं रहता इसमें पूर्व कर्म बंधोदय भी निमित्त होते हैं।

प्रश्न - इसके लिये क्या करना चाहिये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

सदर्थ अर्थ सहावं, सहकारेन सदर्थ विन्यानं ।

अत्रितं अचेत अनर्थ, अन्यान कस्ट न्यान आवरनं ॥ ३५१ ॥

सहकार अर्थ ससहावं, सहजोपनीत सहाव सदर्थ ।

अनेय विभ्रम सहियं, न्यानं आवरन दुग्गए पत्तं ॥ ३५२ ॥

अन्वयार्थ - (सदर्थ अर्थ सहावं) सच्चा अर्थ तो अपना स्वभाव ही प्रयोजनीय है (सहकारेन सदर्थ विन्यानं) इस श्रद्धान की सहकारिता से ही सत्य पदार्थ का विशेष ज्ञान होता है (अत्रितं अचेत अनर्थ) क्षणभंगुर नाशवान अचेतन जड़ पदार्थ तो सब अनर्थकारी हैं, इनको प्रयोजनीय मानना (अन्यान कस्ट न्यान आवरनं) अज्ञान है इसी से अनेक कष्ट भोगना पड़ते हैं और ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है ।

(सहकार अर्थ ससहावं) सहकारी और प्रयोजनीय तो अपना स्व स्वभाव ही है (सहजोपनीत सहाव सदर्थ) सहज उपलब्ध अनुभव प्रमाण अपना स्वभाव ही सदर्थ है (अनेय विभ्रम सहियं) जिनको आत्मा के स्वरूप में भ्रम होता है व अनेक शंकायें होती हैं, वे सही निर्णय नहीं कर पाते, ज्ञान को यथार्थ नहीं कर पाते (न्यानं आवरन दुग्गए पत्तं) वे ज्ञानावरण से दुर्गति के पात्र होते हैं ।

विशेषार्थ - सच्चा अर्थ इष्ट और प्रयोजनीय तो निज स्वभाव ही है । में आत्मा शुद्ध ममल ज्ञान स्वभावी हूँ, यह श्रद्धान व यही मनन-चिंतन, बार-बार का अभ्यास भेदविज्ञान को बढ़ाते-बढ़ाते केवलज्ञान तक पहुँचा देता है । आत्मा का स्वाभाविक केवलज्ञान स्वरूप सहज साध्य है, आत्मा का अनुभव करने से वह ज्ञान अपने आप सहज में प्रगट हो जाता है । सहजोपनीत, सच्चा अर्थ तो स्व स्वरूप ही है इसके लिये बाहर से कुछ करने की आवश्यकता नहीं है । अपनी दृष्टि का परिवर्तन, उसकी लगन और रुचि होना ही सहकारी है । भेदविज्ञान से सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की पूर्णता रूप केवलज्ञान प्रगट होता है ।

जो जगत के नाशवान झूठे अचेतन जड़ पदार्थों को इष्ट हितकारी मानते हैं वे अज्ञानी जीव अनेक कष्ट सहते हुए ज्ञानावरण कर्म का बंध करते हैं ।

जिनको आत्मा के स्वरूप में भ्रम है, शंका है और शरीर, धन, स्त्री, पुत्र, परिवार को हितकारी मानते हैं, अनेक प्रकार की व्यवहारिकता की बातें करते हैं वे ज्ञानावरण से दुर्गति के पात्र होते हैं ।

में आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूँ, समस्त विकारों से रहित चिदानंद चैतन्य मूर्ति हूँ । इस बात का श्रद्धान, विश्वास, चिंतन, मनन करना ही एकमात्र प्रयोजनीय हितकारी है ।

काम, भोग, बंधन की कथा सुनने का योग तो बहुत ही सुलभ है । राज्यपद, चक्रवर्तीपद मिलना भी दुर्लभ नहीं है परंतु बहुत परिश्रम से मिलने योग्य बात तो आत्मा की है । यह एक ही बात सर्वोत्कृष्ट व आत्मसात् करने योग्य है । सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र की बात अति दुर्लभ है क्योंकि जीव ने आज तक उसका पुरुषार्थ ही नहीं किया है, पर का ही लक्ष्य किया होने से आत्मा की बात दुर्लभ हो गई है । शरीर मन वाणी से आत्मा भिन्न है, यह बात जिसको रुचती है उसी ने यथार्थतः आत्मा की बात सुनी है ।

यह सत् धर्म निर्विकल्प है, इसमें शुभराग की भी मुख्यता नहीं है । वीतरागता वर्तती है, ज्ञान में सत् का न्याय वर्तता है, यही सहजोपनीत मार्ग श्रेष्ठ हितकारी है । भाषा, शब्द, धर्म नहीं है परंतु ज्ञान में वर्तित विवेक ही सत्धर्म, सदर्थ है ।

प्रश्न - शब्द धर्म नहीं है फिर इन शब्दों का क्या प्रयोजन है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

सब्दं सदर्थ रूवं, सब्दं षिपिऊन कम्म तिविहेन ।

सब्दं अलष्य लष्यं, सब्दं अनिस्ट न्यान आवरनं ॥ ३५३ ॥

अन्वयार्थ - (सब्दं सदर्थ रूवं) शब्दों से सत् पदार्थ आत्मा का स्वरूप मालूम होता है (सब्दं षिपिऊन कम्म तिविहेन) ऊँकार स्वरूप दिव्यध्वनि से तीनों प्रकार के कर्म क्षय हो जाते हैं (सब्दं अलष्य लष्यं) शब्द की सहायता से जो अलक्ष्य आत्मा है उसका लक्ष्य हो जाता है (सब्दं अनिस्ट न्यान आवरनं) शब्द ब्रह्म है, जो स्व-पर प्रकाशक है, स्व का लक्ष्य छोड़कर पर का लक्ष्य करना अनिष्टकारी है जिससे ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है ।

विशेषार्थ - यद्यपि आत्मा अनुभवगम्य है तथापि शास्त्र व गुरुपदेश द्वारा जो योग्य शब्द सुनने व देखने में आते हैं, उनके अर्थ पर मनन करने से आत्मा के स्वरूप का बोध होता है । शब्द की सहायता से जो अलक्ष्य आत्मा,

स्व स्वरूप है उसका लक्ष्य हो जाता है। शब्द ब्रह्म है, जो स्व-पर प्रकाशक है। ॐकार स्वरूप दिव्यध्वनि से तीनों प्रकार के कर्मक्षय हो जाते हैं। यदि शब्दों का सदुपयोग किया जावे, स्व का लक्ष्य हो तो कल्याणकारी होता है परंतु शब्दों को पकड़ने, पर का लक्ष्य होने से यही शब्द अनिष्टकारी हो जाते हैं। विपरीत दृष्टि से ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है।

मति, श्रुत ज्ञान को स्वानुभूति के समय में प्रत्यक्ष कहा है क्योंकि आत्मसिद्धि के लिये मति, श्रुत यह दो ज्ञान ही आवश्यक ज्ञान हैं। शब्द श्रुत के माध्यम से मति, श्रुत ज्ञान होते हैं तथा इन मति और श्रुत ज्ञानों में भी इतनी विशेषता है कि जिस समय इन दोनों में से किसी एक द्वारा स्वानुभूति होती है उस समय यह दोनों ज्ञान भी अतीन्द्रिय स्वात्मा का प्रत्यक्ष करते हैं, सामने लखते हैं; परंतु जिस समय यह दोनों ज्ञान स्पर्शादिक विषयों को जानते हैं तथा आकाशादि पदार्थों को जानते हैं, उस समय यह दोनों ज्ञान नियम से परोक्ष ही हैं।

दोनों ज्ञान स्व की अपेक्षा कल्याणकारी हैं और पर की अपेक्षा अनिष्टकारी हैं, शब्दज्ञान भी स्व-पर प्रकाशक है, अपने आत्मा के विचार में निपुण राग रहित जीवों के द्वारा निर्दोष श्रुतज्ञान से भी आत्मा केवलज्ञान के समान जाना जाता है। आत्मध्यान का अभ्यास करने से तीनों प्रकार के कर्म क्षय हो जाते हैं।

दिव्यध्वनि जिनवाणी में जो वस्तु स्वरूप आया है उसका आराधन करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है। विपरीत दृष्टि होने से ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध होकर संसार परिभ्रमण चलता है।

प्रश्न - जिनवाणी, जिनवचनों का सार क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

वयनं च कम्म जिनिंयं, वयनं च सुद्ध सहाव निम्मलयं ।

वयनं सास्वय रूवं, अनिस्ट वयनं च न्यान आवरनं ॥ ३५४ ॥

वयनं च त्रितं वयनं, त्रित सहकारं अत्रितं विरयं ।

जइ अत्रित उवएसं, न्यानं आवरन दुष्य वीयम्मि ॥ ३५५ ॥

अन्वयार्थ - (वयनं च कम्म जिनिंयं) जिनेन्द्र के वचनों का मनन करने से कर्मों को जीता जा सकता है (वयनं च सुद्ध सहाव निम्मलयं) जिन

वचनों से अपना शुद्ध स्वभाव निर्मल है यह ज्ञात होता है (वयनं सास्वय रूवं) जिनेन्द्र के वचन ही शाश्वत स्वरूप हैं अर्थात् सत्य हैं, ध्रुव हैं, प्रमाण हैं (अनिस्ट वयनं च न्यान आवरनं) इसके विपरीत राग-द्वेष पोषक अधर्मकारी वचन अनिष्ट होते हैं, उनमें लगने से ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है।

(वयनं च त्रितं वयनं) वचन वे ही हितकारी हैं जो वचन शाश्वत होते हैं अर्थात् जिन वचनों में आदि अंत एक सा निर्वाह हो, जो सत्य वस्तु स्वरूप को बताते हैं (त्रित सहकारं अत्रितं विरयं) शाश्वत वचनों को जान लेने से मिथ्याज्ञान चला जाता है, जिससे संसार परिभ्रमण छूट जाता है (जइ अत्रित उवएसं) यदि मिथ्या उपदेश सुनाया तो (न्यानं आवरन दुष्य वीयम्मि) ज्ञानावरण कर्म का बंध कर दुःखों का बीज बोना है।

विशेषार्थ - जिनवाणी जिनेन्द्र के वचनों का मनन करने से कर्मों को जीता जाता है, संसार परिभ्रमण से मुक्त हुआ जाता है। जिनवाणी में अपना शुद्ध स्वभाव ममल निर्मल शाश्वत है यह बताया है जिसे जानने से भेदज्ञान और वस्तु स्वरूप का बोध होता है। जिनेन्द्र के वचन ही सत्य हैं, ध्रुव हैं, प्रमाण हैं, जिनवाणी के ज्ञान से लोकालोक का ज्ञान होता है। जो यथार्थ तत्त्व का अनुभव करते हैं वे कर्मों को क्षय कर मुक्ति को प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत जो राग द्वेष-अधर्म का पोषण करने वाले अनिष्ट वचनों में लगते हैं वे ज्ञानावरण कर्म का बंध करते हैं।

जिनवाणी में आत्म कल्याणकारक उपदेश है। जिन वचनों में आदि अंत एक सा निर्वाह होता है वे ही शाश्वत वचन होते हैं, जिनके श्रवण मनन से मिथ्याज्ञान चला जाता है, संसार परिभ्रमण छूट जाता है परंतु जो मिथ्यात्व का उपदेश करते हैं व जो उन पर श्रद्धान लाते हैं वे तीव्र ज्ञानावरण कर्म का बंध कर दुःखों का बीज बोते हैं।

आत्मा शुद्ध चिदानंद मूर्ति है उसकी रुचि कर और राग तथा व्यवहार की रुचि छोड़, तेरा स्वरूप आनंद कंद सच्चिदानंद स्वरूप है, निज स्वरूप के आश्रय से ही मुक्ति होती है। यह जिन वचन हैं जो सत्य हैं, ध्रुव हैं, प्रमाण हैं।

जीव कर्म के उदय से दुःखी नहीं है बल्कि अपने अज्ञान मोह, राग-द्वेष के कारण से दुःखी होता है। उस दुःख का नाश करने का एक मात्र उपाय तो वीतराग भाव है। जो शास्त्र ऐसा बोध उपदेश नहीं देते वह राग-द्वेष मोह के

पोषक होने से आत्मा के घात में निमित्त होते हैं, उनके द्वारा अज्ञानी जीव ज्ञानावरण कर्म बांधकर दुःख का बीज बोते हैं।

प्रश्न - इस ज्ञानावरण कर्म से छूटने और मुक्त होने का उपाय क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

न्यानं च ममल न्यानं, न्यानं सहकार कम्म संषिपनं ।

पज्जावं नहु पिच्छदि, न्यान सहावेन मुक्ति गमनं च ॥ ३५६ ॥

अन्वयार्थ - (न्यानं च ममल न्यानं) ज्ञान और ममलज्ञान स्वभाव ही ज्ञानावरण से छूटने मुक्त होने का उपाय है (न्यानं सहकार कम्म संषिपनं) सम्यक्ज्ञान रूप आत्मज्ञान का अनुभव होने से सब कर्म क्षय हो जाते हैं (पज्जावं नहु पिच्छदि) सम्यक्दृष्टि ज्ञानी कर्मजनित पर्याय पर दृष्टि नहीं रखता, पर्याय को नहीं देखता (न्यान सहावेन मुक्ति गमनं च) ज्ञान स्वभाव में लीन रहने से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ - भेदविज्ञान से सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान होता है। सम्यक्ज्ञान केवलज्ञान का कारण है। सम्यक्ज्ञान दूज का चंद्रमा है, केवलज्ञान पूर्णमासी का चंद्रमा है। सम्यक्ज्ञान के प्रताप से आत्मा आत्मा में ठहरता है, ज्ञानी की दृष्टि पर्याय को नहीं देखती। ज्ञान स्वभाव में रत रहना ही शुक्लध्यान है। इसी ज्ञान पूर्वक ध्यान से घातिया कर्मों का क्षय होकर यह जीव अरिहंत परमात्मा हो जाता है फिर सिद्ध परमात्मा पूर्ण शुद्ध सिद्ध मुक्त हो जाता है।

त्रिकाली ध्रुवतत्त्व शुद्धात्म स्वरूप को पकड़ने पर ही सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान होता है, ममल ज्ञान स्वभाव में लीन रहने पर ही सम्यक्चारित्र होता है, इसी में स्थिरता होने से सब घातिया कर्म क्षय होकर केवलज्ञान प्रगट होता है। सम्यक्दृष्टि ज्ञानी की दृष्टि द्रव्य स्वभाव पर से नहीं हटती, जो यह दृष्टि स्वभाव से हटकर वर्तमान पर्याय में रुके, पर्याय की रुचि हो जाये तो मिथ्यादृष्टि हो जाये। ज्ञानी अपने ज्ञान स्वभाव में ही रत रहता है, पर्याय का लक्ष्य नहीं रखता, उसकी पर्याय में वीतरागता प्रगट होने पर भी पर्याय में रुकता नहीं है, उसकी दृष्टि तो त्रिकाली ध्रुव स्वभाव पर ही टिकी है, जिससे सब कर्म क्षय होकर केवलज्ञान और सिद्धपद प्रगट हो जाता है, यही ज्ञानावरणादि घातिया और अघातिया कर्मों से छूटने का उपाय है।

ऊपर के कथनों में यह बताया है कि जो आत्मज्ञान से शून्य, अन्य शरीरादि में आपा मान कर सत्य धर्म से बाहर रहते हैं, मिथ्याज्ञान की आराधना करते हैं, सम्यक्ज्ञान का निरादर करते हैं उनको ज्ञानावरण कर्म का तीव्र बंध होता है, जिससे वे नरक व निगोद में जाकर मूढ़ व अल्पज्ञानी हो जाते हैं; अतएव ज्ञानी को ज्ञानावरण के बंध के कारणों से बचना चाहिये और ज्ञान के प्रकाश के कारणों को आचरण में लाना चाहिये।

प्रश्न - ज्ञानावरण कर्म के आस्रव बंध के कारण क्या हैं ?

समाधान - निम्न लिखित भावों से व कर्मों से ज्ञानावरण कर्म का आस्रव तथा बंध होता है -

१. ज्ञान स्वभाव आत्मा की अरुचि तथा पर पर्याय में रुचि होना।
२. भेदविज्ञान को महत्व नहीं देना, पर पदार्थ को महत्व देना।
३. ज्ञान साधना, स्वाध्याय, सत्संग में प्रमाद करना।
४. ज्ञानियों से ईर्ष्या भाव रखना।
५. ज्ञान के प्रकाश में विध्न करना।
६. उत्तम ज्ञान, सत्य वस्तु स्वरूप से भी बुरा मानना।
७. ज्ञान होते हुए भी आलसी, प्रमादी भीरु रहना।
८. ज्ञानियों का निरादर करके ज्ञान के प्रकाश को रोकना।
९. सत्य ज्ञान का मिथ्या युक्तियों से खंडन करना।
१०. अनादर के साथ शास्त्र सुनना, वाद-विवाद करना।
११. ज्ञान प्राप्ति में आलस्य रखना।
१२. शास्त्र बेचना अथवा प्रवचन करके धन संग्रह करना।
१३. बहुत शास्त्र ज्ञाता होने पर अभिमान से मिथ्या उपदेश करना।
१४. ज्ञान मद रखना, मैं सब कुछ जानता हूँ, मैंने सब शास्त्र पढ़े हैं इत्यादि कारणों से ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है।

प्रश्न - घातिया कर्म चार-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय होते हैं इनके समूल क्षय होने पर ही केवलज्ञान होता है, यह सब कैसे क्या होता है ?

समाधान - आत्मा तो अखंड द्रव्य एक अभेद केवलज्ञान स्वभावी है परंतु संसार में शरीरादि कर्म संयोग के कारण भेद में पड़ा है। जिसमें पहला भेद दृष्टि या उपयोग है। उपयोग के दो भेद हैं - ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग।

तीन भेद - सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं। चार भेद-अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य। चार घातिया कर्मों से यह अनंत चतुष्टय स्वरूप आवृत है, ढका है। इनमें ज्ञानावरण के क्षय से अनंतज्ञान, दर्शनावरण के क्षय से अनंतदर्शन, मोहनीय के क्षय से अनंतसुख और अंतराय के क्षय से अनंतवीर्य प्रगट हो जाता है। पांच भेद-पंचज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान, जो ज्ञानावरण से आवृत हैं, मूल में दृष्टि ही इन कर्म बंधन और कर्मक्षय का कारण है। दृष्टि (उपयोग) अज्ञान मिथ्यात्व में होने से कर्मों का आस्रव बंध होता है तथा सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र होने से संवर निर्जरा होने लगती है। विशेष बात यह है कि दृष्टि स्व स्वरूप में लीन रहे तब कोई कर्मबंध नहीं होता, जब तक दृष्टि पर पर्याय की तरफ देखती है तब तक कर्मों का आस्रव बंध होता है जो गुणस्थान क्रम से जाना जाता है।

यहाँ साधक को अपनी दृष्टि (उपयोग) की संभाल रखने की ही बात है, अभी तक ज्ञानोपयोग की दृष्टि की सूक्ष्म संधि का निराकरण ज्ञानावरण कर्म के विवेचन में किया गया।

प्रश्न - तो अब आगे दर्शनोपयोग और दर्शनावरण कर्म का स्वरूप बताइये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

दर्शन अनन्त दर्सं, दर्सन विन्यान न्यान सहकारं ।

दर्सन भेय चउक्कं, दंसन दंसेइ अप्प परमप्पं ॥ ३५७ ॥

चण्यं दरसति सुद्धं, अचण्य दर्सन दर्सयति सुद्धं ।

अवधे अवहि संजुत्तं, केवल दंसेइ नंतनंताइं ॥ ३५८ ॥

अन्वयार्थ - (दर्शन अनन्त दर्सं) दर्शन, अनंत दर्शन स्वरूप है, आत्मा की विशेष शक्ति है (दर्सन विन्यान न्यान सहकारं) दर्शन भेदविज्ञान और ज्ञान का सहकारी है (दर्सन भेय चउक्कं) दर्शन के चार भेद हैं (दंसन दंसेइ अप्प परमप्पं) दर्शन आत्मा को परमात्म स्वरूप देखता है।

(चण्यं दरसति सुद्धं) चक्षु दर्शन सामान्यपने शुद्ध वस्तु को (अचण्य दर्सन दर्सयति सुद्धं) अचक्षु दर्शन सामान्यपने शुद्ध वस्तु को देखता है (अवधे अवहि संजुत्तं) अवधि दर्शन अवधिज्ञान के साथ रहता है (केवल दंसेइ

नंतनंताइं) केवलदर्शन अनंतानंत पदार्थों को देखता है।

विशेषार्थ - यहाँ दर्शन का स्वरूप और उसके भेद बताते हैं। दर्शन और ज्ञान इन भेदों से उपयोग दो प्रकार का है। उसमें दर्शन तो निर्विकल्प है और ज्ञान सविकल्प है। दर्शनोपयोग - चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन तथा केवलदर्शन, इन भेदों से चार प्रकार का होता है। इसका विशेष वर्णन - प्रथम तो आत्मा तीन लोक और तीनों कालों में रहने वाले संपूर्ण द्रव्य सामान्य को ग्रहण करने वाला जो पूर्ण निर्मल केवल दर्शन स्वभाव है उसका धारक है पश्चात् अनादि कर्म बंध के आधीन होकर चक्षु दर्शनावरण के क्षयोपशम से अर्थात् नेत्र द्वारा जो दर्शन होता है, उस दर्शन को रोकने वाले कर्म के क्षयोपशम से तथा बहिरंग द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से मूर्त सत्ता सामान्य को जो कि संव्यवहार से प्रत्यक्ष है तो भी निश्चय से परोक्ष रूप है उसको एकदेश से विकल्प रहित जो देखता है वह चक्षुदर्शन है। वैसे ही स्पर्शन, रसना, घ्राण, तथा कर्णेन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम से और निज-निज बहिरंग द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से मूर्त सत्ता सामान्य को परोक्ष रूप एकदेश से जो विकल्प रहित देखता है वह अचक्षुदर्शन है। इसी प्रकार मन इन्द्रिय के आवरण के क्षयोपशम से तथा सहकारी कारणभूत जो आठ पांखुड़ी के कमल के आकार द्रव्यमन है, उसके अवलम्बन से मूर्त तथा अमूर्त ऐसे समस्त द्रव्यों में विद्यमान सत्ता सामान्य को परोक्षरूप से विकल्प रहित जो देखता है वह मानस अचक्षुदर्शन है।

वही आत्मा जो अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम से मूर्त वस्तु में प्राप्त सत्ता सामान्य को एकदेश प्रत्यक्ष विकल्प रहित देखता है वह अवधिदर्शन है तथा जो सहज शुद्ध चिदानंद एक स्वरूप का धारक परमात्मा है उसके तत्त्वज्ञान के बल से केवल दर्शनावरण के क्षय होने पर मूर्त-अमूर्त समस्त वस्तु में प्राप्त सत्ता सामान्य को सकल प्रत्यक्ष रूप से एक समय में विकल्प रहित जो देखता है उसको दर्शनावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न और ग्रहण करने योग्य केवलदर्शन जानना चाहिये।

आगे अचक्षु दर्शन की विशेषता बताते हैं -

चण्यं च सुद्ध भावं, चण्यं च ममल दिस्ति सभावं ।

संसार सरनि विरयं, पज्जय रत्तं च चषु आवरणं ॥ ३५९ ॥

वरन विषेस न दिस्टं, नहु दिट्टं असुद्ध भाव अनिस्टं ।

इस्ट संजोय दिट्टं, पर्जय रूवं च चषु आवरनं ॥ ३६० ॥

अन्वयार्थ - (चष्यं च सुद्ध भावं) चक्षु दर्शन से शुद्ध स्वभाव को देखा जाये (चष्यं च ममल दिस्टि सभावं) चक्षुदर्शन की दृष्टि अपने ममल स्वभाव पर रहे तो (संसार सरनि विरयं) संसार का परिभ्रमण छूट जाता है (पज्जय रत्तं च चषु आवरनं) यदि पर्याय में रत रहता है तो चक्षुदर्शनावरण का बंध होता है ।

(वरन विषेस न दिस्टं) चक्षुदर्शन से वर्ण विशेष न देखा जाये अर्थात् जब चक्षुदर्शन की दृष्टि पुद्गलादि रूपी पदार्थ नाना प्रकार के वर्ण को नहीं देखती (नहु दिट्टं असुद्ध भाव अनिस्टं) और अशुद्ध भाव शुभाशुभ विकारी भावों को भी नहीं देखती (इस्ट संजोय दिट्टं) अपने इष्ट निज शुद्धात्म स्वरूप को ही देखती है, यह चक्षुदर्शन की दृष्टि मुक्तिमार्ग में सहकारी है (पर्जय रूवं च चषु आवरनं) यदि चक्षु दर्शन की दृष्टि पर्याय आदि रूपी पदार्थ को देखती है तो उससे चक्षु दर्शनावरण कर्म का बंध होगा जो संसार का कारण है ।

विशेषार्थ - छद्मस्थ को दर्शन पूर्वक ही ज्ञान होता है । दर्शनोपयोग जिस तरफ देखता है ज्ञान भी वहीं लगा रहता है । दर्शनोपयोग के चार भेद में यह पहला चक्षुदर्शन है, इसकी विशेषता यही है कि चक्षुदर्शन शुद्ध भाव और ममल स्वभाव को देखता है तो संसार परिभ्रमण से छुटकारा हो जाता है और यदि पर्याय में रत रहता है तो चक्षुदर्शनावरण कर्म का बंध होता है ।

दृष्टि की विशेषता जिसमें चक्षु इन्द्रिय की सहकारिता है, यदि यह वर्ण विशेष पुद्गलादि रूप रंग नहीं देखती और अनिष्टकारी शुभाशुभ विकारीभाव भी नहीं देखती, अपने इष्ट को संजोती है अर्थात् निज शुद्धात्मा को ही देखती है तो मुक्तिमार्ग बनता है । यदि पर पर्याय और रूपी पदार्थ को देखती है तो चक्षु दर्शनावरण कर्म का बंध होता है ।

प्रश्न - चक्षुदर्शन का प्रयोजन चक्षु इन्द्रिय के देखने से है या उपयोग से है ?

समाधान - चक्षुदर्शन का मूल प्रयोजन तो दर्शनोपयोग से है, उसमें चक्षु इन्द्रिय सहकारी है क्योंकि जब तक कर्मावरण शरीरादि संयोग है तभी तक यह भेदरूप कथन है । मूल में तो केवलदर्शन, अनंतदर्शनमयी शुद्धात्म स्वरूप ही है । जब तक भेदरूप कर्मावरण संयोग है तब तक चक्षु इन्द्रिय भी

सहकारी है, इसके द्वारा यदि संसार, संयोग शरीरादि पर्याय को ही देखने में रत रहते हैं तो उपयोग इन्हीं में लगा होने से दर्शनावरण कर्म का बंध होता है ; और यदि चक्षु इन्द्रिय से वीतराग विज्ञानमयी निज स्वरूप का चिंतन करते हैं, जिनवाणी का स्वाध्याय, वीतरागता वर्द्धक स्थितियों को देखते हैं तो वैराग्य पैदा होता है, उपयोग अपने आत्म स्वभाव में लगता है, इससे मुक्ति मार्ग बनता है ।

प्रश्न - चक्षुदर्शन का कैसा उपयोग किया जाये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

चष्यं ममल सहावं, दंसन न्यानेन अन्मोय संजुत्तं ।

अन्मोयं अन्तरयं, चष्यं आवरन दुग्गए पत्तं ॥ ३६१ ॥

चष्यं च दिस्टि इस्टं, अतींदी सभाव न्यान सहकारं ।

दंसन सुद्ध अन्मोयं, दंसन आवरन पज्जाव संदिट्टं ॥ ३६२ ॥

अन्वयार्थ - (चष्यं ममल सहावं) चक्षुदर्शन का उपयोग ममल स्वभाव में होना चाहिये अर्थात् ममल स्वभाव को ही देखना चाहिये (दंसन न्यानेन अन्मोय संजुत्तं) दर्शन और ज्ञान के आलम्बन में ही लगे रहना चाहिये (अन्मोयं अन्तरयं) यदि स्वभाव के आलंबन में अंतराय डाला, प्रमाद किया तो (चष्यं आवरन दुग्गए पत्तं) चक्षु आवरण से दुर्गति जाना पड़ेगा ।

(चष्यं च दिस्टि इस्टं) चक्षुदर्शन से अपने इष्ट निज शुद्धात्म स्वरूप को ही देखना चाहिये (अतींदी सभाव न्यान सहकारं) अतीन्द्रिय स्वभाव और ज्ञान के सहकार में ही संलग्न रहना चाहिये (दंसन सुद्ध अन्मोयं) शुद्ध स्वभाव के आश्रय ही चक्षुदर्शन को लगे रहना चाहिये (दंसन आवरन पज्जाव संदिट्टं) यदि पर्याय की तरफ देखा, उसमें लगे रहे तो दर्शनावरण कर्म का बंध होगा ।

विशेषार्थ - चक्षुदर्शन का उपयोग तो ममल स्वभाव में ही लगा रहना चाहिये, हमेशा ज्ञान दर्शन के आलंबन में ही लगे रहना चाहिये । यदि स्वभाव के आलंबन में अंतराय डाला, प्रमाद किया तो चक्षुदर्शनावरण कर्म का बंध होकर दुर्गति जाना पड़ेगा ।

चक्षुदर्शन से अपने इष्ट निज शुद्धात्म स्वरूप को ही देखना चाहिये, अतीन्द्रिय स्वभाव और ज्ञानानुभूति में ही लगे रहना चाहिये, शुद्ध स्वभाव का आलंबन उसी का दर्शन मोक्षमार्ग है, यदि पर्याय की तरफ देखा उसमें लगे

तो दर्शनावरण कर्म का बंध होगा ।

प्रश्न - चक्षु इन्द्रिय से अतीन्द्रिय आत्मा ममल स्वभाव को देखा ही नहीं जा सकता, तो फिर कैसे देखना चाहिये ? चक्षु इन्द्रिय तो रूपी पदार्थ पुद्गलादि को ही देखती है ?

समाधान - इसके लिये चक्षु दर्शन की शुद्धि की जाये, द्रव्य दृष्टि से वस्तु स्वरूप को देखा जाये तो चक्षु इन्द्रिय में भी ममल स्वभाव ही दिखेगा ।

प्रश्न - चक्षुदर्शन की शुद्धि द्रव्यदृष्टि कैसे की जाये ?

समाधान - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छह द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं, जिनमें धर्म, अधर्म, आकाश, काल अपने द्रव्य, गुण, पर्याय से सर्वथा शुद्ध हैं । दो द्रव्य जीव और पुद्गल ही अपने द्रव्य, गुण से शुद्ध होते हुए पर्याय से अशुद्ध हैं और इस अशुद्ध पर्यायी परिणमन में एक दूसरे का अनादि निमित्त-नैमित्तिक संबंध है ।

अज्ञानी जीव को इस बात का बोध न होने से वह यह पर्यायी परिणमन रूपी पदार्थों को ही देखा करता है, इससे कर्मावरण होकर संसार परिभ्रमण चलता है । जब दोनों द्रव्यों को उनके स्वभाव से जाना जाये कि जीव द्रव्य स्वभाव से सिद्ध के समान शुद्ध है और पुद्गल द्रव्य स्वभाव से शुद्ध परमाणु रूप है । यह दिखने वाला पर्यायी परिणमन भ्रांति है, इस द्रव्य दृष्टि से चक्षुदर्शन की शुद्धि होती है । जब यह ज्ञान हो जाता है तो चक्षु इन्द्रिय में भी ममल स्वभाव ही दिखता है ।

प्रश्न - फिर इससे क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

दंसेइ मोष मगं, मल रहिओ सुद्ध दंसनं ममलं ।

असत्यं असरन तिकतं, दंसन सहकार कम्म विलयंति ॥ ३६३ ॥

अन्वयार्थ - (दंसेइ मोष मगं) मोक्ष का मार्ग दिखाई देने लगता है (मल रहिओ सुद्ध दंसनं ममलं) मल रहित शुद्ध ममल स्वभाव का दर्शन होता है (असत्यं असरन तिकतं) असत्य अशरण संसार परिभ्रमण छूट जाता है (दंसन सहकार कम्म विलयंति) ऐसे दर्शनोपयोग की साधना से कर्म क्षय हो जाते हैं ।

विशेषार्थ - चक्षु, अचक्षुदर्शन की शुद्धि होने से मोक्ष का मार्ग दिखाई

देने लगता है । सारे रागादि कर्म मलों से रहित अपना ममल स्वभाव दिखता है । असत् अशरण संसार परिभ्रमण छूट जाता है, ऐसे दर्शनोपयोग की साधना से सब कर्म क्षय हो जाते हैं ।

अनादि काल से जो पहले कभी अनुभव में नहीं आया ऐसे अपूर्व परम अद्भुत आल्हाद रूप होने से- अतिशय, आत्मा का ही आश्रय लेकर प्रवर्तमान होने से-आत्मोत्पन्न, पराश्रय से निरपेक्ष होने से, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द के तथा संकल्प-विकल्प के आश्रय की अपेक्षा से रहित होने से-विषयातीत, अत्यंत विलक्षण होने से-अनुपम, समस्त आगामी काल में कभी भी नाश को प्राप्त न होने से अनंत और बिना ही अंतर के प्रवर्तमान होने से अविच्छिन्न सुख, शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्मा को होता है ।

शुद्धोपयोगी जीव प्रतिक्षण अत्यंत शुद्धि को प्राप्त करता रहता है और इस प्रकार मोह का क्षय करके निर्विकार चेतनावान होकर, बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय में ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतराय का युगपद् क्षय करके समस्त ज्ञेयों को जानने वाले केवलज्ञान को प्राप्त करता है ।

प्रश्न - इसमें अचक्षु दर्शन की शुद्धि कैसे हुई ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

अचष्यं दंसन उत्तं, सब्दं सहकार न्यान विन्यानं ।

कम्म मल सुयं च षिपनं, अचषु दर्सन दर्से सुद्धं ॥ ३६४ ॥

अन्वयार्थ - (अचष्यं दंसन उत्तं) अचक्षु दर्शन को कहते हैं (सब्दं सहकार न्यान विन्यानं) चक्षु इन्द्रिय को छोड़कर अन्य इन्द्रिय व मन द्वारा सामान्यपने देखता है वह अचक्षु दर्शन है, जैसे-शब्द को ग्रहण करते हुए पहले अचक्षुदर्शन होगा पीछे शब्द के संबंध का ज्ञान विज्ञान होगा (कम्म मल सुयं च षिपनं) इसकी शुद्धि होने से कर्म मल स्वयं क्षय होने लगते हैं (अचषु दर्सन दर्से सुद्धं) मन और इन्द्रियों द्वारा जो सुनाई और दिखाई पड़ता है वह सब भ्रम है, शुद्ध वस्तु स्वरूप ही दिखाई देना यह अचक्षु दर्शन की शुद्धि है ।

विशेषार्थ - अचक्षुदर्शन, चक्षु को छोड़कर अन्य इन्द्रिय व मन द्वारा सामान्यपने देखता है, जैसे-शब्द को ग्रहण करते हुए पहले अचक्षुदर्शन होगा पीछे शब्द के संबंध का ज्ञान विज्ञान होगा । जब द्रव्य दृष्टि से वस्तु स्वरूप को जान लिया कि द्रव्य स्वभाव से जीव सिद्ध के समान शुद्ध है और पुद्गल शुद्ध

परमाणु रूप है तो चक्षु इन्द्रिय द्वारा जो पौद्गलिक जगत दिखाई देता है, यह सब भ्रांति है अर्थात् पुद्गल परमाणुओं का स्कंध रूप परिणमन है, जो सब नाशवान धूल का ढेर है फिर ज्ञानी को चक्षु द्वारा भी वस्तु स्वरूप ममल स्वभाव दिखाई देता है तथा मन आदि द्वारा जो सूक्ष्म पौद्गलिक परिणमन दिखाई देता है। चखना, सूंघना, सुनना, स्पर्श करना, शुभाशुभ भाव तथा संकल्प-विकल्प होना, यह सब क्या है ? यह सब भ्रम है। जैसे सिनेमा के परदे पर चलचित्र दिखाई देते हैं परंतु उनमें क्या है ? उनमें कुछ नहीं है। सूक्ष्म तरंगें आती हैं और वह नाना प्रकार से दिखाई देती हैं, यह सब भ्रम माया कर्मावरण है, यथार्थ में है कुछ नहीं।

जिसका यह भ्रम टूट जाता है उसके अचक्षुदर्शन की शुद्धि हो जाती है फिर उसे शुद्ध वस्तु स्वरूप दिखाई देता है और इनसे चलने वाला सारा कर्मावरण अपने आप क्षय हो जाता है।

उपरोक्त प्रकार से द्रव्य स्वयं ही अपनी अनंत शक्ति रूप संपदा से परिपूर्ण है, स्वयं ही अपना कार्य करने के लिये समर्थ है, उसे बाह्य सामग्री कोई सहायता नहीं कर सकती इसलिये केवलज्ञान प्राप्ति के इच्छुक आत्मा को बाह्य सामग्री की अपेक्षा रखकर परतंत्र होना निरर्थक है। शुद्धोपयोग में लीन आत्मा स्वयं ही केवलज्ञान प्राप्त करता है।

आत्मा को ज्ञान और सुखरूप परिणमित होने में इन्द्रियादिक पर निमित्तों की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप स्व-पर प्रकाशकता है ऐसा ज्ञान और जिसका लक्षण अनाकुलता है ऐसा सुख आत्मा का ही स्वभाव है।

प्रश्न - इस दर्शनोपयोग की स्थिति क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

दर्शति लोय अवलोयं, दंसन दंसेइ मुक्ति सहकारं ।

पज्जावं पर उत्तं, दंसन आवरन सरनि संसारे ॥ ३६५ ॥

दंसन अनन्त रूवं, दंसन दिट्ठी च कम्म षिपिऊनं ।

जदि पज्जय अनुरत्तं, दंसन आवरन बेंद्रिया पत्तं ॥ ३६६ ॥

अन्वयार्थ - (दर्शति लोय अवलोयं) दर्शनोपयोग लोक अलोक को देख सकता है (दंसन दंसेइ मुक्ति सहकारं) दर्शनोपयोग से अपने ममल

स्वभाव को देखना मोक्षमार्ग में सहकारी है (पज्जावं पर उत्तं) पर्याय, पर कही गई है उसको देखने से (दंसन आवरन सरनि संसारे) दर्शनावरण कर्म का बंध होकर संसार परिभ्रमण करना पड़ेगा।

(दंसन अनन्त रूवं) दर्शन अनंत दर्शन स्वरूप है (दंसन दिट्ठी च कम्म षिपिऊनं) अनंत दर्शन स्वरूप की दृष्टि होने से कर्म क्षय होते हैं (जदि पज्जय अनुरत्तं) यदि दृष्टि पर्याय में अनुरक्त रहती है (दंसन आवरन बेंद्रिया पत्तं) तो दर्शनावरण कर्म से दो इन्द्रिय पर्याय में जाना पड़ेगा।

विशेषार्थ - दर्शनोपयोग की स्थिति बहुत सूक्ष्म है, दर्शनोपयोग पर ही मुक्ति और संसार परिभ्रमण निर्भर है। दर्शनोपयोग की अपने ममल स्वभाव में स्थिरता होने से मुक्तिमार्ग बनता है और पर्याय पर दृष्टि होने से दर्शनावरण कर्म का बंध होकर संसार परिभ्रमण होता है।

सम्यक्चारित्र का आधार दर्शनोपयोग है। दर्शन ज्ञान उपयोग का स्वरूप में एकाग्र होना ही शुद्धोपयोग है। दर्शन, अनंतदर्शन, केवलदर्शन स्वरूप है, जिसमें लोकालोक को देखने की शक्ति है। जब यह अपने अनंत चतुष्टय स्वरूप को ही देखता है तभी सर्व कर्म क्षय होते हैं, यदि पर्याय में लीन रहता है, पर्याय को देखता है तो दर्शनावरण कर्म का बंध करके दो इन्द्रिय पर्याय में जन्म लेना पड़ेगा।

कर्म आश्रव और कर्म क्षय का मूल आधार दृष्टि है, एक मुहूर्त अड़तालीस मिनिट स्वरूप में लीन होने पर सारे घातिया कर्म क्षय होकर केवलज्ञान प्रगट हो जाता है तथा एक समय की पर पर्याय पर दृष्टि होने से असंख्यात कर्मों का आश्रव बंध होता है।

धर्म से परिणमित स्वरूप वाला आत्मा यदि शुद्धोपयोग में युक्त हो तो मोक्ष सुख को प्राप्त करता है और यदि शुभोपयोग वाला हो तो स्वर्गादि संसार को प्राप्त करता है। जब यह आत्मा किंचित् मात्र भी धर्म परिणति को प्राप्त न करता हुआ अशुभोपयोग परिणति का अवलंबन करता है तब तिर्यचादि दुर्गतियों में जाता है।

प्रश्न - जब शुद्धोपयोग रूप स्थिति बनने लगी फिर संसार परिभ्रमण कैसे होगा ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

**दंसेई तिहुवनगं, दंसन न्यानं च अन्मोय संजुत्तं ।
जदि पज्जाव सुभावं, दंसन आवरन दुष्य वीयम्मि ॥ ३६७ ॥
दंसन षिपनिक रूवं, दंसन सहकार कम्म विलयंति ।
जदि पज्जाये रत्तं, दंसन आवरन सरनि संसारे ॥ ३६८ ॥**

अन्वयार्थ - (दंसेई तिहुवनगं) शुद्धोपयोग ही तीन लोक के अग्र भाग में विराजित ऐसे अपने सिद्ध स्वरूप को देखता है (दंसन न्यानं च अन्मोय संजुत्तं) तथा दर्शनोपयोग ज्ञानोपयोग सहित अपने ममल स्वभाव में ही लीन रहता है (जदि पज्जाव सुभावं) यदि पर्याय के स्वभाव को देखता है (दंसन आवरन दुष्य वीयम्मि) दर्शनावरण कर्म का बंध कर दुःख का बीज बोता है ।

(दंसन षिपनिक रूवं) शुद्धोपयोग की स्थिति में सम्यक्दर्शन भी क्षायिक स्वरूप होना चाहिये (दंसन सहकार कम्म विलयंति) क्षायिक सम्यक्त्व की सहकारिता से ही कर्म विलाते, क्षय होते हैं (जदि पज्जाये रत्तं) यदि पर्याय में रत रहता है तो (दंसन आवरन सरनि संसारे) दर्शनावरण कर्म का बंध होकर संसार परिभ्रमण ही करना पड़ता है ।

विशेषार्थ - शुद्धोपयोग ही तीन लोक के अग्र भाग में विराजित ऐसे अपने सिद्ध स्वरूप को देखता है, उसका दर्शनोपयोग तथा ज्ञानोपयोग अपने ममल स्वभाव में ही लीन रहता है फिर उसे पर पर्यायादि कुछ नहीं दिखते, यदि वह पर्याय स्वभाव को देखता है तो दर्शनावरण कर्म का बंध कर दुःख का बीज बोता है ।

शुद्धोपयोग की सही स्थिति तो क्षायिक सम्यक्त्व होने पर ही बनती है, जिसमें अड़तालीस मिनिट में सब घातिया कर्म क्षय होकर केवलज्ञान प्रगट हो जाता है फिर वहाँ नीचे आने की बात ही नहीं है । यदि उपशम आदि होने से पर्याय में रत होता है तो दर्शनावरण कर्म का बंध कर संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा ।

स्वरूप में चरण करना, रमना सो चारित्र है । स्वसमय में प्रवृत्ति करना ही शुद्धोपयोग है । दर्शन ज्ञान प्रधान वीतराग चारित्र से मोक्ष प्राप्त होता है ।

शुद्ध आत्मा के श्रद्धान रूप सम्यक्त्व से विरुद्ध भाव वह मिथ्यात्व मोह है और निर्विकार निश्चल चैतन्य परिणति रूप चारित्र से विरुद्ध भाव अस्थिरता वह क्षोभ है ।

द्रव्य जिस समय जिस भाव से परिणमन करता है उस समय उस मय है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है ; इसलिये द्रव्य स्वभाव परिणत आत्मा शुद्धोपयोगी है तथा पर्याय परिणत आत्मा अशुद्धोपयोगी है, जो संसार परिभ्रमण का कारण है ।

आत्मा सर्वथा कूटस्थ नहीं है किंतु स्थिर रहकर परिणमन करना उसका स्वभाव है इसलिये वह जैसे-जैसे भावों से परिणमित होता है वैसा-वैसा ही वह स्वयं हो जाता है । जैसे-स्फटिक मणि स्वभाव से निर्मल है तथापि जब वह लाल या काले फूल के संयोग निमित्त से परिणमित होता है, तब लाल या काला स्वयं ही हो जाता है । इसी प्रकार आत्मा स्वभाव से शुद्ध बुद्ध एक स्वरूपी होने पर व्यवहार से जब गृहस्थ दशा में सम्यक्त्व पूर्वक दान पूजादि शुभ-अशुभ मन रूप शुभयोग में और मुनिदशा में मूलगुण तथा उत्तरगुण इत्यादि शुभ अनुष्ठान रूप शुभोपयोग में परिणमित होता है तब स्वयं ही शुभ है और जब मिथ्यात्वादि पांच प्रत्यय रूप अशुभोपयोग में परिणमित होता है तब स्वयं ही अशुभ होता है तथा जैसे स्फटिक मणि अपने स्वाभाविक निर्मल रंग में परिणमित होता है तब स्वयं ही शुद्ध है, उसी प्रकार आत्मा भी जब निश्चय रत्नत्रयात्मक शुद्धोपयोग में परिणमित होता है तब स्वयं ही शुद्ध होता है ।

प्रश्न - इस दर्शनोपयोग के लिये क्या करना चाहिये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

**दंसन ममल सहावं, न्यान विन्यान दंसनं सुद्धं ।
जं सरनि भाव सहकारं, दंसन आवरन दुष्य संतत्तं ॥ ३६९ ॥
दंसन अरूव रूवं, रूवातीतं च निम्मलं ममलं ।
जदि कल इस्ट सुभावं, दंसन आवरन नंत संसारे ॥ ३७० ॥**

अन्वयार्थ - (दंसन ममल सहावं) ममल स्वभाव का दर्शन करना चाहिये (न्यान विन्यान दंसनं सुद्धं) ज्ञान विज्ञान से दर्शनोपयोग शुद्ध होता है अर्थात् सम्यक्ज्ञान से दर्शनोपयोग शुद्ध होता है (जं सरनि भाव सहकारं) यदि दर्शनोपयोग संसार के भावों में अनुरक्त होता है (दंसन आवरन दुष्य संतत्तं) तो दर्शनावरण कर्म का बंधकर दुःखों से संतप्त होता है अर्थात् दुःख भोगना पड़ते हैं ।

(दंसन अरुव रूवं) दर्शनोपयोग यद्यपि निराकार, निर्विकल्प है तथापि वह रूपी और अरूपी दोनों पदार्थों को देखता है (रूपातीतं च निम्मलं ममलं) आत्मा रूपातीत निर्मल और ममल स्वभावी है (जदि कल इस्ट सुभावं) यदि वह शरीरादि रूपी पदार्थों को इष्ट मानकर उनके स्वभाव को देखता है तो (दंसन आवरन नंत संसारे) दर्शनावरण कर्म का बंध होकर अनंत संसार में भ्रमण होगा।

विशेषार्थ - दर्शनोपयोग से ममल स्वभाव का दर्शन करना चाहिये, यही परमात्म स्वरूप अपना इष्ट है। सम्यक्ज्ञान के द्वारा दर्शनोपयोग को शुद्ध करके द्रव्यदृष्टि बनाना चाहिये, इसके विपरीत यदि दर्शनोपयोग को संसारी भावों में लगाया तो इससे दर्शनावरण का बंध होगा व संसार में कष्ट उठाना पड़ेगा।

दर्शनोपयोग यद्यपि निराकार निर्विकल्प है तथापि वह रूपी और अरूपी दोनों पदार्थों को देखता है, अपना स्वरूप रूपातीत निर्मल और ममल स्वभावी है, इसी में दर्शनोपयोग के लगने से मुक्ति की प्राप्ति होती है। यदि शरीरादि को इष्ट मानकर इनके स्वभाव को देखने में दर्शनोपयोग को लगाया तो दर्शनावरण कर्म का बंध होकर अनंत संसार भ्रमण करना पड़ेगा। मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है, श्रुतज्ञान से शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है, यह मतिज्ञान दर्शनोपयोग पूर्वक होता है। अध्यात्म शास्त्र सुनने, विचारने व मनन करने की रुचि होते ही इन्द्रियों से व मन से काम लिया जाता है तब दर्शनोपयोग प्रथम सहकारी है।

सम्यक्दर्शन पूर्वक सम्यक्ज्ञान होने पर दर्शनोपयोग की शुद्धि द्रव्यदृष्टि द्वारा की जाती है, जिससे रूपी-अरूपी पदार्थ का भ्रम भेद मिट जाता है। वस्तु स्वरूप जानने पर ममल स्वभाव ही दिखता है, इसी से सारे कर्म क्षय होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है।

जब शुद्धात्म स्वरूप के अनुभव में उपयोग तन्मय होता है तब कर्मों का करने वाला अज्ञान भाव नहीं है। जब इसके विपरीत होता है अर्थात् संसार शरीरादि की तरफ उपयोग लगता है तब जीव का उपयोग अज्ञान भाव के कारण कर्मों को बांधने वाला होता है।

प्रश्न - इतनी सूक्ष्म दृष्टि के लिये क्या करना चाहिये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

इस्ट संजोयं दिस्टं, इस्टं षिपिऊन कम्म तिविहेन।

जदि अनिस्ट दिस्ट सहकारं, दंसन आवरन वितरं पत्तं ॥ ३७१ ॥

अन्वयार्थ - (इस्ट संजोयं दिस्टं) दृष्टि में इष्ट निज स्वरूप को ही संजोओ अर्थात् अपने ममल स्वभाव को ही निरंतर देखो (इस्टं षिपिऊन कम्म तिविहेन) अपने इष्ट की दृष्टि होने से तीनों प्रकार के कर्म क्षय हो जाते हैं (जदि अनिस्ट दिस्ट सहकारं) यदि दृष्टि में अनिष्ट का सहकार किया अर्थात् पर पर्याय संसार शरीरादि को देखा तो (दंसन आवरन वितरं पत्तं) दर्शनावरण कर्म का बंध होकर व्यंतर आदि देवगति में जाना पड़ेगा क्योंकि बाहर में त्यागी व्रती संयमी बने बैठे हो।

विशेषार्थ - आत्म तत्त्व तो अत्यंत सूक्ष्म है, जो मन वाणी इन्द्रियों के परे अगोचर है इसके लिये तो अपनी दृष्टि को सूक्ष्म करना होगा अर्थात् इन सब पर पर्याय से हटाकर अत्यंत सूक्ष्म निज शुद्धात्मा को अनुभव में लेना होगा। ऐसे अपने इष्ट की दृष्टि होने से तीनों प्रकार के कर्म क्षय हो जाते हैं। यदि दृष्टि में अनिष्ट का सहकार किया अर्थात् पर पर्याय संसार शरीरादि को देखा तो भले ही बाह्य में व्रत संयम का पालन कर रहे हो, त्यागी साधु बने हो परंतु विपरीत दृष्टि होने से दर्शनावरण कर्म का बंध होकर व्यंतर आदि देवगति में जाना पड़ेगा।

जब जीव निज अतीन्द्रिय आनंद स्वभाव का अनुभव करने में समर्थ होता है तब समस्त जगत का साक्षी होता है, पर वस्तु मेरी है और मैं उसका हूँ, ऐसी मान्यता छूट गई है तब सकल परद्रव्यों का ज्ञायक होता है। परमात्मा हों तो भी मैं तो उनका जानने वाला हूँ और स्त्री पुत्रादि हों, उनका भी मैं जानने वाला हूँ, वे कोई मेरे नहीं हैं।

मेरा क्या है ? कि ज्ञान और आनंद स्वरूप वह मैं हूँ, इस प्रकार निज स्वरूप का स्वयं के द्वारा अनुभव करता है और निज वस्तु से भिन्न वस्तुओं का ज्ञान रहता है तथा त्रिविध योग से जब अपने इष्ट निज शुद्धात्म स्वरूप में लीन होता है तब तीनों प्रकार के कर्म क्षय हो जाते हैं।

जो राग से एकता तोड़कर निज स्वरूप को दृष्टि में ले व अनुभव करे, वह अंतरंग में साधु है। बाह्य में वस्त्र त्याग दे, पंच महाव्रत का पालन करे और दृष्टि शरीरादि संयोगी पर्याय पर रहे तो वह दर्शनावरण कर्म का बंधकर

व्यंतर आदि कुदेव योनि में जायेगा ।

ज्ञान, संयम आत्माश्रित हैं, पराश्रित नहीं, यह जानते हुए ज्ञानी नित्य सहज ज्ञानपुंज स्वभाव में स्वावलंबन से स्थिर रहते हैं । भगवान आत्मा सदा अंतर्मुख है । अति सूक्ष्म, अपूर्व, निरंजन और निज बोध का आधारभूत ऐसा कारण परमात्मा है । उसका सर्वथा, सहज अंतर्मुख, अवलोकन द्वारा मुनिराज जो अनुभव करते हैं, उसे भगवान ने संवर और आलोचना कहा है ।

प्रश्न - दर्शनोपयोग की सही स्थिति क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

दंसन परिनै उत्तं, अनंत चतुष्टै ममल सहकारं ।

आनन्दं परमानन्दं, दंसन धरनं च मुक्ति गमनं च ॥ ३७२ ॥

अन्वयार्थ - (दंसन परिनै उत्तं) दर्शनोपयोग के परिणामन को कहते हैं (अनंत चतुष्टै ममल सहकारं) ममल स्वभाव में रत होने से अनंत चतुष्टय स्वभाव अरिहंत पद की प्राप्ति होती है (आनन्दं परमानन्दं) हमेशा आनंद परमानंद में रहते हैं (दंसन धरनं च मुक्ति गमनं च) दर्शनोपयोग की सही स्थिति मोक्ष गमन का हेतु है ।

विशेषार्थ - सम्यक्दर्शन बिना ज्ञान नहीं, ज्ञान बिना चारित्र नहीं, चारित्र बिना ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय नहीं, कर्मों के क्षय बिना अरिहंत परमात्मा पद नहीं और परमात्म पद बिना संसार जन्म-मरण परिभ्रमण का अंत नहीं ।

दर्शनोपयोग सम्यक्चारित्र की स्थिति का मूल आधार है । दर्शनोपयोग का पर पर्याय की तरफ होना ही कर्माश्रव का कारण है । दर्शनोपयोग का स्व स्वरूप की तरफ होना कर्मों के संवर और निर्जरा का कारण है तथा स्व स्वभाव ममल स्वभाव में रत होने, एक मुहूर्त अड़तालीस मिनिट एकाग्र लीन हो जाने से ही सारे घातिया कर्मों का क्षय और अनंत चतुष्टय स्वरूप अरिहंत परमात्म पद की प्राप्ति हो जाती है, जहाँ हमेशा आनंद परमानंद में रहते हैं और इसी से मोक्ष सिद्ध पद की प्राप्ति होती है ।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म का बंध दसवें गुणस्थान तक होता है और उदय बारहवें गुणस्थान तक चलता है । मोहनीय कर्म के क्षय होने के बाद ही इन ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म का क्षय होता है तभी केवलज्ञान

प्रगट होता है ।

आत्मा निश्चय नय से भावप्राणों को और व्यवहार नय से द्रव्यप्राणों को धारण करने से जीव है । चिदात्मक अथवा चित् शक्ति से युक्त होने से चेतयिता है, उपयोग से विशिष्ट है । अपने भाव कर्मों और द्रव्यकर्मों के आश्रव बंध और निर्जरा मोक्ष में स्वयं समर्थ होने से प्रभु है । निश्चय नय से पौद्गलिक कर्मों के निमित्त से होने वाले आत्म परिणामों का और व्यवहार नय से आत्म परिणामों के निमित्त से होने वाले पौद्गलिक कर्मों का कर्ता है । निश्चय नय से शुभ-अशुभ कर्मों के निमित्त से होने वाले सुख-दुःख परिणामों का और व्यवहार नय से शुभ-अशुभ कर्मों के द्वारा निष्पादित इष्ट-अनिष्ट विषयों का भोक्ता है । निश्चय नय से लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशी होने पर भी नामकर्म के द्वारा रचित छोटे या बड़े शरीर में रहने से व्यवहार नय से शरीर के बराबर है ।

व्यवहार नय से कर्मों के साथ एकत्व होने से मूर्त होते हुए भी मूर्त नहीं है । निश्चय नय से पुद्गल परिणामों के अनुरूप चैतन्य परिणाम रूप भावकर्म से तथा व्यवहार नय से चैतन्य परिणामों के अनुरूप द्रव्य कर्मों से संयुक्त है ।

संसारी जीव जब कर्म मल से छूट जाता है तो ऊपर लोक के अंत में जाकर सर्वज्ञ सर्वदर्शी अतीन्द्रिय अनंत सुख को प्राप्त करता है ।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय घाति कर्म हैं क्योंकि जीव के गुणों का घात करते हैं, इनमें ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की नौ, मोहनीय की अड़ार्ध और अंतराय कर्म की पांच उत्तर प्रकृतियाँ होती हैं यह सैंतालीस प्रकृतियाँ हैं ।

केवल ज्ञानावरण, केवल दर्शनावरण तथा पांचों निद्रा, अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानवरण, प्रत्याख्यानवरण, क्रोध, मान, माया, लोभ यह बारह कषाय और मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व यह इक्कीस प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं । सम्यक्मिथ्यात्व का बंध नहीं होता, उदय और सत्त्व होता है ।

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय यह चार ज्ञानावरण, चक्षु, अचक्षु, अवधि यह तीन दर्शनावरण, सम्यक्त्व प्रकृति, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ यह चार कषाय और हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद यह नौ नोकषाय, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य यह पांच अंतराय यह कुल छब्बीस देशघाती प्रकृतियाँ हैं ।

जो कर्म आत्मा के ज्ञानादि अनुजीवी गुणों के घात में निमित्त हों उन्हें घातिया कर्म कहते हैं, इनमें मोहनीय कर्म सबका राजा है।

प्रश्न - ज्ञानोपयोग से ज्ञानावरण और दर्शनोपयोग से दर्शनावरण कर्म का बंध और क्षय होता है ? फिर यह मोहनीय कर्म क्या है, इसका बंध और क्षय कैसे होता है ?

समाधान - जिस कर्म के उदय से अन्य पदार्थों में मोहित हो जायें, अपने शुद्ध स्वरूप का भान न कर सकें और न स्वरूप में स्थिर हो सकें उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। अपने आत्म स्वरूप की विस्मृति रूप अज्ञान दशा में पर में अपनत्व मानना मोह है, इसी से राग-द्वेष होते हैं, जो मोहनीय कर्म बंध के कारण हैं। जो उपयोगमय जीव विविध विषयों को प्राप्त कर मोह करता है, द्वेष करता है, राग करता है वह उनके साथ बंध को प्राप्त होता है।

जीव जिस भाव से आगत पदार्थ को देखता जानता है, उसी से राग करने लगता है, ऐसा करने से कर्म को बांधता है। स्पर्श आदि से पुद्गलों का बंध होता है और राग आदि से जीव का बंध होता है और जीव तथा पुद्गलों के परस्पर परिणाम के निमित्त से जो परस्पर में विशिष्टतर अवगाह है वह पुद्गल जीवात्मक बंध कहा है।

रागी आत्मा नवीन कर्मों को बांधता है और राग रहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है। जिस जीव को भेदज्ञान सम्यक्दर्शन पूर्वक निज सत्ता स्वरूप आत्मतत्त्व का बोध हो जाता है तथा अपने परमात्म स्वरूप का बहुमान होने पर, पर पदार्थों से दृष्टि हटाकर अपने स्वभाव में लीन होता है, वह इस मोहनीय कर्म को क्षयकर अनंत चतुष्टयमयी निज परमात्म पद को प्राप्त करता है।

इसके लिये निम्न प्रकार समझा जा सकता है -

आत्मा के स्वाभाविक गुण प्रमुख अनंत चतुष्टय -

अनंत चतुष्टय	-	अनंतदर्शन	अनंतज्ञान	अनंतसुख	अनंतवीर्य
शुद्ध पर्याय	-	केवलदर्शन	केवलज्ञान	परमानंद	परमात्म शक्ति
कर्मावरण	-	दर्शनावरण	ज्ञानावरण	मोहनीय	अन्तराय
अशुद्ध पर्याय	-	९ भेदरूप	५ भेदरूप	२८ भेदरूप	५ भेदरूप
वर्तमान जीव की स्थिति	-	चित्त	बुद्धि	मन	अहं
(अंतःकरण चतुष्टय)					
इनके कार्य	-	धारणा	निर्णय	मान्यता	विभ्रम

अब यहाँ से पलटकर ऊर्ध्वमुखी होने पर इनसे छुटकारा हो सकता है। मान्यता रूपी मन को यदि अपने परमात्म स्वरूप में लगाया जाये तो मोहनीय कर्म का क्षय होकर परमात्म पद की प्राप्ति होगी और यदि संसारी व्यामोह में फंसा रहा तो संसार परिभ्रमण ही करना होगा।

मोह सरीखा प्रबल शत्रु यदि, इस जग बीच न दिखलाये।

तो यह अपना आतम सचमुच, परमात्म ही बन जाये ॥

लेकिन मोहबली ने डाली, हमको ऐसी हथकड़ियां।

दूट नहीं पाती हैं हमसे, चारों गतियों की कड़ियां ॥

मोह करो तो रत्नत्रय से, रे तप से तुम मोह करो।

मोह करो अपने आतम से, परमात्म से मोह करो ॥

लेकिन यदि अंधे होकर तुम, रागों में फंस जाओगे।

जन्म मरण की हथकड़ियों से, कभी उबर न पाओगे ॥

प्रश्न - इस मोह की धारा को कैसे मोड़ा जाये, जिससे संसार परिभ्रमण से बच सकें ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

मोहं पमान उत्तं, अप्पा परमप्प लोक लोकं च।

जदि सरनि भाव मोहंधं, चौ गइ संसार सरनि मोहं च ॥ ३७३ ॥

मोहं च परम मोहं, न्यानं अन्मोय मोह सहकारं।

जदि कल इस्ट विमोहं, पुगल सभाव नंतनंताई ॥ ३७४ ॥

अन्वयार्थ - (मोहं पमान उत्तं) मोह के प्रमाण को कहते हैं, जैसा मानो वैसा होवे (अप्पा परमप्प लोक लोकं च) मैं आत्मा परमात्मा लोकालोक को देखने-जानने वाला ज्ञायक स्वभावी भगवान आत्मा हूँ ऐसा मानो तो संसार परिभ्रमण से छूट जाओ (जदि सरनि भाव मोहंधं) यदि परिभ्रमण के भावों में मोहांध होते हो अर्थात् धन शरीर परिवार में अपनत्व, मोह करते हो तो (चौ गइ संसार सरनि मोहं च) इस मोह से संसार में चारों गतियों में भ्रमण करना पड़ेगा।

(मोहं च परम मोहं) मोह करना है तो खूब मोह करो, मोह और परम मोह करो (न्यानं अन्मोय मोह सहकारं) बस अपने ज्ञान स्वभाव का ही मोह करो कि मैं केवलज्ञान स्वभावी सर्वज्ञ परमात्मा हूँ। ज्ञानमात्र चेतन सत्ता

अरस अरूपी ज्ञानानंद स्वभावी परमात्मा हूँ, ऐसे मोह के सहकार से परमात्म पद की प्राप्ति होती है (जदि कल इस्ट विमोहं) यदि शरीर की इष्टता, संसारी दृष्टि रही, शरीरादि को अपना माना, इनमें मोहित रहे तो (पुगल सभाव नंतनंताई) अनंतानंत काल तक पुद्गल स्वभाव में ही रहना पड़ेगा, पृथ्वी आदि स्थावर काय मिलेगी।

विशेषार्थ - मोह-प्रेम, स्नेह, मान्यता, अपनत्व, इष्टता को भी कहते हैं। अज्ञान जनित मोह संसार परिभ्रमण का कारण है, ज्ञान पूर्वक अपने आत्म स्वभाव का बहुमान, उत्साह, प्रेम, इष्टता मुक्ति का कारण है।

मोह का प्रमाण यह है कि जैसा मानो, वैसा होवे। सम्यक्दर्शन ज्ञान पूर्वक अपने आत्मस्वरूप का बहुमान होवे कि मैं आत्मा परमात्मा लोकालोक प्रकाशक देवाधिदेव अनंत चतुष्टय का धारी केवलज्ञान स्वभावी सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा हूँ और इसी मान्यता में दृढ़ स्थित हो जाओ तो केवलज्ञान अरिहंत पद प्रगट हो जावे; यदि संसारी वस्तु शरीर धन परिवार आदि में मोह किया, इनको इष्ट माना तो चारों गति रूप संसार में ही परिभ्रमण करना होगा।

आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान ज्ञेय प्रमाण कहा है तथा ज्ञेय लोकालोक है अतः ज्ञान सर्वव्यापी है। जिनदेव सर्वव्यापी हैं अतः जगत के सब पदार्थ जिनवर परमात्मा में समाये हुए हैं; क्योंकि परमात्मा ज्ञानमय हैं और वे सर्व पदार्थ ज्ञान के विषय हैं।

यह आत्मा कर्मों से रहित हुआ जिस कारण से लोक और अलोक को भी जानता है, उस कारण से उसे सर्वगत परमात्मा कहते हैं।

मैं एक अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है, मैं निश्चय दृष्टि से शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, योगियों के ज्ञानगम्य हूँ, कर्मों के संयोग से होने वाले सब भाव मुझसे सर्वथा भिन्न हैं।

जो परमात्मा है वही मैं हूँ, जो मैं हूँ वही परमात्मा है इसलिये मैं ही मेरे द्वारा उपासना किये जाने योग्य हूँ, दूसरा कोई मेरा उपास्य नहीं है, इस प्रकार का मोह और परममोह मुक्ति का कारण है। शरीरों में आत्मबुद्धि होने से मेरा पुत्र, मेरी पत्नि इत्यादि कल्पनायें उत्पन्न होती हैं। शरीर में आत्म बुद्धि का होना ही संसार के दुःख का मूल है अतः उसे छोड़कर बाह्य विषयों में, इन्द्रियों के व्यापार को रोकते हुए अंतरंग में अर्थात् अपनी आत्मा में प्रवेश करो।

मोहनीय कर्म के उदय रहते हुए इस जीव को रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती है, दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय के क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व, वीतराग यथाख्यात चारित्र होता है तब ही अन्य ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय कर्म का क्षय होकर परमात्म पद प्रगट होता है।

यह मोह ही आत्मीक स्वभाव का मुख्य घातक है, संसार का मोह, इन्द्रिय विषयों का मोह, प्रतिष्ठा पाने का मोह, स्त्री, पुत्र, धनादि का मोह इस जीव को बावला बना देता है जिससे यह चारों ही गतियों में बार-बार भ्रमण किया करता है।

मोह भी दो प्रकार का है - १. प्रशस्त मोह, २. अप्रशस्त मोह।

प्रशस्त मोह उसे कहते हैं, जो सम्यक्दर्शन सहित अपने आत्म कल्याण की भावना में रत रहता है। शुद्धोपयोग की साधना और वैसे ही निमित्तों में प्रेम करता है, अपना पूरा उपयोग धर्म ध्यान में लगाता है।

अप्रशस्त मोह उसे कहते हैं जिससे शरीर, धन, परिवार, संसार के विषय भोगों में मोह किया जावे, शरीररूप ही मैं हूँ ऐसा मानकर मिथ्यात्व कषाय आदि में लगा रहे यह दुर्गति का कारण है।

प्रश्न - इस मोह की स्थिति क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

मोहं दंसन सुद्धं, सुद्ध न्यानं च कम्म षिपिऊनं ।

जदि पज्जय मोह सहावं, पज्जायं लिति नंतनंताइं ॥ ३७५ ॥

मोहं न्यान मइओ, इस्टं मोहं च विगत संसारे ।

जदि कल मोह सहावं, कल सहकार नंत संसारे ॥ ३७६ ॥

अन्वयार्थ - (मोहं दंसन सुद्धं) अपने आत्म स्वरूप का मोह कि मेरा आत्मा दर्शन से शुद्ध है (सुद्ध न्यानं च कम्म षिपिऊनं) ज्ञान से शुद्ध है, इस शुद्ध दर्शन, शुद्ध ज्ञान के मोह से सारे कर्म क्षय हो जाते हैं और अनंत चतुष्टयमयी परमात्म स्वरूप केवलज्ञान प्रगट हो जाता है (जदि पज्जय मोह सहावं) यदि पर्याय के स्वभाव में मोह किया अर्थात् संसार, शरीर, धन, परिवार के मोह में फंसे रहे तो (पज्जायं लिति नंतनंताइं) अनंतानंत पर्यायों को धारण करना पड़ेगा।

(मोहं न्यान मइओ) ज्ञानमयी निज शुद्धात्म स्वभाव का मोह अर्थात्

मेरा केवलज्ञान स्वभाव है (इस्टं मोहं च विगत संसारे) ऐसे इष्ट निज कारण परमात्मा का मोह संसार से छुड़ाने वाला है (जदि कल मोह सहावं) यदि शरीर के मोह में लिप्त रहे (कल सहकार नंत संसारे) तो इस शरीर के मोह से अनंत संसार में रुलना पड़ेगा।

विशेषार्थ - मोह की स्थिति अंतर्मुहूर्त है, इससे चालीस और सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की मोहनीय कर्म की स्थिति बंधती है। मोह की पर्याय एक समय की होती है। यदि अपने शुद्ध दर्शन, शुद्ध ज्ञान स्वभावी आत्मा का मोह है, इसकी इष्टता, इसका प्रेम है और इसमें रति होती है तो अड़तालीस मिनिट (एक मुहूर्त) में सारे कर्म क्षय होकर केवलज्ञान प्रगट होता है, संसार के जन्म-मरण का चक्र छूट जाता है और यदि स्वभाव के विपरीत पर्याय का आकर्षण, मोह रहा, वर्तमान पर्याय को इष्ट हितकारी माना तो अनंतानंत पर्यायों को धारण करना पड़ेगा, अनेक पर्यायों में जन्म लेना पड़ेगा।

ज्ञानमयी निज शुद्धात्म स्वभाव का मोह, अपने इष्ट निज कारण परमात्मा ध्रुव स्वभाव की प्रियता, रुचि, लगन होकर उसमें रति होने से संसार का परिभ्रमण छूट जाता है, स्वयं अरिहंत सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं। यदि शरीरादि संयोगी पर्याय का मोह रहा तो अनंत संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा। यह सब दृष्टि का विषय और मान्यता का खेल है, क्या चाहिये, क्या होना है? सारी शक्ति अपने हाथ में है। एक तरफ मुक्ति, एक तरफ संसार है, जिस तरफ दृष्टि घुमाओ, उस तरफ का ही सारा खेल चलता है। यह सूक्ष्म विषय अपने को ही देखना समझना है, इसमें पर की अपेक्षा नहीं है।

सम्यक्दर्शन होने पर सबसे पहले दर्शन मोहनीय ही मारा जाता है, एक समय में ही मिथ्यात्व मोहनीय समाप्त हो जाता है।

शुद्ध निश्चय नय से जीव के राग नहीं है, द्वेष नहीं है, मोह नहीं है, प्रत्यय मिथ्यात्व आदि नहीं है, कर्म और नो कर्म भी नहीं हैं। निश्चय दृष्टि से वह कर्म और नोकर्मों से रहित है। शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, केवलज्ञान आदि गुणों से समृद्ध है, सिद्ध है, शुद्ध है, नित्य है, एक है, आलम्ब रहित है वही मैं हूँ। मैं सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, अनंत ज्ञान आदि गुणों से समृद्ध हूँ। शरीर के बराबर हूँ, नित्य हूँ, असंख्यात प्रदेशी हूँ, अमूर्त हूँ। जो भव्य जीव बारंबार इस आत्मतत्त्व का अभ्यास करते हैं, कथन करते हैं, विचार करते हैं, भावना करते हैं वे शीघ्र ही अविनाशी, संपूर्ण अनंत सुख से संयुक्त नौ क्षायिक लब्धि

रूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

जिसको आत्मा के विषय में विशिष्ट भ्रम होने से शरीर आदि में आत्म बुद्धि है उसे बहिरात्मा जानो। मोहमयी निद्रा से उसकी चेतना लुप्त हो गई है, वह संसार में ही परिभ्रमण करता है।

मोक्ष से प्रेम व मोक्षमार्ग जो निश्चय रत्नत्रयमयी आत्मानुभूति है, उससे प्रेम (मोह) जिसका फल संसार का नाश है। यदि शरीर का मोह हो, पर्याय बुद्धि धारकर शरीर आदि सुख के लिये मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य का सेवन करे तो ऐसा जीव मोहनीय कर्म को बांधता है जिससे अनंत संसार में रुलना पड़ता है।

शरीर, धन, सुख-दुःख अथवा शत्रु-मित्र जन यह कुछ भी जीव के नहीं हैं। उपयोगात्मक आत्मा ध्रुव है, जो ऐसा जानकर विशुद्ध आत्मा होता हुआ, परम आत्मा का ध्यान करता है, वह मोह का क्षय करता है।

जो मोह ग्रन्थि को नष्ट करके, राग-द्वेष का क्षय करके, सुख-दुःख में सम होता हुआ श्रमणता में परिणमित होता है वह अक्षय सुख को प्राप्त करता है।

प्रश्न - इस अक्षय सुख को प्राप्त करने का उपाय क्या है ?

इसके समाधान में सदगुरु आगे गाथा कहते हैं -

मोहं दंसन न्यानं, चरनं तव सहाव इस्टं च ।

जदि अनिस्ट मोहंधं, अनिस्ट संसार सरनि वीयम्मि ॥ ३७७ ॥

मोहं परमप्पानं, मोहं न्यान परंपराइ सौष्याइं ।

जदि मोहं पज्जावं, पज्जय रत्तं संसार दुष्य वीयम्मि ॥ ३७८ ॥

अन्वयार्थ - (मोहं दंसन न्यानं) सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्ज्ञान की इष्टता, मोह (चरनं तव सहाव इस्टं च) सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप तथा अपने आत्म स्वभाव का प्रेम परम हितकारी है (जदि अनिस्ट मोहंधं) यदि आत्मा के अहितकारी, अनिष्ट कार्यों में मोहांध हो जावे तो (अनिस्ट संसार सरनि वीयम्मि) इस दुःखदायी अनिष्ट संसार भ्रमण का बीज बोना है।

(मोहं परमप्पानं) अपने परमात्म स्वरूप का मोह (मोहं न्यान परंपराइ सौष्याइं) केवलज्ञान स्वभाव का मोह परंपरा से अक्षय सुख को देने वाला है (जदि मोहं पज्जावं) यदि पर्याय में मोह किया तो (पज्जय रत्तं संसार दुष्य

वीयम्भि) पर्याय में रत होने से संसार के दुःख का बीज बोना है फिर अक्षय सुख मिलने वाला नहीं है।

विशेषार्थ - सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप यह चार आराधनायें मोक्षमार्ग स्वरूप अक्षय सुख को देने वाली हैं, जो भव्यजीव अपने स्वभाव की इष्टता से इन चार आराधनाओं का आराधन करता है, वह अक्षय सुख पाता है, यदि संसार की वासना के मोह में अंधा हो गया तो संसार भ्रमण का ही बीज बोना है।

परमात्म पद, सिद्धपद, केवलज्ञान स्वभाव, स्व स्वरूप का मोह यद्यपि शुभराग है परंतु परंपरा शुद्धोपयोगमयी वीतराग भाव में पहुंचाने वाला परम कल्याणकारी परमसुख को देने वाला है; जबकि शरीर का राग मोहांध बनाकर विषय व कषायों में उलझाकर हिंसक कार्यों को करने वाला है जो संसार के दुःखों का बीज है।

जो आत्म स्वरूप को नहीं जानता उसकी आत्मा में अवस्थिति नहीं हो सकती और ऐसा होने से प्राणी शरीर और आत्मा के स्वरूप को भिन्न करने में मूढ़ता को प्राप्त होता है अर्थात् शरीर को ही आत्मा मान लेता है।

शरीर और आत्मा का भेदज्ञान न होने से आत्मा की उपलब्धि नहीं होती, आत्मा की उपलब्धि न होने से आत्मज्ञान भी नहीं होता, फिर सुख कैसे मिले ?

अतः मुमुक्षुजनों को सबसे पहले समस्त पर पदार्थों की पर्यायों के कल्पना जाल से रहित आत्मा का सम्यक् रूप से निश्चय करना चाहिये। इसके लिये सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप रूप चार आराधनाओं का आराधन करना चाहिये। इसी से अक्षय सुख, परम सुख, परमानंद की प्राप्ति होती है।

जो मोह मल का क्षय करके, विषयों से विरक्त होकर, मन का निरोध करके स्वभाव में समवस्थित है, वह आत्मा का ध्यान करने वाला है, वही परम सुख को प्राप्त होता है। अपने आत्मा के विचार में निपुण राग रहित जीवों के द्वारा निर्दोष श्रुतज्ञान से भी आत्मा केवलज्ञान के समान जाना जाता है। इन्द्रियों को अपने विषयों से रोककर आत्म ध्यान का अभ्यास करने वाले निर्विकल्प चित्त ध्याता को आत्मा का वह रूप जो परमसुख परमशांति परमानंदमयी रत्नत्रय स्वरूप है, वस्तुतः

स्पष्ट प्रतिभासित होता है, साक्षात् अनुभव में आता है।

प्रश्न - ऐसा कैसे अनुभव में आता होगा ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

आनन्दं परमानन्दं, परमप्पा परम भाव दरसेई।

हितमित न्यान सहावं, ममल सहावेन निव्वुए जंति ॥ ३७९ ॥

अन्वयार्थ - (आनन्दं परमानन्दं) आनंद ही आनंद परमानंद (परमप्पा परम भाव दरसेई) परमात्मा परमभाव दिखता है, अनुभव में आता है (हितमित न्यान सहावं) यही इष्ट प्रिय है, ऐसे ज्ञान स्वभाव की लगन रुचि होने से (ममल सहावेन निव्वुए जंति) ममल स्वभाव में लीन होने से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ - अलौकिक, अवक्तव्य, अतीन्द्रिय अनुभूति का विषय इतना ही कहा जा सकता है कि उस अनुभव में आनंद ही आनंद परमानंद होता है। अपना परमात्म स्वरूप परम पारिणामिक भाव दिखाई देता है, यही इष्ट और प्रिय है, ऐसे ज्ञान स्वभाव की लगन रुचि होने से ममल स्वभाव में लीन रहने पर निर्वाण की प्राप्ति होती है।

स्वानुभूति के काल में अनंत गुण सागर आत्मा अपने आनंद आदि गुणों की चमत्कारिक स्वाभाविक पर्यायों में भ्रमण करता हुआ प्रगट होता है वह निर्विकल्प दशा अद्भुत है, वचनातीत है ऐसी दशा की स्थिरता होने पर निर्वाण की प्राप्ति होती है।

पूर्ण गुणों से अभेद ऐसे पूर्ण आत्म तत्त्व पर दृष्टि करने से उसी के आलंबन से ऐसी पूर्णता प्रगट होती है। अपने परमात्म स्वरूप परम पारिणामिक भाव का दर्शन होता है, अतीन्द्रिय आनंद की धारा बहती है। पूर्ण चैतन्य चन्द्र को स्थिरता पूर्वक निहारने, अपने ममल स्वभाव में लीन होने से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

अनिन्द्रिय और इन्द्रियातीत हुआ आत्मा सर्व बाधा रहित और सम्पूर्ण आत्मा में सर्व प्रकार के परिपूर्ण सौख्य तथा ज्ञान से समृद्ध वर्तता हुआ, परम सुख को प्राप्त करता है।

प्रश्न - ऐसे आनंद परमानंद को प्राप्त करने के लिये क्या करना चाहिये ?

समाधान - सर्व तत्त्व ज्ञान का सिरमौर मुकुटमणि जो शुद्ध द्रव्य सामान्य अर्थात् निज परम पारिणामिक भाव अर्थात् ज्ञायक स्वभावी शुद्धात्म तत्त्व वह स्वानुभूति का आधार है, सम्यक्दर्शन का आश्रय है, मोक्षमार्ग का आलम्बन है, सर्व शुद्ध भावों का नाथ है, उसकी दिव्य महिमा हृदय में सर्वाधिक रूप से अंकित करना योग्य है। ऐसे निज शुद्धात्म द्रव्य सामान्य का आश्रय करने से ही अतीन्द्रिय आनंदमय स्वानुभूति प्राप्त होती है।

संयोगों का लक्ष्य छोड़कर, निर्विकल्प एक रूप वस्तु ध्रुव स्वभाव उसका आश्रय करने, गुण-गुणी के भेद का भी लक्ष्य छोड़कर एक रूप गुणी की दृष्टि करने पर समता होगी, आनंद होगा, दुःख का नाश होगा। एक चैतन्य वस्तु ध्रुव है, उसमें दृष्टि देने से मुक्ति का मार्ग प्रगट होगा, जहाँ आनंद ही आनंद परमानंद है।

प्रश्न - अभी यह स्थिति बनती नहीं है, इसके लिये क्या करें ?

समाधान - साधक दशा तो अधूरी है, साधक को जब तक पूर्ण वीतरागता न हो और चैतन्य आनंद धाम में पूर्ण रूप से सदा के लिये विराजमान न हो जाये तब तक पुरुषार्थ, सतत् प्रयास, अभ्यास करना होता है।

साधक दशा में भूमिकानुसार देव गुरु की महिमा के, श्रुत चिंतन के, अणुव्रत-महाव्रत इत्यादि के विकल्प होते हैं परंतु वे भी ज्ञायक परिणति को भाररूप हैं तो फिर अव्रत दशा के पाप, विषय, कषाय रूप परिणाम कैसे रुचेंगे ? अपूर्ण दशा में वे विकल्प होते हैं, स्वरूप में एकाग्र होने पर निर्विकल्प स्वरूप में निवास होने पर वे सब छूट जाते हैं। पूर्ण वीतराग दशा होने पर सर्व प्रकार के राग का क्षय होता है तभी यह आनंद परमानंद दशा बनती है। यदि विभाव से छूटकर मुक्त दशा प्राप्त करनी हो तो चैतन्य के अभेद स्वरूप ममल स्वभाव को ग्रहण करो। द्रव्य दृष्टि सर्व प्रकार की पर्याय को दूर रखकर एक निरपेक्ष सामान्य स्वरूप ध्रुव तत्त्व को ग्रहण करती है। द्रव्य दृष्टि में गुणभेद भी नहीं होते, ऐसी शुद्ध दृष्टि प्रगट करो।

जिसको द्रव्यदृष्टि यथार्थ प्रगट होती है, उसे दृष्टि के जोर में अकेला ध्रुव, ध्रुव तत्त्व, ममल स्वभाव ही भासता है। शरीरादि पर्यायें कुछ भासित नहीं होती। भेदज्ञान की परिणति ऐसी दृढ़ हो जाती है कि स्वप्न में भी आत्मा शरीर से भिन्न भासता है। दिन को जाग्रत दशा में तो ज्ञायक निराला रहता है परंतु रात को नींद में भी आत्मा ज्ञायक निराला ही रहता है। ऐसी स्थिति

बनने और इसमें स्थित होने पर आनंद ही आनंद परमानंद होता है।

प्रश्न - इसमें बाधक कारण क्या है ?

समाधान - अपना पुरुषार्थ, प्रमाद, शिथिलता, रागभाव बाधक कारण है।

प्रश्न - इसमें अंतराय कर्म भी तो बाधक होता होगा ?

समाधान - अंतराय कर्म किसे कहते हैं ? पहले यह समझ लो, अपने ज्ञान स्वभाव की साधना में अंतर डालना, प्रमाद करना, पुरुषार्थ हीन रहना ही अंतराय कर्म है और यही संसार परिभ्रमण का कारण है। घाति कर्म रूप अंतराय कर्म जिसके पांच भेद हैं - दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य। यह तो बाह्य निमित्त हैं, इनसे आत्म साधना में कोई अंतर नहीं पड़ता, प्रमुख तो अपने ज्ञान उपयोग में अंतर डालना, पर पर्याय शरीरादि में लगना ही अंतराय कर्म है जो अनंत संसार का कारण है।

प्रश्न - ज्ञान अंतर क्या है, इसका परिणाम क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

न्यानं च न्यान रूवं, न्यान सहावेन दंसनं ममलं ।

अन्मोयं पज्जावं, न्यानंतरं च नरय वीयम्मि ॥ ३८० ॥

न्यानं न्यान सुसमयं, न्यानी अन्मोय ममल सहकारं ।

जदि पज्जय अन्मोयं, अन्तर आवरन दुग्गए पत्तं ॥ ३८१ ॥

अन्वयार्थ - (न्यानं च न्यान रूवं) ज्ञान, ज्ञान स्वरूप है अर्थात् अपने आत्म स्वरूप का चिंतन-मनन अनुभव करना ही ज्ञान है (न्यान सहावेन दंसनं ममलं) ज्ञान स्वभाव से दर्शन ममल होता है (अन्मोयं पज्जावं) ज्ञानोपयोग स्वभाव साधना में न लगाकर, पर्याय का आश्रय किया अर्थात् पर्याय को जानने लगा (न्यानंतरं च नरय वीयम्मि) यही ज्ञान अंतर है जो अंतराय कर्म का बंध कर नरक का बीज बोना है।

(न्यानं न्यान सुसमयं) ज्ञान से अपने शुद्धात्म स्वरूप का ज्ञान करना (न्यानी अन्मोय ममल सहकारं) ज्ञानी होकर अपने ममल स्वभाव का सहकार करना, अनुमोदना करना (जदि पज्जय अन्मोयं) यदि पर्याय का आलंबन, अनुमोदना की, पर्याय को ही देखने जानने में लगे रहे तो (अन्तर आवरन दुग्गए पत्तं) अंतराय कर्म का आवरण होकर दुर्गति का पात्र बनना पड़ेगा।

विशेषार्थ - आत्मा ज्ञान स्वरूप है और इस ज्ञान स्वरूप आत्मा को ही जाने वही वास्तव में ज्ञान है। सम्यक्ज्ञान प्रगट होने से आत्मा का स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष दर्शन होता है। ममल स्वभाव की अनुभूति में अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आता है, मैं पर को जानता हूँ इसे भ्रांति कहा है, इसे अध्यवसान भी कहते हैं क्योंकि वस्तुतः आत्मज्ञान में पर है ही नहीं। जो पर पर्याय को जानता है वह तो इन्द्रिय ज्ञान है और मैं पर को जानता हूँ, ऐसा माने तो उसे इन्द्रिय ज्ञान में मैं पना हो गया इसलिये यह मिथ्यात्व है, इस प्रकार ज्ञानांतर का अंतर कर, अंतराय कर्मबंध करके अज्ञानी नरक का बीज बोता है।

ज्ञान तो उसे कहते हैं कि जो आत्माश्रित होता है, अतीन्द्रिय अंतर्मुखी होता है कि जिसमें अविनाभावीपने आनंद का स्वाद आता है। अपना ममल स्वभाव प्रगट होता है जो ज्ञानात्मक आत्मा रूप एक अग्र (विषय) को भाता है, वह ज्ञेयभूत अन्य द्रव्य का आश्रय नहीं करता और उसका आश्रय नहीं करके ज्ञानात्मक आत्मज्ञान से पुष्ट वह स्वयमेव ज्ञानमय रहता है फिर वह मोह नहीं करता, राग नहीं करता, द्वेष नहीं करता और ऐसा वर्तता हुआ वह मुक्त ही होता है। यदि आत्मज्ञान का आश्रय न करके पर्याय का आश्रय करता है तो वह ज्ञान में अंतराय डालकर दुर्गति का पात्र होता है।

मन, बुद्धि, अंतःकरण पंचेन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान होता है वह आत्मज्ञान नहीं है, उसे जो अपना ज्ञान मानता है वह अज्ञानी है। जब तक इन्द्रिय ज्ञान में उपादेय बुद्धि है तब तक कर्ता बुद्धि है, यदि इन्द्रिय ज्ञान और पर्याय आदि के साथ एकता है तो संपूर्ण विश्व के साथ एकता है यही संसार परिभ्रमण है।

जो जीव निश्चय से श्रुतज्ञान के द्वारा इस अनुभव गोचर केवल एक शुद्ध आत्मा को स्व सन्मुख होकर जानता है वह ज्ञानी है, ज्ञायक ऐसा नाम भी उसे ज्ञेय को जानने के कारण दिया जाता है क्योंकि ज्ञेय का प्रतिबिम्ब जब झलकता है तब ज्ञान में वैसा ही अनुभव होता है, जानने में आता है तथापि उसे ज्ञेयभूत अशुद्धता नहीं है।

पर पर्याय का ज्ञान करना, उसका आश्रय लेना यह इन्द्रिय ज्ञान परावलंबी और प्रत्येक ज्ञेय के अनुसार परिणमनशील होने से व्याकुल तथा मोह के संपर्क सहित होता है उसके निमित्त से कर्म का बंध होता है जो संसार में दुर्गति का पात्र बनाता है।

प्रश्न - इस ज्ञानोपयोग के लिये क्या करना चाहिये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

न्यानं च सुद्ध भावं, सुद्धं अवयास नन्तनन्ताइं ।

जदि पज्जय सहकारं, पज्जय अन्मोय निगोय वासम्मि ॥ ३८२ ॥

नंत चतुस्तै जाने, न्यानंकुर अन्मोय मिलियं च ।

जदि पज्जाव सुभावं, न्यानं अंतर दुष्य वीयम्मि ॥ ३८३ ॥

अन्वयार्थ - (न्यानं च सुद्ध भावं) ज्ञान का उपयोग शुद्ध स्वभाव के लिये करना चाहिये (सुद्धं अवयास नन्तनन्ताइं) जो अपना त्रिकाली ध्रुव शुद्ध स्वभाव है उसी का बारंबार निरंतर अभ्यास करना चाहिये, इसी से अनंत चतुष्टयमयी केवलज्ञान स्वभाव प्रगट होता है (जदि पज्जय सहकारं) यदि जरा भी पर्याय का सहकार किया (पज्जय अन्मोय निगोय वासम्मि) पर्याय का आलंबन लेने से निगोद में वास करना पड़ता है।

(नंत चतुस्तै जाने) अपने अनंत चतुष्टय स्वरूप को जानो, जो अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य स्वभावी है (न्यानंकुर अन्मोय मिलियं च) आत्मज्ञान रूपी अंकुर जो प्रगट हुआ है इसी का आलंबन रखो और इसी में मिले रहो अर्थात् निरंतर इसी की साधना अभ्यास करते रहो (जदि पज्जाव सुभावं) यदि पर्याय के स्वभाव में लगे तो (न्यानं अंतर दुष्य वीयम्मि) ज्ञान का अंतराय कर दुःख का बीज बोना है।

विशेषार्थ - ज्ञानोपयोग सूक्ष्म दृष्टि का विषय है, दृष्टि शुद्ध स्वभावमय है तो वह ज्ञानमय है, यही कर्म क्षय और मुक्ति का कारण है। यदि दृष्टि पर पर्याय मय है तो वह अज्ञानमय है, यही ज्ञान का अंतर कर्म बंध और संसार का कारण है। एक समय में असंख्यात कर्मों का आस्रव भी होता है और एक समय में ही असंख्यात कर्मों की निर्जरा भी होती है।

केवलज्ञान के द्वारा अनादिनिधन, निष्कारण, असाधारण, स्व संवेद्यमान, चैतन्य सामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतक स्वभाव से एकत्व होने से केवल अकेला, शुद्ध अखंड है, ऐसे शुद्ध स्वभावी आत्मा को आत्मा से आत्मा में अनुभव करना ही ज्ञानोपयोग है, इसी से अनंत चतुष्टयमयी केवलज्ञान स्वभाव प्रगट होता है।

आत्मा ज्ञातृक्रिया का कर्ता है और ज्ञान करण है, ऐसा व्यवहार से भेद

किया जाता है तथापि आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं हैं। ऐसा जानकर इसका निरंतर अभ्यास करना। जिसका न आदि है न अंत है तथा जिसका कोई कारण नहीं और जो अन्य किसी द्रव्य में नहीं है, ऐसे ज्ञान स्वभाव को ही उपादेय करके केवलज्ञान की उत्पत्ति के बीजभूत अंकुर स्वरूप शुक्लध्यान नामक स्वसंवेदन ज्ञान रूप से जब आत्मा परिणमित होता है, तब उसके निमित्त से सर्वघाति कर्मों का क्षय हो जाता है और उस क्षय होने के समय ही आत्मा स्वयमेव अनंत चतुष्टय स्वरूप केवलज्ञान रूप परिणमित होने लगता है ; यदि एक समय के लिये भी ऐसे ज्ञानोपयोग से हटा जाता है और पर पर्याय में लगा जाता है तो यह ज्ञान का अंतर, अंतराय अनंत संसार की दुर्गति का पात्र बनाता है।

पर पदार्थों का हीनाधिक ज्ञान आत्मानुभव में प्रयोजनवान नहीं है इसलिये पर द्रव्य के अधिक ज्ञान को करने की आकुलता छोड़कर आत्म अनुभव करने का अभ्यास कर, उसमें तेरा भला है।

प्रश्न - यह स्थिति कैसे बने ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

पज्जावं पर पिच्छं, पज्जाव नन्त विषेस संदिद्धं।

पज्जावं विरयन्तो, न्यानं अन्मोय कम्म संषिपनं ॥ ३८४ ॥

अन्वयार्थ - (पज्जावं पर पिच्छं) पर्यायों को पर जानना चाहिये (पज्जाव नन्त विषेस संदिद्धं) पर्याय अनंत प्रकार की विशेषताओं सहित दिखाई देती है (पज्जावं विरयन्तो) इन सब पर्यायों से विरक्त रहना चाहिये (न्यानं अन्मोय कम्म संषिपनं) ज्ञान का आलंबन रखने अर्थात् आत्मज्ञान में रत रहने से कर्मों का क्षय होता है।

विशेषार्थ - कर्मों के उदय से निगोद से लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यंत अनेक व्यंजन पर्यायों तथा भावों की अपेक्षा अनंत प्रकार के अज्ञानभाव व असंख्यात प्रकार के कषाय भाव होते हैं, यह सर्व ही भाव पर हैं, मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो ज्ञाता दृष्टा, वीतराग, आनंदमयी, ध्रुवतत्त्व, शुद्धात्मा हूँ। ऐसा जानकर जो सर्व सांसारिक अवस्थाओं से विरक्त और निश्चिन्त होकर निज आत्मा के अनुभव में लीन होते हैं तथा आत्मानंद का पान करते हैं उनके कर्मों का विशेष क्षय होता है।

पर्याय एक समय की होती है, चाहे वह स्व द्रव्य की हो या पर द्रव्य की हो। संयोगी पर्याय जीव पुद्गल की यह मनुष्यादि पर्यायें हैं। यह सब ही पर्यायें क्षणभंगुर नाशवान असत् हैं। पर्याय से दृष्टि हटाकर जो स्वभाव की साधना करता है, ज्ञान स्वभाव में लीन रहता है उसके कर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान प्रगट होता है।

भेदविज्ञान की प्राप्ति में आनंद मानना, आत्मज्ञान प्राप्त करना ही कर्तव्य है, यह भावना भानी चाहिये कि परमात्म पद प्रगट हो।

नय श्रुतज्ञान प्रमाण का अंश है। प्रमाण ज्ञान को प्रामाणिकता तब ही प्राप्त होती है कि जब अंतर दृष्टि में विभाव और पर्याय के भेद से रहित शुद्धात्म द्रव्य ध्रुव स्वभाव की श्रद्धा के अवलंबन में उग्रता निरंतर वर्तती हो, ज्ञान को ध्रुव स्वभाव के अवलंबन का बल सदैव वर्तता होने से उसका ज्ञान सम्यक् प्रमाण है।

आत्मा को जानने वाला धर्मी जीव जिसको स्वसंवेदन आनन्द अनुभूति सहित का एक अंश ज्ञान प्रगट हुआ है, ऐसा ज्ञानी उस अनुभव की पर्याय का भी लक्ष्य नहीं करता, वह एकदेश प्रगट पर्याय रूप है। वह एक समय की पर्याय के पीछे विराजमान सकल निरावरण अखंड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय, अविनश्वर शुद्ध परम पारिणामिक लक्षण निज परमात्म तत्त्व का ध्यान करता है, इसी से सब कर्म क्षय होते हैं।

जिन्होंने स्वयं के पर्याय अंश से दृष्टि हटाकर द्रव्य पर दृष्टि की, वे अन्य द्रव्यों को भी उनकी पर्याय से नहीं, बल्कि उन्हें द्रव्य स्वभाव अखंड रूप देखते हैं। सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव ने जिस आत्मा को ध्रुव कहा है, उसका जो जीव अवलंबन ले उसे उस ध्रुव स्वभाव में से शुद्धता प्रगट होती है।

ज्ञानी उसे कहते हैं कि जो त्रिकाली ध्रुव स्वभाव को पकड़े है, उसकी पर्याय में वीतरागता प्रगट होने पर भी वह पर्याय में रुकता नहीं। उसकी दृष्टि तो त्रिकाली ध्रुव पर ही टिकी है। धर्म दशा प्रगट हो, निर्मल पर्याय हो परंतु ज्ञानी इन पर्यायों में नहीं रुकता। यदि ध्रुव स्वभाव की दृष्टि छूट जाये और एक समय की पर्याय की महिमा, महत्ता लगे उसकी रुचि हो जाये तो वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

प्रश्न - तो फिर यह शास्त्र स्वाध्याय, व्रत, तप आदि करना कैसे होगा ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

जदि कस्टं च अनेयं, श्रुतं तवं च नन्तनन्ताइं ।

जदि पज्जावं पिच्छदि, न्यानंतरं दुष्य वीयम्मि ॥ ३८५ ॥

अन्वयार्थ - (जदि कस्टं च अनेयं) यदि अनेक कष्ट उठाकर (श्रुतं तवं च नन्तनन्ताइं) अनेक प्रकार के शास्त्रों को पढ़े, जाने तथा नाना प्रकार के व्रत तप आदि करे (जदि पज्जावं पिच्छदि) यदि पर्यायों को जानने समझने में लगा रहा, यह ऐसा है और यह ऐसा है, शरीरादि की क्रिया में राग भाव रहा तो (न्यानंतरं दुष्य वीयम्मि) ज्ञान में अंतर डालने से अंतराय कर्म का बंध पड़ेगा जो दुःखों का बीज है ।

विशेषार्थ - पर्याय दृष्टि संसार का कारण है, स्वभाव दृष्टि मुक्ति का मार्ग है । यदि कोई बहुत परिश्रम करके ग्यारह अंग नौ पूर्व तक शास्त्रों को जान ले तथा शरीर को क्लेश देता हुआ अनेक प्रकार के तप करे, साधुचर्या भी पाले परंतु आत्मज्ञान से शून्य हो, भावना मान प्रतिष्ठा की हो व आगामी विषय भोगों के भोगने की हो तो उसको मिथ्याज्ञान होने से अंतराय कर्म का ही बंध होगा जो दुःखों का बीज बोना है ।

सम्यक्दर्शन ज्ञान पूर्वक चारित्र होता है, चारित्र ही धर्म है, धर्म साम्य है । साम्य-मोह क्षोभ रहित परिणाम है इसलिये संयत का साम्य लक्षण है । वहाँ- १. शत्रु-बंधु वर्ग में, २. सुख-दुःख में, ३. प्रशंसा-निंदा में, ४. मिट्टी के ढेले और सोने में, ५. जीवन-मरण में एक ही साथ, ६. यह मेरा स्व है, यह पर है, ७. यह आल्हाद है, यह परिताप है, ८. यह मेरा उत्कर्षण है, ९. यह मुझे अकिंचित्कर है, यह उपकारक है, १०. यह मेरा स्थायित्व है, यह अत्यंत विनाश है । इस प्रकार मोह के अभाव के कारण सर्वत्र जिसको राग-द्वेष का द्वैत प्रगट नहीं होता, जो सतत् विशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभाव आत्मा का अनुभव करता है और वास्तव में जो सर्वथा साम्य है, वह ज्ञानी सम्यक्दृष्टि संयमी है । यदि जिसके शरीरादि के प्रति परमाणु मात्र भी मूर्च्छा वर्तती हो तो वह भले ही सर्वांगम का धारी हो तथापि सिद्धि को प्राप्त नहीं होता । आगम से यदि पदार्थों का श्रद्धान न हो तो मुक्ति नहीं होती तथा पदार्थों का श्रद्धान करने वाला यदि असंयत हो तो निर्वाण को प्राप्त नहीं होता । आत्म ज्ञान से शून्य जीव का सर्व आगम ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान तथा संयतत्व का युगपत्पना भी अकिंचित्कर है अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता । आत्म अनुभव के बिना

सब कुछ शून्य है । लाख कषाय की मंदता करो, तपादि पालो या लाख शास्त्र पढ़ो किन्तु अनुभव बिना सब कुछ शून्य है ।

प्रश्न - तो इसका अर्थ यह है कि शास्त्र स्वाध्याय, व्रत, तपादि कुछ नहीं करना चाहिये ?

समाधान - आत्मज्ञान से शून्य शास्त्र स्वाध्याय, व्रत, तपादि पुण्यबंध संसार के कारण हैं, करने नहीं करने की बात नहीं है, वह तो जो जीव जिस भूमिका में होता है उसका उस रूप परिणामन चलता ही है परंतु सम्यक्दर्शन, ज्ञान के बिना यह मात्र कार्यकारी नहीं हैं ।

प्रश्न - सम्यक्दर्शन ज्ञान भी तो शास्त्र स्वाध्याय, व्रत तपादि से ही होता है ?

समाधान - आत्मानुभूति को सम्यक्दर्शन और स्व-पर के यथार्थ निर्णय को सम्यक्ज्ञान कहते हैं, यह पराश्रितपने से नहीं, स्वाश्रितपने से होते हैं । आत्मा का लक्ष्य होने, पर से दृष्टि हटने पर ही सम्यक्दर्शन ज्ञान होता है ।

आत्मज्ञान की प्राप्ति हेतु, शास्त्र स्वाध्याय करना, विचार, मनन करके तत्त्व का निर्णय करना तथा शरीरादि और राग से भेदज्ञान का अभ्यास करना यह सहकारी निमित्त हैं ।

प्रश्न - आत्मा की अनुभूति होने के बाद शास्त्र स्वाध्याय व्रत तपादि करने की क्या आवश्यकता है उससे क्या लाभ है ?

समाधान - सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः शुद्धात्मा का अनुभव होने के पश्चात् पाचवें और छठे गुणस्थान में उस प्रकार के शुभराग आए बिना नहीं रहते, तदनुसार सहज आचरण होता है तभी मुक्ति मार्ग बनता है ।

साधक जीव को भूमिकानुसार श्रुत चिंतवन, अणुव्रत, महाव्रत आदि के शुभभाव आते हैं, होते हैं । जैसे-बीज बोने पर अंकुर, पत्ते, फूल, फल आदि अपने आप लगते हैं, होते हैं, अगर यह न हों तो बीज का कोई मूल्य अस्तित्व नहीं है, इसी प्रकार सम्यक्दर्शन ज्ञान पूर्वक सम्यक्चारित्र होता ही है ।

प्रश्न - तो पहले भेदविज्ञान और आत्मा की चर्चा करें ज्ञान स्वभाव को जानें ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

न्यान सहावं जानदि, न्यानं विन्यान मनुव रंजेई ।

न्यान अन्मोय अन्तरयं, अन्यानं सहकार नरय वासम्पि ॥ ३८६ ॥

अन्वयार्थ - (न्यान सहावं जानदि) ज्ञान स्वभाव को जानकर अर्थात् आत्मा के सम्बंध में पूरी जानकारी हो जाना (न्यानं विन्यान मनुव रंजेई) भेदविज्ञान के द्वारा मन को रंजायमान करना (न्यान अन्मोय अन्तरयं) ज्ञान के आलंबन में अंतराय डालकर (अन्यानं सहकार नरय वासम्पि) अज्ञान का सहकार करना इससे नरक में वास करना पड़ेगा ।

विशेषार्थ - आत्मानुभूति, आत्मज्ञान प्रयोजनीय इष्ट हितकारी है, आत्मा के सम्बंध की जानकारी, ज्ञान स्वभाव की बड़ी-बड़ी चर्चा, भेदविज्ञान की बातें करके मन को रंजायमान करना, अपने को ज्ञानी श्रेष्ठ मानना, ज्ञान के आलंबन आत्मानुभूति में अंतराय डालकर, अज्ञान, पर पर्याय शरीरादि का सहकार करना, विद्वत्ता का प्रदर्शन करना, इससे तो नरक में वास करना पड़ेगा ।

धर्म चर्चा का विषय नहीं है चर्चा का विषय है । ज्ञान स्वभाव आत्मा की जानकारी नहीं, अनुभूति करना इष्ट है । भेदविज्ञान, सम्यक्दर्शन के लिये प्रयोजनवान है । भेदविज्ञान की चर्चा करके मन को रंजायमान करना, दूसरे लोगों को ज्ञान विज्ञान की बड़ी-बड़ी चर्चायें सुनाना, बताना और स्वयं आत्मज्ञान शून्य, अज्ञान मिथ्यात्व में लगे रहना यह तो संसार, दुर्गति का कारण है ।

जो आत्मा शुद्ध द्रव्य के निरूपण स्वरूप निश्चयनय से निरपेक्ष रहकर अशुद्ध द्रव्य के निरूपण स्वरूप, व्यवहारनय से जिसे मोह उत्पन्न हुआ है, ऐसा वर्तता हुआ, यह शरीर मैं हूँ, यह शरीरादि मेरे हैं इस प्रकार आत्मीयता से देह धनादिक परद्रव्य में ममत्व नहीं छोड़ता तथा आत्मा की भेदविज्ञान की चर्चा करके मन को रंजायमान करता है, वह सत्य मार्ग को दूर से छोड़कर, संसार का ही आश्रय लेता है ।

शुद्धात्मा सत् और अहेतुक होने से अनादि अनंत और स्वतः सिद्ध है इसलिये आत्मा के लिये शुद्धात्मा ही ध्रुव है, दूसरा कुछ भी ध्रुव नहीं है । आत्मा ज्ञानात्मक दर्शनरूप इन्द्रियों के बिना ही सबको जानने वाला

महापदार्थ, ज्ञेय-पर पर्यायों का ग्रहण त्याग न करने से अचल और ज्ञेय परद्रव्यों का आलंबन न लेने से निरालम्ब है इसलिये वह एक है । इस प्रकार एक होने से वह शुद्ध है ऐसा शुद्धात्मा ध्रुव होने से वही एक उपलब्ध है ।

सकल आगम के सार को हस्तामलकवत् करने से जो पुरुष भूत, वर्तमान, भावी स्वोचित पर्यायों के साथ अशेष द्रव्य समूह को जानने वाले आत्मा को जानता है, श्रद्धान करता है और संयमित रखता है, उस पुरुष के आगमज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान, संयतत्व का युगपत्पना होने पर भी यदि वह किंचित् मात्र भी मोहमल से लिप्त होने से शरीरादि के प्रति, तत्संबंधी मूर्च्छा से विरत रहने से निरुपराग उपयोग में परिणत करके ज्ञानात्मक आत्मा का अनुभव नहीं करता तो वह पुरुष मात्र उतने मोहमल कलंकरूपी कीले के साथ बंधे हुए कर्मों से नहीं छूटता ।

दुनियाँ में मेरा ज्ञान प्रसिद्ध होवे, दुनियाँ मेरी प्रशंसा करे और मैं जो कहता हूँ, उससे दुनियाँ खुश होवे, ऐसा जनरंजन, मनरंजन जिसके अंदर वर्तता है, उसका धारणा ज्ञान (क्षयोपशम ज्ञान) भले सच्चा हो तो भी वह वास्तव में अज्ञान है, मिथ्याज्ञान है । ज्ञान की चर्चा करने या अन्य विशिष्टता से अंतर वस्तु प्राप्त हो जाये ऐसा नहीं है, अंतर स्वभाव की दृष्टि करें, उसको लक्ष्यगत करें, उसका आश्रय करें, उसके सम्मुख हों तब ही अतीन्द्रिय शांति और आनंद प्राप्त होता है । इस प्रकार सर्व प्रकार से भेदज्ञान की प्रवीणता से यह अनुभूति है सो ही मैं हूँ, ऐसे आत्मज्ञान होता है । व्यवहार रत्नत्रय का राग है सो मैं नहीं, ज्ञान लक्षण से लक्षित चैतन्य स्वभाव का अनुभव होने पर यह अनुभूति ही मैं हूँ ऐसा सम्यक्ज्ञान होता है ।

प्रश्न - सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र तो मुक्ति मार्ग है, इसमें तो कोई बाधा नहीं है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

न्यानं दंसन सम्मं, चरनं चरन्ति मनुव रंजेइ ।

जदि पज्जाव सदिट्ठं, नवि न्यानं नवि दंसनं चरनं ॥ ३८७ ॥

अन्वयार्थ - (न्यानं दंसन सम्मं) सम्यक्दर्शन ज्ञान (चरनं चरन्ति मनुव रंजेइ) चारित्र तो मुक्तिमार्ग है परंतु इनका सही पालन हो, यदि मन को रंजायमान करने के लिये करते हैं (जदि पज्जाव सदिट्ठं) यदि पर्याय की

तरफ ही दृष्टि है (नवि न्यानं नवि दंसनं चरनं) तो वहाँ न दर्शन है, न ज्ञान है, न चारित्र है।

विशेषार्थ - जिसकी दृष्टि शुद्धात्मा के श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र पर है, जिसे आत्मानुभूति है, वहीं निश्चय सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र है और यही मोक्षमार्ग है। जहाँ शुद्धात्मा का अनुभव नहीं है, न स्व-पर का यथार्थ ज्ञान है किन्तु कर्मकृत व्यवहार रचना में ही ध्यान है, व्यवहार सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र पर ही लक्ष्य है तथा पर्यायी परिणमन में ही संतुष्ट है, पर्याय पर ही दृष्टि है, वहाँ न दर्शन है, न ज्ञान है, न चारित्र है, न सच्चा मोक्षमार्ग है।

सम्यक्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को जानता है, अनुभव करता है और अपने को अन्य समस्त व्यवहार भावों से भिन्न जानता है। जब से उसे स्व-पर का विवेक स्वरूप भेदविज्ञान प्रगट हुआ, तभी से वह समस्त विभाव भावों का त्याग कर चुका है और तभी से उसने टंकोत्कीर्ण निज भाव अंगीकार किया है। स्वभाव दृष्टि की अपेक्षा से ऐसा होने पर भी, वह पर्याय में पूर्वबद्ध कर्मों के उदय के निमित्त से अनेक प्रकार के विभावभाव रूप परिणमित होता है। इस विभाव परिणति को पृथक् होती न देखकर वह आकुल-व्याकुल भी नहीं होता और वह सकल विभाव परिणति को दूर करने का पुरुषार्थ किये बिना भी नहीं रहता। सकल विभाव परिणति से रहित स्वभाव दृष्टि के बल स्वरूप पुरुषार्थ से गुणस्थानों की परिपाटी के सामान्य क्रमानुसार उसके प्रथम अशुभ परिणति की हानि होती है और फिर धीरे-धीरे शुभ परिणति भी छूटती जाती है। ऐसा होने से वह शुभराग के उदय की भूमिका में गृहवास और पाप-परिग्रह का त्यागी होकर सम्यक्चारित्र की साधना के लिये साधुपद में प्रतिष्ठित होता है। यहाँ स्वभाव साधना से अरिहंत पद केवलज्ञान प्रगट होता है और सर्व कर्म क्षय होने पर पूर्ण मुक्त, शुद्ध सिद्ध परमात्मा हो जाता है, यही सच्चा मोक्षमार्ग है। इसके विपरीत जो मन को रंजायमान करने के लिये बाह्य में दर्शन ज्ञान चारित्र रूप परिणमन करता है परंतु दृष्टि पर्याय पर ही रहती है तो वह मुक्तिमार्ग नहीं है।

संयम के निमित्तपने की बुद्धि से मुनि चर्या में जो आगमोक्त आहार, अनशन, गुफादि में निवास, विहार, देहमात्र परिग्रह, अन्य मुनियों का परिचय और धार्मिक चर्चा वार्ता के सुयोग पाये जाते हैं उनके प्रति भी रागादि करना योग्य नहीं है, उनके विकल्पो में भी मन को रमने देना योग्य नहीं है क्योंकि

उससे संयम में छेद होता है।

अशुद्धोपयोग से शुद्धोपयोग रूप मुनित्व छिदता है, हनन होता है इसलिये अशुद्धोपयोग छेद ही है, हिंसा ही है और जहाँ सोने, बैठने, खड़े होने में, चलने इत्यादि में असंयमित आचरण होता है वहाँ नियम से अशुद्धोपयोग तो होता ही है।

शुद्धोपयोग का हनन होना वह अंतरंग हिंसा है और दूसरे के प्राणों का विच्छेद होना बहिरंग हिंसा है, जो संसार का कारण है। आत्मानुभूति पूर्वक सम्यक्दर्शन, तत्पूर्वक तत्त्वार्थ श्रद्धान, सम्यक्ज्ञान और उन दोनों पूर्वक संयतपना, स्वरूप गुप्ति आत्मध्यान ही मोक्षमार्ग है।

प्रश्न - इतनी आगमभक्ति, व्रत, तप क्रिया आदि करने का क्या परिणाम है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

अन्यानं भक्तीए, अन्यानं सहकार न्यान विरयन्तो ।

तव वय क्रिय पज्जावं, अन्यानं सहकार दुष्य वीयम्मि ॥ ३८८ ॥

अन्वयार्थ - (अन्यानं भक्तीए) अज्ञानपूर्वक भक्ति करना अथवा अज्ञान भक्ति करना (अन्यानं सहकार न्यान विरयन्तो) अज्ञान के सहकार से ज्ञान विला जाता है, छूट जाता है अर्थात् मिथ्याज्ञान के कारण सम्यक्ज्ञान का अभाव ही रहता है (तव वय क्रिय पज्जावं) केवल शरीर सम्बंधी काय क्लेश, तप, व्रत, क्रिया आदि करना (अन्यानं सहकार दुष्य वीयम्मि) अज्ञान का सहकार मिथ्याज्ञान होने से दुःखों के बीज बोना है।

विशेषार्थ - सम्यक्दर्शन सहित ज्ञान को सम्यक्ज्ञान कहते हैं, जहाँ शुद्धात्मा का यथार्थ श्रद्धान तथा ज्ञान है। ऐसे सम्यक्दर्शन ज्ञान सहित सम्यक्चारित्र के हेतु व्रत, तप, क्रिया करना मोक्षमार्ग का साधन है परंतु सम्यक्त्व रहित अज्ञान पूर्वक आगम की भक्ति अर्थात् शास्त्र स्वाध्याय करना तथा पर्याय दृष्टि से व्रत तप क्रिया करना, यह केवल पुण्य के हेतु से अथवा मान प्रतिष्ठा के हेतु से साधना, मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान होने से बंध के ही कारण हैं यह तो संसार दुःख का ही बीज बोना है।

जो अज्ञानी मिथ्याभाव सहित परिग्रह छोड़कर निर्ग्रन्थ भी हो गया है, कायोत्सर्ग करना, मौन धारण करना, इत्यादि बाह्य क्रियायें करता है तो उसकी

क्रिया मोक्षमार्ग में सराहने योग्य नहीं है क्योंकि सम्यक्त्व के बिना बाह्य क्रिया का फल संसार ही है। आत्म स्वभाव के विपरीत बाह्यकर्म जो क्रियाकांड है वह क्या करेगा ? अनेक प्रकार का उपवासादि बाह्य तप भी क्या करेगा ? जो आत्म स्वभाव के विपरीत बहुत शास्त्रों को पढ़ेगा और बहुत प्रकार के चारित्र का आचरण करेगा, तो वह सब ही बालश्रुत और बालचारित्र होगा, यह अज्ञानी की क्रिया है क्योंकि ग्यारह अंग नौ पूर्व तक तो अभव्य जीव भी पढ़ता है और बाह्य मूलगुण रूप चारित्र भी पालता है परंतु अज्ञानी मिथ्यादृष्टि होने से वह मोक्ष के योग्य नहीं है।

मिथ्याज्ञान जहाँ रहता है, रहता वहाँ न सम्यक्ज्ञान।

इससे मिथ्या जप तप सारे, हैं केवल दुःखों की खान ॥

मान प्रतिष्ठा पाने को ही, जो जप तप आचरते हैं।

धर्म नहीं वे पापों का ही, बीजारोपण करते हैं ॥

मिथ्यादृष्टि कितनी भी शुभाशुभ क्रियायें करे वह सब कर्म बंध और संसार की ही कारण हैं। सम्यक्दृष्टि ज्ञानी कोई भी क्रिया कर्म करे अथवा न करे, तो भी उसके कर्मों की संवर पूर्वक निर्जरा होकर मोक्षमार्ग बनता है। यदि श्रमण अन्य द्रव्य का आश्रय करके अज्ञानी होता हुआ मोह करता है, राग करता है अथवा द्वेष करता है तो वह विविध कर्मों से बंधता है।

प्रश्न - यह कर्म क्या हैं और इनका स्वरूप क्या है, यह क्या करते हैं ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

नो कम्मं पिच्छंतो, भाव कम्मं च पिच्छ विरयंतो।

दव्व कम्म नहु पिच्छदि, न्यानंतर अनन्त संसारे ॥ ३८९ ॥

अन्वयार्थ - (नो कम्मं पिच्छंतो) नो कर्मों को जान लो, यह शरीरादि संयोग सब नोकर्म की रचना है (भाव कम्मं च पिच्छ विरयंतो) भाव कर्मों को जानकर उनसे छूटो, मोह, राग, द्वेष यह भावकर्म हैं (दव्व कम्म नहु पिच्छदि) द्रव्य कर्म को जानने की कोशिश ही मत करो (न्यानंतर अनन्त संसारे) यही ज्ञान स्वभाव में अंतर डालकर अनंत संसार में रूलाते हैं।

विशेषार्थ - कर्म तीन प्रकार के होते हैं - द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म। यह पुद्गल कर्म वर्णनायें हैं जो जीव के विभाव रूप परिणमन से कर्मरूप

बंधती हैं अर्थात् जीव की दृष्टि जब पर पर्याय की तरफ होती है तब कर्मों का आस्रव होता है और अज्ञान पूर्वक उनमें राग-द्वेष करता है तो कर्मबंध होता है, यही कर्म बंध जीव को अनंत संसार में भ्रमण कराता है, ऐसा जीव का और कर्मों का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। जीव के भाव से कर्मों का बंध होता है और कर्मों के उदय निमित्त से जीव के भाव होते हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय, नाम, आयु, गोत्र, वेदनीय यह आठ द्रव्यकर्म कहलाते हैं, जिसके घातिया-अघातिया दो भेद हैं।

मोह राग-द्वेष यह भावकर्म कहलाते हैं जो अज्ञान दशा में जीव के होते हैं। शरीरादि, धन वैभव यह सब नोकर्म कहलाते हैं, जो पुद्गल परमाणु स्कंध रूप परिणमित होते हैं।

यह विषय करणानुयोग का है, विशेष जानकारी के लिये उसका स्वाध्याय करना होगा। यहाँ दृष्टि का विषय है, उसकी शुद्धि करना है तो इन सब कर्मोदय शरीरादि संयोग से दृष्टि हटाना होगी; क्योंकि जीव के साथ अनादि से यह नोकर्म, भावकर्म और द्रव्यकर्म रूप क्रिया भाव और पर्याय का संबंध बना है।

क्रिया शरीर में होती है, जो जड़रूप है और यह सब धन वैभव आदि संयोग पौद्गलिक जड़ ही हैं, यह सब नोकर्म की रचना है, जब तक इस पर दृष्टि रहेगी और इसमें मोह, राग-द्वेष होगा तब तक द्रव्य कर्म का बंध होगा जो अनंत संसार का कारण है।

पहले इस क्रिया रूप नोकर्म से दृष्टि हटाओ और इन मोह, राग-द्वेषादि भावों को जानकर इनसे हटो, छूटो तथा द्रव्यकर्म रूप जो पर्यायी परिणमन है उसमें तो उलझो ही मत, यह सब पर पर्याय से दृष्टि हटाकर अपने ध्रुव तत्त्व शुद्धात्म स्वरूप की दृष्टि करो, ज्ञान स्वभाव में रहो तो यह संसार परिभ्रमण छूटे अन्यथा इन कर्मों की चर्चा और इनके चक्कर में तो सब ज्ञान ध्यान भूल जाओगे और यही ज्ञानांतराय अनंत संसार का कारण है।

प्रश्न - परंतु इनके चक्कर से छूटने के लिये इनका स्वरूप जानना भी तो जरूरी है ?

समाधान - जब भेदज्ञान तत्त्वनिर्णय द्वारा वस्तु स्वरूप को जान लिया, द्रव्यदृष्टि से द्रव्य के स्वभाव को देख लिया, फिर बार-बार इनमें उलझने से क्या लाभ है ? जो नहीं जानते जिन्हें स्व-पर का, धर्म-कर्म का यथार्थ

निर्णय नहीं हुआ, उन्हें तो पहले यह सब समझना बहुत आवश्यक है इसके लिये प्राथमिक स्वाध्याय करना चाहिये, यह दृष्टि का सूक्ष्म विषय है। इसमें जरा भी पर पर्याय की ओर लक्ष्य गया तो फिर सब रात पीसना और पारे में उठाने जैसा होगा।

प्रश्न - यह क्रिया, भाव, पर्याय का संबंध क्या है ?

समाधान - क्रिया- नो कर्म, भाव-भावकर्म, पर्याय- द्रव्य कर्म रूप परिणमन है, इसमें पहले क्रिया रूप परिणमन से छूटना, दृष्टि हटाना आवश्यक है क्योंकि जब तक यह संयोग रहेगा तब तक स्वभाव में स्थिरता तथा दृष्टि अपने में आ ही नहीं सकती। दूसरा-भावरूप परिणमन-मोह, राग-द्वेषादि भाव यह सब भाव कर्म हैं, इनके स्वरूप को जानकर इनसे हटो, छूटो, इधर से दृष्टि हटाओ, तब पर्याय पकड़ में आती है। तीसरी-पर्याय, यह द्रव्य कर्म रूप परिणमन होती है, जीव की पर्याय घातिया कर्म से आवृत है और शरीर पुद्गल की पर्याय अघातिया कर्मों से आवृत है। इस सूक्ष्म पर्याय रूपी परिणमन से भी अपनी दृष्टि हटाना और ध्रुवतत्त्व पर दृष्टि रखना यह साधना है, इसी से सब कर्मों का क्षय होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है।

प्रश्न - यह पर्याय का स्वरूप क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

पज्जावं च अनन्तं, पज्जाव सरूव न्यान अन्मोयं ।

जदि अन्तरं न दिट्ठं, न्यानं ममल सहाव सिद्धि संपत्तं ॥ ३९० ॥

अन्वयार्थ - (पज्जावं च अनन्तं) पर्याय तो अनंत हैं, ज्ञानावरण के मंद व अधिक क्षयोपशम की अपेक्षा निगोद से लेकर बारहवें क्षीण कषाय गुणस्थान तक अनंत पर्यायें होती हैं, अर्थ पर्याय, व्यंजन पर्याय आदि अनेक पर्यायें हैं (पज्जाव सरूव न्यान अन्मोयं) पर्याय का स्वरूप स्थायी नहीं है, पर्याय मात्र एक समय की होती है, ज्ञान स्वभाव का आलम्बन करो (जदि अन्तरं न दिट्ठं) यदि ज्ञान स्वभाव के देखने में अंतर नहीं करते तो (न्यानं ममल सहाव सिद्धि संपत्तं) इस ज्ञान दृष्टि द्वारा ममल स्वभाव में लीन होने से सिद्धि की संपत्ति, मोक्ष की प्राप्ति होगी।

विशेषार्थ - गुणों के परिणमन (विकार) को पर्याय कहते हैं। गुण एक साथ रहने वाले होते हैं, उनका उत्पाद व्यय रूप परिणमन होना पर्याय

नाम से व्यक्त होता है। यह पर्यायें एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी इस प्रकार नियत क्रमवर्ती होती हैं। जैसे-पुद्गल द्रव्य का रूप से रूपान्तर होना, रस से रसान्तर होना तथा जीव का ज्ञान गुण घट ज्ञान, पट ज्ञान होना या चारित्र गुण का क्रोध, मान रूप होना आदि। पर्याय दो प्रकार की होती हैं- १. स्वभाव पर्याय, २. विभाव पर्याय।

जो पर्याय पर निरपेक्ष होती है वह स्वभाव पर्याय है, यह अनंतभाग वृद्धि आदि वृद्धिरूप और अनंत भाग हानि आदि हानिरूप। इस प्रकार बारह प्रकार की होती है, यह सब पर्यायें अगुरुलघुत्व गुण के कारण होती हैं।

जो पर्याय पर सापेक्ष होती है उसे विभाव पर्याय कहते हैं, विभाव पर्यायें केवल जीव और पुद्गल द्रव्य में होती हैं क्योंकि यह दोनों द्रव्य परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने पर मिलकर विभाव रूप परिणमन कर जाते हैं।

पर्याय के अन्य प्रकार से अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय यह भी दो भेद हैं। अर्थ पर्याय तो छह द्रव्यों में होती है वह सूक्ष्म है, वचन अगोचर है और क्षण-क्षण उत्पन्न और नष्ट होने वाली है।

व्यंजन पर्याय स्थूल होती है, वचनों के द्वारा उसका कथन किया जा सकता है, वह नश्वर होकर भी कुछ काल तक रहने से स्थिर होती है। उसके स्वभाव विभाव तथा द्रव्य पर्याय, गुण पर्याय रूप भेद होते हैं।

संसार जीव की नर नारकादि पर्याय, विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय है और मतिज्ञान आदि विभाव गुण व्यंजन पर्याय है तथा पुद्गल स्कंध के स्पर्शादि गुणों का परिणमन विभाव गुण व्यंजन पर्याय है, इन सब पर्यायों से युक्त द्रव्य होता है।

द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य का उत्पाद और व्यय नहीं है, सद्भाव है, उसी की पर्यायें उत्पाद विनाश होती हैं, द्रव्य ध्रौव्य रहता है। पर्यायार्थिक नय से ही द्रव्य उत्पाद वाला या विनाशवाला है, इसी उत्पाद विनाश को पर्याय कहते हैं। वस्तुरूप से द्रव्य और पर्यायों का अभेदपना है क्योंकि पर्यायों से रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्यायें नहीं होती हैं इस प्रकार दोनों में अनन्यभाव है।

जल की लहरों की तरह द्रव्य में प्रति समय अपनी-अपनी अनादि अनंत पर्यायें उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं।

उपरोक्त प्रकार से द्रव्य स्वयं ही अपनी अनंत शक्ति रूप सम्पदा से परिपूर्ण है इसलिये केवलज्ञान प्राप्ति के इच्छुक आत्मा को पर पर्याय की अपेक्षा रखकर परतंत्र होना निरर्थक है, पर्याय का स्वरूप जानना छोड़कर, ज्ञान स्वभाव का आलंबन लो।

जिसका न आदि है न अंत है तथा जिसका कोई कारण नहीं और जो अन्य किसी द्रव्य में नहीं है, ऐसे ज्ञान स्वभाव को ही उपादेय करके, केवलज्ञान की उत्पत्ति के बीजभूत जब ममल स्वभाव में आत्मा परिणमित होता है तब उसके निमित्त से सर्व घातिया कर्मों का क्षय हो जाता है और सिद्धि की संपत्तिरूप परमानंद प्रगट हो जाता है; इसलिये अधिक जानने की इच्छा का लोभ छोड़कर स्वरूप में ही निश्चल रहना योग्य है।

जब आत्मा ज्ञान स्वभाव में अंतर नहीं डालता, पर्याय की तरफ नहीं देखता, अपने ममल ज्ञान स्वभाव में एकाग्र होता है, समस्त कर्तृत्व भोक्तृत्व के अधिकार को समाप्त करके सम्यक् रूप से प्रगट प्रभुत्व शक्तिवान होता हुआ ज्ञान का ही अनुसरण करने वाले मार्ग से विचरता है तब विशुद्ध आत्म तत्त्व ममल स्वभाव की उपलब्धि रूप सिद्धि की संपत्ति मुक्ति को प्राप्त करता है।

शुद्ध दृष्टि तो उसको कहते हैं जो स्वयं की निर्मल पर्याय को भी नहीं देखती, यदि पर्याय का लक्ष्य रहेगा तो राग होगा, विकल्प उठेंगे। भगवान आत्मा ध्रुव स्वभाव तो पर्याय को छूता ही नहीं फिर पर्याय का लक्ष्य करने से क्या प्रयोजन है ?

सिद्ध भगवान में जैसी सर्वज्ञता, प्रभुता, जैसा अतीन्द्रिय आनंद और आत्मवीर्य है, वैसी ही सर्वज्ञता, प्रभुता, आनंद और वीर्यशक्ति आत्मा में भरी है। अपने ममल स्वभाव की दृष्टि से यह सिद्धि की संपत्ति प्राप्त होती है।

प्रश्न - जब दृष्टि के सामने पर्यायी परिणमन चल रहा है ऐसे में क्या करें ?

समाधान - अपने ध्रुवतत्त्व ममल स्वभाव का लक्ष्य रखो क्योंकि अभी साधक दशा में तीनों कर्मों का परिणमन चल रहा है, संयोग है। यह क्रिया, भाव और पर्याय अब तीनों से अपनी दृष्टि हटाकर अपने ममल स्वभाव, ध्रुवतत्त्व पर ही दृष्टि रखो, इसी से घातिया कर्म और तीनों प्रकार के कर्म क्षय होंगे और अपना सिद्ध परम पद प्रगट होगा।

चतुर्थ - ममल स्वभाव अधिकार

प्रश्न - ममल स्वभाव किसे कहते हैं ?

समाधान - आत्मा के त्रिकाली ध्रुव स्वभाव, परम पारिणामिक भाव, सिद्ध स्वभाव, सच्चिदानंद घन, ब्रह्मस्वरूप, ऊंकारमयी, परमात्म स्वरूप को ही ममल स्वभाव कहते हैं। ममल का अर्थ है जिसमें कभी मल था नहीं, हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं उसे ममल स्वभाव कहते हैं, जो द्रव्य का मूल स्वभाव शुद्धात्म तत्त्व है।

प्रश्न - जब आत्मा ममल स्वभाव है तो फिर यह पर्याय में अशुद्धि कर्म संयोग रागादिमल होना कैसे और क्यों है ?

समाधान - आत्मा स्वभाव से सिद्ध के समान शुद्ध ममल स्वभावी ही है परंतु अनादिकाल से अपने स्वरूप की विस्मृति रूप अज्ञान से पर में एकत्व अपनत्व रूप मोह मिथ्यात्व से कर्म संयोग, पर्याय में अशुद्धि और रागादि मल होना चल रहा है और इसी कारण यह जीव, द्रव्यरूप से पुद्गल द्रव्य में एकमेक हो रहा है। जब भेदज्ञान पूर्वक निज शुद्धात्मानुभूति रूप सम्यक्दर्शन होता है, वस्तु स्वरूप का ज्ञान, स्व-पर का यथार्थ निर्णय रूप सम्यक्ज्ञान होता है तब यह अपने ममल स्वभाव की साधना से इन सबसे छूटकर परिपूर्ण शुद्ध सिद्ध मुक्त होता है।

प्रश्न - ममल स्वभाव की साधना से मुक्ति कैसे होती है ?

समाधान - अनादि से जीव अपने स्वभाव को भूला हुआ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हो रहा है और यह जीव संज्ञा उपयोग के विभाव परिणमन होने से है। उपयोग के दो भेद हैं - १. दर्शन उपयोग, २. ज्ञान उपयोग, इसी को दृष्टि कहते हैं।

जीव, द्रव्यरूप से गुण पर्यायवान है और पुद्गल द्रव्य से मिला है, जिससे जीव, द्रव्य और गुण से शुद्ध होते हुए भी पर्याय से अशुद्ध है तथा पुद्गल द्रव्य भी स्कंधरूप और कर्म वर्गणा रूप परिणमित हो रहा है, यही निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध संसार परिभ्रमण का कारण बना है।

जब जीव अपने सत्स्वरूप का श्रद्धान ज्ञान करता है, सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान होता है तब वह ममल स्वभाव की साधना से इन सब संयोगों से छूटकर मुक्त होता है। जीव की दृष्टि के विभाव रूप परिणमन से कर्मों का आश्रव बंध होता है तथा जीव की दृष्टि के स्वभावरूप परिणमन से कर्मों की

निर्जरा पूर्वक मोक्ष होता है ।

अभी तक दृष्टि अधिकार में इन सब बातों का स्पष्टीकरण हो गया है । दृष्टि के अपने ममल स्वभाव में लीन होने से घातिया कर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान अरिहंत पद प्रगट होता है तथा संपूर्ण कर्मों के क्षय हो जाने पर सिद्ध परमपद मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

प्रश्न - ममल स्वभाव की यह महिमा किस प्रकार है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

इय घाय कम्म मुक्कं, मुक्कं संसार सरनि सल्यं च ।

कम्मं तिविहि विमुक्कं, ममल सहावेन सिद्धि संपत्तं ॥ ३९१ ॥

अन्वयार्थ - (इय घाय कम्म मुक्कं) इस प्रकार दृष्टि की शुद्धि होने तथा ममल स्वभाव की साधना से घातिया कर्मों से छूट जाता है (मुक्कं संसार सरनि सल्यं च) तथा संसार परिभ्रमण की सब शल्यों से छूट जाता है (कम्मं तिविहि विमुक्कं) फिर वह तीनों प्रकार के कर्मों से मुक्त हो जाता है (ममल सहावेन सिद्धि संपत्तं) ममल स्वभाव से सिद्धि की संपत्ति अर्थात् सिद्ध पद मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

विशेषार्थ - सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान होने पर जब जीव, द्रव्य दृष्टि से शुद्ध दृष्टि समभाव में होता है तथा ममल स्वभाव की साधना करता है अर्थात् निज स्वभाव में एकाग्र लीन होता है, यही शुद्धोपयोग की स्थिति शुक्ल ध्यान कहलाती है, जिसके एक मुहूर्त अड़तालीस मिनट ममल स्वभाव में एकाग्र होने पर घातिया कर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान अरिहंत पद प्रगट हो जाता है । जहाँ सब संसार का परिभ्रमण जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है तथा तीनों प्रकार के कर्मों के क्षय होने पर परिपूर्ण मुक्त सिद्ध परमात्मा हो जाता है ।

भेदविज्ञान द्वारा आत्मानुभव शुद्ध दृष्टि होने से तथा पर्याय से दृष्टि हटने और ममल स्वभाव में जमने से शुद्धोपयोग रूप शुक्लध्यान प्रगट होता है, जिससे चारों घातिया कर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान अरिहंत पद अनंत चतुष्टय प्रगट हो जाते हैं । आयु के अंत में शेष अघातिया कर्म, भावकर्म, नोकर्म के क्षय होने पर पूर्ण शुद्ध मुक्त सिद्ध पद प्रगट हो जाता है ।

सर्वोत्कृष्ट महिमा का भंडार चैतन्यदेव अनादि अनंत परम पारिणामिक

भाव ममल स्वभाव में स्थित है । यह ममल स्वभाव ध्रुवतत्त्व, परम पवित्र महा महिमावंत है, इसका आश्रय करने से शुद्धि के प्रारंभ से लेकर पूर्णता प्रगट होती है ।

जो मलिन हो अथवा अंशतः निर्मल हो अथवा जो अधूरा हो या जो शुद्ध एवं पूर्ण होने पर भी सापेक्ष हो, अध्रुव हो और त्रैकालिक परिपूर्ण सामर्थ्यवान न हो, उसके आश्रय से शुद्धता प्रगट नहीं होती इसलिये औदयिक भाव, औपशमिक भाव, क्षायोपशमिक भाव और क्षायिक भाव अवलंबन के योग्य नहीं हैं ।

जो पूर्ण ममल है, परिपूर्ण है, परम निरपेक्ष है, ध्रुव है और त्रैकालिक परिपूर्ण सामर्थ्यवान है, ऐसे अभेद एक परम पारिणामिक भाव ममल स्वभाव का ही आश्रय करने योग्य है, उसी की शरण लेने योग्य है । उसी से सम्यक्दर्शन से लेकर मोक्ष तक की सर्व दशाएं प्राप्त होती हैं ।

आत्मा में सहज भाव से विद्यमान ज्ञान, दर्शन, चारित्र आनंद इत्यादि अनंतगुण भी यद्यपि ममल स्वभाव रूप ही हैं तथापि वे चैतन्य द्रव्य के एक-एक अंश रूप होने के कारण उनका भेदरूप से अवलंबन लेने पर साधक को निर्मलता परिणमित नहीं होती ; इसलिये परम पारिणामिक भावरूप अनंतगुण स्वरूप अभेद एक चैतन्य तत्त्व ममल स्वभाव का ही आश्रय करना, वहीं दृष्टि देना, उसी की शरण लेना, उसी का ध्यान करना कि जिससे सर्व कर्मों का क्षय होकर निर्मल पर्यायें स्वयं खिल उठें ।

प्रश्न - ममल स्वभाव की दृष्टि से क्या होगा ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

अन्यान भाव मुक्कं, मिच्छा विषयं च राग संषिपनं ।

षिपियं नन्त अभावं, न्यानं अन्मोय कम्म षिपनं च ॥ ३९२ ॥

परिनामं अन्यानं, जनरंजन राग सहाव षिपनं च ।

कल रंजन दोष विलयं, मनरंजन गारवं च विलयंति ॥ ३९३ ॥

एयं अनेय रूवं, रूवातीतं च कम्म मोहंथं ।

उत्पन्नं षिपिऊनं, षिपिओ कम्मनि नंतनंताइ ॥ ३९४ ॥

अन्वयार्थ - (अन्यान भाव मुक्कं) अज्ञान भाव छूट जाता है (मिच्छा

विषयं च राग संषिपनं) मिथ्या विषय और राग क्षय हो जाते हैं (षिपियं नन्त अभावं) अनंत प्रकार के अभाव क्षय हो जाते हैं (न्यानं अन्मोय कम्म षिपनं च) ज्ञान का आलंबन रखने से सारे कर्म भी क्षय हो जाते हैं।

(परिनामं अन्यानं) अज्ञान जनित परिणाम (जनरंजन राग सहाव षिपनं च) और जनरंजन राग का स्वभाव भी क्षय हो जाता है (कल रंजन दोष विलयं) कलरंजन दोष भी विला जाते हैं (मनरंजन गारवं च विलयंति) और मनरंजन गारव भी विला जाता है।

(एयं अनेय रूवं) एवं इसी प्रकार के अनेक भाव (रूवातीतं च कम्म मोहं धं) रूपातीत कर्म और दर्शन मोहांधपना (उत्पन्नं षिपिऊनं) पैदा होना ही मिट जाता है (षिपिओ कम्मामि नंतनंताइ) अनंतानंत कर्म भी क्षय हो जाते हैं।

विशेषार्थ - ममल स्वभाव की दृष्टि होने से अज्ञान भाव छूट जाता है, मिथ्या विषय और राग भाव क्षय हो जाता है, अनंत प्रकार का अभाव भाव क्षय हो जाता है, अपने ममल ज्ञान स्वभाव में रहने से कर्म भी क्षय हो जाते हैं।

अज्ञान जनित परिणाम और जनरंजन राग भाव भी क्षय हो जाता है, कलरंजन दोष और मनरंजन गारव भी विला जाता है और इसी प्रकार के अनेक रूपी पदार्थ जो दृश्यमान भ्रमित करते हैं यह तथा चक्षु इन्द्रिय के अगोचर रूपातीत जो कर्म और दर्शन मोहांधपना है वह भी पैदा होना मिट जाता है। ममल स्वभाव में रहने से पूर्वबद्ध अनंतानंत कर्म भी क्षय हो जाते हैं।

ममल स्वभाव की साधना, अभ्यास से ममल भाव प्रगट होता है वहाँ अज्ञान जनित जितने भी परिणाम, विभाव भाव हैं वह सब छूट जाते हैं क्योंकि आत्मा में तो यह कुछ है ही नहीं। अज्ञान के कारण इन्हें अपने और अपने में मान लिये थे। जब सम्यक्ज्ञान पूर्वक ममल स्वभाव की दृष्टि होती है तब यह सब अपने आप विला जाते हैं।

विचार मंथन सब विकल्प रूप ही है। अनादिकाल से एकत्व परिणमन में सब एकमेक हो रहा है उसमें से मैं मात्र ज्ञान स्वरूप हूँ, ममल स्वभावी हूँ, इस प्रकार भिन्न होना है। जहाँ ऐसी भिन्नता का बोध जागता है कि सब अज्ञान भ्रम अपने आप छूट जाता है, सब भ्रांति विला जाती है।

यह आत्मा स्पर्श रस आदि गुणों से रहित और पुद्गल तथा अन्य चार अजीवों से भिन्न है, उसे भिन्न करने का साधन तथा राग और विकल्पों से भिन्न करने का साधन तो भेदविज्ञान ममलस्वभाव की दृष्टि है। परद्रव्य की ओर की वृत्ति शुभ हो चाहे अशुभ हो परंतु वह आत्मा नहीं है। स्वरूप से अनुभव में आता हुआ ज्ञान ही आत्मा है, ऐसे ज्ञान के स्वसंवेदन की कला ही मोक्ष की कला है। ममल स्वभाव की दृष्टि उसका बारम्बार अभ्यास करना योग्य है, इसी से सब दुःखों से और कर्म संयोगों से छूटा जाता है।

प्रश्न - तो क्या इससे यह मन का चंचलपना, पुण्य-पाप के भाव आदि भी मिट जाते हैं ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

षिपिओ नन्त विसेसं, षिपिओ सभाव पुन्न पावं च ।

मन सहकारं षिपिनं, मन उववन्न कम्म संषिपनं ॥ ३९५ ॥

षिपिओ समल विषेसं, षिपिओ कषाय विषय संबंधं ।

षिपिओ नन्त अभावं, षिपिओ पज्जाव दिट्ठि अनिस्टं ॥ ३९६ ॥

षिपिओ ति मूढ भावं, षिपिओ परिनाम अजीव पज्जावं ।

षिपिओ कम्मनिबन्धं, षिपिओ संसार सरनि संबंधं ॥ ३९७ ॥

अन्वयार्थ - (षिपिओ नन्त विसेसं) अनंत प्रकार के विशेष भी क्षय हो जाते हैं (षिपिओ सभाव पुन्न पावं च) पुण्य और पाप के भी सब भाव क्षय हो जाते हैं (मन सहकारं षिपिनं) मन का चंचलपना भी क्षय हो जाता है (मन उववन्न कम्म संषिपनं) मन पैदा होना अर्थात् संकल्प-विकल्प करना और कर्म भी क्षय हो जाते हैं।

(षिपिओ समल विषेसं) रागादिमल की जितनी विशेषतायें हैं वे भी सब क्षय हो जाती हैं (षिपिओ कषाय विषय संबंधं) विषय और कषाय का भी सब सम्बंध क्षय हो जाता है (षिपिओ नन्त अभावं) अनंत प्रकार के अभाव अर्थात् जो अपने ज्ञान में नहीं आते, जिन्हें जान नहीं पाते वे भी सब क्षय हो जाते हैं (षिपिओ पज्जाव दिट्ठि अनिस्टं) पर्याय की दृष्टि जो अनिष्ट करने वाली होती है वह भी क्षय हो जाती है।

(षिपिओ ति मूढ भावं) तीनों मूढभाव-देव मूढता, पाखंडी मूढता,

लोक मूढ़ता अथवा कर्तापने के तीनों मूढ़ भाव - मैं करता हूँ, मैं भोगता हूँ, मैं बंधता हूँ यह सब भी क्षय हो जाते हैं (षिपिओ परिणाम अजीव पज्जावं) अजीव पुद्गल शरीरादि पर्याय संबंधी परिणाम भी क्षय हो जाते हैं (षिपिओ कम्मनिबन्धं) पूर्व में बंधे हुए सब कर्म और कर्म सम्बंध भी क्षय हो जाता है (षिपिओ संसार सरनि संबंधं) अपने ममल स्वभाव की दृष्टि और उसमें लीन रहने से यह संसार परिभ्रमण का सारा सम्बंध छूट जाता है।

विशेषार्थ - आत्मा अनादिकाल से मोह के उदय से अज्ञानी था। वह श्री गुरु के उपदेश से और स्व काललब्धि से ज्ञानी हुआ तथा अपने स्वरूप को परमार्थ से जाना कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, ममल स्वभावी दर्शन ज्ञानमय हूँ। ऐसा जानने से मोह मिथ्यात्व का समूल नाश हो गया। भावक भाव और ज्ञेय भाव से भेदज्ञान हुआ, अपनी स्वरूप सम्पदा अनुभव में आई, तब फिर पुनः मोह मिथ्यात्व कैसे उत्पन्न होगा ? नहीं हो सकता ; तो फिर यह जितने भी कर्मोदय जन्य मन, शरीर, पर्याय, पाप-पुण्य आदि अनंत भाव हैं यह अपने आप क्षय हो जाते हैं।

सर्व परद्रव्यों से तथा उनसे उत्पन्न हुए भावों से जब भेद जाना, तब उपयोग के रमण के लिये अपना ममल स्वभाव ही रहा, अन्य कुछ नहीं रहा। यह मोह कर्म मन आदि जड़ पुद्गल द्रव्य हैं, उसका उदय मलिन भाव रूप है, वह भाव भी, मोह कर्म का भाव होने से पुद्गल का विकार ही है। यह भाव का भाव, जो अभाव रूप है, जब इन सबका भेदज्ञान हो गया कि यह कुछ मैं नहीं हूँ, यह कुछ भी मेरे नहीं हैं, इस ज्ञानभाव से ही यह सब कर्म, विषय, कषाय, पाप, पुण्य आदि अपने आप विला जाते हैं, क्षय हो जाते हैं।

यदि यह आत्मा दो घड़ी पुद्गल द्रव्य से भिन्न अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करे, ममल स्वभाव में लीन रहे, परीषह के आने पर भी डिगे नहीं तो घातिया कर्म का नाश होकर केवलज्ञान प्रगट हो जाता है, आत्मानुभव की ऐसी महिमा है। इस प्रकार अपने ममल स्वभाव की दृष्टि होने, उसमें लीन होने से यह मन का चंचलपना, संकल्प-विकल्प होना, पुण्य-पाप के भाव, विषय-कषाय का सम्बंध तथा शरीरादि संयोगी पर्याय सब छूट जाते हैं, सब कर्म क्षय हो जाते हैं, संसार परिभ्रमण का सम्बंध भी छूट जाता है, क्षय हो जाता है।

प्रश्न - यह ममल स्वभाव की दृष्टि और ममल स्वभाव में लीन

रहने में क्या अंतर है ?

समाधान - जब निज शुद्धात्मानुभूति पूर्वक सम्यक्दर्शन हुआ तब भेदज्ञान, तत्त्वनिर्णय, वस्तुस्वरूप जानने पर सम्यक्ज्ञान पूर्वक ज्ञायक कमलभाव प्रगट हुआ, इसके बाद द्रव्य स्वभाव को जानने से द्रव्यदृष्टि होती है जिसमें सब जीव, द्रव्य स्वभाव से सिद्ध के समान शुद्ध अपने में परिपूर्ण परमात्म स्वरूप हैं। मैं सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा टंकोत्कीर्ण अप्पा ममल स्वभावी ध्रुवतत्त्व हूँ, पुद्गल द्रव्य स्वभाव से शुद्ध परमाणु रूप है। जो यह जगत दिखाई दे रहा है, यह सब पुद्गल परमाणुओं का स्कंध है। यह शरीर धन आदि सब पुद्गल परमाणुओं का स्कंधरूप परिणमन है, जो सब क्षणभंगुर नाशवान असत् है, सब भ्रांति है। मन आदि द्वारा चलने वाले सब भाव सूक्ष्म भावकर्म रूप लहरें हैं, जो सब भ्रम है। पर्यायी परिणमन एक समय का नाशवान है। ऐसा द्रव्यदृष्टि का निर्णय अर्थात् दर्शन उपयोग, ज्ञानोपयोग दोनों में ऐसा स्पष्ट देखने जानने में आवे। यह जो बाह्य में देखने जानने आदि क्रिया रूप परिणमन चल रहा है यह सब इन्द्रिय ज्ञान है, इससे आत्मा का कोई संबंध नहीं है, आत्मा ममल स्वभाव अपने को अपने में ही जानता देखता है, जब ऐसी स्थिति बने वह ममल स्वभाव की दृष्टि है।

जो वर्तमान संयोगी पर्याय में रहते हुए दृष्टि अपेक्षा द्रव्य स्वभाव को ही देखता जानता है। शेष सारा परिणमन कर्मोदय जन्य इन्द्रियज्ञान से हो रहा है, इससे मेरा कोई सम्बंध नहीं है। सब होते हुए अपना ममल स्वभाव दिखे और सामने पुद्गल शुद्ध परमाणु रूप जानने में आवे, सब भ्रम भ्रांति मिट जाये वह शुद्ध दृष्टि या ममल स्वभाव की दृष्टि है, इससे सारे कर्मोदय क्षय हो जाते हैं। इसके बाद पर्याय की शुद्धि पूर्वक जो ममल स्वभाव में लीनता होती है, वह शुद्धोपयोग की स्थिति है जिससे शुक्लध्यान प्रगट होता है, इससे उदय में चलने वाले कर्म तथा सत्ता में पड़े कर्म भी भस्म होते हैं। दो घड़ी (अड़तालीस मिनट) में घातिया कर्म क्षय होकर केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। ममल स्वभाव की दृष्टि मात्र उपयोग की शुद्धता है। ममल स्वभाव में लीनता पर्याय की शुद्धि पूर्वक होती है।

प्रश्न - ममल स्वभाव की दृष्टि की और क्या विशेषता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

**ममल सहावं दिट्ठं, ममल परिणाम नंतनंताई ।
ममल सहाव सुसमयं, ममलं उत्पन्न मुक्ति गमनं च ॥ ३९८ ॥
अन्मोयं न्यान सहावं, न्यानं अन्मोय ममल न्यानं च ।
ममलं च दंसनत्वं, नन्त चतुष्टय मुक्ति गमनं च ॥ ३९९ ॥**

अन्वयार्थ - (ममल सहावं दिट्ठं) ममल स्वभाव की दृष्टि से (ममल परिणाम नंतनंताई) निरंतर अनंतानंत परिणाम, निर्मल, ममल होते जाते हैं (ममल सहाव सुसमयं) अपने ममल स्वभाव शुद्धात्मा में लीन होने पर (ममलं उत्पन्न मुक्ति गमनं च) पूर्ण ममलता पैदा होने पर अर्थात् पर्याय भी परिपूर्ण शुद्ध होने पर मुक्ति होती है ।

(अन्मोयं न्यान सहावं) ज्ञान स्वभाव के आलंबन से (न्यानं अन्मोय ममल न्यानं च) ज्ञान स्वभाव की लीनता और ममल ज्ञान होता है (ममलं च दंसनत्वं) और दर्शनोपयोग के ममल होते ही (नन्त चतुष्टय मुक्ति गमनं च) अनंत चतुष्टय रूप केवलज्ञान की प्रगटता तथा मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

विशेषार्थ - ममल स्वभाव की दृष्टि की यही विशेषता है कि निरंतर अनंतानंत परिणाम निर्मल ममल होते जाते हैं अर्थात् अनंत गुणों की अनंतानंत पर्यायें निर्मल ममल खिलने लगती हैं । ममल स्वभाव शुद्धात्मा में लीन होने पर पर्याय की शुद्धि पूर्वक मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

अब ज्ञानोपयोग की विशेषता ज्ञान स्वभाव का आलंबन, विशेष ज्ञानोपयोग होने पर, ज्ञानोपयोग ममल होता है और दर्शनोपयोग की विशेषता, दर्शनोपयोग के ममल होने पर अनंत चतुष्टय स्वरूप अरिहंत पद प्रगट हो जाता है तथा मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

ममल स्वभाव की दृष्टि, द्रव्यदृष्टि, चैतन्य के तल पर ही लगी रहती है । साधक दशा में शुभ भाव बीच में आते हैं परंतु साधक उन्हें छोड़ता जाता है, साध्य का लक्ष्य नहीं चूकता, ज्ञानी को पूर्णता का लक्ष्य होने से यह अंश में नहीं अटकता अर्थात् निर्मल पर्याय में भी रुकता नहीं है, ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों समरस भाव प्रगट होता जाता है ।

साधक अंदर जाये तो अनुभूति और बाहर आये तो तत्त्वचिंतन । साधक जीव के अपने अनेक गुणों की पर्यायें निर्मल होती जाती हैं, जैसे- बसंत ऋतु

में अनेक वृक्षों के विविध प्रकार के पत्र, पुष्प, फलादि खिल उठते हैं, उसी प्रकार साधक आत्मा को चैतन्यरूपी बसंत बहार में अनेक गुणों की विविध प्रकार की पर्याय खिल उठती हैं, ममल हो जाती हैं । द्रव्यदृष्टि ही साधक आत्मा की बसंत बहार है, वह चैतन्य की मस्ती में मस्त रहता है ।

प्रश्न - अभी यह नाना प्रकार के परिणाम कर्मोदय चलते हैं इनके लिये क्या करें ?

इसके समाधान में सदगुरु आगे गाथा कहते हैं -

षिपिओ कम्म सुभावं, ममल सुभाव सयल षिपिऊनं ।

आवरनं नहु पिच्छइ, ममल सहावेन कम्म संषिपनं ॥ ४०० ॥

अन्वयार्थ - (षिपिओ कम्म सुभावं) कर्मोदय, कर्म का स्वभाव सब क्षय होने वाला है (ममल सुभाव सयल षिपिऊनं) ममल स्वभाव से तो सबका सब क्षय हो जाता है (आवरनं नहु पिच्छइ) यह आवरण को मत देखो, इसमें मत उलझो (ममल सहावेन कम्म संषिपनं) ममल स्वभाव से सारे कर्म क्षय हो जाते हैं ।

विशेषार्थ - कर्मों का स्वभाव निर्जरित क्षय होने का है, ममल स्वभाव से सारे के सारे कर्म क्षय हो जाते हैं । शुद्धोपयोगी जीव प्रतिक्षण अत्यंत शुद्धि को प्राप्त करता रहता है और इस प्रकार मोह का क्षय करके निर्विकार चेतनावान होकर बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म का युगपत् क्षय करके समस्त ज्ञेयों को जानने वाले केवलज्ञान को प्राप्त करता है । यह आवरण को मत देखो, इसमें मत उलझो, ममल स्वभाव से सब कर्म क्षय हो जाते हैं ।

वर्तमान साधक दशा में पर्यायावरण अशुद्ध है इसलिये यह नाना प्रकार के परिणाम कर्मोदय चलते हैं; परंतु यह पर्यायावरण अपने ममल स्वभाव की साधना से ही शुद्ध होगा, ममल स्वभाव की दृष्टि से ही कर्म क्षय होंगे और कोई दूसरा उपाय ही नहीं है । अज्ञान जनित मिथ्यादृष्टिपने से कर्मों का आश्रव बंध होता है । सम्यक्दृष्टि ज्ञानी होने पर शुद्ध दृष्टि की साधना से कर्मों का संवर और निर्जरा पूर्वक मोक्ष होता है ।

जीव के साथ अनादि के कर्मों का मल विक्षेप आवरण रूप बंधन है और यही जीव को चारगति चौरासी लाख योनियों में भ्रमाता है । जब तक

जीव अज्ञान दशा में रहता है, इन्हीं के चक्कर में घूमता रहता है। जब जीव को भेदज्ञान पूर्वक अपने आत्म स्वरूप का सम्यक्दर्शन ज्ञान होता है, तब वह इन कर्म बंधनों से छूटकर मुक्त होता है।

इसमें सम्यक्दर्शन की साधना से मलदोष दूर होता है, सम्यक्ज्ञान की साधना से विक्षेप दोष दूर होता है और सम्यक्चारित्र की साधना से आवरण दोष दूर होता है। साधक दशा में यह नाना प्रकार के परिणाम और कर्मोदय चलते हैं, इन्हें ज्ञेयभाव और भावक भाव भी कहते हैं अर्थात् जो विश्वरूप छह द्रव्य जानने में आते हैं, वह ज्ञेय भाव हैं और जो नाना प्रकार के भाव भाये जाते हैं, वह भावक भाव कहलाते हैं।

पूर्व अज्ञान दशा में जो नाना प्रकार के भाव भाये हैं वह भाव कर्म रूप बंधन, भावक भाव सत्ता रूप उदय में चलते हैं। इन आवरण रूप कर्मोदय में न उलझकर अपने ममल स्वभाव की दृष्टि रखी जाये, उसकी साधना की जाये तो यह सब कर्म क्षय हो जाते हैं।

आत्मा ममल स्वभावी, ज्ञान स्वभावी प्रभु है, ऐसा जिसके ज्ञान में आया, वह ज्ञानी जीव जीवन में स्थिर हो जाता है यह प्रत्याख्यान है। जहाँ ज्ञान, ज्ञान में स्थिर हुआ वहाँ विशेष आनंद की धारा बहती है यही प्रत्याख्यान है। इसी से सब कर्मोदय निर्जरित क्षय होते हैं। देह की स्थिति तो मर्यादित है ही, कर्म की स्थिति भी मर्यादित है और विकार की स्थिति भी मर्यादित है। स्वयं की पर्याय में जो कार्य होता है वह भी मर्यादित है। आत्मा ध्रुव स्वभाव अमर्यादित है, त्रिकाली स्वभाव की मर्यादा नहीं होती, धर्मी की दृष्टि उस अमर्यादित स्वभाव पर होती है जिससे यह सब कर्मावरण क्षय होते हैं।

प्रश्न - यह भावक भाव कितने प्रकार के कैसे होते हैं ?

समाधान - यह भावक भाव प्रत्येक जीव की अपेक्षा अनंत प्रकार के होते हैं, सबके अपने-अपने संस्कार स्वभाव के अनुसार अलग-अलग होते हैं। सामान्यतः समयसार में सत्रह प्रकार के और यहाँ उपदेश शुद्ध सार में सत्तावन प्रकार के बताये हैं। इन्हें अपने में ही देखना पड़ते हैं और ज्ञानपूर्वक अंतर शोधन करना होता है।

साधक किस भूमिका में किस स्थिति में है तथा पूर्व कर्म बंधोदय कैसे हैं ? यह स्वयं को स्वयं में ही देखना जानना पड़ता है और स्वयं की शक्ति आत्मबल, ज्ञानबल से ही इनका परिमार्जन होता है। यदि स्वयं में उस ओर

का राग, रुचि है या रस आता है, तो इनसे छूटने में बहुत समय लगता है। जब तक स्वयं का राग, रुचि समाप्त न हो, तब तक यह भ्रमाते हैं।

प्रश्न - इन भावों के नाम, उनका स्वरूप और उनसे छूटने का उपाय क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

भावक भाव के नाम, स्वरूप और छूटने का उपाय-

१. संसार सरनि भाव, २. न्यानावरण-

संसार सरनि सहियं, संसारे सरंति परिनाम विरयंति।

न्यानावरण न दिट्ठं, न्यान सहकार सरनि मुक्कं च ॥ ४०१ ॥

अन्वयार्थ - (संसार सरनि सहियं) संसार परिभ्रमण सहित हो रहे हो (संसारे सरंति परिनाम विरयंति) संसार में घुमाने वाले सब परिणाम छूट जाने वाले हैं (न्यानावरण न दिट्ठं) ज्ञानावरण को मत देखो (न्यान सहकार सरनि मुक्कं च) ज्ञान के सहकार से यह सब चक्कर छूट जाता है।

विशेषार्थ - यहाँ सावधान होकर अपने भीतर देखना पड़ेगा और इन भावों का ज्ञान पूर्वक परिमार्जन, शमन करना होगा तभी अंतर शोधन होने पर आगे बढ़ सकते हैं।

यहाँ अपने अंतरंग परिणामों को बताकर उनकी सफाई कराई जा रही है, जब तक यह भाव साफ न हो जायें तब तक आगे नहीं बढ़ना, तभी साधक की सही साधना है। मात्र जानकारी कर लेने से भला नहीं होगा।

१. संसार सरनि भाव - अरे ! देखो, यह संसार के चक्कर में घूम रहे हो, अब किससे क्या लेना-देना ? यह संसार में घुमाने वाले सब परिणाम विला जाने वाले हैं, तुम इनमें मत उलझो।

२. न्यानावरण - यह ज्ञानावरण को मत देखो, मुझे याद नहीं रहता, ज्यादा पढ़ा लिखा नहीं हूँ, बोलना नहीं आता, इससे क्या प्रयोजन है ? ज्ञान का सहकार करो, यह सब चक्कर छूट जायेगा। ज्ञान के सहकार के लिये तीन सूत्र हैं - १. भेदज्ञान, २. तत्त्वनिर्णय, ३. वस्तु स्वरूप, इनका निरंतर स्मरण रहना चाहिये, हर समय इनका चिंतन करोगे तभी इन भावों से छूटोगे।

भेदज्ञान - इस शरीरादि से भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी चैतन्य तत्त्व भगवान आत्मा हूँ, यह शरीरादि मैं नहीं और यह मेरे नहीं।

तत्त्वनिर्णय - जिस समय जिस जीव का जिस द्रव्य का जैसा जो कुछ होना है वह अपनी तत्समय की योग्यतानुसार हो रहा है और होगा उसे कोई भी टाल फेर बदल सकता नहीं।

वस्तु स्वरूप - मैं ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा हूँ, यह एक-एक समय की चलने वाली पर्याय और जगत का त्रिकालवर्ती परिणमन क्रमबद्ध निश्चित अटल है, इससे मेरा कोई सम्बंध नहीं है। जैसा केवलज्ञानी के ज्ञान में आया है वैसा ही सब हुआ, हो रहा है और होगा उसके विपरीत कुछ नहीं हो सकता, ऐसा स्वीकार करना ही सर्वज्ञ की सच्ची श्रद्धा है।

३. परभाव-

पर भावं पर सहियं, पर सहकार नंत विरयंमि।

आवरनं नहु पिच्छदि, न्यान सहावेन पर भाव षिपनं च ॥ ४०२ ॥

अन्वयार्थ - (पर भावं पर सहियं) परभाव पर सहित हो रहे हो (पर सहकार नंत विरयंमि) पर के सहकार रूप अनंत प्रकार के परभाव सब विला जाने वाले हैं (आवरनं नहु पिच्छदि) यह आवरण को मत देखो (न्यान सहावेन पर भाव षिपनं च) ज्ञान स्वभाव से यह सब परभाव क्षय हो जाते हैं।

विशेषार्थ - ३. परभाव - अरे ! यह परभावों में बह रहे हो, पर सहित हो रहे हो यह कैसा है, वह कैसा है, उसने क्या किया, उसका क्या होगा ? उसने ऐसा किया, वह ऐसा है। यह सब परभावों से अपना क्या सम्बंध है ? जो जैसा है उसका फल वही भोगेगा, जब एक जीव का दूसरे जीव से कोई सम्बंध नहीं है, सबका अपना-अपना परिणमन स्वतंत्र है। धर्म-कर्म में कोई किसी का साथी नहीं है। जो जैसा करेगा, उसका फल वही भोगेगा, फिर इन भावों में क्यों बहते हो ? यह सब परभाव और पर संयोग विला जाने वाले हैं, क्षणिक संयोग हैं। अपने ज्ञान स्वभाव का चिंतन-मनन करो, अपने ममल स्वभाव शुद्धात्मा को देखो, यह सब परभाव क्षय हो जाते हैं। कर्मोदय जन्य, पर्यायावरण को मत देखो, अपने आत्म स्वभाव को देखो।

यह आत्मा कभी पैदा हुआ नहीं अतः अजन्मा है। कभी नाश नहीं होगा इसलिये अविनाशी है, अमूर्तिक है। अपने स्वभाव का कर्ता अपने सहज सुख का भोक्ता है। परम सुखी है, ज्ञानी है, शरीर मात्र आकारधारी है। कर्म मलों से रहित लोकाग्र जाकर ठहरता है, निश्चल है तथा यही प्रभु है,

परमात्मा है।

४. पर्याय भाव-

पज्जावं नन्त विषेसं, अनन्त परिनाम पज्जाव विरयंति।

आवरनं नहु दिट्ठं, दंसन दिट्ठी च कम्म षिपिऊनं ॥ ४०३ ॥

अन्वयार्थ - (पज्जावं नन्त विषेसं) पर्यायों की अनंत विशेषता है, अनंत प्रकार की होती हैं (अनन्त परिनाम पज्जाव विरयंति) अनंत परिणामरूपी पर्याय सब छूट जाने वाली, विला जाने वाली हैं (आवरनं नहु दिट्ठं) आवरण को मत देखो (दंसन दिट्ठी च कम्म षिपिऊनं) अपने ममल स्वभाव को देखने की दृष्टि से यह सब पर्याय और कर्म क्षय हो जाते हैं।

विशेषार्थ - ४. पर्याय भाव - पर्यायों की अनंत विशेषता है, यह पर्यायें अनंत प्रकार की होती हैं। देखो, अभी ऐसी पर्याय चल रही थी, अब ऐसी चलने लगी, अभी ऐसे भाव हो रहे थे, अब ऐसे होने लगे। यह पर्यायावरण को मत देखो, यह सब परिणाम और पर्याय सब विला जाने वाली हैं। जैसे आकाश में बादल दिखते हैं परंतु कुछ समय में ही सब छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, विला जाते हैं, इसी प्रकार यह सब पर्यायी परिणमन विला जाने वाला है क्योंकि पर्याय मात्र एक समय की होती है, इधर आई उधर गई। जैसे हवा बहती है, नदी का पानी बहता है, वैसे ही यह पर्यायी परिणमन बहता चला जा रहा है, न रुकता है, न लौटकर आता है। अपने ममल स्वभाव ध्रुवतत्त्व को देखो, उसकी दृष्टि करो तो यह सब पर्याय और कर्म भी क्षय हो जायेंगे।

ज्ञायक स्वभाव का जहाँ अंतर में भान हुआ, जानने वाला जाग उठा कि मैं तो एक ज्ञायक स्वरूप हूँ, ऐसा जब अनुभव में आया फिर वह पर्यायावरण में नहीं उलझता, पर्यायें स्वयं क्षय होती जाती हैं।

५. नोकर्म भाव-

नो कम्मं उववन्नं, नो कम्म भाव सयल विरयंति।

आवरनं नहु दिट्ठं, न्यानं दिट्ठी च कम्म विलयंति ॥ ४०४ ॥

अन्वयार्थ - (नो कम्मं उववन्नं) नोकर्म शरीरादि सम्बंधी भाव पैदा होने लगे (नो कम्म भाव सयल विरयंति) नो कर्म के भाव सब विला जाने वाले हैं (आवरनं नहु दिट्ठं) आवरण को मत देखो (न्यानं दिट्ठी च कम्म विलयंति) ज्ञान दृष्टि रखो, यह नो कर्म और कर्मोदय सब विला जायेंगे।

विशेषार्थ - ५. नोकर्म भाव - यह नोकर्म शरीरादि सम्बंधी भाव

पैदा होने लगे, यह इन्द्रिय विषय और पुण्य परिणामों, राग में मत उलझो, यह सब भाव विला जाने वाले हैं, आवरण को मत देखो, ज्ञान दृष्टि रखो, भेदज्ञान तत्त्व निर्णय करो तो यह नोकर्म और कर्मोदय सब विला जायेंगे।

इन्द्रिय सुख तो विच्छिन्न है, साता का उदय पूर्ण होते ही असाता से जीव दुःखी होता है। इन्द्रिय सुख स्थायी नहीं है, जिससे सुख की कल्पना की हो वह सामग्री भी स्थायी नहीं रहती है; जबकि अतीन्द्रिय सुख के साधन रूप चैतन्य तत्त्व तो स्थायी है और चैतन्य के आश्रय से होने वाला वह अतीन्द्रिय सुख तो राग रहित होने से बंध का कारण नहीं होता वह तो मोक्ष का कारण होता है।

मैं गोरा हूँ, रूपवान हूँ, दृढ़ हूँ, बलवान हूँ, मोटा हूँ, दुबला हूँ, कठोर हूँ, देव हूँ, मनुष्य हूँ, इन सब झूठी कल्पनाओं में मत भटको। यह सब क्षणभंगुर नाशवान धूल का ढेर पुद्गल परमाणुओं का पिंड है, जो सब विनश जाने वाला है। अपने आत्म स्वरूप को देखो, जो नित्य ज्ञान स्वभाव धारी है, सर्व मल रहित है व सब शरीरादि संयोगों से परे सच्चिदानंद स्वरूप है।

६. भाव कर्म-

भाव कम्म उववन्नं, भाव परिणाम सयल विरयंति।

आवरणं नहु सहियं, न्यान सहावेन कम्म षिपनं च ॥ ४०५ ॥

अन्वयार्थ - (भाव कम्म उववन्नं) भावकर्म पैदा होते हैं (भाव परिणाम सयल विरयंति) भाव कर्म के परिणाम सब छूट जाने वाले हैं (आवरणं नहु सहियं) यह आवरण सहित मत होओ (न्यान सहावेन कम्म षिपनं च) ज्ञान स्वभाव से सब कर्म क्षय हो जाते हैं।

विशेषार्थ - ६. भाव कर्म - यह भावकर्म मोह, राग-द्वेषादि भाव पैदा होने लगे। अरे ! देखो, अपना क्या है ? कौन है ? यह सब मोह, राग-द्वेषादि भाव विला जाने वाले हैं। यह आवरण को मत देखो, इस सहित मत होओ। अपने ज्ञान स्वभाव को देखो, ममल स्वभाव में रहो, यह सब कर्म क्षय होने वाले हैं।

सम्यक्दृष्टि पर द्रव्यों को बुरा नहीं जानता, वह तो अपने राग भाव को ही बुरा मानता है। स्वयं सराग भाव को छोड़ता है तब उसके कारणों का भी

त्याग हो जाता है।

आत्मा ज्ञान तत्त्व है, शुभाशुभ राग वह ज्ञान तत्त्व से विपरीत है, राग शुभ हो या अशुभ हो, मिथ्यादृष्टि का हो या सम्यक्दृष्टि का हो, वह ज्ञान तत्त्व से बाहर ही है, ऐसा ज्ञान तत्त्व स्वयं ही सुख स्वरूप है। जिस प्रकार आत्मा स्वयं ज्ञान स्वरूप है, उसी प्रकार आत्मा स्वयं सुख स्वरूप है, उसका ज्ञान और सुख इन्द्रियों से पार है, राग से भी पार है, ऐसे ज्ञान स्वभाव का आलंबन लो तो सब कर्म क्षय हो जाते हैं।

७. द्रव्य कर्म -

कम्मं स कम्म पिच्छं, कम्म सहावेन सयल विरयंति।

आवरणं न उवन्नं, दंसन दिट्ठी च कम्म विरयंति ॥ ४०६ ॥

अन्वयार्थ - (कम्मं स कम्म पिच्छं) यह कौन से कर्म हैं, यह कौन से कर्म हैं, इनको पहिचानना, यह सब द्रव्यकर्म हैं (कम्म सहावेन सयल विरयंति) समस्त कर्मों का स्वभाव स्वयं विला जाने का है (आवरणं न उवन्नं) यह आवरण ही पैदा नहीं होगा (दंसन दिट्ठी च कम्म विरयंति) तुम दर्शनोपयोग की दृष्टि तो करो, अपने ममल स्वभाव को तो देखो, यह कर्म भी क्षय हो जायेंगे।

विशेषार्थ - ७. द्रव्य कर्म - यह द्रव्यकर्म के भावों में क्यों उलझ रहे हो ? यह कौन सा कर्म है, यह कौन सा कर्म है, इसके जानने में क्यों लगे हो ? यह तो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय रूप आठ प्रकार के अनंतभाव होते हैं परंतु सभी कर्मों का स्वभाव तो स्वयं क्षय होने का है। उदय में आये और क्षय हुए, यह कोई स्थायी रहने वाले नहीं हैं। तुम अपने दर्शनोपयोग की दृष्टि करो, ममल स्वभाव को देखो तो यह आवरण का पैदा होना ही मिट जायेगा और सब कर्म भी क्षय हो जायेंगे।

जैसे-सिद्ध भगवान में नोकर्म नहीं हैं, वैसे ही उनमें ज्ञानावरणादि कोई भी द्रव्यकर्म नहीं हैं। उनके चौदहवें गुणस्थान के अंत समय में सर्व कर्म क्षय हो गये हैं, वैसे ही अपने आत्मा का भी इन भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मों से कोई संबंध नहीं है। पूर्व कर्म बंधोदय आवरण रूप है, सो सब स्वयं ही गलता विलाता चला जा रहा है। तुम अपने ममल स्वभाव में रहो, अपनी शुद्ध

दृष्टि रखो ।

जैसे सिद्ध परमात्मा हैं उनके समान ही अपने स्वभाव की द्रव्यदृष्टि बनाकर आत्मज्ञानी साधक आत्मा को ध्यावें । जैसे-बीज से मूल व अंकुर होते हैं, वैसे ही मोह के बीज से राग-द्वेष होते हैं इसलिये जो राग-द्वेष को जलाना चाहे, उसे ज्ञान की अग्नि से इस मोह को जलाना चाहिये । जहां तक राग-द्वेष का संबंध है वहां तक कर्म क्षय नहीं होते ; इसलिये रागादिक विभावों को तथा बाहरी व भीतरी दोनों प्रकार के विकल्पों को त्यागकर, एकाग्र मन होकर सर्व कर्म मल रहित निरंजन अपने ही ममल स्वभाव को ध्याना चाहिये ।

प्रश्न - जब सामने यह आवरण चल रहा है, तो ममल स्वभाव में कैसे रहें, शुद्ध दृष्टि कैसे रखें ?

समाधान - आत्मा का स्वतंत्र स्वभाव सर्व विकारों और कर्मावरण से रहित है । निर्मल स्फटिक के समान है, कुन्दन स्वर्ण के समान है, सूर्य के समान स्व-पर प्रकाशक है । चंद्रमा के समान शांत आत्मानंद अमृत का बरसाने वाला है, कमल के समान सदा प्रफुल्लित निर्लिप्त न्यारा है । उस आत्मा के शुद्ध स्वभाव में कोई भी बाधक कारण नहीं है । किसी भी कर्म परमाणु की शक्ति नहीं है जो उसके स्वरूप में प्रवेश कर सके व कोई विकार उत्पन्न कर सके ।

आत्मा का स्वभाव परम स्वतंत्र है, उसमें परतंत्रता की कल्पना करना, आत्मा के स्वभाव की निंदा करना है ।

जो भव्यात्मा सर्व आवरण की मलिन दृष्टि को दूर करके केवल निश्चय स्वभाव की शुद्ध दृष्टि को रखता हुआ देखता है, उसे आत्मा परम स्वतंत्र, परमशुद्ध, परमानंद मय झलकता है । स्वात्मानुभव ही साधक के लिये साध्य प्राप्ति का उपाय है ।

प्रश्न - भेदज्ञान, तत्त्वनिर्णय द्वारा वस्तु स्वरूप को जान लिया, द्रव्यदृष्टि का अभ्यास कर रहे हैं परंतु अभी यह आवरण तो बाधक बना है इसके लिये और क्या करें ?

समाधान - भेदज्ञान तत्त्वनिर्णय द्वारा वस्तु स्वरूप को जानने वाले को फिर यह आवरण बाधक नहीं रहता । यह आवरण भूमिका पात्रतानुसार चलता है, होता है ; परंतु जिसे अनुभव प्रमाण वस्तु स्वरूप का निर्णय हुआ हो जो द्रव्यदृष्टि का अभ्यास करे, उसे यह कोई बाधक नहीं होता, तत्समय

की योग्यतानुसार चलता है तो वह उसका ज्ञायक है ।

सम्यक्चारित्र स्वभाव स्थिति में पात्रतानुसार परिणमन चलेगा, उसका भी ज्ञानी ज्ञायक है । कर्मावरण को बाधक मानना, पर की सत्ता को मानना उसे महत्व देना है और यह अज्ञान है । ज्ञानी जिसे स्व स्वरूप की सत्ता शक्ति का बोध है, वह पर की सत्ता मानता ही नहीं है, फिर आवरण बाधक कैसे होगा ? अभी अपने ही ज्ञान का परिमार्जन करो ।

प्रश्न - फिर यह संयोग और पर्यायावरण देखने जानने में तो आता है ?

समाधान - देखना जानना कोई अपराध नहीं है, वह तो ज्ञायक का स्वभाव है, केवलज्ञान में तीनकाल और तीनलोक के समस्त द्रव्यों का त्रिकालवर्ती परिणमन देखने जानने में आता है । वहां क्या बाधा है ? अपना स्वरूप भी केवलज्ञान स्वभावी है, अपनी स्व सत्ता शक्ति का बोध जगाओ, अपने ज्ञान को सूक्ष्म और शुद्ध करो ।

प्रश्न - यह भाव तो पकड़ में आने लगे पर अभी इनका सही निराकरण नहीं होता ?

इसी निराकरण के लिये सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

८.आर्तध्यान भाव-

आरति रति सहकारं, आरति परिणाम नन्त विरयंति ।

आवरणं नहु पिच्छदि, न्यानं अन्मोय कम्म षिपनं च ॥ ४०७ ॥

अन्वयार्थ- (आरति रति सहकारं) आर्तध्यान के भावों में रति और सहकार करना (आरति परिणाम नन्त विरयंति) आर्तध्यान के सब परिणाम छूट जाने वाले हैं (आवरणं नहु पिच्छदि) आवरण को मत देखो, इसके जानने में मत लगे (न्यानं अन्मोय कम्म षिपनं च) अपने ज्ञान स्वभाव का आलंबन लो, यह सब कर्म बंध और आर्तध्यान क्षय हो जायेंगे ।

विशेषार्थ- ८.आर्तध्यान भाव - दुःखमय परिणामों का होना सो आर्तध्यान है । इसके चार भेद हैं-

१. इष्ट वियोगज- इष्ट प्रिय स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि तथा धर्मात्मा पुरुषों के वियोग से संक्लेश रूप परिणाम होना ।

२. अनिष्ट संयोगज- दुःखदायी अप्रिय स्त्री, पुत्र, भाई, पड़ोसी, पशु

आदि तथा पापी दुष्ट पुरुषों के संयोग होने से संक्लेश रूप परिणाम होना ।

३. पीड़ा चिंतवन—रोग के प्रकोप की पीड़ा से संक्लेश रूप परिणाम होना व रोग के अभाव का चिन्तवन करना ।

४. निदान बंध—आगामी काल में विषय भोगों की वांछा रूप संक्लेश परिणाम होना ।

यह आर्तध्यान संसार की परिपाटी से उत्पन्न और संसार के मूल कारण हैं, मुख्यतया तिर्यच गति को ले जाने वाले हैं ।

पांचवें गुणस्थान तक चारों और छठे गुणस्थान में निदान बंध को छोड़कर शेष तीन आर्तध्यान होते हैं परंतु सम्यक्त्व अवस्था में मंद होने से तिर्यच गति के कारण नहीं होते ।

साधक को अपनी पात्रता, भूमिका, परिस्थिति का ध्यान रखते हुए अपना पुरुषार्थ करना चाहिये । सिद्धांत को सामने रखने से फिर कोई भय भ्रम नहीं होता ।

यह आर्तध्यान के परिणाम सब छूट जाने वाले हैं । छठे गुणस्थान के आगे तो होते ही नहीं हैं । यह आवरण को मत देखो, ज्ञान का आलंबन रखो, यह सब कर्म क्षय हो जायेंगे ।

९. रौद्रध्यान भाव—

रौद्रं सहाव जुत्तं, रौद्रं सहकार नन्त विरयंति ।

आवरनं नहु दिट्ठं, दंसन दिट्ठी च कम्म विलयंति ॥ ४०८ ॥

अन्वयार्थ — (रौद्रं सहाव जुत्तं) रौद्रध्यान के भावों में लगे हो (रौद्रं सहकार नन्त विरयंति) यह रौद्रध्यान के सब परिणाम छूट जाने वाले हैं (आवरनं नहु दिट्ठं) यह आवरण को मत देखो (दंसन दिट्ठी च कम्म विलयंति) दर्शन दृष्टि रखो तो यह रौद्रध्यान और कर्म क्षय हो जायेंगे ।

विशेषार्थ — **९. रौद्रध्यान भाव** — क्रूर, निर्दय, दुष्ट परिणामों का होना रौद्रध्यान है । यह चार प्रकार का है—

१. हिंसानंद—जीवों को अपने तथा पर के द्वारा बध पीड़ित ध्वंस घात होते हुए हर्ष मानना, पीड़ित करने कराने का चिंतवन करना ।

२. मृषानंद—आप असत्य झूठी कल्पनायें करके तथा दूसरों के द्वारा

ऐसा होते हुए देखकर, जानकर आनंद मानना व असत्य भाषण करने कराने का चिंतवन करना ।

३. चौर्यानंद—चोरी करने, कराने का चिंतवन तथा दूसरों के द्वारा इन कार्यों के होते हुए आनंद मानना ।

४. परिग्रहानंद—क्रूर चित्त होकर बहुत आरंभ, बहुत परिग्रह रूप संकल्प व चिंतवन करना तथा अपने और पराये परिग्रह के बढ़ने बढ़ाने में आनंद मानना ।

यह रौद्रध्यान नरक ले जाने वाले हैं । पंचम गुणस्थान तक होते हैं, परंतु सम्यक्त्व अवस्था में मंद होने से नरक गति के कारण नहीं होते ।

छठे गुणस्थान से तो रौद्रध्यान होते ही नहीं हैं । यह सब रौद्रध्यान के परिणाम विला जाने वाले हैं । आवरण को मत देखो, अपने ममल स्वभाव की दृष्टि रखो । अपने ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा को देखो, पात्रता बढ़ाओ यह सब रौद्रध्यान और कर्म भी क्षय हो जाने वाले हैं ।

शुद्धात्मा का अनुभव होने के पश्चात् पांचवें और छठे गुणस्थान में उस-उस प्रकार के भाव आये बिना नहीं रहते । वे रागादि भाव बंध के कारण हैं और हेय हैं, ज्ञानी ऐसा जानते हैं ।

साधक को क्षण में शुभ और क्षण में अशुभ भाव हुआ ही करते हैं यह कोई विशेष बात नहीं है । धर्मी को ज्ञानधारा और कर्मधारा प्रतिक्षण चला करती है । ज्ञानधारा का चलना यही विशेष बात है, इस ज्ञानधारा से ही संसार भ्रमण से छुटकारा मिलता है ।

१०. मिथ्यात्व भाव—

मिथ्यात सहिय सहकारं, मिथ्या परिणाम सयल विरयंति ।

आवरनं नहु दिट्ठं, न्यानं अन्मोय मिथ्य गलियं च ॥ ४०९ ॥

अन्वयार्थ — (मिथ्यात सहिय सहकारं) मिथ्यात्व भाव सहित हो रहे हो, उसी का सहकार चल रहा है (मिथ्या परिणाम सयल विरयंति) मिथ्यात्व के सब भाव छूट जाने वाले हैं (आवरनं नहु दिट्ठं) आवरण को मत देखो (न्यानं अन्मोय मिथ्य गलियं च) ज्ञान का आलम्बन रखो, अपने में स्वस्थ दृढ़ रहो, यह सब मिथ्या भाव गल जायेंगे ।

विशेषार्थ— १०. मिथ्यात्व भाव — जिस जीव को अनादिकाल से कभी सम्यक्त्व अर्थात् आत्म स्वरूप का श्रद्धान नहीं हुआ, उसे अनादि

मिथ्यादृष्टि कहते हैं और जो सम्यक्त्वी होकर पुनः आत्म श्रद्धान से च्युत होकर मिथ्यात्वी होता है तो उस समय मिथ्यात्व की उदय रहित अवस्था में परिणामों की निर्मलता से उस सत्ता स्थित मिथ्यात्व प्रकृति का द्रव्य शक्ति हीन होकर मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व इन तीन रूप हो जाता है।

जो मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आ जाये तो मिथ्यात्वी, अनंतानुबंधी कषाय का उदय हो जाये तो सासादन सम्यक्दृष्टि और मिश्र मोहनीय का उदय हो जाये तो मिश्र सम्यक्त्वी हो जाता है अर्थात् उसके सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के विलक्षण मिश्ररूप परिणाम हो जाते हैं। कदाचित् किसी जीव के सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व का उदय हो जाये तो उसे क्षयोपशम या वेदक सम्यक्त्व कहते हैं, इसकी जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति साधिक ६६ सागर है। यद्यपि क्षयोपशम सम्यक्त्व में सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व के उदय से किंचित् मल दोष लगते हैं तथापि वे मल दोष सम्यक्त्व के घातक न होने से सम्यक्त्व नहीं छूटता। जब जीव के सम्यक्त्व की विरोधनी उपर्युक्त ७ प्रकृतियों की सत्ता का सर्वथा अभाव हो जाता है तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से पर पदार्थों में आत्म बुद्धि उत्पन्न होती है, इसी को पर्याय बुद्धि कहते हैं अर्थात् कर्मोदय से मिली हुई शरीरादि सामग्री को ही जीव अपना स्वरूप समझने लगता है।

यह मिथ्यात्व भाव भी सब छूट जाने वाला है, उपशम सम्यक्त्व व वेदक सम्यक्त्व में ही इन मिथ्यात्व भावों का आवरण रहता है, जो सातवें और दसवें गुणस्थान तक चलता है, इस आवरण को मत देखो, अपने ज्ञान स्वभाव का आलम्बन रखो, यह सब मिथ्यात्व भाव गल जायेंगे।

११. अब्रह्म भाव-

अबंभ सहाव संजुत्तं, अबंभ परिनाम सयल गलियं च।

आवरणं नहु जुत्तं, न्यान सहावेन अबंभ विलयंति ॥ ४१० ॥

अन्वयार्थ- (अबंभ सहाव संजुत्तं) अब्रह्म के भावों में लगे हो, बह रहे हो (अबंभ परिनाम सयल गलियं च) अब्रह्म के परिणाम सब गलने वाले हैं (आवरणं नहु जुत्तं) इस आवरण में मत जुड़ो (न्यान सहावेन अबंभ विलयंति)

ज्ञान स्वभाव में रहने से सब अब्रह्म भाव विला जाते हैं।

विशेषार्थ - ११. अब्रह्म भाव - देवी, मनुष्यनी, तिर्यचनी तीन प्रकार की चेतन स्त्रियों को मन, वचन, काय तीनों योगों करके कृत, कारित, अनुमोदना द्वारा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण पंचेन्द्रिय के वशीभूत होकर आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चार संज्ञाओं युक्त, द्रव्य भाव दो प्रकार से अनंतानुबंधी आदि सोलह कषाय करके सेवन करने से १७२८० भेद रूप दोष चेतन स्त्री संबंधी कुशील के होते हैं।

चित्र या लेप मिट्टी की, काष्ठ की, पाषाण की बनी हुई तीन प्रकार की अचेतन स्त्रियों के मन, काय दो योगों द्वारा कृत, करित, अनुमोदना करके पाँच इन्द्रियों के वशीभूत, चार संज्ञा युक्त, द्रव्य भाव दो प्रकार सेवन करने से ७२० भेद रूप दोष अचेतन स्त्री संबंधी कुशील के होते हैं।

इस प्रकार चेतन-अचेतन दोनों संबंधी अठारह हजार कुशील के भेद हुए। इन भेदों द्वारा लगते हुए कुशील के दोषों का जैसा-जैसा त्याग होता जाता है, वैसे-वैसे ही शीलगुण प्राप्त होते जाते हैं।

ब्रह्मचारी के चेतन-अचेतन सर्वप्रकार की स्त्रियों से उत्पन्न हुए अब्रह्म भाव का त्याग पाक्षिक अवस्था से ही आरंभ हो जाता है तथापि स्त्री सेवन का सर्वथा त्याग न होने से यथार्थ ब्रह्मचर्य नाम नहीं पा सकता। निरतिचार त्याग ब्रह्मचर्य प्रतिमा में होता है। यहां वेद कषाय की इतनी मंदता हो जाती है कि जिससे काम वेदना संबंधी मूर्च्छा उत्पन्न ही नहीं होती। इसी मंदता के क्रमशः बढ़ते-बढ़ते नवमें गुणस्थान में वेद कषाय का सर्वथा अभाव हो जाता है जिससे आत्मा वेद कषाय जनित कुशील की मलिनता से रहित हो जाती है।

बाह्य व्यवहार ब्रह्मचर्य तो स्त्री विषय का त्याग और अंतरंग (निश्चय) ब्रह्मचर्य अपने आत्म स्वरूप में उपयोग को स्थिर करना है। यह आवरण को मत देखो, अपने ज्ञान स्वभाव में रहो तो यह सब अब्रह्म भाव विला जायेंगे।

जैसे नदी में पानी बहता जाता है, उसमें क्या बहता है, कैसा बहता है ? किनारे खड़े व्यक्ति को निर्विकारी ज्ञायक रहना चाहिये तभी वह बुद्धिमान है। ऐसे ही साधक को कर्मों के बहते प्रवाह में निर्विकारी न्यारे ज्ञायक रहना चाहिये तभी वह ज्ञानी है। यह कर्मोदय जन्य प्रवाह तो अपनी स्थिति तक चलेगा।

इस प्रकार आगम और अनुभव से प्रमाण करके जिसने वस्तु स्वरूप

को जाना है उसे इन्द्र भी डिगाने आये तो वह अपनी मान्यता से नहीं डिगता।

१२. अज्ञान भाव-

न्यानी अन्मोय अन्यानं, अन्यान परिनाम नन्त विरयंति।

आवरनं नहु उत्तं, न्यानं अन्मोय कम्म विलयंति ॥ ४११ ॥

अन्वयार्थ - (न्यानी अन्मोय अन्यानं) ज्ञानी होकर तुम अज्ञान की अनुमोदना कर रहे हो (अन्यान परिनाम नन्त विरयंति) अज्ञान परिणाम तो सारे विला जाने वाले हैं (आवरनं नहु उत्तं) आवरण की क्या कहते हो, उसकी चर्चा ही मत करो (न्यानं अन्मोय कम्म विलयंति) ज्ञान का आलंबन रखो यह सब कर्म विला जायेंगे।

विशेषार्थ - १२. अज्ञानभाव - अपने स्वरूप की विस्मृति ही अज्ञान है, अज्ञानभाव में बहना उचित नहीं है, जब परीक्षा और स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा अनुभव कर लिया कि आत्मा का यथार्थ स्वभाव ज्ञान दर्शन मात्र है। इसमें राग-द्वेष की लहरें मोह वश पुद्गल में अपनापन मानने के कारण उठती हैं और यही कर्मबंध का मूल है। कर्मजनित पर्यायों को ही अपना मानना अज्ञान है। यदि परीक्षा पूर्वक इन सब बातों पर विचार करो, अपने स्वभाव-विभाव का बोध प्राप्त कर उस पर दृढ़ विश्वास लाओ तो निष्कर्म होकर अपने शुद्ध स्वभाव को पाकर कृत कृत्य परमात्मा हो सकते हो।

यह आवरण की चर्चा ही मत करो, अपने ज्ञान स्वभाव में रहो तो यह सब अज्ञान भाव विला जायेगा।

सम्यक्दर्शन सहित जो मति श्रुत ज्ञान है वह केवलज्ञान का अंश है। चेतना गुण का अनुभव करने वाला ज्ञानी अन्य सब विकल्पों को छोड़ देता है। चेतना गुण के अनुभव से समस्त विपरीतताओं का नाश हो जाता है।

१३. अनिष्ट भाव-

अनिष्ट सहाव सहियं, अनिष्ट परिनाम सयल गलियं च।

आवरनं नहु जुत्तं, न्यान सहावेन अनिष्ट विलयन्ति ॥ ४१२ ॥

अन्वयार्थ - (अनिष्ट सहाव सहियं) अनिष्ट स्वभाव सहित हो रहे हो (अनिष्ट परिनाम सयल गलियं च) अनिष्ट परिणाम सारे गल जाने वाले हैं

(आवरनं नहु जुत्तं) आवरण में युक्त मत होओ (न्यान सहावेन अनिष्ट विलयन्ति) ज्ञान स्वभाव से सब अनिष्ट भाव विला जाते हैं।

विशेषार्थ - १३. अनिष्ट भाव - शल्य, संकल्प-विकल्प रूप परिणाम, ऐसा न हो जाये, ऐसा हो गया तो फिर क्या होगा ? यह उचित है, यह अनुचित है, यह इष्ट है, यह अनिष्ट है, यह मल दोष कहलाते हैं, जो सब औदयिक भाव हैं।

सम्यक्दृष्टि यद्यपि कर्म के उदय की बलवत्ता से इंद्रियों को वश में करने में असमर्थ है इसलिये पंचेन्द्रियों के विषय सेवन करता है तो भी उसको उनसे रुचि नहीं है। ज्ञानी पुरुष व्रतादि शुभाचरण करता हुआ भी उनके उदय जनित शुभ फलों की वांछा नहीं करता, यहां तक कि व्रतादि, शुभाचरणों को आत्म स्वरूप के साधक जानकर आचरण करते हुए भी हेय जानता है। सम्यक्दृष्टि जीव जानता है कि शुभाशुभ कर्मों के उदय से जीवों की अनेक प्रकार विचित्र दशा होती है, कदाचित् मेरा भी अशुभ उदय आ जावे तो मेरी भी ऐसी ही दुर्दशा होना कोई असंभव नहीं है इसलिये वह दूसरों को हीन बुद्धि से या ग्लान दृष्टि से नहीं देखता।

सम्यक्दृष्टि जीव को दृढ़ श्रद्धान हो जाता है कि मैं आत्मा शुद्ध चैतन्य शक्ति युक्त होता हुआ कर्मावरण के कारण क्षायोपशमिक ज्ञान दर्शन रूप अनेकाकार हो रहा हूं। राग-द्वेष से मलिन हो निजात्म स्वरूप को छोड़ अन्य पर पदार्थों में रत हो रहा हूं; इसलिये कब चारित्र धारण कर राग-द्वेष का समूल नाश करूं और निष्कर्म होकर निज स्वरूप में लीन हो शांत दशा प्राप्त करूं। यह अनिष्ट भाव सब विला जाने वाले हैं, आवरण को मत देखो, अपने ज्ञान स्वभाव का आलंबन रखो, ज्ञानोपयोग करो, यह सब अनिष्ट भाव विला जायेंगे।

प्रश्न - एक तरफ स्वभाव की इतनी उत्कृष्टता, श्रेष्ठता है, परमात्म स्वरूप है और पर्याय की इतनी पामरता, नीच निकृष्ट दशा, यह कैसा विरोधाभास है ?

समाधान - आत्मा स्वभाव से तो अनादि निधन सर्वोत्कृष्ट श्रेष्ठ परमात्म स्वरूप है परंतु पर्याय से अनादि से ऐसा ही नीच निकृष्ट हो रहा है। अपने स्वरूप की विस्मृति से अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बना पर्याय में ही एकमेक हो रहा है। जिसे अपने आत्म स्वरूप का बोध हो जाता है, पर्याय से भिन्नता का श्रद्धान ज्ञान हो जाता है, वही सम्यक्दृष्टि ज्ञानी है तथा वह अपनी स्वभाव साधना से

पर्याय की पामरता को दूर करता हुआ परिपूर्ण शुद्ध मुक्त हो जाता है।
प्रश्न - क्या ज्ञानी के स्वभाव और पर्याय में इतना विरोधाभास होता है ?

समाधान - हां, ज्ञानी के स्वभाव और पर्याय में ही इतना विरोधाभास होता है, अज्ञानी को तो इसका पता ही नहीं है। अभी क्या है, स्वभाव और पर्याय में तो अनादि से विषम विरोधाभास रहा है। निगोद तिर्यच नरक आदि में क्या स्थिति रही है, वर्तमान में मनुष्य भव, सब शुभयोग, पुण्य का उदय, धर्म का शरण है, सो सामान्य पाप विषय कषाय के ही परिणाम हैं। अब स्वभाव साधना का जितना पुरुषार्थ करोगे, उतनी ही पर्याय की शुद्धि होती हुई पात्रता बढ़ेगी। अब पर्याय का लक्ष्य तो रखो ही मत। पर्याय की पामरता को भी मत देखो। अपने स्वभाव की श्रेष्ठता, उत्कृष्टता और महिमा को देखो, उसी का बहुमान, उत्साह करो तभी यह पर्याय की पामरता, निकृष्टता मिटेगी। पर्याय की शुद्धि से ही परमात्म दशा प्रगट होगी।

प्रश्न - यह कर्मोदय जन्य परिणमन कब तक कैसा चलेगा ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

१४. कर्मोदय जन्य क्रिया भाव-

कम्मस्स कम्म जुत्तं, कम्म सहकार कृत्य नहु पिच्छं ।

आवरन भाव तिक्तं, न्यान सहावेन कम्म विलयंति ॥ ४१३ ॥

अन्वयार्थ - (कम्मस्स कम्म जुत्तं) जब तक कर्मों के उदय से कर्मों में युक्त रहोगे अर्थात् कर्मोदय में एकमेक रहोगे तब तक कर्मोदय चलेगा (कम्म सहकार कृत्य नहु पिच्छं) कर्मों के द्वारा होने वाले कृत्य, क्रिया कार्य को मत देखो (आवरन भाव तिक्तं) आवरण भाव छूट जाने वाले हैं (न्यान सहावेन कम्म विलयंति) ज्ञान स्वभाव से सब कर्म विला जाते हैं।

विशेषार्थ - १४ . कर्मोदय जन्य क्रिया भाव - जीव का और कर्मों का अनादि से एक क्षेत्रावगाह निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, कर्मों के उदय में लिप्त होने से पुनः कर्मों का बंध होता है और यह श्रृंखला चलती रहती है, इन कर्मोदय से अपने स्वरूप को भिन्न जानकर कर्मोदय द्वारा होने वाले भाव, क्रिया, पर्याय से निर्विकारी न्यारे ज्ञायक रहो, यह आवरण को मत देखो, अपने ज्ञान स्वभाव की साधना से यह सब कर्म विला जाते हैं।

मैं कर्म मल से रचे हुए इस बाहरी शरीर से भिन्न हूं तथा मन के विकल्पो से भी भिन्न हूं, शब्दादि से भी भिन्न हूं, मैं एक चैतन्य मूर्ति हूं, ममल हूं, शांत हूं, सदा सहज सुख का धारी हूं, जिसके चित्त में ऐसी श्रद्धा हो व जो शांत हो, आरंभ रहित हो, उसको कर्मोदय का क्या भय है ? क्योंकि फिर वर्तमान में भी कर्मोदय उसका कुछ नहीं करते, सब अपने आप क्षय होते जाते हैं तथा भविष्य में कोई कर्म बंध होता ही नहीं है, इस प्रकार कर्मों से पूर्ण मुक्ति हो जाती है। मैं नित्य सहजानंद मय हूं, शुद्ध हूं, चैतन्य स्वरूप हूं, सनातन हूं, परम ज्योति स्वरूप हूं, अनुपम हूं, अविनाशी हूं, इस प्रकार ज्ञानी अपने भीतर अपने को देखता है। इन कर्मोदय आवरण को नहीं देखता, इससे यह कर्मोदय विला जाते हैं। अपने आत्म स्वरूप को भूलकर जीव ने देह दृष्टि से अनंत संसार भव भ्रमण किया। कर्मोदय जन्य कृत्य भाव, क्रिया, पर्याय में जुड़कर कर्मबंध किया। अब आत्म दृष्टि से अपने ज्ञान स्वभाव की साधना करो, जिससे सारे कर्म बंधनों से छूटकर मुक्ति की प्राप्ति हो।

प्रश्न - यह कर्मोदय से पुनः कर्मबंध कैसे होता है ?

समाधान - द्रव्यकर्म के उदय से भावकर्म होते हैं तथा भावकर्म से द्रव्यकर्म का बंध होता है। जीव को अपने स्वरूप का बोध न होने से वह इन कर्मोदय परिणमन में मोह, राग-द्वेष करता है इससे पुनः कर्मबंध होता है, जिसे अपने आत्म स्वरूप का बोध सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान होता है, वह इन कर्मोदय से न जुड़ता है न मोह, राग-द्वेष करता, इससे यह कर्मोदय गल जाता है, विला जाता है, क्षय हो जाता है, पुनः कर्मबंध नहीं होता। कर्मोदय परिणमन में राग-द्वेष होना ही पुनः कर्मबंध का कारण है।

प्रश्न - यह राग-द्वेषादि भावों से कैसे छूटा जाये, कैसे बचा जाये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

१५. राग भाव, १६. द्वेष भाव-

रागं च राग जुत्तं, राग परिनाम सयल गलियं च ।

आवरन भाव नहु दिट्ठं, दंसन दिट्ठी च राग गलियं च ॥ ४१४ ॥

दोषं च भाव जुत्तं, दोषं सहकार नन्त गलियं च ।

आवरनं न उपत्ति, न्यान बलेन दोस विलयंति ॥ ४१५ ॥

अन्वयार्थ - (रागं च राग जुत्तं) राग के उदय में रागपूर्वक जुड़ जाना

(राग परिणाम सयल गलियं च) राग के परिणाम तो सब गल जाने वाले हैं (आवरण भाव नहु दिष्टं) आवरण भाव को मत देखो (दंसन दिष्टी च राग गलियं च) द्रव्य दृष्टि रखो तो राग गल जाता है।

(दोषं च भाव जुत्तं) द्वेष के उदय में द्वेष भाव से जुड़ जाना (दोषं सहकार नन्त गलियं च) यह द्वेष के सहकारी अनंत भाव गल जाने वाले हैं (आवरणं न उपत्ति) आवरण ही पैदा नहीं होता (न्यान बलेन दोस विलयंति) ज्ञान बल से दोष विला जाते हैं।

विशेषार्थ - मोहनीय कर्म के उदय से मोह, राग-द्वेषादि भाव होते हैं, जीव अपने अज्ञान से उन भावों में जुड़ जाता है, उनमें बहने लगता है। जिसे अपने स्वरूप का बोध होता है, जो वस्तु स्वरूप को जानता है वह इन भावों में नहीं जुड़ता, अपने ज्ञान बल से द्रव्य दृष्टि से वस्तु स्वरूप को देखता है तो यह सब भाव गल जाते हैं, विला जाते हैं, पुनः कर्म बंध नहीं होता।

१५. रागभाव - राग के उदय में स्वयं के अज्ञान से राग पूर्वक जुड़ जाना अर्थात् किसी भी सामने वाली वस्तु को अच्छा प्रिय मानने लगना ही राग भाव है और इससे कर्म का बंध होता है। जीव के संसार संयोगी दशा में इस प्रकार का निरंतर परिणमन चलता रहता है और यह सारा परिणमन स्वयमेव गलता-विलाता क्षय होता चला जाता है। सावधानी इतनी रखना है कि जो यह पूर्व कर्म बंधोदय पर्यायावरण चल रहा है, इसमें जुड़ो मत, इसे देखो मत और कुछ भी अच्छा-बुरा मत मानो, यही साधक की साधना है।

द्रव्यदृष्टि से जब वस्तु स्वभाव को जान लिया कि जीव द्रव्य सब स्वभाव से सिद्ध के समान शुद्ध परमात्म स्वरूप हैं और पुद्गल द्रव्य शुद्ध परमाणु रूप है। मैं सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा ममल स्वभावी, टंकोत्कीर्ण अप्पा ध्रुवतत्त्व हूं। यह एक-एक समय की पर्याय और जगत का त्रिकालवर्ती परिणमन क्रमबद्ध निश्चित अटल है, इससे मेरा कोई संबंध नहीं है; फिर बताओ क्या अच्छा है और क्या बुरा है ?

१६. द्वेष भाव - द्वेष भाव के उदय में द्वेष भाव पूर्वक जुड़ जाना, इससे भी कर्मबंध होता है। राग के तेरह भेद हैं-

अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन संबंधी माया और लोभ कषाय, हास्य, रति, तीन वेद (स्त्री, पुरुष नपुंसक)

द्वेष के बारह भेद हैं-

अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन संबंधी क्रोध एवं मान कषाय, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा।

इस प्रकार यह राग-द्वेष के अनंत परिणाम सब गल जाने वाले, विला जाने वाले हैं। इन किसी भी भाव में अच्छा-बुरा मानना ही बंधन है।

राग-द्वेष मोहनीय कर्म के उदय स्वरूप पर्यायावरण से होता है। साधक को इतनी सावधानी और होश में रहना आवश्यक है कि निरंतर अपने स्वरूप का स्मरण, वस्तु स्वरूप का ज्ञान और द्रव्यदृष्टि रखे तथा अपने ममल स्वभाव में रहे तो यह सब पर्यायावरण भावक भाव अपने आप गलते विलाते चले जाते हैं।

जैसे-वर्तमान जीवन का इतना समय निकल गया, चालीस-पचास वर्ष की आयु हो गई, इसमें होने वाला कर्मोदय कृत्य, भाव, क्रिया, पर्याय कहां है ? सब गल गया, विला गया, आज के दिन का पूरा परिणमन भी गल गया, विला गया। अब इसमें भूल यह होती है कि जिसे आत्म स्वरूप का बोध, स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है, वह इन्हीं में जुड़ा अच्छा-बुरा मानता अनंत कर्मों का बंध करता है और इसी दशा में सम्यक्दृष्टि ज्ञानी साधक स्व-पर विवेक के द्वारा अपने में स्वस्थ सावधान रहता है, इससे पुनः कर्मबंध नहीं होता और यह पूर्व पर्यायावरण गलता-विलाता क्षय होता चला जाता है, यही मुक्तिमार्ग है।

यह कषाय रूप राग-द्वेष का परिणमन जिसके अनंत परिणाम होते हैं, यह सब अपने आप क्षय होने वाला है। नवमें, दसवें गुणस्थान तक ही चलता है इसके बाद यह कुछ भाव होते ही नहीं हैं। इस आवरण को मत देखो, द्रव्यदृष्टि रखो, ज्ञान बल से अपने में स्वस्थ सावधान होश में ज्ञान स्वभाव में रहो तो यह सब कर्मोदय क्षय होता जाता है।

प्रश्न - यह मन वचन तो शांत होते ही नहीं हैं, इन्हें क्या करें ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

१७. मन, १८. वचन-

मन सुभाव संजुत्तं, मन सहकार परिणाम गलियं च।

आवरणं नहु पिच्छइ, न्यान सहावेन कम्म गलियं च ॥ ४१६ ॥

वयनं असुह सहावं, वयन परिनाम सयल गलियं च ।

आवरनं नहु जुत्तं, न्यान सहावेन कम्म गलियं च ॥ ४१७ ॥

अन्वयार्थ - (मन सुभाव संजुत्तं) मन के स्वभाव में लीन होना, जुड़ जाना यही मन को सक्रिय रखता है (मन सहकार परिनाम गलियं च) मन के संकल्प-विकल्प रूप सब परिणाम गल जाने वाले हैं (आवरनं नहु पिच्छइ) इस आवरण को मत देखो, इसे जानने पहिचानने की कोशिश मत करो (न्यान सहावेन कम्म गलियं च) ज्ञान स्वभाव से सब कर्म क्षय हो जाते हैं ।

(वयनं असुह सहावं) वचन रूप भी अशुभ स्वभाव है (वयन परिनाम सयल गलियं च) वचन बोलने के सारे परिणाम भी गल जाने वाले हैं (आवरनं नहु जुत्तं) इस आवरण में मत जुड़ो (न्यान सहावेन कम्म गलियं च) ज्ञान स्वभाव से सब कर्म क्षय हो जाते हैं ।

विशेषार्थ - १७. मन, १८. वचन - जानने का भ्रम ही अज्ञान है । आत्म अनुभव ही ज्ञान है । न तो बौद्धिक ज्ञान कार्यकारी है, न भक्ति कार्यकारी है, न कर्म कार्यकारी हैं, यह तीनों मन के ही खेल हैं । जो इन तीनों के पार जायेगा वही आत्मा की अनुभूति करेगा ।

कुछ बातें सीख लेना, स्मरण कर लेना, ज्ञान नहीं है । स्मृति के प्रशिक्षण से कोई पंडित हो सकता है लेकिन उससे प्रज्ञा जागृत नहीं होती है ।

जो व्यक्ति जिन चीजों को, जिन बातों को, जिन कामों को बुरा मानकर उनसे बचने की, हटने की, भागने की कोशिश करता है वही सारी बातें, चौबीस घंटे वे ही सारे विचार उसको घेरे रहते हैं । सोते-जागते वह उनमें ही डूबा रहता है और जितना वह स्वयं को उनमें डूबा हुआ पाता है उतना ही भयभीत होता है, मन उतना ही सक्रिय रहता है ।

जिस विचार से आप लड़ते हैं, अच्छा-बुरा मानते हैं, वही विचार आपका आमंत्रण स्वीकार कर लेता है, जिससे आप डरते हैं, लड़ते हैं, मन उन्हीं विचारों को बार-बार सामने लाता है इसलिये (विचार से) वचन से, मन से न तो डरना है, न उसे डराना है, न उसे पकड़ना है, न उसे धक्का देना है, न अच्छा-बुरा मानना है । उसे तो मात्र देखना है, निश्चय ही इसमें बड़ी सजगता और दृढ़ता की जरूरत है परंतु जिसे स्व-पर का भेदज्ञान है, जिसे आत्म

स्वरूप का बोध है, जो अपने आत्मीय आनंद निराकुल सुख शांति में रहना चाहता है, उसे यह साधना करना पड़ेगी, इतनी हिम्मत जुटाना पड़ेगी क्योंकि बुरा भी विचार आयेगा और आदतवश मन होगा कि इसे धक्का दे दें और अच्छा भी विचार आयेगा और मन होगा कि पकड़ लें परंतु दोनों स्थिति में ज्ञायक ज्ञान स्वभाव में रहना है, तभी यह मन, विचार गल जायेगा, विला जायेगा । इस मन की यह जो पकड़ने और धक्का देने की प्रवृत्ति है, अच्छा-बुरा मानने की सहज आदत है । बोध पूर्वक, स्मृति पूर्वक, ज्ञानभाव, होश पूर्वक अगर उसे देखा जाये, साक्षी रहें तो वह वृत्ति धीरे-धीरे शिथिल हो जाती है, मन शांत होने लगता है ।

जो साधक मन को वचन को देखने में समर्थ हो जाता है वह वस्तुतः मन से विचारों से मुक्त होने में भी समर्थ हो जाता है । जिसको साक्षी होना है और सत्य को जानना है उसे समस्त विचारों को समान विचार समझना होगा, न कोई अच्छा है, न कोई बुरा है क्योंकि जैसे ही हमने यह निर्णय किया कि कुछ अच्छा है, कुछ बुरा है फिर साक्षी ज्ञायक नहीं रह जायेंगे ।

साक्षी ज्ञायक होने के लिये जरूरी है कि हम निष्पक्ष हों, हमारी कोई धारणा न हो, हमारी कोई कल्पना न हो, हम कुछ भी आरोपित न करना चाहते हों । जब तक विचारों के प्रति शुभ-अशुभ के निर्णय की वृत्ति होती है, यह वृत्ति चित्त के मौन और शून्य होने में बाधा बन जाती है ।

मन क्या है ? विचारों का प्रवाह, संकल्प-विकल्प करने वाला, माया मोह से ग्रसित क्षणभंगुर नाशवान, अशुद्ध पर्यायी परिणमन ही मन है । हमारी मान्यता का नाम ही मन है, अपने स्वरूप ममल स्वभाव से हटकर जरा भी पर पर्याय की तरफ दृष्टि गई वहीं मन पैदा हो जाता है, अज्ञान स्वभाव ही मन है । मन वचन से मुक्त होने का एक मात्र उपाय ज्ञान स्वभाव, वीतराग भाव में रहना है ।

चैतन्य स्वरूप आत्मा ममल स्वभाव हमेशा परिस्थितियों के बाहर है, जिस दिन इस पृथक्ता का बोध होगा, जिस दिन जीवन में इस साक्षी ज्ञायक भाव का उदय होगा कि मैं तो दूर खड़ा रहता हूं, धारायें आती हैं और बह जाती हैं, हवायें आती हैं और गुजर जाती हैं । धूप आती है, शीत आती है, वर्षा आती है, गर्मी आती है और मैं दूर पृथक् खड़ा रह जाता हूं, सब चले

जाते हैं, मैं अकेला रहता हूँ। मुझे कुछ भी छूता नहीं, मेरे प्राणों को कुछ भी अतिक्रान्त नहीं करता, कुछ भी मेरे भीतर बदलाहट नहीं करता, मैं तो वही रह जाता हूँ, चीजें आती हैं और बदल जाती हैं। भाव, क्रिया, पर्याय सब होते और विलाते चले जाते हैं। जिस दिन एक क्षण को भी यह ख्याल होगा, ऐसा अनुभूति में आयेगा, उसी दिन जीवन भर के लिये साक्षी ज्ञायक, सम्यक्दृष्टि ज्ञानी की स्थिति बन जायेगी।

हम जब तक परतंत्र हैं, जरा भी किसी से बंधे हैं तब तक कभी आनंद को उपलब्ध नहीं हो सकते। शांत आदमी कहीं नहीं भागता, सिर्फ अशांत भागते हैं। मन जितना अशांत होगा, रात उतनी ज्यादा करवट बदली जायेगी। जितनी ही भीतर शांति होगी, निष्क्रिय चित्त होगा, मौन आत्मा होगी, उतनी ही वह मौन आत्मा शक्ति का स्रोत बन जाती है।

यह जो बाहर से सारा परिणमन चल रहा है, यह पुद्गल परमाणुओं का कर्मोदय जन्य परिणमन है, मन वचन आदि भी सूक्ष्म परमाणुओं का परिणमन है। अपना ज्ञान स्वभाव, ममल स्वरूप इन सबसे भिन्न है। इस आवरण को न देखकर अपने ममल स्वभाव को देखने, उसमें लीन होने पर यह सब कर्म बंधोदय क्षय हो जाते हैं इसलिये यह किन्हीं भी भावक भाव, भाव कर्मोदय आवरण में मत जुड़ो, इन्हें मत देखो, अपने ममल स्वभाव में रहो यह सब कर्मोदय क्षय हो जायेगा।

१९. कृत भाव, २०. कारित भाव, २१. अनुमति भाव -
क्रितं च भाव संजुतं, क्रितं च कम्म गलिय सुह असुहं।
आवरण संक तिक्तं, न्यान परिनाम संक गलियं च ॥ ४१८ ॥
कारित सहाव संजुतं, कारित सहाव दोष गलियं च।
आवरणं नहु पिच्छं, न्यान सहावेन कारितं विलयं ॥ ४१९ ॥
अनुमय सहाव सहियं, अनुमय सहकार भाव गलियं च।
आवरणं नहु जुत्तं, न्यान सहावेन कम्म संगलियं ॥ ४२० ॥

अन्वयार्थ - (क्रितं च भाव संजुतं) शरीर के द्वारा होने वाली क्रिया के भाव में जुड़ रहे हो (क्रितं च कम्म गलिय सुह असुहं) यह क्रिया करने रूप सब शुभ-अशुभ कर्म गलने वाले हैं (आवरण संक तिक्तं) यह आवरण की

शंका छोड़ो, ऐसा न हो जाये, यह क्या हो रहा है (न्यान परिनाम संक गलियं च) अपने ज्ञान भाव में रहो, ममल स्वभाव सिद्ध स्वरूप को देखो, यह सब क्रिया रूप शंकायें गल जायेंगी।

(कारित सहाव संजुतं) यह कारित स्वभाव, कराने के भावों में जुड़ रहे हो (कारित सहाव दोष गलियं च) कराने के स्वभाव का दोष सब गलने वाला है (आवरणं नहु पिच्छं) आवरण को मत देखो (न्यान सहावेन कारितं विलयं) ज्ञान स्वभाव से सब कारित भाव विला जायेगा।

(अनुमय सहाव सहियं) अनुमति स्वभाव सहित हो रहे हो (अनुमय सहकार भाव गलियं च) अनुमति सहकार के सब भाव गल जाने वाले हैं (आवरणं नहु जुत्तं) आवरण में मत जुड़ो (न्यान सहावेन कम्म संगलियं) ज्ञान स्वभाव में रहो, सारे कर्म गल जायेंगे, विला जायेंगे।

विशेषार्थ - १९. कृतभाव - शरीर द्वारा क्रिया होती है और वह क्रिया शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप रूप कहलाती है। शरीर पुद्गल जड़ है, जीव चेतन है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ करता नहीं, कर सकता नहीं फिर यह क्रिया करने के भाव में जुड़ना अज्ञान है।

क्रिया रूप कर्म शुभ-अशुभ सब क्षणभंगुर, नाशवान हैं। यह क्या हो रहा है, ऐसा न हो जाये, यह अच्छा है, यह बुरा है, यह पुण्य है, यह पाप है यह सब मन के कल्पित भाव हैं। कर्मावरण में शंकित मत होओ, अपने ज्ञान स्वभाव में रहो, ममल स्वभाव को देखो, जब तुम ध्रुव तत्त्व शुद्धात्मा हो फिर इस क्रिया करने के भाव में मत जुड़ो, यह सब मन के विकल्प और कर्मोदय विला जाने वाले हैं।

२०. कारित भाव - दूसरों को प्रेरित करके काम कराने के भाव यह भी सब कर्मोदय जन्य हैं, परपर्याय पर दृष्टि होने से यह भाव आते हैं। यह आवरण को मत देखो, यह सब भाव विला जाने वाले हैं। अपने ज्ञान स्वभाव, परमात्म स्वरूप को देखो, जब स्वयं परिपूर्ण शुद्ध, अरस, अरूपी, अस्पर्शी, सच्चिदानंद स्वरूप हो। अपने में न मन है, न शरीर है, न वाणी है, न किसी पर जीव, पर द्रव्य से कोई संबंध है। फिर इस कर्मावरण में क्यों जुड़ते हो? अपने ज्ञान स्वभाव में रहो, यह सब कर्म विला जायेंगे।

२१. अनुमति भाव - किसी कार्य की सराहना करना, अनुमोदना करना या किसी को कार्य करने की अनुमति, सलाह देना यह सब राग भाव

हैं। राग के उदय रूप यह सब अनुमति भाव गल जाने वाले हैं। इस आवरण में मत जुड़ो, अपने ज्ञान स्वभाव में रहो। होश पूर्वक अपने स्वरूप का स्मरण, ध्यान रखो, यह सारे कर्म गल जायेंगे, विला जायेंगे।

कृत, कारित, अनुमति के भाव छठवें गुणस्थान तक होते हैं। सातवें गुणस्थान से ऊपर यह भाव होते ही नहीं हैं। यह सब भाव मोह, राग-द्वेष रूप मोहनीय कर्मोदय जन्य हैं। अपना किसी से क्या संबंध है? जब आत्म स्वरूप सिद्ध के समान अशरीरी, अविकारी, शुद्धात्म स्वरूप है फिर यह करने, कराने अनुमति देने के भाव अपने कैसे हो सकते हैं? अपना स्वरूप तो राग-द्वेष से रहित निर्विकार समदर्शी परमात्मा है, अपने ज्ञानानंद स्वभाव में मगन रहो, इसी से सर्व कर्म क्षय हो जायेंगे।

ज्ञानी साधक कितनी भी अनुकूलता-प्रतिकूलता की परिस्थिति हो, विपरीत कर्मोदय हो, उनसे किंचित् भी चलायमान नहीं होता। तीव्र से तीव्र अशुभ परिणाम हो उनसे भी ध्रुव आत्मा विचलित नहीं होता और एक समय की पर्याय से भी ज्ञानी आत्मा चलायमान नहीं होता। ऐसे अगाध सामर्थ्यवान ध्रुव आत्मा को लक्ष्य में लेने से भव भ्रमण का अंत आता है।

जिस प्रकार केवली भगवान पर के कर्ता या भोक्ता नहीं हैं, मात्र ज्ञाता हैं, उसी प्रकार सम्यक्दृष्टि भी पर का कर्ता या भोक्ता नहीं, मात्र ज्ञाता ही है। राग आता है उसका भी ज्ञाता ही है। असंख्य प्रकार के शुभ-अशुभ भाव होते हैं, वे सहज हैं, उनका कर्ता जीव नहीं है। जिस समय जिस प्रकार का राग आता है, उस प्रकार के संयोग की ओर सम्यक्त्वी का उपयोग जाता है परंतु उसका भी वह ज्ञाता है।

शुभाशुभ भावों से बचने का उपाय यही है कि आत्मा में वे भाव हैं ही नहीं, ऐसे ममल स्वभाव की दृष्टि करना।

२२. भोग भाव, २३. उपभोग भाव-

भोगं सहाव सहियं, भोगं परिणाम भाव गलियं च।

आवरनं नहु उत्तं, न्यान सहावेन भोग गलियं च ॥ ४२१ ॥

उवभोग भाव जुत्तं, उवभोग परिणाम सव्व गलियं च।

आवरनं नहु पिच्छं, न्यान सहावेन कम्म संषिपनं ॥ ४२२ ॥

अन्वयार्थ - (भोगं सहाव सहियं) भोग के स्वभाव सहित हो रहे हो

(भोगं परिणाम भाव गलियं च) भोग के परिणाम यह भावक भाव सब गल जाने वाले हैं (आवरनं नहु उत्तं) इस आवरण की बात ही मत कहो (न्यान सहावेन भोग गलियं च) ज्ञान स्वभाव से सारे भोग भाव गल जाते हैं।

(उवभोग भाव जुत्तं) उपभोग के भाव में जुड़ रहे हो (उवभोग परिणाम सव्व गलियं च) उपभोग के सर्व परिणाम गल जाने वाले हैं (आवरनं नहु पिच्छं) इस आवरण को मत पहिचानो, क्या है, कैसा है (न्यान सहावेन कम्म संषिपनं) अपने ज्ञान स्वभाव में रहो तो यह सब कर्म क्षय हो जायेंगे।

विशेषार्थ - २२. भोगभाव - भोग पांच इंद्रियों से मन द्वारा होते हैं।

भोग भोगने में राग भाव की विशेषता रहती है। भोग भोगने के भाव सब अज्ञान जन्य हैं क्योंकि आत्म स्वरूप शरीर, मन, वाणी, इंद्रिय, कर्मों से परे है, उसमें यह कुछ हैं ही नहीं, फिर क्या भोगेगा? यह सब भोग भाव कर्मोदय जन्य विला जाने वाले हैं, इनकी तो बात भी नहीं करना चाहिये। अपने ममल स्वभाव ध्रुवतत्त्व सिद्ध स्वरूप शुद्धात्मा को देखो जो अतीन्द्रिय आनंद का भोक्ता परमानंद मयी परमात्मा है, अपने आत्मानंद में रहने से सारे कर्मक्षय हो जाते हैं।

२३. उपभोग भाव - जो एक बार भोगा जा सके उसको भोग कहते हैं, जो बार-बार भोगा जावे उसे उपभोग कहते हैं, जैसे-भोजन पान आदि भोग पदार्थ हैं। स्त्री, आभूषण, वस्त्र आदि उपभोग पदार्थ हैं। यह सर्व ही भोग-उपभोग शरीर के द्वारा शरीर में ही भोगे जाते हैं। यह भोग-उपभोग के भाव तीव्र विषयाशक्ति राग भाव से होते हैं, यह सब भाव गल जाने, विला जाने वाले हैं। जब भोग्य पदार्थ होता है तब भोग भाव नहीं होता, जब भोग भाव होता है तब भोग्य पदार्थ नहीं होता, यह सब मन का ही चक्र है, इन भावों में मत जुड़ो, अपने ज्ञान स्वभाव आत्मा का लक्ष्य रखो तो यह सब कर्म क्षय हो जाते हैं।

जड़ इंद्रिय का लक्ष्य छोड़े, भाव इंद्रिय का लक्ष्य छोड़े और इंद्रियों के विषय आदि उनका लक्ष्य छोड़े तथा त्रैकालिक ध्रुव स्वभाव का लक्ष्य करे उसको साधक कहते हैं। पर्याय से, निमित्त से और विषय से जो भिन्न वर्तता है, ऐसे ज्ञान को मोक्षमार्ग कहते हैं।

एक रूप अभेद निर्विकल्प वस्तु वह स्वद्रव्य है, स्व स्वरूप है और उसमें गुण या पर्याय के भेद की कल्पना करना वह भेद कल्पना पर द्रव्य है।

यह आत्मा और यह गुण इस प्रकार अभेद वस्तु में भेद करना, वह पर
द्र ट य
है। शरीर, मन, वाणी आदि परद्रव्यों की तो बात ही क्या, यहां तो ज्ञानादि
अनंत गुण वह आधेय और आत्मा उनका आधार, ऐसे आधेय-आधार के भेद
करना भी परद्रव्य है इसलिये वह हेय है, परद्रव्य के लक्ष्य से तो राग होता है
परंतु अभेद वस्तु में भेद करके देखने से भी राग होता है अतः जितने भी
औदयिक आदि भाव हैं यह सब पर हैं। अपने स्व स्वरूप का लक्ष्य होने से
सब कर्मादि विला जाते हैं।

२४. असत् भाव-

परिणाम असत्य सहियं, असत्य भाव भाव गलियं च।

आवरनं नहु सहियं, न्यान सहावेन परिणाम गलियं च ॥ ४२३ ॥

अन्वयार्थ - (परिणाम असत्य सहियं) असत् भाव सहित हो रहे हो
(असत्य भाव भाव गलियं च) असत् भाव के भाव सब गल जाने वाले हैं
(आवरनं नहु सहियं) यह आवरण सहित मत होओ (न्यान सहावेन परिणाम
गलियं च) ज्ञान स्वभाव से वह सब असत् भाव गल जाते हैं।

विशेषार्थ - २४. असत् भाव - भाव पांच प्रकार के होते हैं-औदयिक,
औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और पारिणामिक भाव। इनमें चार भाव
असत् भाव, क्षणभंगुर नाशवान हैं, एक पारिणामिक भाव ही सत् स्वभाव है
जो अनादि निधन शाश्वत है।

१. औदयिक भाव- कर्मों के उदय के निमित्त से होने वाले जीव के
भावों को औदयिक भाव कहते हैं। इसके २१ भेद होते हैं-चार गति, चार
कषाय, तीन वेद, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व और छह लेश्या।
(विस्तृत विवेचन तत्त्वार्थ सूत्र से देखें)

२. औपशमिक भाव- कर्मों के उपशम होने पर जो भाव होते हैं वह
औपशमिक भाव हैं। इसके २ भेद हैं- औपशमिक सम्यक्त्व, औपशमिक
चारित्र।

३. क्षायोपशमिक भाव- कर्मों के क्षयोपशम के निमित्त से जीव के जो
भाव होते हैं वह क्षायोपशमिक भाव कहलाते हैं। इसके १८ भेद होते
हैं- चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, दानादि पांच लब्धि, क्षायोपशमिक

सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंयम।

४. क्षायिक भाव- कर्मों के क्षय के निमित्त से होने वाले जीव के भाव
को क्षायिक भाव कहते हैं। इसके नौ भेद हैं- केवल ज्ञान, केवल दर्शन,
क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य,
क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र।

५. पारिणामिक भाव- चार भावों से रहित जो भाव है वह पारिणामिक
भाव है। पारिणामिक का अर्थ है- सहज स्वभाव। उत्पाद व्यय रहित, ध्रुव
एक रूप स्थिर रहने वाला भाव पारिणामिक भाव है। पारिणामिक भाव सभी
जीवों को सामान्य होता है। मतिज्ञान केवलज्ञान आदि पारिणामिक भाव नहीं
हैं, जीव में एक अनादि अनंत शुद्ध चैतन्य स्वभाव है, इस परम पारिणामिक
भाव से जीव सिद्ध पद प्राप्त करता है।

असत् भाव के भाव सब विला जाने वाले हैं, इन कर्मोदायिक भावों
सहित मत होओ, अपने त्रैकालिक ध्रुव स्वभाव, परम पारिणामिक भाव का
आश्रय रखो, ज्ञान स्वभाव में रहो, यह सब असत् भाव छूट जाने वाले हैं।

ज्ञानी को एक अखंड परम पारिणामिक भाव का आलंबन रहता है।
वह औदयिक भाव, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक भावों का आश्रय
नहीं करता क्योंकि वह तो पर्याय है, विशेष भाव है, सामान्य के आश्रय से ही
शुद्ध विशेष प्रगट होता है।

२५. माया भाव-

माया सहाव संजुतं, माया सहकार सयल गलियं च।

आवरन भाव तिक्तं, न्यान सहावेन मिच्छ गलियं च ॥ ४२४ ॥

अन्वयार्थ - (माया सहाव संजुतं) माया के स्वभाव से जुड़ रहे हो
(माया सहकार सयल गलियं च) माया के द्वारा होने वाले सारे भाव गल जाने
वाले हैं (आवरन भाव तिक्तं) यह आवरण भाव छोड़ो (न्यान सहावेन मिच्छ
गलियं च) ज्ञान स्वभाव में रहने से यह सब मिथ्या माया के भाव विला
जाते हैं।

विशेषार्थ - २५. माया भाव - माया संसारी प्रपंच को कहते हैं। यह
तीन रूप होती है- कंचन, कामिनी, कीर्ति। इनसे संबंधित सब माया भाव
हैं। यह माया भाव शल्य रूप होते हैं जो निरंतर छिदते रहते हैं। यह सब
भाव गल जाने, विला जाने वाले हैं। इन आवरण भाव को छोड़ो, अपने ज्ञान

स्वभाव में रहो तो यह सब मिथ्या, माया भाव क्षय हो जायेंगे। साधक को अपने सत्स्वरूप, ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान होने पर इस माया से भी बचना पड़ता है, यह पूरे जगत का विस्तार माया का प्रपंच है। यह रजोगुण, तमोगुण, सत्वगुण रूप प्रकृति का पूरा विस्तार माया है। एक तरफ ब्रह्म, एक तरफ माया है। अब इतनी सतर्कता सावधानी आवश्यक है कि यह माया के किन्हीं भी भावों में मत उलझो। माया से पूर्णतः विरक्त भिन्न होने पर ही ब्रह्म को उपलब्ध हुआ जाता है। माया का थोड़ा सा भी आकर्षण संसार है। इन कंचन, कामिनी, कीर्ति के किसी भी भाव में मत जुड़ो, अपने ब्रह्म स्वरूप का स्मरण ध्यान रखो, यह सब भाव विला जाने वाले हैं।

२६. कषाय भाव-

कषायं संजुतं, कषाय भाव नन्त गलियं च ।

आवरणं नहु पिच्छं, न्यान सहावेन कम्म गलियं च ॥ ४२५ ॥

अन्वयार्थ - (कषायं संजुतं) कषायों के भाव में संयुक्त हो रहे हो (कषाय भाव नन्त गलियं च) कषाय के अनंत भाव होते हैं, यह सब गल जाने वाले हैं (आवरणं नहु पिच्छं) कषायावरण को मत देखो, यह कौन सी कषाय है, यह कौन सी कषाय के भाव हैं (न्यान सहावेन कम्म गलियं च) तुम तो अपने ज्ञान स्वभाव में रहो, यह सब कर्म कषाय भाव गल जायेंगे।

विशेषार्थ - २६. कषाय भाव - सोलह कषाय- अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ४ X ४ = १६ तथा हास्यादि नौ नो कषाय, यह चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृतियां हैं। इन्हीं के उदय से कषाय भाव होते हैं, जो आत्मा को कर्मों से कसते हैं, बांधते हैं उन्हें कषाय कहते हैं। इसी के दो भेद रूप राग और द्वेष कहलाते हैं। जो जीव को अपने स्वभाव में न आने दे, अपने स्वभाव में न रहने दे, उसका नाम कषाय है। जैसे-वस्त्र को रंगने में कषायला पदार्थ लोध, फिटकरी आदि डालने से रंग पक्का हो जाता है, वैसे ही जीव को कर्मों से कषाय ही रंगती है। यह कषाय के अनंत भाव होते हैं, परंतु सब छूट जाने वाले, विला जाने वाले हैं। सम्यक्दर्शन होते ही अनंतानुबंधी कषाय गल जाती है, छूट जाती है। पांचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यान कषाय नहीं रहती, छठे गुणस्थान में प्रत्याख्यान कषाय नहीं होती, दसवें गुणस्थान तक संज्वलन कषाय और नौ नोकषाय भाव सब ही विला जाते हैं।

जो आत्मगुण को घाते अथवा जिससे आत्मा मलिन (विभाव रूप) होकर बंध अवस्था को प्राप्त हो वह कषाय है, इसके २५ भेद हैं।

४ अनंतानुबंधी- क्रोध, मान, माया, लोभ- यह कषाय भाव अनंत संसार के कारणभूत मिथ्यात्व में तथा अन्याय रूप क्रियाओं में प्रवृत्ति कराने वाले हैं। इनके उदयवश जीव सप्त व्यसनादि पापों को निर्गल होकर सेवन करता है।

४ अप्रत्याख्यानावरण- क्रोध, मान, माया, लोभ- इनके उदय में श्रावक के व्रत रंच मात्र भी नहीं होते तथापि अनंतानुबंधी के अभाव और सम्यक्त्व के सद्भाव से अन्याय रूप विषयों (सप्त व्यसन सेवन) में प्रवृत्ति नहीं होती। इनके उदय से न्याय पूर्वक विषयों में अति लोलुपता रहती है।

४ प्रत्याख्यानावरण- क्रोध, मान, माया, लोभ- यह कषाय यद्यपि मंद है तथापि इनके उदय होते हुए महाव्रत, मुनिव्रत या सकल संयम नहीं हो सकता, इसके क्षयोपशम के अनुसार अणुव्रत देश संयम, श्रावक व्रत हो सकता है।

४ संज्वलन- क्रोध, मान, माया, लोभ- यह कषाय अतिमंद है, मुनिव्रत के साथ-साथ इनका उदय होते हुए भी यह संयम को बिगाड़ नहीं सकते, केवल इनके उदय में यथाख्यात चारित्र नहीं हो सकता।

नौ नोकषाय- १. हास्य- जिसके उदय से हंसी उत्पन्न हो।

२. रति- जिसके उदय से पदार्थों में प्रीति उत्पन्न हो।

३. अरति- जिसके उदय से पदार्थों में अप्रीति उत्पन्न हो।

४. शोक- जिसके उदय से चित्त में खेद रूप उद्वेग उत्पन्न हो।

५. भय- जिसके उदय से डर लगे।

६. जुगुप्सा- जिसके उदय से पदार्थों में घृणा उत्पन्न हो।

७. पुरुषवेद- जिसके उदय से स्त्री से रमने की इच्छा हो।

८. स्त्रीवेद- जिसके उदय से पुरुष में रमने की इच्छा हो।

९. नपुंसकवेद- जिसके उदय से स्त्री-पुरुष दोनों में रमने की इच्छा हो।

यह सब कर्मोदय जन्य भाव विला जाने वाले हैं, इन कषाय के आवरण को अर्थात् भावक भाव, उदय जनित भावों को मत देखो कि यह कौन है, यह कैसे हैं, अपने ममल स्वभाव को देखो, उसी में लीन रहो तो यह सब कषाय

भाव क्षय हो जायेंगे।

२७. पर्यायी भाव-

पज्जाव भाव संजुत्तं, पज्जय सहकार सर्व गलियं च।

आवरनं नहु दिट्ठं, दंसन दिट्ठी च पज्जाव विलयंति ॥ ४२६ ॥

अन्वयार्थ - (पज्जाव भाव संजुत्तं) पर्यायी भाव में संयुक्त हो रहे हो (पज्जय सहकार सर्व गलियं च) यह सब पर्यायों का सहकार गल जाने वाला है (आवरनं नहु दिट्ठं) पर्यायावरण को मत देखो (दंसन दिट्ठी च पज्जाव विलयंति) दर्शन दृष्टि से सब पर्यायें विला जाती हैं।

विशेषार्थ - २७. पर्याय भाव - संसारी जीव जिस शरीर रूपी पर्याय में होते हैं, उसी के राग मय हो जाते हैं, साधक को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि यह पर्यायें तो सब क्षणभंगुर हैं, कोई भी पर्याय रहने वाली नहीं हैं। पर्याय दो प्रकार की होती है- १. अर्थ पर्याय, २. व्यंजन पर्याय।

जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय दोनों होती हैं। वैभाविक शक्ति के कारण विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय रूप तथा विभाव गुण व्यंजन पर्याय रूप परिणमन होता है।

देवगति नाम और देवायु के उदय से देव होते हैं। मनुष्यगति नाम और मनुष्यायु के उदय से मनुष्य होते हैं। तिर्यचगति नाम और तिर्यचायु के उदय से तिर्यच होते हैं। नरकगति नाम और नरकायु के उदय से नारकी होते हैं। इनमें देव, मनुष्य और नारकी पंचेन्द्रिय ही होते हैं। तिर्यच तो कुछ पंचेन्द्रिय होते हैं और कुछ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय भी होते हैं।

यहां ऐसा तात्पर्य ग्रहण करना चाहिये कि चार गति से विलक्षण स्वात्मोपलब्धि जिसका लक्षण है ऐसी जो सिद्ध गति उसकी भावना से रहित जीव अथवा सिद्ध सदृश निज शुद्धात्मा की भावना से रहित जीव जो चतुर्गति नामकर्म उपार्जित करते हैं, उसके उदय वश वे देवादि गतियों में उत्पन्न होते हैं इसलिये यह पर्यायी भाव में मत जुड़ो, यह सब पर्यायी भाव विला जाने वाले हैं, इस पर्यायावरण को मत देखो। अपने ममल स्वभाव में रहो, द्रव्यदृष्टि से देखो तो यह सब पर्यायें विला जाती हैं।

यह आत्मा और यह गुण, यह आत्मा और यह पर्याय, ऐसे भेद का, अभेद आत्मा में अभाव है। आत्मा में जो महिमा और महानता भरी है उसे

भगवान घोषित करते हैं कि अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंत आनंद, अनंत प्रभुता आदि अनंत स्वभाव का एक रूप ऐसा जो स्वभाव रूप स्वद्रव्य वह निर्विकल्प वस्तु मात्र है। अनंतानंत स्वभाव से भरपूर भगवान अभेद एक रूप आत्मा ही ममल स्वभाव होने से उपादेय रूप है।

आत्मा ज्ञानानंद स्वरूप ध्रुव वस्तु है उसे पर्याय पकड़ती है।

२८. शल्य भाव-

सल्यं च भाव सहियं, सल्यं परिणाम सयल गलियं च।

आवरनं नहु दिट्ठं, न्यान सहावेन सल्य तिक्तं च ॥ ४२७ ॥

अन्वयार्थ - (सल्यं च भाव सहियं) शल्यों के भाव सहित हो रहे हो (सल्यं परिणाम सयल गलियं च) शल्यों के सारे परिणाम गल जाने वाले हैं (आवरनं नहु दिट्ठं) आवरण को मत देखो (न्यान सहावेन सल्य तिक्तं च) ज्ञान स्वभाव से सब शल्यें छूट जाती हैं।

विशेषार्थ - २८. शल्यभाव - वे परिणाम जो कांटे की तरह छिदते हैं उन्हें शल्य कहते हैं। शल्य तीन होती हैं- माया, मिथ्या, निदान। जो संशय की स्थिति में होती हैं।

१. माया शल्य- ऐसा नहीं ऐसा होता, प्राप्त उपलब्धि में मन का संतुष्ट न होना, विशेष चाह के भाव। यह शल्य साता में नहीं रहने देती और यह लोभ की विशेषता में होती है।

२. मिथ्या शल्य- ऐसा न हो जाये, किसी भी कार्य को करते हुए कुछ भी होते हुए, मन का हमेशा दुविधा में रहना। यह शल्य मोह की विशेषता में होती है और हमेशा भयभीत रखती है। यह शल्य निश्चिन्त नहीं रहने देती।

३. निदान शल्य- ऐसा करना है ऐसा करुंगा, भविष्य की योजना बनाते रहना, वर्तमान में संतुष्ट न होना। मन का संकल्पों में दौड़ लगाना, यह शल्य अहं की विशेषता में होती है। यह शल्य शांत समता में नहीं रहने देती।

“निःशल्यो व्रती” जो निःशल्य होता है वही संयमी, त्यागी, अणुव्रती होता है। शल्य के सारे परिणाम विला जाने वाले हैं, यह सब पर्यायावरण है। छटे गुणस्थान में यह शल्यें होती ही नहीं हैं। इन शल्यों में मत जुड़ो, अपने ज्ञान का आलंबन लो, ममल स्वभाव में रहो, यह सारी शल्यें छूट जायेंगी।

व्रत, जप, तप से आत्म प्राप्ति होगी, वह जिस प्रकार शल्य है उसी प्रकार शास्त्राभ्यास से आत्मा प्राप्त होगी, ऐसी जिसकी मान्यता है वह भी शल्य है।

आत्मवस्तु की ओर दृष्टि करने पर ही आत्मा की प्राप्ति होती है, यदि अपने चैतन्य स्वरूप का महत्व समझ में आयेगा तो पर का महत्व उड़ जायेगा फिर भले ही इंद्र का इंद्रासन हो या चक्रवर्ती का राज्य हो किन्तु उनका महत्व भासित नहीं होगा तभी इन शल्यों से छुटकारा होता है। कहा भी है—

चक्रवर्ती की संपदा, इंद्र सरीखे भोग।

काकवीट सम लखत हैं, सम्यक्दृष्टि लोग ॥

प्रश्न - निःशल्य होने का उपाय क्या है ?

समाधान - भेदज्ञान, तत्त्व निर्णय द्वारा वस्तु स्वरूप को जानकर द्रव्य दृष्टि होने पर निःशल्य हो सकते हैं।

प्रश्न - द्रव्य दृष्टि कैसे होती है ?

समाधान - द्रव्य को उसके मूल स्वभाव से जानने पर द्रव्यदृष्टि होती है। जैसे द्रव्य छह हैं - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। इनमें चार द्रव्य तो परिपूर्ण शुद्ध ही हैं। जीव और पुद्गल, दो द्रव्य ही—द्रव्य गुण से शुद्ध होते हुए भी पर्याय में अशुद्धि है। उसका कारण अनादि अज्ञान, मिथ्यात्व एक क्षेत्रावगाह निमित्त—नैमित्तिक संबंध है। इसी से यह संसार परिभ्रमण चल रहा है। इन दोनों द्रव्यों को इनके स्वभाव से जानकर तद्रूप दृष्टि हो जाना ही द्रव्य दृष्टि है।

१. जीव द्रव्य—स्वभाव से सिद्ध के समान शुद्ध, अशरीरी, अविकारी, निरंजन शुद्धात्मा है और यही समस्त जीवों का स्वरूप है, चाहे वह सिद्ध हो या संसारी निगोदिया, सब जीव स्वभाव से सिद्ध के समान हैं। मैं सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा, ध्रुवतत्त्व ममल स्वभावी हूँ, ऐसा अनुभूति युत निर्णय करने से समभाव प्रगट होता है।

२. पुद्गल द्रव्य—पुद्गल स्वभाव से शुद्ध परमाणु रूप है, जितना दिखाई देने वाला जगत का परिणमन है वह सब पुद्गल परमाणुओं का स्कंध रूप परिणमन है, जो सब क्षणभंगुर नाशवान परिवर्तनशील है। जो स्थूल रूप शरीर, धन, मकान आदि दिखाई देते हैं, यह भ्रांति है तथा सूक्ष्म रूप मन में भाव आदि चलते हैं वह भ्रम है। इस प्रकार यथार्थ निर्णय करने से शुद्ध

दृष्टि होती है, इसी को द्रव्यदृष्टि कहते हैं, जो अपने ध्रुव स्वभाव से हटती नहीं है। ऐसी द्रव्यदृष्टि होने पर फिर कोई शल्य विकल्प होते ही नहीं हैं क्योंकि जब तक पर वस्तु की मान्यता महत्व है तब तक मोह, राग—द्वेष होते हैं। जहां मोह, राग—द्वेष हैं वहां शल्य विकल्प होते हैं, जब द्रव्य दृष्टि हो जाती है तब साधक, शुद्ध दृष्टि, समभाव में रहता है।

प्रश्न - यह ममल स्वभाव कैसा है ?

समाधान - ममल स्वभाव अपना सत्स्वरूप है अर्थात् चैतन्य स्वरूप समस्त मोह, राग—द्वेषादि कर्ममलों से रहित है जिसमें अज्ञान, मोह, राग—द्वेषादि कर्ममल न कभी थे, न हैं, न कभी हो सकते, ऐसे अपने चैतन्य स्वरूप को जानना ही ममल स्वभाव है।

प्रश्न - यह ममल स्वभाव कैसे उपलब्ध होता है ?

समाधान - अपनी प्रज्ञा छैनी को सूक्ष्म बनाने से यह ममल स्वभाव प्रगट होता है, इसके लिये पहले भेदज्ञान फिर तत्त्व निर्णय द्वारा वस्तु स्वरूप को जाना जाता है। वस्तु स्वरूप को जानने पर द्रव्य दृष्टि होती है, द्रव्यदृष्टि होने पर ज्ञान—अज्ञान की सूक्ष्म संधि का भेदन किया जाता है अर्थात् जितना भी इंद्रियज्ञान, मन बुद्धि का क्षयोपशम ज्ञान है यह सब अज्ञान है, यह आत्म ज्ञान नहीं है। इन सबसे परे जो स्वयं को स्वयं की अनुभूति है वही आत्म ज्ञान है जो चैतन्य स्वरूप ममल स्वभाव है। यह स्वयं अनुभूति का विषय है जो अवक्तव्य है, इसकी साधना ही अतीन्द्रिय आनंद मुक्ति है।

प्रश्न - क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भाव क्या हैं, कैसे होते हैं ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं—

२९. लोभ भाव—

लोभ सहाव संजुतं, लोभं सहकार परिणाम गलियं च।

आवरनं नहु पिच्छं, न्यान सहावेन कम्म गलियं च ॥ ४२८ ॥

अन्वयार्थ - (लोभ सहाव संजुतं) लोभ स्वभाव में जुड़ रहे हो (लोभं सहकार परिणाम गलियं च) यह लोभ सहकारी परिणाम सब गल जाने वाले हैं (आवरनं नहु पिच्छं) इस आवरण को मत देखो (न्यान सहावेन कम्म गलियं च) ज्ञान स्वभाव से यह सब कर्म गल जाते हैं।

विशेषार्थ - २९. लोभ भाव - आशा, तृष्णा, चाह, इच्छा, पकड़,

मूर्च्छा यह सब लोभ के ही परिणाम हैं। शरीर व इंद्रियों के संबंध से ही भोग्य पदार्थों में लोभ होता है, धन वैभव आदि इकट्ठा करना इसका ही परिणाम है। लोभ, पाप का बाप है, लोभ से ही क्रोध होता है। यह कषाय रूप परिणाम अज्ञान दशा में ही होता है। ज्ञान स्वभाव आत्मा में यह है नहीं और जड़ पुद्गल अचेतन में होता नहीं, यह राग के अंतर्गत आता है, यह सब पर्यायावरण है, न इसे देखो जानो, न इसमें जुड़ो, यह लोभ जनित जितने भी परिणाम हैं सब गल जाने वाले हैं, विला जाने वाले हैं। सूक्ष्म लोभ दसवें गुणस्थान तक ही होता है, इसके बाद तो होता ही नहीं है, अपने ज्ञान स्वभाव में रहो, यह सब कर्म गल जाने वाले हैं।

जैसे-गोबर मिलने पर गरीब स्त्रियां खुश हो जाती हैं और धन वैभव मिलने पर सेठ साहूकार प्रसन्न हो जाते हैं परंतु गोबर और धनादि में कोई अंतर नहीं है। एक बार आत्मा का अनंत चतुष्टयमयी रत्नत्रय स्वरूप अनंत निधि का भंडार देख लो तो बाह्य धन वैभव धूल का ढेर भासित हो, उसकी निर्मूल्यता भासित हो।

मुझे बाहर का कुछ चाहिये, ऐसा मानने वाला भिखारी है। मुझे तो अपना आत्मा ही प्राप्त करना है, संसार का कुछ नहीं चाहिये, ऐसा मानने वाला बादशाह है। आत्मा अचिन्त्य शक्ति का स्वामी है, जिस क्षण ऐसा भाव जागृत होता है उसी क्षण यह सब लोभ के भाव विला जाते हैं, जागृत चैतन्य ज्योति आनंद स्वरूप अनुभव में आ जाता है।

चक्रवर्ती को अपनी विशाल संपत्ति छोड़ना सरल है और भिखारी को अपना एक भिक्षापात्र छोड़ना कठिन लगता है। आत्म स्वरूप को समझने के पश्चात् चक्रवर्ती की संपत्ति और भिक्षापात्र दोनों एक समान पुद्गल भासित होते हैं। यही लोभ का विसर्जन होता है।

३०. क्रोध भाव-

कोह सहाव संजुतं, कोहं परिणाम नन्त विरयंति ।

आवरणं नहु पिच्छं, न्यान सहावेन कोह विलयंति ॥ ४२९ ॥

अन्वयार्थ - (कोह सहाव संजुतं) क्रोध के स्वभाव में संयुक्त हो रहे हो (कोहं परिणाम नन्त विरयंति) क्रोध के अनंत परिणाम छूट जाने वाले हैं (आवरणं नहु पिच्छं) इस आवरण को मत देखो, जानो (न्यान सहावेन कोह विलयंति) अपने ज्ञान स्वभाव में रहो, यह सब क्रोधभाव विला जाने वाले हैं।

विशेषार्थ - ३०. क्रोध भाव - गुस्सा, बैर, विरोध, घृणा, ईर्ष्या, निन्दा, बुराई यह सब भाव क्रोध के अंतर्गत आते हैं, क्रोध के भाव आत्मा का पतन करने वाले, आत्मा को जलाने वाले हैं, पर से जब तक स्वार्थ, संबंध, लगाव, अपेक्षा रहती है तब तक क्रोध भाव होते हैं। लोभ और मान की विशेषता में क्रोध बहुत जल्दी आता है। मनमानी न होने से क्रोध भाव आते हैं। पंचेन्द्रिय के विषय राग की पूर्ति न होने से क्रोध भाव आते हैं। यह सब कर्मोदय जन्य संयोगिक परिणाम हैं जो सब छूट जाने वाले हैं। आत्मा का स्वभाव तो शांत, क्षमा रूप है, अपने ज्ञान स्वभाव, ममल भाव में रहने से सारे क्रोध भाव विला जाते हैं।

सारा जगत ज्ञान का ज्ञेय है। अनुकूलता-प्रतिकूलता कुछ नहीं है, इस अभिप्राय में दृष्टि अभेद होनी चाहिये। दृष्टि में कोई राग की संधि नहीं होनी चाहिये। अभिप्राय में इच्छा व दीनता नहीं होना चाहिये तो पर से लाभ-हानि की मान्यता नहीं होगी। लाभ-हानि की मान्यता मिटने पर क्रोध भाव का अभाव हो जायेगा।

३१. मान भाव-

मान सहाव संजुतं, मानं सहकार नन्त विरयंति ।

आवरणं नहु जुत्तं, न्यान संजुत मान विलयंति ॥ ४३० ॥

अन्वयार्थ - (मान सहाव संजुतं) मान स्वभाव में संयुक्त हो रहे हो (मानं सहकार नन्त विरयंति) मान से संबंधित अनंत प्रकार के भाव छूट जाने वाले हैं (आवरणं नहु जुत्तं) आवरण में मत जुड़ो (न्यान संजुत मान विलयंति) अपने ज्ञान स्वभाव में लीन होने से सब मानभाव विला जाते हैं।

विशेषार्थ - ३१. मानभाव - अहंकार, मद, घमंड, मत्सर, अभिमान यह सब मान कहलाते हैं। यह सब द्वेष के अंतर्गत आते हैं, जो चारित्र मोहनीय के उदयानुसार होते हैं, यह सब विला जाने वाले हैं। इस कर्मावरण में मत जुड़ो, अपने ज्ञानभाव में लीन रहो तो यह सब मान भाव विला जायेंगे।

साधक को भाव क्रिया, पर्याय से भिन्न अपने चैतन्य स्वरूप, ममल स्वभाव, ध्रुवतत्त्व का लक्ष्य और आश्रय रखना चाहिये। पर द्रव्य की ओर की वृत्ति अशुभ हो चाहे शुभ परंतु वह आत्मा नहीं है। स्वरूप से अनुभव में आता हुआ ज्ञान ही आत्मा है, ऐसे ज्ञान के स्व संवेदन की कला ही मोक्ष की

कला है। दुःख से छूटना हो व सुखी होना हो तो परभावों से भिन्न आत्मा को जानकर उसी का अभ्यास करना योग्य है। आत्मा के आश्रय से प्रगट हुए ज्ञान द्वारा ही सही निर्णय होता है।

३२. माया भाव-

माया सहाव सहियं, माया परिनाम सयल गलियं च।

आवरनं नहु दिट्टं, न्यानं अन्मोय कम्म षिपनं च ॥ ४३१ ॥

अन्वयार्थ - (माया सहाव सहियं) माया स्वभाव सहित होना उचित नहीं (माया परिनाम सयल गलियं च) माया के परिणाम सारे गल जाने वाले हैं (आवरनं नहु दिट्टं) यह आवरण को मत देखो (न्यानं अन्मोय कम्म षिपनं च) ज्ञान का आलम्बन लेने से सारे कर्म क्षय हो जाते हैं।

विशेषार्थ - ३२. मायाभाव - छल, कपट, बेईमानी, मायाचारी, विश्वासघात यह सब माया का स्वरूप है। माया कषाय राग रूप परिणाम में आती है। यह सब भाव विला जाने वाले, छूट जाने वाले हैं। आत्मा का स्वभाव आर्जव, सरल, सहज स्वभाव है, ज्ञान स्वभाव का आलम्बन लेने से सारे कर्म क्षय हो जाते हैं।

जिसके मन के विचार, वचन की प्रवृत्ति और काय की चेष्टा और हो, ऐसे पापों को गुप्त रखने वाले मायाचारी पुरुष का दूसरों को दिखाने के लिये अथवा मान बढ़ाई, लोभादि के अभिप्राय से व्रत धारण करना निष्फल है, इससे तिर्यचादि नीच गति की प्राप्ति होती है।

यदि आत्मा को शांति चाहिये तो अंतर्मुख वृत्ति और अनुभव ज्ञान द्वारा आत्मा की ओर झुककर यह निर्णय करना कि औपाधिक भाव हैं वह सब छोड़ने योग्य हैं ऐसा समझें तो निमित्त बुद्धि व रागबुद्धि छूटकर स्वभाव बुद्धि होती है, धर्म होता है।

३३. मोह भाव-

मोहं संसार सहियं, मोहं परिनाम सयल गलियं च।

आवरनं नहु दिट्टं, दर्सनं दिष्टि च मोह गलियं च ॥ ४३२ ॥

अन्वयार्थ - (मोहं संसार सहियं) संसारी मोह सहित होना (मोहं परिनाम सयल गलियं च) मोह के परिणाम सारे गल जाने वाले हैं (आवरनं नहु दिट्टं) यह मोहनीय कर्म के आवरण को मत देखो (दर्सनं दिष्टि च मोह

गलियं च) सम्यक्दर्शन की दृष्टि से सारा मोह भाव गल जाता है।

विशेषार्थ - ३३. मोहभाव - पर को अपना मानना ही मोह है, मोह का विस्तार ही संसार है। संसार के भाव अर्थात्, शरीर, धन, परिवार के भाव ही मोहभाव हैं। इस मोहभाव से ही दुःख, चिंता, भय, घबराहट, शंका, कुशंका होती है, यह अज्ञान भाव हैं। आत्मा का पर से कोई संबंध ही नहीं है, वर्तमान जीवन में ही जो संयोग मिला है इसमें अपनत्व मानना अज्ञान है। मोह के सारे परिणाम गल जाने वाले हैं। यह मोहनीय कर्म के उदय जनित मोहभाव सब पर्यायावरण है इसे मत देखो, अपने शुद्धात्म स्वरूप को देखो, सम्यक्दर्शन की दृष्टि होते ही यह सब मोह भाव गल जाते हैं।

भेद विज्ञान के द्वारा मोहभाव का अभाव होता है। इस शरीरादि से भिन्न मैं एक अखंड अविनाशी चैतन्य तत्त्व भगवान् आत्मा हूँ, यह शरीरादि मैं नहीं और यह मेरे नहीं हैं, ऐसा अनुभव प्रमाण निर्णय होने पर मोह भाव विला जाता है।

निज शुद्धात्म स्वरूप में मिथ्यात्व मोह रागादि भाव हैं ही नहीं, ऐसी सम्यक्दर्शन की दृष्टि होने पर मिथ्यात्व मोह विला जाता है। संयोगों का लक्ष्य छोड़कर अपने त्रिकाली ज्ञायक निर्विकल्प चैतन्य तत्त्व ध्रुव स्वभाव की दृष्टि होने पर समता शांति आनंद प्रगट होता है।

३४. व्यसन भाव-

विसनं सहाव संजुत्तं, विसनं सहकार नंत गलियं च।

आवरनं नहु पिच्छदि, न्यान सहावेन कम्म विलयंति ॥ ४३३ ॥

अन्वयार्थ - (विसनं सहाव संजुत्तं) व्यसनो के भाव में संयुक्त हो रहे हो (विसनं सहकार नंत गलियं च) व्यसन संबंधी अनंतभाव सब गल जाने वाले हैं (आवरनं नहु पिच्छदि) इस आवरण के पहिचानने में मत लगे (न्यान सहावेन कम्म विलयंति) ज्ञान स्वभाव से सारे कर्म विला जाते हैं।

विशेषार्थ - ३४. व्यसन भाव - जुआं खेलना, मांस खाना, शराब पीना, चोरी करना, शिकार खेलना, वेश्यागमन व परस्त्री सेवन यह सात व्यसन कहलाते हैं, ऐसी और भी अनेक प्रकार की आदतों के भाव में लगना दुर्गति का कारण है, यह सब व्यसन के परिणाम, अपने आत्म स्वभाव की दृष्टि से आत्मकल्याण की भावना से, ज्ञान स्वभाव में रहने पर सब गल जाते

हैं, विला जाते हैं। अपने सिद्ध स्वरूप में न कोई कषाय है, न इंद्रियां हैं, न शरीर है, उसमें व्यसन भाव होना संभव ही नहीं है। यह सब अज्ञान जनित कर्मोदय परिणाम ज्ञान स्वभाव से छूट जाते हैं।

साधक को इन सब भावक भावों से सावधान रहना चाहिये, इन भावों में जुड़ना नहीं चाहिये। बाह्य में व्यसन आदि का त्याग होने पर यदि इन भावों में जुड़ता है तो अपराधी है, मानसिक व्यभिचार महान पाप है।

३५. विकथा भाव-

विकहा सहाव सहियं, विकहा सभाव दोष गलियं च।

आवरनं नहु पिच्छदि, न्यानं संजुत्त विकह विलयंति ॥ ४३४ ॥

अन्वयार्थ - (विकहा सहाव सहियं) विकथाओं के भाव सहित होना (विकहा सभाव दोष गलियं च) विकथा स्वभाव के सब दोष गल जाने वाले हैं (आवरनं नहु पिच्छदि) इस आवरण को मत देखो जानो (न्यानं संजुत्त विकह विलयंति) अपने ज्ञान स्वभाव में लीन होने पर विकथा के भाव विला जाते हैं।

विशेषार्थ - ३५. विकथा भाव - राज कथा, चोर कथा, स्त्री कथा, भोजन कथा इन चार तरह की चर्चाओं के भाव विकथा भाव कहलाते हैं। यह चारों विकथा अधर्म की जड़ हैं। राग-द्वेष के वशीभूत होकर अपने व दूसरों के मन को रंजायमान करने के लिये विकथायें कही जाती हैं। विकथा संबंधी दोषभाव सब गल जाने वाले, विला जाने वाले हैं। यह अज्ञान जनित परिणामों को मत देखो। अपने ज्ञान स्वभाव में लीन होने पर सब विकथा भाव विला जाते हैं।

अनादिकाल से आत्मा ने अपना स्वरूप नहीं छोड़ा है परंतु भ्रांति के कारण छोड़ दिया है ऐसा उसे भासित हुआ है। अनादिकाल से चेतनतत्त्व आत्मा तो शुद्धता से भरा है, ज्ञायक स्वरूप ही है, आनंद स्वरूप ही है। उसमें अनंत चमत्कारिक शक्ति भरी है, ऐसे ज्ञायक आत्मा को सबसे भिन्न, परद्रव्य से भिन्न, पर भावों से भिन्न जानना ही साधकपना है। इसके लिये भेदज्ञान का अभ्यास करना चाहिये। स्व स्वरूप के आश्रय से कर्मोदय जन्य भाव, पर्यायावरण सब विला जाता है।

३६. इंद्रिय भाव-

इंदी सहाव सहियं, इंदी परिनाम दोस विरयंति।

आवरनं नहु पिच्छदि, न्यान सहावेन कम्म संषिपनं ॥ ४३५ ॥

अन्वयार्थ - (इंदी सहाव सहियं) इंद्रिय के भाव सहित हो रहे हो (इंदी परिनाम दोस विरयंति) इंद्रिय संबंधी भाव विकार सब छूट जाने वाला है (आवरनं नहु पिच्छदि) इस कर्मावरण को मत देखो जानो (न्यान सहावेन कम्म संषिपनं) ज्ञान स्वभाव से सब कर्म क्षय हो जाते हैं।

विशेषार्थ - ३६. इंद्रियभाव - शरीर संयोग होने से पांच इंद्रिय के विषय भोग संबंधी भाव होना इंद्रिय भाव है। आत्मा अतीन्द्रिय आनंद स्वरूप है। यह सब कर्मावरण विकार भाव छूट जाने वाला है, इसको मत देखो जानो, अपने ज्ञान स्वभाव के आलम्बन से यह सब विला जाते हैं।

सामने दिखने वाली वस्तु और देखने वाला दोनों भिन्न-भिन्न होते हैं, इनमें एकत्वपने की मान्यता ही अज्ञान मिथ्यात्व है। कोई भी भाव होने के समय ज्ञायक ही यह जानता है कि यह भाव हो रहे हैं। बगैर स्वयं की उपस्थिति, चेतना के अभाव में यह कुछ जाने ही नहीं जाते। जिसने भेदज्ञान पूर्वक निज स्वरूप को जाना है, वह जानता है कि यह सब भाव, क्रिया, पर्याय विला जाने वाली है। इनमें जुड़ना अच्छा-बुरा मानना ही पुनः कर्मबंध का कारण है। साधक अपने ज्ञान स्वभाव की साधना करता है जिससे यह सब भाव विला जाते हैं।

प्रश्न - जब सब भाव विला जाने वाले हैं फिर होते ही क्यों हैं ?

समाधान - पूर्व में स्वयं की अज्ञान मिथ्यात्व दशा में जो कर्म बंध हुआ है, उसके उदय से यह सब भाव क्रिया पर्याय होती है लेकिन यह कोई भी स्थायी नहीं है। जीव आत्मा और यह भाव एक नहीं हैं, सब भिन्न हैं, जो अपने आप अपने समय पर उदय में आकर विला जाने वाले हैं। अपने ज्ञान स्वभाव में रहने पर यह सब क्षय हो जाते हैं।

३७. रसना भाव, ३८. स्पर्शन भाव-

रसन सहाव संजुत्तं, रसनं परिनाम भाव विरयंति।

आवरनं नहु दिट्ठं, अतींदी न्यान कम्म संषिपनं ॥ ४३६ ॥

स्पर्शन सहाव सहियं, स्पर्शन परिनाम सयल गलियं च ।

आवरनं नहु जुत्तं, अतींदी न्यान कम्म गलियं च ॥ ४३७ ॥

अन्वयार्थ - (रसन सहाव संजुत्तं) रसना स्वभाव में संयुक्त हो रहे हो (रसनं परिनाम भाव विरयंति) रसना संबंधी सब भाव छूट जाने वाले हैं (आवरनं नहु दिट्ठं) आवरण को मत देखो (अतींदी न्यान कम्म संषिपनं) अपने अतीन्द्रिय ज्ञान स्वभाव में रहने से सब कर्म क्षय हो जाते हैं ।

(स्पर्शन सहाव सहियं) स्पर्शन स्वभाव सहित हो रहे हो (स्पर्शन परिनाम सयल गलियं च) स्पर्शन संबंधी सारे भाव गल जाने वाले हैं (आवरनं नहु जुत्तं) इस कर्मावरण में मत जुड़ो (अतींदी न्यान कम्म गलियं च) अपने अतीन्द्रिय ज्ञान स्वभाव में रहने से सारे कर्म गल जाते हैं ।

विशेषार्थ - ३७. रसनाभाव - जिह्वा इंद्रिय के दो काम हैं, खाना और बोलना तथा रस स्वाद लेना विशेषता है । यह शरीर का विशेष अंग है । इस विषय के भावों में जुड़ना अज्ञान है । आत्मा शरीर मन वाणी इंद्रिय से भिन्न अरस अरूपी अस्पर्शी अतीन्द्रिय आनंद का धारी है । अपने ज्ञान स्वभाव में रहने से यह रसना इंद्रिय संबंधी सब भाव विला जाते हैं ।

३८. स्पर्शनभाव - स्पर्श द्वारा जो ठंडा, गरम, चिकना, नरम, कड़ा आदि जानने में आता है, यह मात्र त्वचा के संबंध संयोग से होता है, इसके भावों में जुड़ना महा अज्ञान है । शरीर तो जलने गलने वाला है । बालक, युवावस्था, बुढ़ापा में अपने आप क्षीण होता जाता है । यह नोकर्म का आवरण है, इसमें मत जुड़ो, अपने आत्म स्वरूप का ज्ञान ध्यान करने से यह सब कर्म क्षय हो जाते हैं ।

एकेन्द्रिय जीव के एक स्पर्शन इंद्रिय ही होती है । शेष दो इंद्रियादि जीवों के जिह्वा, घ्राण, चक्षु और कर्ण में से क्रम से एक-एक अधिक होती है । शरीर नाम कर्म के उदय से यह इंद्रियां होती हैं । जैसे-अहमिन्द्र देव स्वामी सेवक आदि के भेद से रहित, मैं ही हूं, इस प्रकार मानते हुए एक-एक होकर अपने को स्वामी मानते हैं, उसी प्रकार स्पर्शन आदि इंद्रियां भी अपने-अपने विषयों में ज्ञान उत्पन्न करने के लिये अन्य इंद्रियों की अपेक्षा न करते हुए स्वयं समर्थ होती हैं, इस कारण से अहमिन्द्रों के समान इंद्रियों को जानो । जिसने अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव किया है उसे बिना आहार आदि के भी अलौकिक आनंद आता है । उसे शरीर और संसार को छोड़ना तो सरल बात है ।

प्रश्न - कषाय में पहले लोभ और इंद्रियों में पहले रसना इंद्रिय को क्यों कहा गया है ?

समाधान - लोभ कषाय के कारण ही शेष कषायें सक्रिय होती हैं इसलिये कषाय में पहले लोभ को कहा गया है । साधक को अपने अंतर परिणामों में इसका विशेष ध्यान रखना आवश्यक है । इंद्रियों में रसना इंद्रिय से ही शेष इंद्रियां सक्रिय होती हैं । पर वस्तु की चाह के भाव ही लोभ कषाय है । विषयों में रसबुद्धि ही रसना इंद्रिय है । इन दोनों से ही संसार चलता है और सारा संसारी प्रपंच फैलता है । जिसकी दृष्टि लोभ कषाय और रसना इंद्रिय से तथा उसके भावों से हट जाती है वही साधक मुक्ति पाता है । यहां साधक की साधना की अपेक्षा कथन है ।

३९. घ्राण भाव, ४०. चक्षुभाव, ४१. श्रोत्रभाव-

घ्राणं सुभाव संजुत्तं, घ्राणं परिनाम नन्त गलियं च ।

आवरनं न उवन्नं, अतींदी परिनाम घ्राण विलियंति ॥ ४३८ ॥

चष्यं सहाव सहियं, चष्यं परिनाम सयल विरयंति ।

आवरनं नहु पिच्छदि, अतींदी सभाव चष्य विरयंति ॥ ४३९ ॥

स्रोत्रं सहाव सहियं, स्रोत्रं सहकार परिनाम विरयंति ।

आवरनं नहु उत्तं, अतींदी परिनाम स्रोत्र विरयंति ॥ ४४० ॥

अन्वयार्थ - (घ्राणं सुभाव संजुत्तं) घ्राण स्वभाव में संयुक्त हो रहे हो (घ्राणं परिनाम नन्त गलियं च) घ्राण के अनंत परिणाम सब गल जाने वाले हैं (आवरनं न उवन्नं) आवरण फिर पैदा ही न होगा (अतींदी परिनाम घ्राण विलियंति) अतीन्द्रिय पारिणामिक भाव का आश्रय लेने पर घ्राण भाव विला जाते हैं ।

(चष्यं सहाव सहियं) चक्षु स्वभाव सहित हो रहे हो (चष्यं परिनाम सयल विरयंति) चक्षु इंद्रिय के सारे परिणाम छूट जाने वाले हैं (आवरनं नहु पिच्छदि) इस आवरण को मत देखो जानो (अतींदी सभाव चष्य विरयंति) अतीन्द्रिय स्वभाव से चक्षु भाव विला जाते हैं ।

(स्रोत्रं सहाव सहियं) श्रोत्र स्वभाव सहित हो रहे हो (स्रोत्रं सहकार परिनाम विरयंति) कर्ण इंद्रिय से सुनने संबंधी सारे भाव छूट जाने वाले हैं (आवरनं नहु उत्तं) आवरण की चर्चा ही मत करो (अतींदी परिनाम स्रोत्र

विरयंति) अपने अतीन्द्रिय पारिणामिक भाव का आश्रय लेने पर सुनने संबंधी भाव छूट जाते हैं।

विशेषार्थ - ३९. घ्राण भाव - नासिका इंद्रिय द्वारा सुगंध-दुर्गंध सूंघने का बोध होता है, अच्छा-बुरा लगना ही घ्राण भाव है। जब तक कुछ भी अच्छा-बुरा लगता है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, क्रिया भाव संबंधी अनंत प्रकार के भाव चलते हैं, यह सब भाव विला जाने वाले हैं, कर्मोदय जन्य परिणाम हैं। अपने अतीन्द्रिय परम पारिणामिक भाव का आश्रय लेने पर यह सब भाव विला जाते हैं।

४०. चक्षु भाव - चक्षु इंद्रिय से बाह्य जगत दिखाई देता है, रंग, रूप आदि देखने के भाव, प्रिय-अप्रिय का राग भाव यह सब चक्षु भाव कहलाते हैं। यह सब बहिर्दृष्टि के परिणाम छूट जाने वाले हैं। अपने अतीन्द्रिय ममल स्वभाव का लक्ष्य होने पर अतर्मुख दृष्टि होते ही यह सब चक्षु भाव विला जाते हैं।

४१. श्रोत्रभाव - कर्ण इंद्रिय द्वारा मधुर स्वर संगीत आदि सुना जाता है, इसमें इष्ट-अनिष्ट लगना श्रोत्रभाव है, यह सब भाव विला जाने वाले हैं। अपने अतीन्द्रिय ममल स्वभाव की दृष्टि होने से यह सब भाव विला जाते हैं।

पांच इंद्रियां और मन के द्वारा जो पर का जानना होता है, यह सब इन्द्रिय ज्ञान छूट जाने वाला है। यह क्षायोपशमिक ज्ञान तो उधार रूप रहता है और उधार ज्ञान समय पर काम नहीं आता।

मति ज्ञानावरण कर्म के क्षायोपशम से उत्पन्न हुई विशुद्धि जो जीव की अर्थ को ग्रहण करने की शक्ति है वह लब्धि है। वह लब्धि मति ज्ञानावरण के क्षायोपशम से उत्पन्न बोध रूप है और अपने विषय को ग्रहण करने के व्यापार का नाम उपयोग है। यह दोनों लब्धि व उपयोग भावेन्द्रिय हैं तथा जाति नामकर्म के साथ शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न निवृत्ति और उपकरण रूप शरीर के अवयव द्रव्येन्द्रिय हैं।

जिन जीवों का चिन्ह स्पर्श विषयक ज्ञान है वे जीव एकन्द्रिय हैं। जिनका चिन्ह स्पर्श और रस विषयक ज्ञान है वे जीव दो इंद्रिय हैं। जिनका चिन्ह स्पर्श, रस और गंध का ज्ञान है वे जीव तीन इंद्रिय हैं, जिनका चिन्ह स्पर्श, रस, गंध और रूप का ज्ञान है वे जीव चार इंद्रिय हैं। जिनका चिन्ह स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द का ज्ञान है वे जीव पंचेन्द्रिय हैं। यह सब जीव

अपने-अपने भेद से अनेक प्रकार के हैं और इन इंद्रियों संबंधी अनेक प्रकार के भाव होते हैं जो सब विला जाने वाले, छूट जाने वाले हैं।

अतीन्द्रिय आनंद के वेदन में, आनंद स्वरूप आत्मा पर से भिन्न, परभावों से स्पष्ट भिन्न देखने में आता है, ज्ञान लक्षण से लक्षित चैतन्य स्वभाव का अनुभव होने पर अतीन्द्रिय आनंद का वेदन होता है, यह अनुभूति ही मैं हूं, ऐसा सम्यक्ज्ञान होता है तभी यह सब कर्मोदय जन्य भावक भाव विला जाते हैं।

४२. शरीर भाव-

शरीर भाव सहियं, शरीर परिणाम सयल गलियं च।

आवरनं नहु पिच्छदि, न्यान सहावेन कम्म संषिपनं ॥ ४४१ ॥

अन्वयार्थ - (शरीर भाव सहियं) शरीर भाव सहित हो रहे हो (शरीर परिणाम सयल गलियं च) शरीर संबंधी समस्त परिणाम गल जाने वाले हैं (आवरनं नहु पिच्छदि) यह शरीर रचना जो नो कर्मोदय जन्य है, इसे मत देखो (न्यान सहावेन कम्म संषिपनं) अपने ममल स्वभाव में रहने से सारे कर्म क्षय हो जाते हैं।

विशेषार्थ - ४२. शरीर भाव - पांच इंद्रियां, ज्ञानेन्द्रिय कहलाती हैं, शरीर पांच कर्मेन्द्रियों द्वारा कार्य करता है हांथ, पांव, गुदा, लिंग, मुख। कर्मेन्द्रिय संबंधी भाव, शरीर भाव कहलाते हैं। जाति नामकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से उत्पन्न आत्मा की त्रसरूप और स्थावर रूप पर्याय को काय कहते हैं। यह आयुर्कर्म तक ही साथ रहती है इसके बाद छूट जाती है। शरीर संबंधी समस्त परिणाम छूट जाने वाले हैं, यह कर्मोदय जनित पर्याय को मत देखो। अपने ममल ज्ञान स्वभाव का आश्रय लेने पर यह सब कर्म क्षय हो जाते हैं।

साधक को शरीर से विरक्त उदासीन रहना आवश्यक है। यह शरीर विनाशीक मलिन एवं गुणरहित है, इसकी ममता छोड़कर इसमें स्थित अविनाशी, पवित्र एवं सारभूत गुणवाले आत्मा की भावना करना चाहिये।

संसार में ऐसा कोई तीर्थ नहीं, ऐसा कोई जल नहीं तथा अन्य भी ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसके द्वारा पूर्णपणे अपवित्र इस मनुष्य का शरीर प्रत्यक्ष में शुद्ध हो सके। आधि-मानसिक कष्ट, व्याधि-शारीरिक कष्ट और मरण आदि से व्याप्त यह शरीर निरंतर इतना संतापकारक है कि ज्ञानी को उसका नाम

लेना भी असह्य लगता है।

मैं सर्वज्ञ स्वभाव से परिपूर्ण भगवान हूँ, ऐसे अनुभव के बल से मोक्षमार्ग को साधने के लिये तत्पर हुआ साधक कभी मोक्षमार्ग से विमुख नहीं हो सकता। ममल स्वभाव का आश्रय लेने से शरीरादि से रहित सिद्ध स्वरूप प्रगट होता है।

शरीर-शरीर का और आत्मा-आत्मा का कार्य करता है, दोनों भिन्न-भिन्न स्वतंत्र हैं। शरीर का परिणामन जिस समय जिस प्रकार से जैसा होने वाला होता है वह उसके स्वयं से ही होता है, इसमें जीव के हाथ की बात कहां है? आत्मा में भी राग और ज्ञान के परिणाम होते हैं वे आत्मा स्वयं करता है। जब अपना-अपना कार्य करने में दोनों स्वतंत्र हैं फिर शरीर संबंधी भाव करना या उन भावों में जुड़ना अज्ञानता है।

जिस प्रकार स्फटिक में प्रतिबिम्ब दिखने पर भी स्फटिक निर्मल है, उसी प्रकार जीव में विभाव भाव ज्ञात होने पर भी जीव निर्मल है, निर्लेप है। यह सब जो कषाय विभाव ज्ञात होते हैं वे ज्ञेय हैं, मैं तो ज्ञायक हूँ, अपने ममल स्वभाव के आलम्बन से सब कर्म क्षय होते हैं।

१. जहां शरीर में तनाव चोट, दर्द कमजोरी होती है वहीं शरीर का बोध होता है।

२. स्वस्थ आदमी का एक ही लक्षण है कि उसे शरीर का कहीं पता न चलता हो।

३. शरीर स्वस्थ होता है तो श्वास अपने आप शांत होती है, श्वास शांत होती है तो विचार क्षीण हो जाते हैं।

४३. संज्ञा भाव-

सन्या सहाव सहिओ, सन्या परिनाम नंत गलियं च।

आवरनं नहु उत्तं, सुद्ध सहावेन कम्म विलयंति ॥ ४४२ ॥

अन्वयार्थ - (सन्या सहाव सहिओ) संज्ञा स्वभाव सहित हो रहे हो (सन्या परिनाम नंत गलियं च) संज्ञा के अनंत परिणाम गल जाने वाले हैं (आवरनं नहु उत्तं) इस आवरण की चर्चा ही मत करो (सुद्ध सहावेन कम्म विलयंति) शुद्ध स्वभाव से सब कर्म विला जाते हैं।

विशेषार्थ - ४३. संज्ञाभाव - स्वाभाविक प्रवृत्ति, अनादि संस्कार

वश शरीर के विषयों की प्रवृत्ति अपने आप होना संज्ञा कहलाती है। यह समस्त संसारी जीवों को होती है, इसके चार भेद हैं-आहार, निद्रा, भय, मैथुन। संज्ञा भाव सब गल जाने, विला जाने वाले हैं। इनकी चर्चा ही नहीं करना चाहिये। अपने शुद्ध स्वभाव में रहने से सारे कर्म विला जाते हैं।

सातवें गुणस्थान से आहार भाव विला जाते हैं। नवें गुणस्थान से भय और मैथुन संज्ञा भाव विला जाते हैं। दसवें गुणस्थान के बाद कोई संज्ञा भाव होते ही नहीं हैं। शुद्ध स्वभाव ध्रुवतत्त्व में एकाग्र होने से ही निर्मल पर्याय प्रगट होती है, विभाव का अभाव होता है।

मोहनीय कर्म के उदय से व शरीर के संबंध से संसारी जीवों को आहार, निद्रा, भय, मैथुन की चाह के भाव होते हैं परंतु अपने शुद्ध स्वभाव में न मोहनीय कर्म है, न शरीर है, ऐसे शुद्ध ममल स्वभाव की साधना से सारे कर्म विला जाते हैं।

४४. आहार भाव-

आहार भाव सहियं, आहार परिनाम सयल विरयंति।

आवरनं न उपत्ती, सम भावेन कम्म गलियं च ॥ ४४३ ॥

अन्वयार्थ - (आहार भाव सहियं) आहार भाव सहित हो रहे हो (आहार परिनाम सयल विरयंति) आहार भाव तो सब छूट जाने वाले हैं (आवरनं न उपत्ती) आवरण तो पैदा ही न होगा (सम भावेन कम्म गलियं च) सम भाव में रहने से सारे कर्म गल जाते हैं।

विशेषार्थ - ४४. आहार भाव - खाने की गृद्धता, रस बुद्धि, शरीराशक्ति, यह सब आहार भाव हैं, जो शरीर संबंध से होते हैं, यह सब भाव छूट जाने वाले हैं।

असाता वेदनीय कर्म के उदय से जठराग्नि रूप क्षुधा उत्पन्न होती है, वीर्यान्तराय के उदय से उसकी वेदना सहन नहीं की जा सकती और चारित्रमोह के उदय से आहार ग्रहण की इच्छा उत्पन्न होती है, उस इच्छा को ज्ञानी कर्मोदय का कार्य जानते हैं और उसे रोग समान जानकर मिटाना चाहते हैं।

शुद्ध दृष्टि समभाव से देखा जाये तो चैतन्य भाव के अतिरिक्त जितने भाव हैं वह परभाव कहे गये हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, सुख-दुःख, विचार-कल्पना, संकल्प-विकल्प आदि सब औपाधिक भाव हैं। इनमें विचार

बुद्धि जैसे भाव तो प्रकृति के क्षयोपशम से हैं, क्रोधादि भाव प्रकृति के उदय से हैं इसलिये यह सभी भाव अचेतन हैं। इस विचार बल से ज्ञानी परभावों से विरक्त रहता है, जिससे यह सब कर्म क्षय हो जाते हैं फिर कोई कर्मावरण पैदा ही नहीं होते, सब विला जाते हैं।

चैतन्य की महत्ता में जो अतीन्द्रिय आनंद का समुद्र उछलता है उसके समक्ष जगत के किसी भी फल की महत्ता ज्ञानी को नहीं होती। ज्ञानी चैतन्य की विभूति के समक्ष जगत की विभूति को धूल के समान समझकर त्याग करके चैतन्य की साधना करते हैं।

आहार संज्ञा के चार भेद- खाद्य, स्वाद, पेय, लेह्य होते हैं।

४५. खाद्य, स्वाद, पेय, लेह्य भाव -

षादं विसेस जुत्तं, षादं परिणाम नंत गलियं च।

आवरण भाव तिक्तं, अप्य सहावेन कम्म संषिपनं ॥ ४४४ ॥

स्वादं सहाव सहियं, स्वादं अनिस्ट श्रुत बहु भेयं।

आवरणं नहु जुत्तं, ममल सहावेन कम्म संषिपनं ॥ ४४५ ॥

पीयं सहाव जुत्तं, पीयं अनिस्ट परिणाम वय विरयं।

आवरण भाव तिक्तं, प्रिये सहाव कम्म षिपनं च ॥ ४४६ ॥

लेपं सहकार सहियं, लेपं परिणाम नन्त गलियं च।

आवरणं नहु जुत्तं, सुद्ध सहावेन कम्म गलियं च ॥ ४४७ ॥

अन्वयार्थ - (षादं विसेस जुत्तं) खाद्य की विशेषता से जुड़ रहे हो अर्थात् खाने पीने के भावों में ही लगे हो (षादं परिणाम नंत गलियं च) खाद्य सम्बन्धी अनन्त परिणाम गल जाने वाले हैं (आवरण भाव तिक्तं) आवरण भाव को छोड़ो (अप्य सहावेन कम्म संषिपनं) आत्म स्वभाव से सब कर्म क्षय हो जाते हैं।

(स्वादं सहाव सहियं) स्वाद के स्वभाव सहित हो रहे हो (स्वादं अनिस्ट श्रुत बहु भेयं) स्वादभाव अनिष्ट रूप है, शास्त्र में इसके बहुत भेद कहे हैं (आवरणं नहु जुत्तं) आवरण में मत जुड़ो (ममल सहावेन कम्म संषिपनं) ममल स्वभाव से कर्म क्षय हो जाते हैं।

(पीयं सहाव जुत्तं) पेय के स्वभाव में जुड़ रहे हो (पीयं अनिस्ट परिणाम

वय विरयं) पेय के परिणाम अनिष्टकारी हैं, इससे व्रत भंग हो जाता है, व्रत छूट जाते हैं (आवरण भाव तिक्तं) यह आवरण भाव को छोड़ो (प्रिये सहाव कम्म षिपनं च) अपने प्रिय स्वभाव से कर्म क्षय हो जाते हैं।

(लेपं सहकार सहियं) लेह्य संबंधी भावों सहित हो रहे हो (लेपं परिणाम नन्त गलियं च) लेह्य संबंधी अनंत परिणाम गल जाने वाले हैं (आवरणं नहु जुत्तं) इस आवरण में मत जुड़ो (सुद्ध सहावेन कम्म गलियं च) शुद्ध स्वभाव से सब कर्म गल जाते हैं।

विशेषार्थ - ४५. खाद्य, स्वाद, पेय, लेह्य भाव - खाद्य-जिससे पेट

भरे जैसे-दाल, चावल, रोटी आदि खाद्य पदार्थ। स्वाद-स्वाद का रस लेना, सुगंधित, रसीले, चटपटे, मीठे आदि पदार्थों को खाने के भाव। पेय-पीने योग्य, पानी, दूध, शरबत आदि। लेह्य-चाटने योग्य-मलाई, चटनी, अचार, मुरब्बा आदि। संसारी जीवों के शरीर हैं, इंद्रियां हैं, रागभाव है, इससे खाद्य, स्वाद, पेय, लेह्य आदि के भाव होते हैं। यह सब भाव कर्मोदय जन्य विला जाने वाले हैं। यह भावक भाव के आवरण में साधक को सावधान रहना चाहिये, अपने ममल स्वभाव के आश्रय से यह सब कर्म क्षय हो जाते हैं।

इस लोक में जो अध्यवसान के उदय हैं वे कितने ही तो संसार संबंधी हैं और कितने ही शरीर संबंधी हैं। उनमें से जितने संसार संबंधी हैं उतने बंध के निमित्त हैं और जितने शरीर संबंधी हैं उतने उपभोग के निमित्त हैं। जितने बंध के निमित्त हैं उतने तो राग-द्वेष, मोहादिक हैं और जितने उपभोग के निमित्त हैं उतने सुख-दुःखादिक हैं। इन सभी में ज्ञानी साधक के राग नहीं है क्योंकि वे सभी नाना द्रव्यों के स्वभाव हैं इसलिये टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव ममल स्वभाव वाले ज्ञानी के उनका निषेध है।

आत्मा स्वयं प्रभु है, स्वभाव से तो प्रभु है ही, यदि ममल स्वभाव का आश्रय करे तो पर्याय की पामरता मेटकर पर्याय में भी प्रभुता प्रगट कर सकता है।

४६. निद्रा भाव-

निद्रा सहाव जुत्तं, निद्रा परिणाम नन्त गलियं च।

आवरणं नहु दिट्ठं, अप्य सरूवं च कम्म नहु पिच्छं ॥ ४४८ ॥

अन्वयार्थ - (निद्रा सहाव जुत्तं) निद्रा स्वभाव में जुड़ रहे हो (निद्रा

परिणाम नन्त गलियं च) निद्रा संबंधी सभी भाव गल जाने वाले हैं (आवरणं नहु दिष्टं) आवरण को मत देखो (अप्प सरुवं च कम्म नहु पिच्छं) अपने आत्म स्वरूप को देखो, इन कर्मों के चक्कर में मत पड़ो, इनको मत देखो।

विशेषार्थ - ४६. निद्रा भाव - लौकिक में निद्रा भी एक संज्ञा मानी जाती है, मूर्च्छा भाव में ही यह निद्रा और परिग्रह भाव को कहा गया है। स्वाभाविक प्रवृत्ति ही संज्ञा कहलाती है, जिसे दोनों ही निद्रा और परिग्रह भाव रूप कहा गया है। दर्शनावरण कर्म के उदय से मूर्च्छा भाव होता है, जो स्वयं गल जाता है, इस आवरण को मत देखो। अपने आत्म स्वभाव का श्रद्धान ज्ञान होने पर यह दर्शनावरण कर्म भी विला जाता है।

जब आत्मा और कर्म के भेदविज्ञान के द्वारा शुद्ध चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मा को उपलब्ध करता है, अनुभव करता है, तब मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग स्वरूप अध्यवसान जो कि आस्रव भाव के कारण हैं उनका अभाव होता है। अध्यवसानों का अभाव होने पर राग-द्वेष, मोह रूप आस्रव भाव का अभाव होता है। आस्रव भाव का अभाव होने पर कर्म का अभाव होता है, कर्म का अभाव होने पर नोकर्म का अभाव होता है और नोकर्म का अभाव होने पर संसार का अभाव होता है।

ज्ञानी तो स्वभाव भाव का ध्रुवत्व होने से, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव स्वरूप नित्य है। जिस उपयोग में आत्म तत्त्व पकड़ने में आवे वह उपयोग सूक्ष्म है। राग को पकड़ने वाला उपयोग स्थूल है।

४७. भय संज्ञा भाव -

भयं च भय संजुत्तं, भय सुभाव अनिष्ट गलियं च।

आवरणं न उपत्ति, न्यान सहावेन कम्म संगलियं ॥ ४४९ ॥

अन्वयार्थ - (भयं च भय संजुत्तं) भय संज्ञा से भय में लीन हो रहे हो (भय सुभाव अनिष्ट गलियं च) भय का स्वभाव अनिष्टकारी है परंतु गल जाने वाला है (आवरणं न उपत्ति) आवरण पैदा ही नहीं होते (न्यान सहावेन कम्म संगलियं) ज्ञान स्वभाव में रहने से सब कर्म गल जाते हैं।

विशेषार्थ - ४७. भय भाव - डर, घबराहट, भयभीतपना, कंपायमानपना, दबे रहना, यह सब भय भाव हैं, जो मन में मोह माया के

कारण होते हैं। यह सब भय भाव गल जाने वाले हैं, यह आवरण ही पैदा नहीं होता, जब साधक अपने स्व स्वरूप का ज्ञान करता है, ज्ञान स्वभाव में रहता है तो सारे कर्म भी विला जाते हैं।

चिंता और भय मानव के मस्तिष्क को बोझ डालकर सतत् क्षीण बनाते रहते हैं। चिंता और भय हमारे मन, स्नायुतंत्र में कंपन तथा रक्त में एक विषैला तत्त्व उत्पन्न कर देते हैं, जिससे रक्तचाप, हृदयाघात आदि रोग होते हैं जो शरीर को जर-जर कर देते हैं। जहां आत्म श्रद्धान और कर्म पर विश्वास है, वहां चिंता और भय नहीं रह सकते।

जब भय का राक्षस आपको घेर रहा हो, आप चुपचाप उसको सुन लें। भय आपके सामने आपकी दुर्गति के जिस भयानक काल्पनिक चित्र को प्रस्तुत कर रहा हो, उसे भी देख लें और जरा मन में फैसला कर लें कि आप उसके लिये बिल्कुल तैयार हैं, बस उसी क्षण इस भय रूपी राक्षस के प्राण निकल जायेंगे। भय के कारण आप तिनके को तलवार समझ रहे हैं, तिल को पहाड़ मान रहे हैं। अपने ही भय को पालकर अपने सीने पर शत्रु को खड़ा कर लिया है, आप ही उसे निकाल सकते हैं।

सम्यक्दृष्टि को संसारी सात भय तो होते ही नहीं हैं। यह भय संज्ञा और भय नो कषाय के भाव नवमें गुणस्थान में विला जाते हैं इसलिये साधक को निर्भय होकर अपने स्वरूप की साधना करना चाहिये।

४८. मैथुन भाव -

मैथुन सहाव जुत्तं, मैथुन परिणाम सयल गलियं च।

आवरणं न उपत्ति, ममल सहावेन कम्म विलयंति ॥ ४५० ॥

अन्वयार्थ - (मैथुन सहाव जुत्तं) मैथुन के भाव में जुड़ रहे हो (मैथुन परिणाम सयल गलियं च) मैथुन के परिणाम सारे गल जाने वाले हैं (आवरणं न उपत्ति) आवरण ही पैदा नहीं होता (ममल सहावेन कम्म विलयंति) ममल स्वभाव की दृष्टि होने पर सब कर्म विला जाते हैं।

विशेषार्थ - ४८. मैथुन भाव - कामभाव, अब्रह्म भाव, शरीर व वेद, नोकषाय के उदय तथा बाह्य निमित्त मिलने पर होते हैं। यह सब भाव गल जाने, विला जाने वाले हैं। अपने ब्रह्मस्वरूप, ममल स्वभाव की दृष्टि होने पर यह आवरण ही पैदा नहीं होता व सब कर्म विला जाते हैं।

जो साधक १. वाणी के वेग को, २. मन के वेग को, ३. क्रोध के वेग को,

४.जिह्वा के वेग को, ५.उदर के वेग को एवं ६.जननेन्द्रिय के वेग को सहन करने में समर्थ हो जाता है अर्थात् इनके उद्वेगों से प्रभावित नहीं होता, अपने स्वरूप में शांत समता में रहता है वह परमात्म पद पाता है।

जिसके मन को स्त्रियों ने अपहरण कर लिया है, जो काम भाव से पीड़ित रहता है, उसकी विद्या, ज्ञान व्यर्थ है। उसे तपस्या त्याग और शास्त्राभ्यास से भी कोई लाभ नहीं है, उसका एकांत सेवन और मौन भी निष्फल है।

ब्रह्मचर्य का सामान्य अर्थ काम संयम है परंतु इसके मूल में वासनाओं या विकारों का निरोध भी समाहित समझना चाहिये। जब तक सभी इंद्रियों का संतुलित एवं संतोषजनक संयम न हो तब तक काम संयम नहीं रखा जा सकता क्योंकि सभी इंद्रियां अन्योन्याश्रित हैं। मन ग्यारहवां करण (इंद्रिय) है, मन से विकृत मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता क्योंकि वासनाओं एवं विकारों का मन में उदय होने पर काम संयम अत्यंत कठिन हो जाता है।

जो साधक भेदज्ञान तत्त्वनिर्णय पूर्वक वस्तु स्वरूप का ज्ञान करता है, द्रव्यदृष्टि द्वारा ममल स्वभाव की साधना करता है, उसको यह कोई भी भावक भाव प्रभावित नहीं करते, सब अपने आप गलते विलाते क्षय होते जाते हैं।

४९. आशा भाव, ५०. स्नेह भाव, ५१. लाज भाव-

आसा अत्रित सहियं, आसा परिनाम नंत गलियं च।

आवरनं नहु दिट्ठं, अप्प सहावेन कम्म गलियं च ॥ ४५१ ॥

अस्नेहं असत्य सहियं, अस्नेहं परिनाम पज्जाव मुक्कं च।

आवरनं न उपत्ती, ममल सहावेन अस्नेह विलयंति ॥ ४५२ ॥

लाजं अत्रित दिट्ठं, अत्रित सहकार लाज गलियं च।

आवरनं नहु उत्तं, सुद्ध सहावेन लाज गलियं च ॥ ४५३ ॥

अन्वयार्थ - (आसा अत्रित सहियं) आशा जो नाशवान है, उस सहित हो रहे हो (आसा परिनाम नंत गलियं च) आशा संबंधी समस्त भाव गल जाने वाले हैं (आवरनं नहु दिट्ठं) इस आवरण को मत देखो (अप्प सहावेन कम्म गलियं च) आत्म स्वभाव से सब कर्म गल जाते हैं।

(अस्नेहं असत्य सहियं) स्नेह जो झूठा है, उस सहित हो रहे हो (अस्नेहं

परिनाम पज्जाव मुक्कं च) स्नेह के परिणाम पर्याय से होते हैं, जो छूट जाने वाले हैं (आवरनं न उपत्ती) इस आवरण की उत्पत्ति ही नहीं होती (ममल सहावेन अस्नेह विलयंति) ममल स्वभाव का लक्ष्य होने पर सब स्नेह विला जाता है।

(लाजं अत्रित दिट्ठं) लाज के भाव क्षणभंगुर हैं उन्हें देख रहे हो (अत्रित सहकार लाज गलियं च) इस क्षणभंगुर का सहकार क्यों करते हो, यह लाज गल जाने वाली है (आवरनं नहु उत्तं) इस आवरण की चर्चा ही मत करो (सुद्ध सहावेन लाज गलियं च) अपने शुद्ध स्वभाव को देखो, यह सारी लाज गल जाती है।

विशेषार्थ - ४९, ५०, ५१, आशा, स्नेह, लाज भाव - यह आशा, स्नेह, लाज के भाव सब अंतरंग में उठने वाले परिणाम हैं, जो सब क्षणभंगुर नाशवान झूठे हैं। आशा रूपी नदी में मनोरथ रूपी जल बहता है, जिसमें तृष्णा की तरंगें उठती हैं, राग की गहराई होती है, तर्क वितर्क के पक्षी उड़ते हैं, चिंता रूपी किनारे होते हैं, इसको ज्ञानी साधक अपने आत्म स्वभाव से पार कर जाता है।

स्नेह भी झूठा होता है क्योंकि द्रव्य स्वभाव से तो कोई स्नेह करता नहीं है, पर्याय से ही स्नेह होता है, वह किसी रूप में कैसा ही हो सब छूट जाने वाला है।

लाज, शर्म, इज्जत का सवाल, लोग क्या कहेंगे ? यह सब पर की अपेक्षा संसारी दृष्टि होने पर ही होती है जो सब क्षणभंगुर नाशवान है।

साधक जानता है कि शरीर भिन्न है, कर्म भिन्न है, उसका उदय उसकी अवस्था है, मेरा स्वरूप उससे सर्वथा भिन्न है। उदय काल में, संयोग-वियोग में, हर्ष-विषाद के कारण आते हैं परंतु वे मुझसे भिन्न हैं, मेरी सत्ता से भिन्न हैं, मेरे गुणों से तथा मेरी पर्याय से भिन्न हैं। मैं मेरे द्रव्य, गुण, पर्याय का ही स्वामी हूं, इस प्रकार किसी से आशा स्नेह लाज नहीं करता। आशा, स्नेह और लाज भाव पुत्र धन और यश इन तीन एषणाओं से पैदा होते हैं।

आत्मा जब ज्ञानी हुआ, तब उसने वस्तु का ऐसा स्वभाव जाना कि आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है। द्रव्य दृष्टि से अपरिणमन स्वरूप है। पर्याय दृष्टि से पर द्रव्य के निमित्त से रागादि रूप परिणमित होता है इसलिये अब ज्ञानी

उन भावों का कर्ता नहीं होता है, जो उदय में आते हैं उनका ज्ञाता ही होता है, इससे सारे भाव कर्म विला जाते हैं ।

लोगों का भय त्यागकर, शिथिलता छोड़कर, स्वयं दृढ़ पुरुषार्थ करना चाहिये, लोग क्या कहेंगे ? ऐसा देखने से कभी आत्म कल्याण नहीं कर सकता । साधक को एक शुद्ध आत्मा का ही लक्ष्य संबंध होता है । निर्भय रूप से उग्र पुरुषार्थ करना चाहिये ।

साधक को शुद्धात्मा ममल स्वभाव के चिन्तन का अभ्यास करना चाहिये, जिसे शुद्धात्मा, ध्रुव तत्व, ममल स्वभाव का रस लग जाता है उसे संसार का रंग उतर जाता है ।

५२. लोभ भाव, ५३. भय भाव, ५४. गारव भाव-

लोभं अत्रित भावं, लोभं परिणाम सयल गलियं च ।

आवरनं नहु जुत्तं, लोभं गलियं च न्यान सहकारं ॥ ४५४ ॥

भयं च अत्रित सहियं, भय परिणाम नंत गलियं च ।

आवरनं नहु जुत्तं, सुद्ध सहावेन कम्म गलियं च ॥ ४५५ ॥

मनरंजन गारव उत्तं, गारव परिणाम कलिस्ट गलियं च ।

आवरनं नहु दिट्ठं, न्यान सहावेन कम्म संषिपनं ॥ ४५६ ॥

अन्वयार्थ - (लोभं अत्रित भावं) लोभ के क्षणभंगुर भावों को मत देखो (लोभं परिणाम सयल गलियं च) लोभ के सारे परिणाम गल जाने वाले हैं (आवरनं नहु जुत्तं) इस आवरण में मत जुड़ो (लोभं गलियं च न्यान सहकारं) ज्ञान के सहकार से सब लोभ गल जाता है ।

(भयं च अत्रित सहियं) यह भय के भाव भी सब क्षणभंगुर हैं, इन सहित हो रहे हो (भय परिणाम नंत गलियं च) भय के अनंत परिणाम सब गल जाने वाले हैं (आवरनं नहु जुत्तं) आवरण में मत जुड़ो (सुद्ध सहावेन कम्म गलियं च) शुद्ध स्वभाव से सब कर्म क्षय हो जाते हैं ।

(मनरंजन गारव उत्तं) मनरंजन गारव की बात कर रहे हो (गारव परिणाम कलिस्ट गलियं च) गारव के दुष्ट कठोर परिणाम सब गल जाने वाले हैं (आवरनं नहु दिट्ठं) आवरण को मत देखो (न्यान सहावेन कम्म संषिपनं) ज्ञान स्वभाव से सारे कर्म क्षय हो जाते हैं ।

विशेषार्थ - ५२, ५३, ५४ लोभ, भय, गारव भाव - यह सूक्ष्म परिणाम हैं, जो साधक को पूर्व संस्कार वश होते हैं । यह सब नवमें, दसवें गुणस्थान में अपने आप विला जाते हैं । यह सब परिणाम अपने आप गलने क्षीण होने वाले हैं, कुछ ही क्षण होश में रहकर देखें तो सब अपने आप विला जाते हैं ।

लोभ, भय, गारव आदि के जितने भी परिणाम हैं यह सब कर्मोदय जन्य हैं, यह आत्मा का स्वभाव नहीं है और आत्म स्वभाव में यह नहीं हैं । अपने स्वरूप की विस्मृति होने पर अज्ञान दशा में यह होते हैं ।

देह, प्राण, इंद्रियां, मन और बुद्धि इन उपाधियों में से जिस-जिस के साथ साधक की चित्त वृत्ति का संयोग होता है, उसी-उसी भाव की उसको प्राप्ति होती है । पूर्व संस्कार, मन के संकल्प द्वारा जो भाव कर्म का बंध होता है वह भी अपने समय पर अपने आप चलने लगते हैं । साधक को इनमें जुड़ना या भयभीत नहीं होना चाहिये, अपने में स्वस्थ सावधान होश में निर्भय निर्द्वन्द्व मस्त रहे तो यह सब भाव विला जाते हैं ।

जैसे-असावधानी पूर्वक हाथ से छूटकर सीढ़ियों पर गिरी गेंद नीचे चली जाती है, वैसे ही अपने लक्ष्य, ब्रह्म स्वरूप, ममल स्वभाव से हटकर थोड़ा सा चित्त बहिर्मुख हो जाता है तो वह नीचे की ओर ही गिरता जाता है । दुःख के कारण और मोह रूप अनात्म चिंतन को छोड़कर आनंद स्वरूप आत्मा का चिंतन करो, जो साक्षात् मुक्ति का कारण है ।

अनादिकाल से कर्म संयुक्त आत्मा में कर्ममल, नोकर्म मल तथा कर्म के संयोग के निमित्त से हुए रागादि क्रोधादि भावमल, इन तीनों मलों के आवरण के कारण, आत्मा जो कि स्वयं शुद्ध चैतन्य स्वरूप आनंद कंद है, अप्रगट रूप था । जब ज्ञानी साधक अपने ममल स्वभाव की साधना करता है तो यह कर्ममल आवरण दूर हो जाते हैं, विला जाते हैं, आत्मा अपने सच्चिदानंद स्वरूप में प्रगट हो जाता है ।

आकांक्षा का नाम ही वेद्यभाव है, आकांक्षा को भोगने वाला भाव वेदक भाव कहा गया है । दोनों भाव कर्मोदय में होते हैं, अतः दोनों ही विभाव हैं और उनमें कालभेद भी है । जब वेद्यभाव होता है तब वेदकभाव की उत्पत्ति नहीं होती और जब वेदक भाव होता है तब तक वेद्यभाव समाप्त हो जाता है । दोनों एक साथ कभी नहीं हो सकते इसलिये कांक्ष्य भाव (चाहने वाले) की

पूर्ति होना संभव ही नहीं है।

ज्ञानी इस वस्तु स्थिति को जानता है वह इनमें से किसी की भी इच्छा नहीं करता, कोई आकांक्षा नहीं करता, अत्यंत विरक्त होता हुआ, उसका ज्ञाता ही रहता है।

५५. आलस भाव, ५६. प्रपंच भाव, ५७. विभ्रम भाव-

आलस अनिष्ट रूवं, आलस परिणाम अत्रित तिवक्तं च।

आवरणं नहु उत्तं, अप्प सहावेन आलसं मुक्कं ॥ ४५७ ॥

परपंचं पर पिच्छं, पर पज्जाव परिणाम मुक्कं च।

आवरणं नहु पिच्छं, ममल सहावेन कम्म संषिपनं ॥ ४५८ ॥

विभ्रम विप्रिय भावं, विप्रिय परिणाम अनिष्ट गलियं च।

आवरणं नहु पिच्छं, न्यान सहावेन कम्म संषिपनं ॥ ४५९ ॥

अन्वयार्थ - (आलस अनिष्ट रूवं) आलस अनिष्टकारी भाव है (आलस परिणाम अत्रित तिवक्तं च) आलस परिणाम क्षणभंगुर छूटने वाले हैं (आवरणं नहु उत्तं) इस आवरण की चर्चा ही मत करो (अप्प सहावेन आलसं मुक्कं) आत्म स्वभाव से सब आलस भाव क्षय हो जाते हैं।

(परपंचं पर पिच्छं) प्रपंच भाव पर पदार्थ के संबंध से होते हैं (पर पज्जाव परिणाम मुक्कं च) पर पर्याय के परिणाम सब छूट जाने वाले हैं (आवरणं नहु पिच्छं) इस आवरण को मत देखो, जानो (ममल सहावेन कम्म संषिपनं) ममल स्वभाव से सब कर्म क्षय हो जाते हैं।

(विभ्रम विप्रिय भावं) विभ्रम बड़ा विपरीत भाव है (विप्रिय परिणाम अनिष्ट गलियं च) संशय रूप विपरीत अप्रिय भाव अनिष्टकारी गल जाने वाला है (आवरणं नहु पिच्छं) इस आवरण को जानने पहिचानने में मत लगे (न्यान सहावेन कम्म संषिपनं) अपने ज्ञान स्वभाव में रहने से सब कर्म क्षय हो जाते हैं।

विशेषार्थ - ५५, ५६, ५७, आलस, प्रपंच, विभ्रम भाव - साधक की साधना में बाधक यह सूक्ष्म परिणाम हैं। आलस भाव-प्रमाद, असावधानी, यह प्रमत्त गुणस्थान तक होता है। प्रपंच भाव-पर पर्याय की ओर लक्ष्य रहने से होता है। विभ्रम भाव-संशय भाव सम्यक्ज्ञान की शुद्धि न होने तक होता

है। सम्यक्ज्ञान होने पर यह सब भाव विला जाते हैं। यह सब कर्मोदय जन्य भाव गल जाने वाले, विला जाने वाले हैं, इस आवरण को मत देखो, अपने ज्ञान स्वरूप ममल स्वभाव में रहने से सारे कर्म क्षय हो जाते हैं।

आशा, स्नेह, लाज, लोभ, भय, गारव, आलस, प्रपंच, विभ्रम यह नो भाव चित्त की अस्थिरता, अदृढ़ता के कारण होते हैं। यह सूक्ष्म भाव हैं, मन के बाद पकड़ में आते हैं।

साधक आगे क्यों नहीं बढ़ता ? विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि अंतःकरण में राग-द्वेष, अहंता, ममता और कामना आदि अनेक दोष भरे हुए हैं जिनके कारण अंतःकरण अपवित्र हो रहा है जिससे साधना में बाधा हो रही है। अतः अंतःकरण को शुद्ध करने के लिये निष्काम भाव से शौचाचार, सदाचार, जप, तप सात्विक भोजन और सत्य व्यवहार आदि की बहुत आवश्यकता है क्योंकि यह आत्म कल्याण में परम आवश्यक है।

संकल्प-विकल्प मन का काम है। राग-द्वेष (अच्छा बुरा मानना) बुद्धि का काम है। चाह, चिंता, चिंतन-चित्त का काम है। मोह (चारों कषाय) अहं का काम है।

जिसे धैर्य, दूर दृष्टि, स्थिरमति और दृढ़ दक्षता है वह किसी भाव में परेशान नहीं होता है।

विवेकवान साधक के लिये अपने स्वरूपानुसंधान में प्रमाद करने से बढकर और कोई अनर्थ नहीं है क्योंकि इसी से प्रपंचभाव होते हैं और प्रपंच से विभ्रमभाव होते हैं।

जब तक साधक अपने परम पुरुषार्थ को निजबल से प्रगट कर अनादिकालीन कर्म निमित्त जन्य विभावों और विकल्पों से अपने को नहीं निकालता अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित नहीं होता तब तक यह भावक भावों की श्रृंखला नहीं टूटती।

भावक भाव और ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने पर जब सर्व अन्य भावों से भिन्नता हुई तब यह उपयोग स्वयं ही अपने एक आत्मा को धारण करता हुआ अपने ज्ञानानंद स्वभाव में रमण करता है, अपने ध्रुवधाम में स्थित रहता है अन्यत्र नहीं जाता।

साधक की दृष्टि निरंतर अपने ममल स्वभाव ध्रुव तत्व पर ही रहती है, इससे सब कर्म क्षय हो जाते हैं।

प्रश्न - भावक भावों से अपने को भिन्न जानने पर फिर भावक भाव होते हैं या नहीं ?

समाधान - भावक भावों से अपने को भिन्न जानने पर ज्ञायक की स्थिति हो जाती है, जिससे उन भावों द्वारा पुनः कर्मबंध नहीं होता। भावक भाव तो गुणस्थान के अनुसार होते हैं।

प्रश्न - जब साधक अपने आत्म स्वभाव की साधना करता है फिर यह भाव क्यों होते हैं ?

समाधान - साधक अपने स्वभाव की साधना करता है परंतु जब तक स्वरूप में लीनता अर्थात् केवलज्ञान नहीं होता तब तक यह भाव होते हैं। साधक की दृष्टि अपने शुद्धात्म तत्त्व पर होती है तथापि ज्ञान में स्वभाव और पर्याय दोनों का बोध रहता है, वह शुद्ध-अशुद्ध पर्याय को जानता है और उन्हें जानते हुए उनके स्वभाव विभावपने का, उनके सुख-दुःख रूप वेदन का, उनके साधक-बाधकपने का विवेक रहता है।

साधक दशा में साधक के योग्य अनेक परिणाम होते रहते हैं परंतु मैं परिपूर्ण ध्रुवतत्त्व हूं ऐसा ज्ञानबल सतत् रहता है। पुरुषार्थ रूप क्रिया अपनी पर्याय में होती है और साधक उसे जानता है तथापि दृष्टि अपने ममल स्वभाव की ही रहती है। ऐसी साधक परिणति की अटपटी रीति को ज्ञानी बराबर समझते हैं, दूसरों को समझना कठिन होता है।

प्रश्न - भावक भावों से भिन्नता होने पर फिर क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

दह पाना पज्जत्ती, सुद्धं ससहाव हुंति चौदसमो ।

ममल सहावं दिट्ठं, चौदस प्राण भाव उप्पत्ती ॥ ४६० ॥

दह संजुत्तं सहियं, अतींदी सहकार सहाव संजुत्तं ।

न्यान सहाव स उत्तं, सुष साता बोध चेयना रूवं ॥ ४६१ ॥

अन्वयार्थ - (दह पाना पज्जत्ती) दश प्राण संयोगी पर्याय के होते हैं (सुद्धं ससहाव हुंति चौदसमो) शुद्ध स्वभाव होने अर्थात् केवलज्ञान होने पर चौदह प्राण होते हैं (ममल सहावं दिट्ठं) ममल स्वभाव को देखने अर्थात् ममल स्वभाव की दृष्टि होने से (चौदस प्राण भाव उप्पत्ती) चौदह प्राण के भाव पैदा हो जाते हैं।

(दह संजुत्तं सहियं) दश प्राण अर्थात् पांच इंद्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास यह दश प्राण सहित तो हो (अतींदी सहकार सहाव संजुत्तं) अतीन्द्रिय स्वभाव का सहकार व उसमें लीन होने पर (न्यान सहाव स उत्तं) जो ज्ञान स्वभाव कहा गया है (सुष साता बोध चेयना रूवं) सुख, सत्ता, बोध और चेतना यह चार प्राण प्रगट होते हैं।

विशेषार्थ - भावक भाव से भिन्नता होने पर अभी तक जो दश प्राण ही माने जाते थे, साधक की ममल स्वभाव पर दृष्टि होने से चौदह प्राण के भाव पैदा हो जाते हैं क्योंकि दश प्राण तो पर्यायी हैं अरिहंत केवलज्ञानी को चौदह प्राण होते हैं। दश प्राण-पांच इंद्रिय-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण। तीन बल-मन, वचन, काय-आयु और श्वासोच्छ्वास, यह तो वर्तमान संयोगी पर्याय में हैं। जब अपने अतीन्द्रिय स्वभाव में लीन होते हैं, जिसे ज्ञान स्वभाव कहा गया है, वहां सुख, सत्ता, बोध, चेतना यह जो जीव के वास्तविक चार प्राण हैं यह प्रगट हो जाते हैं। शरीर में जो प्राणों का संबंध जुड़ा था, साधक इससे भिन्न अपने वास्तविक प्राण को जान लेता है फिर उसे शरीर के प्रति ममत्व नहीं रहता और शरीर के प्राणों के जाने पर अपनी हानि नहीं मानता। साधक जीव प्रारंभ से अंत तक निश्चय की ही मुख्यता रखकर व्यवहार को गौण करते जाते हैं, उससे साधक दशा में निश्चय की मुख्यता के बल से शुद्धता की वृद्धि होती जाती है। केवलज्ञान होने पर वहां मुख्य गौणपना नहीं होता और नय भी नहीं होते हैं।

प्रश्न - यह चार प्राणों का स्वरूप क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

१. सुख प्राण-

सुषं च भाव उपत्ती, सुष षिपनिक भाव परिणाम संजुत्तं ।

कम्म मल सुयं च षिपनं, सुष प्राणं सहाव उवनं च ॥ ४६२ ॥

अन्वयार्थ - (सुषं च भाव उपत्ती) सुख के भाव पैदा होना (सुष षिपनिक भाव परिणाम संजुत्तं) सुख क्षायिक भाव के परिणाम से संयुक्त होता है (कम्म मल सुयं च षिपनं) इससे कर्ममल स्वयं क्षय होने लगते हैं (सुष प्राणं सहाव उवनं च) यही सुख प्राण स्वभाव का प्रगट होना है।

विशेषार्थ - सुख प्राण-सुख के भाव पैदा होना, अपने आपमें सुख की अनुभूति होना। ममल स्वभाव की अनुभूति होने पर क्षायिक भाव प्रगट

होता है अर्थात् साधक में दृढ़ता आती है, अपने ज्ञान श्रद्धान का अटल श्रद्धान विश्वास होता है। ज्ञान स्वभाव की दृढ़ता होना ही क्षायिक भाव है और सुख की अनुभूति इसी भाव से होती है क्योंकि जब तक अपने ममल स्वभाव का दृढ़ श्रद्धान विश्वास नहीं होता है तब तक चल मल अगाढ़पना भयभीतता रहती है वहां सुख की अनुभूति नहीं होती।

सुख की अनुभूति प्रगट होने पर कर्ममल स्वयं ही क्षय होने लगते हैं यही सुख प्राण का प्रगट होना है। आत्मीय आनंद आना ही सुख प्राण है जो केवलज्ञान प्रगट होने पर अनंत सुख रूप हो जाता है। स्वरूप के अनुभव से आता हुआ ज्ञान ही आत्मा है, ऐसे ज्ञान स्वभाव का स्व संवेदन ही सुख की अनुभूति सुख प्राण है।

प्रश्न - क्षायिक भाव तो क्षायिक सम्यक्त्व होने पर होता है क्या यहां क्षायिक सम्यक्त्व हो गया ?

समाधान - नहीं, यहां क्षायिक सम्यक्त्व की प्रधानता नहीं है, यहां अपने भाव में दृढ़ता, अटलता आना कि मैं ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा, ममल स्वभावी ही हूं, ऐसा दृढ़ श्रद्धान होना ही क्षायिक भाव है और इसी दृढ़ता से क्षायिक सम्यक्त्व भी होता है; फिर यह किसी भी कर्मोदय जन्य परिणमन में जुड़ना, अच्छा-बुरा लगना मिट जाता है। यह क्षायिक भाव हो जाना और सुख की अनुभूति होने लगना, साधक की विशेष उपलब्धि है।

२. सत्ता प्राण -

सातानन्त विसेशं, सहकारे न्यान ममल सहकारं।

सहकार कम्म षिपनं, साता प्राण ममल दिट्ठीओ ॥ ४६३ ॥

अन्वयार्थ - (सातानन्त विसेशं) सत्ता की अनंत विशेषता है (सहकारे न्यान ममल सहकारं) सत्ता के सहकार से ही ज्ञान ममल स्वभाव को स्वीकार करता है (सहकार कम्म षिपनं) सत्ता स्वरूप के प्रगट होते ही कर्म क्षय हो जाते हैं (साता प्राण ममल दिट्ठीओ) सत्ता प्राण ममल दिखता है।

विशेषार्थ - सत्ता प्राण की अनंत विशेषता है। सत्ता प्राण से ही जीव अनादि से अनंत काल तक बना रहता है। स्व स्वरूप की सत्ता की अनुभूति ही सत्ता प्राण है।

मैं ममलज्ञान स्वभावी हूं, ऐसे सत्ता स्वरूप की अनुभूति होना सत्ता

प्राण है इससे "सत्ता एक शून्य विंद" का प्रकाश होता है। निज सत्ता का स्वाभिमान बहुमान होने पर कर्म क्षय हो जाते हैं। कर्मों के क्षय होने पर पूर्ण शुद्ध ममल स्वभाव प्रगट हो जाता है यही सत्ता प्राण है।

साधक को निज सत्ता स्वरूप की अनुभूति होने पर ज्ञात होता है कि मैं पूर्ण शुद्ध असंग हूं। मैं नित्य अतीन्द्रिय ज्ञानमय हूं। मेरे अतिरिक्त अन्य कोई कुछ है ही नहीं। मैं चेतन असंख्यात प्रदेशी सिद्ध स्वरूप शुद्धात्मा हूं यही सत्ता प्राण है।

३. बोध प्राण -

बोधं न्यान सहावं, न्यान विन्यान ममल न्यानस्य।

परिणाम न्यान सुसमयं, प्रानं बोधं च ममल मल रहियं ॥ ४६४ ॥

अन्वयार्थ - (बोधं न्यान सहावं) ज्ञान स्वभाव को बोध प्राण कहते हैं (न्यान विन्यान ममल न्यानस्य) भेदविज्ञान से यह ज्ञान स्वभाव शुद्ध ममल हो जाता है (परिणाम न्यान सुसमयं) तब ज्ञान अपने शुद्धात्म स्वरूप में ही परिणमन करता है (प्रानं बोधं च ममल मल रहियं) कर्म मल से रहित होने पर यह बोध प्राण ममल हो जाता है।

विशेषार्थ - आत्मा का तीसरा स्वाभाविक प्राण बोध या ज्ञान है। जहां तक ज्ञानावरण कर्म का उदय है वहां तक यह बोध प्राण मलिन रहता है, जब सर्वथा कर्म मल क्षय हो जाता है तब अनंत ज्ञान स्वभाव प्रगट हो जाता है।

भगवान आत्मा ज्ञान और आनंद स्वरूपी होने से वह ज्ञान गुण द्वारा ही अनुभूत होने योग्य है, वह ज्ञान गुण बिना अनुभूत नहीं होता। भगवान की वाणी से नहीं, उनके निमित्त से हुए परलक्षी ज्ञान से भी नहीं परंतु जो स्वलक्षी भावश्रुत ज्ञान है, उससे आत्मा की अनुभूति होती है, ज्ञान विज्ञान होना, विवेक का जागरण ही बोध प्राण है।

ज्ञान द्वारा स्वरूप शक्ति को जानना। ज्ञान लक्षण व लक्ष्य रूप आत्मा अपने ज्ञान में भासित होता है तब सहज आनंद धारा बहती है यही बोध प्राण है, जहां आत्मा की ऐसी अनुभूति हुई कि ज्ञान सर्व विकल्पो से भिन्न होकर परिणमित होता है।

शुद्धनय की दृष्टि से देखा जाये तो किसी द्रव्य का स्वभाव, किसी अन्य

चिदानंद स्वभाव का भान करने वाला अल्प काल में मोक्ष चला जाता है। अंतर का मोक्षमार्ग तो राग से परे चैतन्य स्वभाव के आश्रय से परिणमता है। त्रिकाली चिदानंद चैतन्य स्वरूप की अनुभूति से केवलज्ञान स्वभाव परमानंद प्रगट होता है।

(षिपिओ कम्मं तिविहं) तीनों प्रकार के कर्म क्षय होने लगते हैं (षिपिओ परिणाम असुद्ध बंधानं) अशुद्ध बंध परिणाम भी क्षय हो जाते हैं (सुद्ध सहावं पिच्छदि) अपने शुद्ध स्वभाव को पहिचानने से (ममल सहावेन ममल न्यानस्य) ममल स्वभाव केवलज्ञान स्वरूप प्रगट हो जाता है ।

विशेषार्थ - चौदह प्राणों का स्वभाव जानने से अपने शुद्ध स्वभाव का सहकार और शुद्ध दृष्टि होती है, ममल स्वभाव में रहने से आत्मा परमात्मा केवलज्ञान स्वभावी हो जाता है। तीनों प्रकार के कर्म क्षय होने लगते हैं फिर शुभाशुभ कर्मों का बंध भी नहीं होता, सारे भाव ही क्षय हो जाते हैं। अपने चैतन्य प्राण शुद्ध स्वभाव को पहिचानने से ममल स्वभाव का अतीन्द्रिय आनंद आने लगता है और इसकी स्थिरता से केवलज्ञान प्रगट होता है।

आत्मा ज्ञान स्वभाव से सदा प्रगट है तो भी उसमें अन्य मानना या पर का कर्तृत्व या भोक्तृत्व मानना अज्ञान भाव है। यह अज्ञानमय भाव क्षणिक होने से ज्ञानमय भाव द्वारा दूर होता है। इससे सिद्ध होता है कि निज शुद्धत्व रूप मोक्ष आत्मा का स्वभाव है। बंधन, भूल, अशुद्धत्व, संयोगी दश प्राण उसका स्वभाव नहीं है। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य से आत्मा परिपूर्ण है जिसका सहज स्वभाव शुद्ध ममल ही है, उस स्वभाव का आदि अंत नहीं है, यह निज तत्त्व जैसा है वैसा पहिचाना जाये तो यह आत्मा पूर्ण कृतकृत्य होकर सहज स्वतंत्र परमात्मा केवलज्ञान स्वभावी होता है।

पुण्य-पाप और राग-द्वेष रूप उपाधि से भिन्न ऐसे ज्ञानानंद स्वरूप की श्रद्धा समझ और उसमें स्थिरता के सत्पुरुषार्थ द्वारा क्रमशः पूर्ण रूप से शुद्धता प्रगट होती है और उससे सादि अनंत निराकुल रूप सुख दशा प्रगट होती है। निराकुलता का तात्पर्य आधि व्याधि और उपाधि रहित शांति से है।

आधि - मन की चिंता, मन के शुभाशुभ विकल्प रूप विकारी कार्य अर्थात् चैतन्य की अस्थिरता।

व्याधि - शरीर की रोगादि विषयक चिंता।

उपाधि - स्त्री, धन, पुत्र, इज्जत आदि की चिंता।

उपर्युक्त आधि, व्याधि और उपाधि रूप आकुलता से रहित सहजानंद रूप सुख दशा है। इससे तीनों प्रकार के कर्म क्षय होते हैं और केवलज्ञान परमात्म पद प्रगट होता है।

प्रश्न - यह कर्मों का सम्बंध कैसे छूटता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

ए अतीचार कम्मानं, न्यान सहावेन कम्म विलयंति ।

ममलं ममल सहावं, न्यान विन्यान मुक्ति गमनं च ॥ ४६८ ॥

अन्वयार्थ - (ए अतीचार कम्मानं) यह कर्मों का दोष अतिचार सम्बंध (न्यान सहावेन कम्म विलयंति) ज्ञान स्वभाव की साधना से सब कर्म विला जाते हैं (ममलं ममल सहावं) ममल स्वभाव ममल ही ममल रहता है (न्यान विन्यान मुक्ति गमनं च) ज्ञान विज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ - आत्मा तो ममल ही ममल स्वभाव है, आत्मा में तो कोई कर्म मल है ही नहीं। अज्ञानता से यह कर्मों का सम्बंध है, ज्ञान स्वभाव की साधना से सब कर्म विला जाते हैं, भेदविज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि आठकर्म इन पुद्गल रज कणों के संयोगी सम्बंध वाले हैं और अनादि काल से प्रवाह रूप से चले आ रहे हैं। पुराने कर्म दूर हो जाते हैं और नये कर्म आते हैं, ऐसा अनादि कालीन प्रवाह है। आत्मा अबंध है, ममल स्वभाव वाला है, उसे भूलकर इस जीव ने बंध भाव में अटक कर अनंत दुःख पाये हैं किंतु जब से स्व सन्मुखता द्वारा सब बंध भावों को भेद कर सम्यक्दर्शन प्रगट किया तब से पूर्णता के लक्ष्य में स्थिरता का पुरुषार्थ बढ़ाते-बढ़ाते जीव के जब केवलज्ञान प्रगट होता है तब चार घातिया कर्म क्षय हो जाते हैं। चौदहवें गुणस्थान में शेष चार अघातिया कर्मों के छूटने पर आत्मा अविनाशी मुक्त सिद्ध दशा को प्राप्त करता है।

प्रत्येक आत्मा में अनुपम अतीन्द्रिय अनंत सुख शक्ति रूप में विद्यमान है। द्रव्य स्वभाव ही सुख रूप है, स्वाधीन है। यदि वह शक्ति रूप में न हो तो कभी प्रगट भी नहीं हो सकता। आत्मशक्ति पूर्ण है, वह उस ही प्रकार के पूर्ण श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र द्वारा प्रगट हो सकती है, अन्य उपाय से मोक्ष नहीं हो सकता। इससे यह निश्चित हुआ कि पुण्य से नहीं, मन के शुभ परिणाम से नहीं, शरीर से नहीं किंतु आत्मा में ज्ञान प्रगट करके भेदविज्ञान द्वारा उसमें स्थिरता करने से मोक्षमार्ग और मोक्ष दशा प्रगट होती है।

प्रश्न - साधक दशा में सम्यक्दर्शन और भेदविज्ञान होने पर फिर क्या होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

दंसन अंग स उत्तं, संमिक दंसनस्य सुद्ध सभावं ।

अनंत दंसन दिट्ठी, सुद्ध सहावेन ममल दिट्ठीओ ॥ ४६९ ॥

अन्वयार्थ - (दंसन अंग स उत्तं) सम्यक्दर्शन के अंगों को कहते हैं (संमिक दंसनस्य सुद्ध सभावं) उसका सम्यक्दर्शन शुद्ध होता है (अनंत दंसन दिट्ठी) अनंत दर्शन की दृष्टि होती है (सुद्ध सहावेन ममल दिट्ठीओ) शुद्ध स्वभाव की ममल दृष्टि होती है ।

विशेषार्थ - साधक का भावक भावों से भिन्न होने पर चौदह प्राण का प्रगटपना होता है । सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान की विशेषता से दर्शन के आठ अंग प्रगट होते हैं, सम्यक्दर्शन शुद्ध होता है, अनंत दर्शन की दृष्टि होती है, शुद्ध स्वभाव से ममल दृष्टि होती है तब ही अष्ट अंग परिपूर्ण होते हैं ।

जिसे आत्मा की श्रद्धा है वह उत्कृष्ट प्रतिकूल प्रसंगों में भी खेद नहीं करता, अंतरंग में क्षोभ नहीं करता, ऐसी उसके ज्ञान की दृढ़ता होती है । जब तक वह गृहस्थ दशा में है तथा पुरुषार्थ निर्बल है तब तक ज्ञानी होते हुए भी उसे थोड़ी अस्थिरता हो जाती है किंतु अभिप्राय में अशरीरी वीतराग भाव का लक्ष्य रखता है । मैं ज्ञाता हूँ, पूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ, ऐसी श्रद्धा रखता है यही शुद्ध सम्यक्दर्शन है ।

प्रश्न - अष्ट अंग कौन-कौन से हैं ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

निसंकिय निकंषिय, निविदिगिच्छा अमूढ दिट्ठीओ ।

उवगूहन ठिदिकरनं, वाछिल पहावना अंग अस्टंमि ॥ ४७० ॥

अन्वयार्थ - (निसंकिय) निःशंकित (निकंषिय) निःकांक्षित (निविदि गिच्छा) निर्विचिकित्सा (अमूढ दिट्ठीओ) अमूढ दृष्टि (उवगूहन) उपगूहन (ठिदिकरनं) स्थितिकरण (वाछिल) वात्सल्य (पहावना) प्रभावना (अंग अस्टंमि) यह आठ अंग होते हैं ।

विशेषार्थ - सम्यक्दर्शन के आठ अंगों के नाम - १. निःशंकित, २. निःकांक्षित, ३. निर्विचिकित्सा, ४. अमूढदृष्टि, ५. उपगूहन, ६. स्थितिकरण, ७. वात्सल्य, ८. प्रभावना यह आठ अंग सम्यक्दृष्टि ज्ञानी को परिपूर्ण होते हैं ।

साधक पूर्णता के लक्ष्य से पुरुषार्थ करता है, वह पुण्यादि उपाधियों

को देखकर उनमें अटकता नहीं है, अपने अखंड शुद्धात्मा पर ही उसकी दृष्टि है । इससे पूर्ण आत्मा कैसा है, कितना विकास रूप अनावृत है, कितना अनावृत होना शेष है यह सब जानते हुए वह शीघ्र पूर्णता को प्राप्त करता है ।

प्रश्न - इन आठ अंगों का स्वरूप भिन्न-भिन्न बताइये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

१. निःशंकित अंग -

निसंक संक रहिओ, नव सभाव रहिय ससंक विरयंति ।

निसंक न्यान अन्मोयं, पज्जय अन्यान संक विलयंति ॥ ४७१ ॥

अन्यानं नहु पिच्छदि, अन्यान भाव सयल तिकतं च ।

न्यान सहाव अन्मोयं, ममल सहावेन कम्म संषिपनं ॥ ४७२ ॥

पर पज्जाव न पिच्छं, पज्जय परिनाम सयल गलियं च ।

न्यान सहाव सुसमयं, निसंक भाव कम्म विलयंति ॥ ४७३ ॥

अन्वयार्थ - (निसंक संक रहिओ) निशंक का अर्थ शंका रहित होना है (नव सभाव रहिय ससंक विरयंति) नवीन शंकाओं से रहित होने से आगे-पीछे की कोई शंकायें होती ही नहीं हैं (निसंक न्यान अन्मोयं) ज्ञान के आलंबन से ही निशंक होते हैं (पज्जय अन्यान संक विलयंति) इसी से अज्ञान रूपी पर्याय और शंका विला जाती है ।

(अन्यानं नहु पिच्छदि) अज्ञान को नहीं देखना चाहिये (अन्यान भाव सयल तिकतं च) अज्ञान भाव सब छोड़ देना चाहिये (न्यान सहाव अन्मोयं) ज्ञान स्वभाव का आश्रय रखने से (ममल सहावेन कम्म संषिपनं) ममल स्वभाव से सारे कर्म क्षय हो जाते हैं ।

(पर पज्जाव न पिच्छं) पर पर्याय को मत देखो जानो (पज्जय परिनाम सयल गलियं च) पर्यायी परिणामन तो सब गल जाने वाला है (न्यान सहाव सुसमयं) अपना शुद्धात्म स्वरूप ही ज्ञान स्वभाव है (निसंक भाव कम्म विलयंति) ऐसे निशंक भाव में रहने से कर्म विला जाते हैं ।

विशेषार्थ - शंका नाम संशय तथा भय का है । सर्वज्ञ देव ने वस्तु का स्वरूप कहा है सो सत्य है कि असत्य है ? ऐसी शंका उत्पन्न न होना निःशंकित अंग है क्योंकि ऐसी शंका तो मिथ्यात्व कर्म के उदय से ही होती है । मिथ्यात्व

प्रकृति के उदय से पर पदार्थों में आत्म बुद्धि पैदा होती है, इसी को पर्याय बुद्धि कहते हैं अर्थात् कर्मोदय से मिली हुई शरीरादि सामग्री को ही जीव अपना स्वरूप समझ लेता है, इस अन्यथा बुद्धि से ही सप्त प्रकार के भय उत्पन्न होते हैं- इहलोक भय, परलोक भय, मरण भय, वेदना भय, अरक्षा भय, अगुप्ति भय और अकस्मात् भय। जब इनमें से किसी प्रकार का भय हो तो जानना चाहिये कि मिथ्यात्व कर्म के उदय से हुआ है।

यहाँ कोई शंका करे कि भय तो श्रावकों तथा मुनियों के भी होता है क्योंकि भय प्रकृति का उदय अष्टम गुणस्थान तक है तो भय का अभाव सम्यक्त्वी के कैसे संभव हो सकता है ?

उसका समाधान करते हैं कि सम्यक्दृष्टि को कर्म के उदय का स्वामित्व नहीं है और न वह परद्रव्य द्वारा अपने द्रव्यत्व का नाश मानता है, पर्याय का स्वभाव विनाशीक जानता है इसलिये चारित्रमोह सम्बंधी भय होते हुए भी दर्शन मोह सम्बंधी भय का तथा तत्त्वार्थ श्रद्धान में शंका का अभाव होने से वह निःशंक और निर्भय ही है।

यद्यपि वर्तमान पीड़ा सहने में असक्त होने के कारण भय से भागता, इलाज आदि भी कराता है तथापि तत्त्वार्थ श्रद्धान से डिगने रूप दर्शन मोह सम्बंधी भय लेशमात्र भी उसे उत्पन्न नहीं होता, अपने आत्मज्ञान श्रद्धान में निःशंक रहता है।

जिनाज्ञानुसार निर्ग्रन्थ मार्ग में वीतराग स्वरूप की आराधना कर परमात्म स्वरूप की प्राप्ति करूंगा, उसमें किसी प्रकार की शंका नहीं है, ऐसा दृढ़ विश्वास साधक ने अपने आत्मा में निश्चित किया है, जिसकी अनुभव दशा में इस प्रकार निःशंकता हो उसका एक ही भव बाकी है। ममल स्वभाव की दृढ़ता से सब कर्म क्षय हो जाते हैं।

आत्मा के त्रिकाली ध्रुव स्वभाव की श्रद्धा ही निःशंकित अंग है। शंका या भय से रहित होकर दृढ़ता पूर्वक आत्म स्वरूप का श्रद्धान, अपने ज्ञान स्वभाव में रहने से पूर्व कर्म बंधोदय विला जाते हैं।

जो सम्यक्दृष्टि आत्मा अपने ज्ञान, श्रद्धान में निःशंक हो, भय के निमित्त से स्वरूप से चलित न हो अथवा संदेह युक्त न हो उसको निःशंकित अंग होता है तथा पूर्व कर्म क्षय हो जाते हैं।

२. निःकांक्षित अंग -

कंष्या रहित सुभावं, इंद धरनिंद पज्जाव नहु पिच्छं।

चक्र पज्जाव विमुक्कं, पज्जावं अन्यान सुयं षिपनं च ॥ ४७४ ॥

पज्जाव अनिस्ट रूवं, कंष्या रहित ममल ससरूवं।

पज्जाव कंष्य विलयं, न्यानं अन्मोय कंष्य रहिएन ॥ ४७५ ॥

अन्वयार्थ - (कंष्या रहित सुभावं) कांक्षा रहित स्वभाव अर्थात् किसी भी प्रकार की कामना वासना का न होना निःकांक्षित अंग है (इंद धरनिंद पज्जाव नहु पिच्छं) वहाँ इंद तथा धरणेन्द्र की पर्याय तरफ भी नहीं देखता (चक्र पज्जाव विमुक्कं) चक्रवर्ती की पर्याय से भी कोई प्रयोजन नहीं है (पज्जावं अन्यान सुयं षिपनं च) इससे अज्ञान की पर्याय स्वयं क्षय हो जाती है।

(पज्जाव अनिस्ट रूवं) सर्व ही शरीर रूपी पर्याय अनिष्ट हैं, आत्मा के लिये हितकारी नहीं हैं (कंष्या रहित ममल ससरूवं) सर्व कांक्षा रहित ममल अपना आत्म स्वरूप है (पज्जाव कंष्य विलयं) किसी भी कर्म जनित पर्याय की कांक्षा नहीं है (न्यानं अन्मोय कंष्य रहिएन) ज्ञान स्वभाव के आश्रय सम्यक्दृष्टि कांक्षा रहित होता है।

विशेषार्थ - विषय भोगों की अभिलाषा का नाम कांक्षा या वांछा है, यह भोगाभिलाषा मिथ्यात्व कर्म के उदय से होती है, इसके चिन्ह यह हैं- पहले भोगे हुए भोगों की वांछा, उन भोगों की मुख्य क्रिया की वांछा, कर्म और कर्म के फल की वांछा, मिथ्यादृष्टियों को भोगों की प्राप्ति देखकर उनको अपने मन में भले जानना अथवा इंद्रियों की रुचि के विरुद्ध भोगों में उद्वेग रूप होना, यह सब सांसारिक वांछायें हैं। जिस पुरुष के अंतर में यह न हो वह निःकांक्षित अंगधारी है। वह इंद, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती के सुखोपभोग को भी नहीं चाहता। सम्यक्दृष्टि यद्यपि कर्म के उदय की प्रबलता से इंद्रियों को वश करने में असमर्थ है इसलिये पांच इंद्रियों के विषयों का सेवन करता है तो भी उसको उनसे रुचि नहीं है इसलिये अज्ञान जनित पर्यायें अपने आप क्षय हो जाती हैं।

ज्ञानी पुरुष व्रतादि शुभाचरण करता हुआ भी उनके उदय जनित शुभ फलों की वांछा नहीं करता, यहाँ तक कि व्रतादि शुभाचरणों को आत्म स्वरूप

के साधक जानकर आचरण करते हुए भी हेय जानता है ।

जिसे आत्मरस का स्वाद आ गया है वह अन्य रस का आकांक्षी नहीं होता अतः सम्यक्दृष्टि संपूर्ण सांसारिक आकांक्षाओं से रहित आत्म रसास्वादी है, यही परमार्थ से उसका निःकांक्षित अंग है । व्यवहारतः आत्म भिन्न पदार्थों में ऐसा उसका विश्वास है कि उनका संयोग कर्माधीन है, नाशवान संयोग में सुख नहीं है, सुखाभास है । उन सांसारिक सुख भोगों में रागादि कषायों का आलम्बन रहने से वह पाप बंध के कारण हैं, जिनका फल अत्यंत दुःख है । ऐसे दुःखांत फल वाले किसी भी सांसारिक सुख की उसे किंचित् भी वांछा नहीं होती यही निःकांक्षित अंग वीतराग भाव है ।

ज्ञानी सम्यक्दृष्टि जीव जो स्व संवेदन प्रत्यक्ष से अपने स्वरूप का दर्शन कर रहा है, अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद ले रहा है और उसमें निःशंक है । वह जानता है कि मैं ज्ञान स्वभावी ध्रुव, ममल, अचल पदार्थ हूँ, मेरा निज का ज्ञान छिनने वाला नहीं है, वह बिगड़ने वाला भी नहीं है, न नाश होने वाला है । इसके सिवाय कोई दूसरा पदार्थ मेरी कुछ हानि कर सके, मेरी सत्ता में प्रवेश कर सके, या मुझ पर अपनी सत्ता जमा सके, ऐसा भी नहीं है ।

मेरा ज्ञान दर्शन स्वभाव सदा से है, सदा रहेगा वह अचल है अर्थात् हीनाधिक भी नहीं हो सकता, ऐसे अपने ज्ञान स्वभाव के आलंबन से निःकांक्षित रहता है ।

३. निर्विचिकित्सा अंग -

विदि संसार सुभावं, विदं न पिच्छेइ परिनाम विलयंति ।

विदि च अनन्त अनिस्टं, विदं न पिच्छेइ कम्म विलयंति ॥ ४७६ ॥

विदिं न अप्प सहावं, दंसन न्यानं च अन्मोय ममलं च ।

अन्यान विदि नहु पिच्छं, सुद्धं सहकार निव्विदं पिच्छं ॥ ४७७ ॥

अन्वयार्थ - (विदि संसार सुभावं) घृणा करना यह संसारी प्राणियों का स्वभाव है (विदं न पिच्छेइ परिनाम विलयंति) घृणा या ग्लानि न देखने से इन परिणामों से छुटकारा हो जाता है (विदि च अनन्त अनिस्टं) घृणा के सर्व ही भाव अनिष्टकारी हैं (विदं न पिच्छेइ कम्म विलयंति) जो घृणा भाव नहीं करता उसके सब कर्म विला जाते हैं ।

(विदिं न अप्प सहावं) घृणा का भाव आत्मा का स्वभाव नहीं है (दंसन

न्यानं च अन्मोय ममलं च) आत्मा तो दर्शन ज्ञान स्वभावी ममल स्वरूप है और ऐसा ही सब जीवों का स्वभाव है (अन्यान विदि नहु पिच्छं) अज्ञान मयी घृणा भाव मत करो (सुद्धं सहकार निव्विदं पिच्छं) शुद्ध स्वरूप का सहकार करो, सबको एक समान समदृष्टि से देखना ही निर्विचिकित्सा अंग है ।

विशेषार्थ - अपने को उत्तम गुण युक्त समझकर अपने आपको श्रेष्ठ मानने से दूसरों के प्रति जो तिरस्कार करने की बुद्धि पैदा होती है उसे विचिकित्सा या ग्लानि कहते हैं । यह दोष मिथ्यात्व के उदय से होता है, इसके बाह्य चिन्ह यह हैं-जो कोई पुरुष पाप के उदय से दुःखी हो व असाता के उदय से ग्लान शरीर युक्त हो, रोगी हो, दरिद्री हो, उसमें ऐसी ग्लानि रूप बुद्धि करना कि मैं सुन्दर रूपवान, संपत्तिवान, बुद्धिमान हूँ । यह रंक, दीन, कुरूप मेरी बराबरी का नहीं है । ऐसे सब घृणा भाव अनिष्टकारी हैं, जो इन सब भावों को छोड़कर सबसे प्रेम करता है वह निर्विचिकित्सा अंग का धारी है ।

सम्यक्दृष्टि के विचिकित्सा रूप भाव कदापि नहीं होते, वह विचार करता है कि शुभाशुभ कर्मों के उदय से जीवों की अनेक प्रकार विचित्र दशा होती है । कदाचित् मेरा भी अशुभ उदय आ जाये तो मेरी भी ऐसी ही दुर्दशा होना कोई असंभव नहीं है इसलिये वह दूसरों को हीन बुद्धि से या ग्लान दृष्टि से नहीं देखता । जो वस्तु के धर्मों के प्रति ग्लानि न करे उसको निर्विचिकित्सा अंग होता है । द्वेष का अभाव होने से पूर्वकृत कर्म क्षय होते हैं ।

जो वस्तु को उसके स्वरूप से देखता है उसे धर्म में प्रीति होती है, धर्म के परिपालन में द्वेष बुद्धि घृणा नहीं होती । मिथ्यादृष्टि मंद कषायवान कदाचित् धर्म का परिपालन करे तो उसे पालते-पालते कभी उदासीनता विरक्ति का भाव भी आ जाता है इसे ही विचिकित्सा कहते हैं । ज्ञानी को अपने स्वरूप रूप प्रवर्तन में दृढ़ रुचि है यही उसका निर्विचिकित्सा अंग है । वह अन्य धर्मात्माजनों की सेवा करता है । साधुओं की वैयावृत्ति करता है यही उसका व्यवहारिक रूप है । उनकी सेवा में शारीरिक मलादि के कारण उसे घृणा नहीं होती । शरीर का स्वभाव सड़ना गलना है चाहे अपना हो या साधु का हो उससे घृणा कैसी ? अतः व्यवहारिक रूप में धर्मात्माओं से प्रीति करता हुआ सेवा करता है, यही निर्विचिकित्सा अंग है, इससे घृणा द्वेष ग्लानि का अभाव हो जाता है ।

साधक के अंतर में पूर्ण शुद्ध परमात्म स्वरूप की प्रतीति रहती है । जीव की सिद्ध परमात्म दशा पूर्ण रूप से निर्मल ममल होने से उसके बाद कोई अन्य मर्यादा लांघने को शेष नहीं रहती है । सब जीवों का सिद्ध स्वभाव अपने आपमें परिपूर्ण है इस श्रद्धा विश्वास प्रतीति से समभाव में रहता है यही निर्विचिकित्सा अंग है ।

४. अमूढ दृष्टि अंग-

**मूढ सहावं तिक्तं , मूढ निगोयं च पज्जाव संदिद्धं ।
पर सुभाव पज्जावं, मूढ दिट्ठी च गलिय परिनामं ॥ ४७८ ॥
अमूढ अरूव रूवं, दिट्ठिं ममलं च न्यान विन्यानं ।
अमूढ दिट्ठि भनियं, दंसन अंगं च कम्म विलयंति ॥ ४७९ ॥**

अन्वयार्थ - (मूढ सहावं तिक्तं) मूढ स्वभाव को छोड़ना (मूढ निगोयं च पज्जाव संदिद्धं) मूढ लोग पर्याय को ही देखते हैं इससे निगोद जाते हैं (पर सुभाव पज्जावं) पर्याय आत्मा से भिन्न पर स्वभाव रूप है (मूढ दिट्ठी च गलिय परिनामं) मूढ दृष्टि और उसके भाव गल जाने वाले हैं ।

(अमूढ अरूव रूवं) अमूढदृष्टि अपने अरूपी स्वरूप को देखता है जो (दिट्ठिं ममलं च न्यान विन्यानं) ममल स्वभाव ज्ञान विज्ञानमयी है (अमूढ दिट्ठि भनियं) अमूढ दृष्टि उसे कहते हैं (दंसन अंगं च कम्म विलयंति) जहां सम्यक्दर्शन के अंग प्रगट होकर कर्म विला जाते हैं ।

विशेषार्थ - अतत्त्व में तत्त्व श्रद्धान करने की बुद्धि को मूढ दृष्टि कहते हैं, पर्याय दृष्टि ही मिथ्यादृष्टि है, वह मिथ्यात्व के उदय से होती है । जिनके यह मूढ दृष्टि नहीं है वे अमूढदृष्टि अंग युक्त सम्यक्दृष्टि हैं । मूढ दृष्टि पर पर्याय को ही देखता है, पर का लक्ष्य होने से अज्ञानियों द्वारा पूर्वापर विवेक बिना, गुण दोष के विचार रहित अनेक क्रियाकांड मिथ्या आडंबरों को धर्म रूप वर्णन किया गया है और उनके पूजने से लौकिक और पारमार्थिक कार्यों की सिद्धि बताई है । अमूढ दृष्टि का धारक इन सबको असत्य जानता है और उनमें धर्म रूप बुद्धि नहीं करता तथा अनेक प्रकार की लौकिक मूढताओं को निस्सार तथा खोटे फलों की उत्पादक जानकर व्यर्थ समझता है ।

कुदेव या अदेव में देवबुद्धि, कुगुरु या अगुरु में गुरुबुद्धि तथा इनके निमित्त हिंसा करने में धर्म मानना आदि मूढदृष्टिपने को मिथ्यात्व समझकर

दूर से ही तजता है यही सम्यक्त्वी का अमूढ दृष्टि अंग है ।

सम्यक्दृष्टि के निजात्म तत्त्व से भिन्न सभी पंचेन्द्रिय विषयों पर मोह भाव नहीं है, यही उसकी मोह रहित दृष्टि है, इसे अमूढ दृष्टि अंग कहते हैं । अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र स्वभाव में रुचि है यही उसका पारमार्थिक रूप है तथा समस्त पर पदार्थों में मोह का अभाव है । मिथ्यामार्ग और मिथ्या मार्गियों की मन वचन काय से सराहना न करना ही अमूढ दृष्टि अंग है ।

मूढ दृष्टि बाह्य साधना का पक्ष करता है किंतु यहां तो पूर्ण स्वरूप के उत्साह की भावना है, जो आत्मा से हो सके ऐसी ज्ञान क्रिया या स्वरूप में रमणता का विचार है । इस प्रकार के अडिग निश्चल असीम विश्वास को स्वीकार तो करो । कभी सिंह शरीर के टुकड़े भी कर दे तो भी क्षोभ न हो, यहां तो असली साधक दशा की भावना है । जो स्वरूप में मूढ न हो, स्वरूप को यथार्थ ज्ञान विज्ञान मयी ममल स्वभाव ही जाने यही अमूढ दृष्टि अंग है और इससे ही पूर्व कर्म बंधोदय क्षय होते हैं ।

५. उपगूहन अंग-

**उवगूहनं सभावं, न्यानी दोसं न दिस्यते भावं ।
पज्जावं पर विलयं, न्यानी अन्मोय दोष विलयंति ॥ ४८० ॥
गुन रूवं उवएसं, न्यानी सभाव कम्म षिपनं च ।
दोसं नन्त न पिच्छं, उवगूहन अन्मोय न्यान ममलं च ॥ ४८१ ॥**

अन्वयार्थ - (उवगूहनं सभावं) उपगूहन स्वभाव वह होता है (न्यानी दोसं न दिस्यते भावं) ज्ञानी पर के दोषों पर दृष्टि नहीं देते (पज्जावं पर विलयं) पर और पर्याय की दृष्टि भी विला गई (न्यानी अन्मोय दोष विलयंति) ज्ञानी आत्मानंद में मगन है, इसी से सब दोष, कर्म विला जाते हैं ।

(गुन रूवं उवएसं) अपने आत्म स्वरूप के गुणों का उपदेश अपने लिये करते हैं (न्यानी सभाव कम्म षिपनं च) ज्ञानी के अपने स्वभाव के प्रकाश से कर्म क्षय हो जाते हैं (दोसं नन्त न पिच्छं) वह किसी के दोष देखते ही नहीं हैं (उवगूहन अन्मोय न्यान ममलं च) उपगूहन स्वभाव के आलंबन से ममल ज्ञान स्वभाव प्रगट होता है ।

विशेषार्थ - सम्यक्त्व के इन आठ अंगों में प्रथम निःशंकित अंग से आत्मा की अखंड श्रद्धा के रूप में जीव को सम्यक्त्व का यथार्थ स्वरूप प्राप्त

होता है। दूसरे निःकांक्षित अंग से विषयों के प्रति अनांकांक्षा हो जाने से तद्विषयक राग का अभाव होता है। तीसरे निर्विचिकित्सा अंग से अनिष्ट पदार्थों के प्रति घृणा या तिरस्कार का परिहार होने से तद्विषयक दोष का अभाव हो जाता है। चौथे अमूढ दृष्टि अंग के द्वारा गृहीत मिथ्यात्व के साधनों का परिहार हो जाने से उसमें मोह भाव का अभाव हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानी के राग-द्वेष, मोह का अभाव होने से बंध नहीं होता तथा पूर्वकृत कर्मोदय क्षय होते जाते हैं।

चार अंगों की साधना से सम्यक्दृष्टि जीव का आंतरिक व्यक्तित्व संस्कारित हो जाता है। अन्य जीवों के प्रति उसका व्यवहार शेष चार अंगों के द्वारा परिष्कृत होता है।

उपगूहन अंग - जो अपने संपूर्ण गुणों को अपने भीतर सुरक्षित रखे, उपगूहन छिपाने को कहते हैं। ज्ञानी अपने गुणों को बाहरी विकारी भावों की हवा नहीं लगने देता, अपने भीतर अंतरगर्भगृह में ही छिपाकर रखता है यही परमार्थतः उपगूहन है। उपगूहन का दूसरा नाम उपवृंहण है जिसका अर्थ बढ़ाना है। ज्ञानी निरंतर अपने गुणों की वृद्धि करता है, यही उसका उपवृंहण नाम का वास्तविक गुण है। व्यवहारतः उपगूहन का अर्थ इस प्रकार है-धर्मात्मा गुणी पुरुषों में यदि कोई दोष दिखाई दे जावे तो उसका प्रचार-प्रसार नहीं करना, बल्कि उनमें यह दोष दूर हों तथा गुण बढ़े ऐसी सहायता करना।

पवित्र जिनधर्म में अज्ञानता अथवा अशक्तता से उत्पन्न हुई निन्दा को योग्य रीति से दूर करना तथा अपने गुणों को व दूसरों के दोषों को ढांकना सो उपगूहन है पुनः अपनी तथा अन्य जीवों की सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र शक्ति को बढ़ाना यही उपवृंहण अंग है। जो आत्मा को शुद्ध स्वरूप में युक्त करे, आत्मा की शक्ति बढ़ाये और अन्य धर्मों को गौण करे यह उपगूहन अंग है, इससे पूर्व कृत कर्म क्षय हो जाते हैं।

६. स्थितिकरण अंग-

स्थितिकरण स उत्तं, न्यानी न्यानं च अन्मोय समयं च।

पज्जावं नहु पिच्छं, स्थिति अंगं च कम्म विलयंति ॥ ४८२ ॥

अन्वयार्थ - (स्थितिकरण स उत्तं) स्थितिकरण अंग उसे कहते हैं (न्यानी न्यानं च अन्मोय समयं च) ज्ञानी अपने ज्ञान स्वभाव शुद्धात्मा में ही

स्थित रहते हैं (पज्जावं नहु पिच्छं) पर्याय की तरफ देखते भी नहीं हैं (स्थिति अंगं च कम्म विलयंति) इस स्थिति अंग से सब कर्म विला जाते हैं।

विशेषार्थ - अपने स्वरूप में स्थित रहना ही स्थितिकरण अंग है। स्वाश्रय छोड़कर पराश्रय करना या पर्याय को देखना ही विचलित होना है। स्वयं अपने ज्ञायक स्वभाव से विचलित न होकर उसी में स्थित रहना ही निश्चय से स्थितिकरण अंग है।

धर्म, धर्मात्मा के आश्रय से ही चलता है, धर्मात्मा के अपवाद से धर्म का अपवाद हो जाता है अतः धर्म के मार्ग को पवित्र बनाये रखने के लिये धर्मात्मा का स्थितिकरण आवश्यक है। उपगूहन अंग की पूर्ति स्थितिकरण अंग से ही होती है, यह उसका व्यवहारिक रूप है।

आप स्वयं या अन्य पुरुष कर्म के उदय वश श्रद्धान ज्ञान चारित्र से डिगते या छूटते हों तो अपने को व उन्हें दृढ़ तथा स्थिर करना स्थितिकरण अंग है।

७. वात्सल्य अंग-

विन्यानं वाच्छल्लं, न्यानं विन्यान न्यान सहकारं।

दंसन न्यान सुसमयं, ममल सहावेन चरन संजुत्तं ॥ ४८३ ॥

चरनं पि सुद्ध चरनं, संजम चरनस्य सुद्ध ससहावं।

विलयंति कंम मलयं, वाछिल अंगं च विन्यान न्यान अन्मोयं ॥ ४८४ ॥

अन्वयार्थ - (विन्यानं वाच्छल्लं) विज्ञान घन रहना ही वात्सल्य अंग है (न्यानं विन्यान न्यान सहकारं) ज्ञान से विज्ञान और विज्ञान से केवलज्ञान (दंसन न्यान सुसमयं) अपना आत्मा ही सम्यक्दर्शन है, अपना आत्मा ही सम्यक्ज्ञान है (ममल सहावेन चरन संजुत्तं) अपने ममल स्वभाव में लीन रहना ही सम्यक्चारित्र है।

(चरनं पि सुद्ध चरनं) चारित्र ही शुद्ध आत्मा में चर्या रूप है (संजम चरनस्य सुद्ध ससहावं) अपने शुद्ध स्वभाव में तिष्ठना ही संयमाचरण है (विलयंति कंम मलयं) जिससे कर्म मल विला जाते हैं (वाछिल अंगं च विन्यान न्यान अन्मोयं) विज्ञान घन स्वभाव का आलंबन ही वात्सल्य अंग है।

विशेषार्थ - अपने सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र गुणों की प्राप्ति के प्रति अनुराग वात्सल्य अंग है। मैं विज्ञान घन हूँ, इसका उत्साह प्रेम स्नेह होना ही

✻
✻-✻-✻-✻-✻-✻-✻-✻-✻-✻-✻

के होने पर सारी शंकायें विला जाती हैं। मैं पूर्ण शुद्ध, मुक्त, केवलज्ञान स्वभावी, ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा सिद्ध परमात्मा हूँ। ऐसे अपने सत्स्वरूप में निःशंकित होने पर आठों अंग सहित नवीन कर्म का संवर करता हुआ तथा पूर्व में स्वापराध से बांधे हुए कर्मों की अपने निर्जरा योग्य परिणामों के उठान से क्षय करता हुआ वह सम्यक्दृष्टि जीव स्वयं स्वानुभवोत्पन्न अत्यंत आनंद के रस से भरा हुआ आदि, अंत और मध्य भाव से रहित ज्ञानमय होकर आनंद विभोर होकर नृत्य करता है, आनंदमय रहता है इससे सारे कर्म क्षय होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार निःशंकित अंग की परिपूर्णता होने से नवीन बंध को रोकता हुआ और अपने आठों अंगों से युक्त होने के कारण, निर्जरा प्रगट होने से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश करता हुआ, सम्यक्दृष्टि जीव स्वयं निज रस में आनंदित ज्ञान रूप होकर नृत्य करता है।

मेरे ज्ञान के मति श्रुत अंश स्वतंत्र हैं उन्हें किसी पर का अवलंबन नहीं है, मैं ज्ञान स्वभावी शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ, ऐसी प्रतीति, दृढ़ श्रद्धा निःशंकित होने पर किसी निमित्त का अथवा पर का लक्ष्य नहीं रहता। सामान्य स्वभाव की ओर ही लक्ष्य रहता है, इस सामान्य स्वभाव के बल से जीव को पूर्णता का पुरुषार्थ होता है। पहले पर के निमित्त से ज्ञान का होना माना था, इंद्रिय ज्ञान से वह ज्ञान पर लक्ष्य में अटक जाता था किंतु स्वाधीन स्वभाव से ज्ञान होता है ऐसी प्रतीति निःशंकित होने पर ज्ञान को कहीं भी रुकने का नहीं रहता।

मेरे ज्ञान में पर का अवलंबन नहीं है, असाधारण ज्ञान का ही अवलंबन है, इस प्रकार सामान्य स्वभाव के कारण से जो ज्ञान परिणमित होता है, उस ज्ञान को तोड़ने वाला कोई है ही नहीं अर्थात् स्वाश्रय से जो ज्ञान प्रगट हुआ है, वह ज्ञान अल्पकाल में ही केवलज्ञान को अवश्य प्राप्त करेगा। ज्ञान के अवलंबन से ज्ञान कार्य करता है ऐसी प्रतीति निःशंकता में केवलज्ञान समा जाता है।

जिस काल में जिस वस्तु की जो अवस्था सर्वज्ञ देव के ज्ञान में ज्ञात हुई है उसी क्रम से उसकी वह अवस्था होगी, भगवान तीर्थकर देव भी उसे बदलने में समर्थ नहीं हैं, यह कहने में वास्तव में अपने ज्ञान की निःशंकता है। सर्वज्ञ देव मात्र ज्ञाता हैं किंतु वे किसी भी तरह का परिवर्तन करने में समर्थ नहीं हैं तब फिर मैं तो कर ही क्या सकता हूँ? मैं भी मात्र ज्ञाता ही हूँ इस प्रकार उसे

अपने ज्ञान की पूर्णता की भावना का बल है। पर में कर्तृत्व की बुद्धि छूट गई है, इसी से पूर्वबद्ध कर्म क्षय होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है।

अनंत पदार्थों को जानने वाले, अनंत सामर्थ्य से परिपूर्ण और भवरहित केवलज्ञान का जिस ज्ञान ने निर्णय किया, उस ज्ञान ने अपने पुरुषार्थ के द्वारा निर्णय किया है, जिसने भवरहित केवलज्ञान को प्रतीति में लिया है उसने राग में लिप्त होकर प्रतीति नहीं की किंतु राग से पृथक् होकर, अपने ज्ञान स्वभाव में स्थित होकर भव रहित केवलज्ञान की प्रतीति की है, जिस ज्ञान ने ज्ञान में स्थिर होकर भवरहित केवलज्ञान की प्रतीति की है वह ज्ञान स्वयं भवरहित है और इसलिये उस ज्ञान में भव की शंका नहीं है।

पहले केवलज्ञान की प्रतीति नहीं थी, तब वह अनंत भव की शंका में झूलता रहता था और अब प्रतीति होने पर अनंत भव की शंका दूर हो गई तथा एक या दो भव में मोक्ष के लिये ज्ञान निःशंक हो गया है, उस ज्ञान में अनंत पुरुषार्थ निहित है।

इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में जैसा देखा है वैसा ही होता है, ऐसी सर्वज्ञ की यथार्थ श्रद्धा में अपनी भव रहितता का निर्णय समाविष्ट हो जाता है अर्थात् उसमें मोक्ष का पुरुषार्थ आ जाता है। सर्वज्ञ के यथार्थ निर्णय के बल से मोक्षमार्ग प्रारंभ हो जाता है।

सभी द्रव्यों की तरह अपने द्रव्य की अवस्था भी क्रमबद्ध ही है, जैसे अन्य द्रव्यों की क्रमबद्ध पर्याय इस जीव से नहीं होती, वैसे ही इस जीव की क्रमबद्ध पर्याय अन्य द्रव्यों से नहीं होती। अपनी क्रमबद्ध पर्याय के निर्णय के लिये अपने द्रव्य स्वभाव में ही देखा जाता है कि मेरी पर्याय रूप तो मेरा द्रव्य ही होता है।

स्वद्रव्य में राग-द्वेष नहीं है, कोई परद्रव्य मुझे राग-द्वेष नहीं कराता। पर्याय में जो अल्प राग-द्वेष है वह मेरी निर्बलता के कारण से है, वह निर्बलता भी मेरे द्रव्य स्वभाव में नहीं है। इस प्रकार पर में न देखकर अपने स्वभाव में ही देखना रह जाता है। स्वभाव के बल से अल्पकाल में राग को दूर करके वह केवलज्ञान को अवश्य प्रगट करेगा। बस इसी ज्ञान को क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा है। इस जीव ने ही सर्वज्ञ को यथार्थतया जाना है और यही जीव स्वभाव दृष्टि से साधक हुआ है, उसका फल सर्वज्ञ दशा मुक्ति की प्राप्ति है।

प्रश्न - सर्वज्ञ की श्रद्धा में तो पराधीनता है, इसमें स्वाधीनता, पुरुषार्थ क्या रहा ?

समाधान - सम्यक्दृष्टि धर्मात्मा अपने सम्यक्ज्ञान से यह जानता है कि सर्वज्ञ भगवान ने अपने ज्ञान में जो जाना है, उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु क्रमबद्ध परिणामित होती है, दूसरा उसका कर्ता नहीं है। ऐसा अपने अनुभव से सिद्ध किया है, यहां औपचारिक श्रद्धा काम नहीं देती, जिसे स्वयं की अनुभूति होती है वही यह निर्णय स्वीकार करता है।

मेरी केवलज्ञान पर्याय मेरे स्वद्रव्य में से ही प्रगट होगी, ऐसी सम्यक् भावना से उसका ज्ञान स्व सन्मुख होकर स्वभाव में एकाग्र होता है और ज्ञाता शक्ति प्रति पर्याय में निर्मल होती जाती है तथा विकारी पर्याय क्रमशः दूर होती जाती है।

कौन कहता है कि इसमें पराधीनता है, पुरुषार्थ नहीं है ? ऐसे स्वभाव में जो निःशंक है वह सम्यक्दृष्टि और इस स्वभाव में जो तनिक भी संदेह का वेदन करता है शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है। उसे सर्वज्ञ के ज्ञान की और अपने ज्ञाता स्वभाव की श्रद्धा नहीं है।

इस सम्यक्दृष्टि जीव की भावना तो देखो, वह स्वभाव के आश्रय से ही साधक दशा का प्रारंभ करता है और स्वभाव में ही जाकर पूर्ण करता है। केवलज्ञान संपूर्ण तथा निज में ही समाविष्ट हो जाता है। साधक धर्मात्मा अपने में ही समाविष्ट होना चाहता है। उसने बाहर से न तो कहीं से प्रारंभ किया है और न बाह्य में कहीं रुकने वाला है। आत्मा का मार्ग आत्मा में से निकलकर आत्मा में ही समाविष्ट हो जाता है।

इस बात की समझ में आत्मा के मोक्ष का उपाय निहित है इसलिये इस बात को खूब विश्लेषण करके समझना चाहिये, सर्वज्ञ के निर्णय पूर्वक स्पष्ट करके जानना चाहिये, परम सत् को ढांकना नहीं चाहिये किंतु ऊहापोह करके बराबर अपने अनुभव से निश्चय करना चाहिये। सत्य में किसी की लज्जा नहीं होती, यह तो वस्तु स्वरूप है।

प्रश्न - इसका उद्देश्य और फल क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

सिद्धं सहाव उत्तं, सिद्धं मुक्ति भाव सुद्ध सुपएसं ।

विन्यान सहावं उत्तं, न्यानं सभाव जान ममलं च ॥ ४८८ ॥

अन्वयार्थ - (सिद्धं सहाव उत्तं) सिद्ध स्वभाव को कहते हैं (सिद्धं मुक्ति भाव सुद्ध सुपएसं) सिद्ध परमात्मा ने मुक्ति भाव पा लिया वह अपने शुद्ध स्वप्रदेशों में स्थित हो गये (विन्यान सहावं उत्तं) यह भेदविज्ञान की महिमा कही है जिससे (न्यानं सभाव जान ममलं च) अपने ज्ञान स्वभाव को जान लिया जो ममल पूर्ण शुद्ध है।

विशेषार्थ - भेदविज्ञान के द्वारा अपने ममल स्वभाव को जानकर जिन्होंने अपने ज्ञान स्वभाव की साधना की, वे सिद्ध परमात्मा हो गये। जो सिद्ध परमात्मा मुक्त हुए वह अपने शुद्ध भाव, परम पारिणामिक भाव तथा शुद्ध प्रदेश में प्रतिष्ठित हो गये।

जो साध्य को सिद्ध कर सके उसे सिद्ध कहते हैं। मोक्ष भाव साध्य था उसे सिद्धों ने सिद्ध कर लिया, उनकी आत्मा में कोई कर्म पुद्गल शेष नहीं रहा, वह पूर्ण शुद्ध मुक्त शुद्ध प्रदेशमय हो गये। जो साधक अपने ममल स्वभाव की साधना करते हैं, वह भी ऐसे सिद्ध परमपद को पाते हैं। उपदेश शुद्ध सार का मूल आधार ही सिद्ध परम पद पाना है।

संयोगी पर्याय, भावक भाव, शरीरादि से जो अपने को भिन्न ममल स्वभाव रूप स्वीकार करता है वह साधक सिद्ध पद को पाता है।

बंध के कारणों का अभाव होने से नवीन कर्मों का अभाव हो जाता है और निर्जरा के कारण मिलने पर संचित कर्मों का अभाव हो जाता है, इस तरह समस्त कर्मों से छूट जाने को मोक्ष कहते हैं।

आत्मा का जो परिणाम समस्त कर्मों के क्षय में हेतु है उसे भाव मोक्ष जानो और आत्मा से समस्त कर्मों का पृथक् होना द्रव्य मोक्ष है।

ममल स्वभाव की साधना का उद्देश्य और फल मोक्ष सिद्ध पद को पाना है।

मुमुक्षु को यह प्रतीयमान निर्ग्रन्थ मार्ग ही सकल आगम का सार है, सकल जगत में उत्कृष्ट है। अत्यंत शुद्ध है, अमृत का, जीवन्मुक्ति और परम मुक्ति का मार्ग है। इस प्रकार की तत्त्व श्रद्धा को अंतःकरण में समाविष्ट करके उसे दोषों के त्याग और दोषों से विपरीत गुणों तथा विनय की प्राप्ति के द्वारा

खूब पुष्ट करना चाहिये अर्थात् उसे क्षायिक सम्यक्त्व रूप करना चाहिये ।

निर्ग्रन्थ रत्नत्रय ही उपदेश शुद्ध सार है, वही लोकोत्तर और अत्यंत विशुद्ध है वही मोक्ष का मार्ग है इसलिये इस प्रकार की श्रद्धा करनी चाहिये और उस श्रद्धा को पुष्ट करना चाहिये ।

आत्मा के द्वारा आत्मा में आत्मा का पर के आकार रहित रूप से संवेदन होता है, उसे ही स्वसंवेदन कहते हैं । जो स्वसंवेदन से सिद्ध है उसे अनुभव सिद्ध कहते हैं ।

कर्म से और कर्म के कार्य क्रोधादि भावों से भिन्न चैतन्य स्वरूप आत्मा को नित्य भाना चाहिये, उससे नित्य आनंदमय मोक्ष पद की प्राप्ति होती है ।

प्रमाद को रोकने के लिये उत्साह को बढ़ाना चाहिये ।

सच्चा धर्म वही है जो राग-द्वेष से रहित पूर्ण ज्ञानी सर्वज्ञ के द्वारा कहा गया है । निश्चय से वस्तु का जो स्वभाव है वही धर्म है । जैसे-आत्मा का चैतन्य स्वभाव ही उसका धर्म है; किंतु संसार अवस्था में वह चैतन्य स्वभाव तिरोहित होकर गति, इंद्रिय आदि चौदह मार्गणाओं में चौदह गुणस्थानों के द्वारा विभाजित होकर नाना रूप हो गया है । द्रव्यदृष्टि से वह एक ही है, इसी से भगवान् जिनेन्द्र देव ने जो धर्मोपदेश दिया है वह व्यवहार और निश्चय से व्यवस्थापित है ।

जो साधक अपनी इंद्रियों और मन के प्रसार को रोकता है तथा आत्मा के द्वारा आत्मा में आत्मा का अनुभव करके कृत कृत्य अवस्था को प्राप्त करता है, उसको प्रथम जीवन्मुक्ति पश्चात् परममुक्ति प्राप्त होती है ।

मन के एकाग्र होने से स्वसंवेदन के द्वारा आत्मा की अनुभूति होती है, उसी आत्मानुभूति से जीवन्मुक्ति दशा और अंत में परम मुक्ति प्राप्त होती है ।

प्रश्न - यह सिद्ध पद कैसे प्राप्त होता है ?

समाधान - जो संसारी आत्मा शुद्ध आत्मा का अनुभव पूर्वक ध्यान करता है, मुनिपद में अंतर बाहर निर्ग्रन्थ होकर पहले धर्म ध्यान फिर शुक्ल ध्यान को ध्याता है, वह शुक्लध्यान के प्रताप से पहले अरिहंत होता है फिर सर्वकर्म मल जलाकर सिद्ध होता है । ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्र में जाकर सिद्ध आत्मा ठहरता है । सर्व ही सिद्ध उस सिद्ध क्षेत्र में अपनी-अपनी सत्ता में परमानंद में मगन रहते हैं । वे पूर्ण मुक्त शुद्ध वीतराग हैं इससे फिर

कभी कर्मबंध से बंधते नहीं हैं वे सर्व संसार के क्लेशों से मुक्त रहते हैं वे ही निर्वाण प्राप्त हैं ।

सिद्धों के समान जो कोई मुमुक्षु अपने आत्मा को निश्चय से शुद्ध आत्म तत्त्व मानकर व राग-द्वेष त्यागकर उसी निज स्वरूप में मगन हो जाता है, वही एक दिन शुद्ध सिद्ध परमात्मा हो जाता है ।

पांचवां - मोक्षमार्ग अधिकार

प्रश्न - यह सिद्ध पद मुक्ति की प्राप्ति कैसे होती है ?

समाधान - संसारी प्राणी इच्छा व तृष्णा के वशीभूत होकर मन से किन्हीं कार्यों को करने का संकल्प या विचार करते हैं, वचनों से आज्ञा देते हैं, काय से उद्यम व आरंभ करते हैं, कार्य सिद्ध होने पर संतोष, प्रसन्नता व कार्य सिद्ध न होने पर विषाद, द्वेष करते हैं । किसी पर राजी होते हैं, किसी पर नाराज होते हैं, यह सब कर्म बंध के कारण हैं और इन्हीं से जीव संसार में रुलता है ।

तारण पंथ (मुक्ति मार्ग) में ज्ञान पूर्वक पांच सोपान से मुक्ति सिद्ध पद की प्राप्ति होती है -

१. भेदज्ञान, २. तत्त्व निर्णय, ३. वस्तु स्वरूप, ४. द्रव्य दृष्टि, ५. ममल स्वभाव, इनकी साधना कर अनुभव से सिद्ध करने पर सिद्ध पद प्राप्त होता है ।

जो जीव भेदज्ञान पूर्वक अपने आत्म स्वरूप को जान लेता है तथा जिसके भीतर मोह का संबंध नहीं रहता, जो मन, वचन, काय से कोई प्रकार की इच्छा या कोई प्रयत्न नहीं करता, जिसको कोई राग-द्वेष आदि विकार तथा संतोष-असंतोष नहीं होता, कोई सुख-दुःख नहीं होता, जो संसार के किसी प्रपंच जाल में नहीं पड़ता, अपने आत्म स्वरूप की साधना में संलग्न रहता है, जिसने सर्व कर्मों को दूर करके व सर्व देहादि पर द्रव्यों का संयोग हटाकर अपने ज्ञानमय आत्मा को पाया है वही परमात्मा है ।

जिसे सर्व ही सिद्ध व संसारी आत्माएँ एक समान परम निर्मल वीतराग ज्ञानानंदमय दिखती हैं, इस दृष्टि को द्रव्यदृष्टि कहते हैं । इस दृष्टि से देखने का अभ्यास करने वाले के भावों में समभाव का साम्राज्य हो जाता है । राग-द्वेष, मोह का विकार मिट जाता है । इसी समभाव में एकाग्र होना ही ध्यान है । यही ध्यान आग्नि है जिससे कर्म के बंधन जल जाते हैं और यह आत्मा शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ।

प्रश्न - इसके लिये करना क्या चाहिये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

एयं भाव स उत्तं, अप्पं परिनाम मुक्ति सहकारं ।

सुयं सुभावं दिट्ठं, सूषम परिनाम कम्म संषिपनं ॥ ४८९ ॥

अन्वयार्थ - (एयं भाव स उत्तं) इस प्रकार के भाव कहते हैं (अप्पं परिनाम मुक्ति सहकारं) आत्म भावना ही मुक्ति में सहकारी है (सुयं सुभावं दिट्ठं) स्वयं के स्वभाव को देखना (सूषम परिनाम कम्म संषिपनं) ऐसे सूक्ष्म आत्म परिणाम से कर्म क्षय होते हैं ।

विशेषार्थ - मुक्त होने के लिये आत्म भावना ही सहकारी है । सब शुभाशुभ भावों से उपयोग को हटाकर अपने आत्म स्वभाव में लगाना, आत्म स्वभाव को देखना, यह सूक्ष्म परिणामों से ही कर्म क्षय होते हैं ।

निश्चय रत्नत्रय की एकता रूप आत्मा का अनुभव गम्य अभेद निर्विकल्प शुद्धोपयोग एक ऐसा भाव है जो अति सूक्ष्म है । मन, वचन, काय से परे निज स्वभाव की साधना से ही कर्मों का क्षय होता है तब यही भाव कारण समयसार रूप है, यही शुद्धोपयोग भाव सदा बना रहे, यही भाव कार्य समयसार रूप है । इस एक ही भाव शुद्धोपयोग से सिद्ध पद मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

जब आत्मा शुद्ध स्वभाव में रमण करती है तब उसके सारे कर्म क्षय हो जाते हैं । निज स्वभाव में रमण करना ही मोक्ष का मार्ग है ।

इसी की विशेषता में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

न्यान सहावं अप्पा, न्यानं विन्यान न्यान संजुत्तं ।

दंसन दर्स अनन्तं, अवगाहनं अप्प सुद्ध परमप्पं ॥ ४९० ॥

अप्पं च वेदियत्वं, अप्पं च चेयन सहाव न्यानं च ।

आनन्दं परमानन्दं, अप्प सहावेन मुक्ति गमनं च ॥ ४९१ ॥

अन्वयार्थ - (न्यान सहावं अप्पा) आत्मा ज्ञान स्वभावी है (न्यानं विन्यान न्यान संजुत्तं) वही आत्मा भेदविज्ञान तथा आत्मानुभव रूप ज्ञान सहित है (दंसन दर्स अनन्तं) वही आत्मा अनंत दर्शन रूप देखने वाली है (अवगाहनं अप्प सुद्ध परमप्पं) ऐसे अपने आत्म स्वरूप में अवगाहन करो तो

यही शुद्ध परमात्मा है ।

(अप्पं च वेदियत्वं) एक आत्मा ही अनुभव करने योग्य है (अप्पं च चेयन सहाव न्यानं च) आत्मा ही अनुभव करने वाला चेतन स्वभावधारी है व जानने वाला ज्ञान स्वभावधारी है (आनन्दं परमानन्दं) आत्मा ही आनंद परमानंद स्वभाव वाला है (अप्प सहावेन मुक्ति गमनं च) आत्म स्वभाव से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

विशेषार्थ - आत्मा ज्ञान स्वभावी है, भेदविज्ञान के द्वारा जो ऐसे अपने आत्म स्वरूप का अनुभव आत्मज्ञान करता है । अपने आत्म स्वभाव को अनंत चतुष्टय स्वरूप देखता है और अपने आत्म स्वभाव में ही अवगाहन करता है अर्थात् निरंतर उसी में मगन रहता है, वह आत्मा से शुद्ध परमात्मा हो जाता है ।

आत्मा ही अनुभव करने योग्य है, आत्मा ही चेतन स्वभाव का धारी है, ज्ञान स्वभाव वाला है, आत्मा ही आनंद परमानंद स्वरूप है, ऐसे अपने आत्म स्वरूप की रमणता से मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

शरीर आदि अपने आत्मा से भिन्न कहे गये हैं, वे पदार्थ आत्मा नहीं हो सकते व उन रूप आत्मा नहीं हो सकता, ऐसा समझकर हे भव्य ! तू अपने को आत्मा जान, यथार्थ आत्म स्वरूप का बोध कर ।

आत्मा का स्वभाव सर्व अन्य आत्माओं से व पुद्गल पांच द्रव्यों से व आठ कर्मों से तथा आठ कर्मों के फल से व सर्व रागादि भावों से निराला परम शुद्ध है । भेदविज्ञान की कला से आत्मा पर से बिल्कुल भिन्न जानने में आता है, भेदविज्ञान की शक्ति से ही भ्रमभाव का नाश होता है ।

हंस, दूध को पानी से भिन्न ग्रहण करता है, किसान चावल को भुसी से अलग जानता है । स्वर्ण माला में सराफ स्वर्ण को धागे आदि से भिन्न समझता है, बनी हुई सब्जी में समझदार को लवण का स्वाद भी सब्जी से भिन्न समझ में आता है । चतुर वैद्य एक गुटिका में सर्व औषधियों को अलग-अलग समझता है, इसी तरह ज्ञानी अंतरात्मा आत्मा को सर्व देहादि पर द्रव्यों से भिन्न जानता है ।

आत्मा वास्तव में अनुभव गम्य है । मन से इसका यथार्थ चिंतन नहीं हो सकता; वचनों से इसका वर्णन नहीं हो सकता, शरीर से इसका स्पर्श नहीं हो सकता क्योंकि मन का काम क्रम से किसी स्वरूप का विचार करना

है, वचनों से एक ही गुण या स्वभाव एक साथ कहा जा सकता है। शरीर मूर्तिक स्थूल द्रव्य को ही स्पर्श कर सकता है, जबकि आत्मा अनंतगुण व पर्यायों का अखंड पिंड है केवल अनुभव में ही इसका स्वरूप आ सकता है।

इस आत्मा का संबंध किसी पर वस्तु से नहीं है। यह आत्मा अपने ही ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों का स्वामी है। आत्मा में ही सम्यक्दर्शन है, आत्मा में ही सम्यक्ज्ञान है, आत्मा में ही सम्यक्चारित्र है, आत्मा में ही सम्यक् तप, संयम और त्याग है, आत्मा में ही संवर तत्त्व है, आत्मा में ही निर्जरा है, आत्मा में ही मोक्ष है। जिसने अपने उपयोग को आत्मा में जोड़ दिया उसने मोक्ष मार्ग पा लिया।

आत्मा आप ही से आप में क्रीड़ा अवगाहन करता हुआ, शनैः शनैः शुद्ध होता हुआ परमात्मा हो जाता है। आत्मा ही आनंद परमानंदमयी परमात्मा है।

जितनी मन, वचन, काय की शुभ व अशुभ क्रियायें हैं वे सब पर हैं, आत्मा नहीं हैं। चौदह गुणस्थान की सीढ़ियां भी आत्मा का निज स्वभाव नहीं हैं। आत्मा परम पारिणामिक एक जीवत्व भाव का धनी है, जिसका प्रकाश कर्म रहित सिद्ध गति में होता है, जहां सिद्धत्व भाव है।

आत्मा को पहिचानने वाला अंतरात्मा आत्म रसिक हो जाता है, आत्मानंद का प्रेमी हो जाता है, उसके भीतर से विषय भोग जनित सुख की श्रद्धा मिट जाती है। वह एक आत्मानुभव को ही अपना कार्य समझता है, उसके सिवाय जो व्यवहार में गृहस्थ श्रावक या मुनि अंतरात्मा को कर्तव्य करना पड़ता है, वह सब मोहनीय कर्म के उदय की प्रेरणा से होता है इसलिये ज्ञानी अंतरात्मा सर्व ही धर्म अर्थ काम पुरुषार्थ की चेष्टा को आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं मानता है। आत्मा तो स्वभाव से सर्व चेष्टा रहित निश्चल परम कृतकृत्य है।

इस तरह आत्मा को केवल आत्मा रूप ही टंकोत्कीर्ण ज्ञाता दृष्टा परमानंद मय समझकर उसी में रमण करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है।

प्रश्न - इसमें देव, गुरु, आदि का श्रद्धान सहयोगी, आवश्यक है या नहीं ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

अप्यं च अप्य तारं, नाव विषेसं च पार गच्छंति ।

अप्यं ममल सरूवं, कम्मं षिपिऊन तिविहि जोएन ॥ ४९२ ॥

एकं जिनं सरूवं, सुयं षिपनं च कम्म बंधानं ।

अनन्त चतुष्टय सहियं, ममल सहावेन सिद्धि संपत्तं ॥ ४९३ ॥

अन्वयार्थ - (अप्यं च अप्य तारं) यह आत्मा आप ही अपने को तारने वाला है (नाव विषेसं च पार गच्छंति) जैसे कोई नौका विशेष आप से आप ही समुद्र के पार जाती है (अप्यं ममल सरूवं) आत्मा ममल स्वभावी है (कम्मं षिपिऊन तिविहि जोएन) तीनों प्रकार के योग से कर्म क्षय होते हैं।

(एकं जिनं सरूवं) जिन स्वरूप एक ही तरह का है अर्थात् "एक जिन को स्वरूप सोई चौबीस जिन को स्वरूप, सोई एक सौ उनचास चौबीसी को" और वही समस्त आत्माओं का है (सुयं षिपनं च कम्म बंधानं) जिन स्वरूप की साधना से कर्मों के बंध स्वयं क्षय हो जाते हैं (अनन्त चतुष्टय सहियं) जिन स्वभाव की साधना से ही अनंत चतुष्टय स्वरूप केवलज्ञान प्रगट होता है (ममल सहावेन सिद्धि संपत्तं) ममल स्वभाव की साधना से ही सिद्धि की संपत्ति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ - यह आत्मा आप ही अपने को तारने वाला है, इसमें पर का अवलंबन सहकारी नहीं है, जैसे-कोई नौका अपनी विशेषता से ही आपसे आप ही समुद्र के पार जाती है, उसी प्रकार आत्मा अपनी विशेषता से स्वयं आप ही अपने से मुक्ति पाता है। आत्मा का एक ममल स्वभाव ही ऐसा महिमामय है, जिसकी त्रिविध योग की साधना से सारे कर्म क्षय हो जाते हैं।

जिन स्वरूप या ममल स्वभाव या ध्रुव स्वभाव, ज्ञान स्वभाव कुछ भी कहो, यह समस्त आत्माओं का एक सा ही होता है। जिन स्वभाव की साधना से कर्मबंध अपने आप क्षय होते हैं। घातिया कर्मों के क्षय होने पर अनंत चतुष्टय प्रगट हो जाते हैं और यह जिन स्वरूप ममल स्वभाव की पूर्ण स्थिति से सिद्धि की संपत्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है।

पर का अवलंबन पराधीनता का कारण है। जब तक जीव को अपने सत्स्वरूप का सम्यक् श्रद्धान ज्ञान न हो तब तक सच्चे देव, गुरु सहकारी हैं, सत्स्वरूप का बोध होने में निमित्त कारण हैं परंतु उनके ही श्रद्धान मात्र से, पूजा भक्ति से मुक्ति मिलने वाली नहीं है।

निर्वाण उसे कहते हैं जहां आत्मा सर्व राग-द्वेष मोहादि दोषों से मुक्त होकर व सर्व कर्म कलंक से छूटकर, शुद्ध स्वर्ण के समान पूर्ण शुद्ध अपने आप में हो जावे और फिर सदा ही शुद्ध भावों में कल्लोल करे व निरंतर आनंदामृत का स्वाद लेवे, यह आत्मा का स्वाभाविक पद है। इस निर्वाण का साधन भी अपने ही आत्मा को आत्मा रूप समझकर उसी का वैसा ही ध्यान करना है। निश्चय से ऐसा समझना चाहिये कि मोक्ष का मार्ग एक आत्म ध्यान की अग्नि का जलना, शुद्धोपयोग रूप ही है। एक आत्मानुभव, आत्मा का आत्मा रूप ज्ञान है जो आप ही आपको शुद्ध करता है।

जब कर्मों का बंध राग-द्वेष, मोह से होता है तो कर्मों का क्षय वीतराग भाव से होता है। वीतराग भाव अपने ही आत्मा का राग-द्वेष, मोह रहित परिणमन है।

निश्चय से परम पदार्थ एक आत्मा है, वही अपने स्वभाव में एक ही काल में परिणमन करने व जानने से समय है, वही एक ज्ञानमय निर्विकार होने से शुद्ध है, वही स्वतंत्र चैतन्यमय होने से केवली है, वही मनन मात्र होने से मुनि है, वही ज्ञानमय होने से ज्ञानी है। जो मुनि ऐसे अपने ही आत्मा के स्वभाव में स्थिर होते हैं, आत्मस्थ होते हैं, वे ही निर्वाण को पाते हैं।

त्रिविधि योग से अपने आत्मा को आत्मा के द्वारा रोककर जो आत्मा परद्रव्यों की इच्छा से विरक्त हो, सर्व परिग्रह की इच्छा से रहित हो, दर्शन ज्ञान मयी आत्मा में स्थिर बैठकर आपसे अपने को ही ध्याता है। भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म को रंचमात्र भी स्पर्श नहीं करता है। केवल एक शुद्ध भाव का ही अनुभव करता है, उसके सारे पूर्वबद्ध कर्म क्षय होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है।

प्रश्न - यह सब कैसे होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

वीर्ज च सिद्ध सिद्धं, तारन तरनं च अन्मोय सहकारं ।

हितमित परिनइ जुत्तं, कोमल परिनाम न्यान सहकारं ॥ ४९४ ॥

सिद्धं च सव्व सिद्धं, सिद्धं अंगं च दिगंतरं दिट्ठं ।

सिद्धं अर्थ तिअर्थं, समर्थं समय दिस्सि अन्मोयं ॥ ४९५ ॥

अन्वयार्थ - (वीर्ज च सिद्ध सिद्धं) पुरुषार्थ करो, पुरुषार्थ करने से ही

सिद्ध, सिद्ध हुए हैं (तारन तरनं च अन्मोय सहकारं) पुरुषार्थ ही तारण तरण बनाने वाला है, इसी का आलंबन और सहकार करो (हितमित परिनइ जुत्तं) यही हितकारी, प्रिय इष्ट है, इसी रूप परिणमन में लगे (कोमल परिनाम न्यान सहकारं) पुरुषार्थ ही कोमल स्वभाव रूप ज्ञान का सहकारी है।

(सिद्धं च सव्व सिद्धं) सिद्ध परमात्मा जिन्होंने सर्व सिद्धि प्राप्त की है (सिद्धं अंगं च दिगंतरं दिट्ठं) जिन्होंने द्वादशांग वाणी का ध्येय सिद्ध कर लिया अथवा सिद्ध के आठ अंग प्रगट हो गये तथा जिन्होंने सर्व लोकालोक को ज्ञान द्वारा जान लिया है (सिद्धं अर्थ तिअर्थं) सिद्ध परमात्मा ने अपने प्रयोजनीय रत्नत्रय स्वरूप को प्राप्त कर लिया है (समर्थं समय दिस्सि अन्मोयं) यह सब सामर्थ्य शक्ति, पुरुषार्थ आत्मा का है जो दृष्टि के आलंबन से सिद्ध पद प्राप्त किया।

विशेषार्थ - सिद्ध पद मुक्ति अपने पुरुषार्थ से प्रगट होती है। पुरुषार्थ करो, आत्म पुरुषार्थ से ही सिद्ध, सिद्ध परमात्मा हुए हैं ? आत्मा अनंतवीर्य का धारी है। अपना पुरुषार्थ ही तारण तरण बनाने वाला है, इसी का आलंबन लो, सहकार करो यही हितकारी इष्ट है, इसी रूप परिणमन में लगे, अपनी पवित्र भावना से ज्ञान का सहकार करो।

सिद्ध परमात्मा ने रत्नत्रय धर्म का सार प्राप्त कर लिया है, आत्मा से परमात्मा हुए हैं, नित्य परमानंद में मगन हैं, जो सर्व अंग और लोकालोक को प्रकाशित करने वाले हैं। ऐसा सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा मैं हूं, ऐसा अपना वीर्य प्रगट करो। आत्मा में वह सामर्थ्य है जो दृष्टि के आलंबन से सिद्ध परमात्मा होता है।

मोक्ष का सुख या सिद्ध भगवान का सुख आत्मा का स्वाभाविक व अतीन्द्रिय गुण है। यह अनंत चतुष्टय स्वरूप, शुद्ध परमानंद, सिद्ध स्वरूप हर एक आत्मा का स्वभाव है। उसका आवरण-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय चारों ही घातिया कर्मों ने कर रखा है, जब अपना आत्म पुरुषार्थ जाग्रत होता है। उपयोग शुद्धात्मा में तल्लीन होता है, उस समय वीतराग परिणति, शुद्धोपयोग से पूर्वबद्ध कर्म क्षय हो जाते हैं व केवलज्ञान स्वरूप अरिहंत पद प्रगट हो जाता है। शेष अघातिया कर्म नाम, आयु, गोत्र, वेदनीय के क्षय होने पर, सिद्ध पद, मोक्ष की प्राप्ति होती है।

शुद्धात्मा के स्वभाव की भावना ही एक संसार सागर से पार करने वाली

नौका है। यह निश्चय रत्नत्रय स्वरूप है, शुद्धात्मानुभव स्वरूप है। आत्मीक अतीन्द्रिय आनंद को सिद्धि सुख या सिद्धों का सुख कहते हैं। जैसा शुद्धात्मा का अनुभव सिद्ध भगवान को है, वैसा ही शुद्धात्मा का जब अनुभव होता है तब जैसा सुख आनंद सिद्धों को वेदन होता है, वैसा ही सुख आनंद शुद्धात्मा का वेदन करने वालों को होता है। यह सब आत्म भावना और आत्म पुरुषार्थ से ही होता है।

पुरुषार्थ के द्वारा स्वरूप की दृष्टि करने से और उस दृष्टि के बल से स्वरूप में रमणता करने से पूर्व बद्ध कर्म क्षय होकर पर्याय में शुद्धता प्रगट होती है। मोक्षमार्ग के प्रारंभ से मोक्ष की पूर्णता तक सर्वत्र सम्यक् पुरुषार्थ और ज्ञान का ही कार्य है।

प्रश्न - यह बात चित्त में बैठती क्यों नहीं है, इसके लिये क्या करें?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

तारन तरन समर्थ, उवइष्टं इस्ट दिस्टि सुद्धं च ।

अन्मोयं सहकारं, उवएसं विमल कम्म गलियं च ॥ ४९६ ॥

अन्वयार्थ - (तारन तरन समर्थ) तारण तरण अर्थात् जो स्वयं तरे और दूसरों को तारे वह परमात्मा स्वरूप आत्मा समर्थ है, शक्तिशाली है (उवइष्टं इस्ट दिस्टि सुद्धं च) वह अपने शुद्ध स्वभाव से इसका उपदेश दे रहे हैं कि शुद्धोपयोग की दृष्टि ही हितकारी है (अन्मोयं सहकारं) शुद्धोपयोग का आलंबन लो, सहकार करो (उवएसं विमल कम्म गलियं च) शुद्धोपयोग रूपी उपदेश को जो अपने में धारण करते हैं, उनके ममल स्वभाव की साधना से कर्म गल जाते हैं।

विशेषार्थ - मन, बुद्धि, चित्त, अहं यह सब कर्मोदयजन्य पर्यायी परिणमन है। चित्त भी चंचल, अदृढ़, अस्थिर है, इनके आश्रय आत्मा की साधना नहीं होती। इन सबसे हटकर अपने अंतरात्मा में पुरुषार्थ जाग्रत करो। आत्मा स्वयं तारण तरण समर्थ है। भगवंतों का उपदेश क्या है? शुद्धोपयोग की दृष्टि ही इष्ट हितकारी है, अपने उपयोग को शुद्ध स्वभाव में लगाओ, अब यह पर पर्याय की तरफ क्यों देखते हो?

जब मैं आत्मा शुद्धात्मा परमात्मा हूं, ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा हूं, ममल स्वभावी केवलज्ञान स्वरूप परमात्मा हूं। यह स्वयं अनुभव में है, दूसरों को बता रहे

हो, उपदेश दे रहे हो फिर स्वयं इसका आलंबन लो, सहकार करो, स्वयं अपने ममल स्वभाव ध्रुवधाम में रहो। अपने विमल ममल स्वभाव में रहने से ही सब कर्म गलते विलाते हैं।

दूसरों को बताना, उपदेश देना सरल है, पर स्वयं उस रूप आचरण करना शूरवीर नर का काम है। जब भेदज्ञान तत्त्वनिर्णय पूर्वक वस्तु स्वरूप को जान लिया, निज शुद्धात्मानुभूति हो गई, सम्यक्ज्ञान हो गया फिर अब स्वयं पुरुषार्थ करो। यह चित्त आदि को क्या देखते हो। वह तो वेदक सम्यक्त्व, दर्शन मोहांध से चल मल अगाढ़ रूप हो रहा है। अपने आत्म स्वरूप का दृढ़ श्रद्धान करो और स्वयं स्वयं में डूबो तो यह सब कर्मादि क्षय हो जायें, तुम स्वयं तारण तरण समर्थ हो, पर के आश्रय से काम चलने वाला नहीं है। स्वयं का पुरुषार्थ जगाओ, अपने ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा ममल स्वभाव का आलंबन लो, सहकार करो, शुद्धोपयोग की साधना से ही मुक्ति परमानंद की प्राप्ति होती है। यदि आत्मा को आत्मा समझेगा कि मैं ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा हूं, इस स्थिति में रहेगा तो निर्वाण को पायेगा और यदि पर पदार्थों को अपना मानेगा तो तू संसार में भ्रमण करेगा।

साधक को बाहरी चारित्रों में, निमित्त मात्र में संतोष नहीं करना चाहिये। जब आत्मा आत्म समाधि में व आत्मानुभव में वर्तन करे, तब ही कुछ फल हुआ, तब ही मोक्षमार्ग सधा, ऐसा भाव रखना चाहिये; क्योंकि जब तक शुद्धात्मा का ध्यान होकर शुद्धोपयोग का अंश प्रगट नहीं होता, तब तक संवर व निर्जरा तत्त्व प्रगट नहीं होंगे। निश्चय से ऐसा समझना चाहिये कि मोक्ष का मार्ग एक आत्म ध्यान की अग्नि का जलना है, एक आत्मानुभव है, आत्मा का आत्मा रूप अनुभव है, यह आप ही आपको शुद्ध करता है, उपादान कारण आप ही है, यदि परिणामों में आत्मानुभव नहीं प्रगटे तो बाहरी चारित्र से शुभाशुभ भावों के कारण बंध होगा, संसार बढ़ेगा, मोक्ष का साधन नहीं होगा।

यह जीव अनादि से अनंत काल तक रहने वाला है, चंचलता रहित निश्चल है, स्वयं चेतनामयी है, स्वानुभव गोचर है, सदा ही प्रकाशमयी है।

अनुभव की माता भावना है। भावना के समय उसे शुद्ध दृष्टि से शुद्धात्मा ही दिखता है। द्रव्यदृष्टि से जब सर्व जीवों को समान देख लिया, तब किसके

साथ मैत्री करें व किसके साथ कलह करें। राग-द्वेष तो नाना भेदरूप दृष्टि में ही हो सकते हैं। सर्व को शुद्ध एकाकार देख लिया, तब शत्रु व मित्र की कल्पना ही न रही। व्यवहार निमित्त साधन के द्वारा जो भाव प्राप्त करना था सो प्राप्त कर लिया, समभाव ही चारित्र्य है, समभाव ही धर्म है, समभाव ही परमतत्त्व है सो मिल गया, वह भव्य जीव कृतार्थ हो गया, बंध की परिपाटी से छूट गया, निर्जरा के मार्ग में आरुढ़ हो गया, मुक्ति को निश्चित ही प्राप्त करेगा।

मोक्ष के चाहने वाले भव्य जीव को उचित है कि सर्व ही क्रियाकांड व मन, वचन, काय की क्रिया का ममत्व त्याग देवे व जहां आत्मा के निज स्वभाव के सिवाय सर्व का त्याग हो, वहां पुण्य-पाप के त्याग की क्या बात है? अर्थात् इन दोनों का त्याग है ही। सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्यमयी स्वभाव में रहना ही मोक्ष का मार्ग है। इस मार्ग में जो रहता है उसके पास कर्म रहित भाव से प्राप्त व आत्मीक रस से पूर्ण ऐसा केवलज्ञान स्वयं प्रगट होता है, वह स्वयं तारण तरण बन जाता है।

प्रश्न - इस दशा को प्राप्त करने के लिये क्या करना चाहिये ?

समाधान - अपनी भावना जगाना, आत्म पुरुषार्थ जाग्रत करना। अभी जो बाहर में कुछ करने के भाव होते हैं, अहं बोलता है, उसकी धारा को मोड़ देना, इसके लिये जो-जो भाव पैदा होते हैं उन्हें आत्मा की ओर मोड़ना। अपने आत्म स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। सर्वत्र सर्वमय आत्मा अपना ममल स्वभाव ही देखना, इस भावना से आत्मबल प्रगट होता है, एक विशेष शक्ति जाग्रत होती है, जिससे सब पर पर्याय से दृष्टि हटकर ममल स्वभाव में स्थिरता होती है तथा सब कर्मादि गलते विलाते क्षय होते हैं और मुक्ति की प्राप्ति होती है।

प्रश्न - यह भावनायें कैसी होती हैं और इन्हें कैसे जगाना चाहिये ?

समाधान - अहं भाव से हटकर अनुभूति में डूबना, शुद्धोपयोग की साधना करना। इसके लिये सद्गुरु तारण स्वामी ने ४७ भावनाओं का वर्णन किया है, जो सामान्यतः हर साधक के भीतर उठती हैं, उन्हें मोड़ देने का भी उपाय बताया है, जैसे हम देखना चाहते हैं तो बाहर सबको देखते हैं। सद्गुरु कहते हैं देखना है तो मलरहित अपने ममल स्वभाव को देखो, इसी प्रकार सैंतालीस भाव व्यक्त किये हैं।

प्रश्न - वह भाव कौन-कौन से कैसे हैं, उन्हें कैसे मोड़ा जाये यह बताइये ?

इसके लिये सद्गुरु आगे गाथाओं में समाधान स्वरूप ४७ भावों का कथन करते हैं-

१. दर्शति भाव-

दर्शति सव्व दर्सं, दर्सयंति सुद्ध ममल मल मुक्कं ।

अन्मोयं न्यान सहकारं, उवएसं च कम्म गलियं च ॥ ४९७ ॥

अन्वयार्थ - (दर्शति सव्व दर्सं) देखने के भाव में सबको देखते हो (दर्सयंति सुद्ध ममल मल मुक्कं) देखना चाहते हो तो अपने शुद्ध, मल से रहित ममल स्वभाव को देखो (अन्मोयं न्यान सहकारं) अपने ज्ञान स्वभाव का आलंबन और सहकार करो (उवएसं च कम्म गलियं च) यही उपदेश जिनेन्द्र परमात्मा का है और तुम भी यही उपदेश कर रहे हो कि अपने ममल स्वभाव को देखने से कर्म गल जाते हैं।

विशेषार्थ - १. दर्शति भाव - देखने का भाव होता है, सबको देखते हो, अरे ! देखना चाहते हो तो अपने शुद्ध मल से रहित ममल स्वभाव को देखो। अपने ज्ञान स्वभाव का ही आलंबन और सहकार करो, जब जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है और तुम भी कह रहे हो, उपदेश दे रहे हो कि अपने ममल स्वभाव को ही देखने से सब कर्म गल जाते हैं तो स्वभाव का ही आश्रय रखो।

भाव शक्ति का परिवर्तन हो जाना ही मुक्ति मार्ग है, वर्तमान संयोगी पर्याय में इस भाव शक्ति का अहं (कषाय) से संबंध जुड़ा है। अहं भाव संसार की तरफ ले जाता है। ज्ञान पूर्वक इस भाव को अपने स्व स्वरूप में लगाना ही ज्ञानी का पुरुषार्थ है। इसी भाव शक्ति से आस्रव बंध भी होता है तथा इसी भाव शक्ति से संवर निर्जरा और मोक्ष होता है। यह सूक्ष्म परिणति है, साधक इसकी संभाल कर ले और इसकी धारा को मोड़ने लगे तो आत्म शक्ति प्रगट होने लगती है।

ज्ञान लक्षण को अंतरोन्मुख करने से आत्मा लक्ष्य में आता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से आत्मा ज्ञात नहीं हो सकता। शरीर की क्रिया से अथवा भक्ति, पूजा उपवासादि शुभ क्रिया कांड से ऐसा आत्मा ज्ञात नहीं हो सकता; परंतु ज्ञान को अंतर्मुख करने रूप जो भावशक्ति है वही आत्मा को

प्रगट करने की शक्ति है। इसके अतिरिक्त अन्य लाखों उपाय करें, लाखों करोड़ों रुपयों का दान करें, अनेक तीर्थ यात्रायें करें, त्यागी होकर व्रतादि करके सूख जायें तथापि उन बाह्य उपायों से यह चैतन्य भगवान् आत्मा दर्शन नहीं देगा। अंतर में दृष्टि डालते, भाव बदलते ही कृतकृत्य कर दे, ऐसा चैतन्य चिंतामणि ममल स्वभाव भगवान् आत्मा है। पर सन्मुख देखने से कभी भी स्व सन्मुख देखना नहीं होता।

अनंत गुणों से अभेद आत्म द्रव्य को लक्ष्य में लेकर जहां साधक जीव परिणमित हुआ, वहां उसके परिणमन में अनंत शक्तियां आत्मा में अभेद होकर परिणमित हुई, उसी को वहां ज्ञानमात्र भाव कहा है और उसी से सारे कर्म क्षय होते हैं।

२. इच्छंति भाव, ३. विपिऊन भाव-

इच्छंति मुक्ति पंथं, इच्छायारेन सुद्ध पंथ दर्शति।

विपिऊन तिविहि कम्मं, विपनिक सहकार कम्म विलयंति ॥ ४९८ ॥

अन्वयार्थ - (इच्छंति मुक्ति पंथं) भव्यजीव मोक्षमार्ग की इच्छा करते हैं (इच्छायारेन सुद्ध पंथ दर्शति) इच्छानुकूल शुद्ध मार्ग अपना ममल स्वभाव देखो, शुद्धोपयोग की साधना करो जिससे (विपिऊन तिविहि कम्मं) तीनों प्रकार के द्रव्य, भाव, नोकर्म क्षय हो जावें (विपनिक सहकार कम्म विलयंति) क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र का सहकार करो तो सब कर्म विला जाते हैं।

विशेषार्थ - २. इच्छंति भाव - साधक हो, मोक्ष की भावना करते हो तो इच्छानुकूल शुद्धमार्ग अपना ममल स्वभाव देखो, शुद्धोपयोग की साधना करो।

३. क्षायिक भाव - साधक तीनों कर्म-द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म क्षय हो जावें ऐसी भावना करता है तो कर्म अपने क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र रूप परिणमन से क्षय होते हैं। भावना के साथ उसके यथार्थ मार्ग पर चलना तभी साध्य की सिद्धि होती है।

जिसने भेदज्ञान, तत्त्व निर्णय द्वारा वस्तु स्वरूप को जाना है। सम्यक्दर्शन पूर्वक सम्यक्ज्ञान से स्व-पर का यथार्थ निर्णय किया है ऐसे सम्यक्दृष्टि ज्ञानी साधक के अंतरंग में यह भाव उठते हैं, तीव्र इच्छा होती है कि अभी मोक्ष प्राप्त हो जावे, वह संसार में एक समय के लिये भी नहीं रहना

चाहता; क्योंकि ज्ञानी को विकल्प रुचते ही नहीं हैं परंतु जब तक कर्मोदय संयोग है तब तक विकल्प होते हैं, तीनों कर्मों को क्षय करने के भाव होते हैं कि शीघ्र ही कर्म क्षय हो जावें परंतु मार्ग तो एक ही है- शुद्धोपयोग की साधना, ममल स्वभाव में रहना, अपने ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा को ही देखना, उसी की दृष्टि होना, दृढतापूर्वक क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र का सहकार होने पर ही तीनों कर्म क्षय होते हैं।

सद्गुरु यहां भाव, ज्ञान और उसका यथार्थ मार्ग बता रहे हैं। साधक को अंतरंग में बैठकर यह सब देखना चाहिये और अहं के साथ की सूक्ष्म संधि को तोड़कर, अपने सत्स्वरूप की सही साधना होने पर आनंद ही आनंद, मुक्ति की प्राप्ति, कर्मों का क्षय सब एक साथ होता है।

राग-द्वेष, कषाय के उदय से होते हैं, तब सत्ता में बंध प्राप्त कषाय की वर्गणाओं का अनुभाग सुखाने, क्षय करने के लिये निरंतर आत्मानुभव का व वैराग्य का मनन करते रहना चाहिये तब उदय मंद होता जायेगा। राग-द्वेष की कालिमा घटती जायेगी। इस तरह ज्ञानी को उचित है कि जिस तरह हो वीतराग होने का व समभाव पाने का उपाय करना चाहिये।

सम्यक्ज्ञान का बार-बार विचारकर, पदार्थों को जैसे वे हैं, वैसा ही उनको देखकर प्रीति व अप्रीति मिटाकर द्रव्यदृष्टि बनाकर आत्मज्ञानी साधक आत्मा को ध्यावें। जैसे बीज से मूल व अंकुर होते हैं, वैसे ही मोह के बीज से राग-द्वेष होते हैं; इसलिये जो राग-द्वेष को जलाना चाहे, उसे ज्ञान की अग्नि से इस मोह को जलाना चाहिये। जहां तक राग-द्वेष का संबंध है वहां तक कर्म क्षय नहीं होते इसलिये रागादिक विभावों को तथा बाहरी व भीतरी दोनों प्रकार के विकल्पों को त्यागकर, एकाग्र मन होकर सर्व कर्म मल रहित निरंजन अपने ही ममल स्वभाव को ध्याना चाहिये।

प्रश्न - जब सम्यक्दर्शन ज्ञान हो गया फिर मुक्ति मार्ग पर चलने में इतनी बाधा क्यों होती है ?

समाधान - जब जीव की काललब्धि आई तब सम्यक्दर्शन हुआ, अनुकूलता मिली, ज्ञानोपयोग किया तो सम्यक्ज्ञान हो गया परंतु मुक्ति मार्ग पर चलने के लिये सम्यक्चारित्र आवश्यक है और उसमें सामने पूर्वबद्ध कर्मों की सत्ता बाधक है।

मुक्ति होना है, मुक्ति होगी यह निश्चित है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान

होने के बाद कोई शक्ति जीव को संसार में नहीं रख सकती; परंतु पूर्व अज्ञान जन्य जो भी कर्म बंध सत्ता में पड़ा है वह जब तक निर्जरित क्षय नहीं होगा, तब तक इस मार्ग पर चलना अर्थात् अपने स्वरूप में डूबना, निरंतर आनंद परमानंद में रहना अशक्य है। अब तो पुरुषार्थ और चारित्र मोहनीय का खेल है, ज्ञान पूर्वक आत्मबल जगाओ, सत्पुरुषार्थ करो, इससे कर्म गलते विलाते क्षय होते हैं और जैसे-जैसे कर्म क्षय होते जायेंगे, मुक्ति मार्ग पर

ग म न
होगा। इतनी समता, शांति, दृढ़ता, ज्ञानबल की आवश्यकता है।

४. चेतन्ति भाव, ५. रुचितं भाव-

चेतन्ति सुद्ध सुद्धं, सुद्धं ससहाव चेत उवएसं।

रुचितं ममल सहावं, रुचियन्तो न्यान निम्मलं ममलं ॥ ४९९ ॥

अन्वयार्थ - (चेतन्ति सुद्ध सुद्धं) साधक अपने स्वरूप का शुद्ध ही शुद्ध है, ऐसा चिंतन करता है (सुद्धं ससहाव चेत उवएसं) उसके लिये उपदेश है कि अपने शुद्ध स्वभाव की अनुभूति करो (रुचितं ममल सहावं) ममल स्वभाव की तरफ रुचि करता है (रुचियन्तो न्यान निम्मलं ममलं) मैं निर्मल ममल ज्ञान स्वभावी ही हूँ ऐसी रुचि में लीन हो जाओ।

विशेषार्थ - ४. चेतन्ति भाव - (चिंतन भाव) साधक अपने स्वरूप का शुद्ध ही शुद्ध है, ऐसा चिंतन करता है। उसके लिये उपदेश है कि शुद्ध स्वभाव की अनुभूति करो, चिन्तन नहीं चेत (अनुभूति) करो।

५. रुचितं भाव - (रुचि भाव) अपना ममल स्वभाव रुचता है, अच्छा लगता है, इस रुचि को ऐसा मोड़ो कि निरंतर अपना निर्मल ममल ज्ञान स्वभाव ही झलकना चाहिये। जैसे-किसी को अपने पुत्र या कोई विशेष निधि की प्रियता होती है तो वह उसकी आंखों में निरंतर झूलता है, ऐसे ही अपना ममल स्वभाव ही दिखना चाहिये और कुछ दिखे ही नहीं ऐसी रुचि तीव्र लगन करो।

जैसे-कोई स्त्री पति के परदेश जाने पर अपना घर का काम करती हुई भी बार-बार पति का स्मरण करती है कभी स्थिर बैठकर पति के गुणों को व प्रेम को विचार करती है। इसी तरह साधक ममल शुद्ध स्वभाव का प्रेमी अंतरात्मा ज्ञानी गृहस्थ हो या साधु वह अपने अन्य कार्यों को करते हुए

बार-बार शुद्धात्म स्वरूप का स्मरण चिंतन करता है। कभी एकांत में स्थिर बैठकर गुणों को विचारता है, कभी ध्यान में लीन हो जाता है। किसी प्रकार की वांछा व फल की चाहना नहीं रखता है, उसके भीतर संसार के सर्व क्षणिक पदों से पूर्ण वैराग्य है। वह इंद्र चक्रवर्ती आदि के पदों को भी नहीं चाहता है, न वह इंद्रियों के तृष्णा वर्द्धक भोगों को चाहता है, न वह अपनी पूजा या प्रसिद्धि चाहता है।

वह कषाय कालिमा को बिल्कुल मेटना चाहता है, वीतरागी होना चाहता है, स्वानुभव प्राप्त करना चाहता है, निजानंद रस पान करना चाहता है, इसके लिये सद्गुरु का उपदेश है कि चिंतन नहीं, अनुभूति करो। रुचि नहीं लीनता का पुरुषार्थ करो, यही अपनी भावशक्ति को मोड़ना है, जिससे प्रत्यक्ष आनंद परमानंद मयी ज्ञान स्वभाव की अनुभूति होवे।

६. उत्तं भाव, ७. परषे भाव-

उत्तं च सुद्ध सुद्धं, उतायन्तु ममल कम्म विलयं च।

परषे परम सुभावं, परषंतो सुद्ध कम्म विलयंति ॥ ५०० ॥

अन्वयार्थ - (उत्तं च सुद्ध सुद्धं) शुद्ध हूँ, शुद्ध हूँ ऐसा कहते हो (उतायन्तु ममल कम्म विलयं च) इस कहे हुए ममल स्वभाव में लीन होने से सब कर्म विला जाते हैं (परषे परम सुभावं) अपने परम पारिणामिक स्वभाव को परख रहे हो, पहिचान रहे हो (परषंतो सुद्ध कम्म विलयंति) अपने शुद्ध अविनाशी स्वभाव को देखने से या अनुभवने से सब कर्म विला जाते हैं।

विशेषार्थ - ६. उत्तं भाव - (कहना, कहा गया है) मैं शुद्ध हूँ, मैं शुद्ध हूँ ऐसा कहते हो, इस कहे हुए ममल स्वभाव में लीन होने से सब कर्म विला जाते हैं।

७. परषे भाव - (देखने पहिचानने के भाव) अपने परम पारिणामिक स्वभाव को परख रहे हो, पहिचान रहे हो। अरे! अपने शुद्ध अविनाशी स्वभाव को देखने से अनुभवने से सब कर्म विला जाते हैं।

धर्म उसे ही कहते हैं जो संसार के दुःखों से छुड़ाकर मोक्ष परम पद प्राप्त करा दे। वह धर्म रत्नत्रय स्वरूप है। रत्नत्रय के भाव से ही नवीन कर्मों का संवर होता है व पुरातन कर्मों की अविपाक निर्जरा होती है। यह रत्नत्रय निश्चय से अपना शुद्धात्म स्वभाव है, आत्म तल्लीनता है, स्वसंवेदन है, स्वानुभव है। जहां अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वभाव का श्रद्धान है, ज्ञान है व

उसमें स्थिरता है। इसको ही आत्मदर्शन, देवदर्शन, परमात्मदर्शन कहते हैं। यही एक धर्म रसायन है, अमृत रस का पान है, जिसके पीने से स्वाधीनपने परमानंद का लाभ होता है, कर्म क्षय होते हैं और शीघ्र ही कर्म से मुक्त हो, शुद्ध पवित्र, ममल पूर्ण निज स्वभाव मय होकर सदा ही वीतराग भाव में मगन रहता है। फिर राग-द्वेष, मोह के न होने से पाप-पुण्य का बंध नहीं होता, इससे फिर चार गति में से किसी भी गति में नहीं जाता है। सदा के लिये अजर अमर हो जाता है, अतः अब कहने के भाव में मत रहो, जो कह रहे हो, कहा गया है ऐसे अपने ममल स्वभाव में डूबो। जानने पहिचानने, परखने के भाव में ही मत लगे रहो, जैसा जाना पहिचाना है ऐसे अपने शुद्ध अविनाशी, परम पारिणामिक भाव स्वरूप में लीन रहो तो यह सब विला जायेंगे। कर्मोदय की तरफ मत देखो अपने शुद्ध ममल स्वभाव को देखो, तभी यह कर्म विलाते हैं।

त्रिकाली आत्मा, कारण परमात्मा, कारण भगवान स्वभाव रूप, भूतार्थ भाव, ज्ञायक भाव यह सब एकार्थ वाचक हैं, यह कारण तो कार्य उत्पन्न करते ही हैं। पर किसको? जिसने निज कारण परमात्मा को अंतर से स्वीकार किया हो, माना हो, कारण रूप वस्तु तो है ही। चैतन्य के तेज से भरपूर और अनंत-अनंत शक्ति की सामर्थ्य से परिपूर्ण भरा हुआ चैतन्य सूर्य भगवान आत्मा प्रकाशमान तो है ही, पर किसे? जिसने ज्ञान की पर्याय में जाना उसे। पर्याय ज्ञायक में मिले बिना पर्याय-पर्यायपने रहकर ज्ञायक की प्रतीति करती है। वही ज्ञायक भाव समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्नपने उपासना में आता हुआ शुद्ध कहलाता है। ज्ञायक भाव तो शुद्ध ही है किंतु स्वसन्मुख होकर जो शुद्ध का ज्ञान व अनुभव (प्रतीति) करता है, उसे शुद्ध कहा जाता है। ऐसे अपने शुद्ध स्वभाव में लीन रहो, ऐसी भाव शक्ति जगाओ तभी यह कर्म विलाते हैं।

८. बोलंतो भाव, ९. धरयंति भाव-

बोलंतो कम्म जिनिंयं, बोलन्तो सुद्ध कम्म विलयंति।

धरयंति धम्म सुक्कं, धरयंतो सूषम कम्म षिपनं च ॥ ५०१ ॥

अन्वयार्थ - (बोलंतो कम्म जिनिंयं) बोल रहे हो कि कर्मों को जीतना है (बोलन्तो सुद्ध कम्म विलयंति) मैं शुद्ध हूं, ममल हूं, अंतर से बोलो तो कर्म विला जाते हैं (धरयंति धम्म सुक्कं) धर्म ध्यान, शुक्लध्यान को धारण करना

है (धरयंतो सूषम कम्म षिपनं च) अपने शुद्धोपयोग सूक्ष्म स्वभाव को धारण कर लो तो सब कर्म क्षय हो जायेंगे।

विशेषार्थ - ८. बोलंतो भाव - (बोलने के भाव) बोल रहे हो कि कर्मों को जीतना है परंतु यह बोलना ही अशुद्ध है, जो असत् क्षणभंगुर नाशवान है, जड़ पुद्गल कर्म वर्गणाये हैं जिनका स्वभाव क्षय होने का है, तुम उन्हें महत्व दे रहे हो, सत्ता मान रहे हो यही अज्ञान भ्रम है। अरे! यह बोलो कि मैं शुद्ध हूं, ममल हूं, सिद्ध हूं तो यह कर्म तो स्वयं विला जायेंगे।

९. धरयंति भाव - (धारण करने का भाव) मुझे धर्म, शुक्ल ध्यान धारण करना है, ध्यान लगाना है, किसका ध्यान लगाना है, कैसा ध्यान लगाना है? यह सब व्यवहारिक भाषा और क्रिया अभूतार्थ, असत्यार्थ है। अपने सूक्ष्म स्वभाव शुद्धोपयोग को धारण कर लो तो यह कर्म स्वयं क्षय हो जाते हैं।

साधक को भेदज्ञान, तत्त्व निर्णय द्वारा वस्तु स्वरूप जानना चाहिये। द्रव्यदृष्टि के द्वारा द्रव्य स्वभाव को जानकर आत्मा का व पुद्गल का ज्ञान श्रद्धान करके जैसा यथार्थ स्वरूप है वैसा जाने, फिर पर को छोड़कर केवल एक अपने आप को ही देखे जाने। वहां पर कर्म संयोगादि रहता ही नहीं है, जो पूर्व कर्म बंध हैं वह स्वयं विला जाते हैं, क्षय हो जाते हैं।

समाधि भाव में तिष्ठकर जो ज्ञान स्वरूप आत्मा का अनुभव करता है उसे ही ध्यान कहते हैं। करने की आदत से थोड़ा सावधान रहे, भूलकर भी न सोचें कि हम ध्यान करने जा रहे हैं, बैठें तो वह भी क्रिया है, करें तो वह भी क्रिया है, आरंभ तो वह भी क्रिया है। ध्यान कुछ भी करने से नहीं होता है, ध्यान न करने से होता है। कुछ न करो और ध्यान हो जायेगा। ध्यान में उनका प्रवेश होता है, जो स्मृति के पत्थर हटा देते हैं।

१०. पीओसि भाव, ११. रहिओ भाव -

पीओसि परम सिद्धं, पीवंतो ममल ज्ञान सुद्धं च।

रहिओ संसार सुभावं, रहिओ सरनि कम्म गलियं च ॥ ५०२ ॥

अन्वयार्थ - (पीओसि परम सिद्धं) जैसा सिद्ध परमात्मा परम सिद्धत्व रूपी अमृत का पान करते हैं वैसा अमृत रस पीना चाहते हो (पीवंतो ममल ज्ञान सुद्धं च) तो अपने ममल ज्ञान स्वभाव शुद्ध स्वरूपी आत्मानंद का अमृत

पीओ (रहिओ संसार सुभाव) संसार स्वभाव से रहित होना है तो (रहिओ सरनि कम्म गलियं च) इस चक्कर से रहित हो जाओ इससे सब कर्म गल जायेंगे।

विशेषार्थ - १०. पीओसि भाव - (पीने का भाव) जैसा सिद्ध भगवान अतीन्द्रिय आनंद अमृत रस पान करते हैं, वैसा अमृत रसायन पीना चाहते हो तो अपने ममल ज्ञान स्वभाव शुद्ध स्वरूप का अतीन्द्रिय आनंद अमृत रसपान करो, इसी आत्मानंद रूपी अमृत का पान करते हुए सिद्ध पद प्राप्त हुआ है।

११. रहिओ भाव - (रहित भाव) संसार स्वभाव से रहित होने का भाव है तो इस मोह माया के चक्कर से रहित हो जाओ, यह राग-द्वेष भाव छोड़ दो तो सब कर्म गल जायेंगे।

इस लोक में समस्त जीव संसार रूपी चक्र पर चढ़कर पंच परावर्तन रूप भ्रमण करते हैं। आत्मा शुद्ध है, बुद्ध है चैतन्य घन ज्ञान ज्योति स्वयं सिद्ध है। किसी ने उत्पन्न किया हो या कोई नाश कर सके, ऐसा नहीं है। आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय आनंद का धाम है। ऐसे अपने अभेद, अखंड, ध्रुवतत्त्व, ममल स्वभाव पर दृष्टि करने से अतीन्द्रिय आनंद अमृत रस का स्वाद आता है सारे कर्म क्षय होते हैं और सिद्ध पद की प्राप्ति होती है, जहां आनंद ही आनंद परमानंद है।

यह धर्म रसायन ही परम अमृत है, जिसके पीने से ज्ञानी जीवों के मन में आनंद आता है। जन्म जरा मरण के दुःखों का क्षय होता है। इस लोक व परलोक दोनों में हित होता है। जब तक जियेगा परमानंद भोगेगा, सिद्ध दशा में सादि अनंत काल तक अतीन्द्रिय आनंद रस पान करेगा।

अहं भाव अभूतार्थ होने से उससे भिन्न आत्मा की अनुभूति ही इष्ट प्रयोजनीय है। भाव हमेशा एक से रहने वाले नहीं हैं, बदल जाते हैं, इससे अभूतार्थ हैं। इस कारण से इनसे भिन्न आत्मा की अनुभूति ही अमृत रसायन का पान करना है। कर्म का सम्बंध व रागादि सम्बंध रहने वाला नहीं है, अभूतार्थ है इसलिये भूतार्थ का आश्रय करने से अभूतार्थ का नाश हो जाता है।

लोग स्त्री पुत्र परिवार को संसार मानते हैं किंतु वास्तव में वह संसार नहीं है, यह तो सब परवस्तु हैं। आत्मा का संसार बाहर में नहीं है किंतु अंदर

इसी की पर्याय में श्रद्धा में - मिथ्या श्रद्धा, राग-द्वेष है, वह संसार है। यदि स्त्री पुत्र परिवार आदि संसार हो तो यह तो मरण होने पर सब छूट जाते हैं, तो क्या संसार से छूट गया? नहीं, **संसरणं इति संसारः**, अपने चैतन्य स्वरूप से हटकर जितना मिथ्यात्व, राग-द्वेष मोहादि में आया वह संसार है।

भगवान आत्मा स्वयं एकांत बोधरूप है। सहज अनाकुल, आनंद स्वरूप, वीतराग स्वभावी है, ऐसे आत्म स्वरूप की अनुभूति वह शिवपंथ है और पर के लक्ष्य से जितना राग होता है वह प्रमाद है। अनुभव में शिथिलता है उतना शिवपंथ दूर है।

१२. दिस्टंति भाव, १३. जिनियं भाव-

दिस्टंति तिहुवनगं, दिस्टंतो ममल कम्म मुक्कं च।

जिनियं च तिविहि कम्मं, जिनयंतो अनिस्ट कम्म बंधानं ॥ ५०३ ॥

अन्वयार्थ - (दिस्टंति तिहुवनगं) ज्ञानी भव्य जीव तीन लोक के अग्र भाग में विराजित सिद्ध परमात्मा को देखते हैं (दिस्टंतो ममल कम्म मुक्कं च) उसी सिद्ध स्वरूप को अपने ममल स्वभाव में देखो, इससे संपूर्ण कर्म छूट जाते हैं (जिनियं च तिविहि कम्मं) तीनों प्रकार के कर्म को जीतने के भाव हैं तो (जिनयंतो अनिस्ट कम्म बंधानं) उस भाव को जीतो जिससे अनिष्ट कर्म का बंध नहीं होता।

विशेषार्थ - १२. दिस्टंति भाव - (देखने के भाव) तीन लोक के अग्रभाग में विराजित सिद्ध स्वरूप को देखते हो। वह सिद्ध स्वरूप अगोचर है वह देखने में आता ही नहीं है, अपने ममल स्वभाव को देखो, जो स्वयं सिद्ध स्वरूपी है जिसको देखने से सारे कर्म छूट जाते हैं।

१३. जिनियं भाव - (जीतने का भाव) तीनों प्रकार के कर्म-द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म को जीतने के भाव हैं तो इन शुभाशुभ रागादि भावों को जीतो जिससे फिर अनिष्ट कर्मों का बंध ही न होवे अर्थात् शुद्धोपयोग रूप रहने पर ही तीनों कर्मों को जीता जाता है। नवीन कर्म का बंध नहीं होता तथा पूर्व बद्ध कर्म निर्जरित क्षय हो जाते हैं, यही तीनों प्रकार के कर्मों को जीतना है। सम्यक्दृष्टि सदा ही जानता है व सदा ही अनुभव करता है कि जब मैं अपने भीतर शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से देखता हूं तो मुझे मेरा आत्मा ही परमात्मा जिनदेव सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा दिखता है तो फिर तीन लोक के

अग्रभाग में विराजित सिद्ध स्वरूप की कल्पना करने से क्या लाभ है ? अपने ही भीतर आपको आपसे ही देखना चाहिये, इसी से कर्मों से छुटकारा और मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

निर्विकल्प होने से ही आत्मा अनुभव में आता है । जब तक रंचमात्र भी माया, मिथ्या, निदान की शल्य भीतर रहेगी व कोई प्रकार की कामना रहेगी या कोई मिथ्यात्व की गंध रहेगी, तब तक आत्मा का दर्शन नहीं होगा । यही कारण है कि जो ग्यारह अंग नौ पूर्व के धारी द्रव्यलिंगी मुनि शास्त्रों का ज्ञान रखते हुए घोर तपश्चरण करते हुए भी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं क्योंकि वे शुद्धात्मा की श्रद्धा, ज्ञान तथा अनुभव से शून्य हैं ।

शुद्ध निश्चयनय के द्वारा अपने आत्मा का मनन करें, मनन करते समय भी मन का आलंबन है, मनन करते-करते जब मनन बंद होगा व उपयोग स्वयं में स्थिर हो जायेगा तब स्वानुभव होगा, तब ही आत्मा का परमात्म रूप सिद्ध स्वरूप का दर्शन होगा और परमानंद का स्वाद आयेगा, इसी से सब कर्मों से छुटकारा होगा ।

कर्मों को जीतना है, इस भाव से कभी कर्मों को नहीं जीता जाता, जिन भावों से कर्मों का बंध होता है उन भावों को छोड़कर शुद्धोपयोग में स्थित होने पर ही तीनों कर्मों से छुटकारा होता है ।

१४. लेतं भाव, १५. कलयन्ति भाव-

लेतं सुद्ध सहावं, लेयंतो विमल कम्म गलियं च ।

कलियन्ति अप्प सहावं, कलयंतो सुद्ध कम्म गलियं च ॥ ५०४ ॥

अन्वयार्थ - (लेतं सुद्ध सहावं) शुद्ध स्वभाव को ग्रहण करना है (लेयंतो विमल कम्म गलियं च) अपने विमल ममल स्वभाव का अनुभव करो इससे सारे कर्म गल जाते हैं (कलियन्ति अप्प सहावं) आत्म स्वभाव का ध्यान करना है (कलयंतो सुद्ध कम्म गलियं च) मैं शुद्ध हूं, मैं सिद्ध हूं, इसको ध्याओ तो सब कर्म गल जाते हैं ।

विशेषार्थ - १४. लेतं भाव - (ग्रहण करने के भाव) शुद्ध स्वभाव को ग्रहण करना है, यह भेद भाव, भेद दृष्टि है अपने विमल ममल स्वभाव का अनुभव करो तो सारे कर्म गल जाते हैं । भेद दृष्टि, भेद भाव से तो कर्मों का आस्रव बंध ही होता है ।

१५, कलयन्ति भाव - (ध्यान करने के भाव) मुझे अपने आत्म स्वभाव का ध्यान करना है, इसमें भी भेद है । मैं शुद्ध हूं, मैं सिद्ध हूं, इसको ध्याओ, अनुभव करो, शुद्धोपयोग रूप ही ध्यान है यही कर्म क्षय का कारण है ।

शुद्धोपयोग धर्म है । कषाय के उदय सहित शुभोपयोग धर्म नहीं है । अशुभ से बचने के लिये शुभोपयोग होता है तथापि उसे बंध का कारण मानना चाहिये ।

मोक्ष का उपाय एक मात्र स्वानुभव रूप शुद्धोपयोग ही है । कषाय का अंश मात्र भी बंध का कारण है ।

ज्ञानी यह जानता है कि मैं एक चैतन्य ज्योति स्वरूप हूं, जब मैं आत्मा के शुद्ध स्वभाव का अनुभव करता हूं तब नाना प्रकार के विकल्प जालों का समूह, जो इंद्रजाल के समान मन में था वह सब दूर हो जाता है । निर्विकल्प स्वरूप में स्थिर रहना ही शुद्धोपयोग है, इसी से सब कर्म क्षय होते हैं ।

१६. लप्पंतु भाव, १७. अन्मोय भाव-

लप्पंतु अलष लप्पियं, लप्पंतो लोयलोय ममलं च ।

अन्मोय विन्यान न्यानं, अन्मोयन्ति सुद्ध कम्म गलियं च ॥ ५०५ ॥

अन्वयार्थ - (लप्पंतु अलष लप्पियं) मन वचन काय से न जानने योग्य ऐसा जो अलख अपना शुद्धात्मा है उसको लखने का भाव है (लप्पंतो लोयलोय ममलं च) जो लोकालोक को जानने वाला स्वयं अपना ममल स्वभाव है उसका अनुभव करो, उसे लखो (अन्मोय विन्यान न्यानं) भेदविज्ञान का आलंबन करते हो (अन्मोयन्ति सुद्ध कम्म गलियं च) अपने शुद्ध स्वभाव में डूबो, उसमें लीन हो जाओ, इससे सब कर्म गल जाते हैं ।

विशेषार्थ - १६. लप्पंतु भाव - (लखने का भाव) मन, वचन, काय से न जानने योग्य ऐसा जो अलख अपना शुद्धात्मा है, उसको लखने का भाव है परंतु जो अलख है, उसे लखोगे कैसे ? वह तो अनुभूति का विषय है । जो लोकालोक को जानने वाला स्वयं अपना ममल स्वभाव है, उसका अनुभव करो अंतर्दृष्टि से देखो ।

१७. अन्मोय भाव - (आलम्बन, आश्रय करना) अब भेदविज्ञान का आश्रय करते हो, अरे...अब तो अपने शुद्ध स्वभाव में डूबो, लीन रहो, इससे सब कर्म क्षय होते हैं ।

सर्व मन, वचन, काय के योग से हटकर व सर्व जगत के पदार्थों से विरक्त होकर अपने उपयोग को अपने ही भीतर सूक्ष्मता से ले जाना चाहिये तब यह अनुभूति होगी। यह देखने जानने में आ जायेगा कि मैं ही परमब्रह्म परमात्मा हूँ, यही आत्मदर्शन आत्मानुभव, केवलज्ञान का प्रकाशक है। इसका वेदन करना ही अलख को लखना है। भेददृष्टि से अभेद की अनुभूति नहीं होती।

ज्ञानी साधक जिसने भेदज्ञान पूर्वक निज शुद्धात्मानुभूति की है अब उसे भेदज्ञान आलम्बन, आश्रय करने योग्य नहीं है, अब तो अपने शुद्ध ममल स्वभाव में रहना ही हितकारी है, इसी से सब कर्म क्षय होते हैं।

मेरा कोई संबंध किसी भी परवस्तु पुद्गलादि से रंच मात्र भी नहीं है। मेरे में सब पर का अभाव है और सब पर में मेरा अभाव है। विश्व की अनंत सांसारिक एवं सिद्ध आत्मायें अपने मूल स्वभाव से परमात्म स्वरूप हैं, मैं स्वयं परमात्मा हूँ तथापि मेरी सत्ता निराली है। मेरे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र, चेतना आदि गुण निराले हैं। मेरा परिणमन निराला है, इन सब आत्माओं का परिणमन निराला है। मेरे द्रव्य स्वभाव से एक समय की चलने वाली पर्याय भी अत्यंत भिन्न निराली है। मैं ध्रुव, ध्रुव, ध्रुव मात्र हूँ, ऐसी अनुभूति दृढ़ प्रतीति, अटल श्रद्धान ज्ञान से सब कर्म क्षय होते हैं, मुक्ति की प्राप्ति होती है।

इस अखंड आनंद स्वरूप चैतन्य घन वस्तु में द्रव्य कर्म व राग तो है ही नहीं किंतु जो वर्तमान पर्याय वस्तु का अनुभव करती है, वह पर्याय वस्तु द्रव्य में नहीं है। पर्याय में त्रिकाली का अनुभव होता है तो भी पर्याय में द्रव्य नहीं आता किंतु त्रिकाली द्रव्य ध्रुव स्वभाव का ज्ञान आता है। ऐसी एक रूप चैतन्य वस्तु का अनुभव होने पर कोई भी भेदज्ञान के विकल्प नहीं होते, एकाकार चिन्मात्र ही अनुभूति में आता है, यही शुद्धोपयोग मुक्ति मार्ग है।

१८. जानंति भाव, १९. कहंतु भाव-

जानंति न्यान ममलं, जानंतो अप्य परमप्य कम्म गलियं च।

कहंतु ममल ज्ञानं, कहयंतो न्यान विन्यान ससरुवं ॥ ५०६ ॥

अन्वयार्थ - (जानंति न्यान ममलं) ज्ञानमयी ममल स्वभाव को जानने का भाव है (जानंतो अप्य परमप्य कम्म गलियं च) मैं आत्मा, परमात्मा हूँ

ऐसा जानो, ऐसा जानने अनुभव करने से सब कर्म गल जाते हैं (कहंतु ममल ज्ञानं) मैं ममल ध्यान स्वरूप हूँ, ऐसा कहते हो (कहयंतो न्यान विन्यान ससरुवं) मेरा स्वरूप वीतराग विज्ञानमयी केवलज्ञान स्वभावी है ऐसा कहने के साथ अनुभूति करो।

विशेषार्थ - १८. जानंति भाव - (जानने का भाव) ज्ञानमयी ममल स्वभाव को जानने का भाव है अथवा ऐसा जानते हो परंतु मैं आत्मा परमात्मा हूँ ऐसा जानो, ऐसा जानने अनुभव करने से सब कर्म गल जाते हैं।

१९. कहंतु भाव - (कहने का भाव) मैं ममल ज्ञान स्वभावी हूँ, ऐसा कहते हो, पर मेरा स्वरूप वीतराग विज्ञानमयी केवलज्ञान स्वभावी है ऐसा कहने के साथ अनुभूति करो। अनुभूति ही मुक्तिमार्ग है। कहना सुनना शुभोपयोग है जो पुण्य बंध का कारण है, ममल स्वभाव का ध्यान धारण करो, शुद्धोपयोग से ही कर्मों का क्षय और मुक्ति की प्राप्ति होती है।

ज्ञान के लक्षण द्वारा श्रद्धा की और श्रद्धा के लक्षण द्वारा ज्ञान की पहिचान नहीं होती परंतु अनंत गुण भिन्न-भिन्न लक्षण वाले होने पर भी आत्मा कहने से उसमें एक साथ समस्त गुणों का समावेश हो जाता है। जो ऐसे अभेद आत्मा में अंतर्मुख होकर अनुभव करे उसे आत्मा के अनंत धर्मों की प्रतीति होती है।

जिस प्रकार घर में रत्नादि का भंडार भरा हो किंतु उसकी खबर न हो, तो वह न होने के समान ही है, उसी प्रकार आत्मा में सिद्ध भगवान जैसी अनंत शक्तियां होने पर भी जिसे उनकी खबर नहीं है, उनकी ओर उन्मुख होकर जो आनंद का अनुभव नहीं करता है, उसके तो वे शक्तियां न होने के समान ही हैं। बाहर से कहने और जानने से भी कोई लाभ नहीं है, उसकी अनुभूति की जाये, उस आनंद में डूबा जाये, तभी साध्य की सिद्धि होती है।

२०. अमडेइ भाव, २१. साहंति भाव-

अमडेइ मुक्ति मगं, अमडाए मुक्ति न्यान सहकारं।

साहंति न्यान अवयासं, साहंति ममल कम्म विलयंति ॥ ५०७ ॥

अन्वयार्थ - (अमडेइ मुक्ति मगं) मुक्ति मार्ग पर चलकर अमर होने का भाव है (अमडाए मुक्ति न्यान सहकारं) अपने ज्ञान स्वभाव की साधना से मुक्ति होती है और तभी अमर हुआ जाता है (साहंति न्यान अवयासं) ज्ञान के

अभ्यास का साधन करना चाहते हो (साहंति ममल कम्म विलयंति) अपने ममल स्वभाव को साधो अर्थात् ममल स्वभाव मय रहो तो सारे कर्म विला जाते हैं।

विशेषार्थ - २०. अमडेइ भाव - (अमर होने का भाव) मुक्ति मार्ग पर चलकर अमर होना चाहते हो तो अपने ज्ञान स्वभाव की साधना से मुक्ति होती है और तभी अमर होते हैं। मोक्ष तो आत्मा का परिपूर्ण शुद्ध स्वभाव है, तब उसका साधन उसी स्वभाव की भावना है आत्म दर्शन है। निश्चय रत्नत्रय है, स्वानुभव है। शुद्धोपयोग से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है।

२१. साहंति भाव - (साधन का भाव) ज्ञान के अभ्यास की साधना करने से क्या लाभ है, अपने ममल स्वभाव को साधो, उसकी साधना करो तो सारे कर्म विला जाते हैं। तीन लोक में सार वस्तु मोक्ष है, जहां आत्मा अपना स्वभाव पूर्णपणे प्रगट कर लेता है, कर्म बंध से मुक्त हो जाता है और परमानंद का निरंतर भोग करता है। निश्चय रत्नत्रय ही तीन लोक में सार है, अपने शुद्धात्मा का ही सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व उसी में आचरण यही मोक्ष का उपाय है। निश्चय रत्नत्रय रूप स्व समय स्वरूप संवेदन या आत्मानुभव है। जैसा कार्य या साध्य होता है वैसा ही उसका कारण या साधन होता है। इस आत्मानुभव के लिये जो बाहरी साधन ज्ञान, ध्यान, व्रत, संयम आदि हैं वह मात्र व्यवहार हैं निमित्त हैं।

आत्मा का ज्ञान स्वभाव में वर्तना, सदा आत्मज्ञान में रहना ही मोक्ष का साधन है क्योंकि यहां उपयोग एक ही आत्मतत्त्व के स्वभाव में तन्मय है। शुभ क्रियाकांड में वर्तना और मात्र शास्त्र ज्ञान में लगे रहना, वह मोक्ष का कारण नहीं है क्योंकि अन्य द्रव्य के स्वभाव पर ही लक्ष्य है, आत्मा पर ध्यान नहीं है।

जो कोई आत्मा के ध्रुव स्वभाव को छोड़कर पर द्रव्य में या पर पर्याय में रति करता है वह मिथ्यादृष्टि है और मिथ्या श्रद्धान से परिणमता हुआ कर्मों का बंध करता है।

२२. पोषंतु भाव, २३. सिद्धंतु भाव-

पोषंतु न्यान विन्यानं, पोषंति विन्यान कम्म षिपनं च।

सिद्धंतु कम्म षिपनं, सिद्धंति कम्म तिविहि मुक्कं च ॥ ५०८ ॥

अन्वयार्थ - (पोषंतु न्यान विन्यानं) भेदविज्ञान को पोस रहे हो, पाल

रहे हो (पोषंति विन्यान कम्म षिपनं च) अपने विज्ञान घन स्वभाव का पालन करो, सेवन करो जिससे सारे कर्म क्षय होते हैं (सिद्धंतु कम्म षिपनं) कर्मों को क्षय करना, सिद्ध करना चाहते हो (सिद्धंति कम्म तिविहि मुक्कं च) तो अपने सिद्ध स्वरूप को सिद्ध करो, साधो जिसमें तीनों प्रकार के कर्म हैं ही नहीं, जो तीनों प्रकार के कर्म से मुक्त है।

विशेषार्थ - २२. पोषंतु भाव - (पोसने, पालन करने, संभालने के भाव) भेदविज्ञान का पालन कर रहे हो, अपने विज्ञानघन ममल स्वभाव का पालन करो, उसे संभालो जिससे सब कर्म क्षय होते हैं।

२३. सिद्धंतु भाव - (सिद्ध करना, साधना, सिद्धि के भाव) कर्मों को क्षय करने की साधना कर रहे हो परंतु अपने सिद्ध स्वरूप को साधो, जो तीनों प्रकार के कर्मों से मुक्त शुद्ध सिद्ध है, इसी से सब कर्म क्षय होते हैं।

आत्मा भिन्न है, कर्मादि भिन्न हैं, ऐसा मनन करने से व ऐसा ध्यान करने से ही आत्मा कर्म रहित होता है यही मुक्ति मार्ग है। चैतन्यमय एक भाव ही आत्मा का निज भाव है। शेष सर्व रागादि भाव निश्चय से पर पुद्गल कर्मोदय जन्य हैं इसलिये एक चैतन्यमय भाव को ही ग्रहण करना चाहिये, शेष सर्व परभावों का त्याग करना चाहिये। शुद्ध भाव में चलने वाले मोक्षार्थी साधक को सदा ही मैं एक शुद्ध चैतन्यमय परम ज्योति स्वरूप सिद्ध परमात्मा हूं इसके सिवाय जो नाना प्रकार के भाव प्रगट होते हैं, वे मेरे शुद्ध स्वभाव से भिन्न सब परद्रव्य ही हैं यह आराधन निरंतर वर्तता है, ऐसी संभाल और साधना करने से सब कर्म क्षय होते हैं, सिद्ध परमपद मुक्ति की प्राप्ति होती है।

२४. गमं भाव, २५. सुनियं भाव-

गमं च अगमं दिस्टं, गमयं च अनंतनंत ससरूवं ।

सुनियं च मुक्ति मगं, सुनियं च न्यान कम्म गलियं च ॥ ५०९ ॥

अन्वयार्थ - (गमं च अगमं दिस्टं) अगम को देखने का प्रयास कर रहे हो (गमयं च अनंत नंत ससरूवं) परंतु अपना अनंतानंत चतुष्टयमयी स्वरूप तो प्राप्त ही है, इसी को देखो (सुनियं च मुक्ति मगं) मोक्षमार्ग की चर्चा सुन रहे हो (सुनियं च न्यान कम्म गलियं च) अपने ज्ञान स्वभाव की चर्चा सुनो जिससे कर्म गल जाते हैं।

विशेषार्थ - २४. गमं भाव - (प्राप्त करना, प्रयास करने का भाव) अगम को देखने का प्रयास कर रहे हो, अपना अनंतानंत चतुष्टयमयी स्वरूप

तो प्राप्त ही है, गम्य ही है, इसे कहां ढूँढ़ रहे हो, कहां देख रहे हो ? परमात्मा अपने ही अंतर में है ।

२५. सुनियं भाव - (सुनना, चर्चा करना) मोक्षमार्ग की चर्चा कर रहे हो, सुन रहे हो, अपने ज्ञान स्वभाव की चर्चा करो, सुनो अनुभव करो इससे कर्म क्षय होते हैं ।

जिसको निर्वाण, मोक्ष ही इष्ट उपादेय है, वह चारों गतियों की सर्व कर्म जनित दशाओं को त्यागने योग्य समझता है, वह निश्चय से जानता है कि मैं सर्व प्रकार शुद्ध सिद्ध समान हूँ । व्यवहार दृष्टि में कर्म का संयोग है सो त्यागने योग्य है । जो संसारवास में क्षणमात्र भी रहना नहीं चाहता है वह सम्यक्दृष्टि साधक है । वह जानता है कि मुक्ति का मार्ग एक मात्र अपने ही शुद्धात्मा के शुद्ध स्वभाव में रमण रूप शुद्धोपयोग ही है । जब तक चित्त परद्रव्य के व्यवहार में रहता है, पर की ओर लक्ष्य, दृष्टि रहती है तब तक कठिन-कठिन तप करता हुआ भी मोक्ष को नहीं पाता है; परंतु शुद्धात्मानुभूति सहित शुद्धोपयोग होने पर शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

सिद्ध पद का मार्ग, मोक्ष का पंथ, आत्मा के स्वभाव को इष्ट प्रिय करके उसके आश्रय से निर्मल पर्याय रूप कार्य करना, वह सिद्ध का मार्ग है । जो ऐसे आत्मा को तो इष्ट न करे और अन्य कार्यों को इष्ट माने वह तो सत् के मार्ग पर भी नहीं आया है तो फिर उसे सत् के फलरूप मोक्ष की प्राप्ति कहां से होगी ? रागादि होने पर भी जिसने अंतर्मुख होकर अपने चिदानंद स्वभाव को ही इष्ट किया है वह तो सत् के मार्ग पर लगा हुआ साधक है और वह सत् के फलरूप सिद्ध पद को अल्पकाल में अवश्य प्राप्त करेगा ।

२६. अनुभवन्ति भाव, २७. लीन भाव-

अनुभवन्ति अरूव रूवं, अनुभावन्ति संसार सरनि विगतं च ।

लीनं च परम तत्त्वं, लीनायन्ति मुक्ति कम्म गलियं च ॥ ५१० ॥

अन्वयार्थ - (अनुभवन्ति अरूव रूवं) आत्मा के अमूर्तिक, अरूपी स्वरूप का अनुभव करना चाहते हो (अनुभावन्ति संसार सरनि विगतं च) मैं स्वयं सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा हूँ, ऐसा अनुभव करो तो संसार का परिभ्रमण छूट जाये (लीनं च परम तत्त्वं) परम तत्त्व में लीन होना चाहते हो (लीनायन्ति मुक्ति कम्म गलियं च) अपने मुक्त स्वभाव में लीन हो जाओ तो सारे कर्म क्षय हो जाते हैं ।

विशेषार्थ - २६. अनुभवन्ति भाव - (अनुभव करने का भाव) आत्मा के अरूपी स्वरूप का अनुभव करते हो । अरूपी तो पर द्रव्य और भी हैं, फिर किसका अनुभव करते हो ? मैं स्वयं सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा चैतन्यतत्त्व हूँ ऐसा अनुभव करो, तो संसार परिभ्रमण ही छूट जाये ।

२७. लीन भाव - (एकाकार, तल्लीन होने के भाव) परमतत्त्व में लीन होना चाहते हो, यह भी अहं भाव भेद दृष्टि है । मैं मुक्त, शुद्ध, सिद्ध हूँ, इसमें लीन रहो तो सारे कर्म क्षय हो जायें ।

एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य से भिन्न, द्रव्य के अनंत गुणों में प्रत्येक गुण परस्पर भिन्न और उस प्रत्येक गुण की प्रति समय की पर्यायें भी भिन्न-भिन्न स्वतंत्र हैं । अनंतगुणों की पर्यायें एक साथ हैं; परंतु उनमें से किसी एक गुण की पर्याय की दूसरे गुण की पर्याय के साथ एकता नहीं होती और एक ही गुण की कमशः होने वाली पर्यायों में भी एक गुण की पर्याय पूर्व समय की पर्याय रूप नहीं होती और न पीछे की पर्याय रूप ही होती है । इस प्रकार प्रत्येक गुण की प्रत्येक पर्याय स्वतंत्र है । गुण परस्पर भिन्न हैं और पर्यायें भी परस्पर भिन्न हैं । एक गुण के कारण दूसरे गुण की अवस्था नहीं होती । वीर्य गुण की पुरुषार्थ पर्याय के कारण ज्ञान की अवस्था नहीं होती और न ज्ञान के कारण पुरुषार्थ की अवस्था होती है । पुरुषार्थ की अवस्था वीर्यगुण से होती है और ज्ञान की अवस्था ज्ञान गुण से होती है ।

प्रत्येक गुण की अवस्था में अपना स्वतंत्र सामर्थ्य है इसलिये प्रत्येक पर्याय स्वयं अपने सामर्थ्य से ही अपनी रचना करती है । पर्याय का कारण पर तो नहीं है और द्रव्य गुण भी नहीं हैं, पर्याय स्वयं ही अपना कारण है । एक ही समय में स्वयं ही कारण और कार्य है इसलिये वास्तव में कारण कार्य के भेद करना वह व्यवहार है ।

प्रत्येक द्रव्य अपने रूप से सत्, प्रत्येक गुण अपने रूप से सत् और एक-एक समय की प्रत्येक पर्याय भी अपने-अपने स्वरूप से सत् है । ऐसे सत्ता स्वरूप को उसी प्रकार जान लेना है, इसमें कारण कार्य के भेद का विकल्प ही कहां है । इस प्रकार अभेद वस्तु निज शुद्धात्म स्वरूप जैसा है, वैसा का वैसा अनुभव प्रमाण मान लेना ही मुक्ति है ।

आत्मा में अनंत गुण हैं, उस प्रत्येक गुण का लक्षण भिन्न-भिन्न है परंतु आत्मा के ज्ञान मात्र भाव में वे सब आ जाते हैं । अनंत गुणों से अभेद आत्मा

को दृष्टि में लिया वहां अनन्त शक्तियां एक साथ निर्मल स्वरूप में परिणमित होने लगती हैं। जहां ज्ञान अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेकर परिणमित हुआ, वहां उस ज्ञप्ति मात्र भाव के साथ अनन्त शक्तियां भी निर्मल स्वरूप में उछलती हैं यही मुक्तिमार्ग है।

२८. गहियं भाव, २९. जोयंतो भाव-

गहियं च सुद्ध सुद्धं, गहयंतो ममल सुद्ध सभावं।

जोयंतो जोग जुक्तं, जोयंतो न्यान दंसन समगं ॥ ५११ ॥

अन्वयार्थ - (गहियं च सुद्ध सुद्धं) आत्मा शुद्ध है, शुद्ध है, इस भाव को ग्रहण कर रहे हो (गहयंतो ममल सुद्ध सभावं) अपना ममल शुद्ध स्वभाव है इस धारणा को गहो (जोयंतो जोग जुक्तं) योग की युक्ति से योग साधना कर रहे हो (जोयंतो न्यान दंसन समगं) जो अपना, ज्ञान दर्शन से समग्र, परिपूर्ण ममल स्वभाव है उसमें जुड़ जाओ यही सच्चा योग है।

विशेषार्थ - २८. गहियं भाव - (ग्रहण करने का भाव) आत्मा शुद्ध है, शुद्ध है इस भाव को ग्रहण कर रहे हो परंतु अपना ममल शुद्ध स्वभाव है इस धारणा को गहो, अपने स्वरूप में दृढ़ स्थित रहो, शुद्धात्मानुभव ही इष्ट है, इसी से केवलज्ञान होगा।

२९. जोयंतो भाव - (योग साधना करने का भाव) योग की विधि से योग साधना कर रहे हो, मन वचन काय को साध रहे हो परन्तु यह तो पर हैं, जड़ हैं, इनको कैसे साधोगे ? ज्ञान दर्शन से परिपूर्ण अपने शुद्ध स्वभाव को साधो, इसमें जुड़ जाओ यही सच्चा योग है।

मोक्ष चाहने वाले साधक को उचित है कि सर्व ही क्रियाकांड व मन वचन काय की क्रिया का कर्तृत्व, अपनत्व छोड़ देना चाहिये। अपने स्वरूप की ही सत्ता में रहना चाहिये, अपने स्वरूप को अभेद ग्रहण करना, शुद्ध असंख्यात प्रदेशी अखंड स्वरूप ग्रहण करना कि मैं सिद्ध के समान शुद्ध निरंजन, निर्विकार, पूर्णज्ञान दर्शनवान, परमानंद मयी, अमृत का अगाध सागर हूं। मैं परम कृतकृत्य जीवन्मुक्त हूं। इस धारणा को ग्रहण करना ऐसी ही योग स्थिति में रहना चाहिये।

निश्चय से मैं ज्ञान दर्शन से परिपूर्ण रत्नत्रय स्वरूप हूं। मन, वचन, काय से अपने उपयोग को हटाकर ममल स्वभाव में तिष्ठना ही योग साधना है। भाव निर्ग्रन्थ ही वास्तव में मोक्ष का मार्ग है।

३०. मानंतु भाव, ३१ रचयंति भाव-

मानंतु अप्प मानं, मानंतो सुद्धप्प कम्म षिपनं च।

रचयंति विगत रूवं, रचयंतो अविगत कम्म गलियं च ॥ ५१२ ॥

अन्वयार्थ - (मानंतु अप्प मानं) मानते हो, सिर्फ आत्मा को तो मानते हो (मानंतो सुद्धप्प कम्म षिपनं च) मानो तो शुद्धात्मा को मानो, शुद्धात्मा को मानने से ही कर्मों का क्षय होता है (रचयंति विगत रूवं) जो रूप से विगत अर्थात् अमूर्तिक है, उसमें रचना जमना चाहते हो (रचयंतो अविगत कम्म गलियं च) तो जो अविगत अविनाशी है, ऐसे अपने ध्रुव स्वभाव में रचो, उसी में जमो, इससे सारे कर्म गल जाते हैं।

विशेषार्थ - ३०. मानंतु भाव - (मानने का भाव) अपने आत्म स्वरूप को मानते हो, स्वीकार कर लिया कि मैं आत्मा हूं परन्तु जो सब संयोगों से भिन्न कर्मादि से अलिप्त न्यारा, अपना शुद्धात्म स्वरूप है उसे मानो, शुद्धात्मा को स्वीकार करो, इससे सारे कर्म क्षय होते हैं। परमात्म स्वरूप का आश्रय, उसी की स्वीकारता, अपने सत्ता स्वरूप की मान्यता ही कर्मों को क्षय करने वाली है।

३१. रचयंति भाव - (रच पच जाना, एकमेक हो जाने के भाव) अमूर्तिक, अरूपी आत्म स्वरूप में रचना, जमना चाहते हो परन्तु जो अविगत, अविनाशी अपना सिद्ध स्वरूप है उसमें रचो, जमो तो सब कर्म गल जाते हैं।

अपने आत्म स्वरूप को निश्चय से परम शुद्ध, शुद्धात्मा, परमात्मा मानकर उसमें जमने से कर्मों की निर्जरा होती है।

जब योगी साधक शुद्धोपयोग की स्थिति में जमता है तब शुक्ल ध्यान से घातिया कर्मों का क्षय होता है, जिससे केवलज्ञान अरिहंत पद प्रगट हो जाता है।

सिद्ध भगवान आठों ही कर्मों से रहित प्रगटपने शुद्धात्मा हैं, वहां शरीरादि किसी भी पुद्गल का संयोग नहीं है। पुरुषाकार अमूर्तिक ध्यानमय आत्मा को सिद्ध कहते हैं जो निरंजन निर्विकार हैं। सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व इन प्रसिद्ध आठ गुणों से विभूषित हैं, परम कृतकृत्य हैं, परमानंदमय हैं। ऐसे अपने सिद्ध स्वरूप में रमना जमना, इसी से सब कर्म क्षय होते हैं।

प्रश्न - ऐसे शुद्धात्मा, सिद्ध स्वरूप की अनुभूति कैसे होती है ? हमारे देखने में आता नहीं है, हमारी दृष्टि में तो यह भेद विकल्प के भाव आते हैं ?

समाधान - जितने भी यह भेद विकल्प बद्धस्पृष्टत्वादि भाव हैं, यह हमेशा रहने वाले नहीं हैं, सब बदल जाते हैं इसलिये अभूतार्थ हैं। कर्म का संबंध व रागादि का संबंध कायम रहने वाली वस्तु नहीं है, यह सब असत्यार्थ अभूतार्थ है। ऐसा जानकर, दृढ़ श्रद्धान से मानकर जो अपना त्रिकाली ध्रुव स्वभाव शाश्वत, अविनाशी शुद्धात्मा सिद्ध स्वरूप है। जैसा सम्यक्दर्शन की अनुभूति में आया तथा सम्यक्ज्ञान द्वारा जिसे परोक्षपने जाना है। उसमें रमने जमने से ही शुद्धात्मा की अनुभूति होती है जो अतीन्द्रिय, अवक्तव्य, कल्पनातीत है, ऐसी अनुभूति ही मुक्तिमार्ग है, इसी से पूर्वबद्ध कर्म क्षय होते हैं। आनंद परमानंदमयी परमात्म पद प्रगट होता है।

३२. परिणइ भाव, ३३. पूरंति भाव -

परिणइ परिणय सुद्धं, परिनाए सुद्ध ममल परिनामं ।

पूरंति कम्म षिपनं, पूरयंतो तिविहि कम्म षिपनं च ॥ ५१३ ॥

अन्वयार्थ - (परिणइ परिणय सुद्धं) शुद्ध आत्मा की परिणति में परिणमन करना चाहते हो (परिनाए सुद्ध ममल परिनामं) तो जो शुद्ध ममल परम पारिणामिक भाव है उसमें परिणमो (पूरंति कम्म षिपनं) निज स्वभाव में लीन होकर पूरे के पूरे कर्म क्षय करना चाहते हो (पूरयंतो तिविहि कम्म षिपनं च) तो जो परिपूर्ण शुद्ध परम पारिणामिक भाव है उसमें लीन रहो तो तीनों प्रकार के कर्म क्षय हो जाते हैं।

विशेषार्थ - ३२. परिणइ भाव - (परिणमन के भाव) शुद्ध आत्मा की परिणति में परिणमन करने के भाव हैं तो जो शुद्ध ममल परम पारिणामिक भाव है उसमें परिणमो।

३३. पूरंति भाव - (परिपूर्ण होने के भाव) निज स्वभाव में लीन होकर पूरे के पूरे कर्म क्षय करना चाहते हो तो जो परिपूर्ण शुद्ध परम पारिणामिक भाव है उसमें लीन रहो तो तीनों प्रकार के कर्म क्षय हो जाते हैं। शुद्धोपयोग ही मोक्षमार्ग है, इसी की पूर्णता जब होती है तब द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से छूटकर यह आत्मा परमात्मा हो जाता है।

भगवान आत्मा में अन्य साधनों के बिना स्वयं से ही निर्मल पर्याय रूप परिणमित होने की शक्ति है। द्रव्य स्वयं परिणमित होकर समस्त गुणों का कार्य करता है क्योंकि साधक की दृष्टि त्रैकालिक शक्तिमान ऐसे द्रव्य पर गई है, उस द्रव्य स्वभाव के आश्रय से ही निर्मल परिणाम होता है। उस निर्मल परिणाम का ही साधन होना द्रव्य का स्वभाव है।

साधकदशा के समय निमित्त रूप से बाह्य वस्तुएं हों तो भले हों, भूमिकानुसार राग हो तो भले हो परंतु साधक धर्मात्मा इन किसी को अपने साधकत्व के साधन रूप से स्वीकार नहीं करते। साधक को तो अपना त्रिकाली ध्रुव स्वभाव परम पारिणामिक भाव ही स्वीकार है। उस अखंड साधन में से ही मोक्षमार्ग की और मोक्ष की निर्मल पर्यायों का प्रवाह चला आता है। मैं अपनी ज्ञानादि अनंत शक्तियों से परिपूर्ण हूँ और पर का एक अंश भी मुझमें नहीं है, ऐसा भेदज्ञान करके अपने अनंत शक्ति सम्पन्न परिपूर्ण शुद्धात्मा की पकड़ श्रद्धान, ज्ञान होने से बाह्य पदार्थों की और पर भावों की पकड़ छूट जाती है इसलिये श्रद्धान ज्ञान की अपेक्षा से वहां सर्व परिग्रह का त्याग हो जाता है, ऐसा ज्ञान होने से अनंत संसार छूट जाता है तथा इस स्थिति में दृढ़ता पूर्वक रहने से तीनों प्रकार के कर्म क्षय हो जाते हैं।

३४. साधंतु भाव, ३५. त्रितंति भाव-

साधंतु अर्थ सुद्धं, साधयंति पंच दित्ति परमिस्ति ।

त्रितंति त्रितं रुवं, त्रितायन्ति ममल कम्म गलियं च ॥ ५१४ ॥

अन्वयार्थ - (साधंतु अर्थ सुद्धं) प्रयोजनीय शुद्ध स्वभाव को साध रहे हो, साधना कर रहे हो (साधयंति पंच दित्ति परमिस्ति) तो पंच ज्ञान और परमेष्ठी पद को साधो, शुद्ध स्वभाव की साधना साधु पद में ही होती है (त्रितंति त्रितं रुवं) अपने शाश्वत स्वरूप में मगन रहना चाहते हो (त्रितायन्ति ममल कम्म गलियं च) तो अपने ममल स्वभाव में मगन रहो, उसी में नृत्य करो तो सारे कर्म गल जायेंगे।

विशेषार्थ - ३४. साधंतु भाव - (साधन, साधना करने के भाव) अपने प्रयोजनीय शुद्ध स्वभाव को साध रहे हो, साधना कर रहे हो परंतु क्या इस दशा में यहां बैठे-बैठे शुद्ध स्वभाव की साधना होगी ? उसके लिये पंच ज्ञान, परमेष्ठी पद को साधो, निर्ग्रन्थ वीतरागी साधु बनो, साधु पद में ही शुद्ध

स्वभाव की साधना होती है।

३५. त्रितंति भाव - (हमेशा अपने में मगन रहने, नृत्य करने के भाव) अपने शाश्वत स्वरूप में मगन रहना चाहते हो तो ममल स्वभाव में मगन रहो, इसी में नृत्य करो तो सारे कर्म क्षय हो जाते हैं।

मुमुक्षु साधक को पंचज्ञान और परमेष्ठी पद की साधना द्वारा निर्ग्रन्थ वीतराग, साधुपद ही सकल आगम का सार है, सकल जगत में उत्कृष्ट है, अत्यंत शुद्ध है। अमृत, जीवन्मुक्ति और परम मुक्ति का मार्ग है। इस प्रकार तत्त्वश्रद्धा को अंतःकरण में समाविष्ट करके प्रयोजनीय शुद्ध स्वभाव की साधना करना चाहिये। इसके लिये दोषों का त्याग और गुणों का प्रगटपना, विनय, भक्ति द्वारा पुष्ट करना चाहिये। शुद्ध स्वभाव की साधना व्रती-अव्रती दशा में नहीं होती, इसके लिये महाव्रती साधुपद आवश्यक है। पंच ज्ञान में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान की शुद्धि पूर्वक अवधिज्ञान, मनः पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान की साधना उसका लक्ष्य रहना चाहिये तथा अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु यह पंच परमेष्ठी पद की साधना करना चाहिये तभी शुद्ध स्वभाव की साधना होती है।

मोक्ष के लिये साधन तो परम ज्ञान ही है जो कर्म के करने में स्वामित्व रूप कर्तृत्व से रहित है। जब तक अशुद्ध परिणमन है तब तक जीव का विभाव रूप परिणमन है। संसार का परित्याग करके मुनिपद धारण करने का एक मात्र उद्देश्य शुद्ध आत्मा की उपलब्धि है उसे ही मोक्ष कहते हैं।

जिसे सम्यक्दर्शन प्रगट होने से अपने ज्ञानानंद स्वभाव पर दृष्टि आई है। ज्ञान पूर्वक जिसने वस्तु स्वरूप जाना है वह साधक अपने शाश्वत स्वरूप में मगन रहता है। स्वयं ज्ञान के रसास्वाद में विभोर होकर नृत्य करता है। उसके इस कार्य से उसे ज्ञानभाव के कारण नवीन कर्मों का संवर होता है तथा पूर्व बद्ध कर्म उदय में आकर बिना फल दिये ही निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं।

३६. सुद्धं भाव, ३७ अवयास भाव-

सुद्धं च परम सुद्धं, सुद्धायं परम भाव ममलं च।

अवयास नंतनंतं, अवयासं संसार सरनि मुक्तं च॥ ५१५॥

अन्वयार्थ - (सुद्धं च परम सुद्धं) परम शुद्ध स्वभाव को सोध रहे हो, शुद्ध कर रहे हो (सुद्धायं परम भाव ममलं च) मैं ममल स्वभावी परम

पारिणामिक भाव वाला हूँ इस सत् को स्वीकार कर लो, यही सोधना है (अवयास नंतनंतं) बार-बार अभ्यास कर रहे हो (अवयासं संसार सरनि मुक्तं च) अभ्यास नहीं स्वभाव में लीन हो जाओ, जिससे यह संसार का परिभ्रमण ही छूट जाये।

विशेषार्थ - ३६. सुद्धं भाव - (सोधने, शुद्ध करने के भाव) शुद्ध स्वभाव को सोध रहे हो, शुद्ध कर रहे हो। जब अपना परम पारिणामिक भाव, ममल स्वभाव, परम शुद्ध है ही फिर उसमें सोधना, शुद्ध क्या करना है? मैं परम पारिणामिक भाव मात्र ममल स्वभावी हूँ, यह स्वीकार कर लो यही साधना है। अपना शुद्ध स्वभाव तो त्रिकाल शुद्ध ही है, मान्यता में ही अशुद्धि है। शरीरादि कर्म संयोग से अपने को अशुद्ध, संसारी मानते हो, यही भ्रांति अज्ञान जन्य मान्यता बंधन है। मैं परम शुद्ध, परम पारिणामिक भाव मात्र हूँ, ऐसा दृढ़ श्रद्धान पूर्वक स्वीकार कर लो यही सोधना है, इसी से सब संयोग अपने आप छूट जायेंगे।

३७. अवयास भाव - (अभ्यास, ठहरने, लीन होने के भाव) बार-बार स्वभाव में ठहरने का अभ्यास कर रहे हो। अपने ममल स्वभाव में लीन हो जाओ, डूब जाओ तो यह संसार का परिभ्रमण छूट जाये।

शुद्ध चैतन्य ज्ञायक प्रभु की दृष्टि, ज्ञान तथा अनुभव वह साधक दशा है, उससे पूर्ण साध्य दशा प्रगट होगी। साधक दशा है तो निर्मल ज्ञान धारा परंतु वह भी आत्मा का मूल स्वभाव नहीं है क्योंकि वह साधना मय अपूर्ण पर्याय है। प्रभु तू पूर्णानंद का नाथ, सच्चिदानंद, स्वयं परम शुद्ध, ममल स्वभावी परम पारिणामिक भाव मात्र है। पर्याय में रागादि भले हों परंतु वस्तु मूल स्वभाव में ऐसी नहीं है। उस निज पूर्णानंद परमानंद स्वरूप में एकाग्रता रूप साधक दशा की ऐसी साधना कर कि जिससे तेरा साध्य अर्थात् मोक्ष पूर्ण प्रगट हो जाये, यह संसार का परिभ्रमण छूट जाये।

संयोग का लक्ष्य छोड़ दे और निर्विकल्प एक रूप वस्तु परम पारिणामिक भाव है, उसका आश्रय ले। त्रिकाली ध्रुव ममल स्वभाव ही मैं हूँ ऐसा स्वीकार कर। गुण-गुणी के भेद का भी लक्ष्य छोड़ दे। एक रूप गुणी परम शुद्ध स्वभाव की दृष्टि कर, उसमें दृष्टि लगाने से मुक्ति की प्राप्ति होगी।

३८. इस्टं भाव, ३९. गंजंतु भाव-

इस्टं संजोय दिस्टं, इस्टाए इस्ट नंत दिस्टं च ।

गंजंतु कम्म तिविहं, गंजंतु कम्म भाव उववन्नं ॥ ५१६ ॥

अन्वयार्थ - (इस्टं संजोय दिस्टं) हितकारी दृष्टि को संजो रहे हो (इस्टाए इस्ट नंत दिस्टं च) इष्ट तो अनंत चतुष्टयमयी शुद्ध स्वभाव है उसे देखो यही इष्ट है (गंजंतु कम्म तिविहं) तीनों प्रकार के कर्मों पर गरज रहे हो, क्रोधित हो रहे हो (गंजंतु कम्म भाव उववन्नं) जिन भावों से कर्म पैदा होते हैं उन भावों पर ही गरजो अर्थात् अब शुभाशुभ भावों को मत देखो, अपने शुद्ध स्वभाव, शुद्धोपयोग रूप रहो तो तीनों प्रकार के कर्म ही क्षय हो जायेंगे ।

विशेषार्थ - ३८. इस्टं भाव - (इष्ट, प्रिय, हितकारी भाव) अपनी दृष्टि को संजो रहे हो, इसे इष्ट हितकारी मान रहे हो परंतु इष्ट तो अपना अनंत चतुष्टयमयी शुद्ध स्वभाव है उसे देखो, वही इष्ट हितकारी है । अब दृष्टि का लक्ष्य और भेद भी न रहे ऐसा पुरुषार्थ करो ।

३९. गंजंतु भाव - (गरजने, क्रोधित होने के भाव) कर्मों पर क्रोधित हो रहे हो, गरज रहे हो, यह तीनों कर्म- द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नोकर्म तो जड़ हैं, क्षय हो जाने वाले हैं । जिन भावों से कर्म पैदा होते हैं, उन शुभाशुभ भावों से ही अपनी दृष्टि हटाओ, अपने शुद्ध स्वभावमय रहो तो तीनों प्रकार के कर्म ही विला जायेंगे, यही सही गरजना है ।

भीतर आत्मा पूर्णानंद का नाथ, अनंत चतुष्टय का धारी है, उसकी जिसे दृष्टि हुई है उसे वस्तु अंतर में परिपूर्ण है ऐसा अनुभव होता है, यही इष्ट हितकारी है । दृष्टि को पलटना, संजोना, इधर-उधर लगाना यह इष्ट नहीं है । विकार जीव की पर्याय में ही होता है, उस अपेक्षा से तो उसे जीव का जानना परंतु जीव का स्वभाव विकारमय नहीं है, जीव का स्वभाव तो विकार रहित है । इस प्रकार स्वभाव दृष्टि से विकार जीव का नहीं है परंतु पुद्गल कर्मादि के लक्ष्य से होता है इसलिये वह पुद्गल का है ऐसा जानना । ज्ञान, दर्शन स्वभाव मात्र अभेद निज तत्त्व की दृष्टि करने पर उसमें नव तत्त्व रूप परिणमन तो है नहीं । चेतना स्वभाव मात्र में गुणभेद भी नहीं है अतः दृष्टि और स्वभाव का भेद ही न रहे ऐसा पुरुषार्थ करो, वही शुद्धोपयोग इष्ट हितकारी है ।

परावलंबी दृष्टि वह बंध भाव है और स्वाश्रय दृष्टि ही मुक्ति का भाव है ।

स्व सन्मुख दृष्टि रहने में ही मुक्ति है और बहिर्मुखी दृष्टि होने से जो तीनों प्रकार के कर्म - द्रव्य कर्म, भावकर्म, नोकर्म के भाव आते हैं वे सब पराश्रित होने से बंध भाव हैं । शुद्धोपयोग होने से तीनों प्रकार के कर्म क्षय होते हैं यही तुम्हारा शूरवीरपना है, पुरुषार्थ है । ऐसे गरजो कि अब कर्मों के भाव ही न आयें ।

४०. दमनं भाव, ४१. गलंतु भाव-

दमनं कम्म सहावं, दमनाए नो कम्म दव्व कम्मेन ।

गलंतु परिणाम अभावं, गलयंति मिच्छ कम्म विलयंति ॥ ५१७ ॥

अन्वयार्थ - (दमनं कम्म सहावं) कर्मों के स्वभाव का दमन करना चाहते हो (दमनाए नो कम्म दव्व कम्मेन) तो भाव कर्मों को दमन करने से नो कर्म और द्रव्य कर्म अपने आप क्षय हो जायेंगे (गलंतु परिणाम अभावं) क्षणभंगुर मिथ्या भाव, जो टिकने वाला नहीं है, अभाव रूप है उनको गलाना चाहते हो (गलयंति मिच्छ कम्म विलयंति) तो मिथ्यात्व भाव को गला दो इससे सब कर्म ही विला जायेंगे ।

विशेषार्थ - ४०. दमनं भाव - (दमन, क्षय करने के भाव) कर्मों के स्वभाव का दमन, क्षय करना चाहते हो तो भाव कर्मों का दमन करो, इससे ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और शरीरादि नोकर्म अपने आप क्षय हो जायेंगे । रागादि भावकर्म ही संसार परिभ्रमण कर्मबंध का मूल बीज है, इससे ही ज्ञानावरणादि आठों द्रव्य कर्म का बंध होता है, इसी से शरीरादि नोकर्म का बंध होता है । बीज को जलाने, क्षय कर देने से कर्म व शरीर दोनों ही न रहेंगे ।

४१. गलंतु भाव - (गलाने का भाव) जो परिणाम अभाव रूप हैं अर्थात् सदैव टिकने वाले नहीं हैं, क्षणभंगुर नाशवान हैं, इन्हें गलाना चाहते हो तो अपने मिथ्यात्व भाव को गलाओ क्योंकि जब तक पर पर्याय कर्मादि की सत्ता मान रहे हो तब तक मिथ्यात्व भाव है । अपनी स्व सत्ता में पर का अस्तित्व ही नहीं है फिर पर की सत्ता मानना ही मिथ्यात्व है, इसे गलाओ तो सारे कर्म विला जाते हैं । पर में अहं बुद्धि यह मिथ्यात्व भाव है, इसी मिथ्यात्व के दूर होने पर व सम्यक्त्व के प्रगट होने पर सब कर्म विला जाते हैं ।

रागादि भाव कर्म पुद्गल हैं, उसके उदय से आत्मा में राग भाव होता है, यह कर्मकृत विकार है, आत्म स्वभाव नहीं है, आत्मा तो मात्र ज्ञायक है ।

जिसने ऐसे अपने स्व सत्ता स्वरूप को जाना कि मैं तो एक ज्ञायक स्वभावी ज्ञान मात्र चैतन्य तत्त्व भगवान आत्मा हूँ, उसके तीनों कर्म ही निर्जरित हो जाते हैं। ज्ञानी अपने आत्म स्वभाव को ठीक-ठीक जानता है इसलिये रागादि भावों को कभी अपना नहीं मानता, वहाँ ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म रहते ही नहीं हैं।

ज्ञानी विचारता है कि मैं तो ज्ञान मात्र, चैतन्य तत्त्व, सर्वकर्मादि से रहित शुद्धात्मा हूँ, इसके अतिरिक्त कोई पर द्रव्य या परभाव मेरा नहीं है, न मैं किसी का सम्बंधी हूँ। जहाँ ऐसे स्व स्वरूप की सत्ता जाग्रत होती है, उसका सांसारिक बंधनों से बंधन तीन लोक में कहीं भी नहीं हो सकता।

अनादि अनंत ऐसा जो एक निज शुद्ध चैतन्य स्वरूप उसके स्वसन्मुख होकर आराधन करना ही सब कर्म कलंक से मुक्त, परमात्मा होने का सच्चा उपाय है।

४२. विरयं भाव, ४३. तिक्तंतु भाव-

विरयं संसार सुभावं, विरयंतो कम्म तिविहि जोएन।

तिक्तंतु कम्म तिविहं, तिक्तंतो असुह कम्म विलयंति ॥ ५१८ ॥

अन्वयार्थ - (विरयं संसार सुभावं) संसार स्वभाव से विरक्त होने के भाव हैं (विरयंतो कम्म तिविहि जोएन) तो तीनों प्रकार के कर्मों के योग से विरक्त रहो अर्थात् कर्मोदय से जुड़ो ही मत, अपने स्वभाव में रहो (तिक्तंतु कम्म तिविहं) तीनों प्रकार के कर्मों को त्यागना, छोड़ना चाहते हो (तिक्तंतो असुह कम्म विलयंति) तो यह शुभाशुभ भावों को छोड़ दो, इससे सारे कर्म विला जाते हैं।

विशेषार्थ - ४२. विरयं भाव - (विरक्त होने, छूटने के भाव) संसार स्वभाव अर्थात् पर पर्याय के सम्बंध से विरक्त रहने के भाव हैं तो तीनों प्रकार के कर्म- द्रव्यकर्म, भाव कर्म, नोकर्म के उदय से जुड़ो ही मत, अपने वीतराग भाव में रहो।

४३. तिक्तंतु भाव - (त्यागने, छोड़ने के भाव) तीनों प्रकार के कर्मों को छोड़ना चाहते हो तो यह शुभाशुभ भावों को छोड़ दो, अपने शुद्धोपयोग में स्थित रहो इससे सारे कर्म विला जाते हैं।

आत्मा का मनन निश्चिन्त होने पर ही होता है इसलिये गृहस्थी का

त्याग जरूरी है। गृहस्थ में व्यवहार में पैसा कमाना, काम भोग करना, नाते रिश्तेदारी आदि कार्यों में मन, वचन, काय चंचल व राग-द्वेष से पूर्ण आकुलित रहते हैं व पंचेन्द्रियों के भोगों की लालसा बनी रहती है, यही संसार स्वभाव है। इससे विरक्त होना चाहते हो तो वीतरागी निर्ग्रन्थ साधु पद धारण करो। तब ही सर्व चिंताओं से रहित व सर्व संकल्प-विकल्प से रहित अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव का मनन होगा। इसी से तीनों प्रकार के कर्मों से छूट जाओगे।

निर्वाण का साक्षात् उपाय निर्ग्रन्थ वीतराग साधु पद ही है। इसी पद को धारण करके सर्व ही तीर्थकर व महात्माओं ने उक्त प्रकार से आत्मध्यान करके मोक्षपद प्राप्त किया है। इसके लिये सर्व चिंताओं से रहित एकाकी होना जरूरी है।

आत्मा का अनादिकाल से पुद्गल कर्मों से संयोग होने पर भी यह उससे बिल्कुल भिन्न निराला है, यह शुद्ध चैतन्य मूर्ति है। न तो कर्मों का, न शरीरादि का, न रागादि भावकर्मों का कोई सम्बंध इस आत्मा से है, न अन्य आत्माओं से कोई सम्बंध है। हर एक आत्मा की सत्ता निराली है, मैं सदा एकाकी हूँ व रहूँगा, ऐसी एकत्व की भावना भाने से तीनों प्रकार के कर्म विला जाते हैं।

जैसे-कोई बंधन में बंधा है, वह बंध की चिन्ता किया करे तो चिंता मात्र से वह बंध से नहीं छूट सकता, वैसे ही कोई जीव यह चिंता करे कि यह कर्मबंध है, कर्म से मुक्त होना है, इस चिंता से वह कर्म से मुक्त नहीं होगा। जैसे-बंधन से बंधा पुरुष बंध को काटकर ही बंध से छूटेगा, वैसे ही भव्य जीव बंध को छेद करके ही मुक्त होगा। बंध के छेद का उपाय एक स्वानुभव रूप शुद्धोपयोग ही है।

धर्मात्मा को अपना रत्नत्रय स्वरूप आत्मा ही परम प्रिय है, संसार सम्बंधी दूसरा कुछ भी प्रिय नहीं है। जिस प्रकार गाय को अपने बछड़े के प्रति तथा बालक को अपनी माता के प्रति कैसा प्रेम होता है, उसी प्रकार धर्मात्मा साधक को अपने रत्नत्रय स्वभाव रूप मोक्षमार्ग के प्रति अभेद बुद्धि से परम वात्सल्य होता है।

४४. विन्यान भाव, ४५. अनंत भाव-

विन्यान न्यान जुत्तं, विन्यानं न्यान कम्म षिपनं च।

अनन्त चतुस्तय सहियं, अनन्ताए नन्त दिस्ति ममलं च ॥ ५१९ ॥

अन्वयार्थ - (विन्यान न्यान जुत्तं) विज्ञान के ज्ञान सहित हो रहे हो

(विन्यानं न्यान कम्म षिपनं च) भेदविज्ञान का ज्ञान करने से ही कर्म क्षय होते हैं (अनन्त चतुष्टय सहियं) अनंत चतुष्टय के भाव सहित हो रहे हो (अनन्ताए नन्त दिस्टि ममलं च) अपनी दृष्टि ममल स्वभाव पर रखो जो अनंतानंत शक्ति का धारी है।

विशेषार्थ - ४४. विन्यान भाव - (भेदज्ञान- विशेष ज्ञान के भाव) विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो तो भेदविज्ञान का ज्ञान प्राप्त करो जिससे सारे कर्म क्षय हो जाते हैं। भेदविज्ञान आत्मानुभव का कारण है, आत्मानुभव कर्मों के क्षय का कारण है।

४५. अनंत भाव - (अनंत चतुष्टय के भाव) अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य को उपलब्ध करने के भाव हो रहे हैं तो अपने ममल स्वभाव पर दृष्टि लगाओ जो अनंतानंत शक्ति का धारी है। इसी के आश्रय अर्थात् शुद्धोपयोग की साधना से ही अनंत चतुष्टय प्रगट होते हैं।

जिसकी बुद्धि में भेदविज्ञान का प्रकाश न हो, उसका शास्त्रज्ञान मोक्षमार्ग में लाभकारी नहीं होता। भेदविज्ञान होने पर यह प्रतीति जमनी चाहिये कि सच्चा आनंद मेरे ही आत्मा का गुण है। इसके लिये सर्व कर्म कलंक रहित वीतरागी व ज्ञाता दृष्टा अपने आत्मा के भीतर श्रद्धा व ज्ञान सहित रमण करना होगा, अन्य सर्व पदार्थों से व सर्व भावों से उपयोग को हटाना पड़ेगा, तभी कर्म क्षय होते हैं।

साधक को स्वानुभव रूप शुद्धोपयोग ही एकमात्र हितकारी है। अनंत चतुष्टय की भावना करने मात्र से अनंत चतुष्टय नहीं होते। अपने ममल स्वभाव में दृष्टि लगाने, उपयोग को स्थिर करने पर ही अनंत चतुष्टय प्रगट होते हैं। जो अनंतानंत शक्ति, अनंत गुणों का धारी, निज शुद्धात्म द्रव्य है, उसकी दृष्टि करने, उसका आश्रय लेने पर, उसका स्वानुभव यथा योग्य एक मुहूर्त तक जमा रहे तो चार घातिया कर्मों का क्षय होकर परमात्म स्वरूप प्रगट हो जाये, एक ही साथ अनंतज्ञान अनंतदर्शन अनंतसुख अनंतवीर्य का प्रकाश हो जाता है।

आत्मा पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्रादि शुद्ध गुणों का सागर है, परम निराकुल है, परम वीतराग है, ज्ञानावरणादि आठों द्रव्यकर्म, रागादि भाव कर्म, शरीरादि नो कर्म से भिन्न, शुद्ध चैतन्य ज्योतिर्मय है। पर भावों का न तो कर्ता है, न पर भावों का भोक्ता है। यह सदा स्वभाव के रमण

में रहने वाली स्वानुभूति मात्र है। इस तरह अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव की प्रतीति करके साधक इसी ज्ञान का मनन करता है। अपने उछलते हुए आत्म प्रकाश में रहकर कर्मबंधन का क्षय करके चैतन्य रूपी अमृत से पूर्ण व शुद्ध होकर मोक्ष पद पाता है।

४६. तरंति भाव, ४७. सिद्ध भाव-

एयं अनेय भावं. तरंति तारयंति सुद्ध सभावं।

सिद्धं च सर्व सिद्धं, अन्मोयं परिनाम सुद्ध ममलं च ॥ ५२० ॥

अन्वयार्थ - (एयं अनेय भावं) इस प्रकार ऐसे अनेक भाव साधक को होते हैं (तरंति तारयंति सुद्ध सभावं) तरने का भाव है तो अपना शुद्ध स्वभाव ही तारने वाला है (सिद्धं च सर्व सिद्धं) सिद्ध होने का भाव है तो जैसे और सब सिद्ध हुए हैं वैसे (अन्मोयं परिनाम सुद्ध ममलं च) अपने शुद्ध ममल परम पारिणामिक भाव का आश्रय करो, लीन रहो तो सिद्ध हो जाओगे।

विशेषार्थ - ४६. तरंति भाव - (तरने का भाव) इस भवसागर से तरने का भाव है अर्थात् संसार परिभ्रमण से छूटना, मुक्त होना चाहते हो तो तारने वाला अपना ही शुद्ध स्वभाव है उसका आश्रय लो, शुद्धोपयोग की साधना करो तो तर जाओगे।

४७. सिद्ध भाव - (सिद्ध होने का भाव) सिद्ध होना चाहते हो तो जैसे और सब सिद्ध परमात्मा हुए हैं वैसे अपने शुद्ध ममल, परम पारिणामिक भाव का आश्रय करो उसमें लीन रहो तो सिद्ध हो जाओगे।

सिद्ध पद शुद्ध आत्मा का पद है। वहां आत्मा अपने ही निज स्वभाव में सदा मगन रहता है। सिद्धों के समान जो कोई मुमुक्षु अपने आत्मा को निश्चय से शुद्ध आत्मद्रव्य मानकर व राग-द्वेष त्याग कर अपने निज शुद्ध स्वभाव में मगन हो जाता है वह स्वयं सिद्ध हो जाता है।

ऐसे अनेक भाव साधक को होते हैं परंतु अब इन अहं भावों से हटकर शुद्धोपयोग की साधना करना ही इष्ट हितकारी है, इसी से सिद्धपद की प्राप्ति होती है।

चैतन्य की चैतन्य में परिणमित भावना हो तो वह भावना फलित होती है, मैं ज्ञान मात्र हूं ऐसी अंतर सावधानी जागृति का स्वरूप है। आत्मा का स्वभाव त्रैकालिक परम पारिणामिक भाव रूप है, उस स्वभाव को पकड़ने से

ही मुक्ति होती है।

इस प्रकार इन सैंतालीस भाव द्वारा साधक को सावधान किया है कि जब तक भेद दृष्टि है, होने के भाव हैं तब तक बीच में अहंभाव है। इससे हटकर मैं पूर्ण, शुद्ध, मुक्त, सिद्ध हूँ इस अनुभूति में डूबना ही शुद्धोपयोग की साधना है इसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सिद्ध स्वरूप की विशेषता-

प्रश्न - सिद्ध स्वरूप की विशेषता क्या है और वह कैसे उपलब्ध होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

सिद्धं च अनंत रूवं, रूवातीतं च विगत रूवं च ।

ममलं च ममल रूवं, कम्मं षिपिऊन मुक्ति गमनं च ॥ ५२१ ॥

सिद्धं च सुद्ध सिद्धं, ममल सहावेन कम्म गलियं च ।

अप्पा परमानन्दं, परमप्पा मुक्ति सिद्धि संपत्तं ॥ ५२२ ॥

अन्वयार्थ - (सिद्धं च अनंत रूवं) सिद्ध भगवान अनंत गुणों के धारी हैं (रूवातीतं च विगत रूवं च) उनका स्वरूप अतीन्द्रिय, शरीर रहित, अमूर्तिक है (ममलं च ममल रूवं) सिद्ध स्वरूप सर्व कर्म मलों से रहित ममल स्वरूप है (कम्मं षिपिऊन मुक्ति गमनं च) वे कर्मों को क्षय करके मोक्ष को गये हैं।

(सिद्धं च सुद्ध सिद्धं) ऐसे सिद्ध के समान मैं भी शुद्ध सिद्ध हूँ (ममल सहावेन कम्म गलियं च) अपने ममल स्वभाव में रहने से कर्म गल जाते हैं (अप्पा परमानन्दं) आत्मा परमानंद मय हो जाता है (परमप्पा मुक्ति सिद्धि संपत्तं) परमात्म पद मुक्ति और सिद्धि की संपत्ति अर्थात् सिद्ध स्वरूप को उपलब्ध करने का यही उपाय है।

विशेषार्थ - सिद्ध भगवान अनंत गुणों के धारी हैं, उनका स्वरूप अतीन्द्रिय शरीर रहित, अमूर्तिक अरूपी है। वे सर्व कर्म मलों से रहित ममल स्वरूप हैं, उन्होंने समस्त कर्मों को क्षय करके मोक्ष पाया है। ऐसे सिद्ध के समान मैं भी शुद्ध, सिद्ध स्वरूपी हूँ, ऐसा सत्श्रद्धान ज्ञान करके अपने ममल स्वभाव में रहने से कर्म गल जाते हैं। आत्मा परमानंद मय हो जाता है, परमात्मपद मुक्ति, सिद्धि की संपत्ति अर्थात् सिद्ध स्वरूप की उपलब्धि का

यही उपाय है।

सिद्ध भगवान सर्व रागादि मल व ज्ञानावरणादि कर्मों से रहित हैं, नित्य परमानंद में लीन हैं। अमूर्तिक शरीरादि रहित होने पर भी ज्ञान आनंद आदि अनंत गुणों के धारी अतीन्द्रिय परम शुद्ध तत्त्व हैं, वे सर्व कर्म क्षय करके मुक्त हुए हैं।

इसी प्रकार जो भव्य जीव अपने सत्य स्वरूप का श्रद्धान करता है, ज्ञान करता है और ऐसे अपने सिद्ध स्वरूप ममल स्वभाव में रहता है, उसके भी सारे कर्म क्षय हो जाते हैं और वह आनंद परमानंदमय होता हुआ परमात्म पद, सिद्धि मुक्ति को पाता है।

जहाँ आत्मा, संसार के परिभ्रमण, जन्म-मरण के चक्र से छूटकर परमानंदमय रहे, यही सिद्ध स्वरूप की विशेषता है। वहाँ आत्मा अपने ही निज स्वभाव में सदा मगन रहता है। आत्मा शुद्ध आकाश के समान, निर्मल ममल रहता है।

सिद्ध भगवान पूर्ण ज्ञानी हैं, परम वीतरागी हैं, अतीन्द्रिय सुख के सागर हैं, अनंत वीर्यधारी हैं, शरीरादि कर्मों से रहित अमूर्तिक हैं। पुद्गलादि से सब संयोग छूट गया है। अपनी ही स्वाभाविक शुद्ध परिणति में मगन, परमानंद के भोक्ता, परम कृतकृत्य हैं। सर्व इच्छाओं से शून्य पुरुषाकार हैं। सिद्ध को ही परमेश्वर शिव, परमात्मा, परम देव कहते हैं, वे एकाकी आत्मा रूप हैं। जैसा मूल में आत्म द्रव्य है वैसा ही सिद्ध स्वरूप है।

जो आत्मा, ऐसे अपने शुद्ध आत्मा, सिद्ध स्वरूप का अनुभवपूर्वक ध्यान करता है। साधुपद में अंतर बाहर से निर्ग्रन्थ होकर धर्म शुक्ल ध्यान को ध्याता है। वह शुक्लध्यान से घातिया कर्मों को क्षय कर पहले अरिहंत परमात्मा होता है फिर सर्व कर्म मलों को क्षय करके सिद्ध होता है। ऊर्ध्वगमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग में जाकर सिद्ध आत्मा ठहरता है।

प्रश्न - इसके लिये और क्या करना पड़ता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

परम भाव दरसीए, परमं परमप्प अप्प ममलं च ।

न्यानं च न्यान अन्मोयं, सिद्धं सुद्धं च सिद्धि संपत्तं ॥ ५२३ ॥

अन्वयार्थ - (परम भाव दरसीए) परम पारिणामिक भाव स्वरूप को देखना चाहिये, यही हमेशा दिखने लगे (परमं परमप्प अप्प ममलं च) मैं

आत्मा परमश्रेष्ठ परमात्मा, ममल स्वभावी हूँ (न्यानं च न्यान अन्मोयं) ज्ञानपूर्वक ज्ञान स्वभाव के आश्रय रहने से (सिद्धं सुद्धं च सिद्धि संपत्तं) स्वयं सिद्ध शुद्ध हो जाते हैं, यही सिद्धि की संपत्ति को पाना है।

विशेषार्थ - अपना परम पारिणामिक भाव स्वरूप हमेशा दिखने लगे कि मैं आत्मा परमश्रेष्ठ परमात्मा ममल स्वभावी हूँ। ऐसा ज्ञानपूर्वक ज्ञान स्वभाव का आश्रय रहने से स्वयं सिद्ध शुद्ध परमात्मा हो जाते हैं।

चाहे जैसे संयोग में, क्षेत्र में या काल में जो जीव स्वयं निश्चय स्वभाव परम पारिणामिक भाव का आश्रय करके परिणमता है वही जीव मोक्षमार्ग तथा सिद्धि की संपत्ति को प्राप्त करता है।

अखंड द्रव्य और पर्याय दोनों का ज्ञान होने पर भी अखंड स्वभाव की ओर लक्ष्य रखना कि मैं परम श्रेष्ठ परमात्मा ममल स्वभावी हूँ। उपयोग को एकाग्रता पूर्वक ज्ञान स्वभाव की ओर ले जाना वह अंतर में समभाव को प्रगट करता है। स्वाश्रय द्वारा बंध का नाश करती हुई जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है वही मोक्षमार्ग है।

अंतर में शुद्ध स्वरूप की दृष्टि तथा अनुभव होने पर रुचि एवं दृष्टि अपेक्षा से भगवान आत्मा तो अमृत स्वरूप आनंद का सागर है। उसकी रुचि लगन हुए बिना उपयोग पर में से हटकर स्व में नहीं आ सकता; इसलिये अपने स्वसत्ता स्वरूप का दृढ़ निश्चय श्रद्धान ज्ञान द्वारा उपयोग को स्वभाव में लगाना ही सिद्धि मुक्ति प्राप्त करने का उपाय है।

प्रश्न - इससे क्या होता है?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

तारन तरन उवन्नं, नंतं अन्मोय न्यान सहकारं ।

जिनियं जिनयति रूवं, जिनियं कम्मान सिद्धि संपत्तं ॥ ५२४ ॥

न्यान सहाव उवन्नं, अन्मोयं सहकार न्यान ससरूवं ।

न्यानं अन्मोय सहावं, समयं संजुत्त सिद्धि संपत्तं ॥ ५२५ ॥

अट्ट गुनं संजुत्तं, अट्टइ पुहमी च वास समयं च ।

कम्मं तिविहि विमुक्कं, ममल सहावेन सिद्धि संपत्तं ॥ ५२६ ॥

अन्वयार्थ - (तारन तरन उवन्नं) तारण तरण स्वरूप प्रगट होता है

(नंतं अन्मोय न्यान सहकारं) ज्ञान के सहकार से अनंत चतुष्टय स्वरूप प्रगट होता है (जिनियं जिनयति रूवं) वे ही जिन हैं, वे ही जिनेन्द्र स्वरूप साधुपद धारण करके (जिनियं कम्मान सिद्धि संपत्तं) कर्मों को जीतकर सिद्धि संपत्ति मुक्ति पाते हैं।

(न्यान सहाव उवन्नं) केवलज्ञान स्वभाव प्रगट हो जाता है (अन्मोयं सहकार न्यान ससरूवं) अपने ज्ञान स्वभाव के सहकार और आश्रय से (न्यानं अन्मोय सहावं) अपने स्वभाव में लीन रहने से (समयं संजुत्त सिद्धि संपत्तं) शुद्धात्मा में लीनता ही सिद्धि की संपत्ति अर्थात् मुक्ति है।

(अट्ट गुनं संजुत्तं) अष्ट गुण सहित हो जाता है अर्थात् सिद्ध भगवान आठ गुण सहित होते हैं (अट्टइ पुहमी च वास समयं च) आठवीं पृथ्वी के ऊपर उनका निवास सदाकाल अपने शुद्धात्मा में रहता है (कम्मं तिविहि विमुक्कं) तीनों प्रकार के कर्मों से रहित (ममल सहावेन सिद्धि संपत्तं) अपने ममल स्वभाव में परमानंद में मगन रहते हैं।

विशेषार्थ - आत्मा का स्वरूप सिद्ध के समान शुद्ध है, जो जीव ऐसे अपने आत्म स्वरूप की साधना-आराधना करता है वह स्वयं तारण तरण परमात्मा हो जाता है। आत्मा जिन स्वरूप है, जब साधु पद धारण करके, परम एकाग्र भाव से आत्मा में मगन होता है तब घातिया कर्मों का क्षय होकर अनंत चतुष्टयमयी केवलज्ञान स्वभाव प्रगट होता है।

वही यथार्थ जिन है क्योंकि उसने रागादि शत्रुओं को व ज्ञानावरणादि कर्म रिपुओं को जीत लिया है वही ईश्वर है क्योंकि अविनाशी परमेश्वर्य का धारी वही परमात्मा है, जो परम कृतकृत्य सर्व प्रकार की इच्छा से रहित है। वही परमात्मा अनंत है क्योंकि वह अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख, अनंतवीर्य, अनंत शांति, क्षायिक सम्यक्त्व आदि अनंत गुणों का धारी है। उसी को सिद्ध कहते हैं क्योंकि उसने साध्य को सिद्ध कर लिया है।

सिद्ध परमात्मा के ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के क्षय से मुख्य आठ गुण प्रगट होते हैं। सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व तथा अव्याबाधत्व। वे परम शुद्ध स्वभाव में लीन पुरुषाकार, आठवीं पृथ्वी के ऊपर सिद्ध शिला पर विराजित रहते हैं, उनको पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो जाती है, इसी से परम कृतकृत्य हैं। ऐसी भावना करने वाला ज्ञानी ऐसा तृप्त हुआ है कि मानो भावना करता हुआ साक्षात् केवली ही हो गया हो,

इससे वह अनंत काल तक ऐसा ही रहना चाहता है। केवलज्ञान उत्पन्न करने का यह परमार्थ, उपाय है। बाह्य व्यवहार चारित्र इसी का साधन रूप है।

जब यह जीव तत्त्वज्ञान का मनन करके तीन मिथ्यात्व, चार अनंतानुबंधी कषायों का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने पर चौथे सम्यक्त्व गुणस्थान, को प्राप्त होता है तब जिन कहलाता है क्योंकि उसने संसार भ्रमण के कारण मिथ्यात्व राग-द्वेष विकार को जीत लिया है, उसका उद्देश्य पलट गया है, वह संसार से वैराग्यवान व मोक्ष का प्रेमी हो गया है।

क्षायिक सम्यक्त्वी जीव श्रावक या मुनि होकर सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक धर्म ध्यान की साधना करता है फिर क्षपक श्रेणी पर आरुढ़ होकर सर्व मोहनीय कर्म का क्षय करके बारहवें गुणस्थान में क्षीण मोह जिन हो जाता है।

चौथे से बारहवें गुणस्थान तक जिन संज्ञा है फिर बारहवें के अंत में ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अंतराय तीन शेष घातिया कर्मों का क्षय होकर अरिहंत केवली तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त होते हैं तब वे जिनेन्द्र कहलाते हैं। यहां चारों घातिया कर्मों का अभाव है, उनके अभाव से केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र यह नौ क्षायिक लब्धियां तथा अनंत सुख प्राप्त हो जाता है। शेष अघातिया कर्म-नाम, आयु, गोत्र, वेदनीय का क्षय होने पर सर्व कर्म रहित अशरीरी, सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं, जो अष्ट गुण सहित अष्टम भूमि सिद्ध शिला पर सादि अनंतकाल तक अपने शुद्ध स्वभाव, परमानंद में मगन रहते हैं।

उपदेश शुद्ध सार भी यही है, इसकी आगे गाथा कहते हैं-

उवएस सुद्ध सारं, उवइड्डं परम जिनवर मएन।

विलयं च कम्म मलयं, न्यान सहावेन उवएसनं तंपि ॥ ५२७ ॥

अन्वयार्थ - (उवएस सुद्ध सारं) उपदेश शुद्ध सार भी यही है (उवइड्डं परम जिनवर मएन) परम जिनेन्द्र परमात्मा ने समस्त भव्य जीवों को यही उपदेश दिया है (विलयं च कम्म मलयं) सारे कर्म मल क्षय हो जाते हैं (न्यान सहावेन उवएसनं तंपि) अपने ज्ञान स्वभाव में लीन रहने से, यही उपदेश सार भूत है।

विशेषार्थ - अपने ज्ञान स्वभाव में लीन रहने से सारे कर्म क्षय होते हैं। केवलज्ञान और सिद्ध पद प्रगट होता है यही उपदेश शुद्ध सार है, जो परम जिनेन्द्र परमात्माओं ने जगत के समस्त भव्य जीवों के लिये उपदिष्ट किया है।

भगवान ने दिव्यध्वनि में कहा है कि आत्मा में अखंड आनंद स्वभाव भरा है, जिसमें ज्ञानादि अनंत स्वभाव भरे हैं, ऐसे चैतन्य मूर्ति निज आत्मा की श्रद्धा करें, उसमें लीनता करें तो उसमें से केवलज्ञान का पूर्ण प्रकाश अवश्य प्रगट होता है।

स्वरूप में लीनता के समय पर्याय में भी शांति और स्वभाव में भी शांति, आत्मा के आनंद रस में शांति ही शांति, अतीन्द्रिय आनंद होता है। इसी का एक-एक मुहूर्त स्थिर होना केवलज्ञान प्रगट करता है। समस्त कर्मों का क्षय होने पर सिद्ध पद होता है। यही उपदेश शुद्ध सार है, अनेक शास्त्रों का सार इसमें भरा है। जिन शासन का यह स्तंभ है, साधक को संजीवनी है, कल्पवृक्ष है, द्वादशांग का सार इसमें समाया हुआ है।

साधक जीव को ज्ञानमात्र भाव रूप परिणमन में एक साथ अनंत शक्तियां उल्लसित होती हैं, जो स्व-पर प्रकाशक ज्ञान में ज्ञात होती हैं। ज्ञान में ज्ञान मात्र का वेदन होना ही अंतर्मुखता है। निज ज्ञान वेदन के काल में राग तथा पर के वेदन का उसमें अभाव है।

श्री गुरु तारण स्वामी कहते हैं कि इस ग्रन्थ उपदेश शुद्ध सार में वही आत्मानुभव का मार्ग बताया है, जिससे कर्मों की निर्जरा पूर्वक मोक्ष की प्राप्ति हो तथा यह उपदेश परम जिनेन्द्र परमात्मा भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट किया गया है कि अपने ज्ञान स्वभाव में लीन होने से ही कर्मों का क्षय होता है। पर पर्याय के आश्रय से कभी मुक्ति होने वाली नहीं है।

जो साधक अपने परम पारिणामिक भाव ध्रुव स्वभाव का आश्रय लेकर एक शुद्ध आत्मा की बारम्बार भावना करता है, वह वीतराग निर्ग्रन्थ साधु होकर क्षपक श्रेणी पर चढ़कर अंतर्मुहूर्त में चार घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञानी हो जाता है। फिर चार अघातिया कर्मों का क्षय होने पर संसार से पूर्ण मुक्त शुद्ध सिद्ध परमात्मा हो जाता है। यही उपदेश शुद्ध सार और मुक्तिमार्ग है।

प्रश्न - यह अघातिया कर्मों का क्षय कैसे होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

**षिपनिक भाव संजुतं, दण्ड कपाटेन ईर्ज पंथ सुसमयं ।
विन्यान न्यान सुद्धं, सिद्धं संसार सरनि विलयं च ॥ ५२८ ॥
षिपिऊन कम्म तिविहं, षडी सुभावेन न्यान उववंनं ।
सुद्ध सहावं पिच्छदि, कम्मानं बन्ध नंत विलयंति ॥ ५२९ ॥**

अन्वयार्थ - (षिपनिक भाव संजुतं) क्षायिक भाव में लीन रहने से (दण्ड कपाटेन ईर्ज पंथ सुसमयं) जब केवली समुद्घात होता है, तब दंड, कपाट, प्रतर, लोक पूरण रूप से आत्मा के प्रदेश सर्व लोकाकाश में फैल जाते हैं और अपने में संकुचित हो जाते हैं (विन्यान न्यान सुद्धं) इससे शुद्ध ज्ञानमयी आत्मा के प्रदेश, विज्ञान घन रूप शुद्ध हो जाते हैं (सिद्धं संसार सरनि विलयं च) आयु कर्म के पूर्ण होते ही सिद्ध पद हो जाता है, सारे संसार का परिभ्रमण छूट जाता है और शेष अघातिया कर्म भी क्षय हो जाते हैं ।

(षिपिऊन कम्म तिविहं) तीनों प्रकार के कर्म- द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म क्षय हो जाते हैं (षडी सुभावेन न्यान उववंनं) खडिया के समान श्वेत व शुद्ध स्वभाव का ज्ञान पैदा होता है (सुद्ध सहावं पिच्छदि) ऐसे अपने शुद्ध स्वभाव को जानने पहिचानने, उसमें रहने से (कम्मानं बन्ध नंत विलयंति) अनंत कर्मों के बंध विला जाते हैं ।

विशेषार्थ - केवलज्ञान प्रगट होने पर जब आत्मा अपने क्षायिक भाव में रहता है तब आयु के अंत में केवली समुद्घात होता है जिसमें दंड, कपाट, प्रतर, लोक पूरण रूप से आत्मा के प्रदेश सर्व लोकाकाश में फैल जाते हैं और अपने में संकुचित हो जाते हैं । इससे शुद्ध ज्ञानमयी आत्मा के प्रदेश विज्ञानघन रूप शुद्ध हो जाते हैं, तब आयुर्कर्म के पूर्ण होते ही शेष अघातिया कर्म भी क्षय हो जाते हैं, संसार परिभ्रमण विला जाता है, सिद्ध पद प्रगट हो जाता है ।

जो निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र आत्म स्वभाव को और उसके विकार करने वाले बंध के स्वभाव को जानकर, बंधों से विरक्त होता है वही समस्त कर्मों से मुक्त होता है ।

जब केवली अरिहंत परमात्मा के आयुर्कर्म की स्थिति कम हो व शेष कर्मों की स्थिति अधिक हो तब आयुर्कर्म के बराबर शेष अघातिया कर्मों की स्थिति करने के लिये आठ समय में केवली समुद्घात होता है फिर चौदहवें

गुणस्थान में जाकर सर्व शेष कर्मों का क्षय होकर सिद्ध हो जाते हैं ।

जैसे-खडिया बिल्कुल श्वेत होती है वैसे ही आत्मा का निज भाव बिल्कुल शुद्ध वीतराग है । कषायों के रंग से रंजित नहीं है । इसी शुद्धोपयोग भाव में रमण करने से अनंत कर्मों के बंध विला जाते हैं, अरिहंत व सिद्धपद हो जाता है ।

जैसे-श्वेत गुण से परिपूर्ण स्वभाव वाली कलई स्वयं दीवार आदि पर द्रव्य के स्वभाव रूप परिणमित न होती हुई और दीवार आदि पर द्रव्य को अपने स्वभाव रूप परिणमित न कराती हुई, दीवार आदि पर द्रव्य जिसको निमित्त हैं, ऐसे अपने श्वेत गुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई कलई जिसको निमित्त है, ऐसे दीवार आदि के स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए दीवार आदि पर द्रव्य को अपने खडिया के स्वभाव से श्वेत करती है ऐसा व्यवहार किया जाता है । इसी प्रकार शुद्धनय से आत्मा का एक चेतना मात्र स्वभाव है, उसके परिणाम देखना जानना, श्रद्धा करना, निवृत्त होना इत्यादि हैं । वहां निश्चय नय से विचार किया जाये तो आत्मा को पर द्रव्य का ज्ञायक नहीं कहा जा सकता, दर्शक नहीं कहा जा सकता क्योंकि पर द्रव्य के और आत्मा के निश्चय से कोई संबंध ही नहीं है ।

जैसे-चांदनी पृथ्वी को उज्ज्वल करती है किंतु पृथ्वी चांदनी की किंचित् मात्र भी नहीं होती, इसी प्रकार ज्ञान ज्ञेय को जानता है किंतु ज्ञेय ज्ञान का किंचित् मात्र भी नहीं होता । आत्मा ज्ञान स्वभावी है इसलिये उसकी स्वच्छता में ज्ञेय स्वयमेव झलकता है किंतु ज्ञान में उन ज्ञेयों का प्रवेश नहीं होता ।

ऐसा सर्व विशुद्ध ज्ञान जिसको प्रगट होता है, जो अपने शुद्ध स्वभाव को जानता है, उसके अनंत कर्मों का बंध विला जाता है तथा तीनों कर्मों का क्षय हो जाता है ।

प्रश्न - यह स्थिति कब और कैसे बनती है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

**कमल सुभाव संजुतं, षिपिओ कम्मान तिविहि जोएन ।
गगनं तु नंत दिट्ठं, घन नन्त दिट्ठि कम्म विलयंति ॥ ५३० ॥
नन्त प्रकारं जाने, चरनं चरंति सुद्ध दंसनं ममलं ।
नन्दं परमानन्दं, जाता उववन्न कम्म षिपनं च ॥ ५३१ ॥**

ज्ञानारूढ सुभावं, नाना प्रकार नन्त परिनामं ।

टूटंति मिच्छ भावं, टंकारं मुक्ति कम्म षिपनं च ॥ ५३२ ॥

अन्वयार्थ - (कमल सुभाव संजुतं) कमल स्वभाव, ज्ञायक भाव प्रगट होने पर (षिपिओ कम्मान तिविहि जोएन) त्रिविध योग से अर्थात् मन वचन काय की गुप्ति से कर्मों का क्षय हो जाता है (गगनं तु नंत दिट्ठं) आकाश समान अनंत चतुष्टय स्वरूप दिखता है (घन नन्त दिट्ठि कम्म विलयंति) जैसे आकाश में बादल के समूह देखते ही देखते विला जाते हैं वैसे ही सब कर्म विला जाते हैं ।

(नन्त प्रकारं जाने) वह पदार्थों के अनंत भेद जानता है (चरनं चरंति सुद्ध दंसनं ममलं) वह शुद्ध दर्शन से ममल स्वभाव में आचरण करता है (नन्दं परमानन्दं) आत्मा आनंद परमानंद में मगन रहता है (जाता उववन्न कम्म षिपनं च) ज्ञाता स्वभाव पैदा होते ही कर्म क्षय हो जाते हैं ।

(ज्ञानारूढ सुभावं) जब आत्मा ज्ञान पूर्वक स्वभाव के ध्यान में आरूढ होता है (नाना प्रकार नन्त परिनामं) तब नाना प्रकार के अनंत परिणाम (टूटंति मिच्छ भावं) और मिथ्या भाव टूट जाते हैं, चकनाचूर हो जाते हैं (टंकारं मुक्ति कम्म षिपनं च) मुक्ति की टंकार अर्थात् मुक्त होने की दृढ़ता होने से सब कर्म क्षय हो जाते हैं ।

विशेषार्थ - कमल स्वभाव ज्ञायक भाव प्रगट होने पर जब मन वचन काय से उपयोग हट जाता है तब कर्मों का क्षय होता है । आकाश समान अपने अनंत चतुष्टय स्वरूप को देखने पर, जैसे-आकाश में बादलों का समूह देखते ही देखते विला जाता है वैसे ही सब कर्म विला जाते हैं ।

ज्ञाता स्वभाव प्रगट होने से स्व-पर का यथार्थ स्वरूप जानने में आता है, अपने शुद्ध ममल स्वभाव के दर्शन संयमाचरण चारित्र होने से आनंद परमानंद में मगन रहता है, इससे सब कर्म क्षय होते हैं ।

शुद्धोपयोग में लीन होने से सर्व ही रागादि भाव व अज्ञानमयी भाव नष्ट हो जाते हैं तथा केवलज्ञान का प्रकाश होता है तब ही यह टंकार दृढ़ता होती है कि आत्मा मुक्त होगा तब शीघ्र ही शेष कर्म क्षय हो जाते हैं और आत्मा परिपूर्ण शुद्ध मुक्त सिद्ध परमात्मा हो जाता है ।

मैं एक अखंड ज्ञायक मात्र हूं, विकल्प का एक अंश भी मेरा नहीं है, ऐसा स्वाश्रय ज्ञायक भाव होना वह मुक्ति का कारण है ।

अति अल्पकाल में जिसे संसार परिभ्रमण से मुक्त होना है, ऐसे अति आसन्न भव्य जीव को निज परमात्मा के सिवाय अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है । जिसमें कर्म की कोई अपेक्षा नहीं है, ऐसा जो अपना शुद्ध परमात्म तत्त्व उसका आश्रय करने से सम्यक्दर्शन होता है और उसी का आश्रय करने से सम्यक्चारित्र होता है और उसी का आश्रय करने से अल्पकाल में मुक्ति होती है ।

स्वानुभूति होने पर स्व-पर का यथार्थ स्वरूप समझ में आता है । सम्यक्ज्ञान होने पर ज्ञायक भाव प्रगट होता है, जिसमें अनाकुल आल्हादमय, एक समस्त ही विश्व पर तैरता विज्ञान घन परम पदार्थ परमात्मा अनुभव में आता है । अंतर में स्व संवेदन ज्ञान खिला वहां स्वयं को उसका वेदन हुआ फिर कोई दूसरा उसे जाने या न जाने, उसकी ज्ञानी को अपेक्षा नहीं है । वह तो स्वयं अंतर में अकेला-अकेला अपने एकत्व में आनंद परमानंद रूप से परिणमित हो ही रहा है इससे पूर्व कर्म बंधोदय क्षय होते हैं ।

शुद्ध चैतन्य ज्ञायक प्रभु की दृष्टि, ज्ञान तथा अनुभव वह साधक दशा है । उससे पूर्ण साध्य दशा, सिद्ध स्वरूप प्रगट होता है । साधक दशा है तो निर्मल ज्ञान धारा परंतु वह भी आत्मा का मूल स्वभाव नहीं है क्योंकि वह साधनामय अपूर्ण पर्याय है । ज्ञायक प्रभु पूर्णानंद का नाथ सच्चिदानंदघन परमात्मा है, उस निज पूर्णानंद प्रभु की साधना, परमानंद स्वरूप में एकाग्रता होने से सब कर्म क्षय होकर मुक्ति सिद्ध पद की प्राप्ति होती है ।

प्रश्न-इसके लिये अपने को क्या करना चाहिये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

ममात्मा सुकिय सुभावं, ममात्मा सुद्धात्म राग षिपनं च ।

निम्मल ममल सहावं, कम्मं षिपिऊन निव्वुए जंति ॥ ५३३ ॥

अन्वयार्थ - (ममात्मा सुकिय सुभावं) मेरा आत्मा निश्चय से अपने ही स्वभाव में रहता है, स्वकृत, अनादि निधन सुख स्वभाव वाला है (ममात्मा सुद्धात्म राग षिपनं च) मेरा आत्मा ही शुद्धात्मा है इसी भाव से राग का क्षय हो जाता है (निम्मल ममल सहावं) वीतराग शुद्ध केवलज्ञान मय ममल स्वभाव है (कम्मं षिपिऊन निव्वुए जंति) इससे सारे कर्म क्षय होकर निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

विशेषार्थ - अपने स्वरूप का स्वाभिमान बहुमान जगाना कि मेरा

आत्मा स्वभाव से अनादि निधन सुख स्वभाव वाला है। मेरा आत्मा ही शुद्धात्मा है, इससे सारे रागादि भाव क्षय हो जाते हैं। मैं वीतराग विज्ञान मयी केवलज्ञान स्वरूप, ममल स्वभावी भगवान आत्मा हूँ। इस दृढ़ श्रद्धान सहित अपने में अभय स्वस्थ रहने से सारे कर्म क्षय होकर निर्वाण की प्राप्ति होती है। मोक्ष केवल एक अपने ही आत्मा की पर के संयोग रहित शुद्ध अवस्था का नाम है। उसका उपाय भी निश्चयनय से यही है कि अपने आत्मा का शुद्ध अनुभव किया जाये तथा श्री जिनेन्द्र परमात्मा या सिद्ध परमात्मा के समान ही अपने को माना जाये। जब ऐसा माना जायेगा तब अनादि की मिथ्या वासना, मिथ्या मान्यता का अभाव होगा।

अनादि से यही मिथ्या बुद्धि, मिथ्या मान्यता रही कि मैं नर नारकी तिर्यच आदि पर्याय वाला हूँ, यह शरीर ही मैं हूँ, यह शरीरादि संयोग मेरे हैं, मैं इन सबका कर्ता हूँ। सद्गुरु कृपा वीतराग देव की वाणी से अपने स्वरूप का बोध जागा, यह प्रतीति हुई कि मैं स्वयं भगवान आत्मा, सच्चिदानंद घन, परमब्रह्म परमात्मा हूँ। मेरा स्वरूप सिद्ध परमात्मा के समान है, रंचमात्र भी कम नहीं है। मैं ममल स्वभावी, ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा हूँ, ऐसा अपने स्वरूप का स्वाभिमान, बहुमान जागने से रागादि भाव और सब कर्मोदय विला जाते हैं, क्षय हो जाते हैं।

जो वह है सो मैं हूँ, जो मैं हूँ सो वह है, इस तरह जो योगी निरंतर अनुभव करता है, वही मोक्ष का साधक होता है।

अपने बांधे हुए कर्मों के फल को भोगता हुआ भी उस फल के भोगने में जो जीव राग-द्वेष को प्राप्त नहीं होता वह फिर कर्म को नहीं बांधता। शुद्धात्म स्वरूप के आश्रय से पहले बांधे हुए कर्म भी क्षय हो जाते हैं।

पूर्व अज्ञान दशा में जो शुभाशुभ कर्मों का बंध किया, उनको भोगते हुए भी, जो जीव निज शुद्धात्मा वीतराग चिदानंद परम स्वभाव रूप परमात्म तत्त्व की भावना से उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख रूप अमृत से तृप्त हुआ, जो रागी-द्वेषी नहीं होता वह जीव फिर ज्ञानावरणादि कर्मों को नहीं बांधता है। नये कर्मों के बंध का अभाव होने से प्राचीन कर्मों की निर्जरा ही होती है। यह संवर पूर्वक निर्जरा ही मोक्ष का मूल है।

जो निर्विकल्प आत्म भावना से शून्य है वह शास्त्र को पढ़ता हुआ तथा तपश्चरण करता हुआ भी परमार्थ को नहीं जानता है। जो शास्त्र को पढ़कर

भी विकल्प को नहीं छोड़ता और निश्चय से शुद्धात्मा को नहीं मानता, जो कि शुद्धात्म देव, देहरूपी देवालय में मौजूद है, उसे नहीं ध्याता वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है।

प्रश्न- ज्ञानी ज्ञायक किसे कहते हैं ?

इसे समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

कमल सुभाव स उत्तं, कम्मं षिपिऊन सरनि संसारे।

अनेय प्रकार सुदिट्ठी, कल लंक्रित कम्म राग षिपनं च ॥ ५३४ ॥

अन्वयार्थ - (कमल सुभाव स उत्तं) कमल स्वभाव ज्ञायक उसे ही कहते हैं (कम्मं षिपिऊन सरनि संसारे) जिससे संसार में भ्रमण कराने वाले कर्म क्षय हो जावें (अनेय प्रकार सुदिट्ठी) अनेक प्रकार की शुद्ध दृष्टि प्रगट हो जावे (कल लंक्रित कम्म राग षिपनं च) शरीर संबंधी सर्व कर्म व सर्व राग क्षय हो जावे।

विशेषार्थ - प्रफुल्लित, आनंदमय, निश्चय रत्नत्रय स्वरूप शुद्ध उपयोग ही आत्मा का कमल स्वभाव है। वह ज्ञानी ज्ञायक है, जिसके प्रताप से सर्व विभावभाव व सर्व कर्म गल जाते हैं और यह आत्मा परमात्मा हो जाता है।

जो हेय, उपादेय तत्त्व को जानकर, परम शांत भाव में स्थित होकर, निःकषाय भाव प्रगट हुआ और निज शुद्धात्मा में जिनकी लगन हुई वे ही ज्ञानी ज्ञायक है। जो कोई वीतराग स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञानी जीव आराधने योग्य निज पदार्थ और त्यागने योग्य रागादि सकल विभावों को मन में जानकर शांत भाव में तिष्ठते हैं और जिनकी लगन निज शुद्धात्म स्वभाव में हुई है, उनका संसार परिभ्रमण और सब रागादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म क्षय हो जाते हैं।

प्रश्न - यह सब कैसे होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

कारन कार्ज उपत्ती, नंतानंत दिट्ठि सम दिट्ठि।

न्यानं ममल सुसमयं, उववन्नं इस्त अनिस्त विलयं च ॥ ५३५ ॥

अन्वयार्थ - (कारन कार्ज उपत्ती) जैसा कारण होता है, वैसे कार्य की उत्पत्ति होती है (नंतानंत दिट्ठि सम दिट्ठि) अपने अनंत चतुष्टय स्वरूप

को देखने वाली दृष्टि ही शुद्ध दृष्टि, सम दृष्टि है (न्यानं ममल सुसमयं) ज्ञान में अपना ममल शुद्धात्म स्वरूप आया (उववन्नं इस्ट अनिस्ट विलयं च) अपना इष्ट स्वरूप प्रगट हुआ, वहां सारे अनिष्ट विला जाते हैं।

विशेषार्थ - जैसा कारण होता है, वैसा कार्य होता है। जब अपनी दृष्टि विभाव रूप होती है, पर पर्याय को देखती है तब कर्मों का आश्रव बंध होता है तथा अपनी दृष्टि अपने शुद्ध ममल स्वभाव अनंत चतुष्टय स्वरूप को देखती है तब कर्मों की संवर पूर्वक निर्जरा होती है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

केवलज्ञानादि अनंत गुणों की राशि आत्मा है तथा मिथ्यात्व रागादि अंतर के भाव तथा देहादि बाहर के परभाव यह सब आत्मा से विलक्षण परभाव हैं, इनको छोड़कर जो साधक अपने केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टय रूप कारण समयसार का चिंतन-ध्यान करता है, वह कार्य समयसार निज शुद्धात्म तत्त्व सिद्ध स्वरूप को उपलब्ध करता है। अपने इष्ट के प्रगट होने पर अनिष्ट अपने आप विला जाते हैं।

यह आत्मा वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान में परिणत हुआ अंतरात्मा होकर अपने को अनुभवता हुआ, वीतराग सम्यक्दृष्टि होता है, तब सम्यक्दृष्टि होने के कारण से ज्ञानावरणादि कर्मों से शीघ्र ही छूट जाता है, रहित हो जाता है। यहां जिस हेतु वीतराग सम्यक्दृष्टि होने से यह जीव कर्मों से छूटकर सिद्ध हो जाता है इसी कारण वीतराग चारित्र के अनुकूल जो शुद्धात्मानुभूति रूप वीतराग सम्यक्त्व है वही ध्यावने योग्य है, ऐसा अभिप्राय है।

प्रश्न - आत्मा और कर्म में बड़ा कौन है, विशेषता किसकी है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

दीर्घ सहाव सुसमयं, दीर्घ सुभाव राग विलयं च।

नेयं च न्यान रूवं, षादं स्वादं च कम्म षिपनं च ॥ ५३६ ॥

माया सरनि अनन्तं, माया कम्मान अनंत मोहंधं।

छीनंति न्यान रूवं, छीनंति अनिस्ट सरनि संसारे ॥ ५३७ ॥

अन्वयार्थ - (दीर्घ सहाव सुसमयं) बड़ा अपना शुद्धात्म स्वभाव ही है इसी की विशेषता है (दीर्घ सुभाव राग विलयं च) श्रेष्ठ स्वभाव शुद्धोपयोग से राग विला जाता है (नेयं च न्यान रूवं) ज्ञान स्वभाव के प्रगट होते ही (षादं

स्वादं च कम्म षिपनं च) कर्ता भोक्तापने के भाव और सारे कर्म क्षय हो जाते हैं।

(माया सरनि अनन्तं) माया का चक्र भी अनंत है (माया कम्मान अनंत मोहंधं) यह माया अनंत कर्मों द्वारा दर्शन मोह से अंधा करने वाली है (छीनंति न्यान रूवं) परंतु ज्ञानस्वरूप के प्रगट होते ही क्षय हो जाती है, विला जाती है (छीनंति अनिस्ट सरनि संसारे) और अनिष्टकारी संसार परिभ्रमण भी समाप्त हो जाता है।

विशेषार्थ - अपना शुद्धात्म स्वरूप ही श्रेष्ठ है जो अनादि निधन अविनाशी है। कर्म तो सब नाशवान क्षणभंगुर हैं। अपने शुद्धात्म स्वरूप का ज्ञान प्रगट होते ही सब राग भाव, कर्ता भोक्तापन और सब कर्म बंधोदय क्षय हो जाता है।

वैसे माया का चक्र भी अनंत है, जब तक अपने आत्म स्वरूप का बोध नहीं जागता है, तब तक इस माया के चक्र में अनंतकर्मों का बंध होता है और दर्शन मोह में जीव अंधा रहता है परंतु अपने ज्ञान का प्रकाश होते ही यह सब माया का चक्र और संसार परिभ्रमण समाप्त हो जाता है।

यह जीव अनादिकाल की परिपाटी से ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय के साथ परिणमन करता हुआ जो अपने अशुद्ध परिणाम करता है, उन्हीं का यह अज्ञानी जीव अपने को कर्ता तथा भोक्ता मान लेता है कि मैंने अच्छा किया या बुरा किया या मैं सुखी हूं या दुःखी हूं। इस अज्ञानमयी जीव के परिणामों का निमित्त पाकर दूसरी पौद्गलिक कर्मवर्गणायें स्वयं कर्म रूप होकर बंध जाती हैं। जब यह जीव स्वयं अपने अशुद्ध भावों में परिणमन करता है, उस समय पूर्व में बंधा पौद्गलिक कर्म उदय में आकर उस अशुद्ध भाव का निमित्त होता है। इस तरह कर्म फल भावों को व कर्मों के बंध को व कर्म के उदय को बहिरात्मा अपना मान लेता है।

निश्चय से आत्मा उन सब कर्म कृत भावों से जुदा है तो भी अज्ञानी जीव को यही प्रतिभास या भ्रम रहता है कि यह सब भाव, यह विकारी दशा मेरी ही है। यही माया का चक्र है जो संसार परिभ्रमण कराता है।

ज्ञानी अपने शुद्धात्म स्वरूप को जानता है इसलिये रागादि भावों को अपने नहीं मानता और उनका कर्ता नहीं होता, इससे यह रागादि भाव और सब कर्म क्षय हो जाते हैं। आत्मा का संबंध किसी परवस्तु से नहीं है। यह

आत्मा अपने ही ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि गुणों का स्वामी है। इस आत्मा का भोजन पान आदि अतीन्द्रिय आनंद, अमृत रस है। यह मात्र शुद्ध ज्ञान का स्वाद लेने वाला है। इसमें निश्चय से राग-द्वेष रूप कार्य करने तथा सुख-दुःख भोगने रूप कर्म फल चेतना नहीं है।

सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान का प्रकाश होते ही माया का चक्कर और सब कर्म बंधोदय क्षय हो जाते हैं, संसार परिभ्रमण छूट जाता है।

प्रश्न - जब यह आत्मा श्रेष्ठ है, कर्म नाशवान हैं फिर यह चक्कर क्यों चल रहा है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

नो लब्ध लब्ध लब्धं, नो कम्मान पज्जाव गलियं च ।

रितियं अद सहावं, गिरा उववन्न नंत विमलं च ॥ ५३८ ॥

गगन सुभाव उवन्नं, गलंति पर भाव पज्जाव अनिस्टं ।

हलवं ति कम्म भारं, दण्ड कपाटेन नन्त दंसनं चरनं ॥ ५३९ ॥

अन्वयार्थ - (नो लब्ध लब्ध लब्धं) मन वचन काय से न जानने योग्य आत्मा जब अनुभव में आ जाता है अर्थात् जब शुद्धात्मानुभव पैदा हो जाता है (नो कम्मान पज्जाव गलियं च) तब शरीरादि नोकर्म रूप पर्याय गलने लगती है (रितियं अद सहावं) अपने शुद्धात्म स्वभाव में रमण होते ही (गिरा उववन्न नंत विमलं च) अनंत निर्मल केवलज्ञान स्वरूप दिव्यध्वनि प्रगट हो जाती है।

(गगन सुभाव उवन्नं) जब आकाश के समान निर्लेप निर्विकार स्वभाव प्रगट होता है (गलंति पर भाव पज्जाव अनिस्टं) तब सब अनिष्टकारी रागादि भावों की परिणतियां गल जाती हैं (हलवं ति कम्म भारं) कर्मों का भार हल्का हो जाता है (दण्ड कपाटेन नन्त दंसनं चरनं) मन वचन काय के निरोध भाव से अर्थात् शुक्लध्यान से अनंत दर्शन व यथाख्यात चारित्र प्रगट हो जाता है।

विशेषार्थ - धर्म उसे ही कहते हैं जो संसार के दुःखों से कर्मबंधनों से छुड़ाकर मोक्ष प्राप्त करा दे, वह धर्म रत्नत्रय स्वरूप है, रत्नत्रय के भाव से ही नवीन कर्मों का संवर होता है व पूर्व कर्मों की निर्जरा होती है। यह रत्नत्रय निश्चय से एक आत्मीक शुद्ध भाव है, आत्म तल्लीनता है, स्वसंवेदन है, स्वानुभव है। जहां अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वभाव का श्रद्धान, ज्ञान, उसमें ही लीनता है, इसको आत्मदर्शन कहते हैं। यही एक धर्म रसायन है, अमृत

रस का पान है, जिसके पीने से स्वाधीनपने परमानंद का लाभ होता है और शीघ्र ही कर्मों से मुक्त होकर शुद्ध निर्मल पूर्ण निज स्वभावमय होकर सदा ही ज्ञानानंद में मगन रहता है।

मन वचन काय से न जानने योग्य आत्मा जब अनुभव में आता है तब शरीरादि पर्यायी भाव गलने लगता है। शुद्धात्म स्वरूप में रमण होते ही कर्म क्षय होने लगते हैं। घातिया कर्मों का क्षय होने पर केवलज्ञान स्वभाव प्रगट हो जाता है।

केवलज्ञानी परमात्मा अपने परमानंद में मगन रहते हैं तब शरीरादि नोकर्म, रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म अपने आप क्षय होते जाते हैं। आयु पूर्ण होते ही सब कर्मों से मुक्त सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं।

ऐसा आत्म पुरुषार्थ जाग्रत करो तो यह सब चक्कर समाप्त हो जायेगा। आत्मा स्वभाव से आकाश के समान निर्मल, निर्लेप है। जब ज्ञानी साधक का उपयोग इसी श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र में जम जाता है तब भावकर्म नहीं रहते, घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं और केवलज्ञान प्रगट हो जाता है तथा शरीरादि संयोग के छूटते ही सिद्ध परमात्मा हो जाता है। जहां यह सब संसार परिभ्रमण, कर्मों का चक्कर विला जाता है।

प्रश्न - इसके लिये क्या करें ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

उत्पन्न उर्थ सुद्धं, उवलब्धं अद सहाव पर विलयं ।

रिजु विपुलं च सहावं, दिस्टं इस्टी संजुत्त अनिस्ट नहु दिट्ठं ॥ ५४० ॥

लब्धं ममल सहावं, लंक्रित सदब्ब पर दब्ब नहु पिच्छं ।

हींकार सुद्ध उवन्नं, हुंत पर भाव विपिय मोहंधं ॥ ५४१ ॥

अन्वयार्थ - (उत्पन्न उर्थ सुद्धं) अपना श्रेष्ठ शुद्ध स्वभाव प्रगट करो (उवलब्धं अद सहाव पर विलयं) आत्म स्वभाव के उपलब्ध होने पर सब पर संयोग विला जाते हैं (रिजु विपुलं च सहावं) आत्मा का स्वभाव सरल व विशाल है अथवा आत्मज्ञान होने से रिजुमति, विपुलमतिज्ञान प्रगट होता है (दिस्टं इस्टी संजुत्त अनिस्ट नहु दिट्ठं) अपने इष्ट स्वरूप को देखने से अनिष्ट रूप पर पर्याय नहीं दिखती।

(लब्धं ममल सहावं) जब ममल स्वभाव प्राप्त हो गया अर्थात् अनुभव में

आ गया (लंक्रित सद्व्य परद्व्य नहु पिच्छं) तो स्वद्रव्य से भरपूर, अलंकृत रहो, परद्रव्य को मत देखो (हींकार सुद्ध उवन्नं) इससे तीर्थकर स्वरूप प्रगट होगा (हुंत परभाव षिपिय मोहंधं) इससे परभाव नष्ट हो जाते हैं और दर्शन मोहंध भी क्षय हो जाता है।

विशेषार्थ - अपनी आत्मशक्ति जाग्रत करो, श्रेष्ठ शुद्ध स्वभाव प्रगट करो। आत्म जागरण होने पर सब परभाव विला जाते हैं। अपना स्वभाव तो सरल और विशाल है, ऋजुमति, विपुलमति ज्ञानवाला है। अपने इष्ट स्वभाव में लीन रहो, अब यह कर्मोदय जन्य पर्यायी परिणमन को मत देखो।

जब अपने ममल स्वभाव का अनुभव हो गया, प्राप्त हो गया तो स्वद्रव्य में रहो, परद्रव्य की तरफ मत देखो। अपने शुद्ध ममल स्वभाव में रहने से तीर्थकर स्वरूप केवलज्ञान शुद्ध स्वभाव प्रगट होता है, जिससे सारे परभाव नष्ट हो जाते हैं और दर्शन मोहंध भी क्षय हो जाता है।

जिसको मुक्त होने की भावना है, जो सिद्ध परम पद चाहता है, चारों गतियों की सर्व कर्म जनित दशाओं को त्यागने योग्य समझता है, जो अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य अनंत चतुष्टय प्राप्त करना चाहता है, यही परमइष्ट, परम लाभकारी है, जो निश्चय से जानता है कि मैं परिपूर्ण शुद्ध सिद्ध के समान शुद्धात्मा हूँ, व्यवहार दृष्टि में कर्म का संयोग है, सो त्यागने योग्य है, जो संसार वास में क्षण मात्र भी नहीं रहना चाहता है, वह सम्यक्दृष्टि ज्ञानी है। वह जानता है कि निर्वाण का उपाय मात्र एक अपने ही शुद्ध आत्मा के शुद्ध स्वभाव में रमण करना है, इसी से तीर्थकर केवलज्ञान स्वरूप प्रगट होता है।

जब तक चित्त परद्रव्य के व्यवहार में रहता है, परभावों में संलग्न रहता है तब तक भव्य जीव कठिन-कठिन तप करता हुआ भी मोक्ष को नहीं पाता है।

सम्यक्दृष्टि जीव सदा ही भेदविज्ञान के द्वारा अपने शुद्धात्मा को भिन्न ध्याता है। धीरे-धीरे ममल स्वभाव की साधना करता है फिर साधुपद से क्षापक श्रेणी पर आरुढ़ होकर मोह का व शेष ज्ञानावरणादि कर्मों का पूर्ण क्षय करके केवलज्ञानी अरिहंत परमात्मा हो जाता है तब अविनाशी अनंत सुख का भोगने वाला हो जाता है इसलिये मुमुक्षु को पुरुषार्थ पूर्वक अपनी आत्म शक्ति जाग्रत कर निज शुद्धात्मा का स्मरण, ध्यान, साधना, आराधना

करना चाहिये, इसी से मोक्ष पद की प्राप्ति होती है।

प्रश्न - यह कर्म संयोग, त्रिविध कर्म कैसे छूटते हैं, कब छूटते हैं ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

दण्ड कपाटं ममलं, नासंति त्रिविहि कम्मान नेय बंधानं।

रेहंति इष्ट रूवं, नू उत्पन्न न्यान नट्ट कम्मानं ॥ ५४२ ॥

वरं च अद सहावं, वर दंसन न्यान चरन ममलं च।

दुट्ट नट्ट कम्मं, डेभं परभाव परमुहो जोगी ॥ ५४३ ॥

हंतून कम्म दोसं, अनन्त विषेसेन अद सहकारं।

चेयन अनन्त रूवं, उत्पन्नं पर दव्व भाव विलयं च ॥ ५४४ ॥

अन्वयार्थ - (दण्ड कपाटं ममलं) अपने ममल स्वभाव की स्थिरता रूप केवलज्ञान होने पर, केवली समुदघात दण्ड, कपाट, प्रतर, लोकपूरण होता है तब (नासंति त्रिविहि कम्मान नेय बंधानं) तीनों प्रकार के कर्म और सब कर्म संयोग छूट जाते हैं (रेहंति इष्ट रूवं) अपने इष्ट स्वरूप में रहने से (नू उत्पन्न न्यान नट्ट कम्मानं) घातिया कर्मों के क्षय होने पर उत्कृष्ट केवलज्ञान प्रगट होता है।

(वरं च अद सहावं) श्रेष्ठ आत्मा का स्वभाव तथा (वर दंसन न्यान चरन ममलं च) श्रेष्ठ दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वरूप ममल स्वभाव में रहने से (दुट्ट नट्ट कम्मं) दुष्ट आठों ही कर्म नष्ट हो जाते हैं (डेभं परभाव परमुहो जोगी) अपने स्वरूप में स्थित योगी की परभाव और परोन्मुखी दृष्टि ढह जाती है अर्थात् विला जाती है।

(हंतून कम्म दोसं) कर्म कलंक के नष्ट होने पर (अनन्त विषेसेन अद सहकारं) आत्मा की अनंत विशेषतायें प्रगट हो जाती हैं (चेयन अनन्त रूवं) चैतन्य मय अनंत स्वरूप झलकने लगता है (उत्पन्नं पर दव्व भाव विलयं च) परद्रव्य के भाव पैदा होना ही विला जाते हैं।

विशेषार्थ - क्षायिक सम्यक्दृष्टि जीव चार अनंतानुबंधी कषाय और दर्शन मोह की प्रकृतियों को क्षय कर देता है तब क्षायिक सम्यक्त्व व स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होता है। इन शक्तियों के प्रगट होने पर जब कभी

ज्ञानी अपने उपयोग को अपने आत्मा में स्थिर करता है, तब ही स्वरूप का अनुभव आता है व अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आता है, अविरत सम्यक्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में भी इस सुख का प्रकाश हो जाता है फिर यह क्षायिक सम्यक्दृष्टि ज्ञानी जितना-जितना स्वानुभव का अभ्यास करता है, उतना कषाय और कर्मों का क्षय होता जाता है तथा अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव बढ़ता जाता है।

पांचवें देशसंयम गुणस्थान में अप्रत्याख्यान कषाय का उदय नहीं होता है, तब चौथे गुणस्थान की अपेक्षा अधिक निर्मल आत्मानुभूति होती है। छठे प्रमत्त गुणस्थान में प्रत्याख्यान कषाय का भी उदय नहीं रहता है तब और अधिक अतीन्द्रिय सुख वेदन में आता है। सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में संज्वलन कषाय का मंद उदय रहता है तब और भी अधिक ममल स्वभाव अतीन्द्रिय आनंद की अनुभूति होती है, कर्मों की सत्ता शक्ति क्षय होती जाती है। आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में संज्वलन कषाय का अति मंद उदय होता है तब और अधिक आत्मानुभूति अतीन्द्रिय आनंद बढ़ता जाता है। नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में अतिशय मंद कषाय का उदय रहता है तथा वीतराग भाव रूप ध्यान की अग्नि बढ़ती जाती है। उस कारण से योगी अनिवृत्तिकरण के दूसरे भाग में अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ व प्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ इन आठ कषाय कर्मों की सत्ता का क्षय कर देता है। तीसरे भाग में नपुंसक वेद का, चौथे भाग में स्त्री वेद का, पांचवें भाग में हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छह नो कषायों का तथा छठवें भाग में पुरुष वेद का, सातवें भाग में संज्वलन क्रोध का, आठवें भाग में संज्वलन मान का, नौवें भाग में संज्वलन माया का क्षय कर देता है तथा दसवें सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ का भी क्षय हो जाता है, तब बारहवें गुणस्थान में जाकर यथाख्यात चारित्र प्रगट होता है, मोहनीय कर्म क्षय हो जाता है।

जब योगी द्वितीय शुक्लध्यान में होता है तब ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय तीनों कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाता है। तब तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञानी अरिहंत परमात्मा हो जाता है।

केवलज्ञानी परमात्मा के चार घातिया कर्मों का क्षय होने से अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, अनंत वीर्य, अनंत सुख

गुण प्रगट हो जाता है परंतु चार अघातिया कर्मों का उदय व उनकी सत्ता विद्यमान है।

अरिहंत परमात्मा का जब आयुर्कर्म समाप्त होता है तब केवली समुद्घात में दंड, कपाट, प्रतर, लोकपूरण से शेष अघातिया कर्मों का क्षय होता है, चौदहवें गुणस्थान में शेष कर्मबंध तथा तीनों कर्मों की सत्ता समाप्त हो जाती है तब यह आत्मा पूर्ण शुद्ध मुक्त सिद्ध परमात्मा हो जाता है।

सिद्ध परमात्मा सब कर्मों से रहित प्रगटपने शुद्धात्मा हैं, वहाँ शरीरादि किसी भी पुद्गल पर द्रव्य का संयोग नहीं है। वे निरंजन निर्विकार हैं, परम कृत कृत्य निश्चल परमानंद मय हैं, ऐसा ही अपने आत्मा का स्वरूप है और सर्व कर्मों से रहित होने का यह मार्ग है।

प्रश्न - यह सब सुनने जानने पर बड़ा आनंद आता है परंतु मन बीच में बाधा डाल देता है, इसका क्या उपाय किया जाये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

इष्ट संजोय सरूवं, इष्टं परिनाम अनिष्ट विरयंमि।

कमलस्य सहज आनन्दं, कल लंकित कर्म कृत्य विरयंति ॥ ५४५ ॥

मन विलयं ससहावं, ममात्मा सुद्ध सहाव ममलं च।

तत्काल कम्म गलियं, दोषं परदव्व परमुहो तंपि ॥ ५४६ ॥

दुबुहि उवन्नं विरयं, दुकृत पर दव्व भाव गलियं च।

मान परमान सुद्धं, ममात्मा न्यान सहाव समयं च ॥ ५४७ ॥

अन्वयार्थ - (इष्ट संजोय सरूवं) शुद्धोपयोग रूप अपने स्वरूप को संजोओ अर्थात् शुद्धोपयोग की साधना करो (इष्टं परिनाम अनिष्ट विरयंमि) इष्ट परिणाम, शुद्धोपयोग से सर्व रागादि अनिष्ट भाव छूट जाते हैं (कमलस्य सहज आनन्दं) कमल के समान प्रफुल्लित सहजानंद में रहने से (कल लंकित कर्म कृत्य विरयंति) शरीर सम्बंधी सर्व क्रियाकांड व हलन-चलन बंद हो जाता है।

(मन विलयं ससहावं) अपने स्वभाव में रहने से मन विला जाता है (ममात्मा सुद्ध सहाव ममलं च) मेरा आत्मा शुद्ध ममल स्वभावी है ऐसा दृढ़ श्रद्धान ज्ञान होने से (तत्काल कम्म गलियं) शीघ्र ही सब कर्म गल जाते हैं

(दोषं परद्वय परमुहो तं पि) परद्रव्य और परोन्मुखी दृष्टि दोष विला जाता है। (दुबुहि उवन्नं विरयं) शुद्धोपयोग होने पर दुर्बुद्धि का होना बंद हो जाता है (दुकृत पर द्वय भाव गलियं च) सर्व दुष्कृत तथा परद्रव्य सम्बंधी भाव गल जाते हैं (मान परमान सुद्धं) आत्मा का बहुमान अनुभव प्रमाण हो जाता है कि (ममात्मा न्यान सहाव समयं च) मेरा आत्मा ज्ञान स्वभावी शुद्धात्मा है।

विशेषार्थ - जहाँ तक स्वरूप में लयता रूप स्वानुभव नहीं है, वहाँ तक रागादि भाव होते हैं तथा राग सहित वचन व काय की प्रवृत्ति होती है, इसी से मन सक्रिय रहता है। स्वानुभव रूप शुद्धोपयोग के होते ही मन, वचन, काय का पर पदार्थ में परिणमन बंद हो जाता है।

स्व संवेदन ज्ञान व स्वानुभव प्रकाश में मन विला जाता है। स्वानुभव में ही शुद्धात्मा का प्रकाश है, इसी को शुक्लध्यान कहते हैं। इसी से मोहनीय कर्म तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय कर्म का क्षय होकर केवलज्ञान प्रगट होता है फिर शरीर सम्बंधी सर्व परिणमन छूट जाता है व आत्मा अकेला ही निज स्वरूप में रह जाता है।

शुद्धोपयोग के साधन से ही अरिहंत व सिद्ध पद होता है। सिद्ध सदा अपने निश्चल स्वभाव में आनंद स्वरूप रहते हैं।

शुद्धोपयोगियों के ही पांच इन्द्रिय छटे मन को रोकने रूप संयम शील और तप होते हैं। शुद्धोपयोगियों के ही सम्यक्दर्शन और वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान होता है। शुद्धोपयोगियों के ही कर्मों का नाश होता है इसलिये शुद्धोपयोग ही इष्ट है। मिथ्यात्व, रागादि से रहित शुद्ध परिणाम, वही मेरे आत्मा का शुद्ध स्वभाव है और अशुद्ध परिणाम अपने नहीं हैं सो शुद्ध भाव को ही धर्म समझकर अंगीकार करो। यही शुद्धोपयोग रूप धर्म चारों गतियों के दुःखरूप संसार में पड़े हुए इस जीव को निकालकर आनंद स्वरूप में रखता है।

जो समस्त शुभाशुभ संकल्प-विकल्पो से रहित जीव का शुद्ध भाव शुद्धोपयोग है वही निश्चय रत्नत्रय स्वरूप मोक्ष का मार्ग है। जो साधक शुद्धात्म परिणाम से च्युत हो जावे वह किस तरह मोक्ष को पा सकता है? इसलिये साधक को अपने इष्ट निज शुद्धात्मा की साधना में लगे रहना चाहिये। शुद्धोपयोग में मन आदि समस्त कर्म विला जाते हैं। अपने स्वरूप की अनुभूति का स्वाभिमान बहुमान जगाते हुए शुद्धोपयोग की साधना करो तो यह सब

मन और शरीर संबंधी क्रिया कर्म स्वयमेव विला जायेंगे। कमल स्वभाव ज्ञायक भाव सहजानंद में रहने से सब संसार, शरीर, कर्मोदय संयोग छूट जाता है। इसी की विशेषता रूप आगे गाथा कहते हैं-

तत्त्वं च तत्त्व रूवं, तत्त्वं च परम तत्त्व परमिस्ती।

जिन वयनं जयवंतं, जयवंतं लोयलोय ममलं च ॥ ५४८ ॥

अन्वयार्थ - (तत्त्वं च तत्त्व रूवं) तत्त्वों में मुख्य तत्त्व आत्मा का स्वभाव है (तत्त्वं च परम तत्त्व परमिस्ती) तत्त्वों में श्रेष्ठ परम तत्त्व परमेष्ठी अरिहंत परमात्मा हैं (जिन वयनं जयवंतं) यह जिनवाणी जयवंत रहो, जिसके प्रताप से परम तत्त्व का बोध होता है (जयवंतं लोयलोय ममलं च) लोकालोक में अपना ममल स्वभाव ही जयवंत है।

विशेषार्थ - जिनवाणी का भले प्रकार मनन करने से ज्ञात होता है कि सात तत्त्वों में मुख्य तत्त्व स्व स्वरूप आत्मा है, जो स्व-पर प्रकाशक, ज्ञायक स्वभाव है तथा आत्मा ही परम तत्त्व परमेष्ठी, परमात्मा है। यह जिनवाणी जयवंत रहो, जिसके प्रताप से परम तत्त्व का बोध होता है। जब अपने स्वरूप का श्रद्धान ज्ञान होता है तब अंतर में जय-जयकार मचती है कि जिनेन्द्र के वचन सत्य हैं, ध्रुव हैं, प्रमाण हैं।

इस तरह तत्त्व दो प्रकार का कहा गया है- स्वतत्त्व और परतत्त्व। अपना आत्मा स्वतत्त्व है और पांच परमेष्ठी पर तत्त्व हैं। स्वतत्त्व भी दो प्रकार है- सविकल्प, निर्विकल्प। सविकल्प तत्त्व से कर्मों का आश्रव होता है, निर्विकल्प तत्त्व से आश्रव नहीं होता है, जो निर्विकल्प तत्त्व है वही सार है, वही मोक्ष का कारण है, वही स्वानुभव रूप है, वही शुद्धोपयोग रूप है।

ऐसा जानकर सर्व ममता त्यागकर उस शुद्ध निर्विकल्प आत्म तत्त्व का ध्यान करो, जहाँ यह मनन है कि मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ, वीतराग हूँ, शुद्धात्मा परमात्मा हूँ वह सविकल्प तत्त्व है, चंचल है। जहाँ कोई विचार नहीं है, भावना नहीं है केवल स्वरूप में रमणता है वही निर्विकल्प तत्त्व, निश्चय रत्नत्रय स्वरूप, निश्चय मोक्षमार्ग है।

प्रश्न - यह तो सत्य है परंतु अभी अशुद्ध पर्यायी परिणमन तो दिखाई देता है, इसके लिये क्या करें?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

कारन कज्ज उपत्ती, कलुस भाव अनिस्ट नहु दिट्ठं ।
 नेयं निरुपम सुद्धं, नेयं परदव्व सहाव गलियं च ॥ ५४९ ॥
 ममात्मा ममल सरूवं, मल मुक्कं नंत दंसनं ममलं ।
 तेयं च तिक्त्त असुहं, तेयं च अप्प परमप्प संदर्सं ॥ ५५० ॥
 दुर्लप्प लप्प रूवं, दुबुहि सहकार कम्म विलयंति ।
 वयनं च सुद्ध वयनं, चेयन संजुत्त कम्म षिपनं च ॥ ५५१ ॥
 कलं सुभाव न दिट्ठं, न्यान विन्यान समय संजुत्तं ।
 नंतानंत सुभावं, उववन्नं सुद्ध परम न्यानं च ॥ ५५२ ॥

अन्वयार्थ - (कारन कज्ज उपत्ती) कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है (कलुस भाव अनिस्ट नहु दिट्ठं) कलुष भाव और अनिष्ट पर्याय को मत देखो (नेयं निरुपम सुद्धं) अपना शुद्ध स्वभाव अनुपम विलक्षण है, ऐसा निर्णय में लिया, स्वीकार किया है (नेयं परदव्व सहाव गलियं च) इसी निर्णय से परद्रव्य स्वभाव गल जाता है ।

(ममात्मा ममल सरूवं) मेरा आत्मा ममल स्वभावी है (मल मुक्कं नंत दंसनं ममलं) सर्व कर्म मल रहित ममल, अनंत दर्शन वाला है (तेयं च तिक्त्त असुहं) ऐसा निश्चित होने से सब अशुभ, पर्याय आदि भाव छूट जाते हैं (तेयं च अप्प परमप्प संदर्सं) ऐसा तय, निश्चित होने से आत्मा, परमात्म स्वरूप दिखाई देता है ।

(दुर्लप्प लप्प रूवं) जब दुर्लक्ष्य अर्थात् मन वचन काय से न जानने योग्य ऐसा अपना आत्म स्वरूप लक्ष्य में आ जाता (दुबुहि सहकार कम्म विलयंति) तब दुर्बुद्धि के सहकार से होने वाले कर्म विला जाते हैं (वयनं च सुद्ध वयनं) तथा वचन भी शुद्ध वचन निकलते हैं (चेयन संजुत्त कम्म षिपनं च) आत्मा के चैतन्य स्वभाव में रमण करने से ही कर्मों का क्षय होता है ।

(कलं सुभाव न दिट्ठं) शरीर के स्वभाव को मत देखो (न्यान विन्यान समय संजुत्तं) भेदविज्ञान पूर्वक अपने आत्म स्वभाव में लीन रहो (नंतानंत सुभावं) इससे अपना अनंत चतुष्टयमयी स्वभाव (उववन्नं सुद्ध परम न्यानं च) परम शुद्ध केवलज्ञान स्वरूप प्रगट हो जाता है ।

विशेषार्थ - कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है, जैसा कारण होता है

वैसा कार्य होता है । कलुष भाव-मोह क्षोभ युक्त परिणाम और अशुद्ध पर्याय को मत देखो । जैसा अपना अनुपम विलक्षण शुद्ध स्वभाव अनुभूति में आया है, निर्णय में लिया, स्वीकार किया है, इसी निर्णय से पर द्रव्य स्वभाव गल जाता है ।

अपने आत्मा का स्वभाव निश्चय से परम शुद्ध है । परमात्मा के समान ज्ञानानंद मय है ऐसी भावना ही आत्मा को परमात्मा के पद पर पहुंचा देती है ।

दुर्लक्ष्य से हटकर अपने स्वरूप का लक्ष्य होने पर, दुर्बुद्धि से होने वाले कर्म विला जाते हैं, वचन वर्णना भी शुद्ध हो जाती है और चैतन्य स्वरूप में रमण करने से सब कर्म क्षय हो जाते हैं, कर्म क्षय होने से पर्याय अपने आप शुद्ध हो जाती है ।

शरीरादि संयोग को मत देखो, भेदविज्ञान पूर्वक अपने आत्म स्वभाव में लीन रहो, इससे पर्याय की अशुद्धि दूर होकर अनंत चतुष्टयमयी केवलज्ञान स्वभाव प्रगट हो जाता है, शुद्धात्मानुभव ही मोक्षमार्ग है ।

आत्मा का दर्शन या आत्मानुभव ही एक सीधी सड़क है जो मोक्ष के सिद्ध महल तक गई है । सिद्ध पद न तो किसी की भक्ति से मिल सकता है, न बाहरी जप, तप व चारित्र से मिल सकता है, वह तो केवल अपने ही आत्मा के यथार्थ अनुभव से ही प्राप्त होता है ।

साधक को आत्मा का स्वरूप ही ठीक-ठीक जानना चाहिये कि यह स्वतंत्र द्रव्य है, सत् है, द्रव्य अपेक्षा नित्य है । समय-समय परिणमन शील होने से पर्याय अपेक्षा अनित्य है । हर समय उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप है या गुण पर्यायमय है । गुण सदा द्रव्य के साथ रहते हैं, द्रव्य, गुणों का ही समुदाय है । गुणों में जो परिणमन होता है उसे ही पर्याय कहते हैं ।

आत्मा पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र आदि शुद्ध गुणों का सागर है, परम निराकुल है, परम वीतराग है, ज्ञानावरणादि आठों द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्म से भिन्न है, शुद्ध चैतन्य ज्योतिर्मय है । परभावों का न तो कर्ता है, न परभावों का भोक्ता है । यह सदा स्वभाव में रहने वाला स्वानुभव मात्र है ।

इस तरह साधक अपने आत्मा के शुद्ध ममल स्वभाव की प्रतीति करके इसी में रमण करता है । शुद्धोपयोग की साधना से पर्याय में शुद्धि होकर केवलज्ञान प्रगट होता है ।

प्रश्न- जब तक पर्याय शुद्ध नहीं होती तब तक क्या करें ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

ममलं दंसन दिट्ठी, मलं न पिच्छेइ पज्जाव अनिस्ती ।

सहकारं न्यान उवन्नं, तेयं पर दव्व भाव गलियं च ॥ ५५३ ॥

विन्यान न्यान सरूवं, दुबुहि पर भाव दोस विलयं च ।

दो गुण अनाइ सुद्धं, टंकोत्कीर्नं नंत दंसनं सुद्धं ॥ ५५४ ॥

अन्वयार्थ - (ममलं दंसन दिट्ठी) अपने ममल स्वभाव के दर्शन की दृष्टि रखो (मलं न पिच्छेइ पज्जाव अनिस्ती) अनिष्ट पर्याय संबंधी मल को मत देखो (सहकारं न्यान उवन्नं) ममल स्वभाव की दृष्टि से ही ज्ञान प्रगट होता है (तेयं पर दव्व भाव गलियं च) और इसी निर्णय से परद्रव्य के भाव गल जाते हैं ।

(विन्यान न्यान सरूवं) भेदज्ञान के द्वारा ज्ञान स्वभावी आत्मा का अनुभव होने से (दुबुहि पर भाव दोस विलयं च) कुबुद्धि व परभाव संबंधी दोष दूर हो जाते हैं (दो गुण अनाइ सुद्धं) आत्मा अनादि से दो गुण से शुद्ध है (टंकोत्कीर्नं नंत दंसनं सुद्धं) टंकोत्कीर्ण अर्थात् टांकी से उकेरी शिलाखंड प्रतिमा के समान शुद्ध अनंत दर्शन वाला है ।

विशेषार्थ - अपने ममल स्वभाव की दृष्टि रखो, अशुद्ध पर्यायी परिणामन को मत देखो, ममल स्वभाव की दृष्टि से कर्म क्षय होते हैं, पर्याय में शुद्धि आती है और ज्ञान का प्रकाश होता है ।

भेदविज्ञान से आत्मानुभूति, आत्मज्ञान होने पर कुबुद्धि और परभाव आदि दोष दूर हो जाते हैं । आत्मा चैतन्य और अमूर्तिक इन दो गुणों से अनादि से शुद्ध है । शुद्धोपयोग की साधना से टंकोत्कीर्ण आत्मा का अनंत चतुष्टय स्वरूप प्रगट हो जाता है ।

जैसे-स्फटिक मणि शुद्ध उज्ज्वल है, उसमें जैसा डाक लगाया जाये वैसा दिखाई देता है और यदि कुछ भी न लगायें तो शुद्ध स्फटिक ही है, उसी तरह आत्मा चैतन्य और अमूर्तिक इन दो गुणों से अनादि से शुद्ध है, टंकोत्कीर्ण ममल स्वभावी है । मिथ्यात्व और विषय कषाय आदि अशुभ के अवलंबन से अशुभ कर्म पाप को बांधकर नरक निगोद आदि के दुःखों को भोगता है और पंच परमेष्ठी के गुण स्मरण आदि तथा दया दान पूजादि शुभ क्रियाओं से

शुभकर्म पुण्य बांधकर मनुष्य देव आदि होता है तथा केवल शुद्धात्मा के अवलंबन रूप शुद्धोपयोग से कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान आदि अनंतगुण रूप मोक्ष को पाता है ।

इन तीनों प्रकार के उपयोगों में से सर्वथा उपादेय तो शुद्धोपयोग ही है, इसी से पर्याय में शुद्धता प्रगट होकर केवलज्ञान प्रगट होता है । आत्मानुभव के अभ्यास से ही सर्व रागादि मल व अज्ञान दूर होकर अनंत ज्ञान अनंत दर्शन प्रगट हो जाते हैं ।

प्रश्न - इसके लिये क्या करना चाहिये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

द्वादस तप आयरनं, दोष भाव दुबुहि पर भाव गलियं च ।

सहकार सुद्ध आचरनं, सल्य मुक्कं च पर दव्व गलियं च ॥ ५५५ ॥

विषयं च राय दोषं, दुबुहि षिपनं च सुद्ध सहकारं ।

दुर्लक्ष्य लक्ष्य रूवं, वारापारं च नन्त कम्म षिपनं च ॥ ५५६ ॥

अन्वयार्थ - (द्वादस तप आयरनं) बारह प्रकार तप का आचरण करना चाहिये (दोष भाव दुबुहि पर भाव गलियं च) जिससे द्वेष भाव, दुर्बुद्धि और परभाव गल जाते हैं (सहकार सुद्ध आचरनं) यह तप सम्यक्चारित्र के लिये सहकारी है (सल्य मुक्कं च पर दव्व गलियं च) इससे शल्यों से मुक्ति हो जाती है और परद्रव्य का संयोग छूट जाता है ।

(विषयं च राय दोषं) विषय और राग द्वेष (दुबुहि षिपनं च सुद्ध सहकारं) तथा दुर्बुद्धि, अपने शुद्धात्म स्वभाव के सहकार से क्षय हो जाते हैं (दुर्लक्ष्य लक्ष्य रूवं) दुर्लक्ष्य अर्थात् अनादि से जिसका लक्ष्य नहीं किया, ऐसे अपने सत्स्वरूप के लक्ष्य से (वारापारं च नन्त कम्म षिपनं च) जिनका कोई आर-पार ठिकाना नहीं है, ऐसे अनंत कर्म क्षय हो जाते हैं ।

विशेषार्थ - अपने शुद्ध स्वभाव में लीन होना अंतरंग तप है और बारह प्रकार के तप का आचरण करना व्यवहार तप साधन है । इन दोनों के सहकार से द्वेषभाव, दुर्बुद्धि और परभाव गल जाते हैं, शल्यें छूट जाती हैं और परद्रव्य का संयोग भी छूट जाता है ।

निज शुद्ध स्वरूप में लीन होने, शुद्धोपयोग रूप शुक्लध्यान की साधना से पांचों इंद्रियों के विषय राग-द्वेष, दुर्बुद्धि क्षय हो जाते हैं तथा संसार समुद्र

में भ्रमण कराने वाले अनंत कर्म भी क्षय हो जाते हैं।

भावों की व ध्यान की शुद्धि के लिये तथा इंद्रियों को जीतने के लिये शल्य को त्यागकर व संसार, शरीर, भोगों से वैराग्यभाव धारणकर साधक को बारह तप का अवश्य आचरण करना चाहिये। इससे शुद्धोपयोग की साधना में सहयोग मिलता है तथा अनंत कर्मों का क्षय होता है।

बारह तप निम्न प्रकार हैं -

छह बाह्य तप -

१. **अनशन**-चार प्रकार के आहार का त्याग कर उपवास करना व धर्मध्यान में रत रहना।

२. **ऊनोदर**-उदर भर न खाना, भूख से कम खाना।

३. **वृत्ति परिसंख्यान**-अपनी वृत्ति को मोड़ने के लिये संख्या का नियम रखना, भिक्षा को जाते हुए कोई प्रतिज्ञा लेना, बिना कहे पूरी होने पर आहार लेना, नहीं तो उपवास करना।

४. **रस परित्याग**-दूध, दही, घी, मीठा, नमक, तेल इन छह रसों में से एक व अनेक का त्याग करना।

५. **विविक्त शय्यासन**-एकांत में शयन व आसन रखना।

६. **कायक्लेश**-काय को कठिन-कठिन तरह से रखकर व आसन लगाकर तप करना।

छह अंतरंग तप -

१. **प्रायश्चित**-दोष लगने पर दंड लेकर दोष मेटना।

२. **विनय**-रत्नत्रय धर्म व धर्मात्माओं का आदर करना।

३. **वैयावृत्य**-रोगी, वृद्ध, निर्बल, थके हुए धर्मात्माओं की सेवा करना।

४. **स्वाध्याय**-शास्त्रों को पढ़ना व मनन करना।

५. **व्युत्सर्ग**-शरीरादि से ममत्व को त्यागना।

६. **ध्यान**-ध्यान समाधि का अभ्यास करना।

राग-द्वेष, मोह को विजय करने व इंद्रियों को वश करने से ही आत्मा का ध्यान हो सकेगा, इस ध्यान से ही कर्मों की निर्जरा होगी।

प्रश्न - ध्यान किसका कैसा लगाना चाहिये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

टंकारं सिद्ध रूवं, टंकारं ज्ञानारूढ ममलं च।

कमलं केवल सहियं, कम्मं षिपिऊन मुक्ति गमनं च॥ ५५७॥

अन्वयार्थ - (टंकारं सिद्ध रूवं) सिद्ध स्वरूप के ध्यान की टंकार लगाना चाहिये (टंकारं ज्ञानारूढ ममलं च) ज्ञान में दृढ़ स्थिर होकर मैं ममल स्वभावी, सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा हूँ ऐसी एकाग्रता करना (कमलं केवल सहियं) तब कमल स्वरूप ज्ञायक आत्मा में केवलज्ञान का प्रकाश हो जाता है (कम्मं षिपिऊन मुक्ति गमनं च) और सर्व कर्म का क्षय करके आत्मा मोक्ष में चला जाता है।

विशेषार्थ - सिद्ध समान अपने आत्मा को ध्याने से ऐसी वीतरागता प्रकाशित होती है, जिससे अरिहंत पद के पश्चात् सिद्ध पद प्राप्त हो जाता है।

ज्ञान में दृढ़ स्थिर होकर मैं सिद्ध स्वरूपी शुद्धात्मा हूँ ऐसी एकाग्रता होना ही ध्यान है। अड़तालीस मिनट ऐसे ध्यान की एकाग्रता होने से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है और सर्व कर्म का क्षय होने पर सिद्ध परमात्मा हो जाता है।

जाग्रत अवस्था में ध्यान अंतरंग का एक गहन सुख होता है, जो अनिर्वचनीय है। ध्यान कोई तंत्र मंत्र नहीं है, ध्यान एक साधना है जिसके द्वारा हम अपने भीतर आत्मानंद उपजाते हैं। ध्यान में गहरे स्तर पर चेतना की निर्ग्रन्थ, निर्मल, अखंड सत्ता का दर्शन होता है। ध्यान द्वारा आत्म साक्षात्कार होता है, आत्म ज्योति का दर्शन ही ध्यान है, इससे आत्मा सब कर्म मलों से छूटकर परमात्मा हो जाता है।

ध्यान की चरम अवस्था में साधक आनंद महोदधि में निमग्न हो जाता है।

सिद्धोऽहं सिद्ध रूपोऽहं, गुणैः सिद्ध समो महान।

त्रिलोकाग्र निवासी, चारूपोऽसंख्य प्रदेशवान॥

मैं सिद्ध हूँ, सिद्धरूप हूँ, मैं गुणों से सिद्ध के समान हूँ, महान हूँ, त्रिलोक के अग्रभाग पर निवास करने वाला हूँ, अरूपी हूँ, असंख्यात प्रदेशी शुद्ध हूँ। इस प्रकार अपने उत्कृष्ट आत्म स्वरूप की निजात्म्य भावना द्वारा, अध्यात्म वेत्ता क्षपक, सर्वत्र सर्वदा स्वात्म ध्यान में लीन रहता है। ध्यानी पुरुष सिद्ध सदृश निजात्मा का ध्यान करता है और कर्म रहित होकर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न - जब तक कर्मोदय संयोग अशुद्ध पर्याय है तब तक यह कैसे होगा ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

कमलं अनन्त दिट्ठी, छेयं कम्मान दव्व बंधानं ।

छेयं यदि चेयनयं, कमल सुभावेन केवलं सहियं ॥ ५५८ ॥

षादं षिपनिक रूवं, जैवन्तो परदव्व परमुहो तंपि ।

जइ जइवंत सहावं, षादं षिपिऊन पज्जाव गलियं च ॥ ५५९ ॥

मानापमान सुद्धं, माया मानं च सरनि विलयं च ।

छिंदन्ति विविहि कम्मं, छिंदंतो पर दव्व भाव सभावं ॥ ५६० ॥

अन्वयार्थ - (कमलं अनन्त दिट्ठी) ज्ञायक ज्ञानोपयोग की जब अपने अनंत चतुष्टय स्वरूप पर दृष्टि होती है (छेयं कम्मान दव्व बंधानं) तब द्रव्य कर्मों के बंधन क्षय हो जाते हैं (छेयं यदि चेयनयं) जब चैतन्य का अनुभव होता है तब कर्म छिद जाते हैं (कमल सुभावेन केवलं सहियं) और शुद्धोपयोग के रमण से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है ।

(षादं षिपनिक रूवं) क्षपणक अर्थात् वीतराग निर्ग्रन्थ साधु जब ध्यान समाधि में लीन होता है (जैवन्तो परदव्व परमुहो तंपि) तो परद्रव्य, परोन्मुखी दृष्टि को जीत लेता है (जइ जइवंत सहावं) आत्म स्वभाव सदा जयवंत रहता है (षादं षिपिऊन पज्जाव गलियं च) इससे सब कर्मोदय क्षय हो जाते हैं और पर्याय भी गल जाती है ।

(मानापमान सुद्धं) वीतराग निर्ग्रन्थ साधु, मान अपमान में समान भाव रखने वाला शुद्ध दृष्टि, समभावी होता है (माया मानं च सरनि विलयं च) इससे माया मान और संसार का परिभ्रमण सब विला जाता है (छिंदन्ति विविहि कम्मं) विविध कर्म क्षय हो जाते हैं (छिंदंतो पर दव्व भाव सभावं) तथा परद्रव्य सम्बंधी सर्व रागादि भावों को छेद डालता है ।

विशेषार्थ - आत्म शक्ति जाग्रत होने पर शुद्धात्मा के ध्यान से जो शुद्धोपयोग रूपी छैनी बनती है वही वह शस्त्र है जो घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान को प्रगट करता है । वीतराग निर्ग्रन्थ साधु क्षपणक अर्थात् क्षपक श्रेणी पर आरुढ़ होता है, ध्यान समाधि में लीन होता है तो सब कर्मोदय

संयोग अशुद्ध पर्याय विला जाती है, सारे कर्म बंधन क्षय हो जाते हैं और जय-जयकार मच जाती है ।

यही स्वभाव साधना जयवंत हो, जो साधुपद से सिद्धपद देने वाली है । कर्मोदय संयोग और अशुद्ध पर्याय को गलाने विलाने के लिये वीतराग निर्ग्रन्थ साधुपद आवश्यक है । साधु वह होता है जो मान-अपमान में समान भाव रखने वाला शुद्ध दृष्टि समभावी हो । इसी से माया, मान और संसार परिभ्रमण छूटता है । नाना प्रकार के कर्म तथा परद्रव्य सम्बंधी रागादि भावों को क्षपणक साधु ही क्षय करता है ।

केवलज्ञान की प्राप्ति के लिये निर्ग्रन्थ वीतराग दिगम्बर परिग्रह रहित साधुपद आवश्यक है । यद्यपि शरीर का नग्न होना, पुद्गल पर्याय है, आत्मा से भिन्न है तथापि इस रूप के होते हुए पूर्ण अहिंसा व पूर्ण परिग्रह त्याग बनता है तथा प्रमत्तादि गुणस्थानों में जिस प्रकार ध्यान की सिद्धि होना चाहिये वह सिद्धि होती है । वीतरागी साधु भावापेक्षा भी सर्व राग-द्वेष, मोह का त्यागी होकर ध्यान करता है, तब क्षपक श्रेणी पर आरुढ़ होकर चार घातिया कर्म क्षय कर केवलज्ञानी अरिहंत हो जाता है, फिर आयु कर्म के क्षय होने पर शरीर रहित सिद्ध परमात्मा हो जाता है ।

जिसे मोक्ष प्राप्त करना हो उसे मुनि होकर शुद्धोपयोगी चारित्र दशा अंगीकार करना ही पड़ेगी । समकिती जीव ने आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद चखा है, वह जब वैराग्य पूर्ण होकर साधुपद धारण करता है और ध्यान में स्थिर होता है तब सब कर्मोदय संयोग अशुद्ध पर्याय गल जाती है, विला जाती है, उस समय आनंद ही आनंद, परमशांति, जय-जयकार मचती है ।

कोई निंदा करे कि प्रशंसा करे उससे हमारे आत्मा को कुछ भी हीनता या अधिकता नहीं, हम तो राग-द्वेष रहित अपने चैतन्य के समरस का पान करते हैं । हम तो अपने ध्रुव चिदानंद स्वरूप में आसन लगाकर बैठे हैं, यह वीतरागी संतों की दशा है जो सदा जयवंत रहे ।

प्रश्न - यह साधुपद से सिद्धपद कैसे प्राप्त होता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

ग्रहनं चरन विसेसं, ज्ञानं ठानं च मिच्छ गलियं च ।

ज्ञानं उववंन भावं, गिर उववन्न निम्मलं ममलं ॥ ५६१ ॥

घन घाय कम्म मुक्कं, ईर्ज सभाव मग्ग दिस्टंति ।
नो उववन्न सहावं, नो सभाव दिस्टि इस्टं च ॥ ५६२ ॥
नो क्रित उत्पन्न सहावं, टंकोत् नन्त अनन्त परिनामं ।
जइ टकोतं सहियं, नो उत्पन्न कम्म विलयंति ॥ ५६३ ॥
चू ऊर्ध सुद्ध सहियं, ठंकारं मुक्ति ज्ञान ममलं च ।
जइ ठान ज्ञान सहावं, चू संसार सरनि गलियं च ॥ ५६४ ॥

अन्वयार्थ - (ग्रहनं चरन विसेसं) विशेष चारित्र को ग्रहण करने अर्थात् वीतराग निर्ग्रन्थ साधुपद धारण करने से (ज्ञानं ठानं च मिच्छ गलियं च) ज्ञान स्वभाव की दृढ़ता से सब मिथ्यात्व गल जाता है (ज्ञान उववन्नं भावं) आत्मज्ञान के भाव प्रगट होते हैं (गिर उववन्न निम्मलं ममलं) जिससे निर्मल ममल स्वभाव की वाणी प्रगट होती है ।

(घन घाय कम्म मुक्कं) चार घातिया कर्मों के क्षय होने से (ईर्ज सुभाव मग्ग दिस्टंति) सहज स्वभाव का मार्ग दिखने लगता है अर्थात् केवलज्ञान स्वभाव प्रगट हो जाता है (नो उववन्न सहावं) तथा नौ क्षायिक लब्धि रूप स्वभाव प्रगट हो जाता है (नो सभाव दिस्टि इस्टं च) अपना इष्ट प्रिय नो अर्थात् सूक्ष्म स्वभाव प्रगट दृष्टि में आ जाता है ।

(नो क्रित उत्पन्न सहावं) अपने स्वभाव में नौ लब्धि पैदा होने से (टंकोत् नन्त अनन्त परिनामं) अनंतानंत परिणाम रूप कर्म के बंधन टूट जाते हैं (जइ टकोतं सहियं) ऐसे कर्म बंधन काटने के ध्यान सहित होने पर (नो उत्पन्न कम्म विलयंति) नो कर्म से पैदा हुआ शरीर भी छूट जाता है ।

(चू ऊर्ध सुद्ध सहियं) परिपूर्ण श्रेष्ठ शुद्ध स्वभाव सहित (ठंकारं मुक्ति ज्ञान ममलं च) ममल केवलज्ञान स्वभाव से मुक्ति की ठंकार लगती है (जइ ठान ज्ञान सहावं) अपने ज्ञान स्वभाव में लीन होने से (चू संसार सरनि गलियं च) चुकता अर्थात् पूर्ण रूप से संसार परिभ्रमण छूट जाता है ।

विशेषार्थ - श्रेष्ठ चारित्र को धारण करने और अपने ज्ञान स्वभाव में स्थित रहने से सब मिथ्यात्व मोहनीय कर्म विला जाता है । क्षपणक साधु का प्रिय साध्य केवलज्ञान अरिहंत पद है । शुद्धोपयोग की स्थिरता से चार घातिया कर्म क्षय होते हैं तथा नौ क्षायिक लब्धियां प्रगट हो जाती हैं - १. अनंत ज्ञान,

२. अनंत दर्शन, ३. क्षायिक दान, ४. क्षायिक लाभ, ५. क्षायिक भोग, ६. क्षायिक उपभोग, ७. क्षायिक वीर्य, ८. क्षायिक सम्यक्त्व, ९. क्षायिक चारित्र यह नौ गुण सदा ही बने रहते हैं ।

आत्मानुभव रूपी खड्ग से कर्मों का छेद होता है । कर्म नष्ट होने पर शरीर भी छूट जाता है और यह आत्मा सिद्ध परमात्मा हो जाता है ।

निर्वाण का साक्षात् उपाय निर्ग्रन्थ साधुपद ही है, इस ही पद को धारकर सर्व ही प्रचीन काल के तीर्थंकरों व महात्माओं ने उक्त प्रकार का आत्मज्ञान, आत्मध्यान करके धर्मध्यान व शुक्लध्यान प्राप्त कर निर्वाण लाभ किया है ।

जब योगी क्षपक श्रेणी माड़कर द्वितीय शुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय चारों घातिया कर्मों का सर्वथा क्षय कर देता है, तब तेरहवें गुणस्थान में आकर केवलज्ञानी अरिहंत परमात्मा हो जाता है । नौ क्षायिक लब्धियां प्रगट हो जाती हैं । अघातिया कर्म शरीरादि के छूटने पर सिद्ध परमात्मा हो जाता है ।

प्रश्न - यह द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म कैसे विलाते हैं ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

चूकं च कम्मवली, छेयं पर भाव कम्म तिविहं च ।
जदि छेय भाव पिच्छदि, चूकं कम्मान मुक्ति गमनं च ॥ ५६५ ॥
नो कृत कम्म षिपनं, जैवन्तो न्यान दंसनं चरनं ।
जै जैवन्त उवन्नं, नो क्रित पर दव्व भाव गलियं च ॥ ५६६ ॥
धी ईर्ज पंथ सुद्धं, ज्ञान समत्थोन ऊर्ध सुद्ध सभावं ।
जै ज्ञान ठान सुद्धं, धी ईर्ज सभाव मुक्ति गमनं च ॥ ५६७ ॥
गिर उववन्न अनन्तं, नो क्रित कम्म उववन्न विलयंति ।
जै नो सुभाव सुद्धं, ग्रहनं षिपिऊन कम्म बन्धानं ॥ ५६८ ॥

अन्वयार्थ - (चूकं च कम्मवली) सम्यक्दृष्टि ज्ञानी साधु कर्मबली को जीत लेता है (छेयं परभाव कम्म तिविहं च) उसके रागादि परभाव क्षय हो जाते हैं और कर्म गल जाते हैं (जदि छेय भाव पिच्छदि) यदि क्षायिक भाव पकड़ में आ गया तो (चूकं कम्मान मुक्ति गमनं च) सब कर्मों से रहित होकर मोक्ष चला जाता है ।

(नो कृत कम्म षिपनं) नो कर्म कृत शरीरादि भी क्षय हो जाता है (जैवन्तो न्यान दंसनं चरनं) सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इस रत्नत्रय धर्म की जय हो (जै जैवन्त उवन्नं) जब कर्मों को जीतने का आत्मानुभव रूपी क्षायिक भाव प्रगट होता है तो जय-जयकार मचती है (नो क्रित पर दव्व भाव गलियं च) इससे नो कर्मकृत पर द्रव्य और भावकर्म गल जाते हैं।

(धी ईर्ज पंथ सुद्धं) श्रेष्ठ ज्ञानोपयोग का होना ही शुद्ध मोक्ष का मार्ग है (ज्ञान समत्थेन ऊर्ध सुद्ध सभावं) ध्यान की सामर्थ्य से श्रेष्ठ शुद्ध स्वभाव प्रगट होता है (जै ज्ञान ठान सुद्धं) उस शुद्ध स्थिर ज्ञान ध्यान की जय हो (धी ईर्ज सभाव मुक्ति गमनं च) जिससे केवलज्ञान प्रगट होता है और यह जीव मोक्ष में चला जाता है।

(गिर उववन्न अनन्तं) अरिहंत की दिव्यध्वनि से अनंत पदार्थों का प्रकाश होता है (नो क्रित कम्म उववन्न विलयंति) नो कर्म पैदा होना विला जाते हैं अर्थात् शरीरादि संयोग संबंध छूट जाता है (जै नो सुभाव सुद्धं) जिस तरह का शुद्ध स्वभाव है (ग्रहनं षिपिऊन कम्म बन्धानं) उसको ग्रहण करने अर्थात् उसमें लीन होने से सारे कर्मबंध विला जाते हैं।

विवेचार्थ - सम्यक्दृष्टि ज्ञानी साधु कर्म बली को जीत लेता है, उसके रागादि परभाव क्षय हो जाते हैं और कर्म गल जाते हैं, यदि क्षायिक भाव प्रगट हो गया तो सब कर्मों से रहित होकर मोक्ष चला जाता है।

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र यह रत्नत्रयमयी धर्म ही जयवंत है, जिसके प्रताप से निर्ग्रन्थ वीतरागी साधु क्षायिक भाव प्रगट कर सब कर्मों को क्षयकर नोकर्म, भाव कर्म, द्रव्यकर्म से मुक्त होकर सिद्ध परम पद पाते हैं।

सम्यक्ज्ञान सूर्य का प्रकाश होने से सब अज्ञान अंधकार विला जाता है। सम्यक्ज्ञान के प्रताप से ही केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। अनंत चतुष्टय स्वरूप और दिव्यध्वनि प्रगट होती है। अपने शुद्ध स्वभाव में सर्वदा स्थिर होने से शरीरादि नोकर्म तथा सारे कर्म बंध क्षय हो जाते हैं।

निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो वीतराग सहजानंद एकरूप सुखरस का आस्वाद, उसकी रुचिरूप सम्यक्दर्शन, उसी शुद्धात्मा में वीतराग नित्यानंद स्वसंवेदन रूप सम्यक्ज्ञान और वीतराग परमानंद परम समरसी

भाव कर उसी में निश्चय स्थिरता रूप सम्यक्चारित्र इन तीनों स्वरूप परिणत हुआ आत्मा समस्त कर्म बंधनों से छूटकर मोक्ष चला जाता है। रत्नत्रय धर्म ही जयवंत है।

जो वीतराग निर्ग्रन्थ साधु अंतरंग चौदह प्रकार के भाव परिग्रह से ममता त्यागता है। शत्रु-मित्र में, तृण-स्वर्ण में व जीवन-मरण में समभाव का धारी हो जाता है, एकांत वन-उपवन, पर्वतादि के निर्जन स्थानों पर बैठकर आत्मध्यान करता है, तब एक अपने ही शुद्ध आत्मा के भाव को ग्रहण करता है व सर्व परभावों से उपयोग को हटाता है। जितने भाव, कर्मों के निमित्त से होते हैं, जो अनित्य हैं, उन सबसे राग त्यागता है। औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक भावों से विरक्त होकर क्षायिक व पारिणामिक जीवत्व भाव को अपना स्वभाव मानकर एक शुद्ध आत्मा की बार-बार भावना करता है, ऐसा वीतरागी मुनि राग-द्वेष को पूर्ण रूप से जीत लेता है।

क्षपक श्रेणी पर चढ़कर अंतर्मुहूर्त में चार घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञानी हो जाता है फिर चार अघातिया कर्मों का भी नाश करके संसार से मुक्त हो जाता है।

परभावों के त्याग में ही आत्मा के निज भाव का ग्रहण होता है, तब शुद्ध आत्मानुभव प्रगट होता है। इसी से तीनों प्रकार के द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म विला जाते हैं, यही मोक्षमार्ग है जो सदा ही आनंद अमृत का पान कराने वाला है तथा जय-जयकार मचाने वाला है।

प्रश्न - यह विश्व जो छह द्रव्यों का समूह है तथा जीव कर्म बंधन से बंधा है, इनसे छूटने का क्या उपाय है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

षस्टं इस्टं च सुद्धं, टंकोत्कीर्नं भाव उवनं च ।

जै टंकोत सुभावं, षिनं षिपनं च कम्म बन्धानं ॥ ५६९ ॥

कमल सुभाव संसुद्धं, ठंकारे सुभाव मुक्ति सहियं च ।

जै ठंकार ममल सहियं, कललंक्रित कम्म भाव मुक्कं च ॥ ५७० ॥

कमल सुभाव जिनुत्तं, षादं पंच न्यान कम्म तिक्तं च ।

गिरा सहाव संजुत्तं, धी ईर्ज सभाव मिच्छ विलयंति ॥ ५७१ ॥

**नु लष्यं उवलष्यं, चू चेतहि आसवेवि दुवियप्पो ।
छेयंति विषय मलयं, जैवन्तो नंत दंसनं न्यानं ॥ ५७२ ॥**

अन्वयार्थ - (षस्टं इस्टं च सुद्धं) जगत में छह द्रव्य अपने-अपने इष्ट शुद्ध स्वभाव में निश्चय से हैं (टंकोत्कीर्ण भाव उवनं च) अपना टंकोत्कीर्ण भाव प्रगट करो (जै टंकोत् सुभावं) टंकोत् स्वभाव की जय हो (षिनं षिपनं च कम्म बन्धानं) क्षणमात्र में, एक अंतर्मुहूर्त में सारे कर्म बंधन क्षय हो जाते हैं ।

(कमल सुभाव संसुद्धं) अपने ज्ञायक स्वभाव में परिपूर्ण शुद्धता से स्थिर रहो (टंकारे सुभाव मुक्ति सहियं च) अपने शुद्ध ममल स्वभाव की टंकार लगते ही मुक्ति श्री का मिलन हो जाता है (जै टंकार ममल सहियं) जब अपने ममल स्वभाव की टंकार सहित जय-जयकार मचती है तो (कल लंकित कम्म भाव मुक्कं च) शरीरादि संयोग भाव कर्म सब छूट जाते हैं ।

(कमल सुभाव जिनुत्तं) आत्मा का कमल स्वभाव है ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है (षादं पंच न्यान कम्म तिक्तं च) पंचम ज्ञान का आश्रय लेने से कर्म छूट जाते हैं (गिरा सहाव संजुत्तं) दिव्यध्वनि रूप स्वभाव में लीन होने से (धी ईर्ज सभाव मिच्छ विलयंति) श्रेष्ठ ज्ञान स्वभाव के प्रगट होते ही सब मिथ्यात्व विला जाता है ।

(नु लष्यं उवलष्यं) यह कितने बड़े सौभाग्य की बात है कि अपना लक्ष्य निज शुद्धात्मा का अनुभव हो गया (चू चेतहि आसवेवि दुवियप्पो) अपनी आत्म शक्ति जाग्रत कर पूरी शक्ति से अपने में स्थिर रहो, दोनों प्रकार का आश्रय विला जायेगा (छेयंति विषय मलयं) मल को मत छुओ, उस तरफ मत देखो (जैवन्तो नंत दंसनं न्यानं) अपने अनंत दर्शन ज्ञान स्वभाव की जय-जयकार मचाओ ।

विशेषार्थ - जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह छह द्रव्य अविनाशी अपने-अपने स्वभाव में सदा रहते हैं । संसारावस्था में जीवों में विभावपना होता है तथा पुद्गल परमाणु स्कंध रूप परिणमते हैं, शेष चार द्रव्य उदासीनपने स्वभाव में ही रहते हैं । इसमें अपना जो टंकोत्कीर्ण ममल स्वभाव है उसे प्रगट करो । अपने ध्रुव टंकोत् स्वभाव की जय-जयकार मचाओ तो क्षणभर, एक मुहूर्त में सारे कर्म बंध क्षय हो जाते हैं ।

अपने ज्ञायक स्वभाव में परिपूर्ण शुद्धता से स्थिर रहो, अपने शुद्ध ममल स्वभाव की टंकार लगते ही मुक्ति श्री का मिलन हो जाता है । जब अपने

ममल स्वभाव की टंकार सहित जय जयकार मचती है तो शरीरादि संयोग और भाव कर्मादि सब छूट जाते हैं ।

आत्मा का कमल स्वभाव है ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है, पंचम ज्ञान का आश्रय लेने से कर्म छूट जाते हैं । दिव्यध्वनि में जैसा आत्मा का सत्स्वरूप आया है वैसे ही अपने श्रेष्ठ केवलज्ञान मयी स्वभाव में रहो तो यह मिथ्यात्व मोहनीय द्रव्यकर्म भी विला जाते हैं ।

यह कितने बड़े सौभाग्य की बात है कि अपना लक्ष्य निज शुद्धात्मा अनुभव में आ गया, उपलब्ध हो गया, अब अपनी आत्म शक्ति जाग्रत कर अपने में स्थित रहो तो यह सब कर्मास्रव विला जायेगा, पूर्व बंध विषयादि मल छूट जायेगा । अपने अनंत दर्शन ज्ञान स्वभाव की जय-जयकार मचाओ, यही कर्म बंधन और संसार के जन्म-मरण से छूटने का उपाय है ।

संसार दशा में जीव-अजीव का बंध है, तब मोक्ष दशा में जीव का अजीव से छूटना होता है । दो प्रकार के भिन्न-भिन्न द्रव्य यदि लोक में नहीं होते तो संसार व मोक्ष का होना संभव नहीं था । यह लोक छह द्रव्यों का समुदाय है, उसमें जीव चेतन है, शेष पांच अचेतन, अजीव हैं । इनमें चार द्रव्य तो बंध रहित शुद्ध दशा में सदा रहते हैं ।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश व काल इनमें सदा स्वभावरूप परिणमन होता है । जीव और पुद्गल में ही विभाव परिणमन की शक्ति है । जीव पुद्गल के बंध में जीव में विभाव होते हैं । जीव के विभाव के निमित्त से पुद्गल में विभाव परिणमन होता है । पुद्गल स्वयं भी स्कंध बनकर विभाव परिणमन करते हैं । हर एक संसारी जीव पुद्गल से गाढ़ बंधन रूप हो रहा है । तैजस व कार्माण सूक्ष्म शरीर अनादि से सदा ही साथ रहते हैं, इसके अलावा औदारिक, वैक्रियक, आहारक शरीर, भाषा व मन आदि पुद्गलों का संयोग होता रहता है ।

यह जीव, पुद्गल की संगति में ऐसा एकमेक हो रहा है कि यह अपने को भूल ही गया है । कर्मों के उदय के निमित्त से जो रागादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्म होते हैं, उन रूप ही अपने को मानता रहता है । पुद्गल के मोह में उन्मत्त हो रहा है, इसी से कर्म का बंध करके बंधन को बढ़ाता है व कर्मों के उदय से नाना प्रकार के फल भोगता है, सुख रंच मात्र नहीं है, दुःख ही दुःख है ।

जब श्री गुरु के सत्संग से या जिनवाणी के प्रवचन से इसको यह भेदविज्ञान होता है कि मैं तो द्रव्य हूँ, मेरा स्वभाव परमशुद्ध, निरंजन, निर्विकार, अमूर्तिक, पूर्ण ज्ञान दर्शनमयी ज्ञानानंद स्वभाव है। मेरे साथ पुद्गल का संयोग मेरा रूप नहीं है, मैं निश्चय से पुद्गल से व पुद्गलकृत सर्व रागादि विकारों से रहित हूँ। तब ही यह अजीव का सम्बंध छूटकर सर्व कर्म बंधनों से मुक्त होकर परमात्मा होता है।

प्रश्न - यह जीव-अजीव का सम्बंध कब और कैसे छूटता है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

झोयं न्यान सहावं, झो ऊर्ध सहाव पर दव्व षिपनं च ।

टंकोत्कीर्न सहियं, ठिदिकरनं मुक्ति नंत कालम्भि ॥ ५७३ ॥

ठंकार भाव सुद्धं, टं नंतनंत दिस्टि दिस्टंतो ।

नो कम्म कम्म विलयं, धी ऊर्ध सहाव कम्म षिपनं च ॥ ५७४ ॥

जैवंतो जैकारं, छेयं पर भाव पर्जाव गलियं च ।

चूरंति विषय रागं, नु क्रित उववन्न दंसनं चरनं ॥ ५७५ ॥

धी ईर्ज भाव संजुत्तं, गिर उववन्न भाव लण्य उवलण्यं ।

षलु निस्चै च सहावं, कम्मं गलयंति केवलं सुद्धं ॥ ५७६ ॥

अन्वयार्थ - (झोयं न्यान सहावं) ज्ञान स्वभावी शुद्धात्मा का ध्यान करो (झो ऊर्ध सहाव पर दव्व षिपनं च) अपने श्रेष्ठ शुद्ध स्वभाव के ध्यान से परद्रव्य छूट जाता है (टंकोत्कीर्न सहियं) अपने टंकोत्कीर्ण स्वभाव सहित अर्थात् टांकी से उकेरे गये स्पष्ट शिलाखंड की तरह ही कर्मादि विकारों से रहित आत्मा की शुद्ध दशा (ठिदिकरनं मुक्ति नंत कालम्भि) में स्थितिकरण होने से आत्मा मुक्ति में अनंतकाल तक रहती है।

(ठंकार भाव सुद्धं) अपने शुद्ध भाव की ठंकार घनघोर गर्जना से (टं नंतनंत दिस्टि दिस्टंतो) हमेशा अनंत चतुष्टयमयी स्वभाव दृष्टि में दिखाई देता है (नो कम्म कम्म विलयं) इस शुद्धोपयोग रूप परिणमन से नो कर्म शरीर तथा द्रव्य कर्म सब विला जाते हैं (धी ऊर्ध सहाव कम्म षिपनं च) श्रेष्ठ ज्ञान स्वभाव में रहने से सर्व कर्म क्षय हो जाते हैं।

(जैवंतो जैकारं) जयवंत रहो, जय-जयकार करो (छेयं पर भाव पर्जाव

गलियं च) जिससे रागादि परभाव क्षय हो जाते हैं और पर्याय भी गल जाती है (चूरंति विषय रागं) विषयों का राग चूर-चूर हो जाता है (नु क्रित उववन्न दंसनं चरनं) सम्यक्ज्ञान के प्रताप से क्षायिक सम्यक्दर्शन और क्षायिक चारित्र प्रगट हो जाता है।

(धी ईर्ज भाव संजुत्तं) ज्ञान के सहज भाव में लीन होने से (गिर उववन्न भाव लण्य उवलण्यं) अरिहंत होकर, दिव्य वाणी का प्रकाश होता है व मन, वचन, काय से अगोचर आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है (षलु निस्चै च सहावं) यही वास्तव में आत्मा का निश्चय स्वभाव है (कम्मं गलयंति केवलं सुद्धं) फिर शेष कर्म भी गल जाते हैं और आत्मा केवल शुद्ध सिद्ध हो जाता है तथा संयोगी पुद्गल भी शुद्ध रूप हो जाता है।

विशेषार्थ - अपने श्रेष्ठ शुद्ध ज्ञान स्वभावी शुद्धात्मा का ध्यान करने से सब परद्रव्य अजीव का सम्बंध छूट जाता है और आत्मा अनंत काल तक मुक्ति में विराजमान रहता है। शुद्धोपयोग ही मोक्ष का कारण है।

आत्म शक्ति जाग्रत कर, धर्म की जय-जयकार मचाओ, सम्यक्ज्ञान के प्रताप से क्षायिक सम्यक्दर्शन और क्षायिक चारित्र प्रगट होता है, जिससे रागादि परभाव क्षय हो जाते हैं और पर्याय भी गल जाती है। विषयों का राग चूर-चूर हो जाता है, शरीरादि संयोग छूट जाता है।

शुद्ध स्वभाव के अनुभव से ही आत्मा के शुद्ध गुण प्रगट होते हैं, आत्मा के ध्यान से अरिहंत पद प्रगट होता है, केवलज्ञान स्वभाव ही निश्चय से अपना स्वभाव है, जिसके प्रगट होने से जीव-अजीव का सम्बंध छूट जाता है, पूर्व बंधोदय कर्मों के क्षय होने पर, जीव अपने परिपूर्ण शुद्ध सिद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है और पुद्गल अजीव भी अपने शुद्ध पुद्गल परमाणु रूप में हो जाता है यही मोक्ष है।

सिद्ध भगवान जन्म और मरण कर रहित हैं, चारों गतियों के दुःखों से रहित हैं और केवलदर्शन केवलज्ञान मयी समस्त कर्मों से रहित अनंत काल तक अपने स्वभाव में आनंद रूप विराजते हैं।

प्रश्न - सिद्ध पद मुक्ति प्राप्त करने का मूल आधार क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

षडी विसेसं उत्तं, लषिज्जइ लण्यनेहि संजुत्तं ।

सूषम सुभाव सुद्धं, कम्मं षिपिऊन सरनि संसारे ॥ ५७७ ॥

अप्प सहावं दिट्ठं, पर पज्जाव विषय विरयंति ।

मिच्छात राग षिपनं, सूषम सभाव मुक्ति गमनं च ॥ ५७८ ॥

अन्वयार्थ - (षडी विसेसं उत्तं) खड़िया समान शुद्ध स्वभाव की विशेषता को कहते हैं (लषिज्जइ लष्यनेहि संजुत्तं) जो लक्ष्य बनाया उस लक्ष्य की पूर्ति में संयुक्त रहना अर्थात् अपना इष्ट निज शुद्धात्मा है उसकी अनुभूति करने में लगे रहना (सूषम सुभाव सुद्धं) अपने आत्मा का सूक्ष्म स्वभाव परिपूर्ण शुद्ध है, इस पर दृष्टि रहने से (कम्मं षिपिऊन सरनि संसारे) संसार का परिभ्रमण और सब कर्म क्षय हो जाते हैं ।

(अप्प सहावं दिट्ठं) आत्म स्वभाव को देखने से (पर पज्जाव विषय विरयंति) पर पर्याय और विषयादि छूट जाते हैं (मिच्छात राग षिपनं) मिथ्यात्व और राग क्षय हो जाता है (सूषम सभाव मुक्ति गमनं च) अतीन्द्रिय सूक्ष्म स्वभाव में रहने से मुक्ति प्राप्त होती है ।

विशेषार्थ - रागादि रहित शुद्ध आत्मा का अनुभव करने से आत्मा कर्म रहित, शुद्ध स्वभाव का धारी सिद्ध हो जाता है ।

आत्मा अतीन्द्रिय सूक्ष्म स्वभाव का धारी है, आत्मानुभूति में रत रहने से पर पर्याय विषयादि कर्म संयोग छूट जाते हैं, मिथ्यात्व और राग क्षय हो जाता है । अतीन्द्रिय सूक्ष्म स्वभाव में रहने से मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

जो अनंत संसार रूपी वन के भ्रमण के कारण ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूपी बैरी, उनको जीतने वाला है, वह केवलज्ञानादि अनंत गुणमयी है और इन्द्रिय विषय से रहित, रागादि विकल्पो से रहित, परमानंद ही जिसका स्वभाव है, ऐसा सूक्ष्म स्वभाव वाला उत्कृष्ट अनंत ज्ञानादि गुण रूप आत्मा परमात्मा है ।

संसार अवस्था में निश्चयनय कर शक्ति रूप विराजमान खड़ी स्वभाव आत्मा जिन है इसलिये संसारी को शक्ति रूप जिन कहते हैं और केवली को व्यक्ति रूप जिन कहते हैं । द्रव्यार्थिक नय कर जैसे भगवान हैं वैसे ही सब जीव हैं, इस तरह निश्चयनय कर जीव को परमब्रह्म कहो, परम शिव कहो, जितने भगवान के नाम हैं, उतने ही निश्चय नय से विचारो तो सब जीवों के हैं, सभी जीव जिन समान हैं ।

जो सम्यक्दृष्टि ज्ञानी, अपने अतीन्द्रिय सूक्ष्म स्वभाव की साधना में रत रहता है उसके सब विषय विकार रागादि भाव, मिथ्यात्वादि कर्म क्षय हो

जाते हैं, वह साधु पद से सिद्ध पद पाता है, यही मुक्ति प्राप्त करने का मूल आधार है ।

निज आत्म तत्त्व जिसके मन में प्रकाशमान हो जाता है, वह ही साधु सिद्धि को पाता है । कैसा है, वह तत्त्व ? जो रागादि मल रहित और ज्ञान रूप है जिसको परम मुनीश्वर सदा अपने चित्त में ध्याते हैं, जो तत्त्व इस लोक में सब प्राणियों के शरीर में मौजूद है और आप देह से रहित है, तीन भुवन में श्रेष्ठ है, जिसकी आराधना करके शांत परिणामी संत पुरुष सिद्ध पद पाते हैं ।

अज्ञान संसार मार्ग है, सम्यक्ज्ञान मोक्षमार्ग है -

प्रश्न - संसार परिभ्रमण का कारण क्या है और मुक्ति का कारण क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं -

अन्यान भाव सहियं, कम्मं उववन्न नन्तनन्ताइं ।

अनेय काल भ्रमनं, न्यान सभाव कम्म षिपनं च ॥ ५७९ ॥

अन्यानं पज्जावं, सहियं उववन्न कम्म विविहं च ।

न्यान सहावं दिट्ठं, कम्म गलियं च अंतर्मुहूर्तस्य ॥ ५८० ॥

अन्वयार्थ - (अन्यान भाव सहियं) अज्ञान भाव सहित जीव (कम्म उववन्न नन्तनन्ताइं) अनंतानंत कर्मों का आस्रव बंध करता है (अनेय काल भ्रमनं) और इससे अनेक काल तक संसार में भ्रमण करता है (न्यान सभाव कम्म षिपनं च) ज्ञान स्वभाव में लीन होने से कर्मों का क्षय हो जाता है ।

(अन्यानं पज्जावं सहियं) अज्ञान रूपी पर्याय सहित होने से (उववन्न कम्म विविहं च) नाना प्रकार कर्मों का बंध होता है अर्थात् नाना प्रकार के कर्म पैदा होते हैं (न्यान सहावं दिट्ठं) जब ज्ञान स्वभाव की दृष्टि होती है अर्थात् आत्मा का अनुभव हो जाता है तब (कम्म गलियं च अंतर्मुहूर्तस्य) यदि एक अंतर्मुहूर्त ज्ञान स्वभाव में लीनता हो जावे तो घातिया कर्म क्षय होकर केवलज्ञान पैदा हो जाता है ।

विशेषार्थ - अज्ञानभाव संसार का कारण है और ज्ञान स्वभाव सम्यक्ज्ञान मुक्ति का कारण है ।

अज्ञान भाव सहित जीव सदा कर्मों का बंध कर संसार में भ्रमण करता रहता है । यह शरीर ही मैं हूँ, यह शरीरादि मेरे हैं और मैं इनका कर्ता हूँ यह

अज्ञान मिथ्यात्व भाव, अनंतानंत कर्मों का बंध कराने वाला है। जब तक जीव अपने स्वरूप को भूला इस अज्ञान भाव सहित रहेगा, तब तक संसार में परिभ्रमण करेगा।

जब जीव को अपने स्वरूप का बोध, सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान होता है और अपने ज्ञान स्वभाव में रहता है तभी कर्मों से छूटकर मुक्ति की प्राप्ति होती है। निज निरंजन परमात्म तत्त्व की प्राप्ति उन्हीं को होती है, जिनके अंतस् में भेदज्ञान की ज्योति प्रज्वलित हो अर्थात् निज ज्ञायक परमात्मा के अतिरिक्त शरीर, इंद्रिय, विषय, वाणी और मन को भी अपने से अत्यंत भिन्न जिन्होंने जाना, माना व अपनाया हो। इसके लिये परम तत्त्व के पावन उपदेश का श्रवण मनन एवं उपयोग का संपूर्ण समर्पण हो, सद्गुरु का संयोग हो, तत्त्व श्रवण की रुचि हो, स्व-पर भेदविज्ञान में रुचि हो तथा संसार, शरीर व भोगों से विरक्ति पूर्वक मन की स्थिरता एवं ध्यानाभ्यास में सक्रियता का संयोग हो, साथ ही काललब्धि की अनुकूलता हो तो साधक इसी जन्म में परमात्म तत्त्व का साक्षात्कार कर सकता है अर्थात् अड़तालीस मिनट एक अंतर्मुहूर्त अपने ज्ञान स्वभाव में रहने से घातिया कर्म क्षय होकर केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

जब तक यह आत्मा स्व-पर के लक्षण को नहीं जानता तब तक वह भेदज्ञान के अभाव के कारण कर्म प्रकृति के उदय को अपना समझकर परिणमित होता है, इस प्रकार मिथ्यादृष्टि अज्ञानी, असंयमी और कर्ता होकर कर्म का बंध करता है, जब आत्मा को भेदज्ञान होता है तब वह कर्ता नहीं होता इसलिये कर्म का बंध नहीं करता, ज्ञाता दृष्टा रूप से परिणमित होता है।

ज्ञानी कर्म को न कर्ता है, न भोगता है, वह कर्म के स्वभाव को मात्र जानता ही है। इस प्रकार मात्र जानता हुआ करने और भोगने के अभाव के कारण शुद्ध स्वभाव में निश्चल ऐसा, वह वास्तव में मुक्त ही है।

प्रश्न - यह अज्ञान भाव कब तक रहता है और कर्मों से मुक्त होने का उपाय क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

अन्यान उक्तं जुत्तं, कम्मं तव सहाव अनेयं च ।

न्यान बलेन मुनिवरा, षिन विलय कम्म तिविहं च ॥ ५८१ ॥

अन्यान परिणइ सहियं, परिणवइ कम्मान अनंत भावेहि ।

न्यान दिस्ति विलयंतो, जं रयनं तिमिर नासनं सहसा ॥ ५८२ ॥

अन्वयार्थ - (अन्यान उक्तं जुत्तं) यह अज्ञान भाव तब तक रहता है जब तक सम्यक्ज्ञान नहीं होता (कम्मं तव सहाव अनेयं च) कर्मों से मुक्त होने का उपाय तप साधना है (न्यान बलेन मुनिवरा) ज्ञान के बल से वीतराग निर्ग्रन्थ मुनि महाराज (षिन विलय कम्म तिविहं च) अपने स्वभाव की लीनता से तीनों प्रकार के कर्मों को क्षण मात्र में क्षय कर देते हैं अर्थात् सब कर्म क्षण भर में क्षय हो जाते हैं।

(अन्यान परिणइ सहियं) जब तक जीव अज्ञान की परिणति में परिणमन करता है (परिणवइ कम्मान अनंत भावेहि) तब तक अनंत प्रकार के भावों से कर्मों का बंध होता है (न्यान दिस्ति विलयंतो) जब सम्यक्दर्शन सहित सम्यक्ज्ञान की दृष्टि होती है तब सब कर्म विला जाते हैं (जं रयनं तिमिर नासनं सहसा) जैसे-सूर्य के प्रगट होते ही रात्रि का अंधकार एकदम विला जाता है।

विशेषार्थ - जब तक सम्यक्ज्ञान नहीं होता तब तक अज्ञान भाव रहता है, तप साधना से कर्मों की निर्जरा होती है। सम्यक्ज्ञान के बल से वीतराग निर्ग्रन्थ साधु अपने स्वभाव साधना तप में लीन होने से क्षण मात्र में तीनों प्रकार के कर्मों को क्षय कर देते हैं।

जब तक जीव अज्ञान की परिणति में परिणमन करता है तब तक अनंत प्रकार के भावों से कर्मों का बंध होता है। जब सम्यक्दर्शन सहित सम्यक्ज्ञान की दृष्टि होती है तब सब कर्म विला जाते हैं, जैसे सूर्य के प्रगट होते ही रात्रि का अंधकार विला जाता है।

समस्त कर्म मल कलंक से रहित जो आत्मा उसके स्वाभाविक ज्ञानादि गुणों का स्थान तथा संसार अवस्था से अन्य अवस्था का होना, वह मोक्ष कहा जाता है। इसी मोक्ष को वीतराग देव ने राज्य विभूति छोड़कर सिद्ध किया।

हे भव्य ! तू मायाजाल को छोड़कर महान पुरुषों की तरह आत्म कल्याण कर। उन महान पुरुषों ने भेदाभेद रत्नत्रय की भावना के बल से निज स्वरूप को जानकर विनाशीक राज्य छोड़ा और अविनाशी राज्य परमपद के लिये उद्यमी हुए। बाह्याभ्यंतर परिग्रह का त्याग कर, वीतराग निर्विकल्प समाधि में

ठहरकर दुर्द्धर तप किया, जिससे सब कर्मों को क्षय कर मोक्ष पद पाया, परमात्मा हो गये।

मिथ्यात्व रागादिक के छोड़ने से निज शुद्धात्म तत्त्व को यथार्थ जानकर जिनका चित्त परिणत हो गया, ऐसे ज्ञानियों को शुद्ध बुद्ध परम स्वभाव परमात्मा को छोड़कर दूसरी कोई भी वस्तु इष्ट नहीं भासती इसलिये उनका मन कभी विषय वासना, अज्ञान भाव में नहीं रमता। कैसे हैं सम्यक्दृष्टि? जिन्होंने वीतराग सहजानंद, अखंड सुख में तन्मय, परमात्म तत्त्व को जान लिया है; इसलिये यह निश्चय हुआ कि जो विषय वासना के अनुरागी हैं, वे अज्ञानी हैं और जो ज्ञानीजन हैं वे विषय विकार अज्ञान भाव से सदा विरक्त ही हैं। अपनी स्वभाव साधना से कर्मों को क्षय कर मोक्ष प्राप्त करते हैं।

जब तक यथाख्यात चारित्र नहीं होता, तब तक सम्यक्दृष्टि के दो धारायें रहती हैं— १. शुभाशुभ कर्म धारा २. ज्ञान धारा। उन दोनों के एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है। ऐसी स्थिति में कर्म अपना कार्य करता है और ज्ञान अपना कार्य करता है। जितने अंश में शुभाशुभ कर्म धारा है उतने अंश में कर्म बंध होता है और जितने अंश में ज्ञानधारा है उतने अंश में कर्म का नाश होता जाता है।

विषय कषाय के विकल्प या व्रत नियम के विकल्प अथवा शुद्ध स्वरूप का विचार तक भी कर्म बंध का कारण है, शुद्ध परिणति रूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है।

प्रश्न - अज्ञान की शक्ति और ज्ञान की शक्ति क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं—

अन्यानं समयेना, कम्मं उत्पत्ति नन्त जंमाइं ।

न्यान समय उववन्नं, गलियं कम्मान तिविह जोएन ॥ ५८३ ॥

अन्वयार्थ - (अन्यानं समयेना) आत्मा का अज्ञान में होने से (कम्मं उत्पत्ति नन्त जंमाइं) कर्मों की उत्पत्ति, आस्रव बंध होता है, जिससे अनंत जन्म धारण करना पड़ते हैं (न्यान समय उववन्नं) आत्मा में सम्यक्ज्ञान के प्रगट होने पर (गलियं कम्मान तिविह जोएन) त्रिविध योग से सब कर्म क्षय हो जाते हैं।

विशेषार्थ - अज्ञान की शक्ति जन्म-जन्मांतर संसार में परिभ्रमण कराने वाली है। जब तक आत्मा अज्ञान भाव में रहता है, तब तक अनंतानंत

कर्मों का आस्रव बंध होता है, जिससे संसार में जन्म-मरण करना पड़ता है, सुख-दुःख भोगना पड़ते हैं।

ज्ञान की शक्ति सब कर्मों को क्षय कर मोक्ष परमपद देने वाली है, जब आत्मा में सम्यक्ज्ञान प्रगट होता है तब उपयोग मन, वचन, काय से हटाकर अपने स्वभाव में लगाने से सब कर्म क्षय होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है।

शरीर आदि जिनको आत्मा से भिन्न कहा गया है, उन रूप ही अपने को मानना अज्ञान है। अज्ञानी आत्मा, कर्मजनित दशाओं में अपनत्व मानकर, अपने आत्मा के सच्चे स्वभाव को भूला हुआ निरंतर शुभ-अशुभ कर्म बांधकर एक गति से दूसरी में, दूसरी से तीसरी में इस तरह अनादिकाल से भ्रमण करता चला आया है।

यह जीव अनादिकाल से ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय के साथ परिणमन करता हुआ, जो अपने अशुद्ध परिणाम करता है उन ही का यह अज्ञानी जीव अपने को कर्ता तथा भोक्ता मान लेता है तथा मैंने अच्छा किया या बुरा किया अथवा मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, ऐसा मानता हुआ निरंतर कर्मों का आस्रव बंध करता है। कर्मकृत परिणामों को अपनी परिणति मान लेना ही संसार भ्रमण का बीज है। इसी से यह जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है।

जब आत्मा भेदविज्ञान के द्वारा अपने सत्स्वरूप का अनुभव करता है, स्व-पर का यथार्थ निर्णय करता है, तब सम्यक्ज्ञान प्रगट होता है जिसमें आत्मा का स्वभाव सर्व अन्य आत्माओं से व पुद्गलादि पांच द्रव्यों से तथा आठ कर्मों व उनके फल से, सर्व रागादि भावों से निराला, परम शुद्ध अपने को जानता है।

इस तरह सम्यक्ज्ञान की शक्ति से अज्ञान भाव का नाश होता है। आत्मा आप ही से आप में क्रीड़ा करता हुआ शनैःशनैः शुद्ध होता हुआ परमात्मा हो जाता है। जितनी मन, वचन, काय की शुभ-अशुभ क्रियायें हैं वे सब पर हैं। ज्ञानी इनसे अपने उपयोग को हटाकर अपने परम पारिणामिक भाव ध्रुवतत्त्व शुद्धात्मा में लगाता है जिससे सब कर्म क्षय होकर केवलज्ञान अरिहंत पद और सिद्ध पद प्रगट होता है।

जब आत्मा और कर्म के भेदविज्ञान द्वारा शुद्ध चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मा को उपलब्ध करता है, अनुभव करता है तब मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग स्वरूप अध्यवसान जो कि आस्रव भाव के कारण हैं, उनका अभाव

होता है। अध्यवसानों का अभाव होने पर राग-द्वेष, मोह रूप आस्रव भाव का अभाव होता है। आस्रव भाव का अभाव होने पर नोकर्म का अभाव होता है, नोकर्म का अभाव होने पर संसार का अभाव होता है। यही ज्ञान की शक्ति है, सच्चा मोक्षमार्ग है।

प्रश्न - मोक्ष प्राप्त करने के लिये और क्या करना चाहिये ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

न्यानं दंसन सम्मं, चरनं दुविहंपि सहाव तव जुत्तं ।

आराहन भक्तीओ, नंत चतुस्टं च मुक्ति गमनं च ॥ ५८४ ॥

अन्वयार्थ - (न्यानं दंसन सम्मं) सम्यक्दर्शन सहित ज्ञान हो (चरनं दुविहंपि सहाव तव जुत्तं) सम्यक्त्वाचरण तथा संयमाचरण यह दोनों प्रकार का चारित्र हो, स्वभाव में लीनता रूप तप हो (आराहन भक्तीओ) चारों आराधना की आराधना भक्ति करने से (नंत चतुस्टं च मुक्ति गमनं च) अनंत चतुष्टय स्वरूप केवलज्ञान प्रगट होता है, इसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

विशेषार्थ - आत्मा की अनुभूतियुत दृढ़ श्रद्धा होने पर सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्ज्ञान होता है, फिर सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण चारित्र का पालन करते हुए स्वरूपाचरण रूप तप में लीन होना, चारों आराधना सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र और तप की आराधना भक्ति करने से अनंत चतुष्टय स्वरूप केवलज्ञान प्रगट होता है। शेष अघातिया कर्मों के क्षय होने पर सिद्ध हो जाता है, यही मोक्ष प्राप्ति का उपाय है।

चार आराधनाओं का आराधन ही मोक्ष का उपाय है। जो योगी साधक निश्चय सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप रूप चार आराधनाओं का आराधन, भक्ति करते हैं, शुद्धोपयोग में लीन होते हैं वही मोक्ष परमपद पाते हैं, सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं और सादि अनंतकाल तक परमानंद में रहते हैं।

जो कोई महान पुरुष, परम समाधि रूप सरोवर में अवगाहन कर मग्न होते हैं, उनके सब प्रदेश समाधि रस में भीग जाते हैं। उन्हीं के चिदानंद अखंड स्वभाव आत्मा का ध्यान स्थिर होता है, वे अनुभव करते हैं कि आत्मा-द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित ममल स्वभाव है। जो योगी परम समाधि में रत हैं, उन्हीं पुरुषों के शुद्धात्म स्वभाव के विपरीत अशुद्ध

भाव के कारण जो कर्म हैं, वे सब शुद्धात्म परिणाम रूप जल के प्रवाह में बह जाते हैं।

निर्विकल्प परमात्म स्वरूप से विपरीत रागादि समस्त विकल्पों का नाश होना उसको परम समाधि कहते हैं। इस परम समाधि से मुनिराज सभी शुभ-अशुभ भावों को छोड़ देते हैं। जो मुनि महादुर्द्धर तपश्चरण करता हुआ और सब शास्त्रों को जानता हुआ भी परम समाधि से रहित है, वह शांत रूप शुद्धात्मा को नहीं देख सकता। जब तक समस्त संकल्प-विकल्प जाल से रहित जो परमात्म स्वरूप, उससे विपरीत शुभाशुभ भाव दूर न हों, मिटे नहीं तब तक रागादि विकल्प रहित शुद्ध चित्त में सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप, शुद्धोपयोग, परम समाधि इस जीव को नहीं हो सकती, ऐसा केवली भगवान कहते हैं।

जो योगी परम समाधि में लीन होते हैं, चार आराधनाओं का आराधन करते हैं, उनके ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मों के नाश होने से अरिहंत पद अनंत चतुष्टय स्वरूप केवलज्ञान प्रगट होता है। पीछे चार अघातिया कर्मों को नाशकर सिद्ध हो जाता है यही मोक्ष होने का उपाय है।

प्रश्न - संसारी जीव के लिये मोक्षमार्ग पर चलने के लिये विशेष सहकारी क्या है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

उवएस सुद्ध सहियं, सुद्धं अवयास ममल न्यानस्य ।

कम्म मल सुयं च षिपनं, उवएसं सुद्ध मुक्ति गमनं च ॥ ५८५ ॥

अन्वयार्थ - (उवएस सुद्ध सहियं) शुद्ध तत्त्व का उपदेश सुनना और धारण करना (सुद्धं अवयास ममल न्यानस्य) शुद्ध तत्त्व का अभ्यास, श्रवण, मनन करने से ममल ज्ञान स्वभाव का प्रकाश होता है (कम्म मल सुयं च षिपनं) आत्मज्ञान में स्थिर होने से कर्म मल स्वयं क्षय हो जाते हैं (उवएसं सुद्ध मुक्ति गमनं च) इसलिये शुद्ध तत्त्व का उपदेश ही मुक्ति को प्राप्त करने में सहकारी है।

विशेषार्थ - संसारी जीव के लिये मोक्षमार्ग पर चलने के लिये विशेष सहकारी शुद्धतत्त्व, निज शुद्धात्म स्वरूप का उपदेश सुनना और धारण करना

है। शुद्ध तत्त्व का हमेशा श्रवण मनन करने से निज शुद्धात्मानुभूति होती है, ममल ज्ञान का प्रकाश होता है। आत्मज्ञान में स्थिर होने से कर्म मल स्वयं क्षय हो जाते हैं इसलिये शुद्धतत्त्व का उपदेश ही मोक्ष प्राप्त करने में सहकारी है।

संसार जीव अज्ञानमय अपने आत्मा को कर्म सहित मलीन रागी, द्वेषी, नर, नारकी, संसारी ही जानते मानते हैं, इससे निरंतर कर्मों का बंध होता है और संसार परिभ्रमण चलता रहता है। जब शुद्ध निश्चय नय से निज शुद्धात्म स्वरूप का उपदेश श्रवण, मनन अवधारण होता है तभी संसार परिभ्रमण से छुटकारा होता है।

वीतरागी देव गुरु धर्म व निज शुद्धात्म तत्त्व की चर्चा, परिज्ञान करना ही इष्ट हितकारी है। पुरुषार्थ पूर्वक भेदज्ञान, तत्त्व निर्णय करने में उपयोग लगायें तो स्वयमेव ही मोह का अभाव होने पर सम्यक्त्वादि रूप मोक्ष का उपाय बनता है। इसके लिये चार बातें आवश्यक हैं—

१. प्रमाद (१५ भेद) का त्याग। २. शुद्धात्म तत्त्व रूपी स्वलक्ष्य की दृढ़ रुचि। ३. संयम और अभ्यास। ४. सम्यक्ज्ञान रूपी चक्र को प्राप्त करना। इस प्रकार निज शुद्धात्मा का श्रद्धान, स्व संवेदन ज्ञान और शुद्धात्म लीनता रूप निश्चय रत्नत्रय ही कर्मक्षय और संसार से छुड़ाने में समर्थ है, साधन है।

हे साधक ! चतुर्गति चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण का दुःखदायी परिभ्रमण करते-करते यदि तुम्हें थकान लगी हो, विषयों के प्रति निःसारता का भाव जागा हो तथा मुक्ति की अभिलाषा उत्पन्न हुई हो तो तुम अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति हेतु इस अविनाशी, नित्य, निरामय पद निज शुद्धात्म स्वरूप का श्रवण मनन आराधन करो, इसी में निरन्तर अपना उपयोग लगाओ।

जो भव्यजीव अपने ही आत्मा को परमात्मा के समान शुद्ध श्रद्धान ज्ञान में लेकर अनुभव करता है तब वीतरागता पैदा होती है इसी से कर्म क्षय होते हैं, बंध का अभाव होता है और यह आत्मा शीघ्र ही संसार से मुक्त हो जाता है।

प्रश्न - यह शुद्ध तत्त्व निज शुद्धात्म स्वरूप का उपदेश किसने कहा है और कहाँ है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं—

**उवएसं जिन उत्तं, सम्मत्तं सुद्ध सहाव संजुत्तं ।
कम्मं तिविहि विमुक्कं, उवइट्ठं परम जिनवरिंदेहि ॥ ५८६ ॥
उवएसं जिन वयनं, जिन सहकारेन न्यान मई सुद्धं ।
आनन्दं परमानन्दं, परमप्पा विमल निव्वुए जंति ॥ ५८७ ॥**

अन्वयार्थ - (उवएसं जिन उत्तं) यह उपदेश जिनेन्द्र परमात्मा ने कहा है (सम्मत्तं सुद्ध सहाव संजुत्तं) अपने शुद्ध स्वभाव में लीन होना ही शुद्ध सम्यक्त्व है (कम्मं तिविहि विमुक्कं) इसी से तीनों प्रकार के कर्म-द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म छूट जाते हैं (उवइट्ठं परम जिनवरिंदेहि) ऐसा परम जिनेन्द्र देव ने उपदिष्ट किया है।

(उवएसं जिन वयनं) यह उपदेश जिनवाणी में लिखा है (जिन सहकारेन न्यान मई सुद्धं) जो जिनेन्द्र द्वारा कथित ज्ञानमयी शुद्ध है (आनन्दं परमानन्दं) ऐसे जिनवाणी के श्रवण मनन से आत्मा परमानन्द मय हो जाता है (परमप्पा विमल निव्वुए जंति) अपने विमल स्वभाव में लीन होने से आत्मा परमात्मा होता है और निर्वाण चला जाता है अर्थात् सिद्ध परमात्मा हो जाता है, जहां से फिर संसार में आवागमन जन्म-मरण नहीं होता।

विशेषार्थ - शुद्ध तत्त्व, निज शुद्धात्म स्वरूप का उपदेश परम जिनेन्द्र परमात्मा ने उपदिष्ट किया है। वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी अनंत चतुष्टय के धारी केवलज्ञानी परमात्मा की दिव्यध्वनि में निज शुद्धात्म स्वरूप को कहा है। आत्मा पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व चारित्रादि शुद्ध गुणों का सागर है, परम निराकुल है, परम वीतराग है, ज्ञानावरणादि आठों द्रव्य कर्म, रागादि भाव कर्म, शरीरादि नोकर्म से भिन्न है, शुद्ध चैतन्य ज्योतिर्मय है। परभावों का न तो कर्ता है, न परभावों का भोक्ता है, यह सदा निज स्वभाव के रमण में रहने वाली स्वानुभूति मात्र है।

आत्मानुभव को ही धर्म ध्यान कहते हैं। कषाय रहित होने से शुक्लध्यान होता है। इसी से चार घातिया कर्म क्षय होते हैं तब आत्मा अरिहंत परमात्मा हो जाता है। शेष अघातिया कर्मों के दूर होने पर वही सिद्ध परमात्मा हो जाता है।

अपने आत्मा को जो कोई यथार्थ अनुभव करेगा वही सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकता रूप मोक्षमार्ग का साधन करेगा। यह

मोक्षमार्ग वर्तमान में भी साधक को आनंद परमानंद का दाता है और भविष्य में अनंत सुखमयी निर्वाण को ले जाता है।

जिनेन्द्र कथित जिनवाणी में इस शुद्ध तत्त्व शुद्ध अध्यात्म का रहस्य भरा है, जो जिनवाणी का स्वाध्याय, श्रवण, मनन कर सही ज्ञान प्राप्त करते हैं, सम्यक्ज्ञानी होते हैं, वह आनंद परमानंद में रहते हुए परमात्मा बनते हैं और निर्वाण चले जाते हैं।

सर्वज्ञ देव ने एक समय में तीन काल व तीन लोक के समस्त द्रव्य व उनकी त्रिकालवर्ती पर्याय को जाना है, निश्चय से वैसा ही मेरा भी जानने का स्वभाव है। जो होनी है वह बदल नहीं सकती परंतु जो होना है उसका मैं तो मात्र जानने वाला हूं। मैं पर की पर्याय को तो बदलने वाला नहीं परंतु अपनी पर्याय को भी बदलने वाला नहीं। धर्मी का निज स्वभाव सन्मुख रहते हुए ऐसा निश्चय होता है कि जो नहीं होना है, वैसा कभी होने वाला नहीं है, मैं कहीं भी फेर बदल करने वाला नहीं हूं। ऐसा निर्णय स्वीकार करने वाला ही सर्वज्ञ की सर्वज्ञता, जिनेन्द्र देव का अनुयायी और जिनवाणी का उपासक है।

प्रश्न - वर्तमान में जिनेन्द्र परमात्मा तो हैं नहीं फिर किसका उपदेश ग्रहण करें ?

समाधान - वर्तमान में जिनेन्द्र परमात्मा नहीं हैं परंतु उनकी दिव्यदेशना रूप जिनवाणी है। जिनवाणी का स्वाध्याय मनन करना ही जिनेन्द्र के उपदेश का ग्रहण करना है तथा निर्ग्रन्थ वीतरागी सम्यक्दृष्टि ज्ञानी भावलिंगी साधु भी जिनेन्द्र कथित शुद्ध तत्त्व का ही निरूपण करते हैं, ऐसे सद्गुरुओं की वाणी से अपने आत्म स्वरूप को जानकर मोक्षमार्ग पर चलना ही उपदेश का सार है।

प्रश्न - मोक्षमार्ग पर चलने के लिये किन शास्त्रों का स्वाध्याय करें ?

समाधान - मोक्षमार्ग तो वीतराग भाव है अतः जिन शास्त्रों में किसी भी प्रकार से राग-द्वेष, मोह भावों का निषेध कर वीतराग भाव की प्राप्ति का प्रयोजन प्रगट किया हो, वे शास्त्र ही पढ़ने व सुनने योग्य हैं।

जिन शास्त्रों में श्रृंगार, भोग, कौतूहल आदि द्वारा संसार के राग भाव की पुष्टि हो तथा हिंसा आदि पाप के अनुमोदन द्वारा द्वेष भाव की पुष्टि हो अथवा अतत्त्व श्रद्धान, गृहीत मिथ्यात्व, कुदेव-अदेव आदि की पूजा, मान्यता

के पोषण द्वारा मोह भाव की पुष्टि हो, वे शास्त्र नहीं हैं, शास्त्र हैं। जो जीव को पराधीन बनायें, कर्तापने का भाव जगायें, ऐसे शास्त्रों को नहीं पढ़ना, सुनना चाहिये।

जिनसे वीतरागता बढ़े और कषाय घटे, अपने आत्म स्वरूप का श्रद्धान, बहुमान जागे, ऐसे शुद्ध अध्यात्म के निरूपण करने वाले शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिये।

प्रश्न - जिनवाणी का स्वाध्याय करने से भला होता है या भगवान की पूजा भक्ति करने से भला होता है ?

समाधान - न जिनवाणी का स्वाध्याय करने से भला होता है, न भगवान की पूजा भक्ति करने से भला होता है, अपने परमात्म स्वरूप भगवान आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान करने से भला होता है, इसमें जिनवाणी का स्वाध्याय सहकारी शुद्ध कारण है, जो अपने स्वरूप का बोध कराता है। पर निमित्त की अपेक्षा भगवान की पूजा भक्ति में पराधीनपना है, इससे दृष्टि पर की तरफ ही रहती है। सच्चे देव गुरु शास्त्र का आश्रय भी राग भाव, संसार का कारण है। निज शुद्धात्म तत्त्व, कारण परमात्मा, परम पारिणामिक भाव का आश्रय ही मुक्ति का कारण है, इसी से अपना भला होता है।

अंतिम प्रशस्ति

प्रश्न - आपने उपदेश शुद्ध सार की रचना, किस प्रयोजन से की है ?

इसके समाधान में सद्गुरु आगे गाथा कहते हैं-

भव्यजन बोहनत्थं, अत्थ परमत्थ सुद्ध बोधं च ।

जिन उत्तं स दिट्ठं, किंचित् उवएस कहिय भावेन ॥ ५८८ ॥

जिन उत्तं जिन वयनं, जिन सहकारेन उवएसनं तंपि ।

तं जिन तारन रइयं, कम्म षय मुक्ति कारनं सुद्धं ॥ ५८९ ॥

अन्वयार्थ - (भव्यजन बोहनत्थं) भव्य जीवों के बोधनार्थ अर्थात् भव्य जीव धर्म का सही स्वरूप समझें (अत्थ परमत्थ सुद्ध बोधं च) मूल में प्रयोजन अपने परमार्थ के ज्ञान को शुद्ध करने के लिये (जिन उत्तं स दिट्ठं) जैसा जिनेन्द्र परमात्मा भगवान महावीर स्वामी ने कहा और मैंने देखा, अनुभव किया (किंचित् उवएस कहिय भावेन) वैसा वस्तु स्वरूप का उपदेश संक्षेप में

कहने का भाव हुआ।

(जिन उत्तं जिन वयनं) जिनेन्द्र कथित जिनवाणी के अनुसार (जिन सहकारेन उवएसनं तं पि) अंतरात्मा के लक्ष्य से उसी का उपदेश कहा गया है (तं जिन तारन रइयं) वैसा ही इस उपदेश शुद्धसार ग्रन्थ को जिन तारण ने रचा है (कम्म षय मुक्ति कारनं सुद्धं) जिससे कर्म क्षय हों और शुद्ध मुक्ति का कारण बने अर्थात् आत्मा शुद्ध भाव को प्राप्त करे जिससे कर्म क्षय होकर मोक्ष की प्राप्ति हो।

विशेषार्थ - उपदेश शुद्ध सार ग्रन्थ की रचना का मूल प्रयोजन तो अपने परमार्थ के ज्ञान को शुद्ध करना है। जैसा जिनेन्द्र परमात्मा भगवान महावीर स्वामी ने कहा और मैंने देखा, अनुभव किया, वैसा ही सत्य वस्तु स्वरूप का उपदेश संक्षेप में कहने का भाव हुआ, जिससे सभी भव्यजीव धर्म का सही स्वरूप समझ सकें।

जिनेन्द्र कथित जिनवाणी के अनुसार अंतरात्मा के लक्ष्य से जिन स्वरूप का उपदेश कहा गया है। इसमें कोई ख्याति, लाभ, पूजा का अभिप्राय नहीं है, ज्ञानोपयोग द्वारा आत्मा शुद्ध भाव को प्राप्त हो, जिससे कर्म क्षय होकर मोक्ष की प्राप्ति हो। समस्त भव्यजीव सत्य वस्तु स्वरूप समझकर अपना आत्म कल्याण करें, मोक्ष को प्राप्त करें इसी उद्देश्य से जिन तारण द्वारा यह उपदेश शुद्ध सार ग्रन्थ रचा गया है।

प्रश्न - जिनवाणी द्वादशांग रूप में विशाल भंडार है फिर अलग से यह और लिखने का क्या प्रयोजन है ?

समाधान - जिनवाणी, द्वादशांग रूप विशाल है, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश भाषा में अनेक ग्रंथ हैं किंतु सामान्य जन न उनको पढ़ सकते हैं, न समझ सकते हैं तथा प्रचलित भाषा में भट्टारकों ने धर्म के नाम पर बाह्य क्रियाकांड, गृहीत मिथ्यात्व, कुदेव, अदेव आदि के पूजा विधान द्वारा पवित्र जैनधर्म, भगवान महावीर की शुद्ध आम्नाय, शुद्ध अध्यात्म का लोप कर दिया है, जिससे जीव अपने सत्स्वरूप को न समझकर बाह्य क्रियाकांड, पूजा, आडंबर में ही उलझकर रह गये हैं। मैंने जैसा भगवान महावीर की दिव्य देशना को सुना, जाना, अनुभव किया और देखा है, वैसा ही शुद्ध वस्तु स्वरूप कहने का प्रयास किया है, जिससे सभी भव्य जीव अपना आत्म कल्याण कर सकें, धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझकर सद्गति मुक्ति प्राप्त

करें। मूल में अपना प्रयोजन अपने ज्ञान की शुद्धि करना है।

विशेष - सद्गुरु तारण स्वामी वीतरागी संत थे, जिन्होंने जंगल में रहकर आत्म स्वभाव का अमृत निर्झर प्रवाहित किया है। सद्गुरु तो धर्म के स्तंभ हैं, जिन्होंने सत्य धर्म को कहने में जगत की परवाह नहीं की, जहर दिया गया, बेतवा में डुबाये गये परंतु सब परीषहों को जीतकर शुद्ध अध्यात्म को अक्षुण्ण रूप से जीवन्त रखा है।

साधक दशा में स्वरूप की अनुभूति करने, उसमें लीन रहने में क्या-क्या बाधाएँ आती हैं ? जनरंजन राग, कलरंजन दोष, मनरंजन गारव, दर्शन मोहांध, पूर्व कर्म बंधोदय आदि को कैसे दूर किया जाये ? यह सब आगम प्रमाण और अनुभव प्रमाण बतलाया है।

उपदेश शुद्ध सार ग्रंथ साधक के लिये संजीवनी है, ऐसे महान शास्त्र की रचना कर उन्होंने बहुत जीवों पर असीम उपकार किया है। स्वयं तो तरे ही, जगत के भव्यजीवों को तरने का मार्ग प्रशस्त किया है इसलिये तारण तरण कहलाये। आपने पग-पग पर आत्मा का शंखनाद किया है। कितने गंभीर रहस्यों को सरल सुबोध भाषा में खोलकर स्पष्ट कर दिया है, आपके कथन में केवलज्ञान की झंकार गूंजती है। जो भव्यजीव निष्पक्ष भाव से आत्म कल्याण की भावना से इस ग्रन्थ का स्वाध्याय, मनन करेंगे उनका मुक्ति मार्ग प्रशस्त होगा।

जिज्ञासु जीव को सत्य का स्वीकार होने के लिये अंतर विचार में सत्य समझने का अवकाश अवश्य रखना चाहिये।

**इति श्री उपदेश शुद्ध सार ग्रन्थ जिन तारण तरण विरचित
साधक संजीवनी टीका समुत्पन्नता.**

*निश्चय चारित्र तो साध्य रूप है तथा सराग
व्यवहार चारित्र उसका साधन है। साधन तथा साध्य
स्वरूप दोनों चारित्र को क्रम पूर्वक धारण करने पर
जीव प्रबोध को प्राप्त होता है।*

☆☆ जय तारण तरण ☆☆

- 

७का अभ्यास करने के लिये वह स्व है (अर्थात् आत्म स्वरूप है) और यह पर है, इस भेद को परमार्थ से जानकर स्व में स्थिर होता है और पर से राग के योग से सर्वत्र विरमता (रुक्ता) है। यह रीति ज्ञान वैराग्य की शक्ति के बिना नहीं हो सकती।

- ❖ जो पुरुष सम्यक्त्व रूपी रत्न राशि से सहित हैं वे धन धान्यादि वैभव से रहित होने पर भी वास्तव में वे वैभव सहित ही हैं, और जो पुरुष सम्यक्त्व से रहित हैं वे धनादि सहित हों तो भी दरिद्री ही हैं।
- ❖ हे मुने ! तू सम्यक्त्व के गुण और मिथ्यात्व के दोषों को जानकर सम्यक्त्व रूपी रत्न को भावपूर्वक धारण कर। यह गुण रूपी रत्नों में सार है और मोक्ष रूपी मंदिर का प्रथम सोपान है अर्थात् चढ़ने के लिये पहली सीढ़ी है।
- ❖ सम्यक्त्व सहित जीव को विघ्न भी हो तो वह उसे उत्सव समान मानता है और मिथ्यात्व सहित जीव को परम उत्सव भी हो तो वह उसे महा विघ्न है।
- ❖ जिसे स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है वही पर द्रव्य में अहंकार-ममकार करता है, भेद विज्ञानी अहंकार-ममकार नहीं करता; इसलिये पर द्रव्य में प्रवृत्ति का कारण भेदविज्ञान का अभाव है और स्वद्रव्य में प्रवृत्ति का कारण भेदविज्ञान ही है।
- ❖ संशय, विमोह और विभ्रम से रहित सहज शुद्ध केवलज्ञान दर्शन स्वभावी निजात्म स्वरूप का ग्रहण-परिच्छेदन-परिच्छेति और परद्रव्य का स्वरूप अर्थात् भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म का स्वरूप, पुद्गल आदि पाँच द्रव्यों का स्वरूप तथा अन्य जीव का स्वरूप जानना, वह सम्यक्ज्ञान है।
- ❖ सम्यक्दर्शन सहित सम्यक्ज्ञान को दृढ़ करना चाहिये। जिस प्रकार सूर्य समस्त पदार्थों को तथा स्वयं अपने को यथावत् दर्शाता है, उसी प्रकार जो अनेक धर्मयुक्त स्वयं अपने को अर्थात् निज आत्मा को तथा पर पदार्थों को ज्यों का त्यों बतलाता है, उसे सम्यक्ज्ञान कहते हैं।
- ❖ जिस प्रकार नाव में बैठे हुए किसी मनुष्य को नाव की गति के संस्कार वश, पदार्थ विपरीत स्वरूप से समझ में आते हैं अर्थात् स्वयं गतिमान होने पर भी स्थिर है और वृक्ष पर्वत आदि स्थिर होने पर भी गतिमान समझ में आते हैं उसी प्रकार जीव को मिथ्यादर्शन के उदयवश नौ पदार्थ विपरीत स्वरूप से समझ में आते हैं।
- ❖ जिस समय सम्यक्ज्ञान रूपी दीपक से भोगों की निर्गुणता जानने में आती है अर्थात् भोग जरा भी गुणकारी नहीं हैं यह बात अचल रूप से हृदय पर अंकित हो जाती है उस समय भोग और संसार से वैराग्य होता है।
- ❖ क्रोधादिक और ज्ञान भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, न तो ज्ञान में क्रोधादि हैं और न

क्रोधादि में ज्ञान है। ऐसा भेदज्ञान हो तब उनमें एकत्वरूप अज्ञान का नाश होता है और अज्ञान के नाश हो जाने से कर्म बंध भी नहीं होता। इस प्रकार ज्ञान से ही बंध का निरोध होता है।

- ❖ आत्मा सर्वज्ञ स्वरूप है तथा राग द्वेषादि व कर्मादि रहित शुद्ध है। भव्य जीव इसी का साधन करते हैं, जिसने आत्मज्ञान रहित व्रत पाले, चारित्र पाला उसने मिथ्या आत्मा का ही सेवन किया, मिथ्या आगम को ही जाना।
- ❖ केवलज्ञानी परमात्मा सूर्य समान केवलज्ञान द्वारा आत्मा को देखते अनुभवते हैं और श्रुतकेवली दीपक समान श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा को देखते अनुभवते हैं। इस प्रकार केवली में और श्रुतकेवली में स्वरूप स्थिरता की तात्पर्यता रूप भेद ही मुख्य है। कम ज्यादा पदार्थों के जानने रूप भेद अत्यन्त गौण है; इसलिये बहुत जानने की इच्छारूप क्षोभ छोड़कर स्वरूप में ही निश्चल रहना योग्य है। यही केवलज्ञान प्राप्ति का उपाय है।
- ❖ जैसा कारण होता है वैसे कार्य की उत्पत्ति होती है, सम्यक्दृष्टि ही अपने शुद्धोपयोग के अभ्यास से अनंत दर्शन का प्रकाश कर सकता है। शुद्धात्मा के अनुभव से ही आत्मा केवलज्ञान स्वरूप हो जाता है व आत्मा के अहितकारी कर्मों का क्षय हो जाता है।
- ❖ शास्त्र द्वारा मोक्षमार्ग को जान लेने पर भी सत्क्रिया से रहित ज्ञान इष्ट लक्ष्य प्राप्त नहीं करा सकता। जैसे मार्ग का जानकार पुरुष इच्छित देश की प्राप्ति के लिए समुचित प्रयत्न न करे तो वह गन्तव्य तक नहीं पहुँच सकता अथवा अनुकूल वायु की प्रेरणा के अभाव में जलयान इच्छित स्थान तक नहीं पहुँच सकता।
- ❖ चारित्र शून्य पुरुष का विपुल शास्त्राध्ययन भी व्यर्थ ही है, जैसे कि अन्धे के आगे लाखों-करोड़ों दीप जलाना व्यर्थ है। चारित्र सम्पन्न का अल्प ज्ञान भी बहुत है और चारित्र विहीन का बहुत श्रुतज्ञान भी निष्फल है।
- ❖ निश्चयनय के अभिप्रायानुसार आत्मा का आत्मा में आत्मा के लिए तनमय होना ही निश्चय सम्यक्चारित्र है। ऐसे चारित्रशील योगी को ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।
- ❖ वास्तव में चारित्र ही धर्म है। इस धर्म को शमस्वरूप कहा गया है। मोह व क्षोभ से रहित आत्मा का निर्मल परिणाम ही शम या समता रूप है। समता, माध्यस्थ भाव, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म और स्वभाव-आराधना यह सब एकार्थक हैं।
- ❖ जिसने स्व-द्रव्य व पर द्रव्य के भेदज्ञान के श्रद्धान तथा आचरण द्वारा पदार्थों तथा सूत्रों को भली भाँति जान लिया है, जो संयम और तप से युक्त है, विगतराग है,

- सुख-दुःख में समभाव रखता है, उसी श्रमण को शुद्धोपयोगी कहा जाता है। ऐसे शुद्धोपयोगी के ही श्रामण्य कहा गया है, उसी के दर्शन और ज्ञान कहा गया है, उसी का निर्वाण होता है, वही सिद्ध पद प्राप्त करता है, उसे मैं नमन करता हूँ।
- ✦ निश्चय चारित्र तो साध्य रूप है तथा सराग व्यवहार चारित्र उसका साधन है। साधन तथा साध्य स्वरूप दोनों चारित्र को क्रम पूर्वक धारण करने पर जीव प्रबोध को प्राप्त होता है।
- ✦ आभ्यन्तर शुद्धि होने पर बाह्य शुद्धि भी नियमतः ही है। आभ्यन्तर दोष से ही मनुष्य बाह्य दोष करता है। मद, मान, माया और लोभ से रहित भाव ही भाव शुद्धि है, ऐसा लोकालोक के ज्ञाता द्रष्टा सर्वज्ञदेव का भव्यजीवों के लिये उपदेश है।
- ✦ श्रद्धा को नगर, तप और संवर को अर्गला, क्षमा को बुर्ज, स्वाई और शतधनी स्वरूप त्रिगुप्ति (मन, वचन, काय) से सुरक्षित तथा अजेय सुदृढ़ प्राकार बनाकर तपस्वपी वाणी से युक्त धनुष से कर्म कवच को भेदकर आंतरिक संग्राम का विजेता मुनि संसार से मुक्त होता है।
- ✦ जिनदेव के मतानुसार आहार, आसन तथा निद्रा पर विजय प्राप्त करके गुरु प्रसाद से ज्ञान प्राप्त कर निजात्मा का ध्यान करना चाहिये। सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान और मोह के परिहार से तथा राग-द्वेष के पूर्ण क्षय से जीव एकान्त सुख अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है।
- ✦ जिन्हें आत्मा और अनात्मा का ज्ञान नहीं है उन्हें भेदविज्ञान नहीं है, जिन्हें भेदविज्ञान नहीं है उनकी समस्त क्रियाएँ केवल शरीर शोषण की हैं वह मिथ्याचारित्र हैं; अतः मिथ्याचारित्र से अपने को मोक्षमार्गी मानने का अहंकार त्याग कर आत्महित के मार्ग में लगना चाहिये।
- ✦ जैसे केवल अध्यात्म चर्चा करने मात्र से अपने को सम्यक्द्रष्टि मानने वाले अहंकारी मोक्षमार्ग से दूर हैं, इसी प्रकार भेदज्ञान रहित महाव्रतादि के अहंकारी भी मोक्षमार्ग से दूर हैं। सम्यक्त्व सहित चारित्र ही मोक्षमार्ग में कार्यकारी है।
- ✦ मोक्षमार्ग में स्थित वे हैं जो सम्यक्द्रष्टि भेदविज्ञानी हैं जिन्हें सम्यक्चारित्र के पालन करने की चटपटी है। जो अचारित्र दशा में अपनी हीनता स्वीकार करते हैं। चारित्र की महिमा को जानते व मानते हैं, ऐसे अविरत सम्यक्द्रष्टि भी मोक्षमार्गी हैं तथा भेदविज्ञान की महिमा को धारण कर जो व्रत संयम पालते हैं ऐसे श्रावक या महाव्रती साधु उनसे भी आगे मोक्षमार्ग में बढ़े हुए हैं।
- ✦ सम्यक्द्रष्टि जीव व्रत चारित्र को तिरस्कार दृष्टि से नहीं देखते, आदर करते हैं। इसी प्रकार महाव्रती अध्यात्म का निरादर नहीं करते, किन्तु अध्यात्म को जीवन में उतारते हैं तथा आत्म रमण रूप निश्चय चारित्र को स्वीकार करते हैं जो साक्षात्

मोक्ष का हेतु है। जो लोग इस जिज्ञासु के रहस्य के ज्ञाता नहीं हैं वे केवल परमात्मा के भजन, बाह्य व्रताचरण में मग्न हैं और इन शुभ कार्यों से मुक्ति मानते हैं। इन शुभ कार्यों का निषेध नहीं है परंतु यह मानकर चलो कि यह पुण्यबन्ध के कार्य हैं किन्तु मोक्ष का पथ पुण्य-पाप से भिन्न ज्ञानाश्रय से ही है, वही साध्य है।

- ✦ जिनके हृदय कमल में ज्ञानकला प्रगट हुई है उनकी दृष्टि बाह्य से सिमटकर अन्तरंग को प्रकाशित करती है, वे जगत से भिन्न आत्मा का दर्शन करते हैं। इसके समस्त गुणों को परस्वते हैं वे ही परमार्थी अपने परम अर्थ के साधक हैं।
- ✦ आत्म स्वरूप का अनुभव ही सम्पूर्ण अर्थों को सिद्ध करने वाले चिन्तामणि रत्न के समान अपूर्व शक्ति का भंडार है। इसी के आश्रय से जीव संसार के सम्पूर्ण बन्धनों को तोड़कर मोक्ष के पथ का पथिक बनता है तथा चतुर्गति रूप संसार के दुःखों से छूट जाता है। पूर्वकृत कर्म का विनाश, नवीन कर्म का निरोध, यह दोनों मुक्ति के उपाय हैं जो आत्मानुभवी को सहज प्राप्त हैं।
- ✦ हे आत्मन् ! तू पर की ओर दृष्टि करके दीन हुआ ललचाता फिरता है। तूने कभी अपनी निज निधि का दर्शन नहीं किया। तेरे भीतर ज्ञान कला ऐसी अपूर्व निधि है, जो तेरे सम्पूर्ण प्रयोजनों को साधने वाली है। वही तेरे लिये चिन्तामणि रत्न के समान शक्ति वाली वस्तु है। जिसकी शक्ति विचार में नहीं आती, परंतु स्वयं अनन्त शक्ति उसमें है, उसका आश्रय कर, तेरे सर्व मनोरथ पूर्ण होंगे।
- ✦ वस्तुतः पर पदार्थ अपनी-अपनी सत्ता में अक्षुण्ण हैं, उनका जीव भोग नहीं करता, न कर सकता है। “मैंने पदार्थ भोगा” यह तो उपचरित कथन है। पदार्थ का ज्ञान ही पदार्थ का वेदन है और उसके प्रति राग ही उस पदार्थ का भोगना कहा जाता है।
- ✦ ज्ञानी जानता है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ क्षणभंगुर है, परिवर्तनशील है तथा मेरा ज्ञान भाव भी परिवर्तनशील है। सभी पदार्थ क्षण-क्षण में पर्याय बदलते हैं। ऐसी अवस्था में मैं जिसकी आकांक्षा करता हूँ वह क्षणभर में विनष्ट हो जाता है, वह तो प्राप्त नहीं हो सकता। यदि अनागत पर्याय की आकांक्षा करूँ तो तब तक मेरा भाव परिवर्तित हो जाता है; अतः दोनों के समय-समय परिवर्तन रूप होने से आकांक्षा और आकांक्षित दोनों का एक काल में अस्तित्व नहीं बनता, अतः वेद वेदक भाव के, जो विभाव रूप हैं, चंचल होने से जब दोनों का योग सम्भव ही नहीं है, तब कांक्षा करना वृथा है, मात्र कर्म बंध का हेतु है अतः ज्ञानी इन सबसे विरक्तता ही को प्राप्त होता है।
- ✦ ज्ञानी पुरुष यह जानता है कि जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य दोनों द्रव्यों में यही सबसे बड़ा अन्तर है कि जीव अपनी परिणति को जानता है, पुद्गल की परिणति को जानता है, पुद्गलकर्म के उदय नश्य अवस्था को जानता है; किन्तु पुद्गल द्रव्य

न तो अपनी परिणति को जानता है, न अपने परिणाम के फल को जानता है, और न जीव और उसकी परिणति को जानता है क्योंकि वह अचेतन जड़ द्रव्य है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध लक्षण धारण करने वाले जीव-अजीव दोनों द्रव्यों में, उसके गुणों में तथा दोनों की पर्यायों में परस्पर में अत्यन्त भेद है इसलिये उनमें एक दूसरे की पर्यायों से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता।

- ❖ जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य का भी परस्पर अनादि सम्बन्ध है तथापि उनका संयोग सम्बन्ध है, तादात्म्य नहीं है। उनमें एक दूसरे के निमित्त से परिणमन भी देखे जाते हैं, उन परिणमनों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु उपादान-उपादेय भाव, कर्ता-कर्मभाव नहीं है।
- ❖ जो स्वाधीन हो वह स्वभाव कहलाता है, परन्तु जो पर के आधीन हो वह स्वभाव नहीं होता, वह विभाव होता है। सो विभाव रूप परिणमन भी भले ही पर के निमित्त से हो परन्तु वस्तु की परिणमनशीलता रूप स्वभाव के अभाव में वह पर के रहने पर भी नहीं होता; अतः यह सिद्ध है कि जीव अपने स्वभाव-विभाव परिणमन में स्वयं निम्मेवार है, पर का कोई दोष नहीं है।
- ❖ ज्ञानी जीव वस्तु की स्थिति को समझता है अतः वह पर को पर वस्तु जान मोह नहीं करता अतः बन्ध नहीं करता। वह वस्तु के स्वभाव का मात्र ज्ञाता होता है। पर वस्तु के साथ उसका मात्र ज्ञेय-ज्ञायक भाव संबंध है; अतः वह संसार के सम्पूर्ण परिवर्तन को तदर्थ व्यक्ति की तरह मात्र देखता है, उसमें लीन नहीं होता। इस प्रकार का भेदविज्ञानी पर से विरक्त होकर पर के कर्तृत्व भाव को छोड़ देता है।
- ❖ आत्मा उपयोग लक्षण वाला है, अतः स्वयं ज्ञानरूप है, ज्ञानमयी है, सदा काल चैतन्योपयोग रूप रहता है। शुद्ध दशा में ज्ञानोपयोग रूप है और अशुद्ध रागादि युक्त दशा में भी अशुद्ध ज्ञानोपयोग रूप है। ज्ञानरूपता का परित्याग कभी हो सकता नहीं है।
- ❖ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि आत्मा के स्वरूप को यथार्थ न जानने से अनात्मज्ञ है। अपने स्वरूप को पर के साथ अर्थात् शरीर के साथ एकाकार कर ज्ञान करता है। दोनों की विभिन्नता उसे अनुभव में नहीं आती, इस अज्ञान की भूमिका को वह नहीं त्यागता। शास्त्र पठन करते हुए व्रतादि पालते हुए, दान पूजादि शुभ कार्य का आचरण करते हुए भी शरीर आत्मा भिन्न-भिन्न है, ऐसा शास्त्र के आधार पर जानते तथा वर्णन करते हुए भी, वह अपने को शरीर से भिन्न कर्मोदय जनित विकारों से भिन्न अनुभव नहीं करता, किन्तु उनके एकाकार रूप को अनुभव करता है। उसका ज्ञान भले ही आगमाश्रित हो, व्रताचरणादि आगमानुकूल हो, पर श्रद्धारूप परिणति पर भावों के एकाकार रूप होने से परिणतियां अज्ञानमय ही हैं;

अतः यह पद-पद पर अज्ञानमय भाव का ही कर्ता होता है, ज्ञानमय भाव का कभी नहीं होता।

- ❖ सम्यक्दृष्टि ज्ञानी आत्मा कर्मों के मध्य पड़ा हुआ भी सर्व पर द्रव्यों से राग भाव का त्याग करता हुआ इसी तरह कर्म रूपी रज से लिप्त नहीं होता है, जिस तरह कीचड़ में पड़ा हुआ सोना जंग को प्राप्त नहीं होता है; परन्तु अज्ञानी जीव कर्मों के मध्य पड़ा हुआ सर्व पर द्रव्यों में राग भाव करता हुआ कर्म रूपी रज से लिप्त हो जाता है। सम्यक्दृष्टि ऐसा भीतर से वैरागी होता है कि कर्मों का फल भोगते हुए भी कर्मों की निर्झर कर देता है तथा बंध या तो होता नहीं, यदि कषाय के अनुसार कुछ होता भी है तो वह संसार में भ्रमण कराने वाला नहीं होता है।
- ❖ शुद्ध निश्चयनय के द्वारा जो शुद्ध आत्मा का अनुभव है वह निश्चय सम्यक्ज्ञान है ऐसा जान करके जब कोई अपने आत्मा को अपने आत्मा में निश्चल रूप से धारण करता है तब वहाँ सर्व तरफ से नित्य ही एक ज्ञानघन आत्मा ही स्वाद में आता है।
- ❖ अज्ञानी सदा ही कर्म की प्रकृतियों के स्वभावों में अर्थात् जैसा कर्म का उदय होता है उसमें लीन होकर सुख-दुःख का भोक्ता हो जाता है। ज्ञानी प्रकृति के स्वभाव से अर्थात् कर्मों के उदय से विरक्त रहता है, इसलिये कभी भी भोक्ता नहीं होता है, वह ज्ञाता रहता है। ऐसा नियम समझकर अज्ञानपना त्याग देना चाहिये और शुद्ध एक आत्मा की निश्चल ज्योति में थिर होकर ज्ञानभाव का ही सेवन करना चाहिये।
- ❖ इस जगत में जब तक परमात्मा का ज्ञान मानव के हृदय में नहीं विराजता है, तब तक ही बुद्धि रूपी नदी, शास्त्र रूपी समुद्र की तरफ आगे-आगे दौड़ती रहती है। आत्मा का अनुभव होते ही बुद्धि स्थिर हो जाती है।
- ❖ सत्पुरुषों की सत्संगति रूपी अमृत के झरने से पुरुषों का हृदय पवित्र हो जाता है तब उसमें विवेक से प्रसन्न हुई ज्ञानमयी लक्ष्मी निवास करती है।
- ❖ जैसे लवण की कणिका जिन्हा द्वारा उपयोग में लवणपने का स्वाद, बोध कराती है। मिश्री की कणिका उपयोग में मिष्ठपने का ज्ञान कराती है, वैसे ही आत्मा के स्वभाव का एक समय मात्र भी अनुभव सहज सुख का ज्ञान कराता है।
- ❖ जैसे-कस्तूरी मृग की नाभि में होती है, वह उसकी सुगन्ध का अनुभव करता है परन्तु उस कस्तूरी को अपनी नाभि में न देखकर बाहर-बाहर ढूँढ़ता है, जैसे- हाथ में मुद्रिका होते हुए भी कोई भूल जावे कि मुद्रिका मेरे पास नहीं है और उस मुद्रिका को बाहर-बाहर ढूँढ़ने लगे। जैसे- मदिरा से उन्मत्त अपने घर में बैठे हुए भी कोई व्यक्ति अपने घर को भूल जावे और बाहर ढूँढ़ता फिरे व पूछता फिरे कि मेरा घर

कहीं है, उसी तरह यह अज्ञानी प्राणी सहज सुख को अपने पास रखते हुए भी व कभी उसका बिल्कुल मलीन अनुभव, कभी कम मलीन अनुभव, कभी कुछ स्वच्छ स्वाद पाते हुए भी उस सहज सुख को भूला हुआ है और भ्रम से इन्द्रियों के विषयों में ढूँढ़ता फिरता है कि यहाँ सुख होगा।

- ❖ साधक को बाहरी चारित्र्यों में निमित्त मात्र से ही सन्तोष नहीं करना चाहिये। जब आत्मा आत्म समाधि में व आत्मानुभव में वर्तन करे तब ही कुछ फल हुआ, तब ही मोक्षमार्ग सधा ऐसा भाव रखना चाहिये क्योंकि जब तक शुद्धात्मा का ध्यान होकर शुद्धोपयोग का अंश नहीं प्रगट होगा तब तक संवर व निर्जरा के तत्त्व नहीं प्रगट होंगे।
- ❖ जो कोई पर पदार्थों में अहंकार ममकार का त्याग करके एकाग्र भाव से अपने आत्मा का अनुभव करता है वह पूर्व संचय किये हुए कर्म मलों का नाश करता है तथा नवीन कर्मों का संवर भी करता है।
- ❖ पवित्र होने का उपाय पवित्र का ध्यान करना है। मैं कषाय रहित व संज्ञाओं से रहित शुद्धात्मा हूँ व सर्व ही विश्व की आत्माएँ शुद्ध हैं, इस तरह भावना करने से स्वानुभव का लाभ होता है। स्वानुभव को ही धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान कहते हैं।
- ❖ गम्भीर व निर्मल मन के सरोवर के भीतर जब तक चारों तरफ से कषायरूपी मगर मच्छों का वास है, तब तक गुणों के समूह शंका रहित होकर वहाँ नहीं ठहर सकते, इसलिये तू समता भाव, इन्द्रिय दमन व विनय के द्वारा उन कषायों के जीतने का यत्न कर।
- ❖ शुद्धात्मा का जहाँ श्रृङ्खल है, ज्ञान है व उसी का ध्यान है अर्थात् जहाँ शुद्धात्मा का अनुभव है, उपयोग पंचेन्द्रिय व मन के विषयों से हटकर एक निर्मल आत्मा ही की तरफ तन्मय है, वहीं यथार्थ मोक्षमार्ग है।
- ❖ अन्तरात्मा अपने आत्मा को अकर्ता व अभोक्ता देखता है। वह जानता है कि आत्मा ज्ञान चेतनामय है अर्थात् यह मात्र शुद्ध ज्ञान का स्वाद लेने वाला है। इसमें राग-द्वेष रूप कार्य करने के अनुभव रूप कर्म चेतना तथा सुख-दुःख भोगने रूप कर्म फल चेतना नहीं है।
- ❖ दर्शन ज्ञान चारित्र्यमय आत्मा ही निश्चय से एक मोक्ष का मार्ग है। जो कोई इस अपने आत्मा में अपनी स्थिति करता है, रात-दिन उसी को ध्याता है, उसी का अनुभव करता है, उसी में ही निरन्तर विहार करता है, अपने आत्मा के सिवाय अन्य आत्माओं को, सर्व पुद्गलों को, धर्म, अधर्म, आकाश और काल चार अमूर्तीक द्रव्यों को व सर्व ही पर भावों को स्पर्श तक नहीं करता, वह ही अवश्य

नित्य उदय रूप समयसार परमात्मा का अनुभव करता है। वास्तव में यह आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है और योगी को यही निरन्तर करना चाहिये।

- ❖ ज्ञान आत्मा से भिन्न अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखता, इसी प्रकार आत्मा भी ज्ञान से भिन्न होकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखती। दोनों में गुण-गुणीपने का संबंध है। गुण-गुणी कभी पृथक् नहीं हो सकते, उनकी एक ही सत्ता है।
- ❖ आत्मा ही सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र्य स्वरूप है, रत्नत्रय स्वरूप आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है। यह एक ही मोक्ष का मार्ग सुनिश्चित है, अन्य कोई मार्ग मोक्ष का नहीं है। इस शुद्ध चैतन्य स्वरूप में जो सम्यक्दृष्टि जीव अपने को स्थापित करते हैं उसका ही अनुभव करते हैं, उसका बार-बार चिन्तन-स्मरण करते रहते हैं तथा उसे छोड़कर अन्य पदार्थों का किंचित् भी स्पर्श नहीं करते अर्थात् उनकी ओर अपना उपयोग नहीं ले जाते, एकाग्रता से अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा में ही अपना उपयोग रखते हैं, उसी में रमते हैं, अन्य पदार्थों के आधार पर होने वाले मोह रागादि विभावों में परिणमन नहीं करते, ऐसे ध्यानी एकाग्रता में आरुढ़ संयमी सम्यक्दृष्टि जीव ही शीघ्रता से उसी भव में या तीसरे भव में आत्म विशुद्ध स्वरूप कैवल्य को या मुक्तिदशा को प्राप्त करते हैं।
- ❖ जो इस स्व संवेदन ज्ञान का आश्रय करते हैं, इसी में लीन होते हैं, वे मुक्ति के अविनाशी स्वाधीन शाश्वत सुख का बीज बो रहे हैं, शीघ्र ही उनका वह कल्पवृक्ष फलेगा। उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति होगी तथा आठों कर्मों की उपाधि से रहित सिद्धावस्था को प्राप्त करेंगे।
- ❖ मोक्ष पुरुषार्थ ही सम्पूर्ण पुरुषार्थों की चरम सीमा है। उसे प्राप्त करने पर जीव अनादि अपनी भूलों का परिमार्जन कर निर्दोष उस अवस्था को प्राप्त होता है, जिसके बाद कुछ करना शेष नहीं रह जाता, उस ज्ञान को प्राप्त हो जाता है जिससे बाहर कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता, उस आनंद को प्राप्त होता है जिससे अधिक कोई आनन्द प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। ऐसा तृप्त होता है कि अतृप्ति शेष नहीं रह जाती। करणीय सभी कार्यों की समाप्ति हो जाने से कृतकृत्य हो जाता है। कोई गन्तव्य स्थान न रहने से लोक के शिखर में विराजमान स्थिर हो जाता है यही स्व की परिपूर्ण प्राप्ति है, जो समस्त पर द्रव्यों से उनके गुणों और पर्यायों से भिन्न अपने अनन्त गुण-पर्यायों में विस्तार रूप है। यह ऐसी अवस्था है जिसमें अब कभी परिवर्तन नहीं होता है। यही अनन्त अविनाशी सुख की प्राप्ति है। जीव की जो अनादि की अभिलाषा थी कि मुझे वह सुख प्राप्त हो वह अभिलाषा पूर्ण हो जाने से जीव निरभिलाषी हो गया।